जगद्गुरु श्रीत्रिदण्डिग्रन्थमाला का ५५ वां पुष्प

सर्वेश्वर श्रीसीतारामाभ्यां नमः

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यप्रणीतानन्दभाष्यभूषिता



श्रीमद्भगवद्गीता

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीत



भाष्यतत्त्वदीप



युता

सम्पादक
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामेश्वरानन्दाचार्यजी
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ–कर्णावती–३८०००७

प्रकाशक
विश्रामद्वारकास्थ श्रीशेषमठ का धर्मप्रचारविभाग
पो० शींगडा वाया–बगवदर
पोरबन्दर–सौराष्ट्र

तिथि
श्रीरामानन्दाब्द ६९०
श्रीरामनवमी विक्रमाब्द २०४७
दि० ३–४–१९९०

प्राप्तिस्थान
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ
कर्णावती–३८०००७

मुद्रक
श्रीआनन्दभाष्यमुद्रणालयम्
श्रीकोसलेन्द्रमठ
कर्णावती–३८०००७



सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ॥

चित्

नित्य
मुक्त
बद्ध
हनुमान आदि
भजन आदि साधन द्वारा मुक्त भक्त जन
बुभुक्षु
मुमुक्षु
धर्म पर
अर्थ काम पर
देवान्तर पर
भगवत् पर
कैवल्य पर
मोक्ष पर
भक्त
प्रपन्न
एकान्ती
परमैकान्ती
दृप्त
आर्त

अचित्

शुद्ध
नित्य विभूति
मिश्र
शून्य
काल
निमेष काष्ठा कला मुहूर्त दिन पक्ष मास अयन वर्ष युग कल्प
प्रकृति
महत्तत्त्व
अहंकार
सात्विक
राजस
तामस
मन
ज्ञानेन्द्रिय
कर्मेन्द्रिय
शब्द
स्पर्श
रूप
रस
गन्ध
आकाश
वायु
तेज
जल
पृथ्वी

ब्रह्म

पर
व्यूह
विभव
अन्तर्यामी
अर्चावतार
परात्पर राम ब्रह्म
वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध आदि
मत्स्य कूर्म वराह आदि
प्रत्येक शरीर में रहने वाले ईश्वर

तत्त्व त्रय

श्री वैष्णव सिद्धान्त कल्पद्रुम ॥

यस्मादिदं समुदेति येन लभते संरक्षणं शाश्वतम् ॥ यस्मिन्नन्ते ... योऽहि भवतं कारणाय वारां नि...
...प कल्पवृक्ष मुदा ॥
... परमापद – रामब्रह्मार्चित पाद पद्म युगलं



१३५६–१५३२

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ
कर्णावती–३८०००७

महामहोपाध्याय जगद्विजयी

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी



१९४३-२००७



जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य
श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी

॥ गीता श्लोक सूची ॥

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठानामाराध्याः
सर्वेश्वरश्रीसाकेतविहारिणः



अशेषशेषलसदंशकलावताराद्
भक्ताघहानिनिजनामविलासधाराद् ।
भक्ताम्बुजालिसुखकारणमुक्तिकाराद्
रामात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्य चत्वारिंशत्तमाचार्यं
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यं
योगीन्द्राः



यः श्रीरामपदारविन्दयुगलंध्याता महाशास्त्रविद्
योगीन्द्रश्च पयः फलाशनपरस्त्यागी परिव्राजकः
छात्राणां परिपालको गुणनिधिः पीठस्य संस्था
सः श्रीदर्शनकेसरी विजयते रामप्रपन्नः सुधिः

卐 श्रियः श्रियै नमः 卐

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमो नमः

卐 जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता 卐

श्रीमद्भगवद्गीता

। कर्मयोगप्रतिपादनात्मकं प्रथमं षट्कम् ।

प्रथमोऽध्यायः

* धृतराष्ट्र उवाच *

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ! ॥१॥

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत

卐 भाष्यतत्त्वदीप 卐

भजेमहि सदारामं चिदचिद्विग्रहं विभुम् ।
भाष्यभाषानुवादस्य निर्विघ्नेन समाप्तये ॥१॥
सीताकान्तसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम् ।
रामप्रपन्नगुर्वन्तां वन्दे गुरुपरंपराम् ॥२॥

...ेश्वर श्रीराजा साकेताधिपति यानी त्रैलोक्य नायक को नमस्कार कर जो ...राशि तथा अचित् जड वर्ग विग्रह अर्थात् शरीर हैं। यहां इस विशेषण ... ...ों का जो सिद्धान्त है जीव का ज्ञेय ब्रह्म के साथ सर्वथा तादात्म्य तथा ... ... प्रपञ्च शुक्ति का में रजत के समान मिथ्या है, उसका खण्डन किया ... ...त्र और सर्वज्ञ का तादात्म्य अशक्त है तथा श्रुति विरुद्ध भी है। एवं मिथ्या ...

꠸ आनन्दभाष्यम् ꠸

अनवद्यगुणागारं जगद्बीजं जगत्पतिम् । केशेन्द्राद्यमरैर्वन्द्यं श्रियः श्रीपतिमाश्रये ॥१॥

श्रीरामंजनकात्मजामनिलजं वेधोवसिष्ठावृषी
योगीशञ्च पराशरं श्रुतिविदं व्यासं जिताक्षं शुकम् ।
श्रीमन्तं पुरुषोत्तमं गुणनिधिं गंगाधराद्यान्यतीन्-
श्रीमद्राघवदेशिकञ्च वरदं स्वाचार्यवर्यं श्रये ॥२॥

प्रपञ्च सत्यात्मक परमात्मा का एक देश नहीं हो सकता। तथा भगवान् श्रीरामजी विभु व्यापक हैं अथवा (वि=विविधं ब्रह्मादि स्थावरान्तानेकप्रकारै र्भवतीति विभुः) ब्रह्मा से लेकर स्थावरान्त अनेक प्रकार से जो हो उसे विभु कहते हैं । भगवान् की सेवा क्यों करते है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं भाष्येत्यादि । प्रारीप्सित जो आनन्द भाष्य का तत्त्वदीप नामक भाषानुवाद है उसकी समाप्ति निर्विघ्न से हो ॥१॥

सर्वेश्वर श्रीसीतानाथजी है आदि में और मध्य में प्रस्थानत्रयानन्द भाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी तथा अन्त में जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्रजी है ऐसी गुरु परंपरा को सादर वन्दना अर्थात् दण्डवत् प्रणाम करता हूं ॥२॥

आरम्यमाण गीता व्याख्यान रूप इस भाष्य की निर्विघ्न पूर्वक समाप्ति हो तथा शिष्य लोग भी सत्कार्य के प्रारंभ से पूर्व में मंगलाचरण करें इस अभिप्राय को मन मे रखकर भगवान् श्रीभाष्यकार नमस्कारात्मक मंगलाचरण करते हैं "अनवद्येत्यादि" अनवद्य अर्थात् सकल दोष रहित लोकोत्तरगुण के निधान तथा स्थावर जंगमात्मक संसार के बीज अर्थात् कर्तारूप होने मे स्वतन्त्र कारण और सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारण इन दो विशेषणों से भगवान् श्रीरामजी को जगत् की उत्पत्ति स्थिति आदि का नियामक बतलाया । तथा इन्द्रादि देवो से जिनका पद कमल वन्दित है ऐसे जो भगवान् लक्ष्मी (श्रीजनकनन्दिनीजी) के अधिनायक है, उनको मै आश्रयण यानी सादर दण्डवत प्रणाम करता हूं ॥१॥

परात्पर श्रीरामात्मक परम तत्त्व को नमस्कार करने के बाद भाष्यकार गीता सम्प्रदाय प्रवर्तक स्वकीय आचार्य पर्यन्त को नमस्कार करते हैं—"श्रीरामं जनकात्मजामित्यादि द्वितीय श्लोक से अखिल ब्रह्माण्ड नायक साकेताधिपति श्रीरामजी को तथा जनकात्मजा ꠸जनकनन्दिनी

꠸ यद्यपि मूल प्रकृति श्रीसीताजी अयोनिज हैं, वह किसी की आत्मजा नहीं हैं तथापि जनक के राज्यान्तर्गत पृथिवी से हल चालन के समय में आविर्भूत हुई थीं इत्यादि आगम पौराणिक गाथा का अनुस्मरण कराने के लिये तथा महाराज जनक के निरुपमस्नेह को प्रदर्शित करनेके लिये भाष्यकार ने जनकात्मजा ऐसा विशेषण दिया है ।

यदंघ्रिपङ्केरुहसंश्रयादहंसमस्तवेदान्तविमर्शचातुरीम् ।
समाप्नवं तं जगदार्तिनाशकं यतीश्वरं राघवमाश्रयेऽनिशम् ॥३॥
त्रयीसारमयीपुण्या गीतागोविन्दवल्लभा ।
वैष्णवप्रीतये सेयं भाष्यरत्नेन भूष्यते ॥४॥

मूल प्रकृति श्रीसीताजी को एवं अनिलज वायुनन्दन परमभक्त शिरोमणि श्रीहनुमानजी को एवं ब्रह्माजी तथा श्रीवशिष्ठ ऋषिजी को तथा योगीशिरोमणि श्रीपराशर ऋषिजी को एवं समस्त वेद शास्त्र के ज्ञाता व्यास ऋषिजी को एवं * जितेन्द्रिय श्रीशुकाचार्यजी को, गुणसमुदाय के वरुणालय सदृश श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी बोधायनजी को तथा श्रीगंगाधराचार्य प्रभृति यहां आदि शब्द से श्रीसदानन्दाचार्यजी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी श्रीद्वारानन्दाचार्यजी श्रीदेवानन्दाचार्यजी श्रीश्यामानन्दाचार्यजी श्रीचिदानन्दाचार्यजी श्रीपूर्णानन्दाचार्यजी श्रीश्रियानन्दाचार्यजी श्रीहर्यानन्दाचार्यजी का ग्रहण होता है इन समस्त पूर्वाचार्यों के साथ श्रीमान् राघवदेशिक अर्थात् जगद्गुरु श्री राघवानन्दाचार्यजी को जोकि समीहित फल देने वाले हैं उन स्वकीय आचार्यदेवों को अभीप्सित कार्य की सिद्धि के लिये मैं आश्रयण अर्थात् सादर दण्डवत् प्रणाम करता हूं ॥२॥

जिनके चरणकमल की सेवा से मैंने समस्त वेदान्त प्रकरण के विचार करने की चतुरता प्राप्त की है, संसार दुःख को विनाश करने वाले यतिप्रवर जगद्गुरु श्रीराघवाचार्यजी गुरुप्रवर को मैं हमेशा दण्डवत् प्रणाम करता हूं । "यस्य देवे पराभक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।" भाष्यकार महाराज इस आगम वाक्य का संस्मरण कराते हैं । जिसे स्वकीय इष्ट देव में जैसी भक्ति है उसी प्रकार गुरुजी में भक्ति हो उससे प्रतिपादित जो अर्थ वह लोक में प्रकाशित होता है, अर्थात् गुरु मे भक्ति रखने वाले व्यक्ति से कथित अर्थ ही सर्वजनोपकारकत्वेन सर्व लोक में प्रकाशित होता है किन्तु गुरु सेवा पराङ्मुख व्यक्ति से कथित अर्थ लोक में प्रकाशित नहीं होता है इस अभिप्राय का स्पष्टीकरण इस तृतीय मंगलश्लोक से किया गया है ॥३॥

त्रयी अर्थात् वेद उसका साररूप तथा भगवान् मुकुन्द गोविन्द को अतिशय प्रीति देनेवाली इस गीता को श्रीवैष्णव जनों के प्रीत्यर्थं भाष्य रूप रत्न से भूषित अलंकृत करता हूं अर्थात् गीता का व्याख्यानात्मक भाष्य मैं बनाता हूं जिससे अन्यों के कलुषित व्याख्यान

* यद्यपि श्रीशुकाचार्य जी के अतिरिक्त भी उपर्युक्त सभी आचार्य जितेन्द्रिय हैं तब श्रीशुकाचार्य में ही जितेन्द्रियत्व विशेषण उचित नहीं जान पड़ता है तथापि गर्भावस्था से ही सर्वथा वैराग्यशीलता अभिव्यक्त करने के लिये और पौराणिक प्रसंग उपस्थित करने के लिये जितेन्द्रियत्व विशेषण सार्थक होता है।

अथादिपुरुषः साकेताधिपतिः कल्याणगुणोदधिर्भगवाञ्छ्रीरामः साधुपरित्राण दिस्वावतारप्रयोजनान्यनुष्ठातुं वसुदेव गृहे श्रीकृष्णस्वरूपेणावतीर्य वसुन्धराभारभूतान् स्वाश्रितद्विषोऽसुरस्वभावान् कंसादीन्निहत्य परमधर्मं संरिरक्षयिषुर्भारताख्यमहाहव व्याजेनस्वानन्यप्रपन्नमर्जुनं स्वमुखेनैव गीताशास्त्रस्य हार्दमुपदिशन् स्वावतार

से मूर्छित दुःखित श्रुतिविरुद्ध अर्थ का मार्जन होकर श्रुतिस्मृति इतिहास सिद्ध प्राञ्जल अर्थका प्रकाशन होगा। ऐसा ही महामहोपाध्याय जगद्विजयी जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी ने भी कहा है—"मायावादिकुतर्कजालरचितव्याख्यानसंमूर्छितां यो व्याख्या सुधया त्रयीं भगवतीं सञ्जीवयन्राजते। तस्याचार्यशिरोमणेर्विजयिनो वादाहये श्रीमतो रामानन्द मुनेर्वचोऽखिलजगत्क्षेमाय संजायताम् ॥" यह चतुर्थ मंगलश्लोक का भाव है ॥४॥

आदि पुरुष साकेत के अधिपति(स्वामी) कल्याण गुणके समुद्र समान सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्र ने साधु पुरुषों कापरित्राण(रक्षण) रूप स्वकीय अवतार धारण का जो प्रयोजन है उसका संपादन करने के लिये माथुरेय वसुदेव के घर मे श्रीकृष्ण रूपसे अवतार लेकर पृथिवी के भारभूत स्वकीय आश्रित व्यक्ति के साथ दुश्मनी रखनेवाले, असुर स्वभाव वाले कंस प्रभृति साधु द्वेषियों को मारकरके सर्वोत्कृष्ट श्रीवैष्णवधर्म की रक्षा करने के लिये महाभारत रूप संग्राम के व्याज से अनन्य भक्त शरणागत श्रीअर्जुन को अपने मुख से ही गीताशास्त्र के अभिप्राय का वर्णन (उपदेश) करते हुए स्वकीय अवतार लीलाका विस्तार किया। ❁

❁ किसी ने गीताशास्त्र के अभिप्राय को इस प्रकार से निरूपित किया है तथाहि गीता शास्त्र वेदका सारभूत है क्योंकि "सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महदिति इन वचनों से सिद्ध होता है और वेद के तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। जैसे वेद कर्म उपासना ज्ञान का प्रतिपादक है उसी प्रकार गीता शास्त्र के भी तीन विभाग हैं प्रथम अध्याय से छट्ठे अध्याय तक का प्रथम षट्क कर्म का प्रतिपादक है। प्रथम षट्क से कर्म का प्रतिपादन करके "तत्त्वमसि" एतद्वाक्य घटक त्वं पदार्थ का शोधन करके और द्वितीय षट्क से उपासनास्वरूप का प्रतिपादन करके तत्पदार्थ का शोधन करके तथा तृतीय षट्क से आत्मैकत्व ज्ञान स्वरूप का प्रतिपादन करके तत्पदार्थ ईश्वर एवं त्वं पदार्थ जीव का एकत्व प्रतिपादित होता है। एवं ब्रह्म का विवर्त जो जगत् वह मिथ्या है और उसका अधिष्ठान रूप चैतन्य एक ही कालत्रयाबाधित होने से परमार्थ सत्य है एवं जीव ईश्वर विभाग भी अज्ञान का कार्य होने से अपारमार्थिक है केवल नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त निरंजन वस्तुभूत ब्रह्म मात्र परमार्थ तत्त्व है, ऐसा कहा भी है "निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणै. ॥१॥ वशीकृते मनस्येषां सगुण ब्रह्मशीलनात्। तदेवाविर्भवेत्तस्मादपेतोपाधिकल्पनम् ॥२॥" जो मन्द अधिकारी निर्विशेष पर ब्रह्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं उनके ऊपर अनुकंपा करने के लिये सविशेष का निरूपण किया गया है। जब सगुण ब्रह्म की उपासना करने से मन वशीभूत हो जायगा तब सर्वोपाधि विवर्जित ब्रह्म आविर्भूत होता है। ऐसा हुआ तब कर्म तथा

लीऽमातेने । इयञ्च गीताख्यं भगवद्वार्दं भगवान् द्वैपायनोऽधिभारतं श्लोकरूपेण जग्रन्थ । तत्र कर्मयोगप्रतिपादनपरे प्रथमषट्के उपोद्घातक्रमेणादिमोऽध्यायः समारभ्यते । तत्र स्वपुत्रस्नेहवागुराबद्धहृदयो धृतराष्ट्रस्तद्विजयं श्रोतुकामो भगवद्व्यासप्रसादलब्धदिव्यदृष्टिं तदानीमेवयुद्धस्थानात् कुरुक्षेत्रादुपागतं सञ्जयं पृच्छति धर्मक्षेत्र इति । हे संजय ! धर्माचरणयोग्ये पुण्यप्रदेशे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवो योद्धुमिच्छवः समवेताः सम्मिलिता मामका मत्पुत्रा दुर्योधनादयः पाण्डवाः पाण्डुपुत्रा युधिष्ठिरादयः किमकुर्वत किं कृतवन्तः । अत्रायम्प्रष्टुराशयः 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्' इत्यादि-

इस गीता शास्त्र रूप भगवान् श्रीकृष्ण के अभिप्राय को भगवान् द्वैपायन वेदव्यासजी महाराज ने महाभारत रूप इतिहास ग्रन्थ में श्लोक रूप से ग्रथित किया । उस गीता मे कर्मयोग के प्रतिपादन करने वाले प्रथम षट्क (आदि से छ अध्याय) में उपोद्घात रूप से प्रथम अध्याय का आरंभ करते हैं । "तत्र स्व पुत्रेत्यादि" उसमे स्वकीय दुर्योधन दुःशासन प्रभृति-पुत्र के ऊपर जो लौकिक स्नेह है तद्रूप वागुरा (वागुरा मृगबन्धनी) इस कोश मे यह सिद्ध होता है कि मृगादि के बन्दन कारणरज्जु विशेष से बद्ध पुत्रादि के मोह रूप माया जाल मे आबध्द हृदयवाले धृतराष्ट्र अपने पुत्र की विजय को सुनने की इच्छा से भगवान् वेदव्यास की कृपा से जिसे दिव्यदृष्टि प्राप्त है ऐसे तथा उसी समय युद्ध स्थान (लडाई के मैदान) कुरुक्षेत्र से आये हुए संजय से पूछते हैं "धर्मक्षेत्रे" इत्यादि । हे संजय ? धर्माचरणके योग्य पुण्य प्रदेश कुरुक्षेत्र मे युद्ध करने की इच्छावाले समवेत अर्थात् एकत्र विशिष्ट स्थल में एकत्रित मेरे पुत्र दुर्योधन प्रभृति तथा पाण्डव पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर प्रभृति ने क्या किया ?

उपासना करने से मन में निर्मलता होने के बाद केवल अद्वैत ज्ञान से निर्विशेष ब्रह्मावाप्ति तथा शोक निवृत्ति लक्षण मोक्ष की प्राप्ति होती है यही गीता का तात्पर्य है । किन्तु यह कथन युक्तियुक्त नहीं हैं क्योंकि गुरुमित्रादि की हिंसा के भय से निष्कर्मता को प्राप्त किये हुए अर्जुन को पुनरपि क्षत्रियोचित संग्राम में प्रवृत्त कराने की इच्छा से अंतिमसिद्धान्त युक्त गीता का उपदेश दिया है। इस स्थिति में गीता शास्त्र का तात्पर्य नैष्कर्म्य में कैसे हो सकता है ? और ब्रह्म जगत् का विवर्ताधिष्ठान है यह भी गीता संमत नहीं है क्योंकि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म उस जगत् का विवर्ताधिष्ठान है, ऐसा गीता में कहीं नहीं आया है परन्तु ब्रह्म जगदाकार से परिणत होता है इसलिए ब्रह्म सत्य जगत् का अधिष्ठान हो सकता है । अत एव कार्य और कारण सत्य होने से एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा भी संगत होती है और श्रुति प्रतिपादित मृदादि दृष्टान्त भी समर्थित होता है। जीवेश्वरादि विभाग अज्ञान कल्पित है यह कथन भी ठीक नहीं है "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" "ममैवांशो जीवलोके" इत्यादि अनेक श्रुति स्मृति से विरोध होता है । अतः चिद्-चिद् ईश्वर ये सब अनादि अनन्त हैं और ईश्वर सर्वेश्वर श्रीराम प्रकृति जीव के नियामक तथा सर्वथा स्वतन्त्र हैं।

卐 संजय उवाच 卐

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

श्रुत्युद्गीतमहिम्नि धर्मानुष्ठानोपयोगिनि कुरुक्षेत्रे युयुत्सयैव सम्मिलिताः परन्तु क्षेत्रमाहात्म्यादुपचितपुण्यविशेषेण निरस्तद्वेषदोषा निर्मलस्वान्ता मत्पुत्रा धर्मराजायार्धराज्यप्रदानादिना हिन्साद्यधर्मादुद्विग्नमानसाः पाण्डवा वा राज्यमनिच्छन्तः सौहार्देन सन्धिं कृतवन्त उताहो युद्धमेवेत्येतद्यथावद्ब्रूहीति ॥१॥

एवं प्राधान्येन स्वतनयोन्नतिं शुश्रूषोर्धृतराष्ट्रस्य प्रश्नमाकर्ण्य तदुत्तरं लब्धद्वैपायनप्रसाददिव्यदृष्टिस्सञ्जय उवाचेति जनमेजयम्प्रति वैशम्पायनस्योक्तिः । सञ्जयस्य प्रतिवचनं निर्दिशति दृष्ट्वेति । पाण्डवानीकं पाण्डुतनयानां सैन्यं व्यूढं व्यूहाकारेणावस्थितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनस्तदा सङ्ग्रामारम्भकाले सामयिककृत्यं विमर्शयितुं धनुर्विद्यानिधेर्द्रोणाचार्यस्य समीपं तदादरातिशयं ख्यापयिष्यन् स्वयमेव गत्वा वक्ष्यमाणवाक्यमुवाच ॥२॥

यहाँ पूछनेवाले धृतराष्ट्र का यह अभिप्राय है कि ("यदनुकुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्" इति जाबाला "कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्" इति शतपथ श्रुतिः ।) यह कुरुक्षेत्र देवताओं का यजन स्थान है, कुरुक्षेत्र देवयजनस्थान है इत्यादिश्रुति से प्रकाशित है माहात्म्य जिसका ऐसे धर्माराधन करने के उपयुक्त स्थान कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से ही सम्मिलित हुए पर क्षेत्र के माहात्म्य से प्राप्त किए हुए पुण्य के बल से निर्गत हो गया हैं समस्त ईर्ष्याद्वेष आदि जिनका, निर्मल हो गया है अन्तःकरण जिनका ऐसे जो मेरे पुत्र दुर्योधन प्रभृति धर्मराज युधिष्ठिर को आधा राज्य दे करके एवं पाण्डव लोग हिंसादि रूप अधर्म को देखकर उद्विग्न मन हो करके राज्य की इच्छा नहीं कर के सौहार्द पूर्वक सुलह सन्धिकरली अथवा दोनों पक्षोंने युद्ध करने का ही निश्चय किया? यह सब यथार्थरूप से मुझे कहें । इस प्रकार धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा ॥१॥

इस प्रकार अपने पुत्र दुर्योधन प्रभृति की उन्नति सुनने की इच्छा वाले राजा धृतराष्ट्र को प्रत्युत्तर देते हुए संजय ने कहा संजय उवाचेति इस प्रकार प्रधान रूप से स्वकीय पुत्र दुर्योधन की उन्नति सुनने की इच्छा वाले राजा धृतराष्ट्र के प्रश्न को सुनकर व्यास की सेवा मे प्राप्त दिव्य दृष्टिवाले संजय बोलते हैं । यह कथन जनमेजय के प्रति वैशम्पायन का है, । मूल में दृष्ट्वा तु इत्यादि से संजय के प्रतिवचन का निर्देश करते है पाण्डवों

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य ! महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

तद्वचनमाह सञ्जयः पश्यैतामिति । भो आचार्य ! समरशास्त्रनिष्णातधिषणेन तवैव शिष्येण द्रुपदतनयेन व्यूढांव्यूहाकारेणोपस्थापितां पाण्डुपुत्राणां महतीं विस्तृतामनेकाक्षौहिणीसमन्वितामेतां सेनां पश्य तेषां शौर्यबलोत्साहसन्नाहादीन् ज्ञातुं चक्षुर्विषयीकुर्विति प्रार्थना ॥३॥

की अनीक अर्थात् पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर की सेना जो कि क्रौंच व्यूहाकार से व्यवस्थित थीं उन्हे देखकरके उस समय राजा दुर्योधन ने संग्राम लडाई के आरंभकाल में समयोचित विचार विमर्श करने के लिए धनुर्विद्या में पारंगत आचार्य द्रोण के समीप में आचार्य की महत्ता को विख्यात करने की इच्छा से स्वयमेव जाकर आगे प्रतिपाद्यमान वचन कहा ॥२॥

राजा दुर्योधन ने आचार्य द्रोण से जो कहा वही वचन संजय राजा धृतराष्ट्र से कहते हैं "पश्यैतामित्यादि" हे आचार्य ! समर संग्राम शास्त्र में निष्णात है बुद्धि जिसकी ऐसा जो आप का ही शिष्य द्रुपदनामक राजाके पुत्र से व्यूह आकार में उपस्थापित जो पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर की बहुत बडी अनेक अक्षौहिणी से युक्त इस सेना को आप देखें अर्थात् उनका (युधिष्ठिर प्रभृति का) शूरता बल मानसिक उत्साहादि को जानने के लिए चाक्षुषज्ञान का विषय करें ऐसी मेरी प्राथना हैं । यहाँ मेरे चचेरे भाई की सेना को देखें यह नहीं कहकर पाण्डु पुत्रों की बडी सेना को देखें, इस कथन का अभिप्राय ऐसा है कि युधिष्ठिर के प्रति दुर्योधन का अत्यधिक द्वेष है और चाक्षुषज्ञान विषय कहने से यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि आँख से सन्निहित वर्तमान पदार्थ ही जाना जाता है तो आप इसे देखें शत्रुओं की अत्यासन्न समुन्नति अत्यन्त असहनीय होती है तो आप इस बात का कथमपि सहन नहीं करेंगे । पर सम्पत्ति की उत्कर्षता सभी को प्रायः असह्य होती है । और धृष्टद्युम्न यह नहीं कह कर द्रुपद तनय कहकर द्रुपदराजा के साथ प्राचीन कालिक शत्रुता का स्मरण कराता है । आपका ही शिष्य द्रुपदतनय से यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि जब आप से ही सभी विद्याको प्राप्त किया है तब आप से अधिक समर विधि को जानने वाला नहीं हैं अतः आचार्य की महत्ता तथा आदरातिशय सूचित करके शत्रु विनाश के लिये आचार्य को प्रोत्साहित करता है ॥३॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

पश्यन्तमेव विशिष्टरूपेण शूरान् परिचाययन्नाह अत्रेति । अत्र शत्रुसैन्ये महेष्वासा महाशरासना युधि संग्रामे भीमार्जुनसमाः शूराः शौर्यशालिनः सन्ति । के च तानित्याह युयुधानः सात्यकिर्विराटाधिपतिर्द्रुपदश्चैते त्रयोऽपि महारथा एव ॥४॥

धृष्टकेतुः चेकितानः काशिराज इत्येते त्रयो वीर्यवन्तः । वीर्यवानिति विशेषणं धृष्टकेत्वादित्रयाणामपीतियावत् । एवं पुरुजित्कुन्तिभोजशैब्यादित्रयाणां नरपुङ्गव इति विशेषणम् ॥५॥

सेना का निरीक्षण करते हुए आचार्य को विशिष्ट रूप से तत् तत् शूरवीरों का परिचय कराते हुए दुर्योधनराजा आचार्य से कहते हैं "अत्रेत्यादि" अत्र यहां अथात इन शत्रु की सेना में बहुत बडे धनुष को धारण करने वाले तथा संग्राम करने में प्रख्यात भीम और अर्जुन के समान अनेक शूर अर्थात् शौर्यशाली व्यक्ति है । वे कौन कौन हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं "युयुधान" इत्यादि । युयुधान विलक्षण रूप से युद्ध करने वाले सात्यकी एवं विराट इस नाम का एक राजा तथा द्रुपद द्रौपदीके पिता ये तीनों ही महारथी हैं । जो अकेला ही दसहजार व्यक्ति के साथ मुकाबला करे उसे महारथ कहा जाता है ।

यहाँ कोई कोई टीकाकार महारथ इस विशेषण को समीप में उपस्थित द्रुपद के साथ ही जोडते है न कि युयुधान तथा विराट के साथ । किन्तु इनका यह कथन युक्त नहीं हैं क्योंकि विशिष्ट व्यक्तियों की परिगणना के समय सामान्य का कथन अनुभव विरुद्ध होता है । मै केवल भाष्यकार के अनुवाद में प्रवृत्त हूं अतः इस विशेषण भाव का विचार अप्रकृत प्रायः है । विद्वान् लोग स्वयं इसका विचार कर लें ॥४॥

शत्रु सेना में अत्यन्त बलपराक्रमवाले धृष्टकेतु हैं चेकितान है और काशिराज हैं और मनुष्यों में श्रेष्ठ पुरुजित् कुन्तिभोज और शैब्य हैं । यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में आया हुआ वीर्यवान् यह विशेषण धृष्टकेतु चेकितान और काशिराज का है । और नरपुङ्गव यह विशेषण पुरुजित् कुन्तिभोज और शैब्य का है । अर्थात् धृष्टकेतु चेकितान काशिराज ये तीन महाबल पराक्रमशाली हैं और पुरुजित् कुन्तिभोज और शैब्य ये तीनों नरपुङ्गव हैं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है । यहां किसी टीकाकार ने चेकितान को चिकितान नामक राजा का पुत्र कहा है किन्तु यह कथन उनका पाणिनी व्याकरण के विरुद्ध हैं क्योंकि अपत्यार्थक इञ् प्रत्यय होने से चैकितानिः यह प्रयोग ही होगा दाशरथि इत्यादि के समान । और किसी टीकाकार ने कुन्तिभोज क

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥
अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ! ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

विक्रमशाली युधामन्युः पाञ्चालो वीरोचितकर्मशाल्युत्तमौजाश्च पञ्चालदेशीयः सुभद्राया अपत्यमभिमन्युर्द्रौपद्या अपत्यानि प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च । चकाराद् घटोत्कचप्रभृतयो ग्राह्याः । एते सर्वे महारथा एव । महारथलक्षणन्तु 'आत्मानं रथिनञ्चाश्वान् रक्षन्नक्षतमायुधैः । यो युध्यन्ययुतैर्वीरः स महारथ उच्यते ॥ इत्यादिकमत्र बोध्यम् ॥ ६ ॥

एवं स्वाचार्ये परबलं तन्नेतॄंश्च प्रदर्श्य स्वबलं तदधिपतींश्च निर्दिशति अस्मा-

विशेषण रूप से पुरुजित् विशेषण को जोड़ा है यह भी प्रकरण पर्यालोचन से विरुद्ध प्रतीत होता है । अतः भाष्यकार ने जिस विशेषण को जहाँ जोड़ा है वहीं सर्वथा समुचित है । इतरव्याख्यान संप्रदाय विरुद्ध ही है ॥५॥

पाँचालदेश में समुत्पन्न विक्रमशाली युधामन्यु और वीरोचित कर्मयुक्त पाञ्चालदेशीय उत्तमौजा सौभद्र सुभद्रा का अपत्य पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदेय द्रौपदी का पुत्र प्रतिविन्ध्य प्रभृति एवं द्रौपदेयाश्च इस पद में स्थित च शब्द से ग्राह्य घटोत्कच प्रभृति ये सभी महारथी हैं शत्रु सेना में हैं । पाञ्चालदेशोद्भव युधामन्यु उत्तमौजा ये दोनों बलवीर्य में अत्यन्त प्रसिद्ध उस समय में गिने जाते थे । महाभारत में कहा है कि "चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ" (चक्र की रक्षा करने वाले ये युधामन्यु और उत्तमौजा हैं । ये सब वीर बल में भीमार्जुन की समानता को धारण करते हुए भी महारथ ही हैं ।) अत एव भीमार्जुनादिक को अतिरथी होने से महारथी में परिगणना नहीं किया गया है । जो अकेले ही दश हजार धनुर्धारी के साथ लड़े और शस्त्र विद्या में निपुण हो वह महारथ कहलाता है । और जो अमित धनुर्धारी के साथ संग्राम करे वह अतिरथ कहलाता है और जो एक रथी के साथ लड़ता है वह रथी कहलाता है । महारथ विशेषण से यह बतलाया कि हे आचार्य ! आप अतिरथ हैं । आप के साथ ये महारथ लड़ाई नहीं कर सकते हैं । यह आचार्य के महत्त्व को सूचित करता है ॥६॥

पूर्वोक्त प्रकार से परबल (युधिष्ठिर की सेना) को प्रदर्शित कर के और सेना पतियों

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

कन्त्विति तु शब्दः परबलव्यावर्तकः । अस्माकं सैन्ये ये पराक्रमशस्त्रविद्यादिषु विशिष्टा उन्नता मम सैन्यस्य नेतारस्तांस्ते समवधानार्थं ब्रवीमि, नत्वज्ञातज्ञापनार्थे त्वं निबोध विजानीहि । द्विजोत्तमेत्यामन्त्रणं युद्धविद्याचार्यस्यापि ते मंत्रविस्त्वमक्षतमिति सर्वथा तव कार्यक्षमतास्तीति सूचयितुम् ॥७॥

नामतस्तानाह भवानिति । स्वाचार्यत्वेन ब्राह्मणत्वेन साक्षादुपस्थितत्वेन भवान् द्रोण इति प्राक्परिगणनं भीष्मो देवव्रतः कर्णः कृपाचार्योऽश्वत्थामा, इमौ समरविजयिनौ समितिञ्जय इत्यनयोरेव विशेषणमुभयोर्मध्यपातित्वात् । विकर्णोऽनुजः-सौमदत्तिर्भूरिश्रवास्तथैव चेत्यनेन सिन्धुपतेरपि संग्रहः ॥८॥

का नाम आचार्य को बतला कर के अब परबल तथा परकीय बलाधिपति की अपेक्षया स्वकीय सेना तथा सेनापतियों में अधिकता बतलाने के लिये अपना बल तथा बलाधिपतियों का निर्देश करने के लिये राजा दुर्योधन कहते हैं "अस्माकं तु विशिष्टा ये" इत्यादि । एतत् श्लोक घटक जो तु शब्द है वह परबल का व्यावर्तक है अर्थात् परबल की न्यूनता का सूचक है । मेरी सेना में जो जो पराक्रम (शारीरिक बल में) शस्त्र विद्यादिक में विशिष्ट अतिशयेन उन्नत हैं और मेरी सेना के नेता है (अग्रसर हैं) उन नेताओं के नाम आपके जानने के लिये कहता हूं न कि आप उनसे अपरिचित हैं इसलिये कहता हूं, आप इस बात को जानें । "द्विजोत्तम" इस सम्बोधन से यह बतलाया गया कि आप युद्ध विद्या के आचार्य (पारंगत होते हुए भी) मन्त्र विद्या में भी पारंगत हैं इसलिये आप सर्वथा कार्यदक्ष है ॥७॥

उन विशिष्ट सेनापतियों के नाम का निर्देश पूर्वक कथन करते हुए दुर्योधन राजा कहते हैं "भवानित्यादि" आप अर्थात् द्रोणाचार्य । यहाँ दुर्योधन के विद्यागुरु होने से तथा ब्राह्मण जातीयक होने से बलवान् होने से और वहाँ उपस्थित होने के कारण सेनापतियों की गणना में प्रथम स्थान दिया है । हे गुरुमहाराज ! मेरी सेना के सेनानी में आप(द्रोण) है और भीष्म हैं अर्थात् देवव्रत मेरे पितामह भ्राता जिन्होंने बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्यव्रत लेकर मेरे पितामह विचित्रवीर्य को राजा बनाया है । और कर्ण और कृपाचार्य एवं अश्वत्थामा आपका पुत्र ये दोनों आदमी संग्राम में विजय प्राप्त करने वाले हैं । "समितिञ्जयः" यह विशेषण कृपाचार्य

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

एवं विशिष्टनायकनामान्युक्त्वा नायकान्तराण्यपि सन्तीत्याह अन्येचेति । प्रोक्तेऽभ्योऽन्ये शल्यादयो बहवोयोद्धारः सन्ति ये च मन्निमित्तं जीवितमपि त्यक्तुमुत्सहन्ते । ननु बद्धदृढसौहार्दानामकिञ्चित्कराणां जीवितत्याग एव सुकरस्तव तु किम्फलं तेनेत्याह नानाशस्त्रप्रहरणा नानाविधानि शस्त्राणि शक्तितोमरपरिघादीनि प्रहरणसाधनानि येषां ते तथाविधा युद्धविद्यायां परमनिपुणा इति नाहमल्पसहाय इति भावः ॥९॥

इदानीं स्वबलाधिक्यं दर्शयति अपर्याप्तमिति । तत्पूर्वमुपवर्णितं अस्माकं बलमपर्याप्तमपरिमितमनल्पसंख्याकं तद्बलं योद्धुमसमर्थमिति वा यतोऽस्मद्बलं सर्वातिशायिबलवता भीष्मेणाभिरक्षितमस्ति । इदमेतेषां बलन्तु परिमितमल्पसंख्याकमस्मद्बलं

और अश्वत्थामा का ही है क्योंकि यह विशेषण इन दोनो के ही बीच में पडा है । और विकर्ण मेरा छोटा भाई एवं सौमदत्ति भूरिश्रवा । 'तथैव च' इससे सिन्धुदेश के राजा जयद्रथ का भी सम्ग्रह होता है विशिष्ट सेनापतियों में ॥८॥

पूर्वश्लोक से विशिष्ट विशिष्ट सेनानायकों का नाम कह कर के इनके अतिरिक्त भी अनेक सेनानायक हैं इस बात को बतलाने के लिये नवम श्लोक का उत्थान होता है "अन्ये च बहवः" इत्या दि । कथित सेनानायकों से भिन्न अनेक शल्य वाल्हिक भगदत्त प्रभृति बहुत से योद्धा लोग हैं जो मेरे लिये समय प्राप्त होने पर अपने अपने प्राण को भी छोडने के लिये कृत संकल्प हैं । यदि ये लोग आपके ऊपर अत्यन्तस्नेह बद्ध हैं तथापि कार्य करने में असमर्थ हैं, इनका जीवन त्याग सरल है तो इससे आपको क्या फल हुआ ? इस शंका के निराकरण करने के लिये कहते हैं कि "नाना शस्त्रप्रहरणाः" इत्यादि । अनेक प्रकार के अस्त्र शक्ति तोमर, परिघ, त्रिशूल, तलवार, पाशचक्र प्रभृति शस्त्र प्रहरण का साधन है इन लोगों के पास में तथा ये लोग युद्ध विद्या में परम निपुण हैं इसलिये मैं अल्पसहायक नहीं हूं । परकीय सेना में तो केवल धनुषधारी लोग ही हैं । एतादृश विशिष्ट अनेक अस्त्रधारी नहीं हैं और मेरे पक्ष में अतिरथ योद्धा भी अनेक हैं परसेना में तो परिमित योद्धा हैं वे भी केवल महारथ ही हैं अतः पाण्डव के साथ युद्ध करने में मुझे अल्प भी भय की शंका नहीं होती है ॥९॥

इसके बाद राजा दुर्योधन अपने बल की अधिकता बतलाते हुए कहते हैं "अपर्याप्तमित्यादि" तत् अर्थात् पूर्वश्लोक द्वय में यथावत कहा गया जो मेरा बल सेना का प्रदर्शन वह मेरा बल अपर्याप्त है अर्थात् अपरिमित तथा अनल्प संख्या वाला है इसलिये लडने में सर्वथा समर्थ है और मेरी यह सेना सर्वाधिक बलवान् भीष्मसेनापति से अभिरक्षित है अर्थात् भीष्म

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥
तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

योद्धुं समर्थं वास्ति यतस्तद्बलं भीमेन युद्धे भीष्मसामर्थ्यतोऽतिहीनसामर्थ्येनाल्पवयस्केन चाभिरक्षितं तस्मादस्माकमेव विजय इति भावः ॥१०॥

एवञ्च भीष्मकर्तृकव्यूहाभङ्गाय भवद्भिर्बलाध्यक्षस्य भीष्मस्यैव रक्षणं विधेयमिति प्रार्थयते अयनेष्विति । अयनेषु व्यूहावयवस्थानेषु सर्वेषु सेनान्या यथा विभक्ता व्यूहरचनायां ये यत्रनियोजितास्ते तत्रावस्थितास्सन्तो भवन्तः सर्वेऽपि स्वकीयं सेनापतिं भीष्ममेव सर्वतोऽभिरक्षन्तु स्वस्थानमपरित्यज्य भीष्माचार्ये यथा प्रहारो न भवेत्तथा तद्रक्षा विधेया । तद्रक्षिते सर्वं बलं रक्षितं स्यादिति भावः ॥११॥

पितामह की देख रेख में नियंत्रित है । और इन युधिष्ठिर पाण्डु पुत्रों की जो सेना है वह तो पर्याप्त है परिमित अल्प सख्यावाली केवल सात अक्षौहिणी है अतः मेरे बल के साथ लडने मे समर्थ नहीं है क्योंकि पाण्डव की सेना स्वभाव जड बुद्धिक युद्ध में भीष्म से सामर्थ्य मे अतिहीन और अल्पवयस्क भीम से अभिरक्षित है अर्थात् भीम के संरक्षण में संरक्षित पाण्डव सेना हमारी सेना के साथ कथमपि नहीं लड सकती है । इसलिये इस संग्राम में मेरी विजय अवश्यं भावी है । अन्य टीकाकार अपर्याप्तम् तथा पर्याप्तम् पद का कुछ दूसरा ही अर्थ करते है, वह प्रकरण विरोध से असमंजस है ॥१०॥

इसके बाद राजा दुर्योधन प्रार्थना के व्याज से सभी को आदेश देते हुए कहते हैं कि आप सभी लोग इस संग्राम के प्रधान सेना नायक जो भीष्म हैं उनसे बनाये गये व्यूहका कोई भंग न करे इसलिये आप सभी सर्वतोभाव से भीष्म की ही रक्षा करें । यही मेरी प्रार्थना है । इस प्रकार आदेश के व्याज से प्रार्थना करते हुए दुर्योधन राजा कहते हैं "अयनेषु च सर्वेषु" इत्यादि । अयन में अर्थात् व्यूह के अवयव स्थानों में सेनाध्यक्ष भीष्म से व्यूहाकार के निर्माण समय में सेनाध्यक्ष द्वारा जो व्यक्ति जिस व्यूहावयव स्थान में नियोजित किये जायं वे सभी व्यक्ति उसी उसी स्थान में व्यवस्थित रहते हुए सेनापति भीष्मपितामह की रक्षा करें क्योंकि सेनापति यदि सुरक्षित रहेंगे तभी अन्य सैन्य भी सुरक्षित रह सकेंगे । ऐसा होने से अपनी सेनाओं की सुरक्षा तथा विजय प्राप्त होगी । इसलिये आपलोगों से मेरा अनुरोध है कि आप लोग परस्पर के द्वेष ईर्ष्यादिक को छोड़ कर सेनापति भीष्म के आदेश का पालन करें ॥११॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

स्वपरसैन्यवृत्तमावेदयितुमाश्रितस्यापि द्रोणाचार्यस्य समीपे 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु' इति भीष्मरक्षण एव विजयनिर्भर इत्येतद्राजहार्दमवगम्य स्वस्मिन् प्रेमातिशयञ्च जानानः स्वपराक्रमं दिदर्शयिषुस्तं हर्षयतीत्याह सञ्जयः—तस्येति । तस्य दुर्योधनस्य हर्षमानन्दं सम्यग्जनयन्नुत्पादयन् प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहो भीष्मः सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ वादितवान् ॥१२॥

भीष्मशंखध्वनिमुपश्रुत्य सर्वैर्विशिष्टयोद्धृभिर्युयुत्सासूचकानि शंखादीनि वादितानीत्याह तत इति । ततः सेनानायकस्य भीष्मस्य शंखध्मानानन्तरं भीष्मपक्षीयैस्सैनिकैः शंखभेरीपणवानकगोमुखाः वाद्यविशेषाः सहसैवातित्वरयैवाभ्यहन्यन्त प्रवादितास्तज्जनितः शब्दो ध्वनिस्तुमुलो महानासीत् ॥१३॥

दुर्योधन राजा द्वारा अनुरोधगर्भित आदेश दिये जाने के बाद क्या हुआ इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं "स्वपरसैन्य" इत्यादि । स्वसैन्य तथा पाण्डव सैन्य का समाचार सुनाने के लिए आचार्य द्रोण के समीप रहते हुए भी राजा दुर्योधन ने कहा आप लोग कुरुसेना के अध्यक्ष भीष्मपितामह की ही सर्वतोभाव से रक्षा करें, उनकी रक्षा करने पर ही विजय प्राप्त होगी । इस प्रकार के राजा के अभिप्राय को जान कर के और अपने में राजा का निरुपम तथा निरतिशय स्नेह विशेष को जानते हुए भीष्म अपने पराक्रम रणकौशल का प्रदर्शन करते हुए राजा दुर्योधन को हर्षित खुश करते हुए क्या करते हैं यह बात धृतराष्ट्र से सजय कहते हैं "तस्य सञ्जनयन्" इत्यादि । परशुरामादि प्रसिद्ध शस्त्रादि प्रवीण व्यक्ति के साथ युद्ध करके प्राप्त विजय होने से अतिशय प्रतापवान् भीष्म तथा कुरुवंश में सब से वृद्ध अवस्था गुण से प्रतिष्ठित पितामह दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र उनके पिता विचित्रवीर्य उनके बड़े भाई भीष्मने राजा दुर्योधन के हर्ष आनन्दातिरेक को बढाते हुए सिंह सदृश जोरों से शब्द करके स्वकीय शंख को बजाया अर्थात् सिंह नादोत्तर काल में शंख बजाकर के सैनिकों को सावधान कर दिया ॥१२॥

गत श्लोक में कहा कि राजा के आनन्द को बढाने के लिये भीष्म ने शंख को बजाया तब भीष्म की शंखध्वनि के बाद क्या हुआ इस बात को समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि भीष्म के शंख की ध्वनि को सुनकर सभी विशिष्ट योद्धाओं ने संग्राम सूचक शंख प्रभृति वाद्य को बजाया, इस आशय को "ततः शङ्खाश्चभेर्यश्चेत्यादि" श्लोक प्रकट करता है । ततः इसके

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाण्डवसैन्योत्साहमपि दर्शयति तत **इति। ततो भीष्मादिशंखसमुत्थितं तुमुलध्वानिमाकर्ण्य शुक्लवर्णैरश्वैर्युक्ते धनञ्जयस्यार्हणीयरथेऽवस्थितौ श्रीकृष्णार्जुनौ दिव्यौ शंखौवादितवन्तौ। अत्र हयरथादीनां विशिष्टत्वोपवर्णनेनार्जुनस्यैवविजयो व्यज्यत इति भावः ॥१४॥**

बाद अर्थात् सेना के प्रधाननायक भीष्मपितामह के शंख बजाने के बाद कौरव पक्ष के सभी सैनिकों ने शंखभेरीपणवानक गोमुख प्रभृति वाद्यविशेष को अतिशीघ्रता से बजाया, अर्थात् जिसके पास जो वाद्यविशेष था उसे बजाया उन वाद्यों के बजाने से बहुत बड़ा शब्द हुआ जो कि संग्राम में व्याकुलता का संपादन करने वाला हुआ। शंखादि के शब्द से समरांगण गूंज-उठा ॥१३॥

कौरवपक्ष की सेना के शंखनाद से पाण्डवपक्ष में भय नहीं हुआ अपितु हर्ष तथा उत्साह ही हुआ। इस चीज को समझाने के लियेभाष्यकार अवतरण करते हुए कहते हैं "पाण्डवसैन्य" इत्यादि। शत्रु पक्षीय सैनिक के शंखनाद से पाण्डव पक्षीय सेना के उत्साह को बतलाते हैं "ततः श्वेतैरित्यादि" तत भीष्म प्रभृति सेनानायक तथा सैनिकों के शंखादि से होने वाले शब्द को सुन अवस्थित कर शुक्लगुण विशिष्ट घोडों से युक्त अति प्रशस्त रथ पर (चढे हुए) भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ने भी अपने अपने मनोरम शंख को बजाया। चार घोडों से गुण विशिष्ट से संयुक्त रथ विजयकारकत्व का सूचक है, इसी बात को भाष्यकार बतलाते हैं "अत्र हयरथादीनामित्यादि" यहाँ रथ घोडाओं=में वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करने से अर्जुन को ही विजय—लक्ष्मी की प्राप्ति होगी, यह अभिव्यक्त होता है। सञ्जय ने आगे चलकर कहा है कि "यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थोधनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजय इत्यादि" यहाँ श्लोक में माधव शब्द से यह अभिव्यक्त होता है कि राज्य लक्ष्मी की प्राप्ति अर्जुन को ही होगी क्योंकि "मा" शब्द का अर्थ होता है—लक्ष्मी और "धव" शब्द का अर्थ है पति। तब लक्ष्मी पति श्रीकृष्ण जिसके पक्ष में हैं उसी को राज्यलक्ष्मी विजय लक्ष्मी मिलेगी, अन्य को नहीं। एवं पाण्डव शब्द से ऐसा अभिव्यक्त होता है कि पिता का उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, इसलिये पाण्डुराजा का जो राज्य है वह न्यायतः पुत्र को ही मिलना चाहिए। लोक में भी पिता का धनाधिकारी पुत्र ही होता है इतर नहीं। वेद में भी कहा है—"तस्य दायं पुत्रा उपयन्ति" (पिता का दायभाग धनादिक को प्राप्त होता है।) "औरसजोधनभागिति" (ब्रह्मवैवर्तगणेशखण्ड) पुत्र अनेक प्रकार के होते हैं उन में से औरस पुत्र ही धनाधिकारी है। यद्यपि अर्जुन राजापाण्डु के औरस पुत्र नहीं

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

इदानीं विशिष्टरूपेण तत्तच्छंखनामान्युपादत्ते पाञ्चजन्यमिति द्वाभ्याम्। हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः स्वामी जीवान्तर्यामितयेन्द्रियप्रेरकः परमात्मा श्रीकृष्णः स्वकीयं पञ्चजनादुत्पन्नं पाञ्चजन्यं धनञ्जयोऽर्जुनो देवदत्तं भीमकर्मा वृकोदरो भीमसेनः पौण्ड्रनामकं महाशंखं च दध्मौ ॥१५॥

है, क्षेत्रज्ञ है, तथापि अर्जुन पक्षीय अन्य तो औरस हैं ही। अलमति प्रपञ्चनेनेति ॥१४॥

अव्यवहित पूर्व चौदहवें श्लोक में तुमुल शंख का नाद कहा गया है अब उनकी विशेषता का प्रतिपादन करने के लिये भाष्यकार कहते हैं "इदानीमित्यादि। अब इस काल में विशेष रूप से तत् तत् रूप से शंखों का नाम बतलाते हैं "पाञ्चजन्यमित्यादि" दो श्लोकों के द्वारा। हृषीक भगवान् श्रीकृष्ण, हृषीक नाम है चक्षुरादिक बाह्य आभ्यन्तर इन्द्रियो का उसका ईश अर्थात् नियामक होने से भगवान् हृषीकेश कहलाते हैं। भगवान् जीव के अन्त-र्यामी होने से इन्द्रियों के प्रेरक हैं (श्रुति भी कहती है "योविज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तरोयमयति यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्" जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान को नियन्त्रित करता है जिसे विज्ञानमय जीव नहीं जानता है जिसका विज्ञानमय जीवशरीर अर्थात् अंग शेष है एतादृश परमात्मावतारस्वरूप श्रीकृष्ण ने पञ्चजन से समुत्पन्न पाञ्चजन्यशंख को बजाया। जैसे भगवान् सर्व प्रधान हैं उसी प्रकार भगवान् का शंख भी शंखों में प्रधान है इसीलिये प्रथमतः पाञ्चजन्य शंख का ही वर्णन किया गया। यह शंख समुद्र में रहनेवाले पंचजन से समुत्पन्न होने के कारण परम उत्कृष्ट कहलाता हैं। तदनन्तर धन जीतकर लाने का स्वभाव है जिनका ऐसा धनुर्धर में श्रेष्ठ अर्जुन ने देवताओ से दिया गया अत्युत्कृष्ट देवदत्त नामक शंख को बजाया। तदनन्तर पौण्ड्र नामक महाशंख को भीम भयानक कर्म हिडिंब कच वधादिक है जिनका ऐसे वृकोदर अर्थात् वृक नामक अग्नि है जिनके उदर में अथवा वृक (भेड़िया) के समान उदर है जिनका ऐसे महाबलवान् भीम ने बजाया। भीमसेन के शंख में महाविशेषण है जो महा विशेषण इतर शंख में नहीं दिया गया है वह महत्त्व आकार प्रकार से ही समझना चाहिये। जब भीम स्वयं शरीर के आकार प्रकार में महान् हैं तब उनके शंख में भी तदनुरूपही आकार प्रकार का होना आवश्यक है "समाने शोभते प्रीतिः" ऐसी लौकिक उक्ति है ॥१५॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ?।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

कुन्तीपुत्रः पृथायाः पुत्रो युधिष्ठिरो राजा राजसूययागकारित्वाद्राजा अनन्तविजयाख्यं शंखं दध्मौ। एवं नकुलसहदेवौ क्रमेण सुघोषमणिपुष्पकनामानौ शंखौ दध्मतुर्वादितवन्तौ ॥१६॥

प्रधानपाण्डवध्मातशंखध्वनिमुपश्रुत्याऽन्येऽपि पाण्डवपक्षीयाः शंखान् दध्मुरित्याह—काश्यश्चेति द्वाभ्याम्। परमेष्वासः काश्यः काशिराजो महारथः शिखण्डी पाञ्चालराजतनयो धृष्टद्युम्नः परबलधर्षकबलशाली द्रुपदतनयो विराटोऽपराजितः सात्यकिश्च द्रुपदो द्रौपदीपिता द्रौपदेया द्रौपद्यास्तनयाः सौभद्रो सुभद्रातनयो महाबाहुरभिमन्युश्चैते सर्वेऽपि हे पृथिवीपते ! पृथक् पृथक् स्वस्वशंखान् दध्मुः ॥१७-१८॥

पाण्डवसैन्यशंखध्वनिर्धार्तराष्ट्राणां हृदयविदारकोऽभिषवन्न इत्याह—स घोष इति। स पाण्डवतत्पक्षीययोद्धृशंखघोषस्तुमुलो रणभयाकुलतामावहन्नभोगगनं दिशं धरित्रीञ्च

कुन्ती देवी का पुत्र अर्थात् पृथापुत्र युधिष्ठिर (संग्राम में स्थिर होने के कारण इनका नाम युधिष्ठिर है) राजा राजसूय यज्ञ करने से राजा कहे जाते हैं। ऐसे राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय नामक शंख को बजाया। (जिसके द्वारा अनंत विजय हो उसका नाम है अनंत विजय) इसी प्रकार नकुल और सहदेव ने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक शंख को बजाया ॥१६॥

भगवान् श्रीकृष्ण तथा पाण्डव प्रधानों के शंखनाद को सुनकर दूसरे भी पाण्डव पक्ष के योद्धा गण ने अपने अपने शंख को बजाया इस बात को "काश्यश्चेत्यादि" दो श्लोकों से बतलाते हैं— बहुत बड़ा है धनुष जिसका ऐसे काश्य=काशी के राजा, महारथ शिखण्डी तथा पाञ्चाल देश के राजपुत्र, परकीय बल को विनष्ट करने वाले धृष्टद्युम्न तथा विराटराजा एवं सात्यकि तथा द्रौपदी के पिता स्वयं राजा द्रुपद और द्रौपदी के पुत्र प्रतिविन्ध्य प्रभृति, सौभद्र सुभद्रा के पुत्र महाबाहु अभिमन्यु इन सबोंने हे पृथिवीपति राजन् धृतराष्ट्र ! अपने अपने शंख को पृथक् पृथक् रूप से बजाया ॥१७॥१८॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

प्रतिध्वानेनापूरयन् धृतराष्ट्रपुत्राणां तत्पक्षीयानाञ्च हृदयानि दुस्सहव्यथायुक्तानि कृतवान् ॥१९॥

अथेदानीं गीताशास्त्रप्रतिपाद्यप्रयोजनसिद्धयेऽर्जुनस्याचार्यप्रपदनफलिकां कथामवतारयितुमादौ कौन्तेयप्रवृत्तिं ज्ञापयति अथेति । अथ तुमुलध्वनिश्रवणोपजातभयानन्तरमपि धार्तराष्ट्रान् युयुत्सयाऽवस्थितान् रणाङ्गणे युद्धोद्योगपरायणान् दृष्ट्वा चक्षुर्गोचरीकृत्य

कौरव पक्ष के सिंहनाद तथा शंखनाद से पाण्डव पक्ष को व्यथा नहीं हुई किन्तु पाण्डव पक्ष के शंखनाद से धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय में अत्यन्तक्षोभ हुआ, इस वस्तु को बतलाते हैं "स घोषो धार्तराष्ट्रा" इत्यादि । पाण्डव पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन प्रभृति प्रधानयोद्धाओं ने तथा अन्यवीर समुदाय ने जो शंख नाद किया, उसने संग्राम में पर पक्ष में व्याकुलता को उत्पन्न करते हुए आकाश दिशा तथा पृथिवी को प्रतिध्वनित (गुंजायमान) करते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों को तथा उनके पक्ष के सभी के हृदय में दुःसहव्यथा को उत्पन्न कर दिया । अर्थात् वह शंख नाद कौरव पक्षीय सेना के बीच में असह्य दुःख जनक हुआ । संग्राम में वीरों के वाद्यविशेष से शौर्य तथा रण में उत्साह जनक हर्ष उत्पन्न होता है यह स्वाभाव है । परन्तु कौरव पक्ष में तो इसके विपरीत हृदय विदारक परिताप रूप दुःख का जनक हुआ । इससे यह अभि. व्यक्त होता है कि कौरव पक्ष में पराजय अवश्यं भावी है और यह उचित भी है क्योंकि कौरव पक्ष अन्यायमार्ग का अवलंबन करके अवस्थित था और पाण्डव पक्ष न्यायोचित मार्ग पर था अत एव पाण्डव पक्ष में साक्षात् साकेत के सरकार श्रीकृष्ण रूप से अवतार लेकर सहायक बने थे । साकेत के सरकार की प्रतिज्ञा है कि मैं साधु की रक्षा अधर्मियों का विनाश करने के लिये तथा धर्ममार्ग को व्यवस्थित करने के लिये प्रत्येक युग में नृसिंह, वामन, वराहादि रूप में अवतार लेता हूँ । प्रसंगवश भीष्मपितामहने भी कहा था कि यदि भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डव के सहायक नहीं हो तो मैं अकेला ही पाण्डवपक्ष का विनाश कर सकता हूं । इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् तो न्याय मार्ग पर चलनेवालों की ही सहायता करते हैं, अन्यायी के सहायक नहीं होते हैं । इससे सिद्ध होता है कि महाभारत में कौरवों की पराजय अवश्यंभावी है ॥१९॥

यह गीता शास्त्र भक्ति प्रधानक है । इसमें सांगोपांगभक्तिस्वरूप के प्रतिपादन करने की इच्छा से प्रथमतः अधिकारिस्वरूप का अन्वेषण आवश्यक होता है । इसमें अथ शब्द

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ? ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ? ॥२१॥

पाण्डवः पाण्डुपुत्रः कपिर्हनुमान् ध्वजे यस्य सोऽर्जुनः शस्त्रसम्पाते शस्त्रप्रहारे प्रवृत्ते प्रवर्तनसमयस्य प्राक्क्षणे स्वकीयं गाण्डीवनामकं धनुरुद्यम्य ॥२०॥

तदा तस्मिन् काले हृषीकेशं करणकलेवरादीनां प्रेरकमन्तर्यामिणं श्रीकृष्णमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह प्रोक्तवान् हे महीपते ! इति सम्बोधनेन न्याय्य एव त्वया

से उपक्रान्त अर्जुन का निर्वेदरूप अवान्तर प्रकरण का आरंभकरने के लिये भगवान् भाष्यकार कहते है "अथेदानीमित्यादि" अब गीता शास्त्र से प्रतिपाद्य जो प्रयोजन विशेष है उसकी सिद्धि के लिये अर्जुन का आचार्य के समीप प्रपदन (गमन) फल की जो कथा उस कथाको अव-तरित करने के लिये प्रथमतः कौन्तेय (अर्जुन रूप शिष्य) की जो प्रवृत्ति उसे ज्ञापित करते हुए कहते हैं कि "अथ व्यवस्थितानित्यादि"। अथ इसके बाद अर्थात् शंखादिवाद्य के तुमुल शब्द श्रवण से जायमान जो भय उसके अनन्तर भी रणांगण मे युद्ध के उद्योग में तत्पर तथा महाभय से अत्यन्त भय भीत होने पर भी (यथा भागमवस्थिताः) आप लोग सेनानायक भीष्म पितामह की रक्षा के लिये अपने अपने स्थान मे व्यवस्थित रहें, दुर्योधन की एतादृश आज्ञा का पालन करते हुए अपने अपने स्थान पर अवस्थित धृतराष्ट्र पुत्रो को तथा तदनुयायियों को देख करके अर्थात् दोष रहित आँख से सम्यक् रूप से जान करके पाण्डव अर्थात् पाण्डु राजा के पुत्र वास्तविक राज्याधिकारी तथा कपिध्वज अर्थात् कपि=श्रीहनुमानजी जिनकीध्वजा में हैं ऐसे अर्जुन ने शस्त्र पात की प्रवृत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अपने गाण्डीव नामक धनुष को उद्यत करके भगवान् श्रीकृष्ण से इस बातको कहा। उत्तर श्लोकसे "आह"क्रिया का यहाँ अध्याहार होता है ॥२०॥

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से क्या कहा ? उसका प्रदर्शन इस श्लोक से होता है । उस काल में अर्थात् शस्त्र संपात के अव्यवहित पूर्वकाल में करण चक्षुरादिक बाह्याभ्यन्तर तथा कलेवर शरीर प्रभृति के प्रेरक सभी के अन्तर्यामी हृषीकेशभगवान् श्रीकृष्ण से वक्ष्यमाण वचन कहा। हे महीपते ? इस महीपते सम्बोधन से आप न्यायोचित हि विचार करें, इसलिये आप ही एक अभी सर्वाध्यक्षरूप से व्यवस्थित हैं, यह सूचित होता है । अर्थात् जिसके अन्तः करण में रागद्वेष रहता है वह रागद्वेष के बल से पाक्षिक विचार करता है, आप तो राजा के समान सर्व साक्षितया अवस्थित है, अतः आप से पाक्षिक न्याय नहीं होगा, इस बात का सूचन महीपते सम्बोधन से ध्वनित होता है । हे अच्युत ? स्वकीय तथा परकीय सेना को देखने के लिये

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

विचारः कार्यो यतस्त्वमेवैकः सर्वाध्यक्षतयेदानीं स्थित इति सूच्यते । हे अच्युत ! उभयोः सेनयोर्मध्ये स्वपरसैनिकानवलोकयितु कामस्य मे रथं स्थापय । अच्युतेति सम्बोधनेन त्वत्स्थापितरथस्यापि त्वमिवाचलत्वं भविष्यतीत्यर्जुनस्याशयोगम्यते ॥२१॥

सेनयोर्मध्ये रथस्थापनफलमाह यावदेतानिति । योध्धुकामानवस्थितान् युद्धेच्छया व्यूहाकारेण सन्नह्य स्थितानेतानतिसमीपवर्तिनो Ψभटान् यावत् यदवधिकदेशे

आप मेरे रथ को कुरु पाण्डव उभय सेना के बीच में खड़ा कीजिये । अच्युत इस विशेषण से जैसे आप स्वयं अच्युत हैं, त्रिकाल में भी आप में विचलन क्रिया नहीं होती है, सदा एक रूप से अवस्थित रहते हैं, इसी प्रकार आप मुझे तथा मेरे रथ को अविचलित रूप से रखें जिससे मुझे लोक में यश और शत्रु कदर्थित राज्य की प्राप्ति हो, इस प्रकार का अर्जुन का आशय अभिव्यक्त होता है । साधारण सारथी के समान अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा है तथा भगवान् ने भी उसके कथनानुसार सकल साधारण सारथी के समान ही कार्य किया, इससे यह सिद्ध होता है कि जब ईश्वर ही जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं तब उसे विजय की प्राप्ति होगी, यह कोई आश्चर्य कारक नहीं है अथवा भगवान् ने स्वकीय वत्सलता का प्रदर्शन किया है ।२१।

दोनों सेना के बीच में रथ स्थापन करने का क्या प्रयोजन है ? इसका स्वयमेव स्पष्टीकरण करते हैं "यावदेतानित्यादि" । युद्ध करने की इच्छा से व्यूह के आकार से सन्नद्ध होकर के अवस्थित अत्यन्त समीप में स्थित योद्धा (सुभट) को यावत् अर्थात् यदवधिक देश में स्थिर हो करके मैं देख सकूं । इस रण समारंभ में मुझे किस सुभट के साथ लड़ना है और शत्रु पक्ष का कौन सुभट है जो मेरे साथ लड़ना चाहता है । कौन हमसे लड़ने के योग्य और कौन हमसे लड़ने के योग्य नहीं है ऐसी मेरी जिज्ञासा है । हे भगवन् ! मैं केवल युद्ध तथा

Ψएतान्, यहाँ एतत् शब्द का जो प्रयोग किया है इससे यह सिद्ध होता है कि अत्यन्त समीपस्थ, क्योंकि "इदमेतदोः प्रत्यक्ष विषये शक्तिः" इदम् शब्द तथा एतत् शब्द की शक्ति प्रत्यक्ष विषय में है । जहाँ तक पदार्थ चक्षुरादिक सम्बद्ध हैं उतनी दूरतक ही प्रत्यक्ष विषय है अत एव दूरवर्ती कुड्याद्व्यिवहित में इदम् वा एतत् शब्द का प्रयोग नहीं होता है तब प्रकृत में एतत् शब्द का प्रयोग करके चक्षु सम्बद्धता का प्रदर्शन किया गया है । यद्यपि संग्राम स्थित वीर सेना तथा नायक समीप में ही थे तथापि उनके साथ चक्षुः संयोग होने पर ही यथावत् ज्ञान हो सकेगा इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण से अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि भगवन ! ऐसे स्थल में रथ को खड़ा कीजिये जिससे मैं आँख से सबों को देख सकूं इन्द्रिय सम्बद्ध तथा वर्तमान पदार्थ ही इन्द्रिय वेद्य होता है अत एव कुड्यादि व्यवहित कालान्तर देशान्तर वर्ती चक्षुः ग्राह्य नहीं होता है ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ? ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

स्थित्वाऽहं पश्यामि । यदस्मिन् रणसमारंभे मया कैः शूरैस्सह योद्धव्यं मया सह योद्धुं के ह्यत्रसमर्था इति जिज्ञासा मेऽस्तीति भावः ॥२२॥

उक्तमर्थं स्पष्टयति योत्स्यमानानिति । दुर्बुद्धेर्दुष्टबुद्धेर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य युद्धे संग्रामे प्रियमिष्टं कर्तुमिच्छवो य एतेऽत्र समरभूमौ सम्यक्कृतयुद्धनिश्चया आगतास्तान् योत्स्यमानान् मया सह समरं करिष्यमाणानहमवेक्षेऽवलोकयामि ॥२३॥

वीरों के निरीक्षण के लिये ही आया हूं ऐसा नहीं किन्तु लडने की इच्छा से आया हूं परन्तु यह युद्धोद्योग घर की लडाई है अतः मै किस के साथ लडूं अथवा किसे मेरे साथ लडाई का अधिकार है यद्वा सभी अनुकंपा के योग्य हैं एतादृश विचार करना तो अति आवश्यक है इसलिये आप कृपा करके उस स्थान पर रथ को खडा कीजिये जिससे मै बराबर सबों को देखकर अग्रिम कार्यवाही कर सकूं ॥२२॥

बाईसवें श्लोक मे कथित जो अर्थ है उसी को पुनः स्पष्ट रूप से कहने के लिये अग्रिमश्लोक को उपस्थित करते हैं "योत्स्यमानानित्यादि" दुर्बुद्धि=दुष्ट है बुद्धि जिनकी ऐसे जो धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादिक हैं उनके इस संग्राम में प्रिय अर्थात् विजयरूप इष्ट संपादन करने की इच्छा से जो लोग यहाँ समरभूमि में सम्यक् रूप से युद्ध करने का निश्चय करके आये हुए हैं जो मेरे साथ संग्राम करनेवाले हैं उन्हें मैं देख सकूं । अर्थात् नाम कुल संपत्ति बल आदि का विशिष्ट रूप से परिचय कर सकूं । प्रकृत श्लोक में "दुर्योधनस्य दुर्बुद्धेः" यह नहीं कह कर "धार्तराष्ट्रस्ज दुर्बुद्धेः" इस कथन से यह अभिप्राय अभिव्यक्त होता है कि बडों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे एतादृश विनय एवं बन्धुपरिवार के साथ सौहार्द रखें, इस प्रकार विनय सौहार्द रूप गुण की शिक्षा अपने पुत्र को नहीं दिया प्रत्युत अत्यन्त दुर्विनीत स्वपुत्रों के प्रति पक्षपात करने वाले राजा धृतराष्ट्र का भी दुर्विनीतत्वादि दोषवत्त्व सूचित होता है । इसलिये "दुर्योधनस्य दुर्बुद्धेः" नहीं कह कर "धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः" कहना उचित ही है ।२३।

पूर्वकथित प्रकारेण अर्जुन द्वारा प्रेरित भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के आदेश का पालन किया अथवा नहीं इस प्रकार के सन्देह से युक्त धृतराष्ट्र से पूछे गये संजय ने धृतराष्ट्र

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ! पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

एवमर्जुनप्रेरितो भगवान् श्रीकृष्णस्तदादेशमनुष्ठितन्नवेति सन्दिहानेन धृतराष्ट्रेन पृष्टः सञ्जयस्तमभिदधावित्याह वैशम्पायनः संजय उवाचेति । सञ्जयवचनमनुवदति-एवमित्ति । हे भारत ! धृतराष्ट्र ! गुडाकाया निन्द्राया ईशेन वशीकृतनिद्रेणार्जुनेनोक्त-प्रकारेणोक्तो हृषीकेशो भगवान् श्रीकृष्णः समाश्रितवात्सल्यात् सारथ्यं परिपालयन् धनंजयादेशमनुसरन्नुभयोरनीकयोर्मध्ये भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतोऽग्रे सर्वेषां महीक्षितां राज्ञाञ्चाग्रे रथोत्तमं सप्तार्चिषा प्रेम्णा समर्पितत्वाद्भगवन्नियन्तृकत्वाच्च सर्वरथेषूत्तमं पार्थरथं स्थापयित्वा संस्थाप्य हे पार्थ ! समवेतानेतान् कुरून् पश्येत्युवाच ॥२४॥२५॥

से कहा ऐसा वैसम्पायन कहते हैं । संजय ने धृतराष्ट्र से क्या कहा उसी वचन का अनु-वाद करते हैं "एवमुक्त" इत्यादि श्लोक से । हे भारत ? अर्थात् हेराजन् धृतराष्ट्र ? गुडाकेश से गुडा नाम है निद्रा का, उसके ईश स्वामी अर्थात् जिसने निद्रा को जीत लिया है उसे गुडाकेश कहते हैं । अर्जुन का नाम है गुडाकेश । तादृश गुडाकेश अर्जुन से यथोक्त प्रकार से पूछे गये हृषीके सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण ने वत्सलता के कारण अर्जुन के सारथी कार्य को स्वीकार करके अर्जुन के आदेश का अनुसरण करते हुए पाण्डव तथा कौरव इन दोनों सेना के मध्य में भीष्म द्रोण के आगे में तथा सभी राजाओं के सम्मुख (आगे में) रथोत्तम को स्था-पित करके अर्थात् सभी रथों में उत्तम पार्थरथ को सभीराजाओं के आगे में स्थिर करके अर्जुन से कहा ।

शंका—अर्जुन का रथ सर्वरथ में उत्तम है इसका क्या कारण है ?

समाधान—वायु हैं सखा सहायक जिसके ऐसे जो अग्निदेव उन्होंने अर्जुन को प्रेम पूर्वक यह रथ दिया है । खाण्डववन को जलाने में अर्जुन ने अग्नि देव की सहायता की थी, इससे प्रसन्न होकर अग्नि देवने यह रथ अर्जुन को दिया । इसलिये अर्जुन का यह रथ अतिदिव्य है और वायु के समान अतिशीघ्रगामी होने से सभी रथो में उत्तम कहलाता है । तथा वायु पुत्र भक्तों में अग्रणी श्रीहनुमानजी से अर्जुन का रथ अधिष्ठित है । एवं मन से भी अधिक त्वराशील जगदाधार सर्व नियामक सर्वेश्वर श्रीरामजी हीं "रामो भाद्रपदस्याथ कृष्णाष्टम्यां तिथाविह । श्रीयुतकृष्णरूपः सन् कंसादिकं जघान हि ॥" (श्रीबोधायन मतादर्श ५१०) इसस्मृति के सिध्दा

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

एवं भगवदाज्ञामुपश्रुत्यार्जुनः किं कृतवानित्यपेक्षायामाह तत्रेति । पार्थोऽर्जुनस्तत्राऽवस्थितयोरुभयोरपि सेनयोः स्थितान् युद्ध्योपस्थितान् पितॄन् भूरिश्रव आदीन्, ततः पितामहान् भीष्मादीन् आचार्यान् कृपाचार्यादीन् मातुलान् शल्यादीन् भ्रातॄन् युधिष्ठिरदुर्योधनादीन् पुत्रानभिमन्युलक्ष्मणादीन् पौत्रान् लक्ष्मणादिपुत्रान् सखीन् सात्यक्यश्वत्थामादीन् तथा श्वशुरान् द्रुपदादीन् सुहृदोविराटादीनेव सर्वानपश्यद् दृष्टवान् । कौन्तेयोऽतिदयाशीलायाः पृथायाः सूनुः । कौन्तेय इति कथनेन तदुरसि दयोद्रेकः सूच्यते । सोऽर्जुनस्तान् पूर्वोक्तानवस्थितान् सर्वानशेषान्बन्धून्स्वजनान्स-

न्तानुसार श्रीकृष्णरूप से जिस रथ में सारथी हैं, इन सभी करणों से अर्जुन का रथ रथोत्तम कहलाता है ।

"सप्तार्चिषा प्रेम्णा समर्पितत्वात् भगवन्नियन्तृतत्वात्" इस स्वकीयाक्षर से भाष्यकारजी ने खाण्डव वन सम्बन्धी इतिहास को सूचित करते हुए अर्जुन के ऊपर भगवान् की वत्सलता को बतलाया है । भगवान् ने क्या कहा उस बात को बतलाते हैं हे पार्थ! संग्राम करने के लिए एकत्र अवस्थित सभी कौरवों को देखो, ऐसा कहा ॥२४॥२५॥

हे अर्जुन ! लड़ने के लिए आये हुए कौरव पाण्डव के पक्ष पाती राजाओं को देखो, भगवान् कृष्ण की इस आज्ञा को सुनकर अर्जुन ने क्या किया ? ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "तत्रापश्यदित्यादि" पार्थ पृथा के पुत्र अर्जुन ने उभय सेना के बीच में भगवान् श्रीकृष्ण से अवस्थापित रथ में व्यवस्थित हो कर दोनों सेना में स्थित अर्थात् लड़ने की इच्छा से व्यवस्थित पिता अर्थात् पिता के समान पूजनीय भूरिश्रवादिक को अथ तथा पितामह भीष्मप्रभृति को एवम् आचार्य विद्या के अध्यापक द्रोणाचार्य एवं मातुल मामा शल्य प्रभृति को एवं भ्राता दुर्योधन दुःशासन प्रभृतिको तथा युधिष्ठिर भीमादिक को एवं पुत्र अभिमन्यु लक्ष्मण प्रभृति को एवं पौत्र लक्ष्मण का जो पुत्र उसे एवं सखा सहाध्यायी अथवा समवयस्क मित्र सात्यकी गुरुपुत्र अश्वत्थामा प्रभृति को एवं श्वशुर द्रुपद प्रभृति को एवं सुहृत् विराट् प्रभृतिक सबों को देखा । कौन्तेय अतिदयावती पृथा का पुत्र अर्जुन यहाँ कौन्तेय इस कथन से अर्जुन के हृदय में अतिशयेन दया का सद्भाव सूचित होता है ।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

वीक्ष्य सम्यग् दृष्ट्वा परया स्वजनानुरागसमुत्थयाऽत एव पराकाष्ठां गतया कृपयाऽऽविष्टो व्याप्तहृदयो विषीदन् परितापं कुर्वन्निदं वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् । अर्जुन उवाचेति वैशम्पायनस्योक्तिः । किमाह तत्कथयति—दृष्ट्वेति । हे कृष्ण ? युयुत्सुं योद्धुमिच्छुं समुपस्थितं सम्यक् समीपेऽग्रभागे स्थितमिमं बन्धुजनं दृष्ट्वा मम गात्राण्यङ्गानि सीदन्ति दुर्बलानि भवन्ति मुखं वदनञ्च परिम्लानं जायते । शरीरे

यहाँ पार्थपद से अथवा कौन्तेय पद से पृथा का पुत्ररूप बतलाया । इससे स्त्री का जो स्वाभाविक गुण है करुणा, तादृश करुणावान् अर्जुन हैं । प्रायः स्त्री जाति कारुण्य गुण से विशिष्ट होने के कारण लड़ाई झगडारूप कार्य से भयभीत हो जाती हैं । इससे यह बतलाया कि माता का जो कारुण्य उससे अर्जुन भी ओतप्रोत थे । नैयायिक का कथन हैं कि "कारण. गुणाः कार्यगुणानारभन्ते" कारण में रहनेवाला गुण कार्य में स्वसमान जातीयक गुणान्तर उत्पादक होता है । अतः मातृगत करुणा से तज्जात पुत्र मे भी तादृश गुण का प्राधान्य हुआ । यद्यपि "कारण गुणाः" यह नियम दण्डघट में व्यभिचरित है क्योंकि दण्डगत गुण घटगत गुण का उत्पादक नहीं होता है तथापि नियमान्तर्गत कारणपद उपादान समवायि कारण परक है अतएव उक्त नियम में कोई क्षति नहीं है । नहीं कहें कि माता तो पुत्रका समवायि कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण है जिस तरह घटकार्य में दण्डनिमित्त कारण है उपादान कारण अर्थात् समवायिकारण तो रजवीर्य होता है तब कैसे कहते हैं कि मातृगत कारुण्य अर्जुन में आया है ।

समाधान—मातृगुण पुत्र में संक्रान्त होता है यह लोक में बहुशः उपलब्ध होता हैं जैसे महाभारत में ही एक प्रसंग में अभिमन्यु ने धर्मराज से कहा है कि जब मैं माता के गर्भ में था तब पिताजी प्रसंगवश हमारी माताजी को चक्रभेदन का प्रकार सुना रहे थे तब मैंने भी सबों को सुन लिया और वह मुझे स्मरण भी है किन्तु छ व्यूह भेदन तक सुनते सुनते मेरी माताजी निद्रिता हो गई इसलिये सातवें द्वार की भेदन प्रक्रिया को मैं नहीं जान सका। इससे यह सिद्ध होता है कि माता का गुण पुत्र में आये तो कोई आश्चर्य नहीं है ।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ? ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

मे वेपथुः कम्पश्च जायते तथा रोमहर्षो रोमाञ्चश्चोत्पद्यते । हस्ताद्गाण्डीवं धनुः स्रंसतेऽधस्तात् पतति । अनेन धृतेर्विनाशः सूचितः । त्वक् चर्म च परिदह्यते सन्तप्तम्भवति । अवस्थातुं शरीरं धारयितुं न शक्नोमि किम्बहुना मनोन्तरिन्द्रियञ्च मे भ्रमतीवानवस्थितिकमिव भवतीत्यर्थः २६॥२७॥२८॥२९॥३०॥

हे केशव ? ब्रह्मादिदेवपालक ? अहमिदानीं सर्वाण्यपि निमित्तानि चक्षुस्पन्द-

कारण गत गुण कार्य में आता है इस बात का स्वीकार कर के आचार्य श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने ब्रह्म से उत्पन्न हुआ भी जगत् मिथ्या है इस मत का खण्डन किया है क्योंकि सद्रूप ब्रह्म से जब जगत् कार्य होता है तब कारण में रहने वाली सत्यता जगत् में आती है अत एव सदात्म कार्य जगत् का सदात्मक कारण में तादात्म्य सिद्ध होता है । इस बात को जगत् के आचार्य भाष्यकारजी ने "तदनन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः" इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य तथा "इदं सर्वं यदयमात्मा" इस उपनिषद् वाक्य में अभिव्यक्त किया है । इसका विशेष विचार प्रसंगवश उन उन वाक्यों के व्याख्यान में हो चुका हैं अतः विशेषार्थियो को वहीं से अनुसन्धान करना चाहिये विस्तार भय से यहाँ विशेषचर्चा नहीं कर रहे हैं ।

पूर्वोक्त आचार्यादिक सभी व्यक्ति युद्ध के लिए सम्यक् रूप से व्यवस्थित, सर्व अर्थात् अशेष स्वजन को देखकर, स्वजन के अनुराग से जायमान अत एव परम काष्ठा (चरम सीमा) को प्राप्त हुई जो कृपा उससे व्याप्त हृदयवाले अर्जुन ने विषाद अर्थात् परिताप करते हुए वक्ष्यमाण वचन श्रीकृष्ण से कहा । "अर्जुन ने कहा" यह वैशम्पायन का वचन है । भगवान् श्रीकृष्ण से अर्जुन ने क्या कहा ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं—"दृष्ट्वा" इत्यादि । हे भगवन् श्रीकृष्ण ! युद्ध करने की इच्छा से अत्यन्त समीप में स्थित इन पूर्वोक्त बन्धुबान्धव को देख करके मेरा अंग हाथ पैर प्रभृति सीदित अर्थात् अत्यन्त दुर्बल हो रहा है मुखपर उदासीनता छा गई है । शरीर में सर्वाङ्ग मे कंप हो रहा है एवं शरीर में रोमाञ्च हो रहा है । और हाथ से यह गाण्डीव धनुष नीचे गिर रहा है । इससे धारण शक्ति का विनाश सूचित होता है । शरीर का चर्म (चमडा) जल रहा है, शरीर का धारण भी नहीं कर सकता हूं । भगवन् ! आपसे अधिक क्या कहूं ? मेरा मन भी अत्यन्त भ्रमित हो रहा है ॥२६ से ३०॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

नप्रभृतीनि विपरीतान्येव पश्यामि । आहवे संग्रामे स्वजनसमूहं हत्वा विनाश्य श्रेय ऐहिकामुष्मिकं सुखं नैवानुपश्यामि ॥३१॥

ननु विजयलाभे तवैहिकमामुष्मिकञ्चेत्युभयं सिध्यति कुतोऽत्र कर्मणि श्रेयोऽदर्शनमित्युच्यते तत्राह— नेति । हे कृष्ण ! बन्धून् विनाश्य विजयमहं नेच्छामि तथाविधविजयाधीनं राज्यमपि नेच्छामि तादृशराज्यायत्तानि सुखानि च नेच्छामि । ननु सर्वेऽपि सुखलिप्सवः सुखञ्च राज्यायत्तमिति कुतस्तव सुखोपाये प्रवृत्त्यभाव

हे केशव ? अर्थात् ब्रह्मा शिवादि देवों के रक्षक ? के नाम है ब्रह्मा का तथा ईश नाम है महादेव का, इन दोनो को उपदेश प्रदान करके, नियमित करे, उसे केशव कहते हैं । सर्ग के आदि में ब्रह्मा को उपदेश करते हैं । श्रुति कहती है-"यो ब्रह्माणं विदधाति" जो ब्रह्मा को बनाते हैं तथा उन्हें वेद का उपदेश देते हैं, एतादृश भगवान् जगत् के गुरु हैं । "स पूर्वेषामपि गुरुः" इत्यादि पतञ्जलि सूत्र से भी सिद्ध होता है—जो भगवान् जगत् के परम गुरु हैं ।

मैं इस समय सभी निमित्त को विपरीत ही देखरहा हूं अर्थात् चक्षु बाहु प्रभृति का जो स्पन्दन रूप निमित्त है । जैसे पुरुषके लिये दक्षिण नेत्र का स्पन्दन, दक्षिण बाहु का स्पन्दन शुभ बतलाने वाला निमित्त हैं और स्त्रियों के लिये वामाक्षि प्रभृति वाम अंग का स्फुरणादि शुभप्रद निमित्त हैं इससे विपरीत अर्थात् पुरुष का वामांग स्फुरण स्त्रियों का दक्षिणनेत्र दक्षिण बाहु का स्पन्दन अशुभ है । हे भगवन् ? शुभाशुभ सूचक जो निमित्त है वह सब विपरीत ही हो रहा है ऐसा मैं देख रहा हूं । हे भगवन् ? इस संग्राम में स्वजन समुदाय को मार करके इह लोक सम्बन्धी अथवा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होगी ऐसा मै नहीं देख रहा हूं । यद्यपि 'स्वजनम्' यहाँ एकत्व बोधक एक वचन का प्रयोग किया गया है वह प्रत्यक्ष बाधित है तथापि 'सम्पन्नो व्रीहिः' के समान स्वजननिष्ठ जो असाधारण धर्म है उसी में एकत्व का अन्वय होता है । निमित्त विषयक अधिक विचार निमित्त ग्रन्थ में देखें ॥३१॥

शंका—संग्राम करने से क्षत्रियोचित युद्धात्मक कर्म करने से उस में विजय प्राप्त होगी, उससे बहुत बड़ी कीर्ति की प्राप्ति होगी और बहुत बड़े साम्राज्य का भी लाभ होगा । तब आप कैसे कहते है कि युद्ध करनेसे ऐहिक अथवा पारलौकिक फल नहीं देखता हूं, अर्थात् क्षत्रिय धर्मानुसार युद्ध करने मे ऐहिक फल है लोक व्यापिनी कीर्ति राज्य प्राप्ति और पारलौकिक फल होगा स्वर्ग प्राप्ति ।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

इत्यत आह हे गोविन्द ! मम करणकलेवरादिनियामक ! अनेन सम्बोधनेन मदीयहार्दं समग्रयं जानासीति सूचितम् बन्धुनिधनजनितराज्येन नोऽस्माकं किम्फलं राज्यायत्तभोगैरपि किं फलं तादृशभोगान् भुक्त्वा जीवितपालनेनापि वा किम्फलम् ॥३२॥

ननु गुरुपुत्रभृत्यपोषणस्यावश्यकतयाऽकार्यमप्यादरणीयमिति धार्मिकमेवेदं कृत्यमत आह येषामिति । **अवश्यभर्तव्यानां येषां पित्रादीनामर्थे नोऽस्माकमपेक्षितं**

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं "न कांक्षे विजयमित्यादि" हे भगवन् श्रीकृष्ण ! पिता पुत्रादि बन्धु बांधवों का विनाश करके मैं विजय प्राप्ति नहीं चाहता हूं तथा एतादृश विजय से होनेवाले राज्य को भी मैं नहीं चाहता हू एवं ईदृश राज्य से प्राप्त होनेवाले जो सावधिक क्षणिक सुख लौकिक हैं उन्हें भी मैं नहीं चाहता हूं।

शंका—भाई ? संसार में ब्रह्मा से लेकर कीट पतंग पर्यन्त प्रत्येक प्राणी वर्ग सुख को प्राप्त करना चाहता है अर्थात् सभी प्राणी अनुकूल वेदनीय सुख को चाहता है और प्रतिकूल वेदनीय दुःख से द्वेष करता है । और रंजनात्मक सुख का कारण है राज्यप्राप्ति तत्र सुख का कारण जो राज्यप्राप्ति उस में आपकी प्रवृत्ति क्यों नहीं हो रही है ?

इस शका के समाधान में अर्जुन भगवान् से कहते हैं—हे गोविन्द ? समस्त शरीरेन्द्रिय के नियामक ? "गोविन्द" इस संबोधन से यह सिद्ध होता है कि आप मेरे हृदय के अभिप्राय को जानते हैं । यद्यपि पर पुरुषवर्ती ज्ञान सुखादि का प्रत्यक्ष अन्य को नहीं होता है तथापि भगवान् प्रत्येक पुरुष के हृदय में निवास करते हैं । आगे चलकर कहेगे "ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" ईश्वर परमात्मा सर्वनियामक प्रत्येक प्राणी के अन्तः करण में रहते हैं अतः आप मेरे हृदय की सभी बातों को अवश्य जानते हैं, यह बात गोविन्द इस विशेषण से अभि व्यक्त हो रही है । बन्धुबान्धव गुरुपिता पुत्रादिका जो विनाश उससे जायमान जो राज्य उससे हमें क्या प्रयोजन है अर्थात हिंसादि दोषाप्रात राज्य से कोई भी प्रयोजन हम को नहीं है । एतादृश राज्य के अधीन जो भोग है उससे भी हमको कोई प्रयोजन नहीं है एवं तादृश भोग को प्राप्त करके जीवन के पालन करने से भी क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है । जिसका मूल अशुद्ध है उससे जायमान फल कभी भी शुभप्रद नहीं हो सकता । विषसंपृक्त भोजन किसी को शुभप्रद होता है क्या ! नहीं ॥३२॥

शंका— हे अर्जुन ! तुम्हें तो श्मशान वैराग्य के सदृश वैराग्य होने के कारण भले विजय

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः स्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ? ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ॥३५॥

राज्यं भोगाभोगसाधनीभूताः पदार्थाः कांक्षिताः सुखानि च कांक्षितानि त एव गुरवः पुत्रादयश्चेमे प्राणानसून् धनानि गोभूमिहिरण्यादीनि च त्यक्त्वा समरे कृतयुद्धनिश्चयाः स्वकीयप्राणादिकमपि त्यक्तुं कृतनिश्चयास्तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥३३॥

तानेव गुरुबन्धुस्वजनान्निर्दिशति—आचार्या इति । **आचार्याः कृपाचार्यप्रभृतयः स्पष्टमन्यत् ॥३४॥**

नन्वेवं तवौदासीन्यमवगम्य राज्यलोभेनैत एव त्वां सबन्धुं हनिष्यन्त्यतो वरमेतान् हत्वा राज्यकरणमित्यत आह—एतानिति । **हे मधुसूदन ! वैदिकाम्नाय-**

राज्य तन्मूलक सुख की प्राप्ति आवश्यकता प्रयोजन न हो किन्तु माता पिता गुरु पुत्रादि लक्षण जो परिवार है उनका पालन पोषण करना तो प्रत्येक गृहस्थ का शास्त्र सिद्ध अधिकार है । अतः यद्यपि हिंसा दोष दुष्ट संग्राम है तथापि इस स्वाश्रित परिवार को तो राज्य सुखादि का प्रयोजन है तो उसके लिए यह संग्राम तुम्हारे लिए आवश्यक कर्तव्य है, इसके उत्तर में कहते हैं कि "येषामर्थे" इत्यादि' । येन केन प्रकार से अवश्य परिपालनीय जो पिता पुत्रादिक उनके लिये हमें राज्य अपेक्षित है तथा भोग, भोग के साधनरूप पदार्थ अभिलषित हैं एवं सुख समुदाय अपेक्षित है वही गुरु पुत्र प्रभृति बान्धव समुदाय स्वकीय प्राण तथा सुखसाधन जो गो पशु भूमि पृथिवी सेना चाँदी प्रभृति को तथा तद्विषयक मोह को छोड कर के, इस लडाई के मैदान में जिन्हों ने युद्ध का निश्चय करलिया है वे सभी के सभी अपने अपने प्राण शरीर को भी छोड देने का निश्चय करके स्थित हैं ॥३३॥

अपने अपने प्राण शरीर का परित्याग करके मेरे बान्धव लोग इस संग्राम में उपस्थित हैं, आचार्य उनका प्रातिस्विक रूप से निर्देश करते हैं—द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य पिता सदृश पूजनीय और पुत्र अभिमन्यु लक्ष्मण प्रभृति और इसी प्रकार से भीष्मपितामह मामा शकुनि प्रभृति श्वशुर द्रुपद पौत्र लक्ष्मण के पुत्र श्यालक धृष्टद्युम्न तथा इससे भिन्न अनेक सम्बन्धीजन अपने प्राणकी बाजी लगाकर यहाँ उपस्थित हैं ॥३४॥

इस प्रकार आपकी उदासीनता को जानकर ये दुश्मन राज्य के लोभ से बन्धुबान्धव सहित आपको मार देंगे इससे तो अच्छा है कि इन दुश्मनों को मार करके राज्य की बागडोर अपने

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ?।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

रक्षक ? अतोऽप्यस्मान् त्रैलोक्यराज्यस्यापिहेतोरेतान् हन्तुं नेच्छामि महीमात्रस्य कृते किमुत । महीमात्रलब्धये न योत्स्यामीत्येव नापि तु सर्वाधिपत्योपलब्धिनिश्चयेऽपि नैव योत्स्यामीत्यर्थः ॥३५॥

यद्येवं तर्हि द्रोणभीष्मकृपादिगुरुबन्धून् परिहाय धृतराष्ट्रपुत्रानेव जहि ते तु तवापकारिण इत्याह—निहत्येति । हे जनार्दन ! धार्तराष्ट्रान् निहत्याप्यस्माकं का प्रीतिः किं सुखं स्यान्न किमपीत्यर्थः । अथ विषाग्निदाहाद्यपकारकर्तृकत्वेनैते सर्वथाऽऽतता-यित्वमापन्नाः । आततायिनां वधे च दोषाभावः शास्त्रेष्वभिहितः । 'आततायिनमा-यान्तं हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इति । तस्मा देते हन्तव्या एवेत्याह—पापमेवेति । आततायिनोऽप्येतान् बन्धुजनान् हत्वाऽस्मान् पापमवश्यमाश्रयेत् । बन्धुवधस्य पातककारित्वादिति भावः ॥३६॥

हाथ में ले लेना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते है—"एना- न्नित्यादि" हे मधुसूदन ! ꣵअर्थात वैदिक सम्प्रदाय के रक्षक शस्त्र के द्वारा मुझेमारने वाले जो स्वजन बांधव हैं उन्हें त्रैलोक्य राज्य की प्राप्ति की इच्छा से भी मैं मारने की इच्छा नहीं रखता मात्र इतनी सी छोटी पृथिवी मात्र की प्राप्ति के लिए मै इनके साथ संग्राम नहीं करूंगा तथा सर्वाधिपत्य "इन्द्रादिपद" की प्राप्ति के निश्चय होने पर भी इनके साथ नहीं लडूंगा । प्रकृत प्रकरण का यह अर्थ है ॥३५॥

यदि ऐसा है तब पूजनीय जो द्रोणाचार्य भीष्म पितामह प्रभृति को छोड़ कर तुम्हारा अपकार करनेवाले धृतराष्ट्र पुत्र है, उन सबों को मारो क्योंकि ये लोग तुम्हारे अनुपकार करने में सतत प्रयत्नशील हैं इस शंका के उत्तर में कहते हैं "निहत्येति ।" हे जनार्दन ? धर्ममर्यादा से बहिर्मुख दुष्ट जन को पीडा देनेवाले श्रीकृष्ण ? इन धृतराष्ट्र के पुत्र जो दुर्यो धन प्रभृति को मार करके हम क्या प्रीति अर्थात् किस सुख विशेष को हम प्राप्त करेंगे ?

ꣵ"मधुसूदन ?" इसका वैदिक आम्नायरक्षक ? यह पर्याय देकर भाष्यकार एक पौराणिक प्रसंग का स्मरण कराते हैं-किसी समय में एक मधु नामक राक्षस हुआ । वह ब्रह्माजी जो कमल-योनि कहलाते हैं, मारने के लिये उद्धत होकर उनके स्थान पर आया । इस बातको जानकर भग-वान् ने स्वजन ब्रह्माजी को बचाने के लिये मधु को मारा अर्जुन कहते हैं हे भगवन् ? आपने तो अपने स्वजन को बचाया है तब मुझे स्वजन की हिंसा में क्यों प्रयोजित करते हैं यह मधुरोपा-लम्भ का सूचक होता है

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ? ॥३७॥

हे माधव ? तस्मात् कारणात् स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् दुर्योधनादीन् हन्तुं वयं

अर्थात् कुछ भी सुख नहीं मिलेगा । अथ कहें कि विषदान अग्नि दहनादिक अपकार करने के कारण ये लोग सर्वथा आततायी हैं और आततायी को मारने में दोष नहीं होता है ऐसा मन्वादि स्मृति में कहा है—

"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।

नाततायिवधेदोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥" इति । (बिना विचारे ही आते हुए आततायी को मार देना, आततायी को मारने से हन्ता पुरुष को कोई भी दोष नहीं होता है ।)

आततायी कौन है ? इसके लिए कहा है कि आग से जलादेने वाला विष देनेवाला, हाथ में शस्त्र रखनेवाला, दूसरे का धन अपहरण करनेवाला, किसी की जमीन जबर्दस्ती ले लेने वाला, परस्त्री को लूटनेवाला इन छ की गिनती आततायी में होती है । इस लिये हे अर्जुन ? ये लोग अवश्य मारने के योग्य हैं अतः तुम इन्हें अवश्य मारो ।

इसके उत्तर में कहते हैं—"पापमेवेत्यादि" हे भगवन् ? यद्यपि ये धार्तराष्ट्र आततायी के लक्षण से लक्षित हैं तथापि इन स्वजनों को मारने से हमें अवश्य पाप होगा क्योंकि बन्धु का वध पातक कारण है । हे जनार्दन ? आपने जो अनेक दुष्टजनों का स्वजनरक्षा के लिए विनाश किया इससे आपको कुछ भी दोष नहीं हुआ वह आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं और कर्म पराधीन नहीं है मैं तो कर्म बन्धन से बद्ध हूं । "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनम् क इत्था वेद यत्र सः" "शेतेऽनन्ताशने सर्वमात्मसात्कृत्य चाखिलम्" ब्राह्मण क्षत्रिय अर्थात् समस्त पदार्थ जिसका ओदन स्थानापन्न है मृत्यु जिसका उपसेचन शाक सूप स्थानीय हैं ऐसा जो महापुरुष है उसे कौन जान सकता है । सभी पदार्थ को आत्मसात् करके अनंतासन पर सो जाते हैं इत्यादि श्रुति स्मृति से सिद्ध होता है कि भगवान् प्रलयकाल में सब का विनाश कहते हैं तथापि भगवान् को कोई पाप नहीं होता है "समरथ को नहि दोष गुसाईं" इत्यादि । इसलिये हिंसा जन्य दोष तो जीव को अनिवार्य है यह सिद्ध होता है ॥३६॥

हे माधव ? मा शब्द का अर्थ होता है लक्ष्मी और धव शब्द का अर्थ है पति स्वामी इसलिये माधव अर्थात् लक्ष्मीपति है माधव अर्थात् हे भगवन् ? जैसे आप लक्ष्मीपति हैं उसी प्रकार हमें भी लक्ष्मीवान् बनाइये । दरिद्रता के प्रयोजकीभूत कुत्सित कार्य में प्रवृत्ति मत कराइये ।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

पाण्डवा नार्हा न योग्याः । हि यतः स्वजनं स्वकीयमात्मीयं जनं निहत्य सुखिनः कथं स्याम । दुष्कर्मणो दुःखमेव फलम्भवति न सुखमिति भावः ॥३७॥

कथं तर्हि ते युष्मद्वधे प्रवृत्ता इत्याह—यद्यपीति । यद्यपि लोभोपहतचेतसो राज्यलोभेनोपहतं चेतो येषां ते राज्यलोभाकृष्टदुष्टवासनया विनष्टधर्मसंस्कारचेतस्काश्चैते दुर्योधनादयः कुलक्षयकृतं दोषं मित्राणां द्रोहे च पातकं न पश्यन्ति नैव जानन्ति ॥३८॥

कुत्सित हिंसाकर्म से पाप का उदय अवश्यं भावी है इसलिये अपने बान्धव जो धार्तराष्ट्र दुर्योधन प्रभृतिक हैं उन्हें हम पाण्डव लोग मारने में योग्य नहीं हैं अर्थात् ये लोग हमसे मारने के लायक नहीं हैं क्योंकि स्वजन अर्थात् स्वकीय आत्मीय जन को मारके हमलोग सुखी किस प्रकार बन सकते हैं अर्थात् सुख कभी भी नहीं मिल सकता है क्योंकि दुष्ट कर्म का फल दुःख ही होता है सुख नहीं होता है । सुख रूप कार्य के प्रति धर्म कारण है और दुःखात्मक कार्य के प्रति पाप कर्म को कार्य कारण भाव व्यवस्थित है । इसलिए जहाँ धर्म होगा वहीं सुख होगा तथा जहाँ पाप होगा वहाँ तो दुःख ही होगा । पाप से सुख नहीं होगा और धर्म से दुःख नहीं होगा तब यदि मैं बान्धव हिंसा करूंगा तब तो हमें दुःख ही होगा सुख नहीं किसी ने कहा भी है "रोपे पेड बबूल के आम कहाँ से खाय ।" अतः बान्धवकी हत्याकर के दुःखजनक पाप को हम नहीं बटोरेंगे ॥३७॥

भाई ? यदि बान्धव के वध करने से पाप होता है इस बात को समझ करके तुम तो इससे निवृत्त होते हो तो ये लोग तुमलोगों को मारने के लिये सर्वथा समुद्यतक्यों हो रहे हैं ? जैसे ये कौरव तुम्हारे स्वजन हैं वैसे तुम भी तो स्वजन हो तो इनके स्वजन का हिंसन तो दोनों के लिये समान है । स्वजन वध में तुम्हें पाप लगेगा तो क्या इन्हे पाप नहीं लगेगा ? इस अभिप्राय से भाष्य कार शंका करते हैं—ये धार्तराष्ट्र किस तरह तुम पाण्डवों के लिये प्रवृत्त हो रहे हैं क्या इनलोगों को पाप नहीं लगेगा । इसके उत्तर में कहते हैं कि—"यद्यप्येते" इत्यादि यद्यपि लोभोपहत चित्त हैं । लोभ से अर्थात् राज्यलोभ से उपहत विनष्ट है चित्त जिनका ऐसे लोभोपहतचित्त ये लोग युक्त अयुक्त परिज्ञान से रहित अन्तः करण वाले अर्थात् राज्य लोभाकृष्ट दुष्ट वासना से विनष्ट है धर्म संस्कार जिसमें एतादृश अन्तः करणयुक्त ये दुर्योधन प्रभृति धार्तराष्ट्र लोग कुल के क्षय से होनेवाले दोष को तथा मित्र के द्रोह करने में पातक अर्थात् पाप को नहीं देखते हैं विचार रहित होने से युक्तत्व अयुक्तत्व परिज्ञान शून्य होने

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ? ॥३९॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

तथापि कुलघ्नतादिरूपदोषं प्रपश्यद्भिरस्माभिरस्मात् पापान्निवर्तितुं कथन्न ज्ञेयम् । सत्कुलसम्भूतैर्धर्मं विचारयद्भिरस्माभिरवश्यमेतादृशपापान्निवर्तनीयमित्यर्थः । हे जनार्दन ? इति च सम्बोधनं जगन्मर्यादास्थापकत्वेनात्र संगच्छते ॥३९॥

पूर्वोक्तान् कुलक्षयकृतान्दोषानभिधातुमाह-कुलक्षय इत्यादि पञ्चभिः । कुलाचार-प्रवर्तकपुरुषक्षये सति सनातना अविच्छिन्नपरम्परया समागताः कुलधर्माः कुलेऽनु-

से इन्हें कुछ नहीं जान पडता है । ये स्वार्थान्ध हैं इसलिये इन्हें कुछ नहीं दीखता है—

"दिवा पश्यति नोलूकः काको रात्रौ न पश्यति ।
अपूर्वः कोपि स्वार्थान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥"

उलूक पक्षी दिन में नहीं देखता है और कौआ रात में नहीं देखता है किन्तु स्वार्थान्ध बडे विलक्षण हैं जो कि दिन रात दोनों में नहीं देखते हैं । यही स्थिति दुर्योधन प्रभृति की है । आखिर जात्यन्ध के पुत्र तो स्वार्थान्ध हैं इसमें आश्चर्य की क्या बात है । इसलिये ये लोग हमारे वध में दोष को नहीं जानते हैं ॥३८॥

जो कि ये धार्तराष्ट्र स्वार्थान्ध होने से कर्तव्याकर्तव्य को नहीं जानते है तथापि हे जनार्दन ! कुलनाशकत्व दोष को जानते हुये हम लोग युद्धरूप महापापजनक कर्म से निवृत्त होना इस बात को किस तरह न जानें । सत्कुल में प्रसूत जो हमलोग हैं, धर्म का हमेशा विचार करनेवाले हैं तो पापजनक हिंसोत्पादक युद्ध कर्म से अवश्यनिवृत्त होंगे । हे जनार्दन ! यह विशेषण (सम्बोधन) जगत् मर्यादा के संस्थापक होने से यहाँ संगत होता है । अर्थात् प्रलय काल में समस्त प्राणी को संहृत करके भी आप पद्म पत्र जैसे जल से संस्पृष्ट नहीं होता है उसी प्रकार आप अशुभकर्म से लिप्त नहीं होते हैं क्योंकि अविद्या कर्म वासनादि से आप रहित हैं "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः विशेष ईश्वरः" अविद्यादिरूप दोष से रहित पुरुष विशेष का नाम ही तो ईश्वर है, अतः आप ईश्वर हैं जीव तो कर्मपराधीन है इसलिये शुभाशुभ कर्म करने से शुभाशुभ फल सम्बन्धी इन्हें अवश्य बनना पडेगा । अतः पापकर्म से मैं विनिवृत्त होता हूं, इत्यादि अभिप्राय जनार्दन संबोधन से अभिव्यक्त होता है ॥३९॥

कुल के नाश होने से जो पूर्वोक्त दोष है उसे कहने के लिए वक्ष्यमाण पांच श्लोक को

अधर्माभिभवात् कृष्ण ? प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ? जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

ष्ठीयमाना धर्माः प्रणश्यन्ति विनाशमुपयान्त्यनुष्ठातुरभवात्। धर्मे नष्टे सति कुल-मवशिष्टं कुलधर्मोऽभिभवति व्याप्नोति तथा चाधर्मप्रधानमेवावशिष्टं कृत्स्नं कुलं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥४०॥

हे कृष्ण ! अधर्माभिभवादनाचाराधिष्ठितत्वात् कुले तत्कुलस्थिताः स्त्रियः प्रकर्षेण दुष्यन्ति कुमार्गसंचारवारकपुरुषाभावात् । हे वार्ष्णेय ! वृष्णिवंशप्रभव !

अवतारित करते हैं अर्थात् कुलघ्नता में अनेक प्रकार का दोष उत्पन्न होता है, उनदोषों का प्रथमतः उत्पत्ति प्रकार बतलाते हैं। कुल के क्षय होने से अर्थात् कुल सम्बन्धी जो आचार व्यवहार है उसका प्रवर्तक जो विशेष उसके विनाश हो जाने पर सनातन अर्थात् नदी स्रोत वत् अविच्छिन्न परम्परा से आता हुआ जो कुल धर्म है, कुल जाति व्यवहार को आगे लेकर चलनेवाला जो धर्म है, कुल में अनुष्ठीयमान वह सब विनष्ट हो जाता है क्योंकि धर्म अनुष्ठाता पुरुष के अधीन है और उसका अनुष्ठान करने वाला नहीं रहा जैसे स्तंभ (खंभा) के ऊपर में मकान खड़ा रहता है तो स्तंभ के अभाव में स्तंभाधिष्ठित जो मकान वह गिरकर नष्ट हो जाता है उसी तरह से अनुष्ठाता पुरुष से अधिष्ठित जो कुलधर्म है वह भी अनुष्ठाता पुरुष के विनष्ट होने से विनष्ट हो जाता है । और जब अनुष्ठाता के अभाव से धर्म नष्ट हो जाता है तब अवशिष्ट जो कुल है उसे अधर्म अभिभूत व्याप्त कर देता है जैसे सूर्यादि प्रकाश के अभाव होने से रात में अंधकार जगत् को व्याप्त कर लेता है उसी तरह धर्म के अभाव होने से अधर्म कुल को अभिभूत कर लेता है, तब अधर्म प्रधानक अवशिष्ट संपूर्ण कुल हो जाता है, अतः जिस किसी प्रकार से धर्म का संरक्षण करना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है ॥४०॥

हे श्रीकृष्ण ! भक्त जन का जो पाप उसे नाश करने वाले (ब्रह्म वैवर्त पुराण में आया है कि परशुरामने जब २१ बार क्षत्रियों को बालवृद्ध माँ की गोद में रहनेवालों का भी विनाश किया तब महादेव के दर्शन करने के लिए गये वहाँ श्रीगणेश के साथ विवाद हो गया, तब गणेश ने परशुराम को सकल संसार में घुमा करके गोलोक पर्यन्त ले जा करके श्रीकृष्ण का दर्शन करवाया, उस दर्शन से परशुराम का बहुत पाप नष्ट हो गया । "स्वल्पञ्च बुभुजेरामोगतान्यकृष्णदर्शनात्" स्वल्पयातना का ही परशुरामजी ने भोग किया और सब पाप भगवान् के दर्शन से ही नष्ट हो गया) इससे यह सिद्ध होता है कि भक्त के पाप को भगवान् दूर करने वाले हैं अधर्म से अभिभव होने से अर्थात् अनाचार के बढ़ने से कुल की स्त्रियां

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

अनेन कुलमर्यादारक्षकत्वं भगवति ध्वनितम् । स्त्रीषु दुष्टासु सतीषु वर्णसंकरोऽनुलोमप्रतिलोमप्रजोत्पादनेन वर्णानां साङ्कर्यं जायते ॥४१॥

पूर्वोक्तः संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नरकायैव जायते । न केवलं कुलघातकानामेव नरकोऽपित्वेषां कुलघ्नानां पितरोऽपि लुप्ता पिण्डोदकादिक्रिया येषां ते स्ववंशधरविशुद्धप्रजाऽभावात् पिण्डोदकादिकर्मणामभावान्नरके पतन्ति ॥४२॥

भी दूषित हो जायेंगी क्योंकि अनाचार से बचाने वाले पुरुषों का अभाव होगा । यद्यपि सत्कुल में समुत्पन्न स्त्रियों में अनाचार व्यभिचारादिक दोष असंभवित है तथापि स्वतंत्रता तथा स्त्री स्वभाव के कारण निवारक पुरुष के अभाव में उपरोक्त दोष संभवित हो सकता है । नीति में कहा है "पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने । पुत्रश्च स्थाविरेभावे न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति ।।" कुमारावस्था में पिता के नियंत्रण में रहे, युवावस्था में पति के संरक्षण में वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में, स्त्री कभी भी स्वतन्त्र न हो । एवम् "कामंकुलकलंकाय कुलजातापि कामिनी । श्रृङ्खलास्वर्णजातापि बन्धनाय न संशयः ।।" सत्कुल प्रसूत भी कामिनी कुल के कलंक के लिये हो जाती है, कडी चाहे सोना की हो अथवा लोहे की हो बन्धन के लिये समान ही हैं । इसलिये भाष्यकार ने जो कहा है "कुमार्गसंचारवारकपुरुषाभावात्" वह स्वर्ण वाक्य युक्ति तथा अनुभव सिद्ध है । हे वार्ष्णेय ? वृष्णिवंशप्रभव, इस सम्बोधन से भगवान् में कुलमर्यादारक्षकत्वव्यञ्जनावृत्ति से प्राप्त होता है । जैसे आप वृष्णि के धारक हैं उसी प्रकार हमलोग भी कुल के धारक पोषक रक्षक बनें, नकि कुलांगार बनें । और स्त्री के कुमार्ग गामिनी स्वैरिणी होने पर वर्ण संकर अर्थात् अनुलोम प्रतिलोम प्रजा के उत्पादन द्वारा वर्णों का सांकर्य हो जाता है । कुलमर्यादा का परित्याग कर के सत्कुल सञ्जात कुल स्त्रियाँ भी कुलटा के समान वर्णसांकर्य कर देती है इसलिये कुलमर्यादा को सुरक्षित करने के लिये संग्राम उचित नहीं है ॥४१॥

जायमान प्रजा में वर्णसांकर्य होजायेगा तो इससे क्या क्षति होगी ? पूर्व कथित जो संकर है वह कुल के विनाशक व्यक्तियों के और कुल इन दोनों के नरक के लियें होता हैं । अर्थात् इन दोनों को नरक की प्राप्ति होती हैं, यही क्षति होगी प्रजा के सांकर्य होने से केवल कुल घातक को ही नरक मिलता है इतना ही नहीं किन्तु कुलनाशक के जो पितर हैं

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ?।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

उक्तमर्थं फलाभिधानेन स्पष्टयति दोषैरिति। कुलघ्नानामेतैर्वर्णसंकरकारकैर्दोषैर्जातिधर्माः क्षत्रियादिवर्णधर्माः कुलप्रयुक्ताश्च धर्मा अविच्छिन्नपरम्परया सम्प्राप्ताः सर्वे उत्साद्यन्ते विनाश्यन्ते ॥४३॥

हे जनार्दन ! उत्सन्नकुलधर्माणां विनष्टकुलधर्माणां विनाशितः कुलधर्मोयैस्तेषाञ्च मनुष्याणां नरके नियतो नियमेन वासो भवतीति प्राचीनमहर्षिमुखाद्वय-

पिता, पितामह, मातामह प्रमातामह प्रभृति भी नरक में जाते हैं। लुप्त है पिण्ड तथा उदक क्रिया जिनके ऐसे जो पितर वे नरक में जाते हैं क्योकि अपने वंश में योग्य तथा विशुद्ध प्रजा के अभाव होने से। पिण्डदान तथा तर्पणादि क्रिया के अभाव होने से वे पितर नरक में गिरते हैं। अर्थात् पितर के स्वर्ग में अवस्थान का कारण है पिण्डदानादि कर्म और पिण्डदानादि क्रिया का कारण है विशुद्ध वंशधर तो विशुद्ध वंशधर की विशुद्धता का विरोधी है संकर तो सांकर्य से विशुद्ध वंशधर का अभाव हुआ तथाविध अभाव से पिण्डादि क्रिया का अभाव तत्प्रयुक्त पितर का नरकपात अवश्यंभावी है यही क्षति वर्णसंकर से होगी ॥४२॥

पूर्व प्रकरण कथित विषय को पूर्वाचार्य की संमति पूर्वक फल प्रतिपादन द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं "दोषैरित्यादि" वर्णसंकरकारक इन दोषों से कुलघ्नों का अर्थात् जिसने अपने कुल को नष्ट कर दिया है ऐसे व्यक्ति विशेष का जो जाति धर्म है अर्थात् क्षत्रियादि वर्ण धर्म है तथा कुल प्रयुक्त जो धर्म है वह सभी धर्म जो कि अविच्छिन्न परम्परा अर्थात् अनादि काल से आ रहा है वे सभी धर्म उत्सादित अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

हे जनार्दन ? जिस व्यक्ति का कुलधर्म विनष्ट हो गया है जिसने अपने कुलधर्म को नष्ट कर दिया है ऐसे व्यक्ति विशेष का नियमतः नरक में कुंभी पाक कालसूत्र असिपत्रवन प्रभृतिक अन्यतम नरक में निवास होता है ऐसा मैं ने प्राचीन महर्षी लोगों से सुना है। प्राचीन शास्त्रहृदय को जाननेवाले महर्षियों के द्वारा सुने हुए कथन से स्वकथित अर्थ में दृढता का प्रतिपादन किया। अर्थात् मैं ने जो कहा है वह स्वकपोलकल्पित नहीं है किन्तु शास्त्र

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरम्भवेत् ॥४६॥

मनुशुश्रुम । अनेन श्लोकार्थे दाढर्यं दर्शितम् ॥४४॥

स्वजनहननोद्यमोऽपि पापीयानिति पश्चात्तापं करोति अहो इति । वयं महत्पापं कर्तुं व्यवसिता निश्चयवन्तोयद् राज्यसुखलोभेन राज्यसुखलोलुपतया स्वजनं हन्तु-मुद्यता अहो बत सखेदमिदमाश्चर्यम् ॥४५॥

शस्त्रम्परित्यज्य स्थितं स्वरक्षणव्यापाहीनञ्च ज्ञात्वा तव शत्रवो त्वां हनिष्य-न्तीत्याह—यदीति । शस्त्रपाणयो धृतराष्ट्रसम्बन्धिनोऽप्रतीकारं स्वरक्षणोपायमकुर्वन्त-मशस्त्रं निरायुधं मां यदि रणे हन्युस्तद्धननं मम क्षेमतरं परमनिःश्रेयसकरं भवेत् । प्राणापगमेन स्वजनहननोद्योगजनितकल्मषान्निर्मुक्तः स्यामिति भावः ॥४६॥

तथा शास्त्र हृदय को जाननेवाले व्यक्तियों से संपादित विषय को कहा है, ऐसा अभिव्यक्त होता है। जनार्दन इस सम्बोधन से कुलमर्यादा स्थापकत्व का प्रतिपादन होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कुलमर्यादा के पालन करने में सहायक बनना चाहिये न कि कुलमर्यादा के विनाशक इस महायुद्ध के करने में मेरी प्रवृत्ति में सहायक बनें ॥४४॥

स्वकीय परिवार का जो विनाश उस विनाश के लिये जो यह युद्ध लक्षण कारण तदर्थ उद्यम करना भी महापाप का प्रयोजक है इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं—"अहोवत" इति । हमलोग महापाप को करने में निश्चित व्यापारक बने हैं जो कि क्षणिक इस राज्य के सुख लोभ से स्वकीय बन्धु बान्धवादि को इस महासंग्राम में मारने के लिये समुद्यत हुए हैं। अहोवत इस शब्द से खेद सहित आश्चर्य का सूचन होता है। क्षत्रिय होने के नाते सर्वप्रजा का रक्षण करना यह जो हमारा व्यापार है उसे छोड कर कुत्सित पुरुषों से आचरित जो हिंसा मार्ग है उस में प्रवृत्त हुए हैं, यह महान् आश्चर्य है । अतः इस युद्ध में हमारी प्रवृत्ति समुचित नहीं हैं ॥४५॥

शस्त्र को छोड करके तुम व्यवस्थित हो तथा स्वकीय रक्षण व्यापार से भी रहित हो इस बात को जान करके तुम्हारे शत्रु ये धार्तराष्ट्र तथा तत्पक्ष में अवस्थित राजालोग तुम्हें मार डालेंगे, इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—"यदि मामित्यादि" जिनके हाथ में शस्त्र हैं ऐसे जो ये धार्तराष्ट्र तथा उनके पक्ष पाती लोग अप्रतीकार अर्थात् स्वरक्षणोपाय

卐 सञ्जय उवाच 卐

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

एवमर्जुनविषादानन्तरं किञ्जातमिति धृतराष्ट्रजिज्ञासायां सञ्जय उवाच एवमिति। शोकसंविग्नमानसोऽर्जुनः संख्ये संग्राम एवम्पूर्वोक्तप्रकारेणोक्त्वा सशरं चापं सपृषत्कं गाण्डीवं धनुर्विसृज्य रथोपस्थे रथोदर उपवेशनस्थाने उपाविशत्स्थितः ।।४७।।

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताया. श्रीमदानन्दभाष्येऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय ।

को नहीं करनेवाला तथा शस्त्र रहित मुझे इस महायुद्ध में मार दें तो उनका मारना ही क्षेमतर है अर्थात् परम निः श्रेयस कर होगा । अपने प्राण की आहुति दे करके भी बन्धु विनाश करने का जो उद्योग उससे जायमान जो महापाप उस महापाप से छुटकारा पा जाऊंगा । अर्थात् बन्धु के मारने से जो पाप होगा तथा उस महापाप से होने वाला जो नरक में पतन रूप दुःख होगा तदपेक्षया इन लोगों के हाथ से मर जाने में ही अधिक कल्याण है अर्थात् बान्धव के विनाश से होने वाली चिन्ता से विमुक्त हो जाऊंगा ।।४६।।

इस पूर्वोक्त अर्जुन के विषाद के बाद क्या हुआ है इस प्रकार की जो धृतराष्ट्र की जिज्ञासा उसके उत्तर रूप में सजय धृतराष्ट्र के प्रति बोले । शोक तथा मोह से दुःखी है मन जिनका ऐसे जो अर्जुन वह संग्राम में इस प्रकार से अर्थात् "न योत्स्ये" इस प्रकार से बोल करके शर सहित गाण्डीव धनुष को छोड करके रथ में ही बैठने की जगह में बैठ गये । उभय पक्ष की जो सेना है उसे देखने के लिए रथ में खडे होकर सेना को देखा था । अब उसी रथ में बैठने की जो जगह है उसमें बैठ गये । नकि रथ से उतर करके नीचे बैठे ।।४७।।

भक्ति प्रधानगीताया अर्जुनम्लानसंज्ञकः । भाष्यतत्त्वप्रदीपाख्यः प्रवाहः प्रथमो गतः ।।१।।
कर्मसुहृत्कृत ज्ञान से जब भक्ति होती निश्चला । भक्ति से तब मुक्ति मिलती दुर्लभा लोकोत्तरा।।
उस भक्ति के प्रस्ताव में गीता सुनाया पार्थ को । श्रीरामरूपी कृष्णने रण में प्रथम अध्यायको।।

इत्यानन्द भाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य प्रधानपीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र पट्टशिष्य पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीते श्रीआनन्दभाष्यतत्त्वदीपे प्रथमोऽध्यायः ।

卐 श्रीराम शरणं मम 卐

नमो महामुनीन्द्राय भगवते श्रीरामानन्दाचार्याय

卐 अथ द्वितीयोऽध्यायः 卐

卐 सञ्जय उवाच 卐

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ?॥२॥

श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये

शोकोद्विग्नमर्जुनं श्रीकृष्णः किमभिदधाविव्यपेक्षायां सञ्जय उवाच—तमिति । तथा स्वजनस्नेहजनितया कृपया दययाऽऽविष्टं व्याप्तमश्रुभिः पूर्णे अत एवाकुले अस्वास्थ्यमाप्नुवाने इक्षणे नेत्रे यस्य तं विषीदन्तं विषादङ्कुर्वन्तं तमर्जुनमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यं मधुसूदनो मधुदैत्यनिहन्ता श्रीकृष्ण उवाच ॥१॥

भगवद्वाक्यमवतारयति—श्रीभगवानुवाच—कुत इति द्वाभ्याम् । श्रीभगवान् समस्तभूतानामुत्पत्तिविनाशागतिगतिविद्याविद्यादिकान् सम्यग्जानानः समस्तज्ञानशक्ति वीर्यतेजोबलैश्वर्यशाली श्रीवासुदेव एवमुवाच—हे अर्जुन ! विषमे शत्रुभिराकीर्णे युद्ध-

बन्धु के स्नेह से आर्द्र अन्तःकरणवाले, दया से स्वकीय क्षात्र धर्म युद्ध संग्राम को अधर्म समझनेवाले एवं शोक मोह से उद्विग्नमनवाले अर्जुन से भगवान् श्रीकृष्ण ने क्या कहा इस अपेक्षा में संजय ने धृतराष्ट्र से कहा "तं तथेति" स्वजन के ऊपर जो स्नेह उससे जायमान जो दया उससे आविष्ट अर्थात् व्याप्त एवं अश्रु से परिपूर्ण अत एव आकुल अर्थात् अस्वस्थता को प्राप्त किया हुआ है नेत्र जिनके ऐसे तथा विषाद करने वाले अर्जुन को यह वक्ष्यमाण वाक्य मधु नामक राक्षस के हन्ता मधुसूदन भगवान् श्री कृष्ण ने कहा । दुराचार में संलग्न जो दुष्ट मधु नामक राक्षस उसे मारनेवाले श्रीकृष्ण दुष्ट को अवश्य मारेंगे इस अभिप्राय को बतलाने के लिये मधुसूदन इस शब्द का प्रयोग किया गया है ॥१॥

भगवद्वचन को कहते हैं श्री भगवानुवाच "कुत" इत्यादि दो श्लोकों से । प्राणीमात्र के उत्पत्ति स्थिति विनाश (प्रलय) आगति गति (आवागमन) विद्या अविद्या प्रभृति को समीचीन रूप से जानने वाले समस्त ज्ञान शक्ति वीर्य तेज बल ऐश्वर्य से युक्त श्रीवासुदेव ने इस प्रकार

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ ? नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ? ॥३॥

कालेऽनार्यजुष्टमविद्वत्सेवितमस्वर्ग्यंस्वर्गसुखाप्रदमकीर्तिकरमयशोविस्तारकमिदं कश्मलं शोकव्यामोहजन्यमनोऽवसादरूपं मालिन्यं त्वां कुतो हेतोः समुपस्थितं सम्प्राप्तम् । विशिष्टशूरस्य तेऽनर्हमिदमित्यर्थः ॥२॥

हे पार्थ ! प्रसन्नामरपरिवृढायाः पृथाया अपत्यत्वात्त्वमेवं स्थातुमर्हं इति पार्थेति सम्बोधनेन द्योत्यते । क्लैब्यं कातर्यं मागास्त्वयि विश्वविख्यातशूरेऽर्जुने नैतदधैर्यमुपपद्यते । 'न च शक्नोम्यवस्थातुमि'त्यादिकं यत्त्वयोक्तं तत् क्षुद्रमतिक्षोदीयो हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा कृतानेकपराक्रमान् संस्मृत्य मनोबलमासाद्योत्तिष्ठ हे परन्तप ! एतदामन्त्रणेनापि शत्रुनवश्यं जेष्यतीति बोध्यते ॥३॥

अर्जुन से कहा "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥" समग्र जो ऐश्वर्य तथा समग्र जो वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य इन छ का नाम है भग एतादृश भग नियत रूप से रहे जिनमें वह भगवत् शब्द का वाच्य है तो एतादृश भगवत् शब्द का वाच्य है तो तादृश भगवत् शब्द का प्रयोग संपूर्ण जगत् के उत्पत्ति स्थिति विनाश का जो नियामक हो वह भगवान् मुख्य हैं इसलिये ज्ञेय श्रीराम में प्रधान रूप से होता है । इससे अतिरिक्त में यदि भगवत् शब्द का प्रयोग है तो वह गौण प्रयोग है 'अग्निर्माणावक' इसके सदृश प्रकृत विषय का स्पष्ट प्रतिपादन जगद्गुरु श्रीमद्भगवदाचार्यजी ने अपने प्रबन्ध "श्रीराम भगवत्त्वम्" में निम्नरूपसे किया है—

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य वीर्यतेजांसि षड्गुणाः । भगत्वेनेरिताः सन्ति श्रीरामे भगवान् स तत् ॥२॥ श्रीरामे भगवच्छब्दो मुख्यवृत्त्या प्रवर्तते । गौण एव स चान्यत्र षड्विधैश्वर्यलेशतः ॥३॥" इति । विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि—

"शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते । मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥१॥
तत्र पूज्य पदार्थोक्ति परिभाषा समन्वितः । शब्दोयं नोपचारेण ह्यन्यत्रत्वौपचारिक इति ।

(हे मैत्रेय ! सर्व कारण का जो कारण और शुद्ध अर्थात् प्राकृतिक गुण गणसे रहित महाविभूतियोगयुक्त अर्थात् उत्पत्ति स्थिति प्रलयादि गत्यागति विद्या अविद्यादि का आधार हैं ऐसे पर ब्रह्म शब्द से शब्दित कथित श्रीरामकृष्णादिक में ही मुख्यरूप में भगवत् शब्द का मुख्य प्रयोग होता है इससे अतिरिक्त स्थल में जो भगवत् शब्द का प्रयोग होता है वह औपचारिक गौण प्रयोग होता है । जैसे लोक में गंगा शब्द का मुख्य व्यवहार होता है

प्रवाह में और तीर मे गौण व्यवहार होता है अर्थात् गंगापद वाच्य है प्रवाह अर्थात् लक्ष्यार्थ है तीर यथा वा वेद में "आदित्यो यूपः" यहाँ आदित्य शब्द का मुख्य अर्थ है सूर्य और गौण अर्थ होता है यूप । इसी प्रकार प्रकृत में भी भगवत् शब्द का मुख्य प्रयोग तो अखिल हेय गुण प्रत्यनीक अनंतकल्याण गुणगण का आधार श्रीराम कृष्णादिक में ही हैं तदितर में जो जो है वह प्रयोग औपचारिक समझना चाहिये । एतादृश भगवान् ने अर्जुन से क्या कहा जवाब में भाष्यकार कहते हैं "विषमे शत्रुभिराकीर्णे" इत्यादि । विषम अर्थात् शत्रु समुदाय से आकीर्ण व्याप्त इस युद्ध के समय में वस्तुतः शूरवीर क्षत्रिय के लिये अतिशयेन आनन्द प्रद युद्ध की तैयारी के समय में अनार्य जुष्ट अर्थात् अधर्माचरण से विरत होकर दूर चली गई है बुद्धि जिनकी उनका नाम है आर्य उनसे जो अन्य व्यक्ति हैं उसका नाम है अनार्य उस अनार्य से अविद्वान् से सम्यक् सेवित तथा अस्वर्ग्य अर्थात् स्वर्ग शब्द का अर्थ होता है—

"यन्न दु:खेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम् ।।"

जो सुख दुःख से मिलित न हो तथा जिसका विनाश न होता हो तथा अभिलाषा से प्राप्त हो उस सुखविशेष का नाम है स्वर्ग, एतादृश सुखविशिष्ट देश विशेष का नाम है स्वर्ग, एतादृश स्वर्ग का साधक नहीं एवं अकीर्ति कर अर्थात् लोक में अपयश का विस्तार करने वाला ऐसा जो यह कश्मल अर्थात् शोक मोह से जायमान मन के अवसाद रूप मलिनता । शोक मोहादि जनित मूर्छा के तुल्य उदासीनता यह तुम्हें किस कारण से असमय में उपस्थित अर्थात् संप्राप्त हो गया है । यह उदासीनता विशिष्ट लोक में सभी शूर वीरों के अग्रसर तुम्हे प्राप्त होना उचित नहीं है ।।२।।

पूर्वोक्त श्लोक से शोक मोहादि से जायमान अधैर्य का संपादक है ऐसा प्रतिपादन कर उसे छोडने के लिये भगवान् श्री कृष्ण पार्थको प्रोत्साहित करने के लिए कहते हैं "क्लैब्यमित्यादि" हे पार्थ ! हे अर्जुन ! प्रकृत में पार्थ इस संबोधन से यह अभिव्यक्त करते हैं कि हे अर्जुन ! देवराज इन्द्र की प्रसन्नता से वर प्राप्त करनेवाली पृथा के पुत्र तुम हो इसलिये इस प्रकार तुम उदासीनता के योग्य नहीं हो । यह अभिप्राय है कि किसी समय में कारण वश देवराज इन्द्र ने कुन्ती की सेवा से अत्यन्त प्रसन्न हो करके वरदान दिया था जिससे सात्विक गुण विशिष्ट अर्जुनादि पुत्र को प्राप्त किया । भगवान् इसी पुराण प्रकरण का स्मरण दिलाते हैं कि तुम बडी विशिष्ट क्षत्रियाणी के पुत्र हो साधारण स्त्री के पुत्र नहीं । यदि साधारण स्त्री के पुत्र होते तो कदाचित् एतादृश अनुत्साह हो भी सकता था परन्तु तुम तो बडी विशिष्ट क्षत्रियाणी के पुत्र हो । तुम में ऐसी कायरता की संभावना भी नहीं हो सकती ।

॥ अर्जुन उवाच ॥

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन ?।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ? ॥४॥

संख्ये संग्रहारेऽहं भीष्मं द्रोणञ्चेषुभिर्बाणैः कथं केन प्रकारेण प्रतियोत्स्यामि । यतस्तौ पूजार्हौ । याविमौ धर्मधिया पुष्पादिभिस्समर्चनीयौ तावेवेदानीमिषुप्रपातेन कथं ताडनीयौ । एवमन्येष्वऽपि कृपशल्यप्रभृतिषु कथं शस्त्राघातः कर्तव्य इत्यूह्यम् ॥४॥

भगवान् ने क्या कहा उसी का भाष्यार्थ करते हुए स्पष्टीकरण करते हैं—"क्लैब्यं मास्मगम" इस पद से। इस क्लीबता अर्थात् कायरता को तुम मत प्राप्त करो। विश्व में विख्यात शूरवीर इस अर्जुन मे एतादृश अधैर्य युक्त नहीं है। "न च शक्नोम्यवस्थातुम्" इत्यादि प्रकरण से जो तुम ने कहा वह उस अत्यन्त क्षुद्र हृदय दुर्बलता को छोड़कर किया हुआ जो अनेक प्रकार का पराक्रम कार्य (जैसे विराट के साथ युद्ध महादेव को युद्ध करके प्रसन्न करना मत्स्य वेधनादिक कार्य विशेष) उन सब पराक्रम का स्मरण करके और मानसिक बल विशेष को प्राप्त करके तथा युद्ध करूंगा यह निश्चित करके उठ करके खड़े हो जाओ। और हे परंतप ? इस सम्बोधन से भी शत्रुओं को तुम अवश्य जीतोगे यह अभिव्यक्त होता है। अर्थात् "परान् अहितान् शत्रून् तापयति पीडयतीति परंतपः" शत्रुओं को जीतने वाला जो हो उसे परंतप कहते हैं। तो तुम परंतप हो इसलिये ऐसे निरुत्साहित हो करके शत्रुओं को सोत्साहित करना ठीक नहीं है। कहा भी है—

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम्। मास्म सीमन्तिनी काचित् जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥"

उत्साह रहित, आनन्द रहित, पराक्रम बलादि रहित, शत्रु को आनन्द देनेवाले पुत्र को कोई भी स्त्री उत्पन्न न करे। अतः तुम अपने में बल पराक्रम उत्साह सम्पन्न बनकर लड़ाई के लिये संनद्ध हो जाओ। कायर पुरुष श्लाघ्य अधैर्य का सेवन मत करो ॥३॥

क्षत्रिय के साथ क्षत्रिय का युद्ध करना कदाचित् धर्म भी कहा जा सकता है परन्तु पूज्यजन तथा ब्राह्मण गुण के साथ युद्ध करना कथमपि धर्म नहीं कहा जा सकता है प्रत्युत उनके साथ लड़ना महापाप है क्योंकि श्रुति स्मृति में कहा है—"यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातयेत्" जो व्यक्ति विशेष ब्राह्मण को आँख दिखावे उसे एक सौ रुपया दण्ड करना। जब अवगुरण करने में यह दण्ड है तब उनके साथ युद्ध करके उन्हें मारने में कितना दोष होगा। अतः मैं गुरुजनों के साथ युद्ध करने से उपरत हो रहा हूं न तु व्यामोहादि कारण से।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

ननवेवं स्वधर्मत्यागेऽपि न जीवननिर्वाहः स्यादित्यपेक्षायामाह—गुरूनिति । महानुभावान् विद्याशौर्यादिषु महाप्रभावान् गुरून् हत्वा हि परलोकविघातकगुरुवधम-कृत्वेहलोके भैक्ष्यं भिक्षया प्राप्तमन्नमपि भोक्तुं श्रेयः । परलोके दुःखानापादकत्वा-दित्याशयः । महानुभावांस्तान् गुरून् हत्वा तु रुधिरप्रदिग्धान् तद्रुधिरैरुपचितानर्थ-कामात्मकान् भोगानिहैव लोके भुञ्जीय । एवकारो निश्चयार्थकस्तथा च 'सम्भा-

एतादृश अर्जुन के आशय का संजय वर्णन करते हैं अर्जुन उवाच। क्या बोले इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं—"कथमित्यादि" हे मधुसूदन ? हे अरिसूदन मधुनामक राक्षस के निहंता तथा शत्रुओं को विनष्ट करने वाले अथवा भक्त के हृदय में रहनेवाले आभ्यन्तर शत्रुकामक्रोधा-दिक तथा बाह्य अरि जो लोक प्रसिद्ध हैं उन्हें मारनेवाले तब तक भक्त के हृदय में भक्ति देवी नहीं आ सकती है जब तक कामक्रोधादिक हृदय मे विद्यमान हैं और जब भगवान् की कृपा से बाह्य आभ्यन्तर शत्रु उपमर्दित होता है तब स्वच्छ अन्तः करण मे प्रादुर्भूत होती है इसीलिये श्रुति में कहा है ("यमेवैष वृणुते" इत्यादि) दो सम्बोधन एक साथ देकर भगवान् मे प्रेमातिशय का प्रदर्शन कराया है । संख्य में अर्थात् इस महासंग्राम में मै भीष्म एवं गुरु द्रोणाचार्य को किस प्रकार बाण प्रहार करुंगा क्योंकि ये दोनों व्यक्ति पूजनीय हैं । ये दोनों भीष्म और द्रोण धर्म बुद्धि से आस्तिकता बुद्धि से पुष्पचन्दन अक्षतादि के द्वारा पूजा करने के योग्य हैं, इन दोनों को अभी इस संग्राम में बाण द्वारा किस प्रकार मारुंगा । एवं इनसे अन्य जो कृपाचार्य अश्वत्थामा शल्य प्रभृतिक पूजनीय हैं उन सबों को भी बाण द्वारा मैं कैसे मारुंगा सामान्यतः जीव हिंसा अधर्म जनक है तो विशेष व्यक्तियों का जो विनाश वह कैसे क्षेमकर होगा अतः अधर्म जनक होने से संग्राम त्याज्य ही है ॥४॥

शंका—क्षत्रिय के लिये अनादि काल से प्रवृत्त जो युद्धरूपीधर्म है उस के छोडने पर आपकी जीवन यात्रा कैसे चलेगी ? नहीं कहें कि अनशन करके प्राणत्याग कर देना अच्छा है परन्तु अनेक प्रकार से दोप से युक्त क्षणिक इस देह के लिये कौन महापाप में प्रवृत्त हो इस अभिप्राय से आप यदि क्षत्रियोचित संग्राम धर्म के त्याग करने पर भी आप का जीवन निर्वाह किस प्रकार चलेगा, इस शंका के उत्तर में कहते हैं—"गुरूनित्यादि" विद्या तपस्या सत्यवादिता प्रभृति लक्षण अनुभाव अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी महासामर्थ्य विद्या शौर्यादि गुण विशिष्ट पूज्य गुरु-

नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

वितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यत' इति गुरुवधजन्यापकीर्तिर्मरणतोऽधिकदुःखावहा· स्मिल्लोक एव स्यात् परलोके तु नरकपात एवेत्युभयथाऽनर्थावाप्तिरिति भावः ॥५॥

नन्वेवं युद्धस्य क्षत्रियधर्मत्वाच्छ्रेयस्त्वं गुरुजनहिन्सापेक्षयाऽहिंसाया अपि श्रेयस्त्वमतः किं विधेयमित्याह—नचैतदिति। युद्धकरणाकरणयोर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयः श्रेष्ठं क्षात्रधर्ममाश्रित्य युद्धकरणमुत तत्परिहाय भैक्ष्यवृत्तिमाश्रित्य वर्तने

जन को मार करके अर्थात् परलोक के विनाशक गुरुजन का बध नहीं करके इस लोक में भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न का भोजन करना अच्छा है क्योकि परलोक में दुःख तो नहीं होगा । यह अभिप्राय है कि गुरु प्रभृति को मारनेकी अपेक्षाभिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करना अच्छा है क्योकि गुरु हत्या करने से परलोक में असहनीय यातना भोगनी पड़ेगी तदपेक्षया भिक्षावृत्ति से जीवन यात्रा का निर्वाह करना श्रेय स्कर है। महानुभाव महासामर्थ्यशाली उन गुरु जनों को मार करके रुधिर प्रदिग्ध अर्थात् उन गुरुजनों का जो रुधिर शोणित उससे युक्त अर्थकामात्मक भोग का इसी लोक में भोग करुगा अर्थात् अनुभव करुंगा। इहैव में जो एव कार है वह निश्चयार्थक है ततश्च संभावित अर्थात् विशिष्ट जन की जो अपकीर्ति होती है वह मरण से भी अधिक होती है अर्थात् गुरु जनों का जो वध है उससे जायमान लोक में जो अपकीर्ति वह मरण से भी अधिक दुःख देने वाली होती है। वह अपकीर्ति इस लोक में ही होगी और परलोक में तो नरकलोक में यातना का अनुभव होगा ही तो दोनों प्रकार से अर्थात् इस लोक में तथा परलोक में अनर्थ की प्राप्ति होगी अर्थात श्रेष्ठ व्यक्ति को मार करके यदि भोग भोगें तो इस लोक में चिरकाल तक अपयश होगा और परलोक में भी नरक यातना का अनुभव करना पड़ेगा अतः गुरुवध प्रयोजक इस महासंग्राम मे प्रवृत्त होना सर्वथा अनुचित है, यह अभिप्राय है भाष्यानुसारेण पंचम श्लोक का ॥५॥

पूर्वोक्त प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि संग्राम यह स्वभाव सिद्ध क्षत्रियों का कार्य है इसलिये युद्ध भी धर्म जनक होने से धर्म है एवं गुरुजनों की जो हिंसा है तदपेक्षया अहिंसा भी धर्म ही है अर्थात् श्रेयस को देनेवाली है अब इस द्वैविध्य में मै क्या करूं, अर्थात् युद्ध करने में गुरुजनों के वध होने से हिंसा होगी और हिंसा जन्य नरकपात स्वरूप पारलौकिक दुःख होगा और अपकीर्तिलक्षण इस लोक में दुःख होगा तो ये दो प्रकार के दुःख होते है युद्ध करने में, और युद्ध नहीं करते हैं तो क्षत्रिय धर्म के पालन नहीं करने से पारलौकिक दुःख होगा और

युद्धाकरणमित्येतद्द्वयं न विद्मः । यद्वा कथञ्चिद् युद्धकरणेऽपि वयमेव जयेम यदि वा नोऽस्मांस्ते जयेयुरस्माकं विजयः स्यात्तेषां वेत्यपि वयं न विद्मः । सत्यपि विजये मरणमेवेत्याह—यानिति । यान् गुरुजनान् हत्वा न जिजीविषामो जीवितुमपि नेच्छामस्ते धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसम्बन्धिनः प्रमुख एवावस्थिताः । अतो विजयोऽप्यनभिमत इति भावः ॥६॥

अर्जुन युद्ध से भाग गये इत्यादि लोकापवाद जनित ऐहिक दुःख होगा तो इस पक्ष में भी उभय प्रकारक दुःख होता है तो युद्ध करने में और युद्ध नहीं करने में समफलक होने से इस विषय में मैं क्या करुं इस शंका के उत्तर में कहते है "न चैतद्विद्म" इत्यादि । युद्ध करना कि युद्ध नहीं करना इन दोनों पक्षों में से मेरे लिये कौन सा पक्ष अधिक हित जनक है ? क्या क्षत्रिय धर्म को पुरस्कृत करके युद्ध करने में मैं प्रवृत्त होऊ अथवा युद्ध हिंसा जनक होने से युद्ध का परित्याग करके भिक्षावृत्ति का सहारा लेकर जुगुप्सित युद्ध कर्म का त्याग करु इन दोनो वस्तुओं को मैं बराबर नहीं समझ रहा हूं । अर्थात् युद्ध करने मे अथवा युद्ध के त्याग पूर्वक भिक्षाचरण इन दोनों के बीच में मेरे लिये क्या श्रेष्ठ है ? क्या क्षत्रिय धर्म होने से युद्ध श्रेष्ठ है अथवा हिंसा रहित होने से भिक्षाचरण श्रेष्ठ है । यही श्रेष्ठ है इसलिये अमुक ही करुं एतादृश निश्चय करने में मैं समर्थ नहीं हूं । फल विषयक इच्छा प्रवृत्ति में कारण होती है और प्रकृत में युद्ध तथा भिक्षाचरण समानफलक होने से एकतर पक्ष का निश्चयजनक एक किसी के अभाव होने से किसी में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ।

शंका—यदि आप स्वयं निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं तो मेरे वचन से युद्ध में प्रवृत्त हो जायं इसके उत्तर में कहते हैं कि "यद् वा जयेम" इत्यादि । यद्वा कथंचित् युद्ध करने पर भी क्या मैं धार्तराष्ट्र को जीत कर, विजयी होउंगा अथवा मुझे जीत करके उन लोगों को विजय प्राप्त होगी । इस बात को भी मैं नहीं निश्चत कर सकता हूं । अर्थात् "अव्यवस्थौ हि दृश्येते युद्धे जय पराजयौ" युद्ध में जय पराजय की कोई व्यवस्था नहीं रहती है इस नियम के होने से मेरी विजय होगी अथवा धार्तराष्ट्रकी विजय होगी ऐसा निश्चय भी नहीं किया जा सकता है । विजय प्राप्त होने पर भी मरण तो निश्चित है अर्थात् "यतो धर्मस्ततो जयः" जिस पक्ष में धर्म रहता है उस पक्ष में ही विजय प्राप्त होती है इस नियम से आप धर्म पक्ष के अवलम्बन करनेवाले हैं तब तो आपको ही विजय प्राप्त होगी । इस लिये कहते हैं "यानेवहत्वेति" जिन गुरु जनोंको अर्थात् धृतराष्ट्रपक्षीय गुरु पितामह बन्धुबान्धव को मार करके मै जीना नहीं चाहता हूं, वे ही धृतराष्ट्र सम्बन्धी बन्धुबान्धव प्रमुख में अवस्थित हैं अर्थात विजय प्राप्त करने के बाद राज्यभोग के समये में जिन लोगों की उपस्थिति आवश्यक है वे

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

एवं प्रसङ्गतः स्वहार्दिकवेदनाम्प्रकटय्येदानीं गुरूपसत्तिं कुर्वन् साक्षान्निःश्रेयसाय स्वकण्ठरवेण स्पष्टमेव प्रार्थयते—कार्पण्येति । धर्मतस्त्याज्यस्य मोहवशादपरित्याग एव कार्पण्यं तन्निमित्तकदोषेण 'ममैते बन्धव एतेषां वधेन मम सर्वनाशमेष्यति तस्मान्नैते बध्या' इति व्यामोहदोषेणोपहत आवृतो निष्फलीकृतः स्वभावो धर्माऽधर्मविवेको यस्य तथाभूतोऽत एव धर्मे धर्मविषये सम्मूढं सम्यग् मोहवशीभूतं चेतो यस्य युद्धत्यागो धर्मोऽधर्मो वा भैक्ष्यनिर्वाहोऽपि मम क्षत्रियस्य धर्मोऽधर्मो वेत्यादि सन्देहाध्यासितचेतस्कोऽहमिदानीं त्वां सर्वेश्वरं सर्वलोकगुरुम् पृच्छामि । किमित्यत आह—यद्विषयकः सन्देहो मन्मामसं व्याकुलयति तद्विषये यच्छ्रेयो भवता निश्चितं

ही प्रियतम बांधव गुरु प्रभृति सभी लोग प्रथम से ही शस्त्रास्त्र से सज्जित हो करके तथा अपने अपने प्राण की बाजी लगाकरके आगे में खडे हैं । अतः विजय प्राप्त करना भी सर्वथा निरर्थक ही है ॥६॥

एतावत् पूर्व कथित प्रसंग से अपने हृदयगत वेदना का कथन करके गुरूपसदन करते हुए साक्षात् निःश्रेयस प्राप्ति के लिये स्वकीय कण्ठ शब्द से स्पष्ट रूपसे जगद्गुरु से प्रार्थना करते हैं "कार्पण्येत्यादि" यहाँ यह अभिप्राय है कि अधिकारी को चाहिये कि क्षणिक सुख देनेवाले शोकमोहादिप्रद ऐहिक आमुष्मिक विषय जाल से विरक्त होकरके विधिपूर्वक श्रोत्रिय ब्रह्म भगवद् भक्ति समन्वित धनुर्बाणादि मुद्रान्वित सत्गुरु के पास जा करके उन गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से संसार रूप महासागर को पार करे । यह जो श्रुति स्मृति प्रसिद्ध नियम है उस को मन में करके शोक मोह रूपी समुद्र में निमग्न है जिसका मन तथा धर्माधर्म विवेक से रहित अर्जुन स्वसमीपस्थित सर्वान्तर्यामी जगद्गुरु भगवान् की शरण में प्राप्त हुए । धर्मतः त्याज्य वस्तु को मोह से नही त्याग करने का नाम होता है कार्पण्य लोक में तो वित्तशठता करनेवाले को कृपण कहते हैं । प्रकृत वेदान्त में तो कहा है कि हे गार्गी? जो व्यक्ति विशेष अक्षर रूप परमात्मा को नहीं जान करके इस लोक से चला जाता है वह कृपण है । यहाँ दोनों प्रकार से यह सिद्ध होता है कि हेय ज्ञान विषय जो पुत्र कलत्र धनधान्यादिक में अविवेक बुद्धि से मेरे ये हैं मै इनका हूं एतादृश जो अभिनिवेश उसी का नाम है कार्पण्य तन्निमित्तक दोष से उपहत है आवृत्त अर्थात् निष्फलीकृत है स्वभाव धर्माधर्म विवेक जिनका ऐसे जो अर्जुन अत एव धर्म में अर्थात् धर्म विषय में सम्मूढ अर्थात् सम्यग् रूप से मोह वशीभूत

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

स्यात्तन्मे ब्रूहि । ननु सख्युस्तवोपदेशयोग्यत्वाभावात् कथमुपदिशेयमत आह–शिष्य इति । **शिष्यः शासितुं योग्यस्ते तवाहमस्मि न केवलं शिष्य एवापि तु प्रपन्नोऽप्यहमस्मि । अतस्त्वां प्रपन्नम् शरणागतं मां शाधि । धर्मसन्देहान्धतमसे निमग्नं मां निश्चितश्रेयोमार्गोपदेशं करुणया विधेहीत्यर्थः ॥७॥**

ननु त्वदृते शोकापनोदनोपायभूतमन्यन्न पश्यामित्यतस्त्वमेवोपायस्प्रवोधयेत्याह–नेति । **इन्द्रियाणामुच्छोषणं परितापकरं मम शोकं यत् सामान्ये नपुंसक-**

चित्त अन्तः करण जिनका अर्थात युद्ध का त्याग करना धर्म है कि अधर्म है और भिक्षा वृत्ति से जीवन निर्वाह करना मुझ सदृश क्षत्रिय के लिये धर्म है कि अधर्म है इत्यादि सन्देह से युक्त चित्त वाला मैं इस वर्तमान काल में सर्वेश्वर सर्वनियन्ता सर्वलोक के गुरु आप से पूछ रहा हूं । किं पृच्छसि ? क्या पूछते हो इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं "यद्विषयक" इत्यादि । जिस विषय का संदेह मेरे मन को व्याकुलित कर रहा है उस विषय में आपने मेरे लिये जो निश्चित किया है वह मुझे कहिये ।

शंका मैं तो आपका मित्र सखा हूं तो मैं किस प्रकार आपको उपदेश दूं । अर्थात् गुरु से उपदेश प्राप्त हो ननु मित्र से क्योंकि तादृश उपदेश करने की योग्यता नहीं होने से ।

इस प्रश्न के उत्तर रूप में कहते हैं "शिष्यस्तेहमित्यादि" शासन करने के लिये मैं आपका योग्य शिष्य हूं मैं केवल शिष्य ही हूं ऐसा नहीं किन्तु मैं प्रपन्न भी हू अतः आपके शरणागत हूं इसलिये कृपा करके आत्मा तथा परमात्मा का उपदेश करें । क्या धर्म है क्या अधर्म है इस सन्देह रूप गाढान्धकार में डूबेहुए मुझे निश्चित श्रेयो मार्ग का कृपया उपदेश दीजिए । (यद्यपि पूर्व में कारण रहे तदनन्तर कार्य होना है ऐसा नियम है तथापि भक्ति देवी का यह विलक्षण महिमा है कि उपदेश होने के पहले ही परम ध्येय ज्ञेय परमात्मा का दर्शन रूप कार्य होने के बाद में ही साक्षात्कार का जनक जो श्रवण मनन उसके लिए अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं ॥७॥

आप से अन्य शोक मोह के अपनोदन के उपाय बतलाने वाला कोई नहीं है इसलिये आप ही कृपा करके उस उपाय को समझावें इस अभिप्राय से कहते हैं–

"नहि प्रपश्यामीत्यादि" इन्द्रिय तथा शरीर को उच्छोषण अर्थात् परिताप देनेवाला मेरा जो शोक है 'यत् यहाँ जो नपुंसक लिंग का प्रयोग किया गया है वह सामान्य में नपुंसक

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
नयोत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वातूष्णीं बभूव ह ॥९॥

मपनुद्यात् तद् भूमावसपत्नं शत्रुरहितं सर्वर्द्धिसमन्वितं राज्यमवाप्य न केवलं मृत्युलोकराज्यमपि तु सुराणामाधिपत्यममरेश्वरत्वमवाप्यापि हि निश्चयेन नैव प्रपश्यामि त्रैलोक्येऽपि मम व्यामोहविनाशकस्त्वदतिरिक्तः कोपि नास्तीत्यर्जुनोक्तेरभिप्रायः ॥८॥

ततोऽर्जुनः किमकरोदिति धृतराष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच—एवमिति । गुडाकाया निद्राया ईशो जितनिद्रः पराञ्छत्रून् तापयतीति परन्तपोऽर्जुनः । हृषीकेशं

होता है इस नियम से है' उसका अपनोदन अर्थात् निराकरण करें । वह भूमि में अर्थात् वसुंधरा में असपत्न अर्थात् सर्व शत्रु रहित सभी प्रकार की समृद्धि से युक्त राज्य को प्राप्त करके केवल एतादृश मृत्यु लोक का राज्य मात्र ही नहीं अपितु सुरों का आधिपत्य अर्थात् जो अमर देवता हैं उनका जो आधिपत्य उसे प्राप्त करके भी श्लोक स्थ हि शब्द निश्चयार्थक है मेरे इस खेद को दूरकरदे ऐसा मैं नहीं देखता हूं । आपको छोडकर सम्पूर्ण विश्व में कोई भी वस्तु इस प्रकार की नहीं है जो मेरे व्यामोह का विनाश कर सके, अर्जुन के कथन का यह अभिप्राय है । अर्थात् मेरे एतादृश शोक के निराकरण करने में आप से अतिरिक्त और कोई भी प्रकारान्तर नहीं है जो कि मेरे इस शोक का निराकरण कर सके, इस बात को कहतेहुए अर्जुन ने कहा "सोहं भगवः शोचामि तं मां भगवन् शोकस्य पारं तारयतु" हे भगवन् ! मैं शोक कर रहा हूं, उस शोक से आप कृपा करके मुझे पार कर दें, इसके द्वारा नारद प्रतिपादित श्रुत्यर्थ का स्मरण कराते हैं । इससे मैं सर्वथा अधिकारी हूं अतः आप मुझे उपदेश करें यह अभिव्यक्त होता है ॥८॥

पूर्वोक्त प्रकार से स्वकीय अभिप्राय को कहने के बाद अर्जुन ने क्या किया धृतराष्ट्र की इस जिज्ञासा के उत्तर में संजय कहते हैं, संजय बोले । संजय ने धृतराष्ट्र से क्या कहा वह बतलाते हैं "एवमुक्त्वा" इत्यादि । गुडाकेश गुडाका नाम है निद्रा का उसका ईश मालिक अर्थात् निद्रा को जीतनेवाले अर्जुन तथा परंतप, पर अर्थात् शत्रु को ताप दुःख देनेवाले अर्जुन । हृषीकेश हृषीक का नाम है इन्द्रिय उसका ईश स्वामी अर्थात् ब्रह्माण्डोदर में रहनेवाले सकल जीव का जो करण कलेवर उसके अधिष्ठाता भगवान् श्रीकृष्ण को कह करके मैं नहीं लडूंगा । अर्जुन गोविन्द को गो नाम है वेदवाणी का जो प्रतिपादन करनेवाला हो उसका नाम होता है गोविन्द "अस्य महतो भूतयोनेर्निश्वसितं ऋग्वेदः" इस महान् भूत के कारण परमात्मा के निःश्वासरूप ऋगादि वेद हैं, अथवा जो वेदैक समधिगम्य हो उसे गोविन्द कहते हैं।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ?।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

सर्वेन्द्रियाणामधिष्ठातारं श्रीकृष्णमेवमुक्तप्रकारेणोक्त्वा पुनर्न योत्स्य इति गोविन्दम-भिधाय तूष्णीं बभूव मौनमुपसेवितवान् । हेति स्पष्टार्थकम् ॥९॥

तूष्णींभावमास्थितमर्जुनं भगवान् प्रबोधयतीत्याह संजयः—तमिति । हे भारत ! हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी भगवानुभयोः सेनयोर्मध्ये सामयिककर्तव्यं परित्यज्य विरुद्ध-

अथवा जो गौ का रक्षण करनेवाला हो उसका नाम होता है गोविन्द तो गोविन्द अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा को इस प्रकार कह करके चुप हो गये । अर्थात् मैं नहीं लडूंगा, इसप्रकार मौन भावका अवलंबन कर लिया । श्लोकस्थ जो हि यह अव्यय पद है वह स्पष्टार्थक है । यहाँ अर्जुन के जो दो विशेपण गुडाकेश तथा परंतप एवं श्रीकृष्ण के विशेषण हृषीकेश तथा गोविन्द हैं इससे संजय का कुछ विशेष अभिप्राय ज्ञात होता है—वह यह है—अर्जुन गुडाकेश हैं अर्थात् मन मात्र इन्द्रिय का तामसवृत्ति विशेष निद्रामात्र के अधीश हैं । भगवान् हृषीकेश हैं अर्थात् विश्वव्यवस्थित प्राणीमात्र के करण कलेवर के ईश हैं तो अर्जुन का तथा भीष्म प्रभृति सकल जीव समुदाय के करण बाह्य आभ्यन्तर सभी को स्वकीय संकल्प मात्र से युद्ध के बिना भी अर्जुन को विजयी बना सकते हैं, यह ज्ञापित होता है । तथा यद्यपि अर्जुन शत्रुमात्र तापक हैं भगवान् तो गोविन्द हैं सकल जगत् के आधार हैं, सर्वेश्वर हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं तो अनन्य प्रपन्न स्वभक्त अर्जुन के सकल अभिलषित पदार्थ को सिद्ध कर सकते हैं क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि "योगक्षेमं वहाम्यहम्" अपने भक्तों के ऊपर आई हुई आपत्ति को हटा करके मैं उसका योगक्षेम चलाता हूं तथा "न मे भक्तः प्रणश्यति" मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता है । इस भगवदुक्ति से संजय का विशिष्ट अभिप्राय परिपुष्ट होता है । इस विषय पर विशेष विवेचन अन्यत्र किया जायगा यहाँ तो मै केवल भाष्याक्षरों के अनुवाद करने में प्रवृत्त हूं अतः विशेष विवेचन प्रकृतानुपयोगी प्रायः होगा ॥९॥

तूष्णीं भावावस्थित अर्जुन को अर्थात् "विसृज्य सशरं चापम्" इससे यह सिद्ध हुआ है कि कायिक व्यापार से उपराम तथा तूष्णीं बभूव ह इससे वाचिक व्यापार से उपरत अर्जुन को देखकर के अर्जुन के मोहरूप तमोराशि को स्वकीय ज्ञानरूप आलोक से उस गाढान्ध-कार को दूर करते हुए समझाते हुये कहते हैं, राजा धृतराष्ट्र से यह बात संजय कहते हैं—'तमुवाच', इत्यादि । हे भारत ? पक्षपात रहित हो करके धर्म में सदा संलग्न भरतवंश में प्रादुर्भूत राजन् धृतराष्ट्र !

ॐ श्रीभगवानुवाच ॐ

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

भावनया विषीदन्तं तमर्जुनं प्रहसन्निव मदाश्रयत्वात्तव न कापि भीरिति प्रहसनेन ज्ञापयन्निवेदं वक्ष्यमाणं वचनमुवाच ॥१०॥

आत्मयाथात्म्यज्ञानाभाव एव शोकबीजमित्यतो देहादेः परिणामिवस्तुनस्तदधिष्ठातुरात्मनस्तदन्तर्यामिपरमात्मनश्च विविक्ततया स्वरूपमस्मै प्रदर्शनीयं तदवगमे चास्य शोकस्य मूलमुच्छेदोऽवश्यम्भविष्यतीति मनसि निधाय श्रीभगवानुवाचेत्याह सञ्जयः । किमाह तन्निर्दिशति—अशोच्यानिति । **अशोच्यान् शोकानर्हान् शूरसम्मा**

भारत इस सबोधन से सजय का यह "सदाधर्म परायण निष्पक्ष सभी के ऊपर समान भाव से सद् व्यवहार करने वाले आपके पूर्वज हुए हैं इसलिये आपको भी चाहिये कि उसी प्रकार सभी के ऊपर सत्भाव रखे, अतः स्वपुत्र का पक्षपात और पाण्डव पर असद्भाव करना, आपके वंश के विपरीत है, यह आशय सूचित होता है ।

श्रीकृष्ण ने मोहापनयन के लिये अर्जुन से क्या कहा, वह बतलाते हैं, हृषीकेश सर्व के अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण ने उभय पक्ष की सेनाओं के मध्य में सामयिक कर्तव्य तत्काल में संपादनीय जो युद्ध रूप कर्तव्य वस्तु है उसे छोड करके विरुद्ध भावना से विषीदित होते हुए विषाद दुःख विशेष से दुःखी उस अर्जुन के प्रति हंसते हुए के समान अर्थात् प्रसन्नता द्योतक मुखमुद्रा से अर्थात् मेरी शरण में आने से तुम मेरे आश्रित हो इसलिये तुम्हें किसी से भय नहीं हैं इस बात को इषद्धास्य से ज्ञापित करते हुए वक्ष्यमाण जो "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" यहाँ से लेकरके "अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः" तुम अशोच्य वस्तु विषयक शोक करते हो यहाँ से लेकर सभी पापों से मै तुम्हें मुक्त कर दूंगा, तुम चिन्ता मत करो एतत्पर्यन्त वचन समुदाय कहा ॥१०॥

चिदचिद् विशिष्ट परमात्म ज्ञान होने से ही शोक निवृत्ति तथा सर्वेश्वर श्रीसीतारामजी का कैंकर्य स्वरूप परमानन्दवाप्तिरूप सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति जीव को होती है, इस बात का पुष्टिकरण श्रुति द्वारा होना आवश्यक है "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" "सोऽहं भगवोमन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतं ह्येवमेव भवादृशेभ्यस्तरतिशोकमात्मविदिति सोऽहं भगव शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु" इत्यादि श्रुति तथा "ततोमां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" "ज्ञानेनात्मनि

न्यान् स्वधर्मानुष्ठानेन पुण्यलोकानिष्सून् भीष्मादीन् देहात्मविशिष्टानेव 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण !' इत्यादिना एते मद्गुरवो मरिष्यन्ति, एतैर्विना राज्यसुखादिकं मे व्यर्थमित्येवं प्रकारेणानुशोचसि प्रज्ञावादांश्च भाषसे स्वमनीषोपकल्पितानेवार्थान् नतु शास्त्रवृद्धसम्मतांस्तान् वदसि । पण्डिता आत्मानात्मविवेकिनः प्राज्ञाः देहादेरनित्यत्वमात्मनश्च नित्यत्वमितिनिश्चयवन्तो मनीषिण इति यावत् । गतासून् गतप्राणान्देहादिकान् तथाऽगतासूनात्मनश्च स्वरूपविवेकिनः 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि प्रकारेण यथा त्वं शोचसि तथा न शोचन्तीत्यर्थः ॥११॥

पश्यन्ति" इति स्मृतिः "स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः । यदुपास्तिमित्यादिन्याय से शोक सन्तरण का उपाय श्रुति स्मृति न्याय से आत्मस्वरूप ज्ञान को ही है, यह निश्चित है । शरीरेन्द्रियादिक सतत विकाररूप है और शरीरादिका जो अधिष्ठाता जीव है वह तो परतन्त्र है परन्तु इन सबों को अन्तर्यामी परमात्मा सर्वफल देनेवाले सर्वनियामक स्थावर जंगमात्मक सकल जगत् के उपादान अथ च निमित्त कर्त्ताकारण हैं उस परमात्माका शृङ्गग्राहित रूप से ज्ञान परमावश्यक है । इसके बिना शोक सन्तरण होना अर्जुन को अर्थात् जीवमात्र को असम्भवित है, इसी बात को बतलाने के लिए भाष्यकार श्रीने "आत्मयाथात्म्यज्ञानेत्यादि ग्रन्थ का उत्थान किया ।

आत्मा का जो यथार्थ ज्ञान उसका जो अभाव वही मोह में बीज अर्थात् निमित्त कारण है (यद्यपि बीजपद आदि कारण का बोधक है तथापि द्रव्य ही समवायि कारण होता है इस लिये अभाव को निमित्त कारण समझना चाहिये । एवं अभाव में जो जनकता है वह प्रयोजकता रूप ही है न कि दण्डादिवत् उत्पादकता रूप है) इसलिये शरीरादिक जो परिणामी वस्तु है तथा उसका अधिष्ठाता जो जीवात्मा तथा सभी जड चेतन के जो अन्तर्यामी परमात्मा भगवान् श्रीसाकेताधिपति हैं, इन सभी पदार्थों के विविक्त अर्थात् भिन्न भिन्न स्वरूप को अर्जुन को बतलाना चाहिये जिसके ज्ञानसे अर्जुन का जो शोक समूह है वह उच्छिन्न अवश्य होगा, इस बात को मन में रखकर के भगवान् ने कहा, यह बात संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं । क्या कहते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—"अशोच्यानित्यादि" अशोच्य अर्थात् शोक करने के अयोग्य एवं शूर जन सम्मानित तथा स्वधर्म का अनुष्ठान करके पुण्य लोक इन्द्र से लेकर सत्यलोक की इच्छा रखनेवाले देहात्म विशिष्ट ऐसे जो भीष्म द्रोण प्रभृति पूजनीय व्यक्ति को" दृष्ट्वेमंस्वजनंकृष्ण" इत्यादि से ये मेरे गुरुवर्ग पूजनीय मेरे हाथ से मर जायेंगे, इन लोगों के बिना राज्य प्राप्ति तज्जनित सुखभोग व्यर्थ है, इस प्रकार से तुम जो असामयिक शोक कर रहे हो और प्रज्ञावाद को बोलते हो स्वकीय बुद्धिमात्र से परिकल्पित जो तर्क उसका अवलंबन

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

मोक्षाभिधायकेऽस्मिन् गीताशास्त्रे परमपुरुषार्थतयोपेयस्वरूपं तदुपायभूतोपासनादिकारिणामात्मनाञ्च स्वरूपमादावुपदिशति—नेति। अहं सर्वनियन्ता 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा''क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यात् सर्वेश्वरः साधूनां परित्राणायेदानीमनेन दिव्यरूपेणावतीर्य सकलजननयनगोचरोऽप्यहमिति यावत् । जात्वस्मात् कालात् प्राक् सृष्टेः पूर्वस्मिन् काले-

करके जो वाद होता है उसे प्रज्ञावाद कहते हैं एतावता यह सिद्ध होता है कि तुम्हारे वचन में जो प्रलापमात्र है उसमें विशिष्ट व्यक्ति की संमति नहीं है, अर्थात् स्वबुद्धि परिकल्पित पदार्थ को ही बोलते हो न कि शास्त्र सहमत अथवा वृद्ध सहमत अर्थ को बोलते हो । पण्डित लोग अर्थात् यह आत्मा है यह अनात्मा है यह आत्मभिन्न है एतादृश विवेकशील विद्वान् लोग अर्थात् सत् असत् का विवेक करनेवाली बुद्धि का नाम है पण्डा, तादृश पण्डा है जिसे वे सब पण्डित कहलाते हैं एतादृश प्राज्ञ लोग देहादिक सकल अचित् पदार्थ को परिणामी अनित्यत्वादि धर्म विशिष्ट मानते हैं और आत्मा को चित्पदार्थ को नित्य मानते हैं और तादृश धर्म विशिष्ट चिदचित् के नियामक तथा उन दोनों से भिन्न स्वरूपवाले परमात्मा को जो नित्येश्वर सर्वाधारत्व तथा सभी के आदिकारण हैं, इस प्रकार समीचीन रूप से जानते हैं, कौन जानते हैं तो मनीषी लोग न कि तुम सदृश प्रज्ञावाद को लेकर बोलते हैं । वे पण्डित लोग गतासु अर्थात् गतप्राण जड देहादिकको तथा अगतासु अर्थात् जीवात्मा के स्वरूप के विवेकवाले "कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादि रूप से जैसे तुम शोक करते हो उस तरहसे वे लोग शोक नहीं करते हैं ॥११॥

शोक निवृत्ति तथा भगवद्धाम साकेत प्राप्ति रूप जो मोक्ष उसका प्रतिपादक इस गीताशास्त्र में परमपुरुषार्थ रूप से उपेय जो वस्तु अर्थात् प्राप्तव्यपदार्थ का जो स्वरूप तथा उपेय का प्राप्य पदार्थ का जो उपाय प्रापक तदात्मक जो उपासना स्वरूप तथा मोक्ष का अधिकारी जो जीव उसके स्वरूप का तथा आत्मा परमात्मा जो गन्तव्य है अर्थात् जीव से प्राप्त होने के योग्य हैं उनका जो स्वरूप है इन सब पदार्थों का जो स्वरूप है इन सबका प्रथमतः उपदेश करते हैं अर्थात् इस श्लोकके पूर्व श्लोक में कहा है कि तुम अशोच्य पदार्थ का शोक करते हो तो यहाँ शोक विषयता किसे है यदि देहेन्द्रिय विशिष्ट आत्मा को शोच्य कहे तो वह ठीक नहीं है क्योंकि देह विशिष्ट जो आत्मा है उसके विशेषण जो सम्बन्ध आगमापायी होने से उसके विनाश का निश्चय होने से तद्विषयक शोच निरर्थक है नवा शरीर को शो-

ऽभूवमित्यर्थः। नासम् । नाभूवम्। इति न। अपित्वासमेव जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वात् । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्य भिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति श्रुतेः । त्वमर्जुनः । जातु सृष्टेः प्रागपि नासिरिति न। अपित्वासीरेव। इमे पुरो वर्तमाना जनाधिपा राजानोऽपि जातु सृष्टेः प्रागपि नासन् । इति न। अपित्वासन्नेव । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इतिश्रुतौ सत्पदवाच्यस्य ब्रह्मण एकत्वावधारणेन शरीरतया सर्वेषां ब्रह्मविशेषणतामापन्नानां चिदचित्पदार्थानां नाम रूपविभा गानर्हतापन्नत्वमेवोक्तमिति न तया विरोधः। सर्वे वयमहञ्च त्वञ्चेमे राजानश्च । अहमीश्वरस्त्वत्प्रभृतयसर्वे इशितव्या जीवाश्चेत्यर्थः। अतः परं वर्त्तमानात् कालात् परस्मिन्काले जातु। न चैव भविष्याम इति नापि तु भविष्याम एव। प्रलयकर्तुरेव मम सर्वेश्वरस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादनात्वेन मुक्तोपसृप्यत्वेन च व्यपदेशात् । तथा च श्रुतिः 'सदेव सोम्येदमग्रमासीदेकमेवाद्वितीयम्' 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादि। देहनाशानन्तरं प्रलये लोकान्तरगतौ चैतेषाममुक्तानां जीवानां नासद्भावसम्भावना संसारिताप्रयोजकानां कर्मणामनपगमात् कृतविप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गदोषाच्च। मुक्तावपि च 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' 'स

च्यत्व हो सकता है क्योंकि "अन्तवन्त इमे देहाः" नित्य आत्मा का जो यह देह है वह अन्तवान् है। इसी गीता वाक्य से देहादि के अन्तवान् होने से उसमें शोच्यत्व का अभाव कहने का ही है। अब परिशेषात् आत्मा में शोच्यत्व वक्तव्य है ऐसा कहना होगा अतः आत्मादिक पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिये भगवान् कहते हैं— "नत्वेवाहम्" इत्यादि। अहं मैं सर्वनियन्ता परमात्मा "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" "क्षर प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते" प्रत्येक पदार्थ के अन्तर में प्रविष्ट होकरके सभी के शासन करनेवाले सर्वात्मस्वरूप मैं परमात्मा, प्रधानादिक जडवर्ग और जीव अक्षर है इन दोनों को जो परमात्मा के शेषभूत हैं उन्हें नियंत्रित करते हैं। वे परमात्मा शक्त वस्तु को सृष्टिके आदि में बनाकरके उनमें प्रविष्ट हो जाते हैं, इत्यादि अनेक श्रुति प्रमाण से सिद्ध होता है कि सर्वेश्वर अन्तर्यामी परमात्मा सज्जन पुरुष के परित्राण करने के लिये तथा भगवदाज्ञाबहिर्भूत महापापी व्यक्तियों के विनाश करने के लिए इस काल में दिव्य रूप अर्थात् अप्राकृत सकल लोकोत्तर अनन्तगुणक लीला विग्रह रूप से अवतार लेकर सकल व्यक्ति का जो नेत्र उसका विषय होनेवाला मैं श्रीकृष्ण जातु इस काल से पहले अर्थात् सृष्टि होने के पूर्वकाल में भी। नासम् न था ऐसा नहीं किन्तु था ही सृष्टिकाल से पूर्व काल में भी मैं था ही। दो नञ् का प्रयोग

एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादिश्रुत्या "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यम गताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" इति स्मृत्या च न जीव विनाशमुपयान्त्यपि तु 'तद्विष्णोः परमं पदम्' 'देवानां पूर्ययोध्या' इत्यादिश्रुतिप्रमाणि नित्यधाम्नि भगवतः श्रीरामस्य निरतिशयानन्दस्वरूपकिङ्करतामावहन्तोऽविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत' इति श्रौतवचनं चरितार्थयन्तोऽवतिष्ठन्ते

एवमज्ञानमोहितस्याज्ञानमपसारयितुं तात्त्विकात्मनित्यत्वोपदेशावसरे स्वस्याह मिति प्रत्यक्तयाऽर्जुनप्रभृतीनाञ्चत्वमिति स्वाभिमुखचेतनान्तरतयेम इति स्वपराङ्मुखानेकचेतनतया सर्वे इत्येकोपाधिसंगृहीतानेकव्यक्तितया वयमिति स्वेन सार्धमात्मरूपेणैकवर्गीकृतानन्तव्यक्तितयाऽभिधानाज्जीवानां स्वस्मात् परस्परञ्च 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' इत्यादिश्रुतिसम्मतं स्वाभाविकमेव भेदमानन्त्यञ्चाभिहितवाननन्तकारुणिको भगवान् वासुदेवः ।

जहाँ रहता है उस स्थल में प्रकृत अर्थ का ही बोध होता है। मैं इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण हूं, तो कारण कार्य के पूर्वकालिकवृत्ति होता है ऐसा नियम है । यदि कारणमृत्तिका उपादान कर्ता कुलाल घटपूर्वकाल में न हो तो घट रूप कार्य किस अधिकरण में उत्पन्न होगा ? कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति जो मानेगा उसे कार्य कारण भाव की व्यवस्था नहीं होगी और अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सभी जगह में सब कार्य की उत्पत्ति प्रसंग दोष होगा इसलिए कारण का कार्यवृत्ति होना इस नियम को अवश्य मानना पड़ेगा । कारण कार्य पूर्ववृति होता है तब भगवान् कहते हैं—सभी जगत् के अभिन्न निमित्त कारण होनेसे मैं सृष्टि के पूर्वकाल में भी था ही।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" जिस अचिन्त्य शक्तिमत् सर्वज्ञ सर्वनियन्ता अन्तर्यामी अनन्त कल्याण गुणक हेय सर्वप्रत्यनीक सर्वाकार सर्वचेतना प्रवर्तक परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा अयोध्यानायक से वह दृश्यमान भूत स्थावर जंगमात्मक सकल जगत जो परमात्मासे भिन्न अस्मदादि लोकपालान्त व्यक्तियों से मन से भी अचिन्त्य रचनात्मक जगत् समुत्पाद्यमान होता है तथा उसी परमात्मा में स्थिति काल में व्यवस्थित रहता है और प्रलयकाल में उसी परमात्मा में जाकर के विलीन हो करके रहता है नाशावस्था में मृत्तिका में घटादिकार्य की तरह उस ब्रह्मकी तुम जिज्ञासा करो वही ब्रह्म है सर्वनियन्ता आत्मा राम हैं" इस श्रुति से सिद्ध होता है कि भगवान् जगत् के प्रति उपादानकारण तथा निमित्तकारण भी हैं । "तदैक्षत" उस ब्रह्म ने इच्छा की, इस श्रुति से सिद्ध होता है कि ब्रह्म कर्ता है और 'यतो वा' इस श्रुति से सिद्ध होता है उपा

महत्त्वमादित्यपदेश इति चेन्न, 'य सर्वज्ञ सर्ववित् 'परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इतिश्रुतिश्रुतसर्वज्ञताशालिनो भगवतोऽविद्याप्रयुक्तभेद दृष्टेरसम्भवात् ।

किञ्च सप्तविधानां दुरुद्धराणामाश्रयतिरोधानत्वरूपानिर्वचनीयत्वप्रमाणनिवर्त्तकनिवृत्त्यनुपपत्तीनां सम्भवादद्वैतवादिभिरङ्गीकृताऽविद्योपपादयितुमशक्या । तथाहि— भ्रमजनयित्र्या अविद्याया आश्रयः कः ? न तावज्जीवोऽस्या आश्रयोऽन्योन्याश्रयात् । ब्रह्म तु ज्ञानबाध्याविद्याविरोधि स्वयम्प्रकाशज्ञानरूपत्वादिति न तदाश्रयः । ज्ञानस्वरूपमपि ब्रह्माविद्याश्रयश्चेन्न सा ज्ञानबाध्या । स्वरूपादतिरिक्तं स्वरूपविषयकं ज्ञानमेवाविद्याविरोधि न स्वरूपभूतं ज्ञानमिति वक्तुमशक्यम्, जडत्वप्रसङ्गादनुभूति-

दानकारणता । यद्यपि उत्पादकता निमित्तादिकारण में भी है तथापि कार्य की स्थिति तथा प्रलय ये दोनो तो उपादान कारण में ही होते है । लोक मेंभी यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मृत्तिकासे उत्पन्न घट मृतिका में ही रहता है तथा विनाशान्तर मृत्तिका में ही प्रविलीन हो जाता है न तु दण्डरूप निमित्त कारण में घट बैठता है तथा विलीयमान होता है । अत एव नैयायिक के सिद्धान्त में भी कहा है कि समवायिकारण कार्य के पूर्ववृत्ति भी है तथा कार्य के अवस्थित काल में भी रहता है और निमित्तकारण तो मात्र पूर्वकाल में ही रहता है एवं कार्य का विनाश भी स्वसमवायिकारण देश में ही होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वमत से ब्रह्म में जगत् का उपादानत्व है और श्रुति से यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही जगत् के कर्ता रूप निमित्तकारण भी हैं अतः अभिन्न निमित्तोपादानत्व ब्रह्म में है इसलिये भाष्यकार ने "अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वात्" ऐसा कहा है । इसका विशेष रूप से विचार "तदनन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः" इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में किया है । प्रसंगवश अन्यत्र भी किया है तथा मै भी वहीं करूंगा । त्वमर्जुन इति तुम अर्थात् अर्जुन भी सृष्टि के पूर्वकाल में नहीं थे ऐसा नहीं किन्तु विद्यमान ही थे तथा यह आगे खडे हुए जिनको तुम चाक्षुष प्रत्यक्ष से जान रहे हो ऐशे ये राजा लोग सृष्टि से पूर्वकाल में नहीं थे ऐसा नहीं किन्तु ये सभी सृष्टि के पूर्व काल में भी थे ही, क्योकि "सदेव सोम्येदमग्रे आसीदेकमेवाद्वितीयम्" हे सोम्य प्रियदर्शन श्वेतकेतु ! यह परिदृश्यमान चाक्षुष विषयतापन्न सकल जडचिदात्मक जगत् एक अद्वितीय सत् रूप से था, इस छान्दोग्य श्रुति में सत् पद बोध्य ब्रह्म में एकत्व का निश्चय होने से, ब्रह्म के शरीर रूप से ब्रह्म के विशेषणता प्राप्त सभी चिदचित्पदार्थको नाम रूप द्वारेण विभाग रहितत्व को ही कहा गया है । अर्थात् चित् अचित् जो कोई भी पदार्थ हैं वे ब्रह्म के विशेषण

स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽद्वैतिनां मतेऽनुभूत्यन्तरविषयत्वानङ्गीकारात् । प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानन्त्वतद्विषयकत्वेन ब्रह्मयाथात्म्याज्ञानस्यापि न विरोधि किन्तु प्रपञ्चसत्यत्वज्ञानस्यैव ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयतयैव विरोधस्य सर्वसम्मतत्वात् ।

किञ्च ब्रह्मस्वरूपतिरोधायिकाऽद्वैत्यभिमताऽविद्या किं प्रकाशविरोधिनी न वा? नाद्यस्तदा तयाऽधिष्ठानाप्रकाशेऽध्यासानुपपत्तेः स्वरूपनाशप्रसङ्गाच्च । न द्वितीयः प्रकाशाविरोधे तस्यास्तिरोधायकत्वाभावेन तत्कल्पनावैयर्थ्यात् ।

है तो जब ब्रह्म सृष्टिकाल में थे तो इसके विशेषण सभी पदार्थ सृष्टि के पूर्वकाल में विद्यमान रहते हैं। जब ब्रह्म का स्वभाव है चिदचिद्वैशिष्ट्य तो बिना विशेषण से विशिष्ट का अवस्थान कैसे होगा अतः अन्यथानुपपत्ति लक्षण प्रमाण से चिदचित्पदार्थ का भी अवस्थान अविरुद्ध है, इसलिये जडवर्ग तथा चेतन राशि सभी का अवस्थान होने में कोई क्षति नहीं है।

सर्वेवयमिति हम सभी लोग अर्थात् मै तुम और ये सभी राजालोग उसमें में अर्थात् ईश्वर सर्वान्तर्यामी परमात्मा त्वत्प्रभृतिक ईशितव्य पदार्थ तथा जीव समुदाय ये सभी । अतः परमिति ये सभी वर्तमानकाल से परकाल में रहने वाले हैं अर्थात् इन तीनों की सत्ता जैसे पूर्व काल में थी जैसे वर्तमानकाल में है ऐसे ही भविष्यकाल में भी सत्ता रहेगी । न चैवेत्यादि— हमलोग नहीं होंगे ऐसा नहीं अपितु सर्वदा रहेंगे ही क्योंकि प्रलय करनेवाले तथा सर्वेश्वरपरमात्मा को ही जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानत्व तथा मुक्तपुरुष से उपसृप्यत्व अर्थात् मुक्तपुरुषप्राप्यत्व का शास्त्र में कथन किया गया है । इस प्रकार से श्रुति कहती है "सदेव सोम्येदमग्रे आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "परंज्योतिरुपसंपद्यस्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" हे सोम्य श्वेतकेतु ! यह परिदृश्यमान जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में एक अद्वितीय सत् श्रीराम रूप में ही व्यवस्थित था । यह जीव मोक्षकाल में परज्योति परमात्मा को प्राप्त करके स्वरूप से अभिनिष्पन्न हो जाता है एवं "कर्ता सर्वस्य जगतोभर्तासर्वस्य सर्वगः । संहर्ता कार्यजातस्य श्रीरामः शरणं मम" सपूर्ण स्थावर जंगम जगत् को बनानेवाले तथा स्थितिकाल में सबों का पालन, पोषण करनेवाले एवं प्रलयकाल में सभी कार्यजात को संहार करनेवाले सर्वेश्वर श्रीराम मेरी शरण हो इत्यादि अनेक श्रुति, स्मृति पुराणेतिहास से सिद्ध होता है कि भगवान् अयोध्याधिपति श्रीरामजी सकल जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान हैं। देहनाशानन्तरमित्यादि भाष्यम्—देहनाश के बाद प्रलय में और लोकान्तर के गमन के समय मे इन अमुक्त जीवों के असद्भाव की संभावना नहीं होती है क्योंकि संसारिता का प्रयोजक जो अभुक्त कर्म हैं उसका सद्भावहोने से और कृतप्रणाश अकृताभ्यागमदोष की संभावना होने से मुक्तिकाल में भी "परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन-

किञ्च साऽविद्या परमार्थभूता न वा ? नाद्योऽद्वैतहानेः । नान्त्यो विकल्पासहत्वात् । तथाहि–अपरमार्थरूपा साऽविद्या दृशिरूपा द्रष्ट्री दृश्यरूपा वा ? आद्येऽनवच्छिन्ना सावच्छिन्ना वा ? प्रथमपक्ष आश्रयदृश्यपेक्षया भिन्नाऽभिन्ना वा ? नादिमो दृशिद्वयापत्तेः । नापि चरम आश्रयदृशेः परमार्थत्वेन तदभिन्नाया अस्या दृशेरपारमार्थ्यानापत्तेः । आश्रयदृशेरप्यपरमार्थत्वे तु शून्यवादप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षोऽपि न सावच्छिन्नाया अस्या दृशौ कल्पितत्वेन मूलदोषापेक्षयाऽनवस्थापत्तेः । द्वितीये तृतीये त्वस्याः कल्पितत्वेनानवस्थादोषप्रसङ्गः ।

रूपेणाभिनिष्पद्यते" "स एकधा भवति त्रिधा भवति" परम ज्योतिप्रकाश स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर के स्वस्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है । इत्यादि श्रुति से तथा "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" मदुक्त ज्ञान के प्राप्त्यन्तर मेरे साधर्म्य को प्राप्त किये हुए महापुरुष सर्ग सृष्टि में उत्पन्न नहीं होते हैं तथा प्रलय में दुःख को भी प्राप्त नहीं करते हैं इत्यादि स्मृति से यह सिद्ध होता है कि जीव विनाशभाव को प्राप्त नहीं करते हैं अपितु "तद्विष्णोः परमं पदम्" "देवानां पूरयोध्या" इत्यादि श्रुति स्मृति से प्रमाणित जो भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का नित्य धाम श्रीसाकेत है उस में निरतिशय आनन्दस्वरूप किंकरता को प्राप्त करके अविद्या से मृत्यु को विनष्ट करके विद्या से अमृतभाव को प्राप्त करते हैं यह जो श्रुति का वचन है उसे चरितार्थ करते हुए निवास करते हैं । अर्थात् प्रलयकाल तथा मोक्षकाल में जीवों का उत्पाद विनाश नहीं होता है अपितु मोक्षकाल में मुक्तजीव भगवान् का जो परमधाम साकेत है उसमें जा करके साकेताधिपति की सेवा करते हुए सर्वदा सर्व प्रकार से निरतिशयानन्द का अनुभव करते हैं । एवम् अज्ञान से विमोहित जो जीवराशि उसके अज्ञानान्धकार के अपसारण के लिए श्लोक में जो अहम् त्वम् इमे सर्वे ये जो चार पद हैं उसकी सार्थकता बतलाते हैं "एवमज्ञानविमोहितस्य" इस प्रकारसे तात्विक आत्मा की नित्यता के उपदेश के अवसर में अनन्त कारुणिक भगवान् श्री वासुदेव ने कहा—क्या कहा भाष्यकार उसका स्पष्टीकरण करते हैं—अपने को अहम् इस पद से सर्व प्रत्यक्त्व रूप से अर्थात् अन्तर्यामिता रूप से और त्वं पद से स्व के अभिमुख चेतनान्तररूप से एवम् इमे पद से स्व से पराङ्मुख अनेक चेतनरूप से सर्वे इस पद से एकोपाधि संगृहीत अनेक व्यक्तिरूप से और "वयम्" इस पद से स्व के साथ आत्मरूप से एकवर्गीकृत अनन्तव्यक्तिरूप से कथन करने के कारण जीव का भेद परमात्मा से तथा जीव में भी परस्पर भेद "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां योविदधाति कामान्" (जो नित्यरूप से अभिमत जीवों से नित्य हैं चेतन के भी चेतन हैं, एक

किञ्चास्या अविद्यायाः सदसद्विलक्षणत्वात्मकमनिर्वचनीयत्वमद्वैतिभिरङ्गीकृतं न युक्तं कस्यचिदपि पदार्थस्य सदसद्भिन्नत्वेन प्रतीतेरभावात् । सत्त्वासत्त्वान्यतररूपेणैव सर्वेषां पदार्थानां प्रतीयमानत्वादितिभावः । सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि कालभेदेन देशभेदेन प्रकारभेदेन चास्तिनास्तीति प्रतीत्योर्मिथोविरोधे मानाभावादितियावत् । सद्विलक्षणं किन्तु नामदेवमसद्विलक्षणं किन्तु न सदितिकथने व्याघात एवेत्यनुपपन्नमेवाविद्याया अनिर्वचनीयत्वम् ।

ही अनेक की कामना को पूर्णकरने वाले हैं) इत्यादि श्रुति संमत स्वभाविक भेद का तथा आनन्त्य का कथन किया गया है। अर्थात् परमात्मा से जीव भिन्न है और अनन्त हैं तथा जड वर्ग आकाशादि प्रपञ्च भी परमात्मा से भिन्न है । एवं परमात्मा तो एक हैं जड और जीव ये दोनों परमात्मा के शेष हैं परमात्मा शेषी हैं। एक जीव से दूसरा जीव भिन्न है यह गीता शास्त्र संमत भगवान् का अभिप्रेत मत है। यदि कदा चित् जीव को एक ही मान ले तो बन्ध मोक्ष व्यवस्था सुखित्व दुःखित्व व्यवस्था का उपपादन नहीं हो सकेगा इसलिये जीव नानात्व तथा परमात्मा से जीव का तथा जडवर्ग का भेद एवं परमात्मा के ये दोनों जड चेतन(जीवादि) शेष हैं परमात्मा शेषी स्वतन्त्र नियामक हैं इस विषय का "अहम्, त्वम्, इमे, सर्वे" इत्यादि पदराशि से भगवान् श्रीकृष्ण ने निवेदन किया है।

शंका—ब्रह्मस्वरूप को आच्छादन करनेवाली तथा ब्रह्मज्ञान से निवर्त्य अनिर्वचनीय अविद्या तत्कृत जो भेद तादृशभेद दृष्टि का अवलंबन करके अर्थात् आविद्यक भेद को मान करके अहम्, त्वम्, इमे, सर्वे इत्यादि व्यवहार का उपपादन हो सकता है तब जो आप पारमार्थिक जीवेशादिभेद व्यवहार को मानते हैं उस में क्या कारण है अर्थात् व्यवहार जो परस्पर में भेद विषयक है वह तो आविद्यक भेद से भी लोक सिद्ध व्यवहार संपन्न हो सकता है।

समाधानः—"यः सर्वज्ञ स सर्ववित्" जो परमात्मा सामान्य रूप मे सर्वविषयक ज्ञानवाले हैं वे विशेषरूप से सर्वविषयक ज्ञान वाले है "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकि ज्ञानबलक्रियाच" इस परमात्मा में अनेक प्रकार की शक्ति है तथा स्वाभाविकज्ञान है स्वाभाविक क्रिया भी है इत्यादि श्रुति श्रुत सर्वज्ञतागुणविशिष्ट भगवान् परमेश्वर में अविद्या से जायमान भेद ज्ञान है, यह कहना ठीक नहीं है, जो अल्पप्रज्ञ है उसमें कदाचित् करणापाटवादि दोष से भेद ज्ञान की संभावना हो भी सकती है परन्तु परमात्मा तो सर्वज्ञता गुणविशिष्ट हैं उसमें अविद्या प्रयुक्त भेददृष्टि तो सर्वथा असंभवित है। यदि कदाचित् परमात्मा में भी आविद्यक भेददृष्टि हो तब तो जीव जो अल्पज्ञ है उसमें तथा परमात्मा में क्या भेद होगा ?

अविद्यायां प्रमाणानुपपत्तिस्तु "यदपि चाज्ञानमनादिभावरूपं पदार्थान्तरमागमप्रत्यक्षानुमानबलेन प्रसाध्य तच्छबलितस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमिति कथनं तदपि महाम्भसि निमज्जतः कुशकाशावलम्बनमनुकरोति" इत्यादिना 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १।१।१।) इति प्रथमसूत्रस्यानन्दभाष्ये विस्तरेणास्माभिः प्रपञ्चिता तत्रैवावलोकनीया ।

किञ्चास्या अविद्याया निवर्तकं किम् ? ज्ञानमितिचेत्तत् स्वरूपभूतं तदन्यद् वा ? नाद्यस्तस्य सार्वदिकत्वेनाविद्याया एवासम्भवस्य श्रवणादिवैयर्थ्यस्य च प्रसङ्गात्। द्वितीये ब्रह्मात्मैक्यविषयकमेवान्यविषयकं वा तज्ज्ञानम् ? अन्त्ये ब्रह्मैक्यज्ञानशून्यानां घटादिमात्रज्ञानवतां मुक्तिप्रसङ्गः । आद्ये तत्सत्यमुत मिथ्या ? सत्यत्वेऽद्वैतहानिः ।

परमात्मा में आविद्यक भेद दृष्टि है यह आपका कथन उसी प्रकार का है जैसा कि कोई कहे सूर्य में अन्धकार है इसके समान। "न यत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उस परमात्मा को सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता है, चन्द्रमा तारा प्रभृतिक नहीं प्रकाशित कर सकते हैं तो यह अग्नि तो कहा से प्रकाशित कर सकती है, उस ब्रह्मतत्त्व के प्रकाशित होने पर ही सूर्यादि प्रकाशित होते हैं और ये परिदृश्यमान सभी पदार्थ परमात्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि परेश ब्रह्मतत्त्व श्रीराम विलक्षण ज्ञानात्मक स्वाभाविक प्रकाश से ओतप्रोत हैं तब एतादृश परमात्मा में अन्धकार रूप आविद्यक भेददृष्टि कैसे रह सकती है ? किसी भी प्रकार से नहीं रह सकती है यह अभि प्राय भगवान् भाष्यकार का है, ऐसा प्रतीत होता है ।

किञ्च और भी देखिये सात प्रकार की अनुपपत्ति के जागरुक होने से अद्वैत वादियो से अभिमत जो अविद्या उसका उपपादन नहीं हो सकता है यह अनुद्धर सात प्रकार की निम्नलिखित अनु पपत्तियाँ हैं—प्रथम तो आश्रयानुपपत्ति अर्थात् अविद्या का आश्रय कौन है ? जीव है अथवा ईश्वर है, अथवा जड वर्ग है इत्यादि। अविद्या का तिरोधानानुपपत्ति यह द्वितीय अनुपपत्ति है। स्वरूपानुपपत्ति अर्थात् अविद्या का स्वरूप क्या है इस विषय की अनुपपत्ति यह तृतीय अनुपपत्ति है। अनिर्वचनीयानुपपत्ति अर्थात् अविद्या को अद्वैतवादी शंकरानुयायी लोग अनिर्वचनीय कहते हैं। तदनुपपत्ति यह चतुर्थ अनुपपत्ति है। और पंचम अनुपपत्ति है प्रमाणानुपपत्ति अर्थात अविद्या में प्रमाण क्या है इत्यादि विषयक।

निवर्तकत्वानुपपत्ति अविद्या का निवर्तक अर्थात् विनाशक कौन है, एतद्विषयक अनुपपत्ति यह छठी अनुपपत्ति है। तथा निवृत्त्यनुपपत्ति अविद्या की निवृत्ति का क्या स्वरूप है तद्विषयक

मिथ्यात्वे निवर्त्तकान्तरापेक्षणादनवस्था । नन्वविद्यां नाशयत् तत् स्वयमेव विनश्यति जलमलनाशककतकरजांसीवेतिचेन्न, तादृशानां कतकरजसां जलाधः स्थान एवावस्थानाद् दृष्टान्तासङ्गतेः । किञ्चायमविद्यानिवर्तकज्ञानविनाशः सत्योऽसत्यो वा ? सत्यत्वेऽद्वैतहानिः । असत्यत्वे तदुपादानाविद्याऽस्थानप्रसङ्गः ।

एवमविद्यानिवृत्तिरप्युपपादयितुमशक्या विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अविद्यानिवृत्तिः सत्या किंवा मिथ्या ? आद्ये ब्रह्मरूपा तदन्या वा न प्रथमोऽनादेर्ब्रह्मस्वरूपस्य साध्यत्वासम्भवात् । नापि चरमो भिन्नसत्ताकत्वेन विरोधाभावादनिर्मोक्षप्रसङ्गादद्वैतहानेश्च । अविद्यानिवृत्तेर्मिथ्यात्वपक्षे निवृत्त्युपादानभूताया अविद्याया निवृत्त्या सहावस्थितेरावश्यकतयाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ।

समालोचन, यह सप्तम अनुपपत्ति है । यह उपयुक्त सात प्रकार की जो अनुपपत्ति है वह दुरुद्धर है अर्थात् इसका समाधान किसी प्रकार से नहीं हो सकता है । इसलिये अद्वैतवादी से अंगीकृत जो अविद्या उसका उपपादन करना असंभव ही है । इस अनुपपत्ति सप्तक विशिष्ट अविद्या का उपपादन क्यों नहीं हो सकता है इस बात को भाष्यकार तथाहि इस ग्रन्थ से कहते हैं उसमें भी प्रथम आश्रय का विचार करते हैं तथाहि भ्रम को उत्पन्न करनेवाली जो अविद्या उसका आश्रय अधिष्ठान कौन है ? अर्थात् किस अधिकरण में बैठकर यह अविद्या प्रपञ्च विभ्रम को उत्पन्न करती है ? इन दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प अर्थात् अविद्याका आश्रय जीवात्मा नहीं हो सकता है क्योंकि इस पक्ष में तो अन्योन्याश्रय दोष होता है । क्योंकि "मायाख्यायाः कामधेनो र्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ" "पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः" मायारूप कामधेनु का जीव तथ ईश्वर वत्स है । जीवापेक्षया पूर्वसिद्ध जो अज्ञान उसका आश्रय वा विषय अविद्याजन्य जीव नहीं है" इस संक्षेप शारीरक के वचन से जब अविद्या की सत्ता स्थिर होगी तब तज्जनित जीव की सिद्धि होगी और जब आश्रयरूप जीव सिद्ध होगा तब तदाश्रित अविद्या की सिद्धि होगी तो इस प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष होता है जीव को अविद्या का आश्रय मानने में । अतः अविद्या का आश्रय जीव है यह पक्ष ठीक नहीं है" "आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विभाग चितिरेव केवला" विभागरहित शुद्ध ब्रह्म परमब्रह्म अविद्या का आश्रय तथा विषय है यह संक्षेप शारीरक के अनुसार ब्रह्म अविद्या का आश्रय है जो द्वितीय पक्ष है, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान से बाधित होने वाली जो अविद्या उसका विरोधी एवं प्रकाशात्मक ज्ञान रूप ब्रह्म है तो तादृश विरोधी ब्रह्म में अविद्या किस प्रकार से रह सकती है अर्थात् जब ब्रह्म प्रकाश रूप हैं तो उसमें अन्धकारात्मक अविद्या किस प्रकार से बैठेगी ? अर्थतः सिद्ध होता है कि

ततो न जीवेश्वरयोरभेदः। ननु जीवस्येश्वरत्वं कुतो नाङ्गीक्रियत इति चेत् प्रमाणाभावादिति ब्रूमः। तथाहि न तावज्जीवस्येश्वरत्वसाधने प्रत्यक्षं क्षमं स्वेच्छाविघातदुखादिदर्शनात् स्वात्मनोऽनीश्वरोऽहमित्यनीश्वरत्वेनैवोपलब्धेः। श्रुत्यादिभिः प्रमितेश्वराणामीश्वरप्रतियोगिकभेदोपलब्धिर्नानुपपन्ना। यदीश्वरः स्वात्मा प्रत्यक्षमेव तथोपलभ्येत। इच्छादेर्विघाताद् दुःखादेश्च दर्शनात्तथोलब्ध्यभावादप्रतीतेश्वराणामपि सोपपन्नैव सा। नाप्यनुमानं जीवस्येश्वरत्वे मानमव्यभिचरितलिङ्गाभावात्। प्रत्युतानुमानं जीवेश्वरयोर्भेदमेवमाधयति। तथाहि–ब्रह्म सत्यात्मभिन्नं पदार्थत्वाद्घटवत्। जीव ईश्वरप्रतियोगिकानौपाधिकभेदवान सर्वज्ञताशून्यत्वाद्घटवत्। ईश्वराहम्भावोऽविच्छिन्नानाद्यहम्भावान्तरभिन्नोऽहंभावत्वात् सम्प्रतिपन्नजीवाहम्भाववत्।

ब्रह्म अविद्या के विरोधी होने से अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है। यदि कहें कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है भी तथापि अविद्या का आश्रय होगा क्योंकि ब्रह्म सभी पदार्थ के अधिष्ठान हैं और अध्यस्त पदार्थ अधिष्ठान के बिना नहीं रह सकते हैं। आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि अविद्या ज्ञान स्वरूप मे रहेगी तबतो ज्ञान से वाध्य नहीं होगी क्योंकि जो जिसका आश्रय होता है वह उसका नाशक नहीं होता है। ब्रह्म स्वरूप से भिन्न और ब्रह्म विषयक जो वृत्ति ज्ञान वह अविद्या का विनाशक होता है न कि स्वरूपात्मक ज्ञान विरोधी है, यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा आप माने तब तो ज्ञानात्मक ब्रह्म ज्ञानान्तर के विषय होने से जड होगा अनुभूति स्वरूप ब्रह्म को शंकरानुयायि लोग अनुभूत्यन्तर का विषय नहीं मानते हैं अर्थात् जो ज्ञानान्तर का विषय नहीं होकर अपरोक्ष व्यवहार का विषय होता है उसका नाम हैं स्वप्रकाश लक्षणब्रह्म, यदि कदाचित् ज्ञानान्तर विषय मानें तब तो अनवस्था होगी यतः ज्ञानान्तर भी ज्ञानान्तर का विषय होगा इस प्रकार मे अनवस्था और सिद्धान्त भंगरूप दोष केवलाद्वैतवादी को होगा। इसलिये ज्ञानान्तर वेद्य ब्रह्म को मानने से ब्रह्म में जडत्वापत्ति होगी। जिस तरह से घटादिक पदार्थ ज्ञानविषय होने से जड कहलाता है उसी प्रकार मे ब्रह्म में भी जडत्वापत्ति दोष अनिवार्य हो जायगा।

प्रपञ्च विषयक जो मिथ्यात्व ज्ञान है वह तो प्रपञ्च विषयक है इसलिये ब्रह्म याथात्म्य ज्ञान का विरोधी नहीं हो सकेगा क्योंकि प्रपञ्चविषयक मिथ्यात्व ज्ञान ब्रह्म विषयक याथात्म्यज्ञान का विरोधी कैसे होगा विभिन्न विषयक होने से किन्तु जगत् मिथ्यात्व ज्ञान प्रपञ्च विषयक सत्यत्व ज्ञान का ही विरोधी होगा क्योंकि ज्ञान और अज्ञान को समान विषयकत्व रूप से ही प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव होता है जैसे भूतल धर्मिक घटवत्त ज्ञान का प्रतिबन्धक भूतल धर्मिक घटाभाववत्ता निश्चय ही प्रतिबन्धक होता है न कि

नापि शास्त्रं तथा शास्त्रं त्वनेकशो जीवेश्वरभेदमेव प्रतिपादयति। तच्च 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः।' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।' इत्यादि।

यदीश्वर एव जीवस्तर्हि कथं स्वाभिन्नजीवभोगार्थं दुःखात्मकं जगत् सृजति? कथञ्च सुखात्मकं तन्न सृजति। जीवेश्वरभेदवादिनामस्माकं मते तु सर्वज्ञः परमकारुणिकः सर्वशक्तिमानपि परमेश्वरो जीवानां प्राक्तनशुभकर्मानुसारेण देवमनुष्या-

भूतल धर्मिक घटाभाववत्ता निश्चय जल धर्मिक घटवत्ता ज्ञान का विरोधी होता है, क्या "आत्मा नित्यः अथ अनित्या बुद्धिः" इस ज्ञान द्वय मे कदाचिदपि प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव किसी ने माना है? नहीं एवं "घटवद् भूतलम्" इस बुद्धि का प्रतिबन्धक घटाभाववद् भूतलम् यही निश्चय विरोधी होता है नतु पटाभाववद् भूतलम् यह निश्चय विरोधी होता है, क्योंकि असमान विषयक होने से।

इसी प्रकार प्रकृत मे जगन्निष्ठ मिथ्यात्वज्ञान जगन्निष्ठ सत्यता ज्ञानका ही विरोधी होगा नतु ब्रह्मनिष्ठ याथात्म्य ज्ञान विरोधी होगा इसलिये भाष्यकार ने कहा है जो ज्ञान तथा अज्ञान को एक विषयता रूप से ही विरोध सर्वसंमत है नतु विभिन्न विषयतारूप से अतः केवलाद्वैतवाद का कथन युक्ति युक्त नहीं है, यह सिद्ध होता है ☫।

☫ यहाँ अद्वैतवादी इस कथन से भाष्यकार का शाकर मतानुयायी का अभिप्राय है क्योंकि भाष्यकार भी तो स्वयं विशिष्ट अद्वैत को ही मानते हैं। तथाहि दर्शन शास्त्र में प्रथम तो दो मत है द्वैत तथा अद्वैत। इस में प्रथम जो द्वैत मत है उसके अनुयायी माध्व है। अद्वैत के तीन भेद हैं शब्दाद्वैत, ज्ञानाद्वैत शून्याद्वैत। उसमें शब्दाद्वैतवादी हैं वैयाकरण। शून्याद्वैतवादी हैं माध्यमिक बौद्ध। ज्ञानाद्वैत के दो भेद हैं क्षणिक ज्ञानाद्वैत, नित्यज्ञानाद्वैत, क्षणिक ज्ञानाद्वैत को मानते हैं योगाचार बौद्ध इनके मत में विषय निः सत्त्राह होने पर भी ज्ञान में कल्पित है द्विचन्द्रादि के समान ज्ञाता का आकार विषय है। नित्यज्ञानद्वैतकेतीन भेद हैं विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, केवलद्वैत। उसमें विशिष्टाद्वैतवादी भगवान् बोधायन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी के अनुयायी जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी तथा श्रीरामानुजाचार्यजी हैं ये लोगचिदचिद्विशिष्ट परमेश्वर में अद्वैत मानते हैं। इसमें भी श्रीरामानुजाचार्यजी के मत में ध्येय श्रीलक्ष्मीनारायण हैं ज्ञेय वाल्मिकी रामायण है। जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में ध्येय सकल लोकोत्तर गुण विशिष्ट अयोध्याधिपति परब्रह्म श्रीसीतारामजी हैं और ज्ञेय श्री रामायण। शुद्धाद्वैतवादी श्रीविष्णुस्वामी श्रीवल्लभाचार्यजी हैं, और केवलाद्वैतवादी श्रीशंकराचार्यजी हैं मायावाद के प्रवर्तक। इनके मत में जीवेशादि विभाग सब आविद्यक हैं शुद्ध ब्रह्म मात्र परमार्थिक हैं, इसी केवल ब्रह्म में शुक्तिरज्जु सर्प के समान जड़ का समस्त पदार्थ कल्पित हैं और एक पक्ष है द्वैताद्वैत श्रीनिम्बार्काचार्याभिमत

दिविरमां सृष्टिं तत्संहारञ्च करोतीति नोस्तदोषावसरः । श्रुतिरपि प्राक्तनशुभाशुभकर्मानुसारिणीमेव शुभाशुभसृष्टिं दर्शयति । 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ.४।४।५) इति । उक्तञ्च तथैव वेदान्तदर्शनेऽपि–वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (ब्रह्मसूत्र२।१।३४) उचुश्चैवमेवाचार्यसार्वभौमाः श्रीश्रुतानन्दाचार्याः श्रौतसिद्धान्तबिन्दुनामके प्रबन्धे "त्रिधापि श्रुतौ सर्वविद सर्वशक्तिर्जगत्कारणं जानकीनाथ एव । ततः कापिलं गौतमीयञ्च शैवं च शाक्तं नतान्यन्मतं नानवद्यम् ॥७॥

किञ्च और भी देखिये अज्ञान में दो प्रकार की शक्ति है, एक आवरण शक्ति द्वितीय विक्षेप शक्ति । इसमें आवरण शक्ति से युक्त अविद्या ब्रह्म का जो वास्तविक स्वरूप है उसे आवृत करके विक्षेप शक्ति से ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च तथा जीवेश्वरादि विभाग को अविद्या उत्पन्न करती है । इसमें विक्षेप शक्ति विशिष्ट अविद्या का स्थलान्तर में खण्डन करेंगे । अभी यहाँ आवरण शक्ति युत अविद्या का खण्डन करने के लिये भाष्यकार प्रक्रम करते हैं (द्वितीय किञ्च इस ग्रन्थ से) । ब्रह्म स्वरूप को आवरण करनेवाली केवलाद्वैती के अभिमत जो अविद्या है क्या वह प्रकाश अंशका विरोधी है अथवा नहीं ? अर्थात् ब्रह्म सत् चित् आनन्दात्मक है उसमें से जो यह प्रकाश स्वरूप ज्ञानांश है उसका अविद्या से तिरोधान होता है अथवा नहीं ? इसमें से प्रथमपक्ष जो आवरणांश है तन्मूलक अविद्या का निराकरण करने के लिये कहते हैं किञ्च ब्रह्म स्वरूप इत्यादि । ब्रह्म स्वरूप को आच्छादन करनेवाली केवलाद्वैतवादी के मत प्रसिद्ध जो अविद्या है वह ब्रह्म प्रकाश की विरोधिनी है अथवा नहीं अर्थात् अविद्या प्रकाशांश का आच्छादन करती है अथवा नहीं ? इन दोनों पक्षों में से प्रथम विकल्प आच्छादन करती है वह ठीक नहीं क्योंकि अविद्या से अधिष्ठान रूप आच्छादित हो गया तब अध्यास कैसे होगा क्योंकि अध्यास होने में अधिष्ठान का प्रकाशित होना आवश्यक है । यदि अधिष्ठान का प्रकाश नहीं हुआ तब कैसे अध्यास होगा क्या अप्रकाशमान पुरोवस्थित शुक्ति का में कभी भी किसी को रजत का 'इदम् रजतम्' ऐसा ज्ञान होता है ? नहीं होता है । और ब्रह्म का स्वरूप सदा प्रकाश रूप है तो आच्छादन पक्ष में उस स्वरूप का विनाश भी हो जायगा इसलिये प्रथम पक्ष ठीक नहीं है । और जो द्वितीयपक्ष है वह प्रकाश का विरोधी नहीं है, यह पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि अविद्या प्रकाश का विरोधी नहीं

इनमें से आचार्य भाष्यकारजी का अद्वैतवादी शब्द से श्रीशंकरानुयायी की तरफ संकेत है जिस समय में प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानवाद का आश्रय करके कर्म उपासना भक्ति से विमुख होकर अधोगति की तरफ जा रहे थे, उस समय माघकृष्ण सप्तमी १३५६ विक्रम सम्वत में प्रादुर्भूत हो करके आचार्य श्रीरामानन्दाचार्यजी ने भक्ति को प्रधान करके कर्म उपासना का उद्धार करते हुए सकल प्रजा में भक्ति का शंख नाद करके अधोगति से सभी को बचाया ।

विकारञ्च रामो दयाब्धिस्तथात्वे दयाशून्यतां पक्षपातञ्च नैति । प्रकारे विकारस्तथ चित्रसृष्टौ च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्यकर्म ।८।' ननु कर्मणामेव विषमसृष्टिहेतुत्वे किमर्थ मीश्वरोऽङ्गीक्रियत इति चेत्, न बीजसत्त्वेप्यङ्कुरोत्पादनाय पर्जन्यस्येव सृष्टिहेतून। प्राक्तनकर्मणां सत्त्वेऽपि विषमसृष्ट्यर्थमीश्वरस्यावश्यकत्वात् ।

नन्वस्ति 'मुक्तजीवस्वरूपं ब्रह्माभिन्नं चेतनत्वाद्, ब्रह्मवदि'त्यनुमानं मुक्तजीव-ब्रह्माभेदसाधकमितिचेत्, न विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अत्र पक्षदृष्टान्तयोर्भेदोऽभेदो वा ? नाद्यो बाधात् । नाप्यन्त्यो दृष्टान्तासिद्धेः ।

है तब तो ब्रह्म को आच्छादन करने वाली नहीं हुई तब तादृश अविद्या की कल्पना निरर्थक है क्योंकि प्रयोजन के लिये ही पदार्थ की कल्पना की जाती है । इस अविद्या का प्रयोजन तथा आच्छादकत्व तो है नहीं तब अविद्या का स्वीकार क्यो किया जाय ? "न कुर्यात् निष्फलं कर्म" इस न्याय से ।

किञ्च—और भी देखिये यह जो आपकी अविद्या है वह पारमार्थिक है अथवा अपारमार्थिक है ? (त्रिकाल में भी जो बाधित न हो उसका नाम होता है पारमार्थिक और इससे जो भिन्न है उसका नाम होता है अपारमार्थिक) उसमें से प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यदि अविद्या को पारमार्थिक मानेंगे तब तो द्वैतापत्ति होगी क्योंकि एक पारमार्थिक ब्रह्म हुआ तथा दूसरा पारमार्थिक अविद्या रूप पदार्थ हुआ ऐसा होने से ब्रह्माद्वैत नहीं होता है । द्वितीय पक्ष जो अपारमार्थिक है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अपारमार्थिक जो अविद्या वह ज्ञान (दृग्) स्वरूप है अथवा दृष्टि अर्थात् ज्ञानाश्रय स्वरूप है अथवा दृश्य स्वरूप है अर्थात् स्वरूप है अथवा ज्ञानाश्रय स्वरूप है अथवा ज्ञान विषय स्वरूप है इस प्रकार तीन विकल्प होते हैं इसमें प्रथम पक्ष जो है ज्ञान स्वरूपात्मक वह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि इसमें भी दो विकल्प होते हैं क्या ज्ञान (दृग्) स्वरूप अविद्या अनवच्छिन्न (किसी भी प्रकार से अनवच्छिन्न) है अथवा सावच्छिन्न है प्रकार से युक्त है । इसमें जो प्रथमपक्ष है निरवच्छिन्नत्व उस पक्ष में आश्रय जो दृशि (ज्ञान) तदपेक्षया भिन्न है अथवा अभिन्न हैं ? इसमें यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करें तब तो दो प्रकार के ज्ञान का स्वीकारापत्ति रूप दोष हो जायगा अर्थात् एक ज्ञान तो आधाररूप तथा द्वितीय ज्ञान आधेयरूप सिद्ध हो जायगा । यदि द्वितीय पक्ष का स्वीकार करें अर्थात् आश्रयदृग् अपेक्षया आधेयरूप दृग ज्ञानात्मक अविद्या अभिन्न है तब तो आश्रय स्वरूप जो ज्ञान वह तो पारमार्थिक है उससे अभिन्न जो यह अविद्या उसमें भी पारमार्थिकत्व हो जायगा अर्थात् सिद्धान्त हानि दोष होगा आपलोग "अतोऽन्यदार्तम्" ब्रह्म से जो भिन्न है सभी पदार्थ मिथ्या

निगृहीतानुगृहीतस्य जनस्य निवृत्तेऽपि निग्राह्यत्वे यथा निग्रहानुग्रहकारिणा भूपतिना नैक्यं तथा कर्मबन्धनिर्मुक्तानां मुक्तात्मनामपि न परमात्मनैक्यम् ।

अत एव सूत्रितं वेदान्तदर्शनेऽस्मत्सम्प्रदायाचार्यैर्भगवद्बादरायणैः "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" (४।४।१७) इति । व्याख्यातञ्च तत् तत्प्रशिष्यैर्बोधायनवृत्तिकारैः श्रीपुरुषोत्तमाचार्यापरनामधेयैर्भगवद्बोधायनमहर्षिभिः—"जगद्-

है ऐसा मानते हैं परन्तु आपने तो अभी इस आधेय रूप अविद्यात्मक ज्ञान को आश्रय से अभिन्न मानकर पारमार्थिक मान लिया । इस प्रकार अपारमार्थिकत्व की अनापत्ति अर्थात् पारमार्थिकत्वापत्ति हो जाती है । यदि कदाचित् इस दोष को हटाने के लिये आश्रयात्मक दृक् (ज्ञान) को भी अपारमार्थिक मान लें तब तो शून्यवाद रूप दोष प्रसंग होता है । यदि द्वितीय पक्ष का स्वीकार करें अर्थात् दृक् (ज्ञान) स्वरूपा अविद्या सावच्छिन्ना है इस पक्ष को मान लें तब तो सावच्छिन्न जो यह अविद्या उसके दृक् में कल्पित होने से मूल दोष का अपेक्षा अनवस्था दोष होता है । द्वितीय तृतीय जो पक्ष हैं उसे मानें अर्थात् यह अविद्या दृष्टिरूपा है अथवा दृश्यरूपा है इस पक्ष को मानें तब तो दृष्टि अथवा दृश्यरूप अविद्या के कल्पित होने से अनवस्था दोष की आपत्ति आती है ।

卐 किञ्च—और भी देखिये आपलोग इस अविद्या को सदसद् विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीय मानते हैं अर्थात् न सत् रूप है न वा असत् रूप है किन्तु सत् असत् से विलक्षण है ऐसी मान्यता केवलाद्वैतवादी की है परन्तु यह उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी पदार्थ सद् भिन्नत्व तथा असद् भिन्नत्वरूप से प्रतीत नहीं होता है । (परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः) परस्पर विरुद्ध में प्रकारान्तर नहीं होता है । जैसे घट तथा घटाभाव परस्पर विरोधी है । तो यहाँ घट हो अथवा घटाभाव रहे न तु इस कोटि द्वय से अतिरिक्त कोई भी तृतीय प्रकार होता है इसी प्रकार प्रकृत में चाहे सत् होगा अथवा असत् होगा इससे कोई तृतीय प्रकार की संभावना नहीं हो सकती है इससे सिद्ध होता है कि तृतीय प्रकार

卐 अविद्या सद्रूप नहीं है क्योंकि सत् मानेंगे तो इसका बाध नहीं होगा। जैसे ब्रह्म सत् है अर्थात् त्रिकालाबाध्य है तो उसका बाध नहीं होगा परन्तु बाध तो होता है शुक्ति रजतवत् । यहाँ भी "नेह नानास्ति किञ्चन" "अतोऽन्यदार्तम्" इस ब्रह्म में नाना कोई वस्तु नहीं है । ब्रह्म से भिन्न सभी पदार्थ मिथ्या है इत्यादि श्रुति युक्ति से बाध्यत्व अवगत होता है इसलिये अविद्या सद्रूपा नहीं है तथा असत् रूप अविद्या को कह सकते हैं क्योंकि असत् पदार्थ का अपरोक्ष अवभास नहीं होता है कूर्म रोम शश विषाणवत् । परन्तु यहाँ तो अपरोक्षतया अविद्या प्रतीयमान होती है तथा इसका बाध भी हो जाता है इसलिये अन्यथानुपपत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है कि अविद्या सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है ।

व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा ।" (बोधायनवृत्तिः ४।४।१७)इति तस्मान्न मुक्तावपि सर्वेश्वरस्यमात्मनः । जीवेश्वरभेद इव सर्वेषामात्मनां परस्परञ्चापि भेद एवास्ति ।

ननु प्रमाणप्रतिपन्नमेवार्थमङ्गीकुर्वन्ति प्रामाणिकाः प्रतिशरीरमात्मभेदस्वीकर्तुमशक्यः प्रमाणाभावात् । तथाहि न तावद् बाह्यं प्रत्यक्षमात्मभेदसाधकं तस्यात्मप्रकाशनसामर्थ्याभावात् । नाप्यान्तरं स्वात्मप्रकाशनसमर्थस्यापि तस्य परात्मप्रकाशनसामर्थ्याभावात् ।

नहीं है । सभी पदार्थ सत्व अथवा असत्व अन्यतर रूप से ही प्रतीयमान होता है यह अभिप्राय है । सभी पदार्थों में काल भेद से देशभेद से प्रकार (विशेषण) के भेद से अस्ति नास्ति इन दोनों प्रकार की प्रतीति में परस्पर विरोध होने में कोई प्रमाण नहीं है Ψ। एवं सद्विलक्षण है किन्तु असत् नहीं है एवम् असद्विलक्षण है किन्तु सत् नहीं है इस कथन में व्याघात दोष होता है अर्थात् जब जो वस्तु सद् विलक्षण है तब अर्थत. सिद्ध होता है कि असत् है एवं जब जो असद् विलक्षण है तब अर्थतः सिद्ध होता है कि सत् है इस स्थिति मे आप जो कहते हैं कि सद्विलक्षण है और असत् नहीं है एवम् असद्विक्षण है और सत् नहीं है यह कथन तो माता वन्ध्या के समान केवल उपहासास्पद हो रहा है । इसलिये अविद्या में सदसद्विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीयत्व है यह कथन युक्ति युक्त नहीं है किन्तु ज्ञान प्रागभाव ज्ञान प्रध्वंस में ही अविद्या शब्द व्यवहार युक्त है, इसलिये अविद्या अपारमार्थिक है यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि अभाव भी एक पदार्थ है अलीक नहीं है ।

अविद्या में प्रमाण की अनुपपत्ति तो "अज्ञान अनादिभावरूप पदार्थान्तर है" इस बात को आगम प्रत्यक्ष अनुमानादि के बल से सिद्ध करके तादृश अज्ञान शबलित ब्रह्म में जगत् के प्रति उपादानकारणता है यह जो कथन है वह महा समुद्र में डूबते हुए को कुशकाश का अवलंबन न्याय का अनुकरण कराता है, इत्यादि ग्रंथ से "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" इस प्रथम सूत्र के आनन्दभाष्य में विस्तार पूर्वक मैं ने निरूपण किया है इसलिये उसी प्रकरण में इस विषय को देखें ॥

Ψयहाँ यह अभिप्राय है कि एक ही कोई पदार्थ है जिसमें कालभेद से विरोधीधर्म रहता है जैसे एक ही देवदत्त में बालत्व वृद्धत्व रहता है । कुमारकाल मे बालत्व तथा वृद्धावस्था में वृद्धत्व एवं देशभेद से भी गुर्जरीयत्व उत्तरप्रदेशीयत्व विरुद्धधर्म रहता है, यथा वा प्रकार से भी विरुद्ध धर्म रहता है। एक ही देवदत्त पिता की अपेक्षा से पुत्र कहलाता है । किसी अपेक्षा से श्यालक कहलाता है । इसी प्रकार से सत्यत्व मिथ्यात्व एक में समाविष्ट हो सकता है । इसमें आपको क्या क्षति है ? यथा वा जैन मत में एक ही घट स्वदेश स्वकाल स्वभावापेक्षया नित्य भी है अनित्य भी माना जाता है घट घटत्वापेक्षया अनित्य है द्रव्यापेक्षया नित्य कहलाता है इत्यादिक उदाहरण देखना चाहिये

नाप्यनुमानं प्रतिशरीरमात्मभेदं साध्नोति, लिङ्गाभावात् । सुखदुःखप्रतिसन्धानाप्रतिसन्धानेनात्मभेदोऽप्युपाधिभेदादुपपद्येते ।

और भी देखिये यह जो भवत् कपोल कल्पित अविद्या है इस अविद्या का निवर्तक प्रमाण क्या है अर्थात् किस प्रमाण के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होती है ? यदि कहें कि अविद्या का निवर्तक ज्ञान है तो क्या ब्रह्म स्वरूप जो ज्ञान वह निवर्तक है अविद्या का अथवा तदतिरिक्तज्ञान अविद्या का निवर्तक है ? इसमें तो प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि स्वरूपात्मक ब्रह्म ज्ञान तो सर्वदा रहने वाला है, उस ज्ञान से अविद्या का विनाश मानेंगे तब तो अविद्या का भास असम्भव ही हो जायगा और यदि स्वरूप ज्ञान से अविद्या बाधित हो तो अविद्या को हटाने के लियेजो श्रवण मनन निदिध्यासन का शास्त्र में उपदेश किया है वह निरर्थक हो जायगा अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन के बाद ब्रह्म साक्षात्कार होता है तब उस साक्षात्कारात्मक ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति को मानते हैं एतादृश अविद्या की निवृत्ति तो ज्ञानरूप ब्रह्म से ही हो जायगी तब अविद्या का निवर्तक जो साक्षात्कार तदुपयोगी श्रवणादिक में प्रवृत्ति की क्या आवश्यकता है इस प्रकार श्रवणादि का विधान निरर्थक हो जाता है [1] यदि आप ब्रह्म स्वरूप से भिन्न ज्ञानको अविद्या का निवर्तक मानें तो वह ज्ञान किमाकारक है क्या जीव ब्रह्म की एकता विषयक ज्ञान आविद्या का निवर्तक है अथवा तदन्य विषयक ज्ञान अविद्या का निवर्तक है इसमें से जो द्वितीय अन्य विषयक ज्ञान को अविद्या का निवर्तक माने तो ठीक नहीं है क्योंकि तब तो ब्रह्म जीव का जो एकता विषय ज्ञान शून्य व्यक्ति को घटादि विषयक ज्ञानमात्र से मोक्ष प्राप्ति हो जायगी क्योंकि आप अविद्या विनाश को ही मोक्ष कहते हैं । आपके वार्तिककार ने कहा है—अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः'' अविद्या का जो विनाश उसका नाम है मोक्ष और अविद्या बन्धरूपा एतादृश अविद्याध्वंस रूप जो मोक्ष है वह घटादि ज्ञानमात्र से ही सिद्ध हो जायगा। इष्टापत्ति नहीं कह सकते हैं क्योंकि अनुभव विरोध है और "तमेवविदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' "तरति शोकमात्मवित्" "ज्ञात्वादेवंमुच्यते

---

[1] जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र प्रकाशित सर्व पदार्थ का प्रकाशक होता है किन्तु तीक्ष्ण उष्णता शील होने पर भी किसी भी पदार्थ का दाहक नहीं होता है इसी प्रकार से ज्ञानात्मक भी ब्रह्म अविद्या का विनाशक नहीं होता है क्योंकि वह स्वरूपतः ब्रह्म अविद्यादिसकल जगत् का अधिष्ठान होने से। किन्तु जब वही ब्रह्म परोक्ष व्यावृत्त वृत्ति में प्रतिबिंबित होता है तब वह अविद्यादि सकल जगत का विनाशक होता है जैसे सूर्य का प्रकाश चन्द्रिका के ऊपर आरूढ होता है तुल पिण्डादि दाह्य वस्तु का दाहक होता है इस अभिप्राय को मन में रख करके भगवान् भाष्यकार पूर्वोक्त दृष्टान्त मात्र सिद्ध युक्ति का खण्डन करने के लिये कहते हैं ''द्वितीये ब्रह्म" इत्यादि

नागमोऽप्यात्मभेदसाधको'ऽहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' 'तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्ये-

सर्वपाशैः । भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥" परमात्मा को जानकर के ही जीव मोक्ष को प्राप्त करता है तदन्य दूसरा कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है । आत्मज्ञानी शोकपदवाच्य सकारण संसार को पार कर जाता है । परमप्रकाशस्वरूप परमात्मा को जान करके सर्वबन्धन से छुटकारा पाता है । परमात्मा के दर्शन हो जाने के बाद हृदयग्रन्थि का विनाश हो जाता है और सभी प्रकार का संशय विनष्ट हो जाता है तथा इस जीव का जितना कर्म है वह सब विनष्ट हो जाता है, इत्यादि श्रुति विरोध होने से घटादि ज्ञानका मोक्ष जनकत्व नही मान सकते है । यदि आप प्रथम पक्ष अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य विषयक ज्ञान अविद्या का निवर्तक है, इस प्रथम पक्ष का स्वीकार करें तब मैं पूछता हूं कि जो यह ब्रह्मात्मैक्य विषयक ज्ञान अविद्या का निवर्तक है वह क्या स्वयं सत्य ज्ञानहै अथवा मिथ्या है ? यदि आप इन दो विकल्पो में से प्रथम विकल्प सत्यत्व पक्ष का स्वीकार करें तो वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रथम पक्ष के मानने से अद्वैतहानि होती है, एक सत्य ब्रह्म हुआ और दूसरा अविद्या निवर्तक ब्रह्मात्मैक्य विषयक ज्ञान भी सत्य हुआ इस प्रकार से द्वैत हो जाता है इस प्रकार से अद्वैत की क्षति होती है । यदि कहें कि अविद्या निवर्तक रूप से अभिमत जो ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान ब्रह्म से भिन्न नहीं है किन्तु ब्रह्म स्वरूप ही है इसलिये अद्वैतहानिदोष नहीं होता है ऐसा मानेंगे तो वह भी ठीक नहीं है क्योकि ऐसा मानने से तो ब्रह्म के सार्वदिक होने से सर्वदैव निवर्तक को सर्वदैव अविद्या की निवृत्ति हो जायेगी और अविद्या की निवृत्ति के लिये जो श्रवण मनन निदिध्यासन का विधान किया गया है वह निरर्थक हो जायगा । यदि कदाचित् उपरोक्त दोष को हटाने के लिये द्वितीयपक्ष का अर्थात् अविद्या का निवर्तक ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान मिथ्या है इस द्वितीय पक्ष का स्वीकार करें तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि निवर्तक जो ज्ञान है वह मिथ्या है तब तो उसका भी कोई दुसरा निवर्तक होना चाहिये । नहीं तो निवर्तक ज्ञान का ही अवशेष होनेसे पुनः अद्वैत की हानि होगी । यदि निवर्तकान्तर है, ऐसा कहे तो मै पूछुंगा कि निवर्तक का जो निवर्तक है वह सत्य है कि मिथ्या है ? यदि सत्य है तब पुनः अद्वैत हानि होगी । यदि मिथ्या है तब तो पुनः उसका विनाशक कोई दूसरा होगा इस प्रकार अनवस्था दोष होगा अतः निवर्तक ज्ञान मिथ्या है यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है । (यदि आप कहें कि नाशक की धारा कल्पना करने में अनवस्था होती है इस लिये मै नाश तथा नाशक की धारा नहीं मानता हूं अपितु प्रथम जो नाश है वह अधिष्ठान ब्रह्म स्वरूप ही "अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः"

कमयं हि तत् । विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥" इत्यादि श्रौतस्मार्तवचनानामात्माभेदगोचरत्वादिति चेदत्रोच्यते—सुखित्वदुःखित्वादिवैधर्म्यलिङ्गकेना-

कल्पित जो पदार्थ उसका जो नाश है वह अधिष्ठान स्वरूप है। जैसे अभावाधिकरण का अभाव अधिकरण स्वरूप होता है नैयायिक के मत से। यथा वा रज्जु में कल्पित जो सर्प उसका विनाश वह रज्जुमात्रविशेष हो रहता है इसी तरह से नाश का नाश अथवा कल्पित जगत का विनाश अधिष्ठान ब्रह्म स्वरूप ही है इसलिये अनवस्था दोष नहीं होगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं होगा क्योंकि नाश को अधिष्ठान ब्रह्म स्वरूप मानने से पुनः श्रवणादि विधान में वैयर्थ्य दोष आ जाता है तब तो "भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः" इस न्याय विषयता का अतिक्रमणनहीं कर सकते हैं।

यदि आप कहें कि अविद्या को नाश करनेवाला तत्वज्ञान संपूर्ण जगत् तथा उसका कारण जो अविद्या उसे नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है। जैसे कतकचूर्ण मलिन जल में पडने से जलमल को विनष्ट करके स्वयं भी विनष्ट हो जाता है यथा वा विषविषान्तर को नष्ट करके स्वयं भी विनष्ट हो जाता है उसी तरह से तत्वज्ञान विरोधी अविद्या तथा तत्संस्कार तत्कार्य जगत् को नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जायगा तब अनवस्थारूप वेताल का उदय नहीं होता है। यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ दृष्टान्त जो कतकरज तथा दार्ष्टान्तिक तत्वज्ञान है उस में विषमता है समानता जहाँ रहती है उसी स्थल में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव होता है प्रकृत दृष्टान्त में तो जो कतकचूर्ण है वह जलमल को निनष्ट करके स्वयं तो पानी के नीचे के देश में बैठा ही रहता है विनष्ट नहीं होता है। इसलिये दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक समान नहीं है।

और भी देखिये अविद्या का निवर्तक (विनाशक) जो ज्ञानउसका भी विनाश होता है अद्वैत स्नेह से आप मानते हैं एतादृश ज्ञान का जो विनाश वह स्वयं सत्य है अथवा मिथ्या है? इन दोनों पक्षो में से यदि प्रथम सत्यता पक्ष को मानें अर्थात् ज्ञान का जो विनाश है वह सत्य है तो यह आपका कथन ठीक नही है क्योंकि ज्ञान विनाश को सत्य मानें तब तो ज्ञान विनाशात्मक सत्य एक पदार्थ हुआ तथा सत्यात्मक एक दूसरा पदार्थ ब्रह्मरूप हुआ तब तो परमार्थावस्था में द्वैत हो गया अद्वैत नहीं हो सका और द्वैततो आप को कथमपि इष्ट ही नहीं है। यदि ज्ञान का विनाश असत्य है इस द्वितीय पक्ष को मानें तब द्वैतापत्ति दोष तो हट जाता है इसलिये द्वितीय पक्षका स्वीकार करें तो वह भी ठीक नहीं हैं क्योंकि ज्ञान विनाश तो कार्य है और कार्य स्वोपादान के विना नहीं रहता हैं ऐसा घटादि कार्य मात्र का नियम

नुमानेनात्मनां भेदस्य सिद्धेः। आत्मैक्येऽप्युपाधिभेदात सुखदुःखप्रतिसन्धानाप्रति सन्धाने तूपपादयितुमशक्ये, विकल्पासहत्वात् । तथाहि–उपाधिरत्र शरीरमन्तःकरण

देखने में आता हैं तो प्रकृत में भी ज्ञान विनाशात्मक कार्य का कारण अविद्या का अवस्थान आवश्यक होगा तब तो पुनः द्वैतापत्ति रूप दोष का उद्धार नहीं होता है इस प्रकार से अविद्या का निवर्तक कोई अनुगत पदार्थ सिद्ध नहीं होने से अद्वैतवाद निष्पक्ष रूप से विचारक की गोष्ठी में व्यवस्थित नहीं होने से उपेक्षणीय है ।

जिस तरह अविद्या में प्रमाणादि का समर्थन नहीं हो सका इसी प्रकार अविद्या निवृत्ति (अविद्या विनाश) का उपपादन करना भी अशक्य है अनेक प्रकार के विकल्प होने से तथाहि यह जो अविद्या निवृत्तिहै वह सत्या है अथवा मिथ्या ? यदि सत्या है इस प्रथम पक्ष को मानें तब मैं पूछता हूं कि यदि अविद्या निवृत्ति अधिकरण ब्रह्मरूप है अथवा ब्रह्म से भिन्न है इसमे प्रथम पक्ष ब्रह्म स्वरूप जो है उसे मानें तो वह ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म का जो स्वरूप वह तो अनादि है तो उसमें साध्यत्व असंभवित है अर्थात् अविद्या निवृत्ति को जब ब्रह्मस्वरूप मानते है तब तो ब्रह्म के अनादि होने से कारण साध्य नहीं है अतः तदभिन्न निवृत्ति भी कारण जन्य नहीं होगी जो सादि है वही कारण जन्य होता है । आदि शब्द का अर्थ होता है कारण तादश आदि शब्द वाच्य कारण है जनकतारूप से जिसे वह कहलाता है अर्थात् जन्य पदार्थ, यह निवृत्ति तो ब्रह्म स्वरूप होने से अनादि हुई तब यह किसी कारण से जन्य होगी नहीं तो इस स्थिति में निवृत्ति के लिये शास्त्र में जो श्रवणादि का विधान है वह निरर्थक हो जायगा । चरम पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि विरोध समान सत्ताक में होता है यहाँ तो विभिन्न सत्ताक होने से विरोध है नहीं तब मोक्ष का अभाव हो जायगा और अद्वैत की हानि होती है । यदि अविद्या निवृत्ति को मिथ्या मानें तब तो निवृत्ति का परिणामी उपादान कारण अविद्या को ही मानियेगा क्योंकि कार्यमात्र का उपादान अविद्या है और उपादान कारण का नियम है कि वह कार्य काल में वृत्ती होता है तो यहाँ कार्य है अविद्या निवृत्ति तो निवृत्ति के समय में अविद्या की विद्यमानता होने से अनिर्मोक्षापत्ति रूप दोष वज्रलेपायित होता है ।

इसलिये जीव तथा ईश्वर का अभेद सिद्ध नहीं होता है और जब उन दोनों से अभेद नहीं होता है तब जीवात्मैक्य ज्ञान रूप कारण के अभाव होने में मोक्ष रूप कार्य नहीं हो सकता है । नहीं कहें कि "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" इत्यादि आगम से जीव ब्रह्म की एकता की सिद्धि होती है ऐसा मत कहे? क्योकि आगम प्रमाण से भी जीव ब्रह्म का भेद जिस प्रकार से सिद्ध होता है वह आगे बताऊंगा यदि कहें कि मोक्ष तो नित्य सिद्ध है उसके लिये प्रयत्न करने का नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि

वा ! नाद्यिमः शरीरान्तरावच्छेदेन नानुभूतस्य सुखादेः शरीरान्तरावच्छेदेना प्रति-सन्धानस्य सौभयादिः प्रसिद्धत्वात् । नाप्यन्तिमः केषाञ्चित् कल्पान्तरानुभूतविष-

यदि मोक्ष नित्य हो तो मोक्षाप्ति के लिये जो श्रवण मनन का विधान है वह सब निरर्थक हो जायगा ।

शंका—जब तत्त्वमस्यादि वाक्य से जीव और परमात्मा में अभेद का प्रतिपादन होता है तब आप जीव में ईश्वर तत्त्व को क्यों नहीं मानते हैं इस प्रकार से मैं सुहृद्भाव से पूछता हूं, तो इसका क्या उत्तर है ?

समाधान—मैं व्यसनितया जीव ईश्वर का अभेद मानता हूं ऐसा नहीं किन्तु जीव ईश्वर के अभेद में कोई प्रमाण नहीं है इसलिये अभेद नहीं है यह मैं कहता हूं । तथाहि जीव की ईश्वर स्वरूपता में प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं होता है अर्थात् जीव ईश्वर स्वरूप है इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है क्योंकि स्वेच्छा विघातरूप दु:खादिक जीवमें देखने में आता है अर्थात यदि जीव परमेश्वर स्वरूप हो तब तो ईश्वर के सर्वसमर्थ होने से स्वकीय इच्छा के प्रतिकूल दु:ख जनक कार्य में जीवकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? कोई भी व्यक्ति अपने को दु:ख मिले इसलिए प्रवृत्त होते हुए देखने में नहीं आता है और मैं अनीश्वर हूं, इस प्रकार से सभी प्राणियो की प्रत्यक्षोपलब्धि होती है । यदि जीवपरमेश्वरस्वरूप हो तब तो कोई भी प्राणी अपने अहित जनक कार्य में प्रवृत्त नहीं होगा और सभी को मैं ईश्वर हूं, ऐसा अनुभव होना चाहिये । जैसे मनुष्य अपने को मैं मनुष्य हूं ऐसा अनुभव करता है अत: कहता हूं कि जीव ईश्वर की एकता में प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं है । श्रुत्यादि प्रमाण से प्रमित अर्थात् ज्ञात है ईश्वर जिन्हे ऐसे जो व्यक्ति विशेष हैं उन्हें ईश्वर प्रतियोगिक भेद की उपलब्धि स्व में अनुपपन्न नहीं है अपितु उपपन्न है अर्थात् श्रुत्यादिप्रमाण से अवगत है ईश्वर स्वरूप जिसे उस व्यक्ति को ईश्वर प्रतियोगिक जीवानुयोगिक भेद उपलभ्यमान होता है । "नाहमीश्वर:" मैं ईश्वर नहीं हूं इत्याकारक भेद प्रतीति होती ही है । यदि जीव परमेश्वर स्वरूप हो तब तो सभी व्यक्ति को मैं ईश्वर हूं । इस प्रकारक प्रत्यक्षानुभव होना चाहिये । मैं सुखी हूं मै दु:खी हूं, इत्यादि अनुभव के समान परन्तु "अहंसुखी इसके समान "अहमीश्वर:" इस प्रकार प्रत्यक्षानुभव किसी को नहीं होता है । इच्छादिक का विघात देखने से एवं दुखादि के देखने से तथा उपलब्धि अर्थात् ईश्वर मैं हूं एतादृश उपलब्धि का (प्रत्यक्ष) का अभाव होने से जिस व्यक्ति को ईश्वर का स्वरूप प्रतीत नहीं है उनको भी जीव ईश्वर में भेद की उपलब्धि उपपन्न ही है अर्थात् शास्त्राध्ययन से जिसे विलक्षण प्रतिभा प्राप्त है, जिस व्यक्ति को ईश्वर स्वरूप का ज्ञान है और

यकस्मृतिदर्शनात् । 'तन्मनोऽकुरुत' इति मनःसृष्टिश्रवणान्न कल्पान्तरे तदेवान्तः करणम् ।

जो बिलकुल साधारण व्यक्ति है इन दोनों में से किसी को भी मैं ईश्वर हूं, ऐसा प्रत्यक्षानुभव नहीं होता है प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति को यही अनुभव होता है कि मैं ईश्वर नहीं हूं, ऐसा ही अनुभव होता है। यदि ईश्वर जीव अभिन्न हो तब तो मैं सुखी वा दुःखी हूं, एतादृश अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है इसी प्रकार मै ईश्वर हूं, ऐसा अनुभव प्रत्येक प्राणी को होना चाहिये किन्तु वह तो किसी को नहीं होता है। प्रत्युत सभी प्राणी को मैं ईश्वर नहीं हूं इस प्रकार भेदानुभव ही होता है इसलिये ईश्वर तथा जीव का अभेद प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है प्रत्युतसर्व लोक प्रत्यक्ष ईश्वर जीव का जो भेद उसी को कहता है अतः ईश्वर जीव के अभेद मे प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

न वा अनुमान प्रमाण से जीव परमेश्वर का अभेद सिद्ध होता है क्योंकि तादृश अव्यभिचरित हेतु कोई नहीं है। प्रत्युत अनुमान तो जीव ईश्वर के भेद को ही सिद्ध करता है तथाहि ब्रह्म सत्य जीव से भिन्न है पदार्थ होने से जो जो पदार्थ होता है वह सब जीव भिन्न होता है जैसे जड़ घटादिक। घटादिक जड में पदार्थत्व हेतु रहता हैं तो उसमें चेतन जीव प्रतियोगिक भेद भी है इसी प्रकार पदार्थत्व हेतु ब्रह्म में भी रहता है तो उसमें जीव प्रतियोगिक भेदात्मक साध्य की भी सिद्धि होती है। जैसे गृहीत व्याप्तिक धूम हेतु से पर्वत में वह्नि की सिद्धि होती है। प्रकृत में ईश्वर पक्ष है जीव प्रतियोगिक भेद साध्य है पदार्थत्व हेतु है। जो शक्ति का विषय होता है उसे पदार्थ कहते हैं। नहीं कहें कि ब्रह्म तो "अस्थूलमनणु" इत्यादि श्रुति से सर्व धर्म रहित है तब उस ब्रह्म रूप पक्ष मे पदार्थत्व धर्म नहीं होने से स्वरूपासिद्धि दोष होता है 'हेत्वभाववान् पक्षः' को स्वरूपासिद्धि कहते हैं तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इत्यादि श्रुति से सत्य पद प्रतिपाद्यत्वरूप सत्यत्व धर्म ब्रह्म में है ऐसा सिद्ध होता है और "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः" आनन्द विषयानुभव नित्यत्व प्रभृति धर्म ब्रह्म में रहता है ऐसा पञ्चपादिकाचार्य का वचन है इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म में धर्म है अतः शक्ति विषयत्व रूप पदार्थत्व हेतु का अभाव ब्रह्म में नहीं है इस लिये स्वरूपासिद्धि दोष की शंका निरर्थक है।

यदि कहें कि प्रकृत अनुमान में तो जडत्व उपाधि है जहाँ जहाँ जीव भेद साध्य है घटादिक में उसमें जडत्व है इस प्रकार साध्य व्यापक जडत्व है और हेतु पदार्थत्व ब्रह्मरूप पक्ष में भी है परन्तु ब्रह्म में जडत्व नहीं है ब्रह्म के चेतन होनेसे तो इस प्रकार जडत्व उपाधि है ऐसा कहना

यदुच्यत आत्माभेदवादिभि'र्विगीतानि शरीराणि मयैवात्मवन्ति शरीरत्वात् । सम्प्रतिपन्नमच्छरीरवदि'ति । तन्न वरं विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अत्र मयेति किं

ठीकनहीं क्योंकि साध्य का जडत्व व्यापक नहीं है क्योंकि साध्य जो जीव भेद है वह तो ब्रह्ममें है परन्तु उसमें जडत्व तो नहीं है इसलिये साध्य व्यापकत्व नहीं होने से जडत्व उपाधि प्रकृत में नहीं है । यद्यपि ब्रह्म में जीव प्रतियोगिक भेद रूप साध्य तो अनुमान से सिद्ध नहीं है तब पक्ष को लेकरके साध्यव्यापकत्व को कहना ठीक नहीं है तथापि लोकप्रसिद्धि तथा प्रमाणशेखर आगम के वल से ब्रह्म में जीव प्रतियोगिक भेद का प्रतिपादन किया गया है और जडत्वोपाधि में साध्याव्यापकत्व का कथन किया गया है ।

प्रथम अनुमान से ब्रह्मानुयोगिक जीव प्रतियोगिक भेद को सिद्ध किया । अब जीव में ब्रह्म प्रतियोगिक भेद को सिद्ध करने के लिये द्वितीय अनुमान बतलाते हैं 'जीव' इत्यादि । जीव परमेश्वर प्रतियोगिक अनौपाधिक (स्वाभाविक) भेदवान् है सर्वज्ञतारूप धर्म शून्य होने से घट के सदृश यहाँ जीव पक्ष है ईश्वर प्रतियोगिक भेद साध्य है सर्वज्ञता शून्यत्व हेतु है जहाँ जहाँ सर्वज्ञता रहितत्वरूप हेतु हैं उन सभी स्थलों में ईश्वर प्रतियोगिक साध्य भी रहता है यथा घट में उक्त हेतु है तो उक्त साध्य है इसी प्रकार से यथोक्त हेतु जीव में है तो यहाँ पक्ष धर्मता के वल से ईश्वर प्रतियोगिक भेद अनुपयोगिता सम्बन्ध से सिद्ध होता है । प्रकृत स्थलीय अनुमान में भेद में अनौपाधिकत्व विशेषण देने से सिद्ध साधन दोष नहीं होता है अन्यथा जीव में सोपाधिक भेद तो केवलाद्वैती भी मानते हैं तो सिद्ध साधन दोष हो जाता है । एवम् तृतीय अनुमान भी जीवेश्वर भेद को सिद्ध करता है, ईश्वर का जो अहंभाव है वह अविच्छिन्न आनादि जो अहं भावान्तर उससे भिन्न है अहं भाव होने से । जैसे निश्चित जीव के अहंभाव के समान । इस तृतीय अनुमान से जीवेश्वर का स्वाभाविक भेद सिद्ध होता है । एवं जगत्कर्तृत्वादि अनुमान से भी जीवेश्वर भेद को सिद्ध करना चाहिये । ग्रन्थ विस्तार के भय से भाष्यकार ने अनेक अनुमानान्तर को नहीं बतांया विद्वान् लोग स्वयं विचार कर लें ।

आगम प्रमाण से भी जीव ईश्वर में एकता की सिद्धि नहीं होती है । नहीं कहें कि "तत्त्वमसि" इत्यादि आगम से तो उभय की एकता प्राप्त हो रही हैं तब कैसे कहते हैं कि एकता प्रतिपादक शास्त्र नहीं है ।

समाधान—तत्वमसि इत्यादि स्थल में भाग त्याग लक्षणा से ईश्वर तथा जीव का अभेद श्रुति प्रतिपाद्य है, यह कथन आपका युक्त नहीं है क्योंकि यदि तत् पद को तथा त्वं

यक्तस्मृतिदर्शनात् । 'तन्मनोऽकुरुत' इति मनःसृष्टिश्रवणान्न कल्पान्तरे तदेवान्तः करणम् ।

जो बिलकुल साधारण व्यक्ति है इन दोनों में से किसी को भी मैं ईश्वर हूं, ऐसा प्रत्यक्षानुभव नहीं होता है प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति को यही अनुभव होता है कि मै ईश्वर नहीं हूं, ऐसा ही अनुभव होता है। यदि ईश्वर जीव अभिन्न हो तब तो मैं सुखी या दु:खी हूं, एतादृश अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है इसी प्रकार मैं ईश्वर हूं, ऐसा अनुभव प्रत्येक प्राणी को होना चाहिये किन्तु वह तो किसी को नहीं होता है। प्रत्युत सभी प्राणी को मैं ईश्वर नहीं हूं इस प्रकार भेदानुभव ही होता है इसलिये ईश्वर तथा जीव का अभेद प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है प्रत्युतसर्व लोक प्रत्यक्ष ईश्वर जीव का जो भेद उसी को कहता है अतः ईश्वर जीव के अभेद में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

न वा अनुमान प्रमाण से जीव परमेश्वर का अभेद सिद्ध होता है क्योंकि तादृश अव्यभिचरित हेतु कोई नहीं है। प्रत्युत अनुमान तो जीव ईश्वर के भेद को ही सिद्ध करता है तथाहि ब्रह्म सत्य जीव से भिन्न है पदार्थ होने से जो जो पदार्थ होता है वह सब जीव भिन्न होता है जैसे जड़ घटादिक। घटादिक जड में पदार्थत्व हेतु रहता हैं तो उसमें चेतन जीव प्रतियोगिक भेद भी है इसी प्रकार पदार्थत्व हेतु ब्रह्म में भी रहता है तो उसमें जीव प्रतियोगिक भेदात्मक साध्य की भी सिद्धि होती है। जैसे गृहीत व्याप्तिक धूम हेतु से पर्वत में वह्नि की सिद्धि होती है। प्रकृत में ईश्वर पक्ष है जीव प्रतियोगिक भेद साध्य है पदार्थत्व हेतु है। जो शक्ति का विषय होता है उसे पदार्थ कहते हैं। नहीं कहें कि ब्रह्म तो "अस्थूलमनणु" इत्यादि श्रुति से सर्व धर्म रहित है तब उस ब्रह्म रूप पक्ष में पदार्थत्व धर्म नहीं होने से स्वरूपासिद्धि दोष होता है 'हेत्वभाववान् पक्षः' को स्वरूपासिद्धि कहते हैं तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इत्यादि श्रुति से सत्य पद प्रतिपाद्यत्वरूप सत्यत्व धर्म ब्रह्म में है ऐसा सिद्ध होता है और "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः" आनन्द विषयानुभव नित्यत्व प्रभृति धर्म ब्रह्म में रहता है ऐसा पञ्चपादिकाचार्य का वचन है इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म में धर्म है अतः शक्ति विषयत्व रूप पदार्थत्व हेतु का अभाव ब्रह्म में नहीं है इस लिये स्वरूपासिद्धि दोष की शंका निरर्थक है।

यदि कहे कि प्रकृत अनुमान में तो जडत्व उपाधि है जहाँ जहाँ जीव भेद साध्य है घटादिक में उसमें जडत्व है इस प्रकार साध्य व्यापक जडत्व है और हेतु पदार्थत्व ब्रह्मरूप पक्ष में भी है परन्तु ब्रह्म में जडत्व नहीं है ब्रह्म के चेतन होनेसे तो इस प्रकार जडत्व उपाधि है ऐसा कहना

यदुच्यते आत्माभेदवादिभि'र्विगीतानि शरीराणि मयैवात्मवन्ति शरीरत्वात् । सम्प्रतिपन्नमच्छरीरवदि'ति । तन्न वरं विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अत्र मयेति किं

ठीकनहीं क्योंकि साध्य का जडत्व व्यापक नहीं है क्योंकि साध्य जो जीव भेद है वह तो ब्रह्ममें है परन्तु उसमें जडत्व तो नहीं है इसलिये साध्य व्यापकत्व नहीं होने से जडत्व उपाधि प्रकृत में नहीं है । यद्यपि ब्रह्म में जीव प्रतियोगिक भेद रूप साध्य तो अनुमान से सिद्ध नहीं है तब पक्ष को लेकरके साध्यव्यापकत्व को कहना ठीक नहीं है तथापि लोकप्रसिद्धि तथा प्रमाणशेखर आगम के बल से ब्रह्म में जीव प्रतियोगिक भेद का प्रतिपादन किया गया है और जडत्वोपाधि में साध्यव्यापकत्व का कथन किया गया है ।

प्रथम अनुमान से ब्रह्मानुयोगिक जीवप्रतियोगिक भेद को सिद्ध किया । अब जीव में ब्रह्म प्रतियोगिक भेद को सिद्ध करने के लिये द्वितीय अनुमान बतलाते हैं 'जीव' इत्यादि । जीव परमेश्वर प्रतियोगिक अनौपाधिक (स्वाभाविक) भेदवान् है सर्वज्ञतारूप धर्म शून्य होने से घट के सदृश यहाँ जीव पक्ष है ईश्वर प्रतियोगिक भेद साध्य है सर्वज्ञता शून्यत्व हेतु है जहाँ जहाँ सर्वज्ञता रहितत्वरूप हेतु हैं उन सभी स्थलों में ईश्वर प्रतियोगिक साध्य भी रहता है यथा घट में उक्त हेतु है तो उक्त साध्य है इसी प्रकार से यथोक्त हेतु जीव में है तो यहाँ पक्ष धर्मता के बल से ईश्वर प्रतियोगिक भेद अनुपयोगिता सम्बन्ध से सिद्ध होता है । प्रकृत स्थलीय अनुमान में भेद में अनौपाधिकत्व विशेषण देने से सिद्ध साधन दोष नहीं होता है अन्यथा जीव में सोपाधिक भेद तो केवलाद्वैती भी मानते हैं तो सिद्ध साधन दोष हो जाता है । एवम् तृतीय अनुमान भी जीवेश्वर भेद को सिद्ध करता है, ईश्वर का जो अहंभाव है वह अविच्छिन्न आनादि जो अहं भावान्तर उससे भिन्न है अहं भाव होने से । जैसे निश्चित जीव के अहंभाव के समान । इस तृतीय अनुमान से जीवेश्वर का स्वाभाविक भेद सिद्ध होता है । एवं जगत्कर्तृत्वादि अनुमान से भी जीवेश्वर भेद को सिद्ध करना चाहिये । ग्रन्थ विस्तार के भय से भाष्यकार ने अनेक अनुमानान्तर को नहीं बताया विद्वान् लोग स्वयं विचार कर लें ।

आगम प्रमाण से भी जीव ईश्वर में एकता की सिद्धि नहीं होती है । नहीं कहें कि "तत्त्वमसि" इत्यादि आगम से तो उभय की एकता प्राप्त हो रही हैं तब कैसे कहते हैं कि एकता प्रतिपादक शास्त्र नहीं है ।

समाधान—तत्वमसि इत्यादि स्थल में भाग त्याग लक्षणा से ईश्वर तथा जीव का अभेद श्रुति प्रतिपाद्य है, यह कथन आपका युक्त नहीं है क्योंकि यदि तत् पद को तथा त्वं

विवक्षितम् ? अहमर्थस्तदनुबन्धिनी संविद्वा ? कस्मिंश्चिदपि शरीरेऽहमर्थस्यात्मत्वा-नङ्गीकारात् साध्यवैकल्यं पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वमनात्मवन्तीति प्रतिज्ञाविरोधोऽह-
पदको शुद्ध चेतनत्व प्रवृत्ति निमित्तकत्व माने तो तादृश शाब्द बोध नहीं होगा क्योंकि भिन्न भिन्न प्रवृत्ति निमित्तक शब्द का एक अधिकरण में वृत्तिता का नाम है, सामानाधि-करण्य, इस नियम का विरोध होता है अर्थात् जिस स्थल में उद्देश्यतावच्छेदक तथा विधे-यतावच्छेदक भिन्न धर्म होता है उसी स्थल में अभेदान्वय होता है। जैसे 'नीलो घटः' यहा नील पद लक्षणा द्वारा नीलत्वावच्छिन्न नील गुण विशिष्ट को उपस्थित कराता है और घटपद घटत्वावच्छिन्न को उपस्थित कराता है सबन्ध आकाङ्क्षाभाष्य होता है तब अभेदसम्बन्धेन नीलवान् घटः अथवा तादात्म्य सम्बन्धेन नील विशिष्ट घट का भान होता है। यहाँ उद्देश्यता वच्छेदक घटत्व है और विधेयतावच्छेदक नीलत्व है तब अभेदान्वय बोध होता है 'घटोघटः' इस स्थल में तादात्म्य सम्बन्धेन 'घटवान् घट' है ऐसा बोध नहीं होता है क्योंकि उद्देश्य-तावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक घटत्वरूप अभिन्न है अतः सामानाधिकरण्य प्रतीति नहीं होती है इसी प्रकार से यदि तत् पद से उपस्थित शुद्ध चेतन होगा और त्वम् पद से भी शुद्ध चेतन ही लक्षणा द्वारा उपस्थित होगा तब उद्देश्यतावच्छेदक चेतनत्व विधेयतावच्छेदक भी चेतनत्व हुआ ये दोनों भिन्न नहीं हैं तब तादात्म्य प्रतीति दोनों में नहीं होगी और उभय पद की चैतन्यमात्र में लक्षणा करेंगे तब मध्यमपुरुष का प्रयोग 'असि' पद में अनन्वित हो जायगा। इसलिये श्रुति स्मृति प्रभृतिक प्रमाण की सार्थकता करने के लिये जीव परमेश्वर में स्वरूपतः भेद है। सर्वेश्वर श्रीराम के भूत जड चेतन के अपृथक् सिद्ध होने से सार्वकालिक स्थिति गुरुशिष्यादि व्यवस्था का एवं गुरु का उपदेश तथा बन्धमोक्षादिव्यवस्था को पारमार्थिक मानना ही युक्ततर है। इस प्रकार शास्त्र से एकता की सिद्धि नहीं होती है प्रत्युत शास्त्र तो वस्तुतः जीवेश्वर के पारमार्थिक भेद को ही बतलाता है। तथाहि "जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशम्" जिस समय में यह सेव्यमान स्वापेक्षयाभिन्न परमेश्वर को देखता है तब यह जीव शोक पद वाच्य क्षणभंगुर संसार को अतिक्रमण कर जाता है "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" स्वापेक्षया भिन्न प्रेरयिता अन्तर्यामी को निदिध्यासन विषयता को संपादित करके परमधाम को प्राप्त करता है। "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।" प्रारब्धकर्म के भोगाधिष्ठान शरीर रूप वृक्ष पर भिन्नरूपता को प्राप्त किये हुए दो पक्षी जीव तथा ईश्वर लक्षण बैठे हैं। उन दोनो में से एक जीव पक्षी कर्मफल का भोग करता है और दूसरा सुपर्ण पक्षी फल भोग के बिना ही आनन्दित होते हैं। "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः" विज्ञानमय से भिन्न और

त्वानङ्गीकारेण साध्यवैकल्यासिद्धविशेषणत्वप्रतिज्ञाविरोधाना सत्त्वान्नाप्यन्त्यः ।

यत्तु सर्वोऽप्यात्माऽहमेव चेतनत्वादहमिवेति कथ्यते, तदपि न वरम् अनेनाहमर्थत्वमात्रसाधने सिद्धसाधनात् । स्वतादात्म्यसाधने बाधात् । किञ्च ज्ञानाश्रयत्वरूप

बिज्ञानमयापेक्षाया अन्तर आत्मा आनन्दमय है इत्यादि श्रुतियों से तथा "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" जीवापेक्षयाभिन्न उत्तम पुरुष परमात्मा है इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है कि जीव और ईश्वर भिन्न हैं अर्थात् जीव ईश में स्वाभाविक भेद है ।

पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यक्ष अनुमान आगम प्रमाण द्वारा जीवेश्वर के अभेद का खण्डन करके तथा प्रत्यक्षादि आगमान्त प्रमाण से जीवेश्वर में पारमार्थिक भेद का प्रतिपादन करके युक्तान्तर से भी जीवेशाभेद का खण्डन तथा स्वाभाविक जीवेशभेद का प्रतिपादन करने के लिये प्रकरणान्तर का उत्थान करने के लिए कहते हैं "यदीश्वर एवस्तर्हीत्यादि" यदि आप परमेश्वर ही जीव स्वरूप हैं अर्थात् परमेश्वर औरजीव में अत्यन्ताभेद का स्वीकार किया जाय तब ईश्वर स्व से अभिन्न जो जीवराशि उसके भोग के लिये दुःखात्मक इस सृष्टि को कैसे बनायें, सुखात्मक सृष्टि ही क्यो नहीं बनाते हैं । अर्थात् जीवेश्वर जब एक है तब तो सृष्टि का प्रयोजन ईश्वर को ही है ऐसा कहेंगे तो कोई भी अनुन्मत्त पुरुष अपने दुःखजनक कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है अथवा यदि बनता है तो सुखात्मक सृष्टि को ही बनाये । सृष्टि में विचित्रता कैसे होती है एक को सुखी बनाता है दूसरे को दुःखी बनाता है, इससे वैषम्य नैर्घृण्य दोष भी ईश्वर में होता है इसलिये जीवेश्वर में स्वाभाविक अभेद नहीं है किन्तु भेद ही है ।

शंका–यदि अभेद पक्ष में यह दोष है तो यह दोष तो भेद पक्ष में भी समान ही होता है । इसके समाधान में भाष्यकार कहते हैं "जीवेश्वर भेदवादिनामस्माकमित्यादि" जीवेश्वर में भेद को माननेवाले हमारे मत में तो सर्वज्ञ परमकरुणा शील अकारण सभी के मित्र सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अयोध्यानाथजी प्राणी (सकल जीवराशि) की भवपरम्परा से संचित जो शुभाशुभकर्म अदृष्ट पदवाच्य है तदनुसारेण अर्थात् प्राणी के कर्म भेदापेक्ष हो करके देव, नारक, मनुष्यादि विषम सृष्टि को बनाते हैं और तादृश सृष्टि का संहार भी करते हैं इसलिये पूर्वोक्त दोष का अवसर नहीं प्राप्त होता है । यदि कहें कि कर्मापेक्ष होकर परमेश्वर सृष्टि को बनाते हैं तब तो सृष्टि करने में परमेश्वर की स्वतन्त्रता चली जाती है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सहायक की अपेक्षा करने से भी कर्ता का कर्तृत्व नहीं जाता है, क्या तण्डुलादिसहायक सापेक्ष

एवमन्येऽपि वादिप्रयुक्ता अनुमानप्रयोगा निरसनीया:
नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानामि' त्यादि
श्रुतिविरोधोऽवर्जनीय एव ।

पाचक पाक क्रिया में पाचकत्व नहीं होता है अर्थात् होता ही है। श्रुति प्रमाण भी पूर्व कर्म के अनुसार ही शुभाशुभ सृष्टि को बतलाता है। "पुण्य: पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेनकर्मणा भवति" पुण्य कर्म के द्वारा पुण्य लोक होता है और पाप कर्म के द्वारा पाप लोक स्थावर नरकादि लोक होता हैं। वेदान्त दर्शन ब्रह्म सूत्र में भी इसी प्रकार से विसम सृष्टि का प्रतिपादन किया है "वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति" इस सूत्र में प्रकृत विषय में आनन्द भाष्य व्याख्यान में जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यजी योगीन्द्रजीने भाष्य दीप में तथा मैने भाष्य प्रकाश में तथैव इस सूत्र के जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्यजी कृत श्रीरघुवरीय वृत्ति के विवरण तथा सारबोधिनी में विशेष चर्चा की है अत: विशेषार्थीओ को वहीं देखना चाहिये विस्तार भय से यहां संक्षेप से कहा गया है। आचार्य सार्वभौम श्रतानन्दा चार्यजीने भी श्रौत सिद्धान्त बिन्दु नामक प्रबन्ध में इसी प्रकार से कहा है "त्रिधापि" इत्यादि से। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्री जानकीनाथजी ही उत्तममध्यमाधम जड़ चेतनात्मक जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं और प्राणी के शुभाशुभ कर्म सापेक्ष होकर शुभाशुभ जगत् को बनाते है अत: कपिल मत गौतम मत शैव शक्ति तथा अन्य जैन बौद्धादिक मत में असारता की सिद्धि होती है। विकारात्मक जगत् को बनाते हुए भी दया के समुद्र भगवान् श्रीजानकी नाथ जीवों के ऊपर जो निरूपम दया है उसका परित्याग नहीं करते हैं तब किसी के उपर पक्ष पात कैसे करते हैं ? यत: प्रकार में विकार तथा विचित्र सृष्टि में प्राणियों के पूर्वभव परम्परा से उपार्जित शुभाशुभ कर्म ही कारण है भगवान् तो साधारण कारण हैं जैसे व्रीहि यवादिक की उत्पत्ति में असाधारण तो यवादि का बीज होता है साधारण कारण पृथिवी जलादिक का योग होता है। अत: जीवेश भेदवादी के मत में कोई भी दोष नहीं होता है। विषम सृष्टि में जीव का शुभाशुभ कर्म प्रयोजक है इस विषय को दृढ करने के लिये अग्रिम ग्रन्थ का उत्थान करते हैं—"ननु कर्मणामेवेति"

शंका—यदि कर्म को ही विषम सृष्टि में कारणता मानते हैं तब परमेश्वर को क्यों मानते हैं जगत् सर्जन कार्य तथा उसकी जो विचित्रता है उसका साधक तो कर्म होगा।

समाधान—व्रीहि यवादिक के असाधारण कारण तत्तत् बीज के रहते हुए भी अंकुर के उत्पन्न होने के लिए जिस प्रकार से मेद की आवश्यकता है साधारण कारण रूप से इसी प्रकार

'अहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतौ तु परमात्मशरीरवाचकाना-महमात्मेत्यादिशब्दानां शरीरिणि परमात्मन्येव पर्यवसानम् । 'नेह नानास्ती' त्यादिश्रुतौ तु सर्वस्य ब्रह्मात्मकभिन्नत्वं निषिध्यत इति न काचिदनुपपत्तिः ।

से सृष्टि का कारण जीव का शुभाशुभ प्राक् कालिक कर्म के रहते हुए भी साधारण कारण रूप से परमेश्वर की भी आवश्यकता है ही।

शंका—जीव तथा ईश्वर का जो अभेद उसको सिद्ध करनेवाला अनुमान प्रमाण है तब आप जीव परमेश्वर में भेद किस तरह मान रहे हैं। तथाहि—मुक्त जो जीव स्वरूप वह ब्रह्म से अभिन्न है चेतन होने से शुद्ध ब्रह्म की तरह । यही अनुमान मुक्त जीव तथा ब्रह्म के अभेद का साधक है ।

समाधान—आपका कथन ठीक नहीं है विकल्पासह होने से, तथाहि इस अनुमान में जो पक्ष है और दृष्टान्त है वह भिन्न है अथवा अभिन्न है अर्थात् इस अनुमान में पक्ष है—मुक्त जीव और दृष्टान्त है ब्रह्म तो ये दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं इसमें से प्रथम भेद पक्ष माने तो प्रकृत में बाधरूप दोष होता है क्योंकि साध्याभाववान् पक्ष को बाध कहते हैं। आप मुक्त जीव और ब्रह्म में जब भेद मानते हैं तब मुक्त जीव रूप पक्ष में अभेदात्मक साध्य कैसे रहेगा। अन्तिम पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें दृष्टान्त असिद्ध है प्रकृत अनुमान में दृष्टान्त है ब्रह्म तो इस दृष्टान्त में चेतनत्व हेतु तो है परन्तु साध्य की असंपत्ति है अर्थात् दृष्टान्त ठीक नहीं है । तथाहि एक कोई व्यक्ति राजा से निगृहीत हो करके जेल में पड गया परन्तु राजा ने पश्चात् कृपा करके अनुगृहीत करके जेल से निकाल दिया तब उस व्यक्ति में निगृहीतत्व तथा उसकी निवृत्ति होने पर भी जैसे निग्रहानुग्रह करनेवाला राजा के साथ कारागार मुक्त पुरुष को निग्रहानुग्रह समर्थ राजा के साथ एकता नहीं होती है किन्तु राजा से भेद ही रहता है इसी प्रकार कर्म बन्धन से बद्ध जो जीव उसे ईश्वर कृपा से कर्म बन्धन से छुटकारा होने से मुक्त बनने के बाद निग्रहानुग्रह समर्थ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमात्मा के साथ तादात्म्य नहीं होता है किन्तु तादृश पुरुष के समान भेद ही रहता है ।

प्रश्न—तब तो आपके मत में एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का समर्थन कैसे होगा ?

उत्तर—चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर के ज्ञान होने से ईश्वर विशेषणरूप मुक्तामुक्त जड चेतन सभी का ज्ञान होता है । इस प्रकार से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा समर्थिता होती है अत एव अस्मदीय संप्रदाय के ७ वें आचार्य भगवान् बादरायणजी ने वेदान्त दर्शन में सूत्र बनाया है "भमद्　　　　" इति ।

'तस्यात्मपरदेहेष्वि' त्यादिना तु नात्मनां द्वैतं निषिद्धम् । किन्तु देवादिदेह-वैषम्येऽपि कर्मणा तत्तद्देहविशिष्टा नामात्मनां ज्ञानाकारेण साम्यमेवोक्तम् । स्वदेहेषु च सतो वर्त्तमानस्य जीवात्मनः स्वरूपं यद् विज्ञानमेकप्रकारं स एव परमार्थः । द्वैतिनः

सगुण ब्रह्मोपासना करने वाले व्यक्ति परमेश्वर सायुज्य को प्राप्त करते हैं उन्हें निरव-धिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है अथवा सावग्रह ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है इस सन्देह के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि सावग्रह ऐश्वर्य मिलता है अर्थात् जगत् का जो उत्पत्यादि व्यापार है उस को छोड करके अणिमादिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती हैं मुक्त जीवों को । जगद् व्यापा-रात्मक कार्य तो केवल नित्य सिद्ध परमेश्वर का ही होता है क्योंकि परमेश्वर का प्रकरण है "सदेव सोम्येदमग्रे आसीत्" से प्रक्रम करके "तदैक्षत तत्तेजो ऽसृजत" इससे सिद्ध परमेश्वर ही जगद् व्यापार में अधिकृत है मुक्त जीव नहीं है क्योंकि जीव असन्निहित हैं। भावार्थ यह है कि यदि जीव परमेश्वर से मुक्तावस्था में अत्यन्त अभिन्न हो जाय तब तो जगद् व्यापार में भो अधिकृत होगा परन्तु आचार्य इसका प्रतिपादन नहीं करते हैं इससे सिद्ध होता है कि मुक्त परमेश्वर के साथ अभिन्न नहीं होता है किन्तु उस मुक्तता के समय में भी भेद ही रहता है ।

श्रीबादरायणाचार्यजी के प्रशिष्य श्रीपुरुषोत्तमाचार्य है अपर नाम जिनका ऐसे भग-वान् बोधायन महर्षि ने इस सूत्र का व्याख्यान किया "जगद्व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा" बोधायन वृत्ति ४।४।१७ सूत्र । इसलिये मुक्ति दशा में भी जीवात्मा में सर्वेश्वरत्व सर्वनियन्तृ त्वादिकगुण नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव तथा परमात्मा में जो भेद है वह निरुपाधिक है न कि औपाधिक भेद है ।

जिस प्रकार जीव और परमात्मा में भेद है उसी प्रकार जीवों में भी परस्पर भेद है यदि आत्माभेद को न मानें तो जन्ममरणादि व्यवस्था तथा बन्ध मोक्ष व्यवस्था नहीं होगी । यदि कदाचित् उपाधिभेद से व्यवस्था का उपपादन करें, घटादि उपाधि भेद से आकाश भेद की तरह यह ठीक नहीं क्योंकि उपाधि भेद से भेद कहें तब तो बालावस्थासे युवावस्था में प्राप्त पुरुष में भी "मृतो जातः" यह व्यवहार हो जायगा । तस्मात् उपाधि भेद उपाधेय भेद प्रयोजक नहीं हो सकता है किन्तु परस्पर में स्वभाविक भेद ही उचित है ।

जीवेश्वर में तथा जीवों में परस्पर भेद सिध्यर्थ भाष्यकार अद्वैत मत के उत्थान के लिए आगे का ग्रन्थ चलाते हैं "ननु प्रमाणेत्यादि" जो प्रमाण द्वारा व्यवहार करनेवाले प्रामाणिक व्यक्ति प्रमाणोपस्थापित पादार्थ को ही मानते हैं। प्रत्येक शरीर में आत्म भेद है यह स्वीकार करना अशक्य है क्योंकि शरीर- भेद से आत्मभेद मानने में कोई प्रमाण नहीं है । तथाहि

स्वपरदेहभेदेनाहं ब्राह्मणः स्थूलो गौरोऽयञ्च शूद्रः कृशः श्याम इत्यादिरूपेण वैषम्यद्शिनोऽतथ्यदर्शिनो भ्रान्ताः सन्ति। इति श्लोकार्थः।

किञ्चात्मनां भेदाभावे गुरुशिष्यव्यवस्थाभङ्गोऽपि स्यात्। तदेवम्, शिष्यतया कञ्चनशिक्षणीयमुपलभ्यानुपलभ्य वोपदिशत्याचार्यः? आद्ये स्वस्माद्भिन्नमभिन्नं वा? बाह्य जो चक्षुरादि प्रत्यक्ष वह तो आत्म भेद का साधक नहीं हो सकता है क्योंकि बाह्य प्रत्यक्ष को आत्म के प्रकाशन करने में सामर्थ्य नहीं है।

इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम है प्रत्यक्ष वह दो प्रकार का होता है बाह्य और आभ्यन्तर। उसमें बाह्य प्रत्यक्ष के पाँच भेद हैं चाक्षुष, रासन, घ्राणज, त्वाच तथा श्रावण। बाह्य इन्द्रिय हैं पाँच चक्षु, रसना, घ्राण त्वक्, श्रोत्र। इनका संनिकर्ष भी छ होता है—संयुक्त समवाय संयुक्त समवेत समवाय समवाय समवेत समवाय विशेषण विशेष्य भाव ये छ लौकिक संनिकर्ष हैं और अलौकिक संनिकर्ष सामान्य लक्षण ज्ञानलक्षण तथा योगज ये तीन हैं। इन छ संनिकर्षों में से चक्षु त्वक् मन ये तीन हैं द्रव्य ग्राहक तथा गुण कर्म जाति तदभाव का भी ग्राहक होता है। घ्राण रसना श्रोत्र ये तीन गुण ग्राहक होते हैं।

चाक्षुष प्रत्यक्ष उसी का होता है जिसमें रूपात्मक गुण हो। स्पर्शवान् का ग्रहण होगा त्वचा से तो आत्मा का प्रत्यक्ष चक्षु से हो नहीं सकता है क्योंकि आत्मा रूप रहित है, स्पर्श रहित है इसलिये त्वाच प्रत्यक्ष भी नहीं होगा। आत्मा गुण रूप नहीं है इसलिये रासन घ्राणज श्रावण की तो संभावना ही नहीं है इसी अभिप्राय को लेकरके परमतोपपादन प्रकरण में भाष्यकार कहते हैं— "न तावद् बाह्य प्रत्यक्षमिति"।

न वा आन्तर अर्थात् मानस प्रत्यक्ष कह सकते हैं क्योंकि मन स्वात्म प्रकाशन करने में यद्यपि समर्थ है भी तथापि परकीय आत्मा के प्रकाशन करने में मन में सामर्थ्य नहीं है। अर्थात् देवदत्त का जो मन है वह देवदत्त की आत्मा तथा तादृश आत्मगत जो योग्य गुण सुख दु:खादिक उसी का ग्रहण करता है न कि चैत्र की आत्मा का। अथवा तद्गत सुखदु:खादि का ग्रहण करता है। अन्यथा अन्यात्मा का तथा अन्यात्म गुण का प्रत्यक्ष अन्य से भी गृहीत होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता है। अनुभव विरोध होने से, और जब मन अन्य आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकता है तब तद्गत भेद का तो ग्रहण किस प्रकार कर सकता है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मभेद का ग्रहण होना असंभवित है। न वा अनुमान प्रमाण प्रति शरीर में आत्मभेद का साधक हो सकता है क्योंकि प्रति शरीर में आत्म भेद का साधक

प्रथमे सत्यमसत्यं वा ? नाद्योऽपसिद्धान्तात् । अन्त्ये तु तस्य मिथ्यात्वेनोपलम्भे तस्मा उपदेशासम्भवः । सत्यत्वेनोपलम्भे तु भ्रान्तत्वेनाचार्यत्वहानिराचार्यस्य । अभिन्नत्वपक्षे कथमुपदेशः । अनुपलभ्येति पक्षे तु कस्मा उपदिशति ! एवमात्मभेदानभ्युपगमे बद्धमुक्तव्यवस्थाभङ्गश्च भवेत् ।

अव्यभिचरित हेतु के अभाव होने से सुखदुःख का प्रति सन्धान तथा सुख दुःखादि का अप्रति सन्धान तो उपाधि भेद से आत्मा के भेद पक्ष में भी उपपन्न हो सकता है ।

प्रश्न—यद्यपि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से आत्मभेद की सिद्धि नहीं होती है तथापि आगम प्रमाण से प्रति शरीर में आत्म भेद का साधक होगा इस प्रश्न के उत्तर मे भाष्यकार कहते हैं— "नागमो पीत्यादि" आगम प्रमाण से प्रति शरीर में आत्मभेद सिद्ध होगा ऐसा मत कहें । आगम तो प्रत्युत आत्मा में परस्पर अभेद ही कहनेवाला है तथाहि "अहमेवेदं सर्वम्" परिदृश्यमान सभी पदार्थ आत्म स्वरूप ही है "आत्मैवेदं सर्वद्" परिदृश्यमान सभी पदार्थ आत्म स्वरूप ही है "नेह नानास्ति" इस आत्मा में नाना कोई भी वस्तु नहीं है वह व्यक्ति मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है जो इस आत्मा में भेद को देखता है वह आत्मा स्वकीय परकीय देह में रहते हुए भी एक रूप है । विज्ञानमात्रही एक पारमार्थिक वस्तु है । द्वैत-मानने वाले सभी अतत्वदर्शी है । इत्यादि अनेक श्रौत स्मार्त वचन आत्मा के अभेद प्रतिपादन परक हैं इसलिये आत्मा में अभेद ही है भेद तो मिथ्या है कल्पनामात्र है द्विचन्द्रादि प्रत्यय के समान । इस प्रकार भेद खण्डन पूर्वक अभेद का स्थापन रूप अभेद पक्ष का खण्डन करने के लिये पारमार्थिक भेद की सिद्धि करने के लिये भाष्यकार कहते हैं "अत्रोच्यते" इत्यादि । इस विषय में कहते हैं एक व्यक्ति सुखी है अन्य व्यक्ति दु.खी है इत्यादि जो वैधर्म्य तद्रूप हेतु के द्वारा अर्थात् सुखित्व दुःखित्वात्मक वैधर्म्य लिंग से (अनुमान से) आत्मा का भेद सिद्ध होता है । यदि आत्मा प्रत्येक शरीर मे एक ही हो तब तो एक व्यक्ति सर्वथा सुखी है तथा अन्य व्यक्ति सर्वथा दुःखी होता है कोई समान रूप से सुख दुःख उभय का अनुभव करता है यह जो जगत् की विचित्रता है वह सर्वथा बाधित हो जायगी । यही बाधक है प्रति शरीर में एक आत्मवाद का, आत्म भेद में तो यह दोष नहीं होता है अत: आत्म भेद पक्ष ही समुचित है । यदि आप कहें कि आत्मा को एक मानने पर भी उपाधिभेद से सुख दुःख का प्रतिसन्धान अप्रति सन्धान का उपपादन हो सकता है वह भी आपका कहना ठीक नहीं है क्योंकि विकल्प का सहन न होने से । तथाहि आप उपाधि के भेद से सुखादि प्रति सन्धान अप्रतिसन्धान की व्यवस्था करते हैं तो उपाधि यहाँ किसे मानते हैं शरीर को उपाधि कहते हैं अथवा अन्त. करण को उपाधि कहते हैं ? इसमें से प्रथम पक्ष अर्थात् शरीर उपाधि है यह

ननु प्रतिकल्पं यद्येकस्याप्यात्मनो मुक्तिः स्यात्तदानन्तेष्वतीतेषु कल्पेषु सर्वेऽष्वात्मसु मुक्तेषु सत्स्वनन्तात्मवादेऽपि बद्धमुक्तव्यवस्था कथं भवेदिति चेन्न, नष्टेष्वप्यनन्तेषु घटेषु घटान्तरस्यावस्थितिरिवानन्तेषु जीवेषु मुक्तेषु सत्स्वपि जीवानामान-

पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि शरीरान्तर से अनुभूत जो सुख दुःख उसका प्रति सन्धान शरीरान्तर से नहीं होगा और शरीरान्तर से अनुभूत सुख दुःख का प्रति सन्धान सौभरि प्रभृति अनेक पुण्यशाली महर्षियों को होता था ऐसा शास्त्र में देखने में आया है। (आवस्थ ऋषि तथा जैगीषव्य संवाद में "दश सुमहाकल्पेषु विपरिवर्तमानेन मया" इत्यादि प्रकरण से दशकल्पगत अनुभूत पदार्थ के स्मरण को बतलाया है।) अत: शरीरान्तरानुभूत पदार्थ का स्मरण होना अप्रसिद्ध नहीं है तो यह बात शरीरात्मक उपाधि से नहीं हो सकेगी अत. शरीर को उपाधि नहीं कह सकते हैं न वा द्वितीय पक्ष अर्थात् अन्तः करण उपाधि है यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि किसी व्यक्ति विशेष को कल्पान्तर में अनुभूत विषयक स्मरण कल्पान्तर में होता है इसलिये अन्तः करण को उपाधि मानकर के भी प्रति सन्धान अप्रतिसन्धान का समाधान नहीं होता है।

यदि आप कहें कि शरीर तो विनश्वर उपाधि है परन्तु अन्तः करण तो नित्य उपाधि है तो कल्पान्तर में जो मन के द्वारा अनुभूत विषय है उस का स्मरण कल्पान्तर में हो सकता है क्योंकि मन तो इस कल्प में भी वही है जो कल्पान्तर में अनुभूत किया था, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मन भी नित्य नहीं है "तन्मनोऽकुरुत" इस श्रुति से सिद्ध होता है कि मन उत्पन्न विनाश शील है। अतः कल्पान्तरानुभूत विषयक पदार्थ स्मरण में उपयोगी नहीं हो सकता है। आत्मा की एकता मानने से व्यवहार उपपादित नहीं हो सकता है अतः आत्मा का एकत्ववाद ठीक नहीं है किन्तु भेदवाद ही समुचित है।

"यदुच्यते" इत्यादि। विवादास्पदीभूत जो शरीर समुदाय है वह मुझ से ही आत्मवान् है शरीर होने से, जिस तरह मेरा शरीर है। एतादृश अनुमान से जिन लोगों ने आत्मा का अभेद अनुमान किया और जो लोग सभी शरीर में एक आत्मा को सिद्ध करते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि विकल्पासह होने से, तथाहि साध्य के अन्तर्गत जो 'मया' यह पद है उससे क्या विवक्षित है अहमर्थ अहमित्याकारक पदार्थ विवक्षित है अथवा अहमर्थ विषयक ज्ञान विवक्षित है। इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि किसी भी शरीर मे अहमर्थ को आत्मा नहीं माना गया है अतः साध्य विकलता है एवं पक्ष में अप्रसिद्ध विशेषणता दोष होता है एवम् "मयैव आत्मवन्ति" इस प्रतिज्ञा का विरोध भी है। यदि कदाचित् अहमर्थ को आत्मा रूप से मानें तो अपसिद्धान्त दोष भी होता है। क्योंकि अहमर्थ को कोई आत्मा

न्त्यातिशयाज्जीवान्तरबन्धस्योपपत्तेः । किञ्चैकात्मवादिनापि वक्तव्यमितः पूर्वं मोक्षाभावे को हेतुरिति ? हेतोरनागमनमेवेति चेत्तदेवानेकात्मवादेऽप्यवशिष्टानामात्मनां मोक्षाभावे हेतुतयाऽङ्गीकृतत्वेनोक्तदोषप्रसङ्गः कुतः ? मुक्तौ हेतुस्तु भक्त्यपरपर्यायं

नहीं मानता है । यदि अहमर्थ विषयक संवित् को आत्मा मानें अर्थात् इस पक्ष को स्वीकार करें तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि हम लोग संविद को आत्मा नहीं मानते हैं और साध्य वैकल्य अप्रसिद्ध विशेषणता प्रतिज्ञा विरोधादिक दोष भी होता है इसलिये शरीर भेद से आत्मा का भेद मानना ही समुचित है ।

जो कोई व्यक्ति ऐसा कहते है कि 'सभी आत्मा मैं ही हूं, चेतन होने से मुझ सदृश' इस अनुमान में सर्वोपि आत्मा यह पक्ष है अहमेव यह साध्य है चेतनत्वात् यह हेतु है अहमिव यह दृष्टान्त है इस अनुमान से आत्मा की एकता को सिद्ध करते हैं वह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस अनुमान से अहमर्थत्वमात्र को सिद्ध करते हैं तब तो सिद्ध साधन दोष होता है क्योंकि अहमर्थत्व तो सभी आत्मा में सिद्ध ही है । यदि कहें कि स्वका तादात्म्य सभी आत्मा में सिद्ध करें तब तो प्रत्यक्ष बाध होता है क्योंकि सभी आत्मा किसी एक आत्मा का तादात्म्यापन्न नहीं है । किञ्च और भी देखिये । आपका जो यह चेतनत्व हेतु है वह क्या ज्ञानाश्रयत्वरूप है अथवा चिद्रूपत्व है इसमें यदि ज्ञानाश्रयत्वरूप चेतनत्व का हेतु कहें तब तो स्वपक्ष से असिद्धि दोष है । एवं साधन वैकल्पदोष भी है । यदि चिद्रूपत्व रूप चेतनत्व को हेतु कहें तब तो धर्मात्मक ज्ञान से अनैकान्तिक दोष होता है । इसी प्रकार केवलाद्वैतवादी से प्रयुक्त अनुमानान्तर प्रयोग का भी निराकरण करना चाहिये । आत्मा के अभेद साधक जो कोई अनुमान होंगे उन सभी अनुमानों में "नित्योनित्याना चेतनश्चेतनानाम्" नित्यत्वेन अभिमत जितने पदार्थ हैं उन सभी में यह नित्य है तथा सभी चेतनों में यह परमात्मा चेतन है तथा "सर्वे आत्मान: समर्पिताः" सभी आत्मा समर्पित हुइ इत्यादि श्रुति का विरोध तो सभी अनुमानों में होता ही है अर्थात् "नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम" इत्यादि अनेक श्रुति स्वप्रकरणस्थ है जो कि आत्मा के भेद को सिद्ध करते हैं । यदि कदाचित् कोई आत्मा में अभेद माने तो इन श्रुतियों का अर्थात् जो भेद प्रतिपादक श्रुतियाँ हैं उनकी क्या गति होगी अतः आत्मभेद प्रतिपादक श्रुति से अभेदसाधक सभी अनुमानों में बाध-होने से बाधितानुमान से आत्मा का अभेद नहीं सिद्ध हो सकता है । यदि भेद प्रतिपादक श्रुति के अनुरोध से अभेद का निराकरण करते हैं तो अभेद प्रतिपादक श्रुतियों की क्या गति होगी ? इस शंका के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि "अहमेवेदं सर्वमित्यादि" में ही इन सब का स्वरूप हूं, आत्मा ही इन सबका

जगद्गुरुश्रीगङ्गाधराचार्यैं —'रामस्य ब्रह्मणोऽनन्यभक्त्यैव मुक्तिराप्यते । भक्तिध्रुवा स्मृति सा च विवेकादिकसप्तकात् इति ऊचुश्च तथैव भगवन्त श्रीदेवानन्दाचार्य स्वरूप है इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुति में तो परमा मा का शरीर वाचक "अहमात्म" इत्यादि शब्दों का शरीरी जो परमात्मा है । उसी में सबका पर्यवसान है अर्थात् "अह-मात्मा" इत्यादि सभी शब्द शरीरी परमात्मा का बोधक है। एवम् "नेह नानास्ति" इत्यादि श्रुति का परमात्मा में नानात्मक कोई पदार्थ नहीं है ऐसा अर्थ नहीं है किन्तु शरीरी जो परमात्मा उससे भिन्न कोई नहीं है अर्थात् जो कोई जड चेतन पदार्थ है वह परमात्मा स्वरूप से भिन्न नहीं है, सभी जड चेतन परमात्मा के विशेषण होने से विशेष्य परमात्मा स्वरूप ही है इस अंश में तात्पर्य होने से कोई भी अनुपपत्ति नहीं होती है ।

एवम्—"तस्यात्मपरदेहेषु" इत्यादि प्रकरण से आत्मा का जो द्वैत है उसका निरा-करण नहीं किया जाता है, किन्तु देवादि देह को विषमता होने पर भी अनेक जन्म परम्परा से उपार्जित जो शुभाशुभकर्म उसके बलसे प्राप्त जो तत्तत् देह तादृशदेह विशिष्ट सभी आत्मा को ज्ञानाकार से समानता ही है । स्वशरीर में तथा पर शरीर में वर्तमान जो जीवा-त्मा है उसका जो स्वरूप है विज्ञान वह एक प्रकारक है यही परमार्थ है। जो कोई स्वदेह तथा परदेह के भेद से मै ब्राह्मण हूं, मैं स्थूल हूं मैं गौर वर्ण हूं और यह शूद्र है श्याम है कृश है इत्यादि रूप से वैषम्यदर्शी हैं वे लोग अतत्वदर्शी हैं भ्रान्त हैं अर्थात् आत्म ज्ञान एक प्रकार का है यही आत्मस्वरूप है किन्तु देह धर्म ब्राह्मणत्व और गौरत्व शूद्रत्व श्यामत्वादि भेद से जो आत्मा में भेद देखते हैं वे अतत्त्वदर्शी भ्रान्त हैं अतत् में तद्धर्म प्रकारक ज्ञानवान् होने से यह उक्त श्लोक का अर्थ है ।

और भी देखिये यदि आत्मा का अभेद मानें ईश्वर जीव में, तथा जीव में परस्पर भेद को न माने तब तो गुरु शिष्य की जो व्यवस्था है उसका भी भंग हो जायगा । वह इस प्रकार होता है शिष्य रूप से किसी शिक्षणीय व्यक्ति को प्राप्त करके अथवा प्राप्त किये विना ही आचार्य उसे उपदेश देते हैं ! उपदेश समुपस्थित जिज्ञासु को लक्ष्यकर के ही होता है ऐसी लोक स्थिति है । इससे मैं पूछता हूं कि शिक्षणीय व्यक्ती को प्राप्त करके उपदेश देते हैं इस प्रथम पक्ष में पूछता हूं कि जो यह आचार्य शिक्षणीय व्यक्ति को प्राप्त करके उपदेश देते हैं वह शिक्षणीय व्यक्ति आचार्य से भिन्न है अथवा अभिन्न है । इसमें जो प्रथम पक्ष है स्वभिन्नत्व उसमें भी स्वभिन्न जो है शिष्य वह सत्य है अथवा असत्य है

चरणा अपि "त्वदीया स्मृतिस्तारिका मृत्युमिन्धोस्तथा विस्मृतिः पातिका तत्र चैत्र। परं योगिनां हार्दमालम्बनं त्वां श्रये राघवं सच्चिदानन्दरूपम् ॥" इति ।

उसमें यदि सत्य कहें तो अपसिद्धान्त होता है क्योंकि आपका तो सिद्धान्त है, जो आत्मभेद असत्य है । यदि असत्यरूप द्वितीय पक्षमानें तब तो वह शिष्य मिथ्यात्वरूप से उपलब्ध होने से उसे उपदेश देना असं- भव है यदि सत्य रूप से उसे उपदेष्टव्य को आचार्य जानता है यह कहें तब तो आचार्य के भ्रान्त होने से उस आचार्य में आचार्यत्व की हानि होगी । अभिन्नत्वपक्ष को माने तब उपदेश किस प्रकार से होगा । अनुपलभ्य पक्ष में तो उपदेश सर्वथा असंभवित है जब कोई शिष्य ही नहीं मिला तो उप- देश किसे किया जायगा इसलिये आत्मा का अभेदपक्ष युक्त नहीं है, भेद पक्ष ही सर्वशास्त्र संमत है ।

एवम् आत्मा का भेद नहीं मानें तब बन्धमुक्त व्यवस्था का भी भंग रूप दोष होगा। तथाहि यदि आत्मा का परस्पर भेद नहीं मानें तब शुकादि ऋषि मुक्त हुए और हम-लोग बद्ध हैं इस प्रकार की जो व्यवस्था है उसकी उपपत्ति कैसे होगी ?

यदि प्रत्येक कल्प में एक भी आत्मा की मुक्ति होगी तब अनन्त कल्पों में सभी आत्मा के मुक्त हो जाने से अनेक जीवात्मवाद पक्ष में भी तो किस प्रकार बद्ध मुक्त की व्यवस्था उपपन्ना होगी ?

समाधान—जिस प्रकार अनन्त घटपटादि व्यक्ति के विनाश होने पर भी घटान्तर का अवस्थान देखने में आता है इसी प्रकार अनन्त जीव के मुक्त होने पर जीवानन्त्य के अतिशय से जीवान्तर का बन्धन हो सकता है जैसे—जैन के मत में संख्यात असं- ख्यात अनन्त यह सीमित संख्यावाचक शब्द हैं । इस प्रकार हमारे मत में अनन्त शब्द सीमित संख्या में परिभाषित नहीं है किन्तु न अन्तो विद्यते यस्य इस प्रकार से अपरिसीमित संख्या का वाचक है इसलिये आत्मभेद पक्ष में बद्ध मुक्त व्यवस्था में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होती है ।

और भी देखिये—एकात्मवादी के मत में भी अमुक आत्मा का इससे पहले मोक्ष नहीं हुआ है इसका कारण क्या है ऐसा वक्तव्य होगा ? यदि एकात्मवादी इस शंका के उत्तर में कहें कि ईससे पूर्व में मोक्ष का जो कारण समुदाय है वह नहीं आया इसलिये कारणाभाव में मोक्ष रूप कार्य नहीं हुआ हैं तो मैं भी कहता हूं कि अनेकात्मवादी के मत में भी मुक्तेतर अव-शिष्ट आत्मा को भी मोक्ष का कारण समवधान नहीं हुआ इसलिये मोक्ष नहीं मिला है अतः भवदुक्त दोष का अवसर नहीं है । मोक्ष में कारण तो भक्ति है अपर नाम जिसका ऐसा जो तैल धारा के समान अविच्छिन्न भगवत् स्मृति सन्तान रूपा अनन्या भक्ति ही यथोक्तरूप

ननु सर्वेषामात्मत्वेन समत्वेऽपि हनुमदादयो नित्यमुक्ता नापर इत्यत्र किं नियामकमिति चेद्, अत्रोच्यते ईश्वरस्येव संसारिता प्रयोजकानां कर्मणामत्यन्ताभाव एव हनुमदादीनां नित्यमुक्तानां नित्यमुक्तत्वे नियामकमपरेषां तदभावान्नतत्त्वमिति ॥१२॥

मोक्ष कारण है नतु ज्ञानमात्र अथवा क्रिया मात्र मोक्ष का कारण है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्यमेवं विधोद्रष्टुं दृष्टावानसि मां यथा।" भक्त्यात्वनन्यया लभ्य:" मैं वेदाध्ययन दान तपस्या से प्राप्त नहीं होता हूं किन्तु अनन्या यथोक्तरूपा भक्ति मात्र से प्राप्त होता हूं। अतः भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष में अनन्या भक्ति ही कारण है तो यह मोक्ष का कारणभक्ति जिस जीव को भगवत् कृपा से प्राप्त होगई वह मुक्त हो गया जिसे प्राप्त होगी वह भविष्यत् काल में मुक्त होगा। साधन दीपिका नामक ग्रन्थ में आचार्य वर्य जगद्गुरु श्रीगंगाधराचार्यजी ने इसी प्रकार से भगवद् भक्ति को मोक्ष कारणरूप से निर्वचन किया है रामस्येत्यादि प्रकरण में। परमात्म परब्रह्म भगवान् श्रीराचन्द्र की जो अनन्या भक्ति है उसी से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। ध्रुवा स्मृति ही भक्ति है। वह ध्रुवा स्मृति रूप भक्ति विवेक विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद, अनुद्धर्ष इन सात कारणों से प्राप्त होती है, इनका विशेष विवेचन जगद्गुरु श्रीगंगाधराचार्य प्रणीत साधनदीपिका कीटीका प्रकाश में किया हूं अतः वहीं देखें।

इसी प्रकार श्रीदेवानन्दाचार्यजी ने भी कहा है "हे भगवन्! आपका जो स्मरण है वह जीवों को मृत्यु सागर से उद्धार करने वाला है और आपका जो विस्मरण है वह मृत्यु समुद्र में गिरानेवाला है अत: योगीजन के हृदयनिवासी भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकार के आश्रय में अपने को समर्पित करता हूं। यहाँ आचार्यजीने अन्वय व्यतिरेक द्वारा भगवद् भक्ति को ही मोक्ष कारणता के रूप में अभिव्यक्त किया है।इति।

शंका—जब सभी जीवात्मा आत्मत्व रूप से समान है तब हनुमान् प्रभृति नित्य मुक्त हैं तदन्य जीव नित्य मुक्त नहीं हैं इसमें नियामक क्या है?

समाधान—जिस प्रकार ईश्वर में सांसारिकता का प्रयोजक कर्म नहीं होने से परमात्मा में संसार का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि संसार का कारण जो कर्म वह परमात्मा में नहीं है, अतः परमात्मा नित्य मुक्त ही हैं इसी प्रकार सांसारिकता प्रयोजक जो कर्म उसके अभाव होने से श्रीहनुमान् प्रभृतिक जीव नित्य मुक्त हैं। जहाँ कारण रहता है वहीं कार्य होता है। श्रीहनुमान् प्रभृतिक में संसार कारण कर्म के नहीं रहने से कर्म कार्य संसार नहीं है यही नित्य मुक्तता का नियामक है और जीव में कर्म संसार कारण विद्यमान है वह बद्ध है। संक्षेप में

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

नन्वात्मनः कूटस्थत्वेन नित्यत्वाद्देहान्तरगतिरनुपपन्नेत्याशंकायामाह देहिन **इति अस्मिन् स्थूल देहेऽवस्थितस्य वस्तुतो निर्लेपस्य देहिनो यथा कौमारं** कुमारावस्थ

यह सिद्ध होता है कि कर्म तथा कर्माभाव यही सांसारिकता तथा नित्य मुक्तता का प्रयोजक है ॥१२॥

इससे पूर्व श्लोक में आत्मा में अशोच्यत्व को सिद्ध करने के लिये आत्मा में नित्यत्व को सिद्ध किया गया। अब प्रश्न होता है कि यदि आत्मा नित्य है तो उसमें जन्म जरा मरणादि का व्यवहार कैसे होगा इस विषय को बतलाने के लिये भाष्यकार पूर्व पक्ष करते हैं—"नन्वात्मनः कूटस्थत्वेनेत्यादि"

आत्मा कूटस्थ होने से जब नित्य है तब देहान्तर में गमना गमन कैसे होगा के उत्तर में कहते हैं "देहिनः" इत्यादि। वर्तमान स्थूल इस देह में अवस्थित वस्तुतः सकल मल रहित इस देह विशिष्ट जीवात्मा को उसी एक शरीर में प्रथमतः कुमारावस्था होती है तदनन्तर उसी देह में यौवन अर्थात् युवावस्था आती है उस युवावस्था के बाद में जरा जठरावस्था आती है अर्थात् एक ही देह में परस्पर विरुद्ध अवस्थायें आती हैं परन्तु स्वरूपतः विकार रहित आत्मा उन सर्वावस्थाओं का अनुभव करती है तथा उसी प्रकार से देहान्तर की प्राप्ति पूर्व शरीर को छोड़ करके उत्तर शरीर की प्राप्ति होती है तत्र तादृश अर्थ में धीर अर्थात् समीचीन रूप से आगमार्थ को जाननेवाले विद्वान् मोह को प्राप्त नहीं करते हैं अर्थात् शरीर स्थित सभी अवस्था का अनुसन्धान करने वाला देही अवस्था के आवागमन से दुःखी नहीं होता है, इसी प्रकार स्थिर जीवात्मा को स्वकर्म का फल स्वरूप एक देह से देहान्तर प्राप्ति में भी देह को आगमापायी तथा आत्मा को नित्य समझ करके न देह के लिये न वा देही के लिये शोक करता है। यद्यपि यहाँ सर्वावस्था में एक ही आत्मा की स्थायिता कहने से एकात्मवाद गीता संमत है ऐसा प्रतीत सा होता है। एक ही आत्मा जैसे प्रत्येक अवस्था में अनुस्यूत है तद्वत् भिन्न भिन्न सर्व शरीर में भी एक ही आत्मा है तथापि सर्वशरीरवर्ती एकात्मवाद गीताचार्य के अभिप्राय से विरुद्ध होने से अत्यंत ही अनादरणीय है। तथाहि "येमेमतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः" "बहवो ज्ञानतपसा-पूतामद्भावमागताः" "येषां त्वन्तगतं पापम्" "महात्मनस्तु मां पार्थ" इत्यादि अनेक वचन से भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेकात्मवाद का ही समर्थन किया है। अतः एकात्मवाद कथमपि मोक्षा-भिलाषी के लिये हिताव्ह नहीं है।

यौवनं युवावस्था जरा जरठावस्था यथा भवति स्वरूपेणाधिकृतवर्तमानेनात्मना सर्वावस्था अनुभूयन्ते तथा तेनैव प्रकारेण देहान्तरप्राप्तिः पूर्वशरीरमुत्सृज्योत्तरशरीरस्यावाप्तिश्च भवति तत्र तथाविधेऽर्थे धीरः सम्यगागमाध्यवसाययुक्तो न मुह्यति औचित्यं नाप्नोतीत्यर्थः । अत्र देहान्तर प्राप्तिमभिदधता भगवता देहिनोऽणुत्वं स्पष्टमेवोक्तं विभुत्वे देहाद्देहान्तरप्राप्तेरसंभवात् । एतेन जीवविभुत्ववादोऽन्तः करणावच्छिन्न-जीववादश्च प्रत्युक्तो ॥१३॥

यदि कहे कि आत्मा में एकत्व स्वाभानिक है और बहुत्व का जो प्रयोग है वह तो उपाधिकृत है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उपाधि विनिर्मुक्त दशा में भी भगवान् ने बहुत्व का ही प्रतिपादन किया है "एते द्वन्द्वविनिर्मुक्ताः" "ज्ञानेन तु मदज्ञानं येषाम्" "क्षीण कल्मषाः" "छिन्नद्वैधाः" इत्यादि स्थल में भी उपाधि रहित आत्मा में बहुत्व का प्रयोग भगवद् वाक्य में अनेकशः उपलब्ध होता है, इसलिये उपाधिवाद भी अप्रामाणिक है। अत्र देहान्तर प्राप्तिमित्यादि यहाँ एक देह से देहान्तर प्राप्ति कहते हुए भगवान् ने जीवात्मा को अणुत्व परिमाण का वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से कहा हैं। यदि कदाचित् व्यापक मान लें तब तो देहान्तर की प्राप्ति असंगत हो जायगी। अर्थात् जो जीव को व्यापक मानते हैं उनके मत में व्यापक जीव का देह से निष्क्रमण तथा देहान्तर में गमन असंभवित हो जायगा। क्या किसी भी जगह में आकाश का प्रवेश निष्क्रमण होता है? तद्वत् व्यापक जीव का भी प्रवेश निष्क्रमण नहीं होगा और तत्व का कथन करने वाले भगवान् ने तो प्रवेश निष्क्रमण का प्रतिपादन किया है। और भी देखिये यदि व्यापक हो तब तो चैत्रानुभूत पदार्थ का स्मरण देवदत्त को भी हो जायगा। अन्तः करण के भेद से भी व्यवस्था नहीं हो सकती है क्योंकि व्यापक जो जीव है उसे सभी अन्तः करण के साथ सम्बन्ध समानरूप से है। जड तथा अजड का सम्बन्ध नहीं होता है ऐसा मानें तब तो किसी को भी किसी भी वस्तु का अनुभव नहीं होगा। और भी देखिये यह अन्तः करण अणु है अथवा व्यापक है? यदि प्रथम पक्ष मानें तब तो अणु अन्तः कारण से अवच्छिन्न आत्मा भी अणु हो जायगी तथा अपसिद्धान्त भी होगा। क्या अव्यापकीभूत घट से अवच्छिन्न जो आकाश वह क्या व्यापक होता है? यदि ऐसा हो तो घटावच्छिन्न तथा पटावच्छिन्न आकाश में क्या विशेषता रहेगी। द्वितीय पक्ष में तो उपाधि तथा चेतन दोनों के व्यापक होने से उत्क्रान्ति गत्यादि का अभाव हो जायगा। इसलिये श्रुति स्मृति प्रतिपादित तथा श्रीबोधायन सम्मत जीवाणुत्ववाद ही उचित विद्वत्सम्मत है। एतेनेति—एतेन जीव का अणुत्व प्रतिपादित होने से जीव का विभुत्व वाद जीव का अन्त [illegible] जीववाद खण्डित हो जाता है इस विषयपर अधिक विचार जगद्गुरु

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

ननु तथापि बन्धुवधनिमित्तकः शोकस्तु दुष्परिहर इत्यत आह—मात्रास्पर्शा इति । **हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः मीयन्त इति मात्राः शब्दादयो विषयास्तेषां स्पर्शाः सम्बन्धविशेषा अनुभवा इति यावच्छीतोष्णसुखदुःखदाः शीतोष्णादिरूपसुखदुःखदाः सन्ति । आगमापायिनश्च जननविनाश शालिनोऽत एवानित्याः क्षणभङ्गुरा अतो हे भारत ! विवेकबुद्धिकुशल ! तांस्तितिक्षस्व । अनादिकर्मप्रवृत्तसंसारपतितस्य जन्तोः सुखदुःखयोरामुक्तेरनिवार्यत्वा 'तस्य तावदेव चिर' मिति श्रुतेरितिभावः ॥१४॥**

मात्रास्पर्शानां तितिक्षा कार्येत्युक्तस्य फलमाह—यमिति । **हे पुरुषर्षभ ! यं**

श्रीरामानन्दचार्य रघुवराचार्य वेदान्तकेसरी प्रणीत गीतातत्त्वमीमांसा की टीका प्रकाशित में किया है अतः विशेषार्थी वहीं देखें ॥१३॥

यद्यपि आत्मा नित्य है तो तद्विषयक शोक मोहादिक अयुक्त है तथापि पितामह आचार्य तथा बन्धुवध निमित्तक मोह शोक का परिहार तो अशक्य ही है इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं "मात्रा स्पर्शा" इत्यादि । हे कौन्तेय कुन्तीपुत्र ! मात्रा मीयमान अर्थात् अनुभूयमान जो हो उसका नाम है मात्रा अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादिक विषय समुदाय सूक्ष्म तन्मात्रा के कार्य होने से शब्दादिक में मात्रा शब्द वाच्य कहलाते हैं । इन मात्रा शब्दादि का जो स्पर्श अर्थात् श्रोत्र त्वक् चक्षु रसना घ्राणात्मक इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध विशेष अर्थात् शब्दादिक विषयक अनुभव उसका नाम है मात्रा स्पर्श, यह जो मात्रा स्पर्श हैं वह शीतोष्णादि लक्षण सुख दुःख को देनेवाला है । तथा ये सब आगमापायी अर्थात् उत्पादविनाशशील हैं अतएव अनित्य हैं अर्थात् क्षणभंगुर हैं अत एव हे भारत ! हे विवेक बुद्धि कुशल वान् उनशब्दादि को सहन करो अनादिकालिक जो कर्म उससे जायमान संसार में पतित जो प्राणी समुदाय उसे मोक्ष पर्यन्त यह अनिवार्य है । श्रुति कहती है कि उसे तभी तक विलंब है जब तक शरीर सम्बन्ध नहीं छूटता है अर्थात् शब्दादि पदार्थ को अनित्य समझ करके उन शब्दादिक में हर्ष शोकादि से रहित बनो । यह भगवान् का उपदेश है ।१४॥

विषय के सम्बन्ध मे जायमान सुखदुःख को देनेवाला तथा अदृष्टके बल से प्राप्त

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥१६॥

स्ववर्णधर्मपालकं फलाशाम्परित्यज्य कर्म कुर्वाणं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे यस्य तम् । स्वप्रारब्धानुसारेण प्राप्ते सुखे यथा नाधिका प्रीतिस्तथा तथैव प्राप्ते दुःखे नाधिको द्वेष इत्युभयोः साम्यमेव तथा धीरं धियं रात्यादत्तेऽसौ धीरस्तं पुरुषमेते विषया नैव व्यथयन्ति चित्तविकारमुत्पाद्य नैव क्षोभयन्ति स पुरुषोऽमृतत्वाय श्रेयः प्राप्तये कल्पते समर्थो भवति ॥१५॥

इदानीमात्मनो नित्यत्वं देहादेश्च विनाशित्वमुपपादयति--नेति । असतः शरीरस्य भावः सदा विद्यमानत्वम् । नित्यत्वमिति यावत् । न विद्यते । सत आत्मनश्चाभावः कदाचित्कत्वमनित्यत्वमिति यावत् । नविद्यते । उभयोरप्यनयोरात्मशरीरयोर्वर्तमानकाले विद्यमानयोस्तत्त्वदर्शिभिरात्मानात्मविवेकनिपुणैरन्तो निर्णयो दृष्टः । चिद्वस्तुन

है उसका त्याग करना उसका फल बतलाने के लिये कहते हैं "यमित्यादि" हे पुरुषश्रेष्ठ ! जिस स्ववर्ण धर्म प्रतिपालन करने वाले अर्थात् फल विषयक आशा को छोड करके कर्म करने वाले को तथा--सम दु ख सुखवाले समान है सुखदुःख जिन्हें अर्थात् प्रारब्ध कर्म के बल से प्राप्त सुख में जैसे अधिक प्रीति नहीं होती है उसी प्रकार से प्रारब्ध कर्म के बल से संप्राप्त दु.ख में अधिक द्वेष नहीं होता है अर्थात् प्रारब्ध बल प्राप्त सुख दुःख में समानता होती है तथा धीर धी अर्थात् बुद्धि उसे प्राप्त करनेवाला जो पुरुष उसे यह विषय शब्दादि पदार्थ व्यथित नहीं करते हैं अर्थात् ये विषय चित्त विकार को उत्पन्न करके क्षुभित नहीं करते हैं अपने कर्तव्य से पतित नहीं होता है एतादृश पुरुष विशेष अमृतत्व मोक्ष के लिये समर्थ होता है सुखदुःख को प्राप्त करने पर भी जो अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होता है उसीको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति होती है ॥१५॥

इसके पूर्व प्रकरण में "गतासूनगतासूंश्च" यह कहा है, वह कैसे होता है इस बात के उपपादन करने के लिये "नत्वेवाहं जातु नासम्" इत्यादि प्रकरण से देहवान् जीवात्मा को नित्य बतलाया तथा परिणामी होने के कारण शरीर को विनाशी कहा परन्तु किस प्रकार से आत्मा में नित्यत्व है तथा किस प्रकार से देह में विनाशित्व है इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं कि "इदानीमित्यादि': अभी आत्मा में नित्यत्व तथा देहादिक जड पदार्थ में विनाशित्व के उपपादन करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं नासतो विद्यते" इत्यादि । असत् जो देहादिक जड पदार्थ उसका भाव सदा विद्यमानता

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

आत्मनोऽसत्त्वं कदाचिदपि न भवितुमर्हति । शरीरादेरचेतनस्य च सत्त्वं कदाचिदपि नैव भवति । सदसद्रूपयोरात्मदेहयोर्नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामेव सदसच्छब्दाभ्यां व्यपदेश इति भावः ॥१६॥

इदानीमात्मनोऽविनाशित्वमाह--अविनाशीति । तदिदमात्मस्वरूपमविनाशि विनाशवर्जितं विद्धि । येन चेतनभूतेनात्मस्वरूपेणेदं सर्वं दृश्यमानं जगत् ततं व्याप्तमात्मनोऽणुत्वात्सर्वाचिद्वस्तूनामन्तः प्रवेशाद्व्याप्तिरत्राभिप्रेता । अस्याऽव्ययस्यातिसूक्ष्मतया क्षयरहितस्य कश्चिदपि विनाशं कर्तुं नार्हति प्रभुर्नभवतीत्यर्थः ॥१७॥

अर्थात् नित्यत्व नहीं है अर्थात शरीरादि जड पदार्थ नित्य नहीं है तथा सत् जो आत्मा उसका अभाव कदाचित् होना रूप अनि वार्यता नहीं है अर्थात् शरीरादिक जो असत्पदवाच्य है वह नित्य नहीं है तथा सत् शब्दवाच्य जो चेतन आत्मा वह अनित्य नहीं है । वर्तमानकाल में अवस्थित जो आत्मा तथा शरीरादि इन दोनों के अन्त निर्णय को आत्म अनात्म के विवेक में निपुण पण्डितों ने देखा है निश्चय किया है । चिद्वस्तु जो आत्मा उसका असत्व कभी भी नहीं हो सकता है । और शरीरादिक जो अचिद्वस्तु है उसका सत्व कभी भी नहीं हो सकता है । सत् तथा असत् रूप जो आत्मा तथा शरीरादिक हैं उनका सत् असत् शब्द से वाच्य जो नित्यत्व अनित्यत्व रूप है उससे व्यवहार होता है । प्रकृत में आत्मा तथा शरीर में सदसद् वाच्यत्वेन व्यवहार होता है । जिस कारणसे यहाँ अर्जुन को स्वकीय बन्धुजन का जो शरीर तन्नाशमूलखेद उपस्थित है तादृश खेद को हटाने के लिये भगवान् ने आत्मा में नित्यत्व तथा शरीर में अनित्यत्व का उपदेश किया है ॥१६॥

अब आत्मा में अविनाशित्व का उपपादन करने के लिये कहते हैं "अविनाशि" इत्यादि । यह आत्मा वस्तु (आत्मस्वरूप) को अविनाशी अर्थात् विनाश वर्जित है एसा तुम जानो । जिस आत्मस्वरूप से यह अर्थात परिदृश्यमान संपूर्ण जगत् तत अर्थात् व्याप्त है आत्मा अणु होने से सकल अचित् वस्तु के अन्दर में प्रवेश होने से सर्वत्र व्याप्त है । अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण क्षय रहित इस आत्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है । प्रायः सावयव पदार्थ का ही नाश होता है ऐसा देखने में आता है परन्तु यह आत्मतत्व अणु अति सूक्ष्म होने से किसी से भी नष्ट नहीं किया जासकता है ॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

देहानां क्षणभङ्गुरतामाह—अन्तवन्त इति । इमे प्रत्यक्षेणानुभूयमाना देहाः कर्मफलभोगायतनानि शरीराण्यन्तवन्तो विनाशवन्तो नित्यस्योत्पत्तिरहितस्यानाशिनो विनाशरहितस्याप्रमेयस्य प्रमातुमयोग्यस्य प्रमातृतयाऽवस्थितस्य शरीरिण आत्मन उक्ताः श्रुतिस्मृतिषु 'नित्यो नित्यानाम्' अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते । तनु नाशि न सन्देहो नाशिद्व्योपपादितम्' इत्यादिरूपेणाभिहिताः । तस्माद् हे भारत ! विनश्वराणां देहानां नित्यत्वादिमोहमपसार्य युद्धयस्व स्वधर्मपरिपालनरूपं युद्धं कुरु॥१८॥

आत्मनो हन्तृत्वं हन्तव्यत्वञ्च जानानस्याज्ञानित्वमाह य इति । यो नर एनं विलक्षणस्वभावमात्मानं हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारमयमात्माऽस्य हन्तेति वेत्ति । यश्च पुरुष एनमात्मानं हतं मन्यते मयासावात्मा हत इति मन्यते तावुभावपि न

आत्मा में अविनाशित्व का प्रतिपादन करके अब देह में क्षण भंगुरता अर्थात् अनित्यत्व का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "अन्तवन्त" इत्यादि । इमे इस प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभूय मान प्रारब्ध कर्म के बल से प्राप्त कर्म फल सुखदुःख का उपभोग स्थान रूप जो शरीर है वह अन्तवान् है अर्थात् विनाशशील है, किसका यह तो नित्य उत्पत्तिरहित तथा अविनाशी विनाश रहित एवम् अप्रमेय प्रमाविषयता का अयोग्य स्वयं प्रमातारूपसे अवस्थित जो शरीरी आत्मा है, उसका अर्थात् यथोक्त विशेषणयुक्त आत्मा का जो शरीर है वही विनाशी है ऐसा "नित्योनित्यः" इत्यादि श्रुति में पण्डितों ने स्वीकार किया है । इसलिये हेभारत हे अर्जुन ! विनस्वर जो देह है उसके नित्यत्व के मोह को छोड करके युद्ध करो अर्थात् क्षत्रियों के वंशपरम्परा प्राप्त जो स्वधर्म लक्षण युद्ध है उसे परिजन के शरीर में नित्यता का आरोप करके दयापूर्वक को युद्ध से उपरत हुए हो उसे छोडकर के स्वधर्म का पालन करो, देह अनित्य है, यह समझ करके ॥१८॥

जो व्यक्ति विशेष आत्मा को हन्ता अर्थात् हनन नररूप क्रियाका कर्ता समझते हैं तथा जो आत्मा को हनन क्रिया का कर्म रूप समझते हैं वे अज्ञानी हैं इन बातको बतलाने के लिये कहते हैं "य एनमित्यादि" जो व्यक्ति इसे अर्थात् विलक्षण स्वभाववाला आत्मा को हन्ता समझते हैं अर्थात् हनन क्रिया का कर्ता यह आत्मा इसे मारनेवाला है ऐसा जानते

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

विजानीत आत्मस्वरूपपरिज्ञानहीनावित्यर्थः । यस्मान्नायं कमप्यात्मानं हन्ति न चासावात्मा केनचिद्धन्यते । नायमात्मा हननक्रियायाः कर्तृत्वं भजते न वा कर्मत्वमिति तात्पर्यम् ॥१९॥

अस्यात्मनो हननक्रियायाः कर्तृत्वं कर्मत्वं वा कुतो न सम्भवतीत्यत आह—नेति । अयमात्मा न जायते न कदाचिदप्युत्पद्यते । चार्थे वाशब्दः । न म्रियते कदाचिदपि मरणं न प्राप्नोति । यतो जननमरणे शरीरस्यैव भवतो न तु तदन्तरवस्थितस्यात्मनः । नायं भूत्वा भविता वा न भूयोऽयमात्मा सृष्टेः प्राक्काले भूत्वा भूयः प्रलये च न भविता इति न किन्तु भवितैव । ब्रह्मादिशरीरेषु कल्पादावुत्पद्यमानेषु प्रलये च प्रनष्टेषु सत्स्वप्ययमात्माऽविकृतस्वरूप एव तिष्ठतीति तात्पर्यम् । तस्मादयमजो जन्मरहितो नित्यो विनाशरहितः शाश्वतो वृद्धिपरिणामविवर्जितः पुराणः सदै-

हैं तथा जो पुरुष इस आत्मा को हत समझते हैं, मुझ से अमुक आत्मा मारी गई इस प्रकार से हनन क्रिया का कर्म आत्मा को समझते हैं ये दोनों ही नहीं जानते हैं अर्थात् आत्म स्वरूप के परिज्ञान से रहित हैं । क्योंकि यह आत्मा किसी को नहीं मारती है न वा यह आत्मा किसी से मरती है । तात्पर्य यह है कि आत्मा न तो हनन क्रिया के कर्तृत्व प्राप्त करती है न वा कर्मत्व को प्राप्त करती है ॥१९॥

निर्लिप्त जो यह आत्मा उसमें हनन क्रिया का कर्तृत्व तथा हनन क्रिया का कर्मत्व क्यों नहीं हो सकता है एतादृश जिज्ञासा के उत्तर में कहते है "न जायते" इत्यादि यह आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं होती है यहाँ "च" शब्द के अर्थ में "वा यह शब्द है तथा यह आत्मा कदाचिदपि मरण को प्राप्त नहीं करती है क्योंकि जन्म मरण शरीर का होता है नतु शरीर के अन्दर में अवस्थित जो आत्मा उसमें जनम मरण का सम्बन्ध होता है । देवदत्त पैदा हुआ देवदत्त मर गया यह जो व्यवहार होता है वह मैं मोटा हूं मैं दुबला हूं इस व्यवहार की तरह औपचारिक मात्र है । यदि कदाचित् लौकिक प्रयोग के स्नेह से आत्मा में वास्तविक जन्म मरण का स्वीकार करें तो उसके मत से आत्मा को मोक्षभाव प्रसंग हो जायगा । यह आत्मा सृष्टि के समय में होकर प्रलय के समय में नहीं होगी ऐसा नहीं किन्तु होगी ही, कल्प के आदि में ब्रह्म प्रभृति के उत्पन्न होने पर तथा प्रलय में विनाश होनें पर भी विकार रहित आत्मा तो रहती ही है यह तात्पर्य है जिसलिये यह

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ? कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहायजीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

करसः शरीरे हन्यमाने सति न हन्यते। अनेन षड्विकारराहित्यमस्यात्मनः सिद्धं भवतीति फलितम्॥२०॥

इदानीं पर्यवसितार्थमाह–वेदेति। यः पुरुष एनमात्मानमविनाशिनं नाशरहितं नित्यमुत्पत्तिध्वंसवर्जितमजं जन्मरहितमव्ययं विकारशून्यं वेद जानाति। हे पार्थ? स पुरुषः कं कस्मिंश्चिदपि देवमनुष्यादिदेहे वर्त्तमानं कञ्चनात्मानं कथं हन्ति? कस्यचिदप्यात्मनो हनने तस्य पुरुषस्य स्वतन्त्र कर्तृत्वं नास्तीत्यर्थः। कञ्चात्मानं स पुरुषः कथं घातयति! अन्येन नाशयति। नापि कस्यचिद्धनने प्रयोजकत्वमपि तस्येत्यर्थः। तथा चाहं कस्यचिद्धन्ता घातयिता वेत्यनुशोचनमात्माज्ञानमूलकमेवेति भावः॥२१॥

नन्वात्मनां नित्यत्वेऽपि नानाभोगाभिलाषयुक्तानां युयुत्सूनां भोगसाधनस्य

आत्मा उत्पन्न नहीं होती है इसलिये अज है अर्थात् जन्म रहित है। नित्य है बिनाशरहित है शाश्वत है अर्थात् बुद्धि परिणाम से रहित है पुराण है सदा एक रस है। शरीर के मरने पर भी नहीं मरती है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा षड्भाव विकार से रहित है॥२०॥

इस समय में आत्मा अविनाशी इत्याकारक ज्ञानवान् जो पुरुष है वह हनन क्रिया का प्रयोजकत्व वा कर्तृत्व कैसे होगा इस बात को बतलाते हैं "वेद" इत्यादि प्रकरण से। जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी नाश विवर्जित नित्य उत्पत्ति बिनाश रहित जन्मरहित तथा अव्यय विकार रहित जानता है हे पार्थ! वह तादृश ज्ञानवान् पुरुष किसे अर्थात् किसी भी देव मनुष्य तिर्यगादि देह विशेष में वर्तमान किसी भी आत्मा को कैसे मारता है अर्थात् किसी भी आत्मा के हनन में उस पुरुष का हनन क्रिया में स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं है और किसी भी देव मनुष्यादि शरीर में अवस्थित आत्मा को मारने के लिये किसी को प्रेरित करेगा अर्थात् अन्य के द्वारा नाश करवायेगा। इस प्रकार किसी के हनन में प्रयोजकत्व भी उसे नहीं है। ऐसी स्थिति है तब मैं किसीको मारनेवाला हूँ इत्याकारक जो अनुशोचन है वह केवल आत्मस्वरूपविषयक जो अज्ञान तन्मूलक है॥२१॥

अविनाशी होने के कारण आत्मा के नित्यत्व होने से आत्मा के विनाशमूलक शोक

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

देहस्य विनाशे शोकः स्यादेवेत्यत आह वासांसीति । यथा नरो जीर्णानि वासांसि वस्त्राणि विहायाऽपराणि नवानि गृह्णाति । जीर्णवसनानां परित्यागे न शोकलेशोऽपि जायतेऽपितु हर्षविशेषः सञ्जायते । तथा देही देहनियामक आत्मा जीर्णानि शरीराणि विहायान्यानि नवानि शरीराणि संयाति सम्प्राप्नोति । जीर्णशरीरत्यागेऽस्यात्मनो नैव शोको भवति प्रत्युतानन्द एव सम्पद्यते । प्रकृते तु युयुत्सूनां भीष्माचार्यप्रभृतीनां स्वधर्मपरिपालने कर्तव्ये युद्धे यदि शरीरत्यागो भविष्यति । तदाऽन्यन्नवं कल्याणतरं रूपमवश्यमेवोपादास्यन्ति । तेन च तेषां हर्षोत्पत्त्या त्वया तदुपकृतिरेव विहिता स्यादित्यस्थान एव शोक इति भावः ॥२२॥

भूयोऽप्यात्मनोऽविनाशित्वं प्रकारान्तरेणोपपादयति नेति । एवमात्मानं शस्त्राणि

का अवसर यद्यपि नहीं है तथापि अनेक प्रकारक भोग की अभिलाषा रखनेवाले जो अनेक युद्धेच्छुक व्यक्ति हैं उनके भोग का साधन जो शरीर उसका बिनाशमूलक शोक होना तो आवश्यक है इस शंका के उत्तर में कहते हैं "वासांसीत्यादि" जिस तरह से मनुष्य जीर्ण परिधानायोग्य वासस् अर्थात् वस्त्र का परित्याग करके अन्य नवीन वस्त्र का ग्रहण करता है उपभोग के लिये यहाँ फटे हुए कपडे को छोडने से किसी भी व्यक्ति को लेशतोपि शोक नहीं होता है अपितु नवीन वस्त्र के लाभ से हर्ष विशेष ही होता है । इसी प्रकार देही देह का नियामक देह के अभ्यन्तर में अवस्थित जीवात्मा जीर्ण जराग्रस्त उपभोग करने में असमर्थ पूर्वकालिक शरीर का परित्याग करके तद्भिन्न नवीन शरीरान्तर को प्राप्त करता है। जीर्ण उपभोग में अयोग्य एतादृश शरीर के त्याग करने में इस जीव को कभी भी शोक नहीं होता है प्रत्युत आनन्द का ही अनुभव होता है । प्रकृति में युयुत्सु युद्ध करने की इच्छावाले जो भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य प्रभृति योद्धा लोग हैं उन्हें स्वधर्म का परिपालन रूप युद्ध में यदि शरीर त्याग हो जायगा तब वे लोग नवीन कल्याणतर शरीरान्तर को अवश्य ही प्राप्त करेंगे अर्थात् शुभाशुभ कर्म के बल से नवीन शरीरान्तर को प्राप्त करेंगे । इससे उन लोगों को तो आनन्दप्राप्ति होने में आप उपकार ही करेंगे अतः आपका शोक करना अयोग्य है। संग्राम में इन लोगों को मारने में इनके आनन्द के उत्पादन करने से शोक करने का अवसर नहीं है प्रत्युत विलक्षण आनन्द प्राप्ति में आप सहायक बनते हैं ॥२२॥

पूर्वोक्त प्रकरण से आत्मा के अविनाशित्व तथा देहादिक जड पदार्थ में नश्वरत्व

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

खड्गादीनि न छिन्दन्ति नैव खण्डनेनावयवशः पृथक्कर्तुं शक्नुवन्ति । पावकोऽग्निरेनं दग्धुं न शक्नोति । आपो जलानि नैनमार्द्रीकृत्य प्लावयितुं शक्नुवन्ति । मारुतो वायुश्चैनं न शोषयति ॥२३॥

अयमात्माऽच्छेदनायोग्योऽदाह्योऽयं दाहनायोग्योऽक्लेद्यः शिथिलीकरणायोग्योऽशोष्यः शुष्कीकरणायोग्य एव । अत्र हेतून्निर्दिशति—सर्वगतः स्वरूपसौक्ष्म्यात् सर्वस्मिन्नचिद्वस्तुन्यन्तरवस्थितोऽतो नित्यः स्थाणुः स्थिरस्वभावोऽचलश्चाञ्चल्यरहितः सनातनश्चिरन्तनोऽनादित्वान्न केनचित्कारणेन निष्पाद्य इत्यर्थः ॥२४॥

छेदनाद्यनर्हत्वे हेतुमाह—अव्यक्त इति । अयमात्माऽव्यक्तो बाह्येन्द्रियागोचरोऽय-

(अनित्यत्व) का प्रतिपादन किया गया । अब पुनरपि आत्मा में अविनाशित्व का प्रकारान्तर से उपपादन करते हैं "नैनंछिन्दन्ति" इत्यादि इस प्रकृत आत्मा को खड्गप्रभृतिक जो शस्त्र है वह छेदित नहीं कर सकता है । खण्डन करके अवयव हस्तपादादिक को पृथक् करने में कथमपि समर्थ नहीं हो सकते हैं । एवम् पावक जो अग्नि है वह भी इस आत्मा को दग्ध भस्मसात् करने में समर्थ नहीं हो सकती है । आप अर्थात् जल प्रकृत आत्मा को आर्द्र करके प्लावित करने में समर्थ नहीं हो सकता है तथा मारुत वायु भी इस प्रकृत आत्मा को शुष्क करने में असमर्थ है ॥२३॥

यह आत्मा अच्छेद्य है । छेदन भेदन करने के योग्य नहीं है । अदाह्य है अर्थात् दाह करने के योग्य नहीं है । अक्लेद्य है शिथिली करणायोग्य है तथा अशोष्य है शुष्क करने के योग्य नहीं है । छेदनाद्ययोग्यत्व में कारण बतलाते हैं यह सर्वगत है, अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सभी अचित् वस्तु के अभ्यन्तर में अवस्थित है । इसलिये नित्य है, स्थाणु है अर्थात् स्थिर स्वभाववाला है अचल है चंचलतादि रूप क्रिया विशेष से रहित है सनातन चिरंतन है, अनादि होने के कारण यह आत्मा किसी कारण विशेष से निष्पादन करने के योग्य नहीं है स्वरूप से सर्वथा एक रूप है ॥२४॥

पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा में अच्छेद्यत्वादिक का कथन किया गया । उस अच्छेदनाद्यनर्हता में हेतु का कथन करने के लिये कहते हैं—"अव्यक्त" इत्यादि । यह आत्मा अव्यक्त

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

मचिन्त्योऽचित्माजात्येन चिन्तयितुमयोग्योऽयमविकार्यश्च विकारानर्हश्च श्रुतिस्मृतिषूच्यते । तस्मादेनमात्मतत्त्वमेवमुक्तस्वभावं विदित्वाऽवगम्यैतद्विषयेऽनुशोचितुं नार्हसि ॥२५॥

इदानीं देहनाश एवात्मनाश इति चार्वाकमतमवलम्ब्यापि विचारणे शोको व्यर्थ इत्याह–अथेति । अथेति पक्षान्तरारम्भे । अथैनमात्मानं देहमेव मत्वा नित्यजातं नित्यमेव च मृतं मन्यसे तथापि हे महाबाहो ! त्वमेवमनेन प्रकारेण शोचितुं नार्हसि। नियमितोत्पत्तिकस्य नियमित एव विनाश इति भावः ॥२६॥

है वाह्य चक्षुरादि इन्द्रिय का विषय नहीं है । जैसे छेद्य घटादिक पदार्थ चक्षुरादि ग्राह्य होने से व्यक्त होता है तथा आत्मा वाह्येन्द्रिय से व्यक्त करने के योग्य नहीं है तथा यह आत्मा अचिन्त्य है । अचित् वस्तु की तरह मन से चिन्ता करने के योग्ये नहीं है अविकार्य है सभी प्रकार के जो विकार उससे अयुक्त है ऐसा श्रुति स्मृति में कहा गया है इस लिये इस आत्मतत्व का यथोक्त स्वभाववाला समझ करके इस आत्मा के विषय में शोक करना योग्य नहीं है ॥२५॥

यथोक्त क्रम से आत्मा में नित्यत्व तथा शरीरादिक अचित् वस्तु में अनित्यत्व शास्त्रीय युक्ति के अनुसार जान करके शोक करना अनुचित है ऐसा बतलाया । अब जिनके मत से देह के आकार में परिणत जडसंघात का नाम ही आत्मा है वह आत्मा देह के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होती है तथा देह के विनाश होने पर आत्मा का विनाश होता है, इस प्रकार का चार्वाक का जो मत है उसके अनुकूलता से भी विचार किया जाय तब भी आपका शोक करना निरर्थक है, इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "अथचैनमित्यादि" यहाँ श्लोकघटक जो अथ शब्द है वह पक्षान्तर को समझाने के लिये है । यदि कदाचित् आप इस आत्माको वाह्येन्द्रियग्राह्य देहरूप ही मान करके नित्य जात तथा नित्यमृत मानते हैं अर्थात् देह के समान आत्मा को भी जायमान तथा मरण शील समझते हैं । तथापि हे महाबाहो अर्जुन ? इस प्रकार से आत्मा के विषय में आपका शोक करना ठीक नहीं है क्योंकि जो पदार्थ नियतरूप से उत्पन्न होने वाला है उसका नियमितरूप से विनष्ट होना अवश्य भावी है । जो पैदा होगा वह अवश्य विनष्ट होगा तो तादृश उत्पादशील देहरूप आत्मा के लिये शोक करना आपके लिये योग्य नहीं है ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

देहात्मवादे देहोत्पत्तिविनाशाभ्यां कुतो न शोच्यतेति शंकां समाधत्ते–जातस्येति । जातस्योत्पन्नस्य । मृत्युर्विनाशः । ध्रुवोऽवर्ज्यः । निश्चित इत्यर्थः । मृतस्य विनाशमुपयातस्य । च जन्मोत्पादः । ध्रुवमवर्जनीयम् । हि । सततपरिणामशीलस्य देहात्मकस्य सतो द्रव्यस्यावर्जनीयावेवोत्पत्तिविनाशावित्यर्थः । तस्माद्धेतोरपरिहार्ये परिहर्तुमशक्ये । अर्थे जन्ममरणरूपेऽर्थे । त्वम् । शोचितुं नार्हसि शोकं कर्तुमयोग्योऽसि ।

अत्रासत्कार्यवादिनो वदन्ति नायं सत्कार्यवादः समीचीनः, सतो द्रव्यस्योत्पत्तिविनाशयोरुपपादयितुमशक्यत्वात् । तथाहि-'घटादिरुत्पद्यत' इत्यादिप्रतीतिसिद्धः घटादिद्रव्यस्योत्पत्तिर्नाम तदधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्ध एव । स चोत्प-

देहात्मवाद पक्ष में देह की उत्पत्ति तथा देह के विनाश से शोक क्यों नहीं करना चाहिये अर्थात् देह का उत्पाद होता है एतावता उसके विषय में शोक क्यों नहीं करना चाहिये ? इस शंका के समाधान में कहते हैं–"जातस्य" इत्यादि । जात अर्थात् जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु अर्थात् विनाश होना ध्रुव है अर्थात् अवश्यं भावी है जो कारण कलाप से जन्य होगा वह अवश्य ही नष्ट होगा तथा जो मरता है उसका जन्म भी अवश्यं भावी है । अर्थात् सतत परिणामशील जो देहात्मक द्रव्य है उसका उत्पत्तिविनाश अवश्य होने का है । इस हेतु से परिहरण करने में अशक्य जो अर्थ है जन्म तथा मरण उस जन्ममरणमूलक जो शोक है उसके लिये आपका शोक करना अयोग्य है ।

यहाँ असत्कार्यवादी कहते हैं कि यह जो सत्कार्यवाद है वह ठीक नहीं है क्योंकि सत् जो द्रव्य है उसका उत्पाद तथा विनाश है उसका आप उपपादन नहीं कर सकते हैं तथाहि घटपटादि उत्पन्न होता है इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध उत्पत्ति क्या है तो घट के अधिकरणीभूत जो क्षण उसका जो ध्वंस विनाश उस विनाश का अनधिकरणक्षण उत्तरक्षण तो तादृश क्षण ध्वंस का अधिकरण है किन्तु तत्पूर्वकालिक क्षण जो होगा तादृशक्षण के सम्बन्ध को ही उत्पत्ति कहते हैं अब यदि स्वोत्पत्ति के पूर्व में भी यदि उत्पद्यमानवस्तु की सत्ता को मान लिया जाय तब तो तदधिकरणक्षण का ध्वंसाधिकरण क्षण के उसमें वृत्ति होने से किस प्रकार से उत्पत्ति होगी अतः परिशेषात् अर्थतः सिद्ध होता है कि असत् पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है ऐसा ही मानना चाहिये । इसी तरह से घट नष्ट होता है घट नष्ट

द्यमानस्य घटादेः प्रागपि सत्वेऽङ्गीकृते तस्य तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणवृत्तित्वात् कुतः स्यादित्यसत एवोत्पत्तिरङ्गीकर्त्तव्या। एवं 'नश्यति' 'नष्ट' इत्यादिप्रतीतिसिद्धः प्रतियोगिसत्ताविरोध्यभावविशेषात्मको विनाशोऽपि पश्चादसत एव घटादिद्रव्यस्य स्वीकर्त्तव्योऽन्यथा घटादि नाशानन्तरं 'घटादिरस्ती' ति प्रत्ययप्रसङ्गः स्यात्। किञ्च कार्यस्य प्राक् सत्तायां कार्यकारणयोरनन्यत्वे उभयोर्नामार्थसंख्याबुद्धिकालकारणाकारभेदानामनुपपन्नत्वं कारकव्यापारस्य नैष्फल्यञ्च भवेदिति,

तन्न युक्तम्, तदधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणावच्छिन्नायाः कपालद्वयादिसंयोगात्मिकाया घटत्वाद्यवस्थाया एवोत्पत्तितया कपालद्वयादिविभागात्मिकाया घटत्वावस्थाविरोधिकपालत्वाद्यवस्थाया एव च विनाशतयाङ्गीकृतत्वेनोक्तदोषाप्रसङ्गात्। घटत्वादिविशिष्ट एव सत्ताया 'घटादिरस्ती'ति व्यवहारान्न घटादिनाशानन्तरं तादृशव्यवहारापत्तिः।

हो गया इत्यादि प्रतीति से सिद्ध जो प्रतियोगी घटादि उसकी जो सत्ता उस सत्ता के विरोधी अभावविशेषरूप विनाश वह भी पश्चात् असत् जो घटादिक द्रव्य उसी का होता है ऐसा मानना चाहिये अन्यथा घटादि द्रव्य के नाशान्तर काल में भी घट है ऐसी प्रतीति हो जायगी। और भी देखिये यदि कार्योत्पत्ति के पूर्व में भी कार्य की सत्ता का स्वीकार किया जाय तब तो कार्यकारण के अभेद होने से इन दोनों कार्यकारण का जो नाम है अर्थ (प्रयोजन) है संख्याबुद्धि कालकारण आकार (स्वरूप में जो भेद है वह अनुपपन्न हो जायगा अर्थात् यदि पटरूप कार्य और तन्तुरूप कारण अभिन्न है तब यह पट है, यह तन्तु है यह जो नामभेद है वह नहीं होगा। दोनों के एक रूप होने से एवं पट का प्रयोजन है आवरण तथा तन्तु का है बन्धन पट की संख्या है एक और तन्तुकी संख्या है अनेक एवं पटः यह बुद्धि और शब्द भिन्न है तथा तन्तु यह बुद्धि तथा शब्द भिन्न है एवं पटका कारण है तन्तु वेमा प्रभृति और तन्तु का कारण है अंशु एवम् आकार दोनों का भिन्न है तो यह नियम कार्यकारण की एकता में बाधक है। एवं यदि कार्यकारण का स्वरूप ही है तब तो पट को उत्पन्न करने के लिये कारक व्यापार भी निरर्थक होता है इसलिये सत्कार्य वाद ठीक नहीं है।

समाधान—"तन्नयुक्तमित्यादि" घट के अधिकरणीभूत जो क्षण उसका जो ध्वंस उस ध्वंस का जो अनधिकरणीभूत क्षण घटाव्यवहितपूर्व क्षण तादृश क्षण से युक्त जो कपालद्वय उसका जो संयोगक्षण तद्रूप जो घट की घटावस्था उसी अवस्था का नाम है घटोत्पत्ति एवं कपालद्वय का विभागरूप जो घटत्वावस्था के विरोधीकपालत्वावस्था उसीका नाम है घट

ननूत्पन्नस्य घटादेर्नाशस्य प्रत्यक्षतया 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'रिति भगवदुक्तस्योपपत्तिमत्त्वेऽपि नष्टस्य घटादेः पुनरुत्पादस्यानवलोकनाद् 'ध्रुवं जन्म मृतस्य चे' तिवचनं त्वनुपपन्नमेवेति चेन्न, पूर्वावस्थस्य द्रव्यस्य विनाशरूपा पूर्वावस्थाविरोध्युत्तरावस्थोत्तरावस्थस्यैव तस्य द्रव्यस्योत्पत्तिर्न तु पूर्वावस्थस्यापितस्य। यथा घटावस्थस्य द्रव्यस्य नाशरूपा कपालत्वावस्था कपालावस्थस्यैव तस्य द्रव्यस्योत्पत्तिर्न तु घटावस्थस्यापि तस्य। तथा च सूपपन्नैव नष्टस्योत्पत्तिरिति। उत्तरावस्थायाः पूर्वावस्थाविरोधित्वात् कपालनाशे घटनाशस्यैव नष्टत्वेन चूर्णावस्थायां घटोन्मज्जनप्रसङ्गोऽपि न। ननु शोकानिमित्तत्वेन भगवता नष्टोत्पादस्य ध्रुवत्व प्रतिपादनमयुक्तमिति चेन्न नष्टोत्पादध्रुवत्व प्रतिपादनस्य नाशध्रुवत्वप्रतिपादनात्मकत्वात् ॥२७॥

का विनाश ऐसा मानने से कोई भी दोष नहीं होता है। एवं घटत्वादि विशिष्ट जो सत्ता तादृश सत्ता के बल से ही घटादिक है ऐसा व्यवहार होता है इसलिये घटनाश के समय में घट है ऐसा व्यवहार नहीं होता है।

शंका—कारण के व्यापार से जायमान जो घटादिकार्य उसका विनाश प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिये "जातस्य ध्रुवो मृत्युः" यह भगवत्कथन युक्ति युक्त है भी परन्तु विनष्ट जो घट है उसका उत्पाद तो पुनः नहीं देखने में आता है इसलिये "ध्रुवं जन्म मृतस्य" यह भगवद्वचन तो युक्ति सिद्ध नहीं मालूम पड़ता है।

समाधान—पूर्वावस्था से युक्त जो घटादिद्रव्य है, उस द्रव्य का विनाशरूप जो पूर्वावस्था का विरोधी उत्तरावस्था तादृश उत्तरावस्था से अन्वित द्रव्य की ही पुनः उत्पत्ति होती है न तु पूर्वावस्था युक्त की उत्पत्ति होती है जैसे घटावस्था से युक्त द्रव्य का नाश रूप जो कपालत्वावस्था है उस कपालावस्था से युक्त द्रव्य की उत्पत्ति होती है न कि घटावस्था से युक्त द्रव्य की उत्पत्ति होती है। ऐसा मानने से नष्ट पदार्थ की उत्पत्ति होती है यह भगवत् कथन युक्तियुक्त ही है। उत्तरावस्था के पूर्वावस्था का विरोधी होने से कपाल के नाश हो जाने पर घटनाश का नाश हो जाता है इस चूर्णावस्था में घट पुनः उत्पन्न नहीं होता है।

शंका—शोकाभाव का कारण रूप से भगवान् ने जो नष्टोत्पादन ध्रुवत्व का प्रतिपादन किया है वह तो ठीक नहीं है।

उत्तर—नष्टोत्पाद में जो ध्रुवत्व का प्रतिपादन भगवान् ने किया है वह नाश में ध्रुवत्व प्रतिपादन स्वरूप ही है।२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना २८॥
आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

स्वस्वभाववर्तिनां देवमनुष्यादिभूतानामशोचनीयत्वमाह—अव्यक्तादीनीति । हे भारत ! भूतानि देवमनुष्यादिशरीराणि । सन्त्येव । अव्यक्तोऽनुपलब्ध आदिः पूर्वावस्था येषां तान्यव्यक्तादीनि । व्यक्तमुपलब्धं मध्यं जनिनिधनान्तरालस्थदेवमनुष्यत्वाद्यवस्था येषां तानि व्यक्तमध्यानि । अव्यक्तमनुपलब्धं निधनं ध्वंसात्मिकोत्तरावस्था येषां तान्यव्यक्तनिधनानि । एव । भवन्ति । देवमनुष्यादिशरीराणि स्वस्वभावेष्वेव वर्तन्त इत्यर्थः । तत्र तेषां विनाशात्मके स्वभावे । परिदेवना शोकः का ? न किञ्चिदपि शोकनिमित्तं पश्याम इत्यर्थः । उक्तञ्च भारते—"अदर्शनादिहायातः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं वृथा किमनुशोचसि॥(म भा. स्त्रीप. २-१२) इति ॥२८॥

एवं देहात्मवादपक्षे शोकनिमित्ताभावमुक्त्वाऽऽश्चर्यभूतस्यात्मनो यथावज्ज्ञानमति

हे भारत भरतवंश में समुत्पन्न अर्जुन ! भारत इस संबोधन से भगवान् ने यह अभिव्यक्त किया है कि भरत का वंश अत्यन्त विशुद्ध तथा विवेकशील है तदुत्पन्न आप में भी नित्यानित्य का विवेक है तब इस प्रकार से नित्यानित्य वस्तु के लिए आप निरर्थक शोक करते हैं । ये सभी भूत देव मनुष्यादि शरीर रूप है । यह भूत शरीरादि अव्यक्तादि है । अर्थात् अव्यक्त अनुपलब्ध है आदि पूर्वावस्था कारण जिसका ऐसा है तथा यह भूतवर्ग व्यक्तमध्य है । व्यक्त अर्थात् उपलब्ध है मध्य—उत्पत्ति तथा विनाश की अन्तरालावस्था जिसकी उसका नाम है व्यक्तमध्य एवं यह भूत अव्यक्त निधन है अर्थात् अव्यक्त अनुपलब्ध है निधन ध्वंसात्मक उत्तरावस्था जिसकी उसका नाम है अव्यक्त निधन एतादृश यह भूत है । देव मनुष्यादि के शरीर अपने अपने स्वभाव में रहते हैं इस स्थिति में इनका विनाशरूप जो स्वभाव है उसमें परिदेवन शोक क्या अर्थात् शोक का कोई कारण देखने में नहीं आता है ऐसा अर्थ है । महाभारत में भी कहा है "यह दृश्यमान सब पदार्थ अदर्शन से ही आया है पुनः अदर्शन को ही प्राप्त करता है न यह तेरा है न तुम इसके हो इसके विषय में शोक करना निरर्थक है" अतः हे अर्जुन ! इन भूतों के लिये शोक करना बिलकुल निरर्थक है ॥२८॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ?।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

दुर्लभमित्याह—आश्चर्यवदिति । कश्चिदात्मतत्वदर्शने प्रवृत्तोऽपि पुण्यपुरुष एनमात्मानमाश्चर्यवदनितरसाधारणस्वरूपं पश्यति । तथैव चान्योऽन्यस्मै सदाश्चर्यवदेव वदति। अन्यश्चाश्चर्यवदेनं शृणोति । कश्चित्पुनर्विद्वद्भ्यः श्रुत्वाऽप्येनं न वेद । चकारो दर्शनवदनश्रवणज्ञानानां तत्त्वतो दौर्लभ्यं ज्ञापयति । सर्वाश्चर्यमयस्यात्मतत्वस्य परिज्ञानमतीव दुर्घटमित्यनेन ज्ञाप्यते ॥२९॥

देहे विद्यमानस्यापि देहिनोऽवध्यत्वं निश्चाययति—देहीति । हे भारत ! सर्वस्य देवमनुष्यादिप्राणिनिवहस्य देहे वध्यमाने शरीरे देही देहान्तवर्त्ययमात्मा नित्यमवध्य

पूर्वोक्त प्रकार से देहात्मवाद पक्ष में शोक निमित्त का अभाव है ऐसा कह करके देहादि से अतिरिक्त आश्चर्य रूप द्रष्टा श्रोता ज्ञाता जो आत्मा उसका जो वास्तविक ज्ञान है वह अतिशयेन दुर्लभ है इस बात को कहते हैं "आश्चर्यवदित्यादि ग्रन्थ से कोई व्यक्ति विशेष प्राक्तन पुण्य कर्म के बल से आत्मा को जानने के लिये प्रवृत्त (कृतप्रयत्न पुरुष) इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है अर्थात् जानता है। यद्यपि दृश् धातु चाक्षुष ज्ञान में शक्त है तथापि प्रकृत में ज्ञान विशेषण चाक्षुषत्व विवक्षित नहीं है क्योंकि चाक्षुष-प्रत्यक्ष में तो रूप में कारणता है किन्तु आत्मा में "अशब्दमस्पर्शमरूपम्" इत्यादि श्रुति से तथा युक्ति से रूपवत्ता का निराकरण किया गया है इस लिये पश्यति शब्द का अर्थ केवल ज्ञान विवक्षित है वह ज्ञानमानस है "एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" यह आत्मा केवल चित्त मन से ज्ञातव्य है। इत्यादि श्रुति में केवल मानस ज्ञान विषयता का प्रतिपादन किया है। कोई व्यक्ति तो इस आत्मा को आश्चर्यवत् कहता है, कोई तो इस आत्मा को विद्वानों के मुख से सुनकरके भी इस आत्मा को नहीं समझता है। श्लोकस्थ जो "च" पद है वह दर्शन वदन श्रवण ज्ञान का तत्वतः दुर्लभता को अभिव्यक्त करता है इससे यह ज्ञापित होता है कि सर्वाश्चर्य इस आत्मा ज्ञान अतिशयेन दुर्लभ है गुरुकृपा तथा पूर्वभवोपार्जित कर्म विशेष से ही आत्मा लाभ होता है लौकिक ज्ञान का विषय यह आत्मा कदापि नहीं होती है ॥२९॥

शरीर में विद्यमान भी देही आत्मा में अवध्यत्व है। इस विषय का निश्चय कराते हैं अर्थात् जैसे देह में रहने वाला गौरत्व ह्रस्वत्वादिक धर्म प्रत्यक्षतः देखने में आता है इसी प्रकार सुखित्व दुःखित्वादिकधर्म भी आत्मा में प्रत्यक्ष होता है, इसी प्रकार अनित्यत्व धर्म भी

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

एवेत्यवेहि । तस्मादेवमनुष्याद्याकारवैषम्ययुक्तान्यपि तत्तच्छरीरान्तरवस्थितात्मवस्तुनात्मस्वभावेन च साम्यमावहन्ति सर्वाणि भूतानि कदाचिदपि त्वं शोचितुं नार्हसि । आत्मनां नित्यत्वेन तत्तद्देहानान्तु सर्वदा भंगुरत्वेन युद्धे न भीष्मादीन्येव किन्तु कानिचिदपि भूतानि नैव शोच्यानीति तात्पर्यम् ॥३०॥

'वेपथुश्च शरीरे मे' इत्याद्यभिहितः शरीरकम्पोऽप्ययोग्य एवेत्याह—स्वधर्ममिति । अपि च । स्वधर्मं 'प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम्' (याज्ञ. गृ. प्र.) इत्यादिधर्मशास्त्रविहितं धर्माचारघातकान् निगृह्य प्रजापालनात्मकं क्षत्रियधर्ममवेक्ष्य विज्ञाय । त्वम् । विकम्पितुं नार्हसि पापभ्रमात् प्रकम्पितुमयोग्योऽसि । हि यतः । क्षत्रियस्य ।

आत्मा में होगा तब कैसे कहते हैं कि आत्मा अवध्य है उसके लिये शोक मत करें इस प्रकार शंका करके उसके उत्तर में कहते हैं "देही नित्यमित्यादि" हे भारत हे अर्जुन ! सभी देव मनुष्य प्रभृति प्राणी के देह के विनाश होने पर भी उन सबों के देह शरीर में अवस्थित जो आत्मा है वह नित्य अवध्य है अर्थात् नश्वर देह में रहने वाली आत्मा कभी भी नष्ट नहीं होती है अपितु नित्य अवध्य है ऐसा तुम जानो । जैसे घट के नष्ट होने पर भी घटावस्थित आकाश नष्ट नहीं होता है किन्तु सर्वदा अवस्थित ही रहता है उसी प्रकार से देवादि शरीर में आत्मा अवस्थित है तो शरीर विनष्ट होने पर भी तदन्तर्वर्ती आत्मा नष्ट नहीं होती ऐसा समझो । इसलिये देव मनुष्यादि आकर से विषमता युक्त भी तत् तत् शरीर में अन्तर्विद्यमान आत्मवस्तु आत्मस्वभाव से समता को प्राप्त करता हुआ सभी भूतों का तुम कभी भी शोक करो यह युक्त नहीं है । अर्थात् देहस्थित देही सर्वथा नित्य स्वभाववाला है । आत्मा नित्य है शरीरादिक जो है वह सर्वदा अनित्य है अतः युद्ध में केवल भीष्म प्रभृति के लिये ही शोक न करो अपितु किसी भी जीव के लिए तुम शोक मत करो यह तात्पर्य है ॥३०॥

"वेपथुश्च शरीरे मे" इत्यादि ग्रन्थ से कथित जो शरीर कंपादिक है वह भी अत्यन्त अयुक्त है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "स्वधर्ममित्यादि" हे अर्जुन ! यद्यपि मैं कह आया हूं कि आत्मा नित्य है शरीरादिक अनित्य है इसलिये शोक मत करो किन्तु युद्ध करो । इतना ही नहीं अपिच और भी देखिये—क्षत्रियों का प्रधान कर्म है प्रजा का परिपालन करना इत्यादि धर्मशास्त्र से विदित अर्थात् प्रतिपादित धर्माचार को नष्ट करनेवाले जो व्यक्ति हैं उन्हें निगृहीत करके प्रजापालन रूप क्षत्रिय धर्म को देख करके अर्थात् धर्मशास्त्र से जान

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

क्षात्रप्रकृतेर्जनस्य । धर्म्याद् धर्मादनपेतात् । न्याय्यादित्यर्थः । युद्धात् संग्रामात् । अन्यद् भिक्षाटनादिब्राह्मणादिवृत्तिः । श्रेयः श्रेयोविधायकं न विद्यते । क्षत्रियाणामहिंसाधर्मो धर्मोपेतयुद्धातिरिक्तस्थल एव श्रेयानित्यर्थः ॥३१॥

युद्धविषयकाधर्मभ्रमोन्मूलनाय धर्म्ययुद्धस्योत्कृष्टतामाह—यदृच्छयेति । हे पार्थ ! सुखिनः सुखजनकसुकृतिशालिनः सुखयोग्या वा पुण्यवन्त इत्यर्थः । क्षत्रियाः । यदृच्छया स्वयमेव । उपपन्नमुपलब्धम् । अपावृतमपगतमावृतमावरणं यस्य तत्तथाविधं फलाभिसन्ध्याद्यात्मकप्रतिबन्धकशून्यम् । स्वर्गद्वारं स्वर्गस्य निरतिशयसुखात्मकस्य मोक्षस्य द्वारमुपायभूतम् । ईदृशं धर्मोपेतम् । युद्धं लभन्तेऽवाप्नुवन्ति । अतोऽयोग्य एवायं ते प्रकम्प इति भावः ॥३२॥

करके तुम्हारा विकंपित होना युक्त नहीं है। क्षत्रिय के लिए युद्ध पाप नहीं है तब अपापात्मक क्षत्रियधर्म युद्ध में पाप के भ्रम से प्रकंपित होना तुम्हारे लिए योग्य नहीं है। क्योंकि क्षत्रिय को (क्षात्र प्रकृति वाले पुरुष को) धर्म्य धर्म से युक्त अर्थात् न्यायोपेत जो युद्ध है उससे अतिरिक्त जो ब्राह्मण वृत्ति भिक्षाटनादिक कर्म हैं वह श्रेय कल्याणप्रद नहीं है न्याय युक्त संग्राम से अतिरिक्त स्थल में क्षत्रियों के लिये अहिंसा धर्म श्रेयोजनक है। युद्ध में तो दुष्ट निग्रह के लिये हिंसाधर्म है। जैसे सामान्यतः हिंसा अनर्थकारी होती है परन्तु याज्ञिक हिंसा अधर्मजनिका नहीं है उसी तरह से क्षत्रिय के लिये युद्ध में होनेवाली हिंसा हिंसा नहीं है।

"मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" यह वेदवाक्य युद्धातिरिक्त स्थल में क्षत्रिय के लिये है यागातिरिक्त स्थल के समान ॥३१॥

युद्ध विषयक जो अधर्मभ्रम है उसको हटाने केलिये धार्मिक युद्ध में इतर युद्ध की अपेक्षा से विलक्षणता प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—"यदृच्छयेत्यादि" हे पार्थ पृथानन्दन ! सुखी जो क्षत्रिय है अर्थात् सुखरूप कार्य को उत्पन्न करने वाला जो शुभ कर्म विशेषवित् विद्वान् जो क्षत्रिय अथवा सुखप्राप्ति के योग्य जो पुण्यशाली क्षत्रिय है वही यदृच्छा अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न आगत उपलब्ध तथा अपावृत अपगत है आवरण जिसका ऐसा, फल की जो अभिसन्धि तदात्मक प्रतिबन्धक से रहित स्वर्गद्वार अर्थात् स्वर्ग का निरतिशय सुख स्वरूप मोक्ष का द्वार है कारण रूप है। एतादृश धर्म युद्ध को प्राप्त करते हैं इसलिये यह जो

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

धर्म्ययुद्धाकरणेऽनर्थमाह—अथेति । अथ । त्वम् । क्षत्रियः सन्नपीत्यर्थः । धर्म्यं धर्मादनपेतम् । इमं यदृच्छया प्रारब्धम् । संग्रामं युद्धं न करिष्यसि चेत् । ततः प्रारब्धधर्म्ययुद्धाननुष्ठानात् । स्वधर्मं स्वधर्मफलम् । निरतिशयसुखमित्यर्थः । कीर्तिं विजयेनोपलब्धं निरतिशयं यशः । च । हित्वा विहाय । पापं निरतिशयदुःखजनकं दुरितम् । अवाप्स्यसि ॥३३ ॥

अथ सङ्ग्रामाकरणस्य दृष्टप्रत्यवायहेतुतामाह अकीर्त्तिमिति । किञ्च भूतानि समर्था असमर्थाश्चापि सर्वे जीवाः । ते तव । अव्ययामविनाशिनम् । देशतः

शरीर कंपादिक है वह अयोग्य है । अर्थात् जो यह धर्मयुद्ध है वह निरतिशय सुख स्वरूप मोक्ष का जनक है वह किसी किसी पुण्यशाली क्षत्रिय को ही स्वयमुपनत होता है वह तादृश युद्ध भाग्य से आपको उपलब्ध है अतः कायर जन सेवित कंपनादि से उसका परित्याग करदो यह तुम्हारे लिये योग्य नहीं है ॥३२॥

क्षत्रियों के लिये धर्मशास्त्र प्रतिपादित जो धर्मोपेत युद्ध हैं उसका संपादन नहीं करोगे तब शास्त्र विहित कर्म के परित्याग करने से तुम्हें अनर्थ की प्राप्ति होगी इस बात का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "अथचेत्त्वमित्यादि" अथ यदि तुम क्षत्रित्व धर्माभिमानी हो करके भी धर्म्म धर्मयुक्त युद्ध को स्वेच्छया प्रारब्ध संग्राम नहीं करोगे तब अर्थात् प्रारब्ध धर्मयुक्त युद्धानुष्ठान का संपादन नहीं करने से स्वधर्म अर्थात् स्वकीय धर्म का फल जो पारलौकिक निरतिशय सुखरूप है तादृश विलक्षण फल को तथा कीर्ति विजय द्वारा होने वाला जो निरतिशय यश है उसे भी छोड करके पाप का निरतिशय दुःख का उत्पादक जो दुरित है उसे प्राप्त करोगे । धर्म युद्ध नहीं करने से अनुष्ठान जनित जो धर्म होने का था उससे वंचित हो जाओगे और ऊपर से धर्म शास्त्रीय आज्ञा के अवहेलन जनित निरतिशय दुःख के कारण अधर्म को प्राप्त करोगे, इसलिए अवश्यमेव तादृश युद्ध का कारण ही तुम्हारे लिए हितावह है अतः युद्ध करो ॥३३॥

धर्मशास्त्र विहित युद्ध नहीं करने से केवल पारलौकिक निरतिशय सुखरूपफल से ही वञ्चित हो जायेंगे एतावन्मात्र ही दोष है यही नहीं किंतु दृष्ट प्रत्यवाय की भी प्राप्ति होगी।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

कालतश्चान्यूनामित्यर्थः । अकीर्तिं 'पार्थो युद्धात् पलायित, इत्येवंभूतमयशः । कथयिष्यन्ति । कथयन्तु नाम किं ततः ? इत्यत्राह—सम्भावितस्येति । सम्भावितस्य शौर्यधैर्यादिभिर्गुणैर्बहुभिमतस्य । पुरुषस्येतिशेषः । अकीर्तिः । मरणान्मृत्योः । अतिरिच्यतेऽधिका भवति । 'अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् । पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः स कीर्त्यते ॥' (श्रीरा. उ. कां.) इत्यनन्तब्रह्माण्डनायकस्य परिपूर्णस्य ब्रह्मणो भगवतः श्रीरामस्य वचनान्नरकपातहेतुभूताया अकीर्तेर्मरणमेव श्रेयानिति भावः ॥३४॥

स्वजनस्नेहकारुण्याभ्यां युद्धान्निवृत्तस्य शूरस्य ममाकीर्तिः कथं स्यादित्यत्राह—भयादिति । महारथा महारथलक्षणसम्पन्ना दुर्योधनादयस्त्वां भयात् रणात् संग्रामादु-

इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "अकीर्तिमित्यादि" और भी देखो हे अर्जुन ! यह जो भूतप्राणी समुदाय है चाहे वह समर्थ है अथवा असमर्थ है देव मनुष्य यक्ष किन्नर प्रभृतिक सभी जीव समुदाय आपकी अपकीर्तिदुर्यश को पार्थ जो शस्त्रविद्या में अतिशय रूप से महिमा को प्राप्त किये हैं वह आज युद्ध सज्जित योद्धागण को देख करके ही भाग गये इत्याकारक कुख्याति कहेंगे इससे अधिक कष्ट क्या होगा ? भले ये लोग अपकीर्ति फैलावें इससे क्या होगा अर्थात् कुछ नहीं होगा ? इस शंका के उत्तर रूप में कहते हैं—"संभावितस्येत्यादि" संभावित अर्थात् शूरतादि गुण से संयुक्त जो पुरुष व्यक्ति हैं उन्हें अकीर्ति दुर्यश होना मरण से भी अधिक दुख देनेवाला होता है । श्रीमद्वाल्मीकिरामायण उत्तर काण्ड में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने कहा है "जिस व्यक्ति की अपकीर्ति दुनिया में फैलती है उस व्यक्ति का तावत् काल पर्यन्त विशेष निन्दित लोक में निवास होता है कब तक ? यावत् काल पर्यन्त अपकीर्ति बोधक शब्द का उच्चार संसार में रहता है । अनन्तानंत ब्रह्माण्ड के नायक परिपूर्ण ब्रह्म भगवान् श्री अयोध्यानाथ श्रीरामचन्द्रजी के उक्त वचन से यह सिद्ध है अतः नरकपात में कारण लक्षण जो अपकीर्ति तदपेक्षया मरण हो जाना ही कल्याण कारक है तो अपकीर्ति का निराकरण आवश्यक है ॥३४॥

भयादि कारण से जो युद्ध से निवृत्त होता है उसकी अपकीर्ति होती है मैं तो स्वकीय बन्धुबान्धवादि के ऊपर जो स्नेह तथा करूणा है उससे व्याप्त होकर युद्ध से निवृत्त हो रहा हूं । तब शूरों में अग्रणी जो मैं हूं उसकी अपकीर्ति कैसे होगी इस शंका के

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

परतं विरतं मंस्यन्ते । मन्येरन्नित्यर्थः । येषां दुर्योधनादीनां महारथानां बहुमतो बहुमानमवाप्तो भूत्वेदानीं लाघवं लघुतामनादरमित्यर्थः । यास्यसि ॥३५॥

ननु भवतु लाघवं तथापि तज्जन्ये क्षोदीयसि दुःखे न कापि मे चिन्तेत्यत आह–अवाच्यवादानिति । तवाहिता रिपवः कर्णादय एव नापि तु त्वयानायासेनैव पराजिता अत्यल्पबलैश्वभवन्तोऽपि त्वदीयं युद्धौदासीन्यमधिगम्य लब्धप्रसरास्तव सामर्थ्यं निन्दन्तो दुरतिक्रमं कौरवकुलमालोक्य पलायितोऽर्जुन इदानीं रणप्राङ्गणान्निर्बलस्य तस्यास्माभिस्सह योधने नैव शक्तिरित्येवंविधान् बहूनवाच्यान् वादान् वदिष्यन्ति । ततोऽधिकं दुःखविशिष्टं किन्नु भवेत् । सत्यपि सर्वातिशायिनि सामर्थ्ये जीवत एवेदं निन्दावाक्यश्रवणजं दुःखं मरणतोऽप्यधिकमिति भावः ॥३६॥

समाधान के लिये कहते हैं "भयादित्यादि" महारथ अर्थात् महारथ लक्षण से युक्त जो दुर्योधन जयद्रथ प्रभृति योद्धागण हैं वे तुम्हें भय के कारण संग्राम से निवृत्त उपरत समझेंगे । अर्थात् स्वजन के स्नेह के कारण तुम निवृत्त हो गये हो ऐसा वे लोग नहीं समझेंगे किन्तु भय के कारण संग्राम से विरत समझेंगे । जिस दुर्योधनादिक महारथियों से बहुमत अर्थात् सम्मान प्राप्त हो करके अब आप उन्हीं लोगों से अनादर प्राप्त करेंगे इससे और क्या दुःख का स्थान होगा । अतः आप इस संग्राम से उपरत नहीं बनें ॥३५॥

जिन महारथियों से मैं बहुमानित था उनके सामने मेरी लाघवता होगी तो भले हो परन्तु लघुताजन्य जो दुःख होगा वह समस्त बन्धु-बान्धव नाश जन्य दुःख से तो बहुत छोटा है उस छोटे दुःख के लियेमुझे कोई चिन्ता नहीं है इस शंका के उत्तर में कहते हैं "अवाच्यवादानित्यादि" हे अर्जुन ! यद्यपि तुम्हें अल्प दुःख की चिन्ता नहीं है तथापि तुम संग्राम से उपरत हो जाते हो तब तुम्हारे जो अहित करनेवाले शत्रु कर्णादिक हैं जो अनायासेन अनेक बार तुम से पराजित हुए हैं वे लोग अल्प विभव वाले हैं, किन्तु त्वदीय युद्ध में उदासीनता को जान करके मौका पाकर तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए किसी से भी अतिक्रमण करने में अयोग्य कौरव कुल को देखकर यह अर्जुन युद्ध मैदान से भाग गया । अत्यन्त दुर्बल जो अर्जुन है उसे हमलोगों के साथ लडने की ताकत नहीं है । इस प्रकारसे अनेक प्रकारक बहुत अवाच्य वचन बोलेंगे । इससे अधिक दुःख विशिष्ट क्या होगा ? सर्वातिशायी सामर्थ्य के रहने पर भी जीवित व्यक्ति की निन्दा वाक्य के श्रवण से जायमान दुःख मरण से भी अधिक दुःख जनक है । अतः युद्ध से उपरत मत बनो ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय? युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

'यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' इति प्रार्थितं निश्चितं श्रेयोयुक्तमभिदधाति—हत इति। हतो वा धर्म्ये युद्धेऽरिभिर्हतश्चेत्। स्वर्गं निष्कामस्य धर्म्ययुद्धस्य मोक्षसाधनतया निरतिशयानन्दस्वरूपमोक्षम्। अत्र स्वर्गशब्दो नेन्द्रलोकपरः किन्तु निरतिशयसुखात्मकपरमनिश्रेयसपरोऽमृतत्वप्रकरणेऽधीतत्वात्। जित्वा वा पराञ्जित्वा तु। महीं वसुन्धराम्। निष्कण्टकं महीराज्यमित्यर्थः। भोक्ष्यसे। तस्मादुभयथा श्रेयोलाभात्। हे कौन्तेय! हे कुन्तीपुत्र! कृतो निश्चयो येन स कृतनिश्चयोऽसं-

संग्राम करने में जय पराजय सदिग्ध है उसमें यदि पराजित होने से स्वयं भी मरेंगे तथा बन्धु परिवार को भी बहुत बडा दुःख होगा। यदि कदाचित् मेरी जीत होगी तब पितामह प्रभृति पूजनीय गुरुजनों के नाश जनित हिंसा होगी तथा निन्दा, इन दोनों से जायमान महादुख होगा। इस प्रकार चिन्ताकुलित चित हो करके अर्जुन ने भगवान् से पूछा था कि भगवन्? मेरे लिये जो कल्याणकारी मार्ग हो वह मुझे निश्चित पूर्वक कहें, क्या मै युद्ध करूं अथवा नैष्कर्म्य ग्रहण करूं, क्योंकि युद्ध में प्रवृत्ति अप्रवृत्ति दोनों उपयुक्त प्रतिभासित नहीं होती है, इस प्रकार की अर्जुन की जो प्रार्थना थी उसमें से निश्चित श्रेयस-युक्त मार्ग के कथन करने के लिए भगवान् कहते हैं—"हतो वा प्राप्स्यसीत्यादि" हे अर्जुन! यदि तुम धर्मयुक्त इस युद्ध में शत्रु जो दुर्योधन कर्ण प्रभृतिक हैं उनके द्वारा मारे जाते हो तब तुम्हें स्वर्ग मिलेगा अर्थात निष्काम धर्मोपेत युद्ध मोक्ष का कारण होने से निरतिशय आनन्द स्वरूप मोक्ष तुम्हें अवश्य ही मिलेगा इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। यहां स्वर्ग शब्द इन्द्रलोकादि का वाचक नहीं है किन्तु निरतिशय सुखात्मक परम निश्रेयस मोक्ष का ही वाचक है क्योंकि अमृतत्व (मोक्ष) के प्रकरण में स्वर्ग शब्द का श्रवण हुआ है "यन्न दुखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्॥" जो सुख विशेष दुःख से युक्त नहीं हो और जिसका उत्तरकाल में विनाश नहीं होता है और अभिलाषामात्र से उपनीत है प्राप्त है उस सुख विशेष का नाम है स्वर्ग। तथा "तद्विष्णोः परम् पदम्" वही सुख विशेष विष्णु का परम पद है। इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि स्वर्ग शब्द प्रकृत में मोक्ष का वाचक है ननु—"स्वर्गकामो यजेत" स्वर्गकामनावान् पुरुषमात्र यज्ञ करें इत्यादि कर्मकाण्ड प्रकरण पठित इन्द्रादि लोक का वाचक है। तो हे अर्जुन! यदि कदा-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

शयापन्नः सन् युद्धाय योद्धुम् । उभयविधश्रेयःसाधनात्मकं युद्धं कर्तुमित्यर्थः उत्तिष्ठ तत्परो भव ॥३७॥

मोक्षमिच्छता नरेण कथं योद्धव्यमित्याह—सुखदुःखे इति । सुखदुःखे सम रेऽवश्यंभ विशस्त्रपातादिजन्यहर्षशोकात्मकविकारौ समे तुल्ये । कृत्वा । तज्जन्यवि कारशून्यो भूत्वेत्यर्थः । सुखदुःखविषयकानुभवजन्यहर्षशोकरूपविकाराभावात्मकभ- क्तिसाधनान्तर्गतानवसादानुद्धर्षविशिष्टः सन्निति यावत् । अनवसादानुद्धर्षौ तु भक्ति- साधनतयाऽभिहितौ साधनदीपिकायामस्मत्सम्प्रदायाचार्यैः श्रीबोधायनमहर्षिशिष्यैः श्रीगङ्गाधराचार्यैः–'शोकभीतिनिमित्तेनावसादश्चित्तदीनता । तदभावो हि सम्प्रोक्तो- ऽनवसादो महात्मभिः ॥ उद्धर्षः खलु सन्तोषोऽनुद्धर्षस्तद्विपर्ययः । शोकवच्चाति-

चित् तुम फल की इच्छा रहित हो कर युद्ध करते हुए शत्रु के द्वारा मर भी जाओगे तब भी तुम को यथोक्त मोक्ष की प्राप्ति होगी । जो मोक्ष भगवत् कृपा रहित व्यक्ति के लिए दुष्प्राप्य है । अतः तुम युद्ध अवश्य करो । जित्वा वेति, जित्वा वा=यदि कदाचित् तुम युद्ध में अपने शत्रु को जीतते हो तब तो कण्टक रहित पृथ्वीका जो साम्राज्य है उसका उपभोग करोगे । इसलिये दोनो प्रकार से श्रेयस का लाभ होने से–हे कौन्तेय ? कुन्ती के पुत्र अर्जुन निश्चय करके, कर लिया है निश्चय जिसने उसे कृत निश्चय कहते है तो तुम कृतनिश्चय होकरके अर्थात् सन्देह रहित होकरके युद्ध करने के लिये उभय प्रकार से श्रेयः का साधन रूप जो युद्ध उस युद्ध को करने के लिये तत्पर हो जाओ, अर्थात् निसदिग्ध होकर के युद्ध करो ॥३७॥

मोक्ष की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति विशेष किस प्रकार युद्ध करेगा अर्थात् साधन द्वारा साध्य की प्राप्ति होती है यह सामान्य नियम है । इसमें सांसारिक तथा पारलौकिक सुख के प्रति यागादिक कारण है और मोक्ष सिद्धि के लिए श्रवणादिक तथा शमादिक का कारण के रूप में कथन किया है । हिंसादि रूपकारण से तो अशुभफल की प्राप्ति होती है तब हिंसादि दोष युक्त युद्ध कर्म से मोक्ष की प्राप्ति किस तरह हो सकती है । यदि कदाचित् मान लो कि युद्ध से भी मोक्ष की प्राप्ति होगी तब तो ज्ञान तथा शमादिक को मोक्ष के प्रति कारणता का शास्त्र में जो विधान है वह निरर्थक हो जायगा । इस प्रकार आकुलित अर्जुन को समझाने के लिये भगवान् कहते हैं–"सुखदुःखे" इत्यादि । सुख दुःख

सन्तोषे मनः शैथिल्यहेतुता ॥' इति । लाभालाभौ सुखदुःखजनकावर्थाधिगमानधिगमौ । जयाजयौ तज्जनकौ विजयपराजयौ । च समौ कृत्वा । तज्जन्य विकाराभाववान् भूत्वा फलकामनाशून्यः सन्नित्यर्थः । ततः कर्त्तव्यबुद्ध्या । युद्धाय संग्रामं विधातुम् । युज्यस्व सन्नद्धो भव । एवमात्मयाथात्म्यावबोधपुरस्सरं निष्कामं संग्राममनुतिष्ठन् । पापं दुःखात्मकं संसारम् । नावाप्स्यसि । संसारबन्धाद्विनिर्मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥" (ईशावा० २) इति श्रुतिवचनाद्विद्याऽङ्गतयाऽनुष्ठीयमानं कर्म संसारहेतुर्न भवतीति यावत् ॥३८॥

अर्थात् संग्राम में अवश्य ही होने वाला शस्त्र पातादि से समुत्पद्यमान हर्ष शोक रूप विकार विशेष है इन दोनों को समान करके अर्थात् तादृश विकार रहित हो करके । सुख दुःख विषयक जो अनुभव तादृश अनुभव से उत्पन्न होनेवाला जो हर्षशोक रूप विकार तदभावस्वरूप भक्तिरूप साधन के अन्तर्गत जो अवसाद और अनुद्धर्ष उससे विशिष्ट होते हुए युद्ध के लिये प्रवृत्त हो जाओ इस अग्रिम वाक्य के साथ सम्बन्ध है । अनवसाद तथा अनुद्धर्ष को भक्ति का साधन रूप से कथन किया है । साधनदीपिका नामक ग्रन्थ में मेरे सम्प्रदाय के आचार्य श्रीबोधायन महर्षि के शिष्य जगद्गुरु श्रीगंगाधराचार्यजी ने तथाहि "शोकभीत्यादि" शोक भयादि कारण से समुत्पन्न जो अन्तःकरण की दीनता है उसी को अवसाद कहते हैं एतादृश चित्त दीनता रूप जो अवसाद उसके अभाव को महात्मालोग अनवसाद कहते हैं । और संतोष को उद्धर्ष कहते हैं एवं तदभाव को अनुद्धर्ष कहते हैं । मन में शिथिलता का कारण जैसे शोक है उसी प्रकार से अतिसंतोष भी मन के शिथिलता में कारण है अतः अति संतोष को त्यागकर भगवदाराधन में सर्वदा संलग्न रहना चाहिये इति । एवं लाभ तथा अलाभ सुख दुःख का जनक अर्थ विषयक ज्ञानाज्ञान तथा जय और अजय तज्जनक विजय पराजय, इन दोनों को समान करके अथ लाभालाभजन्य जो विकार विशेष उससे रहित होकरके फल कामना रहित होकरके यह पर्यवसितार्थ है । तदनन्तर कर्तव्यता बुद्धि से युद्ध के लिए अर्थात् संग्राम करने के लिए सन्नद्ध हो जाओ इस प्रकार आत्मा का जो यथार्थ ज्ञान तत्पूर्वक कामनारहित संग्राम करते हुए पाप अर्थात् दुःखरूप संसार को प्राप्त नहीं करोगे । संसारबन्धन से विनिर्मुक्त हो जाओगे । इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहने की इच्छा रखना, इस प्रकार यावज्जीवन कर्म करने से अशुभ कर्मका लेप सम्बन्ध नहीं होगा । इससे अन्य कोई प्रकारान्तर नहीं है इत्यादि वचन प्रामाण्य से सिद्ध होता है कि विद्या के अंग रूप से किया गया कर्म संसाररूप बन्धन का कारण नहीं होता है ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

अथोपासनोपायभूतकर्मयोगमभिधातुमुपक्रमते—एषेति । हे पार्थ ! सम्यक् ख्यायते स्वपरस्वरूपमनया सा संख्या बुद्धिस्तयावगतं सांख्यं तस्मिन् सांख्ये स्वपरयाथात्म्यावबोधविषये । एषा । बुद्धिः शास्त्रनिष्पाद्यो निर्णयः । ते तुभ्यम् । अभिहिता'ऽशोच्यानन्वशोचस्त्वमि'त्यारभ्य 'तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसी'त्यन्तेन प्रबन्धेनोदीरिता । योग उपासनद्वारा मोक्षोपायभूते कर्मयोगे तु । इमां वक्ष्यमाणां बुद्धिम् । शृणु । यया बुद्ध्या युक्तः । त्वम् । कर्मणा बन्धः कर्मबन्धस्तं कर्मकृतसंसारबन्धनम् । प्रहास्यसि ॥३९॥

वक्ष्यमाणबुद्धियुक्तकर्ममहिमानमाह—नेति । इह वक्ष्यमाणे कर्मयोगे । अभिक्रमनाशोऽभिक्रमस्यारम्भस्य नाशो हानिः । नास्ति । आरब्धस्य समाप्तिमनवाप्तस्य

इसके बाद उपासना का उपाय (कारण) रूप जो कर्मयोग है उसको कहने के लिए उपक्रम करते हैं "एषा ते" इत्यादि । हे पार्थ अर्जुन ! समीचीनरूप से पदार्थ का स्वरूप समझाया जाय जिसके द्वारा उसका नाम है संख्या अर्थात् बुद्धि इस प्रकार की बुद्धि से जो अवगत हो उसे कहते हैं सांख्य उस सांख्य में अर्थात् स्व पर याथात्म्य विषयक जो बोध तद्विषय में। यह बुद्धि अर्थात् शास्त्र से निष्पन्न निश्चय तुम्हें कहा गया है "अशोच्यमानन्वशोचस्त्वम्" इस प्रकरण से प्रारंभ करके "तस्मात् सर्वाणि" एतत्पर्यन्त ग्रन्थ से कहा गया है । "योगे तु" इत्यादि । योग अर्थात् उपासना द्वारा मोक्ष कारण लक्षण कर्मयोग में तो यह वक्षमाण बुद्धि को सुनो अवधारण करो, जिस बुद्धि से युक्त हो करके तुम कर्म बन्धन को कर्म द्वारा निष्पन्न जो बन्ध उसे कहते हैं कर्मबन्ध उस कर्मबन्ध को अर्थात् कर्म संपादित संसार बन्धन को छोड़ोगे। संसार बन्धन की निवृत्ति बहुत जल्दी हो जायगी ॥३९॥

वक्ष्यमाण बुद्धियुक्त कर्मयोग की महिमा को बतलाते हैं—"नेहाभिक्रमेत्यादिग्रन्थ से । भाष्यकार ने कहा है कि "महिमानमाह' इसका यह अभिप्राय है कि कर्मयोग विषयक बुद्धि का आश्रय लेकर कर्मबन्ध के अभाव का प्रतिपादन किया गया है परन्तु यह तभी हो सकता है कि संपूर्ण रूप से यथाविधि कर्मानुष्ठान सम्पन्न होवें अन्यथा नहीं किन्तु अल्प

विच्छेदश्चवाप्तस्य फलाभिसन्धिरहितस्येश्वराराधनबुद्ध्याऽऽचरितस्य कर्मणो नैष्फल्यं नास्तीत्यर्थः । प्रत्यवायो न विद्यते । यागे समारब्धे विच्छेदमापन्ने यजमानस्य स्वर्गादिफलालाभ एव न किन्तु ब्रह्मराक्षसत्वप्राप्तिरपि भवति । परमपुरुषश्रीरामोद्देश्य-ककर्मणि तु तथा न भवति, तत्रत्यप्रत्यूहव्यूहस्य भगवत एव विनाशकत्वात् । उक्तञ्च भगवतैव 'योगक्षेमं वहाम्यहमि'ति । अब्रुवंश्चैवमेवास्मदाचार्यवर्याः जगद्गुरवः श्रीराघवानन्दमहामुनीन्द्राः—'शश्वद् भक्तसमूहस्य सद्योगक्षेमवाहिने । प्रधानपुरुषेशाय राघवेन्द्राय मङ्गलम् ।' (श्रीराघवेन्द्रमङ्गलमाला) इति । अस्यात्मयाथात्म्यानुसन्धानपूर्व-

ज्ञानवत् अस्मत् सदृश व्यक्ति से यथावत् कर्म का अनुष्ठान अशक्य है और 'तमेव विदित्वा" इत्यादि श्रुति से आत्मज्ञानमात्र का उपायभूत जो यज्ञदानादिक कर्म हैं उसका फल तो विनाशी होने से वह कर्म भी संसार बन्धन को नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकता है किन्तु भगवदाराधन बुद्धि से क्रियमाण जो कर्म वही भगवत्प्रसन्नता संपादन द्वारा संसार बन्धन के विनाश में—कारण है इसी बात को अभिव्यक्त करने के लिए कहा है भाष्यकार ने कर्ममहि-मानमाहेत्यादि ग्रन्थ से । इह=अर्थात् वक्ष्यमाण जो कर्मयोग उसमें अभिक्रम का नाश अभिक्रमण का अर्थ है आरंभ उसका विनाश नहीं है । जो आरब्ध हुआ परन्तु समाप्त नहीं हुआ है इसका विच्छेद नहीं होता है । तथा अवाप्तफलाभिसन्धि रहित ईश्वर की आराधनबुद्धि से किया गया जो कर्म है उसका नैष्फल्य अर्थात् फलानुत्पादकत्व नहीं होता है यह अर्थ है । तथा परमेश्वर की प्रपन्नता प्राप्त्यर्थ क्रियमाण जो कर्म है इस कर्म के करने में किसी प्रकार का प्रत्यवाय प्राप्ति भी नहीं होती है जैसे यज्ञ का आरंभ किया परन्तु बीच में यदि याग का विच्छेद हो जाता है तो याग फल को चाहनेवाला जो यजमान उसको यज्ञ के फलरूप स्वर्ग प्राप्ति नहीं होती है इतना ही नहीं किन्तु ब्रह्मराक्षसत्व की भी प्राप्ति हो जाती है । परन्तु परमपुरुष मर्यादा सागर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के उद्देश्य से क्रियमाण जो कर्म है वह कभी भी निष्फल नहीं होता है तथा विपरीत फल को देनेवाला होता है क्योंकि भक्त पुरुष से क्रियमाण कर्म में आनेवाला जो विघ्नराशि है उसका विनाश करनेवाले स्वयं साकेता-धिनाथ सरकार ही हो जाते हैं । इस बात को भगवान् स्वमेव कहते हैं "योगक्षेमं वहाम्यहम्" भक्तों के योगक्षेम को मैं निर्वाहित करता हूं । (जैसे शार्वर तम का प्रभाव उसी स्थान में सफल होता है जहाँ भगवान् भास्कार का प्रभाव नहीं रहता है उसी प्रकार भगवत्कृपा विहीन पुरुष से क्रियमाण कर्म अंग वैकल्यादि प्रयुक्त विघ्न से अफल वा विपरीत फलक भी हो जाय । किन्तु भगवत्कृपा सिंचित व्यक्ति सम्बन्धी कर्मानल में तो विघ्न स्वयमेव "अग्नावग्निशलभा पतन्ति" इस न्याय का विषय हो जाता है ।)

व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।४१॥

कस्य मुमुक्षुभिर्भगवत्प्रीत्यर्थमाचरितस्य कर्मयोगाख्यस्य धर्मस्य । स्वल्पमप्यत्यल्पभागोऽपि । महतोऽधिकात् । भयाज्जन्ममृत्युभीतेः । त्रायते रक्षति । विच्छेदे निष्फलत्वात् प्रत्यवायावहत्वादमृतत्वानापादकत्वाच्च नान्येषां लौकिकानां वैदिकानाञ्च कर्मणामेतादृशत्वमिति भावः ॥४०॥

काम्यकर्मबुद्ध्यपेक्षया मोक्षोपायभूतनिष्कामकर्मबुद्धेर्वैशिष्ट्यमाह—व्यवसायात्मिकेति । हे कुरुनन्दन ! इह मुमुक्षुभिराचरणीये भगवदाराधनात्मके शास्त्रीये कर्मणि । व्यवसायात्मिका "देहाद्यतिरिक्तोऽणुज्ञानस्वरूपोऽहं भगवतः श्रीरामस्य दासः । मम

मेरे आचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीराघवानन्दाचार्यजी ममामुनि ने भी ऐसा ही कहा है श्रीराघवेन्द्रमंगलमाला नामक ग्रन्थ में "हर हमेश भक्त समूह के योगक्षेम को वहन करने कराने वाले जडचेतन के शासक भगवान् राघवेन्द्र सरकार का मंगल हो।" आत्मा का जो यथार्थानुभव तदनुसंधानपूर्वक मुमुक्षु के द्वारा भगवत् प्रीति के लिए क्रियमाण जो कर्मयोग तद्रूप जो धर्म तादृश धर्म का अल्प भी जो भाग है वह महान् अर्थात् अत्यधिक भय से जन्म मरण रूप भय से त्राण करता है (रक्षा करता है) एतादृश कर्म से भिन्न जो चाहे लौकिक कर्म हो अथवा वेदोक्त कर्म हो वह महान् भय से रक्षा नहीं कर सकता है क्योंकि अन्य कर्म है वह तो विच्छेद होने से निष्फल हो जाता है प्रत्यवाय का जनक होता है और अमृतत्व मोक्ष का जनक भी नहीं होता है, और भगवान् के उद्देश्य से कृत जो यह कर्मयाग नामक धर्म है वह तो कदाचित् मध्य में विच्छिन्न होने पर भी निष्फल अथवा विपरीत फलक कदापि नहीं होता है, यह सरल अर्थ है।४०॥

भगवान् की प्रसन्नता का उत्पादक जो कर्मयोग विषयक ज्ञान उसका माहात्म्य बतला करके फल कामना से अनुष्ठित जो काम्यकर्म विषयक बुद्धि है उसकी अपेक्षा से मोक्षका कारण रूप जो निष्काम कर्म बुद्धि है उसका वैशिष्ट्य प्रतिपादन करने की इच्छा से अग्रिम श्लोक का कथन करते हैं "व्यवसायात्मिका" इत्यादि । हे कुरुनन्दन ! कुरुनन्दन इस सम्बोधन से भगवान् ने यह अभिव्यक्त किया कि अपवर्गसाधन रूप इस ज्ञान में आपकी बुद्धि लग पड़ी इसलिये कुरुनन्दनत्व सार्थक हुआ है । इह यहाँ अथवा इसमें अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले व्यक्ति से आचरण करने के योग्य परमपुरुष के आराधना रूप शास्त्र प्रतिपादित जो कर्मयोग है उसमें व्यवसायात्मिका बुद्धि शरीरेन्द्रि मन बुद्धि

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

स्वामी जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपस्तदुदयावनलयलीलः परात्परतरः सर्वेश्वरो हेयप्रत्यनीकोऽनवधिकातिशयदयादिकल्याणगुणोदन्वान् निग्रहानभिज्ञानन्तकरुणाकरुणागारभूताया भगवत्याः श्रीसीतायाः पतिर्ब्रह्मापरपर्यायो भगवान् श्रीरामोऽनेन स्वाराधनात्मकेन फलाभिसन्धिवर्जितेन कर्मणाऽवश्यं मे मुक्तिं विधास्यति संसारबन्धनादस्मादि''ति निश्चयो व्यवसायः । तादृशव्यवसायात्मिका बुद्धिः । एकाऽऽग्नेयादित्रिषयकबुद्धिरिवैकफलोपायविषयकत्वेनैकविधा । न तु व्यक्त्यैक्याद्विषयैक्याद् समूहगोचरत्वाद्वैका सेति भावः । अव्यवसायिनामुक्तविधनिश्चयापेतानाम् । बुद्धयः । अनन्ताः स्वर्गादिफलानामानन्त्यादनन्तप्रकाराः । बहुशाखा एकस्मिन्नपि कर्मण्यवान्तरफलानां बहुत्वाद्बहुप्रकाराः । भवन्ति ॥४१॥

विषय से भिन्न अणु ज्ञानस्वरूप जो मैं हूं वह श्रीराम साकेताधिनाथ का दास एकान्त सेवक हू और मेरे शासक चिदचित् संपूर्ण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण रूप हैं संपूर्ण जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय करना एतादृश लीलाशील हैं परात्पर हैं सर्व के सभी जड चेतन के शासन करनेवाले हैं हेय जो गुण उसका विरोधी जो अनवधिक अतिशय दयादि कल्याण गुण हैं उसके महासागर हैं निग्रहानभिज्ञ अनंतकरूणा की महासागरस्वरूपा भगवती विदेहनन्दिनी के स्वामी हैं । परब्रह्म है अपरनाम जिनका ऐसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भगवान् आराधनात्मक हमसे क्रियमाण फलेच्छा रहित कर्मयोगात्मक कर्म करने से अवश्यमेव इस कर्म का फल जो मोक्ष है वह अवश्य देंगे, संसार बन्धन से मुक्त अवश्य करा देंगे । एतादृश निश्चय का नाम है व्यवसाय । एतादृश व्यवसायात्मिका जो बुद्धि है वह एक ही प्रकार की होती है । जैसे आग्नेयादि त्रिषयक बुद्धि एक फल के प्रतिउपाय (कारण) विषयक होने से एक प्रकारक होती है न कि व्यक्ति की एकता होने से अथवा विषय की एकता होने से अथवा समूह विषयक होने से एक रूपा होती है ऐसा भाव है और अव्यवसायी जो है अर्थात् यथोक्त निश्चयात्मक बुद्धि से रहित जो है उनकी जो बुद्धि है वह तो अनन्ता है अर्थात् स्वर्गादिक फलों के अनन्त होने से अनन्त प्रकारक होती है तथा बहुत अनन्त शाखा वाली होती है अर्थात् एक कर्म में भी अवान्तर फलों के बहुत होने से अनेक प्रकारक होती है ॥४१॥

मोक्ष का उपाय कारण जो भगवद् भक्ति तथा कर्म योग उसमें लोगों की प्रवृत्ति जल्दी हो तथा इह लौकिक एवं पारलौकिक जो स्रक् चन्दन वनितादि एवं स्वर्गादि विषय

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

इतं मोक्षोपाये प्रवर्त्तकमितरैहिकामुष्मिकविषयवैराग्यमुत्पादयितुं काम्यकर्मफलासक्तान् निन्दति—यामिमामिति त्रिभिः। हे पार्थ! वेदेषु वादा वेदवादास्तेषु रता वेदवादरताः स्वर्गादिवादासक्ताः। अन्यन्नास्तीति वादिनोऽन्यत् स्वर्गादेरुत्कृष्टमपवर्गाख्यं फलं न विद्यते इत्येवं भाषणशीलाः। कामेष्वात्मा येषां ते कामात्मानः कामाख्यपुरुषार्थासक्तचेतसः। विषयासक्तचित्ता इत्यर्थः। स्वर्गः परो येषां ते स्वर्गपराः स्वर्गमेवोत्कृष्टं पुरुषार्थं मन्यमानाः। अविपश्चितः स्थिरास्थिराविवेकादल्पज्ञाः। भोगैश्वर्यगतिं प्रति भोग ऐश्वर्यं तस्य गतिं प्रति। स्वर्गाद्यनुभवलक्षणैश्वर्यावाप्तिं प्रति। वर्त्तमानां। पुष्पितां पुष्पमात्रफलाम्। आपातरमणीयामित्यर्थः। जन्मकर्मफलप्रदां 'यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते' (छां. ५।१०।५) 'न केवलं द्विज श्रेष्ठ! नरके दुःखपद्धतिः। स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः।' (वि. पु. ३।५।५०) इत्यादिश्रौतस्मार्तवचनात् स्वर्गादिफलावसाने 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति।' (मु. १।२।७) 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्त रमणीयां योनिमा-

से वैराग्य का उत्पादन करने के लिये काम्यकर्म यागादिक उसका जो फल है उसमें आसक्त भगवत्सेवा पराङ्मुख व्यक्ति की निन्दा बतलाने के लिये कहते हैं "यामिमामित्यादि" श्लोक त्रयको। हे पार्थ हे पृथापुत्र! वेद में जो वाद उसका नाम है वेदवाद, उस वेदवाद में जो रत है अर्थात् आसक्त है उसे कहते हैं वेदवादरत। स्वर्गादि फल में आसक्त व्यक्ति विशेष हैं अन्य वस्तु नहीं है अर्थात् स्वर्गादिक फल ही सर्वफलापेक्षया उत्कृष्ट है इससे भिन्न मोक्षादिरूप फल नहीं ऐसा बोलनेवाले जो हैं तथा काम में आत्मा है जिनकी उसे कहते हैं कामात्मा अर्थात् काम नामक जो पुरुषार्थ स्त्रीपुत्रादि रूप तावन्मात्र में आसक्त हो जिनका मन विषय में आसक्त चित्त वाले तथा स्वर्ग ही पर है जिनका उसका नाम है स्वर्गपर स्वर्गमात्र को परमोत्कृष्ट पुरुषार्थ माननेवाले तथा अविद्वान् स्थिर अस्थिर बुद्धि होनेसे अल्पप्रज्ञ भोगैश्वर्य गति के प्रति भोग ऐश्वर्य की गति के प्रति अर्थात् स्वर्गादि का जो अनुभव तत्स्वरूप ऐश्वर्य प्राप्ति के प्रति वर्तमान पुष्पित पुष्पमात्रफलक अर्थात् आपातरमणीय जन्मकर्मफल को देनेवाली "यावत्संपातमिति" जब तक स्वर्गफल जनक रहता है तावत्पर्यन्त चन्द्रमण्डल में निवास करने के बाद पुनः उसी मार्ग से निवृत्त होते हैं। "न केवलम्" हे द्विज श्रेष्ठ केवल नरक में ही दुःख होता है ऐसा नहीं किन्तु स्वर्ग में भी पतन के भय से क्षयशील व्यक्ति को सुख नहीं

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

पद्येरन्।' (छां. ५।१०।७) 'ततः परिवृत्तो कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते' (आपस्तम्बधर्मे २।१।२) इत्यादिशास्त्रोक्तमनुशयमनुसृत्य पुनरस्मिल्लोके फलाय कर्माचरितुं जन्मरूपकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां तत्त्वज्ञानवैधुर्यादग्निहोत्रादिक्रियाविशेषप्राचुर्यवतीम्। यामिमां वाचं स्वर्गादिफलश्रुतिम्। तया अपहृत चेतसामपहृतं चेतो येषां तेऽपहृतचेतसस्तेषामपहृतमनसाम्। अपह्नुतात्मपरमात्मज्ञानानामित्यर्थः। अत एव भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्। समाधौ समाधीयत उत्पाद्यत आत्मपरमात्मज्ञानं यस्मिन्निति समाधिर्मनस्तस्मिन्। व्यवसायात्मिका प्रागुक्ता। बुद्धिर्न विधीयते नोत्पद्यते। अतो मुमुक्षुणैहिकामुष्मिकविषयप्रदा काम्यकर्मासक्तिः सर्वथा त्याज्येति भावः॥४२।४३।४४॥

होता है। इत्यादि श्रुति स्मृति के वचन से स्वर्गादिफल के अवसान में "प्लवा एते" यह प्लवरूप जो साधन है वह दृढ नहीं है चंचल है जिस यज्ञ में सोलह ऋत्विक् तथा यजमान यजमान पत्नी यह अठारह ये अवर जिसमें कर्म हैं जो मूढ व्यक्ति इसी यज्ञ को श्रेयोजनक समझता है वह बारम्बार मृत्यु को (संसार को) ही प्राप्त करता है। "तद्य इह" जो अच्छे पुण्य कर्मवाले हैं वे पुण्ययोनि को प्राप्त करते हैं।

"ततः परिवृत:" स्वर्ग से पुनः आया हुआ जीव कर्मफल के अवशेष से पुनः जातिरूप वर्णबल मेधा प्रज्ञा द्रव्य धर्मानुष्ठान को प्राप्त करता है। (आपस्तंब) इत्यादि शास्त्र प्रतिपादित अनुशय (भुक्तावशिष्ट) कर्म को लेकर के पुनः इस लोक में आगामी फल के लिये कर्माचरण के लिए स्वर्ग से उत्तर करके इस लोक में आता है। क्रिया यज्ञदानादिरूपा उससे बहुल तत्वज्ञान के नहीं होनेसे अग्निहोत्रादि क्रियाविशेष की अधिकतावाली 'याम्' जिस वाणी को स्वर्गादिफलश्रुतिरूपावाणी को बोलते हैं 'तया' उस वाणी से अपहृत है मन जिनका अर्थात् आत्मा परमात्मा के ज्ञान से रहित अतएव भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्त मनवाले की जो बुद्धि है वह समाधि में समीचीनरूप से आहित हो उत्पादित हो आत्मा परमात्मा विषय ज्ञान जिसमें उसका नाम है समाधि अर्थात् उस मन में व्यवसायात्मिका बुद्धि कथमपि उत्पन्न नहीं होती है। इसलिये जो व्यक्ति मोक्ष विषयक इच्छावान् हैं उन्हें चाहिये कि अनित्य सातिशय ऐहिक अथवा पारलौकिक पुत्र कलत्र इन्द्र यमादिक पदात्मकफल को देनेवाला जो कृषि गोरक्षा तथा अग्निहोत्र वाजपेयादि प्रभृतिक जो काम्यकर्म हैं तद्विषयक आसक्तिका परित्याग करके तथा

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ?।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

नन्वधोऽवस्थामापन्नानाञ्जीवानामुज्जीवनमेवोद्दिश्य हितानुशासने प्रवर्त्तमाना वेदा अल्पास्थिरफलकानि संसारप्रयोजकानि च कर्माणि किमर्थमुपदिशन्तीत्याशङ्कायामाह—त्रैगुण्यविषया इति। वेदा अनाप्तानुच्चरिता मन्त्राद्यात्मका अनादिनिधना ऋगादिसंज्ञामवाप्ता वाचः। त्रैगुण्यविषयास्त्रयो गुणा एव त्रैगुण्यं तद्विषयो येषां ते त्रैगुण्यविषयाः। अत्र त्रैगुण्यशब्द उपचारात् त्रिगुणप्रचुरान् पुरुषानभिधत्ते। यद्वा त्रयो गुणा येषान्ते त्रिगुणास्त एव त्रैगुण्यास्ते विषया येषान्ते तथोक्ताः। स्वस्मिन्नप्रामाण्यबुद्ध्याऽनुपायमुपायतयोपादाय विनाशं नावाप्नुयुरिति तत्तदधिकारानुगुण्येन सत्त्वरजस्तमः प्रचुराणाञ्जीवानांहितावबोधका इत्यर्थः। हे अर्जुन ! त्वं निर्गतं त्रैगुण्यं यस्मात् स निष्क्रान्तस्त्रैगुण्यादिति वा निस्त्रैगुण्योऽन्योन्यसङ्कीर्णगुणत्रयरहितः।

एषणात्रय से रहित हो करके नित्य निरतिशय सुखरूप मोक्ष प्राप्ति के लिये उपासना सहित कर्म द्वारा भगवद्भक्ति का संपादन करें ॥४२॥४३॥४४॥

अधोवस्था नीच गति को प्राप्त किया हुआ अतएव अनेक प्रकारक दुःख परम्परा से विखिन्न मन वाला जीवराशि है उसे उज्जीवित संमुद्धार करने की इच्छा से उन जीवराशि के हितमार्ग का अनुशासन करने के लिये अर्थात् हित वस्तु का उपदेश करने के लिये ही तो वेदशास्त्र प्रवृत्त हुआ है तब वेदशास्त्र अल्प तथा अस्थिर तथा संसार की प्राप्ति हो एतादृश कर्मराशि का उपदेश क्यों देता है परन्तु तादृश पदार्थ का ही उपदेश करें जिससे जीवको हिततम नित्यस्थिरफलक वस्तु की प्राप्ति हो इस शंका के प्रसंग में कहते हैं—"त्रैगुण्यविषया" इत्यादि। हे अर्जुन वेद अर्थात् अनाप्त से अनुच्चरित मन्त्र ब्राह्मणाद्यात्मक अनादि निधन उत्पादविनाशरहित ऋक् साम यजु इत्यादि नाम को प्राप्त किया हुआ जो वचन समुदायात्मक वेद है वह तो त्रैगुण्यविषयक है तीन गुण का नाम ही त्रैगुण्य है वह त्रिगुण ही है विषय जिनका उसे कहते हैं त्रैगुण्य विषयक। यहाँ त्रैगुण्य शब्द उपचार से अर्थात् लक्षणा वृत्ति द्वारा त्रिगुण की प्रचुरता अधिकता है जिसमें एतादृश त्रिगुणाधार पुरुष का बोधक है। अथवा तीनगुण सत्वरजस्तमसात्मक गुण है जिसका उसका नाम है त्रिगुण और तादृश त्रिगुण और तादृश त्रिगुण को ही त्रैगुण्य कहते हैं वह त्रैगुण्य है विषय जिसका उसे कहते हैं त्रैगुण्य विषयक। स्वमें अप्रमाण्य बुद्धि से अनुपाय को भी उपाय बुद्धि से ग्रहण करके स्वेच्छाचारिता से यह प्रजावर्ग विनाश को प्राप्त न करे अतः तत्तत् व्यक्ति को स्वोचित अधिकार के आनु-

भव। रजस्तमोऽस्पृष्टशुद्धसत्त्वप्रचुरो भवेत्यर्थः। तदुपायमाह–निर्द्वन्द्व इति। निर्द्वन्द्वो भव सुखदुःखादिद्वन्द्वशून्यो भव। द्वन्द्वसहिष्णुर्भवेति भावः। नित्यसत्त्वस्थो नित्यं कदाचिदपि रजस्तमोऽनभिमत यत् सत्त्वं तत्स्थो भव। शुद्धसत्त्वप्राचुर्यमवाप्नुहीत्यर्थः। कथमित्यत्राह–निर्योगेति। निर्योगक्षेमः। अप्राप्तस्याप्राप्तिर्योगः। अवाप्तस्य च परिरक्षणं क्षेमः। तदुभयरहितः सन्। निर्गतात्मपरमात्मावाप्तिसाधनातिरिक्त वस्तुसम्बन्धियोगक्षेमः सन्नित्यर्थः। आत्मवान् भवात्मपरमात्मस्वरूपान्वेषको भव। यद्वा "नदेहो न च प्राणरूपो न बुद्धिर्न बुद्धीन्द्रियं नैव कर्मेन्द्रियं वा। न रक्तं न मांसं न चाप्यस्थि मज्जा परं रामचन्द्रस्य दासश्चिदात्मा।" (चिदात्मप्रबोधः) इत्याचार्यपादश्रीचिदानन्दाचार्योक्तरीत्याऽहमात्मा देहादिभिन्नः सर्वेश्वरस्य भगवतः श्रीरामस्य दासश्चास्मीत्यात्माभिमानवानुभयविभूतिनायकः सर्वेश्वरो भगवान् श्रीराम एव ममोपास्यो नाथश्चेति परमात्माभिमानवाँश्च भव ॥४५॥

कूल्य के अनुसार सत्त्वरजस्तमः प्रधानक जीव को पिता के समान हित समझानेवाला वेद है। अर्थात् जो पुरुष सत्व गुण प्रधानक है उसे सत्वानुकूल उपदेश देता है और जो राजस है उसे रजोनुकूल उपदेश से हितानुशासन करता है तथा तमस को तादृश तदनुकूलोपदेश से हित का उपदेश करता है। स्वस्व गुणानुसारेण पृथक् पृथक् उपदेश करता हुआ वेद सब का हितोपदेष्टा है। हे अर्जुन! तुम तो निस्त्रैगुण्य बनो निर्गत है चला गया है त्रिगुण जिससे वह निस्त्रैगुण्य है अथवा जो त्रैगुण्य से हटा हुआ है उसे निस्त्रैगुण्य कहते हैं परस्पर संकीर्ण जो गुणत्रय है उन गुणत्रयों से तुम रहित बनो। रजोगुण तमोगुण से रहित शुद्ध सत्वगुण प्रधान तुम बनो यह अर्थ है। किस प्रकार से रजस्तमोगुणास्पृष्ट मैं बनूं इस जिज्ञासा के उत्तर में उसके उपाय का प्रतिपादन करते हैं कि "निर्द्वन्द्व" इत्यादि। निर्द्वन्द्व बनो अर्थात् सुखदुख रूप जो द्वन्द्व उससे शून्य बनो द्वन्द्वसहिष्णु बनो यह अर्थ है तथा नित्य सत्वस्थ बनो नित्य अर्थात् कदाचिदपि रजोगुण तमोगुण से नहीं संस्पृष्ट जो सत्वगुण उसमें आश्रित बनो। शुद्ध सत्वगुण की प्रचुरता को प्राप्त करो यह अर्थ है। किस प्रकार से शुद्ध सत्वगुण आश्रित बनें इस शंका के उत्तर में कहते हैं "निर्योगक्षेम" इत्यादि। अप्राप्तपदार्थ की जो प्राप्ति उसे कहतेहैं योग, तथा संप्राप्त पदार्थ का जो संरक्षण उसे कहते हैं क्षेम उभदुभय से रहित होते हुए निर्गत जो आत्मा परमात्मा की प्राप्ति साधन से अतिरिक्त वस्तु सम्बन्धी योगक्षेम हो करके अर्थात् परमात्मा प्राप्ति का जो साधन तदतिरिक्त वस्तु विषय प्राप्ति साधन से रहित होकर आत्मवान् बनो आत्मा, तथा परमात्मा का जो स्वरूप है उसको [illegible]

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

वेदेषु मोक्षसाधनमेवोपादेयं मुमुक्षोरिति सदृष्टान्तं प्रतिपादयति—यावानिति । यथा सर्वतः परितः । सम्प्लुतं समग्रमुदकं यस्मिंस्तस्मिन् संम्प्लुतोदके तदाकांक्षावद्भ्यो ऽखिलेभ्योऽधिकारिभ्यः पानस्नानाद्यखिलप्रयोजनेभ्यो वा परिकल्पिते पूर्णोदके । उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपानं तस्मिन्नुदपाने कूपे । यावानर्थो यत्परिमाणकमुदकमिष्यते तावत्परिमाणकमेव जलं गृह्णाति कूपान्नाधिकमित्यर्थः । तथा विजानतो हेयोपादेयविषयकज्ञानमस्यास्य । मुमुक्षोरित्यर्थः । अणति कीर्त्तयतीत्यणो ब्रह्मणो वेदस्याणो ब्रह्मणः स एव ब्राह्मणस्तस्य ब्राह्मणस्य वैदिकस्य । सर्वेषु कर्मब्रह्मप्रतिपादकेषु । वेदेषु ।

कर्मेन्द्रिय वागादिरूप हूं । न रक्तस्वरूप हूं । न मांस स्वरूप हूं नापि अस्थि मज्जा स्वरूप हूं । किन्तु सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी का नित्य दास चिदात्मा हूं" यह जो जगद्गुरु श्रीचिदानन्दाचार्यजी का कथन तदनुसार मैं देहेन्द्रियादि से भिन्न चित् आत्मा हूं सर्वेश्वर सर्वनियन्ता भगवान् श्रीराम का दास हूं, इत्याकारक अभिमानवान् ऐहिक पारलौकिक अथवा प्राकृतिक अप्राकृतिक विभूति के नायक सर्वेश्वर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे उपास्य हैं तथा नाथ हैं इत्याकारक अभिमानवान् बनो ॥४५॥

मुमुक्षु पुरुष को वेद में से जो मोक्ष का साधन है तावन्मात्र का ग्रहण करना चाहिये तदन्यांश का ग्रहण न करें इस बात को दृष्टान्त प्रदर्शन पूर्वक गीताचार्य कहते हैं "यावानर्थ" इत्यादि । यहां के प्रकरण का यह अभिप्राय है कि प्रथमतः प्रायः वेद के दो विभाग हैं कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड । उसमें प्रथम में प्रायः यज्ञ का विधान है । वह यज्ञ दो प्रकार का है सकाम तथा निष्काम । इन दोनों का प्रतिपादन किया है प्रथम काण्ड में । कामनाविशेष को लेकरके जो याग किया जाता है उसे सकाम याग कहते हैं—अग्निष्टोम वाजपेय प्रभृति' निष्काम याग उसे कहते हैं जिसमें कामना का परित्याग करके भगवदाराधन बुद्धि से किया जाता है ।

ज्ञानकाण्ड में उपासना का समावेश होता है उसमें आत्मा तथा परमात्मा का स्वरूप परिचायक भाग है तथा सगुणोपासना विधायक भी है । इसमें से मुमुक्षु के लिये ज्ञानकाण्ड उपासना सहित एवं निष्काम कर्म प्रतिपादक भागमात्र संग्राह्य है । इतर अंश कामना विशिष्ट अधिकारी से ग्राह्य है—इस बात को बतलाने के लिये भाष्यकार ने उपक्रम किया है "मोक्षसाधनमित्यादि" जैसे सर्वतः चारों तरफ से समग्र उदक है जिसमें एतादृश कूप में जलाभि-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

यावान् यदेव मोक्षसाधनतया विहितम् । तावान् तदेवोपादेयम् । अनधिकृतत्वान्मोक्षेतरस्वर्गादिफलसाधनमनुपादेयमेव मुमुक्षोरिति भावः ॥४६

तावानित्येतस्यार्थं स्फोटयति—कर्मणीत्यादिना । ते नित्य सत्त्वस्थस्य मुमुक्षोस्तव । कर्मण्येव वेदविहितनित्यनैमित्तिकादिकर्मानुष्ठान एव अधिकारः । कदाचन कदाचिदपि । फलेषु कर्मसाध्येषु स्वर्गादिफलेषु । मा तेऽधिकारो मा भूदित्यर्थः । फलमुद्दिश्यानुष्ठितानां कर्मणां बन्धहेतुतया फलमपहाय मोक्षसाधनलाद्भगवदाराधनात्मकानि नित्यनैमित्तिकादीनि शास्त्रविहितानि कर्माणि त्वनुष्ठेयान्येवेतिभावः । कर्मफलहेतुः कर्म

लाषी निखिल अधिकारी से अथवा स्नानपानादि निखिल प्रयोजनवान् पुरुष से परिकल्पित पूर्णोदक में जलपान किया जाय जिस अधिकरण में उसका नाम है उदपान उस उदपान अर्थात् कूप में यावत्परिमाणक जल अभिलषित हो उतना प्रमाण से ही जल लिया जाता है । पिपासु व्यक्ति प्रयोजन परिमाण से ही जल को कूप से लेता है किन्तु अधिक जल का ग्रहण नहीं करता है यह अर्थ है इसी प्रकार से हेय उपादेय विषयक ज्ञान सम्पन्न मुमुक्षु को ब्राह्मणस्येति कीर्तन कथन जो करे उसका नाम है अण और ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मवेद का कथनवाला कहलाता है ब्रह्मण ब्रह्मण को ही ब्राह्मण कहते हैं अर्थात् ब्राह्मण कहते हैं वेद प्रवक्ता वैदिक को । सर्व वेद में जितना ही मोक्ष साधना रूप से अपेक्षित है उतना ही उपादेय है अधिक नहीं क्योंकि इतरांश में अनधिकृत होने से मोक्षसे इतर जो स्वर्गादि का साधन है यागादिक वह मुमुक्षु को उपादेय नहीं है जैसे कूप से उतना ही जल लिया जाता है जितना लेने से पानादिक कार्य निष्पन्न हो जाय नतु प्रयोजन से अधिक जल का ग्रहण करता है उसी प्रकार से मुमुक्षु को वेद से उतने ही अंश का ग्रहण करना चाहिये जितना से अभिलषित मोक्ष सिद्ध हो जाय ॥४६॥

गत श्लोक में तावान् यह जो पद दिया है उस तावत् पद का जो अर्थ है उसीका स्पष्टीकरण करने के लिये कहते हैं "कर्मणीत्यादि" नियमतः सत्वगुण में अवस्थित तुम्हारे सदृश मोक्षाभिलाषी पुरुष को कर्म में अर्थात् वेदविहित नित्य नैमित्तिक जो कर्म है उसके अनुष्ठान करने में ही तुम्हें अधिकार है । कदाचन कभी भी फल में कर्म साध्य जो स्वर्गादिफल है उस में तुम्हें अधिकार नहीं है । अर्थात् फल जो स्वर्गादि उसे उद्देश्य करके अनुष्ठीय मान जो कर्म अग्निहोत्र अथवा वाजपेयादिक याग विशेष है उसे संसार रूप बन्ध के प्रति जनकता होने से फलेच्छा को छोड कर मोक्ष का कारण जो भगवान् का आराधनात्मक कर्म जो वेद

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ?।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

च फलञ्च कर्मफले तयोर्हेतुः कारणम् । मा भूस्त्वं न भव । कर्मणि कर्तृत्वाभिमानः फलेऽनुरागः स्वीयत्वाभिमानो वा सर्वथा परिहरणीय इत्यर्थः । अकर्मणि युद्धादिस्ववर्णाश्रमधर्माणामननुष्ठाने । ते तव । सङ्ग आसक्तिः । मा न । अस्तु । धर्मानुष्ठानविषयासक्तिरेव तेऽस्त्विति भावः ॥४७॥

प्रोक्तमर्थं विवृणोति । हे धनञ्जय ! कर्मसु संगमासक्तिंत्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा जयपराजययोः हर्षविस्मयौ परित्यज्य योगस्थः सन्नशेषाणि कर्माणि कुरु । योगश्चात्र समत्वरूपमुच्यते ॥४८॥

विहित नित्य नैमित्तिक कर्म है उसका अनुष्ठान तो तुम अवश्य करो । और कर्मफल का कर्म सकाम अग्निहोत्र वाजपेयादिक तथा उस कर्म का जो फल है स्वर्गादिक इन दोनों का हेतु कारण मत बनो । मैं कर्मयागादि करता हूं, एतादृश कर्तृत्वाभिमान एवं कर्मजनित फल स्वर्गादि में अनुराग आसक्ति स्वकीयत्व के अभिमान को सर्वथा छोड दो कर्म में कर्तृत्वाभिमान तथा तज्जनित फल में स्वकीयत्वाभिमान सर्वथा ही परिहरणीय है । और अकर्म जो युद्ध प्रभृति स्ववर्णाश्रम धर्म है उसके अननुष्ठान में तुम्हें आसक्ति न हो किन्तु स्वकीय वर्णाश्रम धर्मानुष्ठान में आसक्ति तो हो यह भाव है । अर्थात् हे अर्जुन ! कर्म में कर्तृत्वाभिमान तथा कर्मजनित फल में आसक्ति को छोड़कर के भगवदाराधन बुद्धि से धर्म का अनुष्ठान करने से संसार की प्राप्ति नहीं होगी पर उससे भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष मिलेगा ॥४७॥

पूर्व श्लोक में जो कहा है उसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं "योगस्थ" इत्यादि । हे धनञ्जय ! धन जितने का स्वभाव है जिसका उसे कहते हैं धनञ्जय इससे "तुमने दिग्विजय करके उस युद्ध में भी राजओं को परास्त करके धन की प्राप्ति की थी इसलिये तुम्हें संभावित इस युद्ध में विजय श्री अवश्य प्राप्त होगी पराजय की शंका न करो इसका सूचन भगवान् ने किया यह अभिव्यक्त किया है ।. कर्म में तथा तज्जनित फल में संग आसक्ति को छोड़ करके तथा सिद्धि असिद्ध में सम हो करके युद्ध में जय तथा पराजय उस जय पराजय से होनेवाला जो हर्ष तथा विस्मय उसे छोड करके योगस्थ होते हुए सभी कर्म को करो । योग शब्द का अर्थ है यहां समता अर्थात् क्रियमाण जो कर्म नित्य नैमित्तिक काम्य में जो फल कामना है उसे छोड़ करके तथा क्रियमाण कर्म का जो फल है लाभालाभ उसमें समता को आश्रित करके सभी कर्म करो । यहां समता शब्द का अर्थ है पर प्राप्ति का

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ?।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

काम्यकर्मापेक्षया निष्कामं कर्मश्रेष्ठमित्याह—दूरेणेति । हे धनञ्जय ! बुद्धि-योगाद् बुद्धयाऽऽत्मपरमात्मयाथात्म्यावबोधहेतुकमुख्यफलत्यागावान्तरफलसिद्ध्यसिद्धि-साम्यगोचरधिया योगो यस्य तत्तथाविधं तस्मादेतादृशबुद्धियुक्तात् कर्मणः । निष्का-मकर्मण इत्यर्थः । कर्म काम्यं कर्म । दूरेणात्यन्तम् । अवरमपकृष्टम् । हि । अपरिमि-तदुःखाम्भः परिपूर्णसंसारपारावारात् समुत्तार्य परमपुरुषार्थात्मकमोक्षापादकत्वान्नि-ष्कामकर्मणां परमोत्कर्षः काम्यकर्मणान्तूक्तविधसंसारसागरे निपातनशीलत्वादत्य-न्तापकर्ष इत्यर्थः । अतो बुद्धौ शरणं वासस्थानम् । अन्विच्छ । तस्यामेव तिष्ठेत्यर्थः ।

उपाय वह उपाय समतापन्न मन में होत है अतः समभावापन्नत्व का नाम है योग । योग शब्द यद्यपि अनेकार्थक है तथापि प्रकृत में समभावापन्नत्व ही अर्थ किया गया ॥४८॥

काम्य जो अग्निहोत्रादिक कर्म हैं तदपेक्षया निष्कामकर्म श्रेष्ठ है तो निष्कामकर्म में श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "दूरेण" इत्यादि । हे धनञ्जय ! हे अर्जुन ! बुद्धियोग की अपेक्षा बुद्धि से अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा का जो यथार्थज्ञान का कारण मुख्य फल त्याग तथा अवान्तर फल सिद्धि असिद्धि की समता विषयक बुद्धि से योग है जिसे उसका नाम है बुद्धियोग एतादृश बुद्धियोग से युक्त जो कर्म तादृश कर्म अर्थात् निष्कामकर्म की अपेक्षया जो वह काम्यकर्म है वह दूर अत्यन्त अवर है हीन है क्योंकि अपरिमित जो दुःखरूप जल उससे परिपूर्ण जो संसाररूप समुद्र उससे पार उतार करके परम-पुरुषार्थरूप मोक्ष का संपादन निष्काम कर्म है अतः निष्काम कर्म रूप होते हुए भी परम उत्कृष्ट है, और जो यह सकाम कर्म है वह तो अनेक प्रकारक दुःख से युक्त संसार सागर में गिरानेवाला है इसलिये निष्काम कर्मापेक्षया अतिशयेन दूर है अर्थात् हीन है । अतः हे अर्जुन ! तुम तो अपने वासःस्थानरूप में बुद्धि की हीं इच्छा करो अर्थात् बुद्धि में स्थिर रहो । फल है प्रवृत्ति में कारण जिनका उसका नाम है फल हेतु अर्थात् फल की कामना से कर्म का अनुष्ठान करनेवाले पुरुष कृपण हैं क्योंकि बुद्धियोग का आश्रय नहीं लेनेसे वे लोग मोक्ष को प्राप्त नहीं करके संसार को हीं प्राप्त करेंगे इस लिये तादृश पुरुष दयापात्र हैं । याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि जो आत्मा को नहीं जान कर इस लोक से जाता है वही कृपण है । भाष्य [illegible] [illegible] श्लोक का अभिप्राय है कि हे अर्जुन ! परमेश्वर [illegible]

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

फलहेतवः फलं हेतुर्येषान्ते फलहेतवः फलकामनया कर्मानुष्ठातारः । कृपणा दीनाः । बुद्ध्यनाश्रितत्वात्ते मोक्षमनवाप्य संसरणमाप्नुयुरितिदयनीया एव इति भावः ॥४९॥

बुद्धियोगयुक्तस्य श्रेष्ठतामाह--बुद्धियुक्त इति । बुद्धियुक्तो बुद्ध्या युक्तो बुद्धियुक्तः प्रागुक्तबुद्ध्युपेतः । इहास्मिञ्जन्मनि । उभे । सुकृतदुष्कृते सुकृतञ्चदुष्कृतञ्च सुकृतदुष्कृते अनादिकालात् सञ्चिते बन्धकारणे पुण्यपापसंज्ञके कर्मणी । जहाति त्यजति । अलौकिकत्वविशिष्टानिष्टसाधनत्वेन पापवत् पुण्यस्यापि हेयत्वमेव । तस्मात् । योगाय प्रागुक्तबुद्धियोगाय । युज्यस्व यत्नं विधेहि । कर्मसु क्रियमाणेषु कर्मसु ।

जनक संसार का कारण है कृपण व्यक्ति से ही आसेवित है । निष्काम कर्म करने से वह भक्ति पूर्वक मोक्ष प्राप्ति में कारण होने से निष्काम कर्म अति श्रेष्ठ है अतः तुम बुद्धियोग की सहायता लेकर ससार सागर से पार हो जाने के लिये निस्काम कर्म का अनुसरण करो ॥४९॥

बुद्धियोग से युक्त की श्रेष्ठता बतलाने के लिये कहते हैं "बुद्धियुक्तः" इत्यादि । हे अर्जुन ! पूर्वोक्त जो बुद्धि उससे, युक्त समताशील अविकारी इह इसी जन्म में अर्थात् जिस शरीर विशेष में समता बुद्धि विशिष्ट हुई है तादृश शरीरावच्छेदेनैव उभे दोनों को सुकृत दुष्कृत को अर्थात् अनादि जन्म परम्परा से संचित बन्ध का कारण पाप पुण्य नामक कर्मद्वय हैं उसे छोडता है अलौकिकत्व विशिष्ट जो अनिष्ट नरकादिक उसका साधन होने से पाप त्याज्य होता है उसी प्रकार से पुण्यकर्म भी शुभ इन्द्रादि देह या पद प्राप्तिरूप बन्धन का कारण होने से वह भी त्याज्य है क्योंकि त्याग में कारण है बन्ध जनकता वह जैसे पाप में है उसी तरह पुण्य में है विशेषता इतनी ही है कि स्वर्गादिक में अल्पमात्र में दुःख जनकता है और नरकादिक में सुख अतिशयेन गौण है और दुःख सर्वावस्था में है । अतः अन्यत्र कहा है कि--

"कामं कुलकलंकाय कुलजातापि कामिनी । शृंखला स्वर्णजातापि बन्धनाय न संशयः ॥

इससे यह, सिद्ध होता है कि जैसे बन्ध जनकत्व लौह शृंखला में होने से दुःखजनकता है तद्वत् बन्धजनकत्व सुवर्ण शृंखला में भी है । प्रकृत में बन्धजनकता उभय पापपुण्य में है अतः पापवत् पुण्य भी हेय है । "तस्मात्" इस कारण से योग के लिये पूर्वोक्त योग के लिये प्रयत्न करो । क्रियमाण कर्म में बुद्धि योग अतिशयेन सामर्थ्य विशिष्ट है । बुद्धियोग के अभाव में बन्धन देनेवाला कर्म भी बुद्धियोग विशिष्ट होने पर भगवान् के

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

योगो बुद्धियोगः । एव । कौशलमतिसामर्थ्यम् । बुद्धियोगवैधुर्ये बन्धजनकमपि कर्म-बुद्धियोगवैशिष्ट्ये भगवदाराधानात्मकतया मोक्षापादकं भवतीति भावः ॥५०॥

अथ बुद्धियुक्तश्रेष्ठतायाः विवरणं करोति–कर्मजमिति । बुद्धियुक्ताः प्रागुक्तबुद्धि-समन्विताः । मनीषिणस्तत्त्ववेत्तारः । भगवत्प्रीत्यर्थं भगवदाराधनात्मकानि कर्माणि सम्पादयन्तोऽपि । कर्मजं कर्मजन्यम् । फलं स्वर्गादिरूपं फलम् । त्यक्त्वा । जन्मब-न्धविनिर्मुक्ता जन्मना जन्मैव वा बन्धो जन्मबन्धस्तेन विनिर्मुक्तास्तथाविधः सवासनं जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तः । अनामयं न विद्यन्ते आमया व्याधयोयस्मिन् तदनामयं तत्तथाभूतमुपद्रवापेतम् । पद्यते गम्यत इति पदं 'तद्विष्णोः परमं पदमि'त्यादिश्रुतिप्रति-पादितं नित्यधाममुक्तोपसृप्यं भगवन्तं श्रीरामं प्राकरणिकं जीवस्वरूपं वा । गच्छन्ति समाप्नुवन्ति । हि सर्वासूपनिषत्सु प्रसिद्धम् ॥५१॥

आराधनात्मकता स्वरूप को प्राप्त करके मोक्ष का संपादक होता है । जैसे दधि और विष स्वरूपतः ज्वर मरण कार्यकारी होने पर गुण तथा मन्त्र विशिष्ट होने से बलादि कार्य का संपादक होता है तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये ॥५०॥

इसके बाद बुद्धियुक्त की श्रेष्ठता का बुद्धियोग का विवरण फल बतलाते हैं "कर्म-जमित्यादि" बुद्धियुक्त पूर्वोक्त बुद्धि समन्वितमनीषी तत्व को जाननेवाले विद्वान् भगवान् की प्रीति के लिये भगवदाराधनात्मक कर्म को करते हुए भी कर्म से जायमान जो स्वर्गादिक फल उसे छोड करके जन्म से जायमान जो बन्ध अथवा जन्म रूप जो बन्ध उस जन्मबन्ध से विनिर्मुत होकरके वासना सहित तादृश बन्ध से निर्मुक्त होकर अनामय नहीं विद्यमान है आमय–व्याधि जिसमें उसका नाम है अनामय एतादृश जो स्थान सभी प्रकार के उपद्रव से रहित प्राप्त जो हो उसका नाम है अनामय जो भगवान् श्रीराम का स्थान साकेत स्वामित्व लक्षण "तद्विष्णोः परमं पदम्" इस श्रुति प्रसिद्ध नित्यधाम मुक्त पुरुष से प्राप्तव्य भगवान् श्रीरामात्मक धाम उसे विद्वान् पुरुष प्राप्त करते हैं । अर्थात् विद्वान् लोग कर्मजन्य फल का अनादर करके निष्काम कर्म द्वारा भगवद् भक्ति को प्राप्त करके जन्मकर्म बन्धन सेविमुक्त होकर सर्वोपद्रवरहित नित्य निरामय श्रीरामात्मकस्थान को प्राप्त करके कृत्यकृत्य होते हैं ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

ज्ञानासाध्यस्यानामयपदस्य लाभः कर्मणा कथमित्याशङ्कायामाह—यदेति । यदा । ते प्रागुदितप्रकारेण कर्मानुष्ठातुस्तव । बुद्धिश्चित्तम् । मोहकलिलं देहादावहंममभावलक्षणमोहरूपं कालुष्यम् । व्यतितरिष्यति स्वाराधनात्मककर्मानुष्ठानेन तुष्टिमापन्नस्यानन्तकरुणावरुणालयस्य भगवतः श्रीरामस्य कृपया विशेषेण तरिष्यति । तदा श्रुतस्य माहशाप्तमसकाशाद्धेयतयाऽऽकर्णितस्य श्रोतव्यस्य श्रोष्यमाणस्य चार्थस्य कृते । निर्वेदं वैतृष्ण्यम् । गन्तादि स्वयमेवावाप्स्यसि ॥५२॥

अथ कर्मयोगस्योद्देश्यं योगाभिधेयं फलमभिदधाति—श्रुतीति । श्रुतिविप्रतिपन्ना श्रुत्याऽऽक्षतमाकारणबन्धुसर्वेश्वरत्वविशिष्टमत्तः श्रवणेन विप्रतिपन्ना विशेषेण प्रतिप-

ज्ञान के द्वारा नहीं प्राप्त करने के योग्य मात्र भक्ति से साध्य जो परमपद उसकी प्राप्ति कर्म से कैसे होगी अर्थात् कारण से कार्य होता है अकारण से नहीं होता है प्रकृत में मोक्ष प्राप्ति के प्रति कारण तो भक्ति है नतु ज्ञान या कर्म है तव अकारण कर्म से अथवा ज्ञान से मोक्ष कैसे होगा ? यदि अकारण से भी कार्य हो तब तो सभी को सर्वदा सर्वत्र सर्व कार्य प्राप्त होना चाहिए इस शंका के समाधान में कहते है "यदेत्यदि" यदा जब पूर्वोक्त प्रकार से कर्मानुष्ठान करनेवाले तेरी बुद्धि अन्तःकरण मोहकलिल को देहेन्द्रियादिक में जो अहंभाव तथा ममभाव लक्षण कलुषता अर्थात् कालुष्य है उस कालुष्य को छोड़ देगी परमेश्वर के आराधनात्मक कर्मानुष्ठान से संतुष्ट जो भगवान् अनन्तकरुणा के महासागर श्रीरामजी की कृपा से अतिक्रमण कर जायगी तदा उस काल में आप्त पुरुष से हेयरूप से श्रोतव्य सुनने के योग्य जो पदार्थ है उसके लिये निर्वेद अर्थात् वैतृष्ण्य वैराग्य को तुम्हारी बुद्धि स्वयं ही प्राप्त कर जायगी । अर्थात् जिस समय में देहादिक में अहं ममभाव लक्षण कलुषता का अभाव होगा उसके बाद में श्रुत तथा श्रोतव्य पदार्थ के लिये मन में वशीकार संज्ञक वैराग्य को प्राप्त करोगे तदनन्तर लक्ष्य की प्राप्ति होगी ॥५२॥

इसके बाद कर्मयोग का उद्देश्य जो योग नामक फल है उसका कथन करने के लिये कहते हैं अर्थात् सर्वेश्वर परमात्मा के उद्देश्य से क्रियमाण जो कर्म योग उसका क्या फल है तदर्थ आगे के प्रकरण का उत्थान करते हैं "श्रुति विप्रतिपन्नेत्यादि" श्रुति विप्रतिपन्न श्रुति

न्नाऽऽत्मपरमात्मापवर्गोपायरूपस्ववर्णाश्रमकर्मयाथात्म्यविषयकतामापन्ना । अचलैकरूपा । देशकालविषयदोषैरपहतिमप्राप्तेत्यर्थः । ते तव । बुद्धिर्मतिः । समाधौ फलाभिसन्धिवर्जितकर्मानुष्ठानेन परिशुद्धे मनसि । यदा । निश्चलाऽविच्छेदमवाप्ता । स्थास्यति । तथा । योगं योगाख्यमात्मावलोकनम् । अवाप्स्यसि प्राप्स्यसि । "शास्त्रादात्मज्ञानं भवति । तत्पूर्वकेण कर्मयोगेन स्थितिप्रज्ञताभिधानाज्ज्ञाननिष्ठोत्पाद्यते । सा योगाख्यमात्मसाक्षात्कारञ्जनयति ।" इत्येवंरूपः क्रमश्चात्रावगन्तव्यः । ततश्च 'साधनतया विधीयमानस्य योगस्य साध्यतया कथनमयुक्तम् ।' आत्मज्ञानपूर्वकेण कर्मयोगेनात्मज्ञान एव साधित आत्माश्रयः ।' इत्यादिशंकाप्रसङ्गपङ्को दूरतः परित्यक्त एव भवेत् ॥५३॥

से अर्थात् सभी आप्तों में श्रेष्ठ अकारण (उपकार की अपेक्षा न रख करके कार्य करनेवाले) एतादृश जो बन्धु तथा सर्वेश्वरत्वादि धर्म से युक्त मुझ से श्रुत्या श्रवण द्वारा विप्रतिपन्ना विशेष रूप से प्रतिपन्न=आत्मा परमात्मा अपवर्ग का उपाय स्वकीय वर्णाश्रम के याथार्थ्य विषयकता को प्राप्त किया इस का बुद्धि पद से संबन्ध है एतादृश जो बुद्धि तथा अचला एक रूपा देशकाल विषय दोष से अपहति (विनाश) को नहीं प्राप्त की हुई, यह अर्थ है, ऐसी जो तेरी बुद्धि मति वह समाधि में अर्थात् फल विषयक इच्छा रहित कर्मानुष्ठान करने से परिशुद्ध जो मन है उस मन में जिस काल में निश्चल रूप निर्वातस्थल में प्रदीप कलिका के समान अविच्छिन्नरूप से तुम्हारी बुद्धि अवस्थिता होगी उस समय में योग नामक आत्मा का अवलोकन को प्राप्त करेगी। पहले शास्त्र द्वारा आत्मज्ञान होता है अर्थात् शब्द जनित परोक्ष आत्म विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है तादृश शास्त्र जनित ज्ञान पूर्वक कर्मयोग से स्थितप्रज्ञ नामक ज्ञाननिष्ठा उत्पादित होती है इसके बाद यह ज्ञान निष्ठा योग नामक अपरोक्ष आत्म साक्षात्कार को उत्पन्न कराती है एतादृश क्रम यहाँ आचार्य तथा सम्प्रदाय द्वारा जानना चाहिये। इसलिये "आचार्यवान् पुरुषो वेद" जिस व्यक्ति ने शुश्रूषादि के द्वारा आचार्य प्रसादन किया है वह पुरुष आत्मा को जानता है ऐसा श्रुति भी कहती है। भगवान् श्रीराम के परमभक्त ज.गु. श्रीतुलसीदासजी ने भी कहा है "बिनु गुरु होइ न ज्ञान"। अतः साधन (कारण) रूप से विधीयमान जो योग है उसीको साध्य रूप से कथन करना यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्म ज्ञान द्वारा जायमान जो योग है उसी योग से आत्म ज्ञान की सिद्धि करने में आत्माश्रय (स्व से स्व को सिद्ध करना) दोष हो जाता है इत्यादि शंका का प्रसंग दूर से ही परित्यक्त हो जाता है मत्कृत व्याख्यान में ॥५३॥

卐 अर्जुन उवाच 卐

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ?।
स्थितधीः किम्प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अथार्जुनः का नाम कर्मयोगसाध्या योगसाधनभूता च स्थितप्रज्ञता ? कथञ्च तद्विशिष्टः पुरुषोऽनुतिष्ठतीत्येतत् पर्यनुयुङ्क्ते–स्थितप्रज्ञस्येति। हे केशव ! समाधिस्थस्य समाधौ शीतोष्णादिद्वन्द्वजन्यविकाराभावात्मकसाम्यापन्ने मनसि तिष्ठतीति तथोक्तस्तस्य। साम्ययोगेन मनो वशीकृत्य स्थितस्येत्यर्थः। स्थितप्रज्ञस्य स्थिता स्थिरतामापन्ना प्रज्ञा यस्य स तथाभूतस्तस्य। भाष्यतेऽभिधीयतेऽनयेति भाषा स्वरूपवाचकः शब्दः कः ? स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं किमित्यर्थः। स्थिता धीर्यस्य सस्थितधीः

इसके बाद अर्जुन भगवान् से पूछते हैं कि हे भगवन् ! कर्म योग से उत्पन्न होने वाली तथा योग के साधन स्वरूप यह स्थित प्रज्ञता क्या वस्तु है स्थित प्रज्ञ किसे कहते हैं स्थित प्रज्ञता विशिष्ट पुरुष किस प्रकार रहता है इत्यादि अर्जुन की शंका को कहते हैं "स्थितप्रज्ञस्येत्यादि" हे केशव ! केशव शब्द का यह अर्थ होता है—क नाम है ब्रह्मा जगत् उत्पादक सत्य लोक निवासी कमलासन का तथा ईश शब्द का अर्थ होता है प्रलय समय में सकल जड समुदाय का विनाशक श्रीमहादेव का इन दोनों को जो उत्पन्न करे ज्ञान का उपदेश करे उसका नाम है केशव। कश्च ईशश्चेति केशौ तौ वापयति उत्पादयति ज्ञापयति सकल पदार्थ विषयकं बोधं जनयतीति केशवः "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे. उपनिषद्) "संक्षिप्यहि पुरा लोकान् मायया स्वयमेवही। महार्णवे शयानोप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः॥ (श्रीमद्रामाय ७।१०४।४) "यो ब्रह्माणं विदधाति" इत्येतच्छ्रुतिमानतः। रामो विधिं विधायादौ तस्मै वेदं हि दत्तवान्।' इत्यादि रूप से श्रुति स्मृति इतिहास आदि में प्रतिपादित है अतः सर्व नियामक सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी ही हैं तो इस विशेषण से यह अवगत होता है कि हे भगवन् ! आप ही ब्रह्मा शिवादिक प्राक्तन महापुरुष को भी उपदेश देनेवाले हैं इसलिये जिज्ञासु अनन्य शरण हो करके आपकी शरण में आया हूं अतः आप ही कृपा करके मुझे उपदेश दें। इस केशव पद प्रयोग से भगवान् में जगद्गुरु का प्रयोग मुख्य है तदितर में यत्र तत्र जो जगद्गुरु शब्द का प्रयोग है वह शक्त्या प्रयोग नहीं है गौणी वृत्ति से यथा कथंचित् प्रयोग है।

विधिशिवादि के जनक तथा ज्ञापक सकल लोक के गुरु ! समाधिस्थस्य समाधि में शीत उष्णता आदि जो द्वन्द्व जनित विकार तदभाव स्वरूप समतापन्न मन में जो रहे उसे कहते

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

स्थितप्रज्ञः । किं प्रभाषेत ? कथम्भूतया वाचा व्यवहारं कुर्यात् । वाचिकक्रियाप्रकार-विषयकः प्रश्नोऽयमिति बोध्यम् । किमासीत ? कथमुपविशेत् ? आसनस्य ध्यानार्थ-तया मानसक्रियाप्रकारविषयकः प्रश्नोऽयम् । किं व्रजेत ? कथञ्च गच्छेत् ? कायिक-क्रियाप्रकारविषयकः प्रश्नोऽयम् ॥५४॥

अथ स्वस्वरूपपरिचायिकां स्थितप्रज्ञस्य वृत्तिमाह—प्रजहातीति । हे पार्थ ! आत्मनाऽऽत्मैकावलम्बिना परिशुद्धेन मनसा । आत्मनि प्राकृतदोषवर्जिते विज्ञानघने

हैं समाधिस्थ अर्थात् साम्य योग से अपने मन को वशीकृत करके जो रहे, उसकी तथा स्थित प्रज्ञ स्थित है स्थिरता को प्राप्त की हुई प्रज्ञा बुद्धि है जिसकी उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं । एतादृश स्थितप्रज्ञ की भाषा क्या है भाषित हो अर्थात् अभिधीयमान हो पदार्थ जिसके द्वारा उसका नाम है भाषा स्वरूप को कहने वाला शब्द वह स्थित प्रज्ञा शब्द कैसा है अर्थात् स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या है और स्थित परिनिष्ठित धी बुद्धि है जिसकी उसे स्थित धी कहते हैं ऐसा जो यह स्थितप्रज्ञ है वह कैसे बोलता है किस प्रकार की वाणी से व्यवहार करता है ! यह प्रश्न वाचिक क्रिया प्रकारक प्रश्न है । और स्थितप्रज्ञ व्यक्ति किस प्रकार बैठता है एवं स्थितप्रज्ञ समाधिकाल व्यतिरिक्ति व्युत्पन्न काल में कैसे चलनादि व्यापार को करता है अर्थात् सांसारिक पुरुष का जिस प्रकार कायिक वाचिक मानस व्यवहार होता है उसी प्रकार कायिक वाचिक मानसिक व्यापार स्थित प्रज्ञ का होता है अथवा लौकिक पुरुष व्यापारापेक्षया समाहित पुरुष का व्यापार विलक्षण होता है ऐसा अर्जुन के प्रश्न का आशय प्रतीत होता है । प्रकृत में जो किम् शब्द है उसका अर्थ प्रश्न है नतु आक्षेपार्थक किम् शब्द है । इसलिये किसी टीकाकार ने यहाँ किम् शब्द को आक्षेपार्थक बतलाया है वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रकरण विरुद्ध होने से प्रश्न के अवसर में आक्षेपार्थक शब्द का प्रयोग युक्त नहीं प्रतीत होता है इसलिये प्रश्नार्थकता ही ठीक है ।।५४।।

स्थितप्रज्ञ का जो स्वस्वरूप है उसका परिचय देने वाली वृत्ति के कथन करने के लिए भगवान् कहते हैं—"प्रजहाति' इत्यादि । हे पार्थ हे अर्जुन ! आत्मना आत्मा से अर्थात् आत्मामात्र का अवलंबन विषय करनेवाला अतएव परिशुद्धमन से आत्मन्येव आत्मा में ही अर्थात् प्रकृति जनित सकलदोष से रहित विज्ञानघन रूप सुख पूर्वक मैं स्वयं कुछ भी

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

'सुखमहमस्वाप्सम्' इति प्रतीतिसाक्षिके सुखस्वरूपे स्वात्मनि 'आनन्दमयोऽभ्यासादि'तिवैयासिकन्यायानुमोदिते 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते" इत्यादिश्रुत्युक्ते च निरतिशयानन्दमये सच्चिदानन्दात्मके निखिलहेयप्रतिभटेऽनन्तकल्याणगुणोदन्वनि सर्वान्तरात्मनि सर्वेश्वरे भगवति श्रीरामे वा । तुष्टः सन्तोषमवाप्तः । मनोगतानात्मपरमात्मव्यतिरिक्तान् सर्वान् मनःस्थितान् । कामान् काम्यन्त इति कामास्तान् कामान् प्राकृतशब्दादीन् विषयान् । यदा प्रजहाति प्रकर्षेण त्यजति । "शब्दरूपरसस्पर्शगन्धेषु विषयेषु यः । अनादरः स तत्त्वज्ञैर्विमोकः परिकीर्तितः ।" इति साधनदीपिकोक्तविमोकाख्यभवितसाधनविशिष्टो यदा भवतीत्यर्थः । तदा । अयम् । स्थितप्रज्ञः । उच्यतेऽभिधीयते । ज्ञाननिष्ठकाष्ठामापन्नः स्थितप्रज्ञलक्षणसम्पन्नो भवतीत्यर्थः ॥५५॥

नहीं समझा इत्याकारक प्रतीति प्रसिद्ध स्वकीय आत्मा में "आनन्दमयोऽभ्यासात्" यह जो व्यास का सूत्र है तदनुमोदित में "रमन्ते योगिनोऽस्मिन्" इस व्युत्पत्ति से प्रसिद्ध जो सत्यानन्द चित्स्वरूप रामात्मक ब्रह्म श्रुत्युक्त नित्यनिरतिशयानन्दमय सच्चिदात्मक हेयगुण विरोधी अनन्त कल्याण के महासागर सर्वान्तरात्मा में अथवा सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम में तुष्ट सन्तोष को प्राप्त किया हुआ पुरुष मनोगत अर्थात् परमात्म व्यतिरिक्त सभी मन में रहने वाले काम को जो कि प्रकृति के द्वारा जायमान शब्दादिक सकल विषय का बिलकुल परित्याग कर देता है । शब्द रूप रस स्पर्श गन्धात्मक विषय में जो अनादर होता है उसी को विद्वान् लोग विमोक कहते हैं यह जो साधन दीपिका प्रकरण में प्रति पादित विमोक रूप भक्ति के साधन से जब युक्त होता है तब वह पुरुष स्थित प्रज्ञ कहलाता है अर्थात् ज्ञान निष्ठ चरमावस्था सम्पन्न स्थितप्रज्ञ लक्षण से लक्षित होता है ।

अर्थात् मनोगत संचित कर्म के बल से वासना से अनुमोदित संस्कार रूप से व्यवस्थित सकल काम हट जाता है । यह काम दो प्रकार का होता है बाह्य और आभ्यन्तर । उसमें से बाह्य काम का निरोध इन्द्रियनिरोध से होता है परन्तु मन में रहने वाला काम तो भगवदनुग्रह के बिना निग्रहित नहीं होता है, जब कि भगवान् के अनुराग से अनुरंजित होने से मन भगवान् के तरफ लग जाता है तभी अशेष रूप से काम का विनाश होता है । "इस जीव के अन्दर में अवस्थित सभी काम विनष्ट हो जाते हैं तब यह जीव अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है इसी अवस्था में ब्रह्म की प्राप्ति होती है" ऐसा कठोपनिषत् में कहा है ॥५५॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

अथ ज्ञाननिष्ठस्य सन्निहितामवस्थामाह—दुःखेष्विति । दुःखेष्वाध्यात्मिकादित्रिविधदुःखनिमित्तेषु प्राप्तेष्वपि । अनुद्विग्नमना अनुद्विग्नं क्षोभमप्राप्तं मनो यस्य स तथोक्तः । सुखेषु सुखहेतुष्विष्टसंयोगादिषु सन्निधिं गतेष्वपि । विगतस्पृहो विगता स्पृहा यस्य स विगतस्पृहः स्पृहारहितः । वीतरागभयक्रोधोऽनवाप्तेषु स्पृहा रागः । प्रियगमनाप्रियागमनवारणाशक्तिमत्त्वेन ग्लानिर्भयम् । प्रियगमनाप्रियागमननिमित्तकान्यदुःखजनकमनोविकारः क्रोधः । रागश्च भयञ्च क्रोधश्च रागभयक्रोधा वीता रागभयक्रोधा यस्य स वीतरागभयक्रोधो निरुक्तरागभयक्रोधशून्यः । मुनिरात्मपरमात्ममननशीलः । स्थितधीः स्थितप्रज्ञः । उच्यतेऽभिधीयते ॥५६॥

अथ तत्पूर्वावस्थापन्नं स्थितप्रज्ञमाह—य इति । यः । सर्वत्र सर्वेषु प्रियेषु

ज्ञाननिष्ठा की जो समीपवर्ती अवस्था उसे बतलाते हैं अर्थात् स्थित प्रज्ञ पुरुष की जो उत्तमावस्था है उसका प्रतिपादन करके ततः पर में होनेवाली जो अवस्था उस अवस्था को प्राप्त करनेवाले के स्वरूप का पुनः प्रतिपादन करते हैं "दुःखेषु" इत्यादि । अर्जुन से पूछा गया जो प्रश्न उसमें से प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—हे अर्जुन ! जो पुरुष दुःख में अनुद्विग्न मन है अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक जो तीन प्रकार का दुःख है इन दुःखत्रय के जो निमित्त हैं उनके प्राप्त होने पर भी जो अनुद्विग्न मन वाला रहे । उद्विग्नता अर्थात् क्षोभ उससे रहित मन है जिसका उसे अनुद्विग्नमन वाला कहते हैं । तथा जो सुख में विगतस्पृह हो सुख का हेतु जो पदार्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति उसके सामीप्य में भी विगत है स्पृहा अभिलाषा विशेष जिसे वह विगतस्पृह कहलाता है अर्थात् स्पृहा से रहित । तथा राग भय क्रोध जिसे नहीं है अप्राप्त वस्तु में जो स्पृहा उसका नाम है राग तथा प्रिय वस्तु का गमन और अप्रिय का जो आगमन उसके निवारण करने में जो असामर्थ्य तन्मूलक जो मन में ग्लानि उसे कहते हैं भय । प्रिय का गमन और अप्रिय का जो आगमन एतन्मूलक जो अन्य दुःख उसका नाम है क्रोध । रागभय क्रोध ये तीनों चले गये हैं जिसके उसे कहते हैं—वीतरागभयक्रोध अर्थात् राग भय क्रोध रहित ऐसा जो मुनि आत्मा तथा परमात्मा के मननशील, एतादृश पुरुष विशेष वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है । स्थित प्रज्ञ किसे कहते हैं यह जो अर्जुन का प्रथम प्रश्न था उसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्थित प्रज्ञ का लक्षण कह करके प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया यथोक्त पुरुष स्थित प्रज्ञ कहलाता है ॥५६॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

वस्तुषु । अनभिस्नेहः स्नेहरहितः । तत्तद् । शुभाशुभमनुकूलाननुकूलम् । प्राप्य समुपलभ्य । नाभिनन्दति न प्रशंसति । प्रियसंयोगस्याप्रियवियोगस्य च प्रशंसां न करोतीत्यर्थः । न द्वेष्टि द्वेषं न करोति । प्रियवियोगमप्रियसंयोगञ्च न निन्दतीत्यर्थः सर्वत्रौदासीन्यमेवावलम्बत इति यावत् । तस्य पुरुषस्य । प्रज्ञा मतिः । प्रतिष्ठिता स्थिरताम्प्राप्ता । भवति । सोऽपि स्थितप्रज्ञ एवेतिभावः ॥५७॥

ततोऽपि पूर्वावस्थामापन्नं स्थितप्रज्ञमाह–यदेति । यदाऽयमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः सर्वेभ्यः इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिविषयेभ्यः संहरते प्रत्याहरति । तदा तस्य पुरुषस्य प्रज्ञा मतिः प्रतिष्ठिता स्थिरतां प्राप्ता भवति । सोऽपि स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः ॥५८॥

तत्पूर्व अवस्थावाला स्थित प्रज्ञ को कहते हैं अर्थात् अस्मदादि के समान ही स्थितप्रज्ञ का भी वाग् व्यवहार होता है अथवा अस्मदादिक वाग् व्यवहार से विलक्षण स्थितप्रज्ञ का वाग् व्यवहार होता है यह जो द्वितीय प्रश्न था वाग्व्यवहार विषयक उसका उत्तर देने के लिये कहते हैं "यः सर्वत्र" इत्यादि । जो व्यक्ति विशेष सर्वत्र सभी प्रिय वस्तुओं में स्नेहरहित रहता है तत् तत् शुभाशुभ अनुकूल प्रतिकूल पदार्थ को प्राप्त करके भी प्रशंसा नहीं करता है अर्थात् प्रिय संयोग का अथवा अप्रिय वियोग की प्रशंसा नहीं करता है । अपने इष्ट को प्राप्त करने पर हर्ष की अधिकता से वाणी द्वारा प्रशंसा नहीं करता है तथा अनिष्ट प्राप्ति से जायमान जो रोष उसकी वाणी से निन्दा नहीं करता है और द्वेष नहीं करता है अर्थात् प्रिय वियोग का अथवा अप्रिय संयोग की वाणी द्वारा निन्दा भी नहीं करता है सर्वत्र उदासीनता को ही अवलंबित करता है । एतादृश पुरुष की प्रज्ञा बुद्धि प्रतिष्ठित स्थिरता को प्राप्त करती है वह भी स्थित प्रज्ञ ही है ॥५७॥

इससे भी पूर्वावस्थापन्न स्थित प्रज्ञ का लक्षण कहते हैं अर्थात् किमासीत इत्याकारक जो अर्जुन का तृतीय प्रश्न था उसके उत्तर में कहते हैं "यदा संहरते" इत्यादि । जिस समय में हस्तपादादि स्वकीय अंग को बाहर से हटा करके अन्तः अवस्थित कर लेता है उसी प्रकार से जिस समय में यह योगी स्वकीय इन्द्रिय चक्षु त्वक् श्रवण घ्राण रसना को भी सभी तरफ से खींच लेता है अर्थात् तत्तत् इन्द्रिय का जो विषय शब्दादिक गंधान्त विषय से श्रोत्रादीन्द्रिय को प्रत्याहृत कर लेता हैं । तदा उस काल में उस पुरुष की प्रज्ञा मति प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिरता को प्राप्त होती है एतादृश पुरुष भी स्थित प्रज्ञ ही होता है ॥५८

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

अथ स्थितप्रज्ञताया दौर्लभ्यं तत्प्राप्त्युपायञ्चाभिधत्ते–विषय इति। निराहारस्यान्नाद्यनश्नतः। देहिनः शरीरिणः। विषया विषिण्वन्ति निबध्नन्तीन्द्रियाणीति विषयाः शब्दादयः। रसवर्जं रसो विषयेषु रागस्तेन वर्जं यथा तथा। विनिवर्त्तन्ते। अस्याक्तलक्षणसम्पन्नस्य स्थितप्रज्ञस्य। रसोऽपि विषयरागोऽपि। परं सुखरूपतया विषयेभ्य उत्कृष्टमात्मस्वरूपं ततोऽप्युत्कृष्टं परमात्मानं वा दृष्ट्वाऽवलोक्य। निवर्त्तते॥५९॥

यह जो स्थितप्रज्ञता है उसका दुर्लभता तथा उसकी जो प्राप्ति तदुपाय को बतलाते हैं अर्थात् विषय से विरक्ति तो अन्नादि को नहीं खाने वाले जो कुयोगी हैं अथवा दीर्घरोगी हैं उन्हें भी होती है ऐसा देखने में आता है तो अलक्ष्य जो कुयोगी अथवा दीर्घरोगी उसमें भी यह स्थित प्रज्ञ का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है इस शंका के निराकरण करने के लिये कहते हैं "विषया:" इत्यादि। निराहार=अन्नादिक नहीं खानेवाले देही शरीरी व्यक्ति का विषय इन्द्रिय को अपने में अधीन जो करले उसे कहते हैं विषय शब्द स्पर्श प्रभृति वह रस वर्जित रस शब्द का अर्थ होता हैं राग उस राग से वर्जित होकर निवृत्त हो जाता है अर्थात् अन्नादिक नहीं खानेवाले व्यक्ति का रस विषयक राग को छोड अन्य निवृत्त हो जाता है। यह जो यथोक्त लक्षण सम्पन्न स्थित प्रज्ञ हैं उनका तो रस भी अर्थात् रस विषयक रागभी अनि उत्कृष्ट सुख स्वरूप होने से विषय से उत्कृष्ट आत्म स्वरूप को अथवा उससे (जीव) से भी अत्युत्कृष्ट परमात्मा को देखकर निवृत्त हो जाता है अर्थात् परमात्म दर्शन रहित कुयोगी को तो विषयमात्र की निवृत्ति होती है और जो परमात्मदर्शी स्थित प्रज्ञ हैं उन का तो विषय विषयक राग भी निवृत्त हो जाता है क्योंकि उन्हें परमात्म दर्शन होने से अति तुच्छ विषय विषयक राग स्वतः दूर हो जाता है इसलिये स्थित प्रज्ञ लक्षण की अतिव्याप्ति कुयोगी अथवा दीर्घरोगी में नहीं होतीहै। अतएव अन्यत्र कहा है "तावजितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्यिन्द्रियः पुमान्। न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥" अन्य इन्द्रिय के ऊपर विजय प्राप्त करने पर भी तब तक पुरुष जितेन्द्रिय नहीं कहलाता है जब तक रसनेन्द्रिय पर विजय नहीं पाता हैं रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त होने से सर्वेन्द्रिय पर विजय प्राप्त हो जाती है ॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अथ विषयरागनिवृत्तिविनेन्द्रियाणां विजयस्यानर्हतामाह यतत इति । हे कौन्तेय! यततोऽप्यात्मानं द्रष्टुं विषयदोषात्मगुणदर्शनपूर्वकं प्राणायामाधनैरभीक्ष्णं यतमानस्यापि । विपश्चितः शास्त्रजन्यहेयोपादेयविवेकशालिनः । पुरुषस्य । प्रमाथीनि प्रमथनविधायकानि । इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि । प्रसभं प्रसह्य । मनो विषयानुरक्तं चेतः कर्षन्ति । 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ' इति मनुवचनानुसारेण विषयान् प्रति समाकर्षन्तीत्यर्थः ॥६०॥

तस्मात्तानि सर्वाणीन्द्रियाणि मोक्षार्थिभिरादौ संयम्य सम्यग् वशीकृत्य युक्तः समाहितः सन् मत्परोऽहमेव पर उत्कृष्ट उपायतयाऽश्रयणीयो यस्य स आसीत ।

जिस व्यक्ति को जब तक विषय राग की निवृत्ति नहीं हुई है तब तक इन्द्रिय विजय अशक्य है इस विषय को बतलाने के लिये कहते हैं अर्थात् सम्पूर्ण रूप से स्थित प्रज्ञता का संपादन करने के लिये प्रथमतः इन्द्रिय विजय परमावश्यक है क्योंकि इन्द्रिय वर्ग दुष्ट अश्व के समान उन्मार्गगामी है अतः उसके ऊपर जय प्राप्त करना अत्यन्त अशक्य है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं, "यततोह्यपि कौन्तेय" इत्यादि ।

हे कौन्तेय ! यत्न करनेवाले आत्मा को देखने के लिये विषय में दोष दर्शन तथा आत्मा का जो गुण है तद्दर्शन पूर्वक प्राणायाम धारणा प्रभृति साधन के द्वारा अतिशयेन प्रयतमान पुरुष को भी तथा विद्वान् पुरुष को अर्थात् शास्त्र जनित हेय उपादेय विवेकशील पुरुष को भी प्रमाथी प्रमथन शील इन्द्रिय चक्षु त्वक् प्रभृति प्रसह्य हठात् बहुत जल्दी से विषय में अनुरक्त मन को खींच लेते हैं अर्थात् यह इन्द्रिय वर्ग मन को विषय की तरफ खींच कर ले जाते हैं । "बलवान् इन्द्रिय समूह विद्वान् को भी विषय में प्रवृत्त कराता है" इस मनुवचन से यह इन्द्रिय बल पूर्वक मन को विषय के प्रति ले जाता है ॥६०॥

यदि चक्षुरादिक इन्द्रिय वर्ग बल पूर्वक मन कोअपने विषय से खींच कर बाह्योन्मुख बना देते हैं तब तो कोई भी पुरुष स्थित प्रज्ञता को प्राप्त नहीं कर सकता है ऐसा नहीं होने से शास्त्र में प्रतिपादित स्थित प्रज्ञता के अभाव हो जाने पर शास्त्र में आनर्थक्य दोष प्राप्त होता है इस दोष को हटाने के लिये कहते हैं "तानि सर्वाणि" इत्यादि । जिसलिये इन्द्रिय

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

यस्माद्यस्येन्द्रियाणि वशे स्वाधीनानि भवन्ति तस्य प्रज्ञापि प्रतिष्ठिता भवति ॥६१॥

सत्यपि बाह्येन्द्रियसंयमे यावन्मनो न निरुद्ध्यते तावदनर्थपरम्परा सम्भवत्येवेत्युच्यते—ध्यायत इति द्वाभ्याम् । मनसा विषयानभिध्यायतः पुरुषस्य तेषु सङ्ग आसक्तिप्रचुरा प्रीतिरुपजायते । संगात् कामो विषयेषूत्कटाभिलाषः सञ्जायते । कामाच्चेष्टविषयानवाप्तौ क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाच्च युक्तायुक्ततत्त्वविचारशक्तेर्विनाशात्सम्मोहो मौढ्यमुत्पद्यते । सम्मोहात्स्मृतेर्विभ्रमोऽवश्यमेव जायते: कौचित्यान्तः करणे संस्कार-

अनर्थ कारक हैं अत: मोक्षार्थीपुरुष प्रथमत: सभी बाह्येन्द्रिय को संयत करके अर्थात् सम्यक् रूप से वश करके युक्त समाहित होता हुआ इस संसार सागर से मेरे तरने के उपाय सर्वेश्वर श्रीरामजी ही हैं इस दृढ निश्चय के साथ सर्वोत्कृष्ट उपाय रूप से आश्रय करने का जिसका स्वभावहो ऐसा हो कर रहे । क्योंकि जिस पुरुष का इन्द्रिय गण स्ववशीभूत होता है उसकी ही प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि प्रतिष्ठिता होती है इससे भिन्न पुरुष की बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं होती है इसलिये प्रथमत: बाह्येन्द्रिय के ऊपर विजय प्राप्त करना उपासक के लिये परम आवश्यक है॥६१॥

बाह्य इन्द्रिय के संयत होने पर भी जब तक आन्तरेन्द्रिय मन का निग्रह नहीं किया जाय तब तक अनर्थ परम्परा की निवृत्ति नहीं हो सकती है इसी बात को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं दो श्लोकों से "ध्यायते" इत्यादि । बाह्येन्द्रि जो चक्षुरादिक उसे निगृहीत करने पर भी मन इन्द्रिय से विषय जो स्त्री अन्नपानादिक पदार्थ की प्रियरूप से स्पृहा करनेवाले पुरुष को उन विषयों में संग पैदा होता है अर्थात् आसक्ति प्रचुर प्रीति पैदा होती है और संग से आसक्ति विशेष से उन विषयों में काम अर्थात् उत्कट अभिलाषा पैदा होती है और काम होने पर यदि अभिलषित विषय की प्राप्ति नहीं हुई तो क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध के उत्पन्न होने से युक्त अयुक्त वस्तु की विचार शक्ति का विनाश हो जाने से संमोह उत्पन्न होता है यहाँ संमोह शब्द का अर्थ है मूढता और संमोह के होने से स्मृति में विभ्रम अवश्य ही होता है क्योंकि संमूढ अन्तःकरण में संस्कार का विप्लव हो जाने से स्मृति का उदय नहीं देखने में आता है । और स्मृति के विभ्रंश होने से बुद्धि का नाश होता है अर्थात् परमात्मा का अनुसंधानात्मक ज्ञान विनाश होता है और बुद्धि के विनाश

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

विप्लवात्स्मृतेरुदयस्यादर्शनात् । स्मृतिभ्रंशाच बुद्धेः परमात्मानुसन्धानात्मिकाया धियो विनाशो भवति । बुद्धिनाशाच्च प्रणश्यति स्वयं मृत्युमाप्नोति । मृत्युशब्दोदितसंसारं भूयो भूयः प्रतिपद्यत इति भाव ॥६२–६३॥

अथ परमपुरुषार्पितचेतसोऽनर्थाप्राप्तिमनोनैर्मल्यञ्चाह रागद्वेषवियुक्तैरिति । विधेयात्मा विधीयत इति विधेयो विधेय आत्मा मनो यस्य स तदोक्तो भगवद्ध्यानवशीकृतचित्तः । तु । आत्मवश्यैरात्मनो वश्यान्यात्मवश्यानि तैः स्ववश्यतांगतैः । रागद्वेषवियुक्तै रम्यारम्येषु विषयेषु प्रीत्यप्रीतिविवर्जितैः । इन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः । विषयान् शब्दादीन् । चरन् । स्वधर्मानुकूल्यमपरित्यज्य स्वप्राणधारणमात्राहान् शब्दादिविषयानुपभुञ्जान इत्यर्थः । प्रसादं मनोनैर्मल्यम् । अधिगच्छत्यवाप्नोति ॥६४॥

मनः प्रसादस्य फलमाह–प्रसाद इति । अस्य मदनुग्रहासादितमनः प्रसादस्य

होने से स्वयं मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् मृत्यु शब्द प्रतिपादित संसार को बारम्बार प्राप्त करता है । यह आपत्ति परम्परा उसे प्राप्त होती है जिसने अपने मनको स्वाधीन न करके विषय के अनुध्यान में लगा रखा है ॥६२॥६३॥

जो पुरुष परम पुरुष परमात्मा में अपने मन को लगा चुका उसे अनर्थ की प्राप्ति नहीं होती है प्रत्युत मन में निर्मलता की प्राप्ति होती है अर्थात् जिसने अपने मन को भगवान् में लगा दिया है वह पुरुष बाह्येन्द्रि से विषयभोग को करता हुआ भी अनर्थ को प्राप्त नहीं करता है किन्तु उसके मन में शुद्धता आती है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "रागद्वेष" इत्यादि । विधेयात्मा भगवान् आराध्यदेव के ध्यान करने से वशीकृत मन वाला पुरुष विधीयमान जो हो उसका नाम है विधेय एतादृश विधेय है आत्मा मन जिसका भगवत् ध्यान वशीकृत मनवाला पुरुष । आत्मवश्य स्वाधीन तथा रागद्वेष रहित अर्थात् प्रिय अप्रिय वस्तु में प्रीति अप्रितिविवर्जित इन्द्रिय से (चक्षुरादिक से) विषयरूप रसादिक को ग्रहण करता हुआ अर्थात् स्वधर्म के अनुकूल प्राणयात्रा मात्र के लिए शब्दादिक विषय का उपभोग करता हुआ प्रसाद को मन की निर्मलता को प्राप्त करता है ६४॥

मन में निर्मलता आने से क्या फल होता है उसे बतलाते हुए कहते हैं "प्रसादे"

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

योगिनो मनसः प्रसादे: नैर्मल्ये सर्वदुःखानां सांसारिकेषु रागद्वेषप्रयुक्तानामाध्यात्मिकादिक्लेशानां हानिर्विलय उपजायते। दुःखहानिरेव न जायतेऽपि तु विशिष्टलाभोऽपि सम्पद्यत इत्याह—प्रसन्नचेतस इति। यतः प्रसन्नान्तः करणस्य मदनुग्रहाश्रयतयाऽऽशु शीघ्रमेव बुद्धिः पर्यवतिष्ठते मयि स्थैर्यमासादयति हि। एवं चाशेषक्लेशक्षयपूर्वकं शश्वद् भगवत्स्वरूपसंदर्शनानन्दसिन्धुनिमग्नस्तिष्ठति ॥६५॥

विपक्षे दोषमाह—नास्तीति द्वाभ्याम्। अयुक्तस्य चित्तवृत्तेर्मयि निरोधमकुर्वतः। मदाश्रयमन्तरेण केवलं स्वबलेनैवेन्द्रियाणां वशीकारमारभमाणस्येति यावत्। बुद्धिः स्वपरस्वरूपयाथात्म्यधीरेव न भवति। एवञ्चैतादृशधियोऽभावेऽयुक्तस्य स्वपरस्वरूपावधारणलक्षणाभावनाऽपि नोदेति। स्थिरभावनामन्तरेण स्वनियामके परमपुरुषे मनोऽवस्थिति रूपा शान्तिर्न जायते। तदभावे च तस्य कुतः शाश्वतिकं परमप्रेमपूर्णं सुखं स्यात् ॥६६॥

इत्यादि। इस व्यक्ति को मेरी कृपा से प्राप्त हो गयी है मन की प्रसन्नता ऐसा जो योगी, उसके निर्मलता होने से सभी दुःखों का अर्थात् सासरिक रागद्वेष से जायमान आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक सकल दुःखों का विनाश विलय हो जाता है। केवल दुःख का ही विनाश नहीं होता है किन्तु विशिष्ट प्रकार का लाभ भी होता है यह बतलाते हैं "प्रसन्नचेतसः" इति। जिसलिये कि प्रसन्न अन्तःकरण वाले पुरुष को मेरे अनुग्रह होनेके कारण से अतिशीघ्र उसकी बुद्धि व्यवस्थित हो जाती है। अर्थात् एतादृश पुरुष की बुद्धि मुझमें स्थिरता को प्राप्त कर जाती है। ऐसा होने से अशेष क्लेश के विनाश पूर्वक सर्वदा भगवान् के स्वरूप दर्शन जनित आनन्द समुद्र में निमग्न होकरके रहता है ॥६५॥

विपक्ष में दोष बतलाते हैं अर्थात् भगवान् में जिसका मन निवेशित नहीं है उसे अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती है इसका कथन करते हैं "नास्ति बुद्धिरित्यादि" जो अयुक्त है अर्थात् जिसने चित्तवृत्ति को निरुद्ध नहीं किया है। मेरे आश्रय के बिना ही केवल अपने बलसे इन्द्रिय को वशीकृत करने का प्रयत्न करता है उसे बुद्धि स्वपर यथार्थ बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है जब एतादृशी बुद्धि नहीं होती है तब तादृशबुद्धि जन्य भावना कैसे उत्पन्न होगी अर्थात् भावना पैदा नहीं होती है। और जब स्थिर भावना नहीं हुई तब स्वनियामक परमपुरुष में मनोऽवस्थानरूपा शान्ति नहीं होती है जब शान्ति नहीं हुई तब शाश्वतिक परमप्रेमपूर्ण सुख भी नहीं मिलता है ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो ! निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

यस्मादिन्द्रियाणां चरतां स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वतामनु मनुष्येण यन्मनोऽनुविधीयते। तदिन्द्रियमनुधावन्मनोऽस्य प्रमादिनस्तत्त्वार्थे स्थैर्यमासादयन्तीं प्रज्ञामम्भसि प्रमत्तनाविकनियन्त्रितनौकां वायुर्यथाऽन्यत्र हठाद्धरति तथा गन्तव्यात्परमपुरुषानुध्यानात्प्रच्याव्य हरति भूयो विषयाभिमुखीं करोति ।६७।

उक्तार्थमुपसंहरन्नाह तस्मादिति। हे महाबाहो ! तस्माद् यत इन्द्रियानिग्रहेऽनर्थस्ततो यस्योपासकस्येन्द्रियाणि सर्वश इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यो निगृहितानि समन-

बाह्य इन्द्रिय चक्षुरादिका जो दमन नहीं करता है उसका क्या अनर्थ होता है पुनः उसी वस्तु को समझाने के लिये कहते हैं "इन्द्रियाणामित्यादि जिस हेतु चलनेवाली एन्द्रियों कों अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय है ग्राह्य पदार्थ है उसके प्रति प्रवृत्ति करने वाले पुरुष पीछे अपने मन को प्रोत्साहित करता है, तो उस इन्द्रिय का अनुव्रजन करने वाला उस पुरुष का मन इस प्रमादी मनुष्य का मन प्रमादी मनुष्य का जो तात्विक अर्थ है उसमें स्थिरता को प्राप्त करनेवाली जो प्रज्ञाबुद्धि उसे जल में प्रमत्त नाविक से नियंत्रित नौका को प्रतिकूल वायु जैसे गम्तव्य जो परमपुरुष का अनुध्यान उससे च्युत करके हर लेता है अर्थात् अन्तर्मुखता से च्यवित करके पुनः संसारोन्मुख प्रज्ञा को कर देता है। अर्थात् वाह्येन्द्रिय को बहिः प्रवृत्त होने पर मन को भी प्रोत्साहित करता है उस व्यक्ति की प्रज्ञा को वह मन अन्तर्मुखता प्रच्युत करके संसारोन्मुख कर देता है अतः उभयेन्द्रियका दमन आवश्यक है ॥६७॥

पूर्वोक्त विषय का उपसंहार करते हुए अहते हैं अर्थात् "यततोह्यपि कौन्तेय" यहाँ से लेकर आरब्धजो इन्द्रिय जय के उपाय हैं उस का उपदेश करके तत्प्रयुक्त इन्द्रिय जय को स्थित प्रज्ञता का कारण रूप से निर्देश करते हुए उपसंहार करते हैं "तस्माद्यस्य" इत्यादि। हे महाबाहोपार्थ ! जिस लिये कि इन्द्रिय के निग्रह नहीं करने से अनर्थ की प्राप्ति होती है इसलिये जिस जिस उपासक जीव विशेष का सभी इन्द्रियार्थ शब्दादि विषय से इन्द्रिय निगृहीत है मन के साथ साथ स्वाधीनता में स्थापित है अर्थात् दिव्य अनन्त कल्याण का धाम मुझ में स्थापित है उस पुरुष की प्रज्ञा बुद्धि प्रतिष्ठिता होती है। विषय से व्यावृत्त होकर जिसकी

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

स्कानि च तानि दिव्यानन्तकल्याणगुणधाम्नि मयि संस्थापितानि स्युस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति ॥६८॥

स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं प्रकारान्तरेणोदीरयन् संक्षिपति येति या स्वपरस्वरूपयाथात्म्यगोचरी प्रज्ञा सर्वभूतानां कर्मायत्तसांसारिकभावाविष्टानामशेषजनानां निशेव निशा तत्राकृतप्रयत्नत्वेन ज्ञानप्रसराभावादप्रकाशरूपा शर्वरीव भाति । तस्यां संयमी प्रयत्नासादितान्तः प्रसादो बुद्धियोगी जागर्ति भगवदनुभवलक्षणविलक्षणानन्दमनुभवति । यस्यां मोहध्वान्तावलीढविषयलक्षणायामात्मप्रकाशरहितायां शर्वर्यां भूतानि व्युत्थानावन्तः प्राणिनो जाग्रति वैषयिकक्षुल्लकसुखमनुभवन्ति सा निशा निशेव निशा पश्यतो भगवत्स्वरूपं साक्षात् कुर्वतो मुनेरस्तीति शेषः ॥६९॥

ब्रह्मविदो यादृच्छिकविषयोपगमेऽपि न जायते तच्चेतसि क्षोभलेश इति सनि-

इन्द्रिय वृत्ति भगवान् में ही संस्थापित्त होती हैं वही पुरुष स्थित प्रज्ञ है ऐसा समझो ॥६८॥

स्थित प्रज्ञ का लक्षण प्रकारान्तर से कहते हुए संक्षेप करते हैं—"यानिशा" इत्यादि । स्व स्वरूप तथा परमात्म स्वरूप का जो याथार्थ्य तदवगाहिनी जो प्रज्ञा जो कि कर्माधीन जो सांसारिक भाव उससे आविष्ट सभी भूतों के लिये निशा के समान रात्रि के समान है, उस प्रज्ञा के लिये प्रयत्न नहीं करने के कारण ज्ञान के अवसर का अभाव होने से अप्रकाश रूप रात्रि के समान भासित होती है तादृश प्रज्ञा रूप रात्रि में संयमी प्रयत्न के द्वारा प्राप्त किया है अन्तः करण की प्रसन्नता को जिसने ऐसा बुद्धि योगी जागता है अर्थात् भगवान् का जो अनुभव साक्षात्कार तत्स्वरूप विलक्षण लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करता है । और जिसमें मोहान्धकार से युक्त विषय लक्षण आत्मा का जो प्रकाश उससे रहित रात्रि में इतर प्राणी व्युत्थान अवस्थावान् अज्ञानी जीव समुदाय जागते हैं अर्थात् विषय जनित अत्यन्त अल्प सुख का अनुभव करते हैं वह रात्रि के समान है उनके लिये जिन्हों ने भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है । अर्थात् परमात्मदर्शन शील व्यक्ति के लिये यह व्यवहार काल रात्रि तुल्य है और योगी के लिए जो उपादेय है वह विषय विरक्त के लिये गाढान्धकार सहित रात्रि के समान है ॥६९॥

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

दर्शनमुच्यते—आपूर्यमाणमिति । नाना दिश्याभिरापूर्यमाणमप्यचलप्रतिष्ठमत्यक्तमर्यादं समुद्रमापः प्रावृषिकाः प्रविशन्ति । स च यद्वत् स्वस्मिँल्लेशतोऽपि विकृतिमनाप्नुवान-स्तिष्ठति । तद्वत् कामाः काम्यन्त इति कामाः शब्दादयः सर्वे विषया यं संयमिनं कर्मपरिपाकवशात् प्रविशन्ति निसर्गात् सर्वेन्द्रियवेद्यतामुपयान्ति स स्थितप्रज्ञोमुनिः शान्तिं शाश्वतिकमुपशमं भगवद्दर्शनरूपमाप्नोति । न तु कामान् विषयान् कामयितुं शीलमस्येति कामकामी । विषयास्वादलोलुपोनकदाचिदपीमां शान्तिमुपैतीति भावः॥७०

प्रोक्तशान्तेरधिकारिणमेवस्पष्टयति—विहायेति । यःपुमान् सर्वान् कामान् शब्दा-दीन् विहाय तेषु प्रियत्वाभिमानं परित्यज्य यथाप्राप्तांस्तानौदासीन्येनैव स्वीकृत्य निस्पृहो

जो ब्रह्मज्ञानी हैं उन्हें स्वेच्छया विषय का सम्पर्क होने पर भी उनके मन में स्वल्प भी क्षोभ नहीं होता है इस बात को दृष्टान्त के साथ बतलाते हैं—अर्थात् यथोक्त साधन-सम्पन्न तथा भगवान् श्रीराम में लगा हुआ है मन जिनका ऐसे जो योगीजन हैं उन्हें विषय सम्बन्ध से जायमान जो विकार है वह मन में थोड़ा भी विकार उत्पादन करने में समर्थ नहीं होता है इस विषय का दृष्टान्त सहित स्पष्टीकरण करते हैं—"आपूर्यमाणम्" इत्यादिग्रन्थ से। नाना दिशाओं से आई हुई इन्द्रिय रूप नदियों से आपूरित भी समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता है तादृश समुद्र में वर्षाकालिक जलराशि उस समुद्र में प्रविष्ट होते हैं परन्तु वह समुद्र थोड़ा भी अपने में विकार का अनुभव नहीं करता हुआ अवस्थित रहता है उसी तरह से काम्यमान सभी शब्दादिक विषय प्रवाह कर्म के बल से संयमी पुरुष में प्रविष्ट हो करके भी उस संयमीके हृदय में थोड़ा भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हैं किन्तु वह स्थितप्रज्ञ मुनि, भगवद्दर्शनरूप शाश्वतिक उपशम अर्थात् शांति को प्राप्त करता है। परन्तु विषय की कामना करने वाले विषयास्वाद में लोलुपपुरुष कभी उस विलक्षण शान्ति को नहीं प्राप्त करते हैं, अर्थात् स्थितप्रज्ञ को जो शान्ति प्राप्त होती है वह शान्ति सांसारिक विष-यासक्त पुरुष को किसी भी प्रकार से कदापि नहीं प्राप्त होती है ॥७०॥

पूर्व श्लोक कथित जो शान्ति है तादृश शान्ति का अधिकारी कौन है इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिये कहते हैं "विहाय कामानित्यादि। हे पार्थ! जो पुरुष काम शब्द वाच्य शब्दादिक सभी विषय जालको छोड करके उन शब्दादिकमें मेरा यह प्रियतम है ऐसा जो ममत्वाभिमान उसे छोड करके यदृच्छा प्राप्त उन विषयों का उदासीनभाव से स्वीकार करके निस्पृह अर्थात् राग से जायमान जो विषय विषयक अभिलाषा उससे रहित अनात्म

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपिब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

रागप्रयोज्याभिलाषवर्जितस्तेष्वनात्मभूतेषु निर्ममो निरहंकारो ममताहंकारशून्यः प्रारब्धशेषं बुभुक्षुः स एव परमपुरुषार्पितचेताः शाश्वतीं शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

प्रक्रान्ताया बुद्धियोगसाध्यभगवन्निष्ठाया फलं प्रदर्शयन्नुपसंहरति–एषेति । हे पार्थ ! एषा भगवदितरवस्तुवैतृष्ण्यपूर्विका परमात्मनिष्ठा योदिता सा ब्राह्मी परब्रह्मप्रदायिनी स्थितिर्बोध्या । एनां स्थितिं समवाप्य बुद्धियोगी न जातु जागतिकमोहजालमाप्नोति । बुद्धियोगनिशितशस्त्रेण समुच्छिन्ने मोहमूले न पुनस्तस्योदयः संभवतीति भावः । अस्यां निष्ठायां प्रारब्धदेहत्यागसमयेऽपि स्थित्वानिर्वाणं निरतिशयसुखैकनिलयं ब्रह्म ऋच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ।

स्वरूप विषय निर्मम ममत्व तथा निरहंकार अहंकाररहित केवल प्रारब्धकर्म का शेष फल का भोगेच्छावान् वही पुरुष जिसने अपने मन को भगवान् श्रीराम में अर्पित कर दिया है ऐसा जो पुरुष है वही शाश्वतिक शान्ति को प्राप्त करता है । यथोक्त शान्ति का वही पुरुष अधिकारी होता है नतु धन के लोभ से इतस्ततः दौडनेवाला व्यक्ति कथमपि अधिकारी होता है ॥७१॥

प्रक्रान्त जो बुद्धिसाध्य भगवन्निष्ठा उस फल को बतलाते हुए अध्याय का उपसंहार करते हुए कहते हैं "एषाब्राह्मीत्यादि" हे पार्थ अर्जुन ! जो यह भगवान् से इतर वस्तु में जो वितृष्णा वैराग्य तत्पूर्वक परमात्मनिष्ठा कही गयी है वह ब्राह्मी अर्थात् परब्रह्म श्रीराम का सामीप्य देनेवाली स्थिति है ऐसा जानो । इस स्थिति को प्राप्त करके बुद्धियोगी कभी भी जगत्सम्बन्धी मोहजाल को प्राप्त नहीं करते हैं बुद्धियोग रूप तीक्ष्णशस्त्र से मोह के कारण का विनाश हो जाने से पुनः मोहरूप कार्य कथमपि प्रादुर्भूत नहीं होता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का उत्पादन कभी संभवित नहीं होता है । यह जो ब्रह्मनिष्ठा है उस में प्रारब्धकर्म के बल से प्राप्त जो शरीर है उसके समाप्तिकाल में भी स्थित हो करके निर्वाण अर्थात् निरतिशय शाश्वतिक सुख के निधान भगवान् श्रीरामरूप पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥७२॥

॥ श्रीरामार्पणमस्तु ॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत भाष्यतत्त्वदीपिद्वितीयोऽध्यायः

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

卐 अथ तृतीयोऽध्यायः 卐

ॐ अर्जुन उवाच ॐ

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ?।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ? ॥१॥

एवं रणाजिरे युयुत्सया सज्जीभूयोपस्थितानाचार्यादीनवलोक्यैषां मारणे निरयप्राप्तिः पलायने त्वपकिर्तिरित्युभयथाऽपि मोहपङ्कार्णवे निमज्जन्तं स्वभक्तमर्जुनमुद्दिधीर्षुर्दयोदन्वान् भगवान् श्रीकृष्णः स्वजनसमूहकल्याणनिधित्सया तमुद्दिश्योपदिदेशद्वितीयेनाध्यात्मविद्यां मोहोत्पाटनसमर्थाम् तथाहि देहिनिधनभिया मोहोऽनावश्यकस्तस्य नित्यत्वात्। जन्ममरणधर्मकत्वेऽप्यात्मनोऽस्थानेमोहमहिमा मृतस्य तस्य पुनरुत्पत्तिसत्त्वात्। परन्तु न चैष उत्पद्यते म्रियते हन्यते वा 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्' (का. १।२।१८) इत्यादि श्रुतिविरोधात्। युद्धस्याकार्यत्वमेव मम क्षत्रियस्येति त्वया न युज्यते वक्तुम्; क्षत्रियस्य तवायोधनस्य वर्णधर्म्मत्वेनावश्यानुष्ठेयकार्यत्वात्। श्रेयः सुखैकलिप्सा चेदते युद्धान्न सा सेद्धुमर्हति। विधिनिषेधाधिकारिकारिणोऽखिलजनस्य यावज्जीवं कर्मानुष्ठितेरावश्यकत्वात्। एवं कर्माचरणस्य नैयत्यमुपदिश्य 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। बुद्धया

इस प्रकार रणांगण में युद्ध करने की इच्छा से अस्त्रशस्त्रादि सज्जित होकरके उपस्थित जो पितामह आचार्य प्रभृति हैं उनको देख करके इनलोगों को अगर मैं मारता हूं तो मुझे नरक की प्राप्ति होगी अगर इनके साथ लडाई न करूं और युद्ध को छोडकरके पलायन करता हूं तो मेरी दिगन्तव्यापिनी अपकीर्ति होगी। दोनों प्रकार से मोहपंकरूप महासमुद्र में गोता खाते हुए स्वभक्त अर्जुन का उद्धार करने की इच्छा से दयासागर भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वजन के कल्याण करने की इच्छा से उस अर्जुन को लक्ष्य करके मोह के विनाश करने में समर्थ अध्यात्म विद्या का उपदेश द्वितीय अध्यायसे दिया। तथाहि हे अर्जुन ! देह विशिष्ट सजीवात्मा के विनाश के भय से तुम्हारा मोह करना बिलकुल अयुक्त है क्योंकि यह आत्मा परमात्मा के शरीर रूप होने से यह आत्मा एकान्त नित्य है और नित्य पदार्थ का विनाश नहीं होता है। यदि कदाचित् लोकव्यवहार प्रसिद्धि के बल से जन्ममरण धर्मवाला भी आत्मा को मानों तब भी इसके विषय में तुम्हारा मोह करना अनुचित है क्योंकि देहविनाश से मृत आत्मा नवीनदेह प्राप्ति रूप से पुनः उत्पन्न होता है। परन्तु वस्तुतः स्वरूप से यह

युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी. २) इत्यादिप्रबन्धेन कर्मणः सकाशाद् बुद्धियोगस्यैव प्राधान्यमभ्यधात् । फलमप्यस्य बुद्धियोगस्य निरतिशयसुखं निः श्रेयसमेवेति 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'(गि. २।७२) इत्यादिवचनैः प्रत्यपादि । न चात्राऽधिप्रबन्धं 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इतिकर्मयोगेऽपिभगवतोऽनुमतिरवगम्यत इति वाच्यम् । तत्रैव 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' इति कर्मापेक्षया बुद्धेः प्राशस्त्यस्य निर्णयात् । एवं च प्रागर्जुनः 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' (गी १ ३।१) इत्याहवेस्वजनहननं श्रेयोदर्शनाभावप्रयोजकमिति वदन् स्वस्य निः श्रेयससुखैकलिप्सां सूचयति । अत एव 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गी. २।७) इति स्वानुयोगे तामेव प्राचीकटत् । तत्प्रतिवचने गीताचार्योऽपि निरचैषीच्छ्रेयसबरम

आत्मा उत्पन्न नहीं होती है न मरती है नवा यह हत होती है किन्तु उत्पत्यादिक क्रिया का आश्रय केवल देह ही होता है मुख्य रूपसे जन्म और मरण का यह न मानो तो"न जायते" यह आत्मा किसी प्रकार किसी कारणसे उत्पन्न नहीं होती है नवा किसी कारण से कोई आत्मा को मारता है" इस काठक श्रुति के विरोध होता है । अनेक प्रकारक हिंसायुक्त यह संग्राम मेरे क्षत्रिय के लिये अकर्तव्य है ऐसा तुम्हारा कथन भी युक्त नहीं है क्योंकि तुम क्षत्रिय का युद्ध वर्णाश्रमधर्म होने से अवश्य कर्तव्य कार्य है । यदि तुम्हें श्रेयस सुख की इच्छा हो तब तो वह सुख विशेष तुम्हें युद्ध के बिना नहीं सिद्ध हो सकता है । विधिशास्त्र तथा निषेध शास्त्र का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति को जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठान का संपादन करना अति आवश्यक है । इसप्रकार कर्मानुष्ठान अति आवश्यक है यह उपदेश दे करके "एषा ते" यह सांख्याश्रित बुद्धि का कथन किया अब योगाश्रित बुद्धि से युक्त होने पर भी तुम कर्मबन्धन को छोड़ दोगे इत्यादि प्रकरण से केवल कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग में प्राधान्य को भगवान् ने प्रतिपादित किया । इस बुद्धियोग का फल निरतिशय सुख स्वरूप मोक्ष ही है ऐसा भी प्रदिपादन किया है हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है इसे प्राप्त करने पर कोई भी पुरुष विमुग्ध नहीं होता है अन्तकाल में यदि इस स्थति को प्राप्त करने वाला पुरुष ब्रह्मात्मक परम पद को प्राप्त करता है । इत्यादिक वचन से भगवान् ने कहा है ।

शंका—यदि कहो कि इस प्रकरण में तो—"कर्मण्येव" "योगस्थः कुरु कर्माणि" इत्यादि वचन से कर्मयोग भी तो भगवत्संमत है ऐसा अवगत होता है ।

उत्तर—"दूरेण ह्यवरं कर्म" "प्लवाएतेऽदृढायज्ञरूपा" इत्यादि श्रुति स्मृति वचन से कर्मापेक्षया बुद्धि के प्राशस्त्य का ही प्रतिपादन किया है । और भी देखिये—"संग्राम में अपने

साधनं बुद्धियोगमिति संवृत्तः शास्त्रार्थः। इत ऊर्ध्वं विविधैः प्रश्नप्रतिवचनैरयमेवा-र्थोविशोध्यते। ततश्च द्वितीयप्रपाठके संसाधिते बुद्धियोगस्यावितथश्रेयः साधनत्वे सतीतः परं सर्वम्परित्यज्यास्मिन्नेव त्वया निष्ठा विधेयेत्यनियुञ्जतः प्रवर्तयतश्च भूयोऽपि समरसमारम्भे भगवतः कोऽभिप्राय इत्येवं स्वान्ते सन्दिहानोऽर्जुन उवाच—ज्याय-सीति। हे जनार्दन ? स्वजनमनोरथपूरक ! विद्याङ्गतया मोक्षोपयोगिनः कर्मणः सकाशाद् बुद्धिरेव साक्षान्मोक्षसाधनतया ज्यायसी श्रेष्ठा मता चेत्तर्हि हे केशव ! सर्वेश्वर ! किमिति घोरे हिन्साप्रधाने युद्धाख्ये कर्मणि मां त्वत्परायणमनन्यभक्तं नियोजयसि 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः (गी. २।३७) इत्यादिवचनैः प्रोत्साह्य प्रेरयसि। सनिश्चयमभिधायाप्युत्कृष्टं मद्धिततमं मतियोगात्मकमर्थम्पुनस्ततः प्रच्याव्यातिजघन्येऽहिते युद्धाद्यर्थे शरणागतवत्सलेन त्वया नाहं नियोक्तव्य इति भावः ॥१॥

स्वजनों को मारने से हमें श्रेय की प्राप्ति नहीं होगी, इस प्रकार से बन्धुवध में श्रेयोजन-कता नहीं है यह कहते हुए अर्जुन ने अपने को मोक्ष सुख का अभिलाषी सूचित किया है। अत एव "यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे" यह जो स्वकीय प्रश्न है उसमें निश्रेयसरूप जो सुख है तदिच्छा को स्वयं प्रकटित किया तथा अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने निश्चय कर दिया कि निःश्रेयस का अन्तरंग साधन बुद्धियोग है। इस प्रकार शास्त्र के प्रति-पाद्य अर्थ की परिसमाप्ति हुई है। इसके आगे अनेक प्रकार के प्रश्न प्रतिवचन से इसी अर्थ को प्रतिशोधित करेंगे। उसके बाद द्वितीयाध्याय में बुद्धियोग को अविकलरूप मोक्ष के प्रति कारणता का साधन करने पर ततः पर (उसके बाद) सभी को छोड करके तुम्हें इसी बुद्धियोग में निष्ठा करनी चाहिये, यह नहीं कह कर पुनः पुनः युद्ध में ही प्रोत्साहित करने से भगवान् का क्या अभिप्राय है, इस प्रकार से अपने मन में सन्देह करते हुए अर्जुन बोलते हैं। अर्थात् भगवान् ने इस संपूर्ण द्वितीयाध्याय से बुद्धियोग को मोक्ष के प्रति जनकता का प्रतिपादन किया। मोक्ष कामना वान् अर्जुन को यह नहीं कहा है कि तुम बुद्धि का उपयोग करो प्रत्युत कर्मयोग ने युद्ध में प्रेरणा दी अतः संदिग्ध हो करके अर्जुन पूछते हैं हे जनार्दन ! अर्थात् स्वजन के मनोरथ को पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण ! ज्ञान के अंग होने से मोक्ष में उपयोगी जो कर्म तदपेक्षया साक्षादेव मोक्ष के प्रति साधक होने से यदि बुद्धि ही आपको ज्यायसी श्रेष्ठ तथा अभिमत है तब आप हे केशव सर्वेश्वर ! मुझे घोर अर्थात् अनेक प्रकारक जो हिंसा हैं वह है प्रधान जिसमें ऐसा जो युद्ध नामक कर्म है उस में भवत्परायण आपका अनन्य भक्त जो मैं हूं उसे आप क्यों युद्ध में नियोयित करते है "तस्मादुत्तिष्ठ" इत्यादि वचन से प्रोत्साहित

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

ननु मद्वाक्येन निश्चितमर्थं कुतो नाधिगच्छमीत्यत आह—व्यामिश्रेणेति। व्यामिश्रेणेव सम्मिलितार्थकेनेव वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसीव वस्तुतस्तु न हि मन्मनीषाव्यामोहनाय विप्रलम्भकवाक्यत्ववद्वाक्यं सम्भवति जगद्गुरोस्तव जगद्धितानुशासनायैव करके क्यों प्रेरणा देते हैं ? अति उत्कृष्ट महान् हिततम ज्ञानयोग नामक वस्तु का निश्चयरूप से कथन करके पुनः उससे च्युत करके अतिजघन्य (नीच) युद्धरूप कर्म में नियुक्त कराना शरणागतवत्सल आप से मैं नियोक्तव्य नहीं हूं। अर्थात् आप शरणागतवत्सल हैं तब हिततम पदार्थ का प्रतिपादन करके भी पुनः अति हीन कर्म में नियुक्त कर रहे हैं यह ठीक नहीं हैं, यह प्रकरण का भाव है ॥१॥ ॐ

मेरे वाक्य से कथित जो निश्चित अर्थ है उसे तुम क्यों नहीं समझते हो अर्थात् मैं ने तो तुम्हें कर्तव्याकर्तव्यरूप सकल शास्त्रार्थ का प्रतिपादन कर दिया है तुम उसे निश्चित करके अब जैसी इच्छा हो उस तरह से करो, इसके उत्तर में कहते हैं 'व्यामिश्रेणेत्यादि' हे जनार्दन ! व्यामिश्रित अर्थात् सम्मिलितार्थक वाक्य से आप मेरी बुद्धि विमुग्ध हो ऐसा कर रहे हैं। यद्यपि आपका वाक्य विप्रलम्भक वाक्य के समान मेरी बुद्धि के व्यामोह के लिये नहीं हो सकता है क्योंकि आप जगद्गुरु हैं इसलिये जगत् के लिए हिततम वस्तु के प्रतिपादन

ॐ यह गीताशास्त्र अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक है। इस शास्त्र में अधिकारी कौन है इस शंका के समाधान में गीताधिकारिता का प्रतिपादकतया प्रथमाध्याय का प्ररूपण किया गया है। गुरु मित्रादि के मारने नहीं मारने में विमुग्धान्तःकरणवाला अतः शोक समुद्र में निमग्न अर्जुन का उद्धार की इच्छा से भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रथमतः देहादिक अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि की आसक्ति का उपपादन करके परम प्रेम विषयीभूत देहादिक में बढ़ा हुआ जो मोह उसका विनाश करने के लिये आत्मा तथा अनात्मा का जो स्वरूप उसका विवेक द्वितीयाध्याय से बतलाया। तदनन्तर अन्तःकरण की विशुद्धि के लिये फलेच्छा रहित कर्म का अनुष्ठान प्रदर्शित किया। उसमें परमेश्वर की जो प्रीति उससे साध्य सकलेन्द्रिय के ऊपर विजय होती है वह भी कहा। तदनन्तर बुद्धियोग से परिवर्द्धित शाश्वतिक शान्ति रूप फलवाली परमपुरुष की अनुरक्तिरूपा पराभक्ति उत्पन्न होती है इसका उपदेश करके इस पराभक्ति से विशिष्ट साधक स्थिरप्रज्ञ है। इस स्थितप्रज्ञ का तद्रूपा मोक्षपर्यन्त अनुवर्तमाना निर्विकारास्थिति ब्राह्मी है ऐसा भी निश्चय किया। इस प्रकार अर्जुन को लक्ष्य करके स्वभक्त के हित साधन में प्रवृत्त भगवान् ने संपूर्ण वेद सम्मत अर्थ का द्वितीयाध्याय के अन्तभाग से बतला दिया। इसके बाद इसी अर्थ को दृढ करने के लिये तृतीयाध्याय का आरम्भ किया है। उसी तृतीयाध्याय का आरंभ करने के लिये भाष्यकार ने "धर्मरणाजिरे" इत्यादि ग्रन्थ से अवतरण दिया है।

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ?।
ज्ञानयोगेनसांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

वाग्व्यवहारात्। किन्तु ममैव धियो मान्द्याचथा प्रतीतिः। तस्मादेकमेव मे हितावहं बुद्धिकर्मयोर्मध्ये यत्स्यात्तद्वद येन वाक्येनोभयोरेकं निश्चित्याहं श्रेयः प्राप्नुयाम्। अनेनाप्यर्जुनः सायुज्यसुखमेवाभीप्सति नत्वैहिकं जयकीर्तिराज्यादिसुखं लेशतोऽपीति गम्यते ॥२॥

एवमनुयुक्तः श्रीभगवानुवाच—लोक इति। हे अनघ ! अस्मिन् लोके ज्ञानमार्गं व्यवस्थापयता मया सर्वज्ञेन पुरा सर्गादौ द्विविधा निष्ठा अधिकारितारतम्येनैकस्यैव वाऽधिकारिणोऽवस्थाभेदेन प्रोक्ता। सम्यक् ख्यायते ब्रह्मस्वरूपं यया सा संख्या बुद्धिस्तद्विशिष्टाः सांख्या जन्मान्तराभ्यस्तविद्यत्वेनेह जन्मनि परमेश्वराराधनजनिताऽपेतकल्मषत्वेन वाऽपवर्गैकप्रयोजना ज्ञानिनस्तेषां ज्ञानयोगेन 'एषा ब्राह्मीस्थितिः पार्थ ! नैनाम्प्राप्य विमुह्यति' (गीः २।७२) इत्येवं प्रकारेण संयमिनः संयमफलरूपां ब्राह्मीं

करने के लिये ही आपका वाक्व्यवहार होता है। तथापि मेरी बुद्धि की मन्दता के कारण मुझे यह प्रतीत हो रहा है कि आपका वाक्य मेरी बुद्धि को विमोहित के समान कर रहा है इसलिये बुद्धि तथा कर्म में से जो हितावह हो उसमें से एक का ही कथन करें, जिस वाक्य से दोनों के बीच से एक का निश्चय करके मैं श्रेय को आत्म कल्याण को प्राप्त करुं। इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवत्सायुज्य सुख की ही अभिलाषा करते हैं. न तु ऐहिक जय कीर्ति राज्यादि सुख की लेशतोपि इच्छा करते है ॥२॥

इस प्रकार से अर्जुन से पृष्ट भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—अर्थात् एकतर अर्थ को निश्चित करने की जो इच्छा तादृश इच्छा वाला तथा मोक्ष प्रयोजन वाला जो अर्जुन उनकी जिज्ञासा को जानकर उत्तर देने के लिये भगवान् बोलते हैं—"लोके" इत्यादि। हे अनघ पापरहित अर्जुन ! अनघ इत्याकारक सम्बोधन में तुम सर्वथा पापरहित हो इसलिये साक्षात् जो मोक्ष का साधन ज्ञानयोग है उसके तुम अधिकारी हो ऐसा सूचित होता है। इस लोक में ज्ञानमार्ग की व्यवस्था करनेवाले सर्वज्ञ मुझ से पुरा पूर्वकाल में अर्थात् सृष्टि के आदि काल में दो प्रकार की निष्ठा मार्ग अधिकारी के तारतम्य से कहा गया है अथवा एक ही अधिकारी के अवस्था भेद से उभय प्रकार का दो मार्ग ज्ञानयोग और कर्मयोग नामक मै ने कहा है। समीचीनरूप से ब्रह्म स्वरूप प्रतिपादित हो जिसके द्वारा उसका नाम है संख्या अर्थात् बुद्धि तादृश बुद्धि से विशिष्ट जो है उसका नाम होता है सांख्य जन्मान्तर में जिसने विद्या का अभ्यास कर लिया

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

स्थितिमर्पयन्त्याद्या योगिनां दवीयसी ज्ञानपदवीमारुरुक्षूणां कर्मानुष्ठाने रुचिमतां केषाञ्चिदधिकारिणां कर्मयोगेन 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (गी.२।) इत्युक्तप्रकारेण कर्मिणो भगवत उपासनसिद्ध्यर्थे तत्स्वरूपावलोकनक्षमज्ञानयोगावाप्तये च फलतृष्णाविरहितकर्मणामनुष्ठानेन द्वितीया प्रोक्तेत्यन्वयः ॥३॥

ननु यदि ज्ञाननिष्ठैव निःश्रेयोपायभूता कृतं तर्हि कर्मभिरित्यत आह नेति। पूर्वकर्मोपार्जितशरीरः संसारी पुरुषः कर्मणां वर्णाश्रमधर्मत्वेन विहितानामनारम्भादननुष्ठानान्नैष्कर्म्यं श्रेयश्चरमोपायभूतां ज्ञाननिष्ठां नाश्नुते। ज्ञाननिष्ठापूर्वभाविनां कर्म-

है अथवा इसी जन्म में परमेश्वर की आराधना करने से निर्गत हो गया है पाप कर्म जिनका तथा अपवर्ग मोक्ष तावत् मात्र है प्रयोजन जिन्हें ऐसे जो ज्ञानी लोग हैं उनके लिये ज्ञानयोग कहा है "एषा ब्राह्मी", हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है इसे प्राप्त करके विमुग्ध नहीं होते हैं" इस प्रकार संयमशील व्यक्ति के लिये संयमकालरूप ब्राह्मी स्थिति को अर्पण करनेवाली प्रथमज्ञान निष्ठा है। और योगी के लिये जो कि ज्ञान पदवी को प्राप्त करने की इच्छावाले कर्म में जिनकी रुचि है उन अधिकारी के लिये कर्मयोग से "योगस्थः कुरु कर्माणि" यह जो कथित प्रकार है उससे कर्म करनेवालों के लिए भगवान् की उपासना सिद्धि के लिए तथा भगवत्स्वरूप के अवलोकन करने में समर्थ ज्ञानयोग उसकी प्राप्ति के लिये फलेच्छा से रहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा होने वाली कर्मयोगरूप द्वितीय निष्ठा को मैं ने कहा है अर्थात् दो प्रकार की निष्ठा कही गई है एक तो ज्ञान निष्ठा दूसरी कर्म योग निष्ठा ॥३॥

शंका यदि ज्ञाननिष्ठा ही मोक्ष का उपाय है तब तो ज्ञान निष्ठा ही का लोग अनुसरण करेंगे। कर्मानुष्ठान तो अनर्थक हो जाता है इस शंका को दूर करने के लिये तथा कर्मयोग ज्ञानयोग में पूर्वापरीभाव का उपपादन करने के लिये कहते हैं—"न कर्मणामित्यादि" पूर्व जन्म में किया हुआ जो शुभाशुभ कर्म उसके बल से प्राप्त शरीर वाला संसारी पुरुष वर्ण आश्रम धर्मरूप से विहित जो कर्म अग्नि होत्रादिक है उस कर्म का अनारंभ=अननुष्ठान मात्र से नैष्कर्म्य अर्थात् मोक्ष के प्रति अव्यवहित प्राक् क्षण कालिक उपाय स्वरूप ज्ञाननिष्ठा को नहीं प्राप्त कर सकता है। क्योंकि ज्ञाननिष्ठा के पूर्वकाल में होनेवाला जो कर्मानुष्ठान उसके आचरण के बिना अहेतुक ज्ञाननिष्ठा की उत्पत्ति ही असंभवित है। अर्थात् कारण के बिना कार्य नहीं होता है किन्तु कारण के रहने से ही कार्य होता है यह नियम दृष्टकृता

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

णामनुष्ठानमन्तरेण निर्हेतुकयास्तस्या ह्यनुत्पत्तेरिति भावः । एवं कर्मत्यागोऽपिज्ञानसिद्धे-रनुपाय इत्याह नेति । एवं कियत्कालं कर्माण्यनुष्ठाय पश्चात्सर्वथा तत्त्यागमात्रेण कर्म-फलत्यागमात्रेण वा ज्ञाननिष्ठाख्यां सिद्धिं न सम्प्राप्नोति ॥४॥

उक्तेर्थे हेतुमुपन्यस्यति–नेति । हि यतोऽस्मिन् लोके कश्चिदपि प्राकृतकरणकले-वरादिमान् जातु कस्मिन्नपि समये क्षणमपि अकर्मकृच्छास्त्रीयमशास्त्रीयं वा कर्माकुर्वन्नेव न तिष्ठति । यतः सर्वोऽपि प्राणिसंघः प्रकृतिजैः प्राक्तनकर्मानुगुण्येन वृद्धिं गतैर्गुणैर्दे-

दिक में अन्वय व्यतिरेक सिद्ध हैं । प्रकृत में कर्म तथा ज्ञाननिष्ठा को भी कार्यकारणभाव है तब जबतक फलानभिसंधिक पूर्वक कर्मानुष्ठान नहीं होगा तब तक कार्यरूप ज्ञाननिष्ठा उत्पन्न नहीं होगी । दण्डाभाव में घट के समान । अतः ज्ञान निष्ठा का कारण रूप कर्मानुष्ठान को पूर्व में अवश्य रहना ही ठीक है । इसी प्रकार से कर्म का त्याग करना भी ज्ञान की सिद्धि के प्रति उपाय नहीं है इस बात को बतलाते हैं "न चेति" कर्म सन्यासमात्र से ज्ञान लक्षण सिद्धि नहीं होती है कुछ कालतक कर्म का अनुष्ठान करके पश्चात् सर्वथा कर्म के त्याग मात्र से अथवा कर्मफल के त्यागमात्र से ज्ञान निष्ठा नामक सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता है किन्तु कर्मानुष्ठान करने पर ही ज्ञान निष्ठा हो सकती है ॥४॥

पूर्वकथित अर्थ में कारण का कथन करते हैं अर्थात् यदि ज्ञान निष्ठा तथा कर्मनिष्ठा इन दोनों को मोक्षजनकता हो तब तो ज्ञान निष्ठामात्र का अनुष्ठान करके मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेगा तब युद्ध हिंसा जनित अनर्थ बहुत कर्मानुष्ठान व्यर्थ हो जाता है यह जो अर्जुन की शंका है उसे हटाने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाने के लिए कहते हैं–'नहीत्यादि' जिस कारण से इस लोक में प्रकृत्युत्पादित शरीर इन्द्रियादिमान कोई भी पुरुष कदाचिदपि किसी भी समय में किसी भी देश में शास्त्र विहित अथवा अशास्त्रीय कर्म को नहीं करता हुआ नहीं रहता है । अर्थात् प्राकृतिक शरीरेन्द्रिय को धारण करने वाला पुरुष चाहे किसी भी प्रकार का हो कर्म करते हुए ही रहता है ।

नैयायिकों का नियम है कि अभावाभाव प्रतियोगि स्वरूप होता है जैसे घटाभाव का अभाव घटस्वरूप हो जाता है "घटवद् भूतलम्" इस प्रतीति के काल में "घटाभाव वद् भूतलम्" इत्याकारक प्रतीति तथा व्यवहार नहीं होता है परन्तु घटवत् इस काल में 'घटाभावाभाववद्, भूतलम्' इत्याकारक प्रतीति तथा व्यवहार के होने से घट तथा घटाभावाभाव यह दोनों

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।६

होपादानभूतैस्सत्वादिभिः कर्मावशः कार्यते 'चलं गुणवृत्तम्' इति स्मरणात् सर्वदा चञ्चलैः प्राकृत गुणैः प्रवर्त्यत एव । तस्मादादौ पुमान् कर्मयोग एवाधिकृतो भवति । ततः सञ्जायमानायां मनोविशुद्धौ निष्कामकर्मानुतिष्ठन् ज्ञाननिष्ठामाश्रयेदिति श्रेष्ठः पन्थाः ॥५॥

कथञ्चित् कर्मेन्द्रियसंयममात्रेऽनर्थस्तदवस्थ इत्याह-कर्मेन्द्रियाणीति । यो दाम्भिको मोहाविष्टचेताः । रागानुवृत्तिविशिष्टस्वान्त इति यावत् । कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि संयम्य कथंचिद्वशीकृत्यापिमनसाऽन्तरिन्द्रियेणेन्द्रियार्थान् शब्दादीन् स्मरन्नास्ते स प्रधानभूतान्तरिन्द्रियस्यानिग्रहान्मिथ्याचारपरायण उच्यते । मनोनिरोधाभावे ज्ञानयोगस्यानधिकार्यपि ज्ञाननिष्ठ इव तिष्ठति । स दाम्भिक इति पिण्डितार्थः ॥६॥

एक माना जाता है । इसी प्रकार प्रकृत में कभी भी अकर्म कृत् नहीं रहता है । अर्थात् जब रहता है तब कर्मकृत् हो करके ही रहता है यह सिद्ध है ।

क्योंकि सभी प्राणी समुदाय प्रकृति से जायमान पूर्वकालिककर्म की सहायता से वृद्धि को प्राप्त किया हुआ जो सत्वादिकगुण जो कि शरीर का उपादान कारणस्वरूप है उन गुणों के बल से पराधीन होकर सभी प्राणिवर्ग कर्म करते ही रहते हैं । कहा है कि "चलंगुणवृत्तम्" शास्त्र में ऐसा कथन होने से सर्वदा चंचल जो प्राकृतिक गुण उसके द्वारा सभी व्यक्ति स्वकर्म में प्रवृत्त कार्य हो जाते हैं । इसलिए प्रथमतः पुरुष कर्मयोग में ही अधिकृत है । उसके बाद शास्त्रप्रतीत कर्म करने से मन में विशुद्धता की प्राप्ति होने पर भगवदाराधन के लिये निष्काम कर्म को करता हुआ ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त करता है यह सर्वश्रेष्ठमार्ग है । ज्ञान निष्ठा मोक्ष फल का कारण ॥५॥

कथंचित् केवल कर्मेन्द्रिय वागादिक को संयत करने पर भी अनर्थ परम्परा की निवृत्ति नहीं होती है । अर्थात् बाह्य जो प्रयत्न उसके बल से कर्मेन्द्रिय का संयम होगा और अकर्म कृदवस्था के प्राप्त होने पर ज्ञानयोग सरलरूप से प्राप्त हो जायगा । यह जो शंका है उसके निवृत्ति के लिये कहते हैं 'कर्मेन्द्रियाणीत्यादि' हे अर्जुन ! जो दांभिक पुरुष मोह से घिरा हुआ है चित्त मन जिसका ऐसा अर्थात् राग के अनुवर्तन से विशिष्ट अन्तःकरण वाला पुरुष कर्मेन्द्रिय को कर्म करने में सहायक जो वागादिक त्वक् पाणि पाद पायूपस्थ नामक कर्मेन्द्रिय को संयत यथा कथंचित् हठयोगादि उपाय से वशीकृत करके अर्थात् इन्द्रिय जय का जो शास्त्रीय उपाय है

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ?।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

मनोनिरोधपूर्वकेन्द्रियनिरोधस्य श्रेष्ठत्वमाह—य इति । तुना पूर्वापेक्षयाऽस्य वैलक्षण्यमुच्यते। हे अर्जुन ! यः साधको मनसाभगवद्ध्यानवशीकृतचेतसा बुद्धीन्द्रियाणि नियम्य शब्दादिविषयेभ्यः समाकृष्यासक्तः फलकामनाहीनः सन् कर्मेन्द्रियैर्वागादिभिः कर्मयोगं ज्ञानोपायभूतं श्रुतिस्मृतिविहितकर्मानुष्ठानमारभते स विशिष्यते। श्रेयः साधनानुगुणसन्मार्गारूढत्वादुत्कृष्ट इति भावः ॥७॥

विषय-विराग सात्विक आहार सेवन उसे छोडकर यथा कथचित् स्वाधीन करके परन्तु इन्द्रिय का जो विषय है शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इनके मन से रागरंजित चित्त से स्मरण करता हुआ होता है तादृश पुरुष इन्द्रियों में प्रधान जो आन्तर इन्द्रिय उसका निग्रह नहीं करने के कारण वह मिथ्याचार में परायण कहलाता है । मन इन्द्रिय का निरोध नहीं रहने से ज्ञान का वस्तुतः तादृश पुरुष अधिकारी नहीं है किन्तु ज्ञाननिष्ठा के समान ढोंग करता हुआ रहता है वह दांभिक है ढोंगी है । यह संपूर्ण श्लोक का पिण्डित अर्थ है ॥६॥

मनोनिरोधपूर्वक इन्द्रिय निरोध की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं अर्थात् कर्मेन्द्रिय का संयम होनेपर भी आन्तर इन्द्रिय का यदि संयम नहीं किया तब उसका महान् अनर्थ फल कहा है अभी कर्मेंद्रिय कदाचित् असंयत भी हो परन्तु आन्तर इन्द्रिय वशीकृत होने से महान् गुण होता है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "यस्तु इत्यादि । हे अर्जुन ! यस्तु यहाँ जो तु यह अव्यय शब्द है वह पक्षान्तर का सूचक है अर्थात् पूर्व की अपेक्षा से इस पक्ष में विलक्षणता का सूचन करता है । हे अर्जुन ! जो साधक पुरुष मनसे अर्थात् भगवान् के ध्यान से वशीकृत जो चित्त है उस मन के द्वारा बुद्धि इन्द्रिय चक्षु त्वक् श्रोत्र रसना घ्राणाख्य इन्द्रिय को नियन्त्रित करके अर्थात् तत्तत इन्द्रिय का जो तत्तद् अर्थ विषय है रूप स्पर्श शब्द रस गन्ध से खींच करके ज्ञानेन्द्रिय की विषयोन्मुखता से परावृत्त करके । असक्त फल कामना से रहित होता हुआ कर्मेंद्रिय वागादिक इन्द्रिय से कर्मयोग अर्थात् ज्ञाननिष्ठा का उपाय स्वरूप श्रुति-स्मृति से विहित शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है वह पुरुष मोक्षसाधन कारण जो सत्मार्ग है उसमें आरूढ होने से उत्कृष्ट है । बन्धमोक्ष कारण शास्त्र में बतलाया है मनको "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मनुष्य का मन ही बन्धमोक्ष में कारण है अतः जिसका मन विशुद्ध है वशीकृत है वह अवश्य सर्वोत्कृष्ट है । अन्यत्र भी कहा है "यस्य वाङ्मनसीशुद्धे सम्यग्-गुप्ते च सर्वदा । स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् " जिस व्यक्ति का मन तथा वाणी

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

प्रक्रान्तस्य कर्मयोगस्यैवानुष्ठानसौकर्याज्ज्यायस्त्वं वर्णयति–नियतमिति । त्वं नियतं वर्णाश्रमोचितं कर्मैव कुरु । यस्मादकर्मणः कर्माकरणाज्ज्ञानयोगाद्वा कर्मैव ज्यायः । प्रथमकर्तव्यताकत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वेन ज्ञाननिष्ठाप्रापकत्वेन च कर्मणोज्यायस्त्वमिति भावः । किञ्चाकर्मणः कर्मानुष्ठानमन्तरेण ज्ञानयोगमात्रानुष्ठानेन वा ते शरीरनिर्वाहोऽपि न प्रसिद्ध्येत् । तस्मात्तव योग्यं कर्मानुष्ठानमेवेति भावः ।८।

शुद्ध है तथा नियंत्रित है वही पुरुष वेदान्त से प्राप्तव्य सभी फल को प्राप्त करता है इत्यादि प्रमाणों से तथा अनुभव से भी सिद्ध होता है कि मनः शुद्धि आवश्यक है ॥७॥

प्रक्रान्त जो कर्मयोग है वह करने में अतिसरल है इसलिये इतर की अपेक्षा से कर्मयोग के महत्व का वर्णन करते हैं—"नियत मित्यादि" हे अर्जुन ! तुम अभी यद्यपि मोक्षप्राप्ति की इच्छा से ज्ञानयोग को प्राप्त करने के लिये समुत्सुक हो तथापि अभी मदाज्ञारूप नियत जो आश्रमोचित कर्म है उसी का अनुष्ठान करो जिसलिये अकर्म से अर्थात् कर्म का अकरण अथवा ज्ञान योग की अपेक्षा से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । कर्म प्रथम कर्तव्यताक होने से अवश्य अनुष्ठेय होने से तथा ज्ञान योग का उपाय (कारण) होने से कर्म से ज्यायस्त्व सिद्ध होता है। और भी देखिये कर्मानुष्ठान नहीं करने से अथवा ज्ञानयोगमात्र के अनुष्ठान से तुम्हारी शरीर यात्रा का निर्वाह नहीं होगा इसलिये अभी तुम्हारे योग्य कर्मानुष्ठान ही है ।

जन्मकाल से लेकर मरणपर्यन्त स्वभावतः मनुष्य शास्त्रीय अथवा अशास्त्रीय कर्म में प्रवृत्त होता है तब जैसे जैसे हेयोपादेय विषयक बुद्धि होती है उस प्रकार से इहलोक सम्बन्धी परलोक सम्बन्धी यद्वा मोक्ष सम्बन्धी कर्म को करता है । इनमें से कोई व्यक्ति विशेष प्राक्तन संस्कार के बल से सद्गुरु को प्राप्त करके निष्काम कर्म से और भगवान् के आराधनात्मक कर्म से भगवान् की कृपा को प्राप्त करके मोक्ष की इच्छा करता है । तब इस व्यक्ति की ज्ञान निष्ठा में प्रवृत्ति होती है । इसलिये ज्ञान योग से साध्य भक्ति के द्वारा मोक्ष संपादन करने के लिये देह धारण आवश्यक है और देह धारण करने के लिए देह के उपयोगी कर्म योग अति आवश्यक होने से अवश्य अनुष्ठेय है, यह अभिप्राय है "तव योग्यं कर्मानुष्ठानमेव" इस भाष्यावतरण का ॥८॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

ननु सर्वकर्मणां बन्धप्रदत्वात् 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिश्रुतिभिस्तेषां मोक्षसाधनत्वनिषेधाच्च तत्परित्याग एवोचित इत्याशंक्य समाधत्ते यज्ञार्थादिति । अयं कर्माधिकारी लोको यज्ञार्थात्कर्मणो 'यज्ञो वै विष्णुरि'ति श्रुतेर्यज्ञः परमपुरुषस्तदर्थं तदाराधनात्मकं कर्म सर्वमपि श्रौतं स्मार्तं कर्मामृतपदप्रेप्सयाऽनुष्ठीयते । तत्पदञ्च परमपुरुषप्रसादलभ्यमित्यायातम् । परमात्मप्रसादप्रयोजकत्वं यज्ञादिकर्मण इति ततोऽन्यत्र मोक्षप्रतिभटक्षुद्रसुखैकलिप्सया गृहपुत्रकलत्रादिष्वभिनिवेशवता क्रियमाणे कर्मणि कर्मबन्धनो भवति । तस्माद्भगवत्प्रसादजनकं कर्म मुक्तसङ्गस्तत्फलतृष्णारहितः सन् समाचर श्रद्धातिशयेनानुतिष्ठ ॥९॥

शास्त्र में कर्म को बन्ध प्रद बतलाया है और "न कर्मणा न प्रजया" कर्म से मोक्ष नहीं प्राप्त होता है तथा प्रजा से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है । इत्यादि श्रुति से तथा "कर्मणा बध्यते जन्तुः" कर्म से जीव बन्धन को प्राप्त करता है तथा विद्या से मोक्ष को प्राप्त करता है इत्यादि स्मृति से भी सिद्ध होता है कि कर्म मोक्षोपयोगी नहीं है तब तो मोक्षार्थी से कर्म सर्वथा हेय है आप हमें कर्म करने के लिये कैसे प्रोत्साहित करते हैं ? यह जो शंका है उसके समाधान में कहते हैं "यज्ञार्थादित्यादि" यह कर्म में अधिकृत जो ब्राह्मण क्षत्रियादिक लोग हैं वे यज्ञार्थक कर्म से विष्णु भगवान् यज्ञ हैं अर्थात् यज्ञपद वाच्य हैं इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ परम पुरुष श्रीसाकेताधिपति हैं उस परम पुरुष के लिये भगवदाराधनात्मक सभी कर्म श्रौत स्मार्त कर्म अमृतपद की इच्छा से अनुष्ठीयमान होता है । वह जो मोक्ष पद है वह परम पुरुष का जो प्रसाद (कृपा) उससे जायमान है यह फलितार्थ होता है । परमात्मा की जो प्रसाद तत्प्रयोजकत्व यज्ञादिक कर्मों को है । यज्ञार्थ कर्म से भिन्न जो कर्म अर्थात् अत्यन्त सुखात्मक मोक्ष के विरोधी सुख की लिप्सा से गृह पुत्र कलत्र में अभिनिवेशवान् पुरुष से क्रियमाण कर्म में कर्मबन्धन होता है । इसलिये श्रीपुरुषोत्तम अनन्त कल्याणगुण भगवान् के प्रसाद का जनक जो कर्म है उसे फल तृष्णारहित होकर के समीचीन रूप से करो अर्थात् श्रद्धातिशय से तादृश कर्म का अनुष्ठान करो । भगवत् प्रसाद को प्राप्त करने के लिये फलेच्छानभिसंधान पूर्वक जो कर्म किया जाता है वह बन्धन जनक नहीं होता है अपितु संसार सागर से मुक्त होने में सहकारी होता है । जो कर्म मोक्ष प्रतिद्वन्द्वी स्त्री पुत्रादिक क्षुद्रफलेच्छा से क्रियमाण होता है तादृश कर्म ही बन्धक होता है ॥९॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

श्रेयस्कामैः सर्वैः कर्मपरतन्त्रैर्बुभुक्षुभिर्मुमुक्षुभिश्च शरीरधारणं यज्ञशिष्टेनैवान्नादिना कर्त्तव्यमित्याह—सहेति। प्रजापतिः सर्वेश्वरो भगवान् श्रीरामः । अत्र 'पतिं विश्वस्य' 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' 'सीतालक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ।' इत्यादिशास्त्रवचनप्रामाण्यान्निरुपाधिकः प्रजापतिशब्दः सर्वशेषिणं भगवन्तं श्रीराममेवाभिधत्ते । पुरा सृष्टिसमये । सहयज्ञाः स्वाराधनात्मकयज्ञैः सहिताः । प्रजा ब्रह्मपर्यन्तान् यज्ञाधिकारिणः सर्वान् संसारिणो जनान् । सृष्ट्वा तासाम्प्रजानामुज्जीवनायैव ताः समुत्पाद्येत्यर्थः । उवाचाभिदधौ । अनेन मदाराधनात्मकेन यज्ञेन । प्रसविष्यध्वम् प्रसूयध्वम् । सर्वदाऽभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । एष यज्ञः । वो युष्माकम् । इष्टम्परमपुरुषार्थमपवर्गं कामाँस्तदनुगुणानन्यान् कामाँश्च दोग्धि प्रपूरयतीतीष्टकामधुक् । अस्तु भवतु ।१०।

कल्याण को चाहनेवाले कर्म पराधीन चाहे वह सांसारिक ऐहिक अथवा पारलौकिक भोग को चाहनेवाले हो अथवा मोक्ष के अभिलाषावान् हो उन्हें शरीर का धारण यज्ञ शिष्ट अन्न से ही करना चाहिये इस अभिप्राय से कहते हैं "सहयज्ञाः" इत्यादि । हे अर्जुन ! प्रजा के पति सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामि अनन्त कल्याण गुणवाले भगवान् साकेत विहारी श्रीरामचन्द्रजी यहाँ प्रकृत स्थल में "पतिं विश्वस्य" स्थावर जंगम लक्षण समस्त विश्व के पति "प्रजा पतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" प्रजापति की धर्मसभा को प्राप्त करें । "सीतालक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः" श्रीसीतास्वरूपालक्ष्मी से युक्त आप विष्णुदेव कृष्ण प्रजापति हैं" इत्यादि शास्त्रवचन प्रमाण से निरूपाधिक जो प्रजापति शब्द उस का अर्थ होता है सर्वशेषी भगवान् श्रीराम, उस सर्वेश्वर श्रीरामजी ने पुरा पूर्वकाल में अर्थात् सृष्टि के समय में यज्ञ के साथ ही परमेश्वर आराधनात्मक यज्ञ के साथ प्रजा ब्रह्मा पर्यन्त यज्ञ के अधिकारी सभी संसारी पुरुष को सृष्ट पैदा करके उन प्रजाओं का उज्जीवन करने के लिये ही उन सभी प्रजाओं को उत्पादन करके उत्पन्न सभी प्रजा को कहा क्या कहा ? सभी प्रजा को तो इस यज्ञ से परमेश्वर के आराधनात्मक यज्ञ के द्वारा तुम लोग स्वाभिलषित कल्याण को प्राप्त करो । यह यज्ञ तुमलोगों को अभिलषित परम पुरुषार्थ मोक्ष को तथा मोक्ष के अनुकूल और जो कुछ कमनीय वस्तु है उसे पूर्णकरने वाला हो अर्थात् इस यज्ञ का संपादन करके तुमलोग स्वाभिलषित सभी कमनीय वस्तु को प्राप्त करोगे यह यज्ञ इष्ट वस्तु को पूर्ण करनेवाला है । इस प्रकार से प्रजापति ने सभी प्रजा को उपदेश किया सृष्टि के समय में ॥१०॥

अथ मोक्षसाधनज्ञानाङ्गभूतो यज्ञो येन प्रकारेण जनानामिष्टकामधुग्भवति तत्प्रकारमाह–देवानिति । अनेन देवाराधनभूतेन यज्ञेन कर्मणा देवान् "यस्यात्माशरीरं" "जगत् सर्वं शरीरं ते' इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यान्मच्छरीरभूतानिन्द्रादिदेवान् । भावयताराधयत । ते देवा यज्ञाराधितास्ते मदात्मकाः शक्रप्रभृतयो देवाः । वो याजकान् । भावयन्तु स्वाराधनभूतं यज्ञेऽपेक्षितैरन्नादिभिस्तत्तद्वस्तुभिः सम्बर्धयन्तु । एतेन देवताप्रीतिलक्षणापूर्वद्वारा फलसाधनतया यज्ञस्य नश्वरत्वेऽपि कालान्तरभाविफलप्रदाना-

मोक्ष का कारण जो ज्ञान है उस ज्ञान का अंगभूत परम्परया ज्ञान में सहकारी जो यज्ञ है वह जिस प्रकार से प्राणधारीकर्माधिकारी को स्वाभिलषित इष्ट वस्तु को देने में कल्पवृक्ष के समान देनेवाला होता है उस प्रकार को बतलाने के लिये कहते हैं "देवानित्यादि" देवता के आराधन स्वरूप इस यज्ञरूप कर्म से "यस्यात्मा शरीरम्" जिसकी आत्मा शरीर है "जगत्सर्वम् शरीरं ते" हे भगवन् ! स्थावर जंगमात्मक सकल जगत् आपका शरीर है इत्यादि जो शास्त्र है तद्रूप शास्त्र प्रमाण से परमेश्वर के शरीर रूप जो इन्द्रादि सकल मन्त्र देवताओं की तुमलोग आराधना करो । यज्ञ से आराधित परमेश्वर के अंगरूप वे देवलोग यज्ञ के द्वारा आराधित इन्द्र प्रभृति देवतालोग यज्ञ करने वाले तुमलोगों को तुम्हारे आराधन रूप यज्ञ में जो जो वस्तु अन्नादिक अपेक्षित है वह सभी वस्तु देंगे अर्थात् जब तुमलोग शक्रादि देवों की आराधना करोगे तब वे देवतालोग आराधना करने में जिनवस्तुओं की आवश्यकता अन्नादिक की होती है वह सभी वस्तु देंगे । इससे वक्ष्यमाण दोष का निरास हो जाता है देवता की जो प्रीतिरूप अपूर्व द्वारा फल साधनता होने से यज्ञ कर्म के विनाशित्व होने पर भी कालान्तर में फल कैसे देगा इस शंका का भी निरास हो जाता है ।

अर्थात् यज्ञ तो देवता को उद्देश्य करके संस्कृत अग्नि में आहुति प्रक्षेपरूप होने से क्षणभर में ही विनष्ट हो जाता है तब वह यज्ञ कालान्तर में होनेवाला जो स्वर्गादि फल है उसका वह याग जनक कैसे होगा कारण कि कार्य के अव्यवहित पूर्ववर्ती को ही कारण कहते हैं याग तो फल से चिर पूर्वकाल में रहनेवाला है इसके उत्तर में समर्थन किया कि याग तो अवश्य चिरध्वस्त हो जाता है परन्तु याग से जायमान फल काल पर्यन्त रहनेवाला अपूर्व याग से उत्पन्न होता है जो कि फल का जनक होता है. उसमें कोई विद्वान् कहते हैं कि देवता के उद्देश्य से जो याग किया जाता है उससे देवता प्रीति रूप ही अदृष्टफल को देता है, नहीं कहें तब तो अदृष्टफल के प्रति जनक हुआ याग तो अन्यथा सिद्ध होने से जनक नहीं हुआ कुलाल जन्य घट के प्रति कुलाल जनक कुलाल पिता के समान अन्यथा सिद्ध होता है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अदृष्ट याग का व्यापार है और व्यापार से व्यापारी को

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

नुपपत्तिर्निरस्ता । एवमुक्तप्रकारेण परस्परमन्योन्यम् । भावयन्तस्तत्तदानुकूल्यसम्पादनेन सम्भावयन्तः । परं श्रेयोऽनवधिकातिशयसुखं मोक्षम् । अवाप्स्यथ प्राप्स्यथ॥११॥

ऐहिकं फलमप्याह—इष्टानिति । यतो यज्ञभाविता यज्ञेन नित्यानुष्ठीयमानेनाराधिता देवा वो युष्मभ्यमिष्टान् परमपुरुषार्थसाधने परमोपयोगिनो भोगान् धनधान्यपशुपुत्रादीन् सन्मित्रकलत्रादींश्चदास्यन्ते । प्रागनुष्ठितयागप्रीतैस्तैर्देवैर्दत्तान् भोगानेभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय देवयज्ञादिभिर्देवमादकृत्वा यः स्वयं भुंक्ते स स्तेन एव । नहि देवा स्वयं पाकादिनिर्माय भुञ्जते किन्तु स्वदत्तानन्तैश्वर्यवताऽनुष्ठीयमाने याग एव स्वां

अन्यथा सिद्ध नहीं माना जाता है अन्यथा सभी कारण का व्यापार अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से कारण हो यह करणादि कारक निरर्थक हो जायगा, यह अभिप्राय है "एतेन" इस भाष्य ग्रन्थ का ।

एवम् उक्त प्रकार से परस्पर अन्योन्यरूप से भावित करने से अर्थात् तत्तत् आनुकूल्यता का संपादन करने से परमश्रेय अनवधिक निरतिशय सुखरूप जो मोक्ष है उसे प्राप्त करोगे । अगर तुम देवता को यागादि कर्म द्वारा संतुष्ट करते रहोगे तो वे देवतालोग सन्तुष्ट हो करके मोक्ष पर्यन्त सुख का भागी बनायेंगे । यद्यपि देवता पूजादि कर्म से मोक्ष की प्राप्ति विहित नहीं है तथापि देवता भी परमेश्वर के शेषरूप हैं तो शेषी जो परमेश्वर उसकी कृपा से मोक्ष फल होता है "स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः । यदुपास्ति" विद्वान् लोग जिसकी उपासना को स्वर्गापवर्ग का मार्ग कहते हैं इत्यादि प्रमाण से सिद्ध होता है कि ईश्वर के देहरूप देवतोपासना से भी मोक्ष फल होता है ॥११॥

भगवदंग स्वरूप जो देवता हैं उनके आराधनात्मक कर्म से मोक्ष लाभ ही फल है इतना ही नहीं अपितु शरीरबल प्रयोजक ऐहिकफल भी देवताराधनात्मक कर्म से होता है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "इष्टानित्यादि" यज्ञ के द्वारा आराधित नित्य अनुष्ठीयमान यज्ञात्मक कर्म से आराधित देवलोग आराधक आपलोगों को इष्ट भोग अर्थात् पुरुषार्थ के साधन में परम उपयोगी जो भोग पशु धनधान्यादिक तथा सन्मित्र कलत्र प्रभृति आपको देंगे; पूर्वानुष्ठितयाग द्वारा संतुष्ट देवता से दिया हुआ जो अन्नादि भोग्य वस्तु वह पुनः देवताओं को नहीं देकरके जो व्यक्ति उस द्रव्य को पुनः स्वयमेव उपभोग कर लेता है तो वह पुरुष स्तेन चोर ही है । देवतालोग स्वयं रसोई बना करके नहीं भोजन करते हैं किन्तु देवसे

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

शमाशामानास्तिष्ठन्ति । पूर्वाराधितदेवप्रसादलब्धैश्वर्यः पुरुषो यदि पुनर्देवाराधनं करोति चेत् तृप्ताः सन्तः पुनरपि तस्मायिष्टं ददते । यः पुनरेवं न्याय्यं नानुतिष्ठति स चौर एव देवद्रव्यापहारकत्वात् क्लेशभागिति भावः ॥१२॥

तदेव गुणदोषप्रदर्शनविधया स्पष्टयति—यज्ञशिष्टाशिन इति भगवदङ्गभूतदेवाराधनार्थमेव पक्कमादौ सर्वदेवाधिदेवाय तच्छेषभूतदेवेभ्यश्च निवेदितं यज्ञशिष्टममृतपदाभिलप्यमन्नमश्नन्ति तच्छीलाः सन्तः सज्जनाः सर्वैः प्राक्तनैः प्रमादालस्यादिभिरनुष्ठितेन कर्मवैगुण्येन चोद्भूतैः किल्बिषैर्मुच्यन्ते । ये तु परमात्मने तदङ्गभूतदेवेभ्यश्च न निवेदयन्ति स्वात्मकारणादेव पचन्ति ते हि पापबुद्धयोऽघमेव देवैर्दत्तस्य पुनस्तेभ्यः

दिया हुआ जो अनन्त ऐश्वर्य तादृश ऐश्वर्यवान् पुरुष से अनुष्ठीयमान यज्ञ में अपने अंश (भाग) के लिये आशा लगाये हुए बैठे रहते हैं। पूर्व में देवता की आराधना करके देवता के प्रसाद से जिसने ऐश्वर्य को प्राप्त किया है तादृश (वह) पुरुष यदि पुनः पूर्ववत् देवता की आरधना करता है तब पुनः देवता आराधक पुरुष के ऊपर प्रसन्न होकरके पुनः उस पुरुष को इष्ट भोग देते हैं। जो व्यक्ति जो पुरुष इस प्रकार से न्यायानुष्ठान नहीं करता है अर्थात् देवता से दिआ हुआ धन देवता को न देकर स्वयं भोग कर लेता है वह पुरुष चोर है। देव द्रव्य का अपहरण करनेवाला है इस लोक में क्लेश भागी होता है परलोक में नरक को प्राप्त करता है मोक्ष भागी तो कभी भी नहीं बनता है संसारचक्र में इतस्ततः परिभ्रमण करता रहता है ॥१२॥

पूर्वोक्त वस्तु को ही गुणदोष प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं "यज्ञशिष्ट" इत्यादि। भगवान् के अंगरूप जो देवता उन देवों की आराधना के लिए संपादित जो अन्न पानादिक सात्त्विक द्रव्य हो उस अन्न को प्रथमतः देवाधिदेव सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी को निवेदित करके तदनन्तर भगवदंग भूतदेवों के लिये निवेदित यज्ञ शिष्ट अमृतपदवाच्य अन्न के भोजनशील जो सत्पुरुष हैं वे पुरुष अनुष्ठित कर्मवैगुण्य से जायमान जो प्रमाद आलस्य प्रभृति किल्बिष पाप है उससे मुक्त हो जाते हैं। और जो व्यक्ति परमात्मा को अथवा सर्वेश्वर के अंशभूत देवान्तर को निवेदित नहीं करके अपने लिये ही अन्न को पकाता है वह पाप बुद्धिवाला अधम के समान देवताओं से दिया हुआ अन्न पक्वान्न रूप से देवों को नैवेद्य रूप में अर्पण नहीं करते हैं किन्तु स्वार्थमात्र के लिये उपभोग में लेते है वह अन्न पाप के उत्पादक होने से अघ कहलाता है, वह पापरूप अन्न को खाता है। श्रुति भी कहती है "केवलाघो भवति

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

पक्वान्ननैवेद्यरूपेणाप्रदाय स्वार्थमात्रे प्रयुक्तस्याघौघोत्पादकत्वादघमित्युपचर्यते तदेव ते भुञ्जते । 'केवलाघो भवति केवलादी' इतिश्रुतेः । तथैवोक्तं मानवेऽपि शास्त्रे–विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यश्चामृतभोजनः । विघसं भुक्तशिष्टं स्याद्यज्ञशिष्टं तथाऽमृतम्' (३।२८५) तस्माद्देवनिवेदितान्नभोजिना भवितव्यं पुरुषेणेति भावः ॥१३॥

एवं वर्णाश्रमोचितदेवाराधनादिकर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वमुक्त्वापुनस्तस्य जगच्चक्रनिर्वाहकत्वादप्यनुष्ठेयत्वमाह अन्नादिति त्रिभिः । अन्नादशिताद्रजस्तेजस्त्वेनपरिणताद् भूतानि प्राणिनो भवन्ति जायन्ते । पर्जन्याद् वृष्टेरन्नानां व्रीह्यादीनां सम्भवोऽस्ति । पर्जन्यो हि यज्ञाद्देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपयागादुत्पद्यते । एतच्च शास्त्रतः सिद्धम् । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' (म.) यज्ञश्च याज्ञिकप्रयत्नजन्येन कर्मणा समुद्भवति । तच्च कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि । ब्रह्मशब्देन चात्र प्राकृतशरीरं गृह्यते । ममयोनिर्महद् ब्रह्मेत्यग्रे प्रतिपादयिष्यते । तथाच

केवलादी" जो देवता को अर्पण नहीं करके केवल स्वयं खाता है वह केवलाघ कहलाता है। इसी प्रकार से मानव शास्त्र में भी कहा है। विघसाशी स्वात्म मात्र पाचित अन्न को विघस कहते हैं तथा यज्ञशिष्ट अन्नको अमृत कहते हैं। इस स्थिति में देवता को अर्पण नहीं करके खानेवाला विघसाशी होता है तथा भगवान् को तथा तदंगभूत देवता को अर्पण करके भोजन करनेवाला मनुष्य अमृतभोजी होता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि प्रतिदिन भगवान् को यथाशास्त्र भोग लगाकर उनका स्मरण करके तदीय प्रसादरूप में ही अन्न का भोजन करें जिससे कि पाप से युक्त न हो प्रत्युत ऐहिक आमुष्मिक विलक्षण फल को प्राप्त करे ॥१३॥

पूर्वकथित प्रकार से वर्ण आश्रम के अनुकूल देवता या आराधनात्मक जो कर्म है उस कर्म को अवश्य ही करना चाहिये। ऐसा कहा पुनः उसी देवताराधनात्मक कर्म जो है वह जगत् चक्र का निर्वाहक है इसलिये तादश कर्म को अवश्य कर्तव्यत्व का प्रतिपादन करते हैं "अन्नादित्यादि" श्लोकत्रय से। अन्न से मातापिता से भुक्त परिणाम परम्परा से शुक्रशोणित

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ? स जीवति ॥१६॥

प्राकृतशरीर समुद्भूतं कर्म जानीहीत्यर्थः । 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' प्राकृतशरीरन्त्वक्षर-पदबोध्यक्षेत्रज्ञात्समुद्भूतम् । क्षेत्रज्ञनियंत्रितं हि ब्रह्मपदाभिलप्यं प्राकृतशरीरं तत्तद्धेयो-पादेयेषु कर्मसु प्रवर्तितुं प्रभवति । कार्यप्रवृत्तिसामर्थ्यमेवात्र सम्भूतिरुच्यते । तस्मा-त्सर्वगतं सर्वेषु यज्ञानुष्ठातृषु सम्प्राप्तमिति प्राकृतशरीराख्यं ब्रह्म याज्ञिकाचारजन्यकर्म-साध्ययज्ञेऽनुष्ठातृतया सर्वदा प्रतिष्ठितम् यज्ञाधिकारसम्पादकत्वेनावस्थितमित्यर्थः । अनेनप्रकारेण महापुरुषेण भगवता सजीवशरीरान्नपर्जन्ययज्ञकर्मजीवाधिष्ठितशरीररूपं

में परिणत अन्न से प्राणीवर्ग की उत्पत्ति होती है । और यह अन्न पर्जन्य से जायमान जो वर्षण उससे व्रीहि यव गोधूमादि की उत्पत्ति होती है और देवता को उद्देश्य करके द्रव्य त्यागरूप याग है उससे मेघ की उत्पत्ति होती है । याग से मेघ सम्पन्न होता है वह शास्त्र में भी प्रसिद्ध है "संस्कृत अग्नि में विधिपूर्वक जो आहुति दी जाती है वह आहुति आदित्य में जाती है और आदित्य से वृष्टि होती है और वृष्टि होने से व्रीहियवादिक लक्षण अन्न उत्पन्न होता है । उस अन्न से जो कि क्रम परम्परा से शुक्र शोणितरूप में जब परिणत होता है तब उससे प्रजा की मनुष्यादि जीवों की उत्पत्ति होती है और यज्ञ करने वाले जो याज्ञिक पुरुष हैं उनका जो प्रयत्न तज्जन्य कर्म से यज्ञ समुद्भूत होता है वह जो यागोत्पादक कर्म है वह ब्रह्म से जायमान है । यहां ब्रह्म शब्द से प्राकृत शरीर का ग्रहण होता है । इस बात को "ममयोनिर्म" इस प्रकरण में प्रतिपादन करेंगे । फलितार्थ यह हुआ कि प्राकृत शरीर से जायमान कर्म है ऐसा समझना । और जो यह प्राकृत शरीर है वह अक्षरपद बोध्य क्षेत्रज्ञ से जायमान है । क्षेत्रज्ञ से नियंत्रित ब्रह्म पद से बोध्य यह प्राकृतिक शरीर तत्तत् हेय तथा उपादेय रूप कर्म में प्रवृत्त होने में समर्थ होता है । अर्थात् प्राकृ-तिक शरीर की जो हेयोपादेयता में होती है वह क्षेत्रज्ञ से नियंत्रित होने के कारण अन्यथा नहीं । कार्य में प्रवृत्ति होने का जो सामर्थ्य है उसी को संभूति शब्द से कहते हैं नतु उत्पत्त्यर्थक संभूति शब्द प्रकृत में है । तस्मात् सर्वगत है अर्थात् सभी जो यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाले पुरुष हैं उनमें से प्राप्त है इसलिये प्राकृत शरीराख्य जो ब्रह्म है वह याज्ञिक पुरुष का जो आचार, उससे जायमान जो कर्म, तत्साध्य यज्ञ में अनुष्ठातारूप से सर्वदा प्रतिष्ठित है । अर्थात् यज्ञ का जो अधिकार उक्त अधिकार के संपादकरूप से अवस्थित है । इस प्रकार से महापुरुष मर्यादापालक भगवान् से सजीव शरीर अन्नव्रीह्यादि मेघ यज्ञ

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

चक्रमिव चक्रं प्रवर्तितं यः कर्माधिकारीह प्रवृत्तिबहुले जगन्मण्डले नानुवर्तयति भगवत्प्रवर्तितक्रममनादृत्य देवयजनमन्तरेण स्वयं भुङ्क्ते स अघायुः पापजीवनो निजेन्द्रियमात्रप्रीतिवर्धको हे पार्थ ! स च व्यर्थमेव जीवति । न तेन स्वेतरदेवमनुष्यादीनां यज्ञाद्यनुष्ठानद्वारा लेशतोऽप्युपकारः क्रियत इति भावः ॥१४–१५–१६॥

इदानीं मुक्त इव स्थितस्य निरस्ताविद्यातत्कार्यस्यात्मनिष्ठस्य कर्मप्रवृत्तिरकिञ्चित्करीत्याह–य इति द्वाभ्याम् । तु शब्दः कर्मवतोऽस्य वैलक्षण्यं सूचयति । यस्तूपासक

कर्म और जीव से अधिष्ठित शरीररूप चक्र के समान चक्र परंपरा रूप से प्रवर्तित चलाया गया है । जो कर्माधिकारी पुरुष इस लोक में अर्थात् प्रवृत्ति प्रधानक जगत् मण्डल में भगवत् प्रवर्तित चक्र का अनुवर्तन नहीं करता है अर्थात् प्रवर्तित क्रम का अनादर करके स्वयमेव भोजन कर लेता है वह पुरुष पाप जीवन है स्वकीय इन्द्रियमात्र में प्रीति को बढ़ाने वाला है । हे पार्थ ! एतादृश रूप जो जीता है वह निरर्थक ही है । एतादृश व्यक्ति ने स्वभिन्न देवता अथवा मनुष्य वा किसी प्राणी को यज्ञादि अनुष्ठान द्वारा लेशमात्र से भी उपकार नहीं किया । इस लिये यज्ञादि कर्मानुष्ठान द्वारा देवता परमेश्वर तथा जीवमात्र के कल्याण करने के लिये प्रत्येक प्राणी को प्रयत्न करना चाहिये ॥१४–१५–१६॥

जो उपासक मुक्त जीव के समान अवस्थित है और अविद्या तथा अविद्या कार्य से पर हो गया है ऐसा जो आत्मनिष्ठ व्यक्ति उसके लिये कर्मानुष्ठान का आचरण आवश्यक है या नहीं है इसबात को दो श्लोकों से बतलाते हैं, "यस्तु" इत्यादि ।

इस अवतरण ग्रन्थ का अभिप्राय यह है कि पूर्वप्रकरण से कर्म का जो अनुष्ठान है वह अत्यन्त आवश्यक है ऐसा कहने से यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक अधिकारी को मोक्ष पर्यन्त कर्मानुष्ठान करना ही चाहिये यह स्वभावत एव प्राप्त होता है इस प्रश्न के समाधान करने की इच्छा से भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो उपासक ज्ञाननिष्ठा के चरमकाष्ठापर्यन्त पहुंच गया है केवल भगवद्विषयक अनुसंधान में रक्त है हेय वा उपादेय विषयक सकल प्रवृत्ति से निवृत्त है ऐसा जो व्यक्ति विशेष है उसके लिये कर्मानुष्ठान में कोई भी प्रयोजन नहीं है इसलिये 'यस्तु' इस ग्रन्थ का उत्थान होता है ।

यहाँ जो "तु" इत्याकारक शब्द है वह ज्ञान निष्ठ महापुरुष को कर्माधिकारी व्यक्ति की अपेक्षा वैलक्षण्य का द्योतक है । जो उपासक जीव विशेष आत्मरति है अर्थात् स्वकीय आत्मा

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

आत्मरतिः स्वात्मनि स्वशेषिणि परमात्मनि च रतिर्निष्ठा यस्य स तथाभूत एव स्यान्नतु लौकिकविषयरुचिर्भवेदात्मना तृप्तो न तु बाहीकरसादिभिस्तृप्तस्स्यादात्मन्येव च सन्तुष्टो न तु लौकिकस्रक्चन्दनवनितादिषु तस्य परमात्मप्राप्तयेऽन्यत् कार्यं कर्म न विद्यते। समवाप्ताखिलफलत्वेन भगवदनन्यमनस्कत्वेन च विधिनिषेधापारतन्त्र्यादिति भावः। कुतो न विद्यते तदाह नेति। तस्य साक्षात्कृतभूम्न आत्मसाधनेन कर्मणा प्राप्तव्यार्थो नास्ति स्वाभीप्सितार्थस्य प्राप्तत्वात्। अत एवेह लोके कर्माकरणेन प्राप्तव्यस्यानवाप्तिरूपोऽनर्थोऽपि नास्ति। एवं सर्वेषु भूतेषु कश्चिदर्थस्य स्वीकरणीयताऽप्यस्य नैवास्ति ॥१७ १८॥

में तथा स्व का शेषी अंगी जो परमात्मा सर्वेश्वर उपास्य देव हैं उनमें ही रति निष्ठा है जिस की ऐसा जो उपासक विशेष है न तु लौकिक विषय स्त्री पुत्र धन धान्य ऐहिक अथवा पारलौकिक विषय में रुचिवाला तथा आत्मतृप्ति है अर्थात् आत्मा से आत्मा में परमात्मा में ही तृप्त है न तु बाह्यवस्तु अन्नादिक से तृप्त। तथा आत्म संतुष्ट है। नतु बाह्य आत्मा परमात्मा से भिन्न जो स्रक् चन्दनादि से संतुष्ट हो ऐसा जो ज्ञान निष्ठ उपासक है उसे सामान्य कर्म से कुछ प्रयोजन नहीं है वह तो केवल आत्मा परमात्मा मात्र में अनुरक्त होने से आत्म प्राप्ति से अन्य कार्य कर्म में प्रवृत्त नहीं है। अर्थात् एतादश ज्ञान निष्ठ आत्मप्राप्ति से भिन्न कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता है। उसने सभी फल को प्राप्त कर लिया है भगवान् मात्र में अनन्य मनवाला होने से अब वह पुरुष विधिनिषेध के अधीन नहीं रह गया है यह भाव है। जब एतादश ज्ञाननिष्ठ पुरुष भी अस्मदादि के समान ही आहार विहारादि क्रिया में ओत प्रोत हैं मठमन्दिर बनाने में व्यस्त हैं तब विधि निषेध से परे कैसे हो सकते हैं इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं।

"नैव तस्येत्यादि" जिसने फल के सागर स्वरूप व्यापक सर्वेश्वर जड चेतन का शरीरी भगवान् श्रीराम का साक्षात्कार कर लिया है उसे परमात्मा की प्राप्ति में साधनात्मक जो कर्मानुष्ठान है उस कर्म के द्वारा अत्र प्राप्तव्य अर्थ (प्रयोजन) नहीं है क्योंकि स्वाभिष्ट जो परमात्मा प्राप्ति थी उसे उस उपासक ने प्राप्त कर लिया है तावत्कालपर्यन्त ही साधन से सिद्ध होनेवाला साध्य(कार्य) सिद्ध नहीं होता है जैसे तभी तक पाक के साधन में आदरवान् पुरुष रहता है जब तक पाकरूप कार्य सिद्ध नहीं होता है। जब कार्य की सिद्धि हो जाती है तब तादश कार्य के कारण में लोक अनपेक्ष हो जाता है। इसी प्रकार से उपासक तभी तक कर्मानुष्ठान में ओत प्रोत रहता है जब तक परमात्म प्राप्ति रूप कार्य नहीं होता है और जब परमात्मा प्राप्ति

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

एवं पूर्णकामस्यात्मनिष्ठस्यैवकर्मानुष्ठानमनावश्यकं तदन्यिदानीं फलासंगरहितं तदावश्यकमेवेत्याह—तस्मादिति। यस्मादात्मनिष्ठस्यैव भगवदेकमनस्कतया कर्मण्यरुचिर्युक्ता न तु सर्वस्य तस्मात्त्वं फलाभिलाषं हित्वा वर्णाश्रमोचितं नियतं कर्म यथाविधि यावज्जीवं समाचर। यतः फलतृष्णां विना भगवत्कैंकर्यबुद्ध्या कर्माचरन् पुरुषः परमात्मानं तदनुभवलक्षणं मोक्षमाप्नोति ॥१९॥

जिसे हो गई तब कर्म की क्या आवश्यकता रह गई जो वह साधक पूर्ववत् कर्म करे इसलिये भगवान् ने कहा "नैव तस्य कृतेनार्थः" इति। जिसने व्यापक उस परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है उसे आत्मा के साधक जो कर्म है उस कर्म से अब कुछ प्राप्तव्य अर्थ (प्रयोजन) नहीं है, क्यों कि अपने अभिलषित पदार्थ आत्मा को प्राप्त कर लिया है। अत एव इस लोक में कर्म के नहीं करने से जो प्राप्तव्य प्रयोजन है उसके अप्राप्ति स्वरूप अनर्थ की प्राप्ति भी नहीं है। इसी तरह प्रत्येक प्राणियों में जिस उपासक ने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है उसे प्राप्यत्व भी नहीं है ॥१७॥१८॥

हे अर्जुन! जो पूर्ण काम आत्म निष्ठ है उस महापुरुष के लिये कर्मानुष्ठान आवश्यक नहीं है तुम तो पूर्ण काम नहीं हो इसलिये तुम तो फल विषयक आसक्ति को छोड करके कर्मानुष्ठान करो, अभी कर्म करने में ही तुम्हारा कल्याण है। इस बात का स्पष्टी करण करने के लिये भगवान् अर्जुन को कहते हैं "तस्मादित्यादि" अर्थात् हे अर्जुन! जो व्यक्ति सर्वदा आत्मा नुसंधान में ही संलग्न है नित्य तृप्त है कर्म काण्ड में श्रद्धा रहित हो गया है ऐसा जो उपासक विशेष उसी के लिए अननुष्ठान श्रेयस्कर है न कि सब के लिए कर्माननुष्ठान श्रेयस्कर है। तुम तो कर्म के ही अधिकारी हो अतः कर्म जन्य फल विषयक आकांक्षा को छोड कर कर्तव्य बुद्धि से कर्म का अनुष्ठान अवश्य करो इस अभिप्राय से कहते हैं "तस्मादित्यादि" जिसलिये आत्मनिष्ठ को निरस्त है अखिल वासना संस्कार जिसे चरमभूमिका में आरुरुक्षुनित्य तृप्त उपासक विशेष को ही भगवान् में अनन्यमनस्कता के कारण से कर्म में अरुचि होनायुक्त है इसलिये हे अर्जुन! तुम तो कर्म जन्य फल में अभिलाषा (तृष्णा) को छोड करके वर्णाश्रम के उचित (योग्य) जो नियत नित्य नैमित्तिक कर्म हैं अग्नि होत्र संध्या वन्दनादिक उन कर्म का यथाविधि शास्त्र प्रतिपादित विधि द्वारा यावत् जीवन संपादन करो। फलाकांक्षा को छोड करके भगवान् की सेवा बुद्धि से कर्म करते

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥

चित्तशुद्धिमतां ज्ञानिनामपि कर्मानुष्ठानमावश्यकमिति सोदाहरणमाह–कर्मणेति । विशुद्धान्तःकरणानांमंयमवतां विदुषामपि कर्मानुष्ठानं श्रेयस्करम् । यतो जनकादयो वेदान्तपरिशीलिनो विद्वांसोऽपि कर्मणा वर्णाश्रमोचितेन नित्यादिक मैव संसिद्धिमास्थिता निः श्रेयसं प्राप्तवन्तः । ननु कर्मणा सम्प्राप्तात्मविद्यस्य किम्पुनः कर्मानुवृत्त्येति चेत्तत्राह–लोक संग्रहमिति । लोकसंग्रहं सम्पश्यन् लौकिकानां केषाञ्चित् कर्मण्यश्रद्धावतां भूयः कर्मण्यादरो भवेदिति तत्संग्रहमर्थाल्लौकिकजनश्रद्धोत्पादनार्थमपि त्वं ज्ञानयोगाधिकारार्होऽपि कर्मैव कर्तुमर्हसि ॥२०॥

हुए पुरुष परमात्मा को अर्थात् परमात्मानुभव लक्षण निरतिशयानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है भगवत्कैंकर्य बुद्धि से किये हुए कर्म के बल से अतः मुमुक्षुओं को शास्त्र विहीत कर्मों का त्याग कदापि उचित नहीं है ॥१९॥

जिस महापुरुष का पूर्वकृत कर्मानुष्ठान द्वारा अन्तः करण पवित्र है ज्ञानवान् भी है उन्हें भी कर्म का अनुष्ठान आवश्यक ही है इस वस्तु को उदाहरण सहित भगवान् कहते हैं "कर्मणैव हीत्यादि" हे अर्जुन वर्णाश्रमोचित नित्य नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठान करने से जिनका अन्तः करण पवित्र हो गया है ऐसा सम्यमशील विद्वान् महापुरुष को भी वर्णाश्रमोचित कर्म का अनुष्ठान अतिशयेन श्रेयस्कर है । जिसलिये कि विदेहराज जनक जैवली जानश्रुति प्रभृतिक राजर्षि लोग वेदान्त के ज्ञानवान् परम विद्वान् थे तो भी उक्त राजर्षि प्रभृतिक महानुभावोंने वर्णाश्रम के उचित नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान करते हुए संसिद्धि अर्थात् नित्य निरतिशय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त किया । जब कर्म करने से उनलोगों को आत्मविद्या की प्राप्ति हो गई थी तब पुनः कर्मानुष्ठान करने की क्या जरूरत थी ओदन कामनावान् पुरुष क्या ओदन सिद्धि हो जाने के बाद में भी क्या पुनः ओदन साधन का संपादन करता है ! इस शंका के निराकरण करने के लिए कहते हैं कि "लोक संग्रहमेवापीत्यादि" लोक संग्रह को देखकर किसी किसी लौकिक जो कि कर्म में श्रद्धाशील नहीं है उन्हें भी पुनः कर्म में आदर हो इस प्रकार लौकिक जन का जो संग्रह अर्थात् साधारण लौकिक पुरुष को भी कर्म विषयक श्रद्धा के उत्पन्न कराने के लिए तुम कर्म करो । यद्यपि तुम्हें ज्ञान योग में अधिकार है तथापि इतर व्यक्ति के मन में कर्म विषयक श्रद्धोत्पादन करने के लिये तुम्हें कर्म करना आवश्यक है ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

लोकसंग्रहप्रकारं दर्शयति—यद्यदिति। विद्याकुलैश्वर्यादिना श्रेष्ठोऽधिकप्रशस्यः पुरुषः यद्यत् कर्माचरतीतरः श्रेष्ठादितरः साधारणोजनस्तत्तदेवाचरति। स च यत्प्रमाणं कुरुते प्रमाणत्वेन स्वीकरोति तदन्योऽपि लोकोऽनुवर्तते प्रमाणत्वेन स्वीकरोति। 'प्रधानानुवर्तिनोलोकाः' अतस्त्वया प्रधानेन राज्ञा कर्मानुष्ठानमेव कार्यमिति भावः ॥२१॥

लोकसंग्रहार्थं कर्माचरणेऽहमेव दृष्टान्त इत्याह नेत्यादि त्रिभिः। हेपार्थ! मम पूर्णकामस्य निरंकुशैश्वर्यस्य त्रिषु लोकेषु प्राप्तये किञ्चन कर्तव्यं नास्ति। एवमप्राप्यं कर्मविशेषेणावाप्तव्यमपि नास्ति करामलकवत्सर्वं मज्ज्ञानगोचरं वस्तु मदायत्तमेव। एवं सर्वस्वतन्त्रोऽप्यहमखिलजगद्धिताय करुणया कर्मण्येव वर्ते ॥२२॥

लोकसंग्रह प्रकार को बतलाते हैं "यद्यदित्यादि" विद्याकुशलता जन्म ऐश्वर्यादि से श्रेष्ठ अर्थात् अतिशयेन प्रशस्तपुरुष जिन जिन कर्मों का आचरण करते हैं तदितर अर्थात् उन श्रेष्ठ जनों से भिन्न साधारण पुरुष भी श्रेष्ठ पुरुषाचरित कर्म का ही आचरण करता है और वह श्रेष्ठ पुरुष जिसे प्रमाण मानता है श्रेष्ठ भिन्न साधारण लोग भी उसी का अनुवर्तन करता है अर्थात् उसी वस्तु को साधारण लोग भी प्रमाणरूप से स्वीकार करता है। क्योंकि साधारण लोग प्रधान के अनुवर्तन करने वाले होते हैं। अतः हे अर्जुन ? आप राजा होने से प्रधान हैं अतः अवश्य कर्म का अनुष्ठान करें तब आपके देखादेखी साधारण मनुष्य भी कर्मानुष्ठान में संलग्न रहेंगे ॥२१॥

लोक संग्रह के लिए कर्मानुष्ठान करना चाहिए। इसमें सब से बड़ा दृष्टान्त मैं ही हूं। अर्थात् नियमतः मैं निरपेक्ष हूं तथापि लोक संग्रह के लिए मेरी प्रवृत्ति कर्म में ही है। इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "न मे पार्थास्तीत्यादि" हे पार्थ ? पूर्ण कामनावान् सर्वतंत्र-स्वतंत्र निरंकुश ऐश्वर्यशाली जो मैं परमात्मा हूं एतादृश मुझ परमात्मा को तीनों लोकों में अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है (ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसका संपादन क्रिया द्वारा किया जाय।) एवम् अप्राप्य भी कोई वस्तु नहीं है जिसे कर्म विशेष से अवाप्त करुं क्योंकि करामलक के समान सभी पदार्थ मेरे ज्ञान के विषय होने से मेरे अधीन में है। ऐसा होने पर भी सर्व तन्त्र स्वतन्त्र हो करके भी हम संपूर्ण जगत् के कल्याण के लिए करुणा से कर्म में ही बरत रहा हूं अर्थात् कर्म को कर रहा हूं, इसी तरह तुम भी कर्म करो ॥२२

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ? सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।२४।

अवाप्तकामस्यापि स्वस्य कर्माचरणावश्यकतामाह—यदीति हे पार्थ ! अहं कर्मापरतन्त्रः सर्वेश्वरः सत्यसङ्कल्पो जगदुदयावनलयलीलो धर्मत्राणाय स्वेच्छागृहीतशिष्टाग्रगण्यवसुदेवतनयतनुरहं श्रीरामः। जातु कदाचित्। अतन्द्रित आलस्यवर्जितः। सन्। कर्मणि कुलोचितवर्णाश्रमधर्माचरणे। न वर्तेयं यदि नानुतिष्ठेयञ्चेत्। तदा मनुष्या असमग्रवेत्तारः कर्माधिकारिणः शिष्टा जनाः। मम स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोविशिष्टस्य श्रेष्ठतमस्य मम। वर्त्म कर्माननुष्ठानाध्वानम्। निवृत्तिमार्गमिति यावत्। सर्वशः सर्वथा। अनुवर्त्तन्तेऽनुवर्त्तमाना भवेयुः। धर्मं मत्वा कर्मानाचरण एव प्रवृत्ताः स्युरित्यर्थः ॥२३॥

हे भगवन् ! आप तो सर्व शक्तिमान् हैं तथा सर्वत्र हैं तो आपको जब कर्तव्य कुछ नहीं है और पूर्ण कामना होने से किसी प्रकार का स्वार्थ भी नहीं है तब कर्म में आपकी प्रवृत्ति किस प्रकार है ! इस प्रकार के अर्जुन के आशय को जान करके भगवान् कहते हैं कि यद्यपि मैं आप्त काम हूं तथापि मुझे भी कर्माचरण की आवश्यकता है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "यदीत्यादि" हे पार्थ ! कर्म का पराधीन नहीं सर्वेश्वर सत्य सकल्पादि गुणविशिष्ट जगत् की उत्पादस्थिति प्रलयात्मक लीला को करनेवाले, शिष्ट जनों में अग्रसर जो विशिष्ट कुलोत्पन्न वसुदेव हैं उनके पुत्र रूप में अपनी इच्छा से शरीर को धारण करनेवाला मैं श्रीराम यदि कदाचित् आलस्य रहित हो करके वर्णाश्रम विशिष्ट कुलोचित कर्म में यदि न रहूं अर्थात् कर्म का आचरण न करूं तब यह जो मनुष्य अल्पप्रज्ञ हैं परन्तु शिष्ट जन हैं वे सभी स्वाभाविक अनवधिक अतिशय ज्ञान शक्ति बल वीर्य ऐश्वर्य तेजो विशिष्ट श्रेष्ठतम मेरा ही मार्ग कर्म का अनुष्ठान लक्षण कर्म मार्ग का अर्थात् निवृत्ति मार्ग का सर्वथा अनुवर्तन करेंगे अर्थात् धर्म समझकरके कर्म के अनाचरण में ही प्रवृत्त हो जायेंगे। अतः हे अर्जुन ! सर्व श्रेष्ठ मैं यदि कर्म को छोड़ दुंगा तब कर्म त्याग धर्म है क्योंकि भगवान् ने कर्म को छोड दिया है यह जानकर यह अल्पप्रज्ञ शिष्टजन सभी कर्म से निवृत्त हो जायेंगे। अतः कर्मानुष्ठान मुझ से भी त्याज्य नहीं है तो तुम से कैसे त्याज्य हो सकता है ? ॥२३॥

श्रेष्ठ पुरुष का यदि इतर व्यक्ति अनुसरण करेगा तो इसमें क्या दोष है इस शंका

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ?।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।२५।

श्रेष्ठपुरुषानुमरणेऽत्र को दोषः ? इत्याशङ्कायामाह उत्सीदेयुरिति । अहम् । कर्म वर्णाश्रमोचितं कर्म । न कुर्याञ्चेन्नानुतिष्ठेयं यदि । ज्ञानयोगमेव कुर्याञ्चेदित्यर्थः । तथा इमे कर्माकरणेन मामनुसरन्तः कर्माधिकारिणोऽकृत्स्नावबोद्धारो जनाः । उत्सीदेयुरुत्सन्नाः स्युः । शास्त्रीयकर्माचरणाभावजन्यप्रत्यवायेन नश्येयुरित्यर्थः । संकरस्य धर्मसंकरस्य वर्ण संकरस्य वा । कर्त्ता विधायकः । स्यां भवेयम् । ततश्चेमाः प्रजाः । उपहन्यां नाशयेयम् । निरयगामिनीः सम्पादयेयमित्यर्थः । अतो मदादेशात् कर्माचरणीयं त्वयेतिभावः ।२४।

के उत्तर में कहते हैं "उत्सीदेयुरिति" अर्थात् हे भगवन् ! आप सर्व श्रेष्ठ हैं यदि आप कर्म का अनुष्ठान नहीं करेंगे तो आपका अनुसरण करने वाले अल्पज्ञजन कर्म नहीं करेंगे तो इसमें दोष क्या है प्रत्युत श्रेष्ठ व्यक्ति का अनुसरण करना तो गुण है "येनास्य पितरो याताः" जिस मार्ग से पिता पितामह चले हों उस मार्ग से चलने वाला व्यक्ति दोष दुष्ट नहीं होता है" ऐसा मन्वादि स्मृति में कहा है इस विप्रति पत्ति को दूरकरने के लिये अवतरित करते हैं—उत्सीदेयुरिति ।

हे पार्थ ! अहम् मैं सर्वशक्तिमान् परमात्मा यदि वर्णाश्रम विहित कर्म का अनुष्ठान नकरुं किन्तु ज्ञानयोग से ही बर्ताव करुं तब यह विहीत कर्म नहीं करने से मेरा अनुसरण करने वाले कर्म में अधिकृत अल्पवेत्ता ये लोग उत्सीदित होजायेंगे अर्थात् शास्त्र विहित कर्म का जो अभाव उससे जायमान जो प्रत्यवाय उससे विनष्ट हो जायेंगे वस्तुतः सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् परन्तु लीलामात्र के लिए शरीर धारण करनेवाले आपके अकर्मवश्यता को नहीं जाननेवाले ये साधारण मनुष्य कर्म के अकरण रूप आपका अनुवर्तन करेंगे तब तो स्वयमेव वे लोग विनष्ट होंगे इसमें आपका क्या दोष है इस शंका के समाधान में कहते हैं "सङ्करस्येत्यादि" संकर का अर्थात् वर्ण संकर अथवा धर्म संकर का कर्ता विधायक मै ही बन जाऊंगा तब इन सभी प्रजा का नाश करुगा अर्थात् नरक गामी सभी को कर दूंगा अर्थात् ये लोग मेरे अनुकरण करते हुए कर्माचरण करेंगे तब इन लोगों का नरक में पतन होगा तो उसमें मैं ही निमित्त बनूंगा क्यों कि इन्होने मेरा ही अनुकरण किया । अतः हे अर्जुन ! मैं कहता हूं कि मेरे आदेश से आपशास्त्रविहीत कर्म का ही आचरण करें नहीं तो महान् अनर्थ की प्राप्ति होगी केवल ज्ञान योग का अभी अवसर नहीं है ॥२४॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ।२६।

तस्मात् हेभारत ? अविद्वांसोऽकृत्स्नवेदिनः कर्मणि सक्ताः कर्मफल आसक्तिमन्तः सन्तो यथा कुर्वन्ति तथैव विद्वान् ज्ञानयोगपरायणः शास्त्रज्ञोऽपि लोकसंग्रहं चिकीर्षुरसक्तः कर्मफलाभिलाषरहितः सन् कर्मानुष्ठानं कुर्यात् ।।२५।।

विद्वान् ज्ञानयोगी कर्मसंगिनामैहिकफलप्रेप्सया कर्मानुरागिणामज्ञानामकृत्स्नविदां ज्ञानमार्गावलम्बिनामेवाक्षय्यफलमोक्षोपलब्धिर्भवति न तु कर्मिणामित्याद्युक्त्वा बुद्धिभेदं न जनयेत् । यतो ज्ञानयोगानधिकारिणां तेषां कर्मयोगादपि प्रच्युतावुभय-

यद्यपि विद्वान् तथा अल्पज्ञ पुरुष में कर्मानुष्ठान में समानता होने पर भी विद्वान् में अल्पज्ञ की अपेक्षा जो विलक्षणता है उसका प्रतिपादन करते हैं दो श्लोकों से "सक्ताः" इत्यादि।

हे भारत भरत कुलोत्पन्न अर्जुन ! जिस प्रकार अविद्वान् शास्त्र ज्ञान रहित अत एव अल्प प्रज्ञावाले लौकिक आचार मात्र में निरत साधारण मनुष्य कर्म में सक्त हो करके अर्थात् कर्म से जायमान जो फल उसमें आसक्त हो करके सादर हो करके कर्मानुष्ठान करते हैं उसी प्रकार से विद्वान् अर्थात् ज्ञान योग में निरत शास्त्र को जाननेवाले व्यक्ति भी लोक संग्रह की इच्छा रखकर कर्मजन्य फल में आसक्ति रहित हो करके अल्पज्ञ पुरुष के समान ही कर्माचरण करे नतु कर्म का परित्याग करे। यद्यपि कर्माचरणांश में दोनों में समानता है तथापि अल्पज्ञ साधारण मनुष्यों की कर्म विषयक प्रवृत्ति फलाकांक्षा सहित है और शास्त्रज्ञ ज्ञानयोग परायण व्यक्ति की कर्मफलासक्ति वर्जित है इतना ही दोनों में भेद है ।।२५।।

जो व्यक्ति कर्म योग में लगा हुआ है उच्चकक्षा में आरोहण करने की इच्छा करनेवाले हैं उनके लिये भी तो यथावसर में तादृश पुरुष के हित करनेवाले विद्वानों को चाहिये कि उस कर्म योगी को भी तो ज्ञानोपदेश करें। इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं "न बुद्धिभेदं जनयेदित्यादि" जो विद्वान् ज्ञानयोगी कर्म करने से अन्तःकरण के मल को हटा चुके हैं कर्म तथा ज्ञान के रहस्य को जाननेवाले हैं वे जो कर्म संगी है अर्थात् ऐहिक फल की इच्छा से कर्म में अनुराग रखनेवाले हैं अज्ञानी, अल्प प्रज्ञ हैं उन्हें भाई ! ज्ञानमार्ग का जो अवलंबन करते हैं उन्हीं को अय फल मोक्षरूप की प्राप्ति होती है कर्म करनेवाले को तो मोक्ष नहीं मिलता है इत्यादि कथन से उन कर्मियों को बुद्धि भेद उत्पन्न न करे ज्ञानी पुरुष क्योंकि साधारण जो व्यक्ति हैं वे तो ज्ञानयोग में जा नहीं सकते हैं यतः उनका अन्तः करण विगत पाप नहीं हुआ और ऐसा उल्टा सीधा कलि युगी वेदान्ती के सत्संग से उस को कर्म योग की निन्दाश्रवण से

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ।२७।
तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ।२८।

भ्रष्टत्वापत्तिता स्यादतो युक्तः स्वयं ज्ञानतत्परः सन् सर्वकर्माणि समाचरन् कर्मैकसेवनपरानज्ञानपि जोषयेत् ॥२६॥

प्रोक्तं विद्वद्विदुषोर्वैलक्षण्यं स्पष्टयति प्रकृतेरिति द्वाभ्याम् अहंकारविमूढात्माऽहंकारेण विमूढ आत्मा स्वरूपं यस्यासावनात्मभ्रान्तियुक्तः पुमान् प्रकृतेर्गुणैः सत्वादिभिः क्रियमाणाणि कर्माण्यहं करोमीति मन्यते । हे महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोस्तत्ववित्पुरुषस्तु गुणाः सत्वरजस्तमांस्येव गुणेषु सत्वादिनिष्पाद्येषु स्वकार्येषु प्रवर्तन्ते नाहमिति मत्त्वा न सज्जतेऽहमेव करोमीत्यासक्तिं नैव करोति ॥२७-२८॥

कर्मयोग में निष्ठा नहीं होने से कर्ममार्ग का परित्याग करने से वह साधारण लोग उभय पथ से विभ्रष्ट हो जाने से लक्ष्य से पतित हो जायगा अतः ज्ञानी को चाहिये कि बुद्धि भेद न करे किन्तु ज्ञान तत्पर होते हुए भी सर्व कर्म का आचरण करते हुए कर्म सेवन में तत्पर अज्ञानी को भी कर्म में प्रेरणा करते रहे नतु विहीत कर्म का त्याग कराने में उल्टा सीधा कहकर के साधारण जन को स्वकर्मच्युत करे ॥२६॥

पूर्वकथित विद्वान् तथा अविद्वान् में वैलक्षण्य का स्पष्टीकरण करते हैं अर्थात् अज्ञानी का जो व्यवहार है तदपेक्षया ज्ञानी में वैशिष्टय का प्रतिपादन करते हैं "प्रकृतेः" इत्यादि । अहंकार से विमूढ है आत्मा स्वरूप जिनका उसे कहते हैं अहंकारविमूढात्मा पुरुष अर्थात् अनात्मलक्षण देहेन्द्रियादिक में आत्मभ्रान्ति से युक्त पुरुष प्रकृति अर्थात् अचित्पदवाच्य अनादिभूत रूपा जो प्रकृति उसका जो गुण सत्व रजः तमोरूप गुण उस गुण के द्वारा सर्व प्रकार से क्रियमाण जो प्रत्येक कार्य हैं उन को मैं करता हूं ऐसा मानता है (अर्थात् प्रत्येक कार्य प्रकृति जनित सत्वादि गुण से ही होता है परन्तु देहादिक में आत्म बुद्धि ग्रहीत आत्मा होने से मैं करता हूं ऐसा मानता है) हे महाबाहो अर्जुन ! जो महापुरुष ज्ञान परायण हैं वे तो गुण कर्म के विभाग को जानने वाले हैं अतः वे तो गुण सत्वरजस्तमस ये गुण में सत्वादि द्वारा निष्पन्न स्वकार्य में प्रवृत्त होते हैं मैं शरीरादिरूप नहीं हूं किन्तु प्रकृति तथा प्रकृति कार्य से भिन्न हूं ऐसा जान करके मैं ही करता हूं इस प्रकार से आसक्ति नहीं करते हैं ॥२७॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदोमन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।३०।

'न बुद्धिभेदं जनयेदित्युक्तं स्पष्टयन्नुपसंहरति--प्रकृतेरिति । प्रकृतेर्गुणैः सम्मूढाः पूर्वोक्तेषु गुणकर्मस्वेव सज्जन्ते 'अनुष्ठितस्यास्य कर्मणो वयमिदममृतोपमं फलमुपलप्स्यामहे' इति तृष्णाकुला भवन्ति । ते च ज्ञानयोगप्राप्यमात्मस्वरूपं नावगच्छन्ति । अतोऽकृत्स्नविदस्तान्मन्दान् कृत्स्नविद् गुणकर्मविभागविद्विद्वाननुष्ठीयमानात्कर्मयोगान्न विचालयेत् ॥२९॥

एवं कर्मणामवश्यकर्तव्यत्वमुपदिश्यानुष्ठानप्रकारमिदानीमुपदिशति---मयीति ।

"न बुद्धिभेदम्" कर्म में आसक्त अल्प प्रज्ञ का बुद्धि भेद नहीं करना यह जो पहले कहा है उसी को स्पष्ट करते हुए उपसंहार करते हैं "प्रकृते र्गुणसंमूढा" इत्यादि । प्रकृति अचित् पदार्थ उसका गुण अर्थात् शरीर इन्द्रियाद्याकार से परिणत जो सत्वादिक संमूढ अर्थात् अनात्म लक्षण देहेन्द्रियादिक में आत्मभ्रम को प्राप्त किये हुए पुरुष वे पूर्वोक्त जो गुण कर्म उसमें ही आसक्त होते हैं अनुष्ठित जो कर्म उसका अमृत तुल्य फल को मैं ही प्राप्त करुगा इत्याकारक तृष्णा से आकुलित होते हैं। ये जो प्रकृति के गुण हैं उन से संमूढ हुये हेय लोग हैं वे ज्ञान योग से प्राप्त होने वाला जो आत्मा उस आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते हैं । इसलिये उन अल्पज्ञ अत एव मन्द पुरुष को कृत्स्नवित् अर्थात् गुण कर्म के विभागों को पूर्णतया जानने वाले विद्वान् कभी भी कर्म योग से कर्मानुष्ठान से उसे विचलित न करे । यह जो मन्द प्रज्ञ है वह फल कामना को मन में रख करके सकाम कर्म का अनुष्ठान करने से प्रथमत कर्म सामान्य में श्रद्धाशील होते हैं उसके बाद निष्काम कर्म का अनुष्ठान करके पाप रहित हो करके ज्ञान योग के अधिकारी बनते हैं। उसके बाद निष्काम कर्म का अनुष्ठान करके भगवत् प्रसाद को प्राप्त होकर अनन्या भक्ति द्वारा मोक्ष को प्राप्त करेंगे इस क्रम परम्परा से अकृत्स्नवित् भी मोक्षमार्ग में प्रतिपन्न है इस बात को जान करके यह कृत्स्नवित् उस मंद अज्ञ को जो कि केवल कर्म में आसक्त है उसको कर्म मार्ग से कथमपि विचलित न करे यह संपूर्ण श्लोक का अभिप्राय है ॥२९॥

पूर्वोक्त प्रकार से कर्म में अवश्य कर्तव्यता का उपदेश दे करके अनुष्ठान प्रकार का उपदेश देते हैं "मयीत्यादि" अथवा फलाकांक्षा को लेकर के अल्प प्रज्ञ पुरुष से अनुष्ठित

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तोमुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३१।।

मयि सर्वान्तर्यामिणि भगवति सर्वाणि कर्माण्यध्यात्मचेतसा स्वात्मतयावस्थितपरमात्मविषयेण मनसा संन्यस्य ममात्मभूतः परमात्मैव कर्मसु मां नियोजयत्यतः स एव स्वातन्त्र्येण कर्तास्ति नाहं स्वतन्त्रोऽपि तु भगवत्परतन्त्र एवास्मीति स्वात्माधिपतये भगवते समर्प्य निराशीः फलाशारहितो निर्ममस्तत्र ममत्वहीनो भूत्वा विगतज्वरोऽन्तः सन्तापरहितो युध्यस्व युद्धं कुरु। एवमनुष्ठिते लोकशास्त्रयोरविरोधोमदाज्ञापालनमन्तः सन्तापशान्तिरिति सर्वं सिध्यति ।।३०।।

एवमुक्तप्रकारेणानुष्ठितस्य कर्मणो ज्ञानादपि ज्यायस्त्वमभिधाय विशिष्टं तत्फलमाह—य इति। ये मानवा मम सर्वेश्वरस्येदं सिद्धान्तत्वेनोदितं मतं नित्यमनु-

जो कर्म है वह बन्धन जनक होता है और फल तृष्णा से रहित हो करके विद्वान् पुरुष से अनुष्ठित जो कर्म है वह तो बन्धन जनक नहीं होता है यह जो आपने कहा वह सब है परन्तु मैं (अर्जुन) किस प्रकार से कर्म का अनुष्ठान करूं मेरे अधिकार के अनुकूल जो कर्म हो उसके प्रकार का कथन करें इस प्रकार के अर्जुन के आशय को लक्षित करके सर्वज्ञ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान् स्वकीय मत का विस्तार पूर्वक कथन करते हैं "मयीत्यादि" मुझ में सभी के अन्तर्यामी भगवान में सभी प्रकार के कर्मों को स्वस्वरूप से अवस्थित जो परमात्मा सर्वान्तर्यामी तद्विषयक मन से समर्पण करके मेरे आत्म स्वरूप जगत् नियन्ता परमात्मा ही कर्मानुष्ठान में मुझे नियोजित करते हैं इसलिये सभी प्रकार की क्रिया के प्रति स्वतंत्र रूप से भगवान् ही कर्ता हैं किन्तु मैं किसी भी क्रिया के प्रति स्वतन्त्र नहीं हूं अपितु मैं अखिल कारणरूप भगवान् के अधीन हूं इसलिये अपनी आत्मा के अधिपति जो भगवान् हैं उस सर्वेश्वर श्रीराम में निखिल कर्म को समर्पित करके फल विषयक आशा से रहित हो करके तथा कर्म तत्फल में ममता ममभाव ये सब मेरे हैं इस प्रकार के भाव से रहित हो करके सन्ताप रहित हो करके युद्ध करो। पार्थ ! इस प्रकार कर्मानुष्ठान करने पर न किसी शास्त्र का विरोध होता है न वा लोक विरोध होता है। तथा मेरी आज्ञा का पालन भी होता है और मन में जो सन्ताप है उसकी शान्ति भी होगी ।।३०।।

फलाशा को छोड करके भगवान् में अर्पण बुद्धि से किया गया जो कर्मानुष्ठान है वह ज्ञान योग की अपेक्षा भी अत्युत्कृष्ट है यह कह करके एतादृशविशिष्ट इस कर्म का फल बतलाते हैं यही मत सर्व मतापेक्षया उत्तम है यही भगवान् का संमत मत है यही मोक्ष का संपादन

येत्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

तिष्ठन्ति ये चाननुतिष्ठन्तोऽप्यत्र श्रद्धावन्तो ये च मद्वचस्यसूयारहितास्तेऽपि क्रमशः कर्मभिः संसृतिप्रापकैः शुभाशुभैर्मुच्यन्ते । परं श्रेयः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥३१॥

ये तु मानवा एतन्मे मतं मदभिप्रेतमर्थं नानुतिष्ठन्ति ये चात्रासूयां कुर्वते तान् सर्वेषु ज्ञानेषु विमूढानत एवाचेतसो भ्रान्तचित्तानत एव च नष्टानासन्नविनाशान् विद्धि ॥३२॥

यद्येवं कुतो नात्र सर्वजनप्रवृत्तिरित्यपेक्षायामाह—सदृशमिति । ज्ञानवान् लोक-

करने में समर्थ है इस वस्तु को बतलाने के लिये कहते हैं "ये मे मतमित्यादि" जो मानव महा-पुरुष कर्म में अधिकृत है वह सर्वेश्वर मेरा जो यह मत है जिस मत को मैं सिद्धान्त रूप से कह गया हूं एतादृश मत का नियमतः अनुष्ठान करते हैं । और जो महापुरुष इस भागवत् मत का अनुष्ठान तो नहीं करते हैं परन्तु इस मत में श्रद्धा रखते हैं और जो मेरे वचन में असूया नहीं करनेवाले हैं । (परगुण में जो दोष का आरोपण किया जाय उसे असूया कहते हैं ।) ये कथित सभी महापुरुष क्रमशः संसार सागर में गिरानेवाला जो शुभाशुभ (पुण्यापुण्यरूप) कर्म है उनसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् भगवत् कृपाको प्राप्त करके नित्यनिरतिशय परमानन्दात्मक परम श्रेयस सायुज्यमुक्ति को प्राप्त कर जाते हैं ।३१॥

कथित जो साक्षात्परमात्मा से प्रतिपादित भागवत् मत उस का जो अनुसरण नहीं करते हैं तादृशक्षीणकर्मा मनुष्यों की निन्दा का कथन करते हैं "ये त्वेतदित्यादि" जो मनुष्य पूर्व अनेक भवोपार्जित पाप के उदय होने के कारण मेरा अभिमत जो मत है (फल कामना से रहित सर्वशेषी सर्वेश्वर श्रीराम में समर्पित करने के ही उद्देश्य से सर्व कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये यह जो मेरा मत है ।) उस मदभिमत का अनुष्ठान नहीं करता है और जो व्यक्ति इस मत में असूया करता है वह सभी हेयोपादेय विषयक ज्ञान में विमूढ है एक भी उसका ज्ञान शास्त्र संमत नहीं है अत एव भ्रान्तचित्त है तथैव नष्ट समीप में है नाश है समीप में जिनका तथाभूत उनको समझो ॥३२॥

हे भगवन् ? यदि भवत्संमतधर्म संपूर्ण जगत के कल्याण के लिये है तो सभी जनों की प्रवृत्ति इसी तरह क्यों नहीं होती है ? इस शका के उत्तर में भगवान् कहते हैं "सदृश-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।३४।

वेदकोविदोऽपि स्वस्याः प्रकृतेः स्वभावस्य सदृशमेव हेयोपादेयविषयेषु चेष्टते। भूतानि प्रकृतिप्रयोज्यस्वभावनिबद्धप्राणिनस्तथाविधस्वभावमेवानुसरन्ति। अतो गुर्वादिनिग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

यदि ज्ञानिनोऽपि प्रकृतिवशगत्वं तदा ज्ञानफलं शान्तिर्नैकस्याप्युपलभ्येतेत्यत उच्यते—इन्द्रियस्येति। तत्तदिन्द्रियविषये प्राक्तनकर्मवासनासमुद्भूतसंस्काराद्रागद्वेषाविष्टानिष्टवस्तुषु नियतावुत्पद्येते। तथा च श्रेयोधिकारिणो रागद्वेषपारवश्याच्छ्रेयः साधने महानन्तरायः समुपस्थितो भवतीत्यभिप्रायः तयोर्वशंमुमुक्षुर्नैव प्राप्नुयात्। यतस्तौ रागद्वेषावस्य मोक्षेप्सोः परिपन्थिनौप्रबलपाटच्चरौ स्त इत्यन्तरमासाद्य सद्यः

मित्यादि" ज्ञानवान् लोग शास्त्र में विलक्षण विद्वान् भी स्वकीय जो प्रकृति उस प्रकृति का जो अनादि कर्मवासना से बना हुआ स्वभाव उस स्वभाव के सदृश अर्थात् तदनुकूलता से ही हेयोपादेय वस्तु में प्रवृत्त होता है तथा हेय वस्तु से निवृत्त होता है जब ज्ञानवान् की यह स्थिति है तो अज्ञानी के लिये तो कहना ही क्या है! इसलिये भूत अर्थात् समस्त भूत जात प्रकृति से प्रयोज्य जायमान स्वभाव का हीअनु सरण करते हैं अर्थात् स्वकीय स्वभाव के अनुकूल ही प्रत्येक प्राणियों की प्रवृत्ति निवृत्ति होती है। इस स्थिति में निग्रह गुरु शास्त्र प्रभृति का निग्रह क्या कर सकता है! कहा भी है 'अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते' सभी गुणो का अतिक्रमण करके स्वभाव सभी के मस्तक पर बैठा रहता है ॥३३॥

यदि प्रत्येक प्राणी स्वस्वभाव के वश में ही रहने वाला है और अपने स्वभाव का अतिक्रमण नही कर सकता है तब तो ज्ञान का फल जो शान्ति है वह किसी को भी किस तरह प्राप्त होगी एवं गुरु तथा शास्त्र का जो उपदेश हैं वे सब निरर्थक हो जावेंगे इस प्रश्न के उत्तररूप में कहते हैं—"इन्द्रियस्येत्यादि" तत् तत् इन्द्रिय का जो विषय उन विषयों में अनेक पूर्वभवोपार्जित जो शुभाशुभ कर्म उस कर्म की वासना से जायमान जो संस्कार है उस से राग तथा द्वेष इष्ट एवम् अनिष्ट वस्तु में नियमतः उत्पन्न होते हैं। श्रेयस के अधिकारी को राग द्वेष की पराधीनता के कारण श्रेयस के साधन जो शमदमादिक हैं उन में बहुत बडा अन्तराय उपस्थित हो जाता है। यतः यह राग और द्वेष मोक्ष कामनावाले पुरुष का परिपन्थी अर्थात् प्रबल पाटच्चर चोर है उपरोक्त ये चोर मध्य में समय प्राप्त कर जल्दी श्रेयस साधन शान्त्यादि रूप धन को चुरा लेते हैं। इसलिये परवैराग्य द्वारा प्रसाद को

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ॥३५॥

समवृत्तिवृत्तिमुच्छिद्य सत्सम्पत्तिद्रविणमाहरतेतस्मात्परवैराग्येण प्रमादमुत्सार्यानियोर्जयोऽवश्यमेतव्य इत्युपदेश इति भावः ॥३४॥

अथ दुःखरूपत्वेन यथावत्कर्तुमशक्यत्वेऽपि कर्मयोगस्य श्रेष्ठतामाह—श्रेयानिति । स्वधर्मः पूर्वाभ्यस्तसाजात्येन स्वत एव प्राप्तत्वाद्धेतोः प्रकृतिसंसर्गमवाप्तस्य पुरुषस्य स्वधर्मतां गतः कर्मयोगः । विगुणोऽपि । अङ्गविकलोऽपीत्यर्थः । स्वनुष्ठि-
हटाकर रागद्वेष के ऊपर अवश्य ही विजय प्राप्त करना चाहिये यह उपदेश है। यह प्रकृत श्लोक का भाव है ।

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि पांच जो ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र त्वक् चक्षु रसना घ्राण तथा वाक् पाणिपाद पायु उपस्थ पांच कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक मन इन इन्द्रियों का जो विषय शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन में अनादि कर्म वासना से जायमान राग द्वेष व्यवस्थित हैं उनमें भी अभिलषित शब्दादि विषय में स्वभावतः रंजनात्मक राग उत्पन्न होता है और अनभिलषित शब्दादिक विषय में स्वभावतः द्वेष उत्पन्न होता है ।

ऐसा हुआ तब उत्कट राग द्वेष से आकृष्ट जो साधक पुरुष वह मोक्ष प्राप्ति के लिये तत्काल में आरब्ध जो इन्द्रिय संयम है उस को छोड देता है। बारम्बार रागद्वेष ये दोनों उपासक पुरुष को श्रेयोमार्ग से विचलित कर नीचे गिरा देते है अतः कल्याण चाहने वाला मोक्षाभिलाषी कदापि राग द्वेष के अधीन न हो । किन्तु गुरु शास्त्र के उपदेश रूपी शस्त्र के द्वारा राग द्वेष को जीत करके स्थिर रहे । जिसलिये कि यह रागद्वेष साधक का शत्रु चोर है वह साधक के कल्याण का साधन रूप धन को चुरा लेता है । अतः राग द्वेष के ऊपर जय प्राप्त करने के लिये गुरु तथा शास्त्र का उपदेश सार्थक होता है । विना गुरु के उपदेश से राग द्वेषरूप शत्रु के ऊपर साधक को विजय की प्राप्ती नहीं हो सकती है ॥३४॥

यद्यपि दुःख रूप होने से यथावत् करने में कर्म योग अशक्य प्राय है तथापि ज्ञान योगापेक्षया कर्मयोग में प्राशस्त्य बतलाने के लिये कहते है—श्रेयानित्यादि" अनेक जन्म से अभ्यस्त जो कर्म तत्सजातीयता रूपेण आया हुआ कारण सामग्री से संप्राप्त पुरुष की स्वधर्मता को प्राप्त किया हुआ जो कर्मयोग उसे कहते हैं स्वधर्म अर्थात् स्वभावता को प्राप्त किया हुआ धर्म एतादृश स्वभाव प्राप्त जो कर्मयोग वह स्वगुणता को प्राप्त किया है अर्थात् विकल भी हो तथापि शास्त्रोदित प्रकार से संपादित जो परधर्म=ज्ञानयोग पूर्व में अभ्यस्त जो कर्म योग तद-

卐 अर्जुन उवाच 卐

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

तात् परधर्मात् पूर्वाभ्यस्तवैजात्येन स्वतोऽप्राप्तत्वाद्धेतोः परधर्मतां गताज्ज्ञानयोगात् । श्रेयानतिशयेन प्रशस्यः । स्वधर्मे स्वधर्मभूते कर्मयोगे । प्रवृत्तस्य । निधनं तस्मिञ्जन्मनि फलमनुपलभ्य मरणमपि । श्रेयो जन्मांतर आत्मपरमात्मावलोकनात्मकफलसम्भवाच्छ्रेष्ठम् । परधर्मः परधर्मभूतो ज्ञानयोगः । भयावहः प्रमादगर्भत्वेन भयङ्करः । प्रमादे सति जन्मान्तरेऽपि तस्य फलं न सम्भवतीत्यर्थः ॥३५॥

पेक्षया विजातीय होने से स्वतः स्वभावतः अप्राप्त करणबल से पर धर्मता को प्राप्त किया हुआ ज्ञान योग की अपेक्षा यह कर्म योग श्रेयान् है अर्थात् अति प्रशस्त है । एतादृश जो स्वधर्म कर्म योग में प्रवृत्त संलग्न जो उपासक उसे मरण अर्थात् उसी जन्म में फल के प्राप्त नहीं होने से मरण हो जाना भी श्रेष्ठ है अर्थात् इस जन्म में फल प्राप्ति नहीं होने पर भी जन्मान्तर में जीवात्मा भगवदंग रूप तथा परमात्मा निखिल जगत् के उपादान सर्वशेषी इन दोनों का यथार्थ रूप से होनेवाला साक्षात्कारात्मक फल की संभावना होने से यह कर्म योग अत्यन्त श्रेष्ठ है । और जो यह पर धर्म है अर्थात् परधर्मता को प्राप्त किया हुआ जो ज्ञानयोग है वह भय को देनेवाला है क्योंकि प्रमादगर्भित होने से भयंकर है यतः प्रमाद होने से जन्मान्तर में भी ज्ञानयोग का फल संभवित नहीं है । यद्यपि कर्मयोग और ज्ञानयोग में ज्ञान योग श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञानयोग सद्यः श्रेयस में उपयोगी होता है और कर्म योग तो परम्परया श्रेयः साधन होने से कनिष्ठ है । तथापि अधिकारी भेद से यह विचार यहाँ किया गया है । जैसे घृत सर्वावस्था में सभी के लिये हितावह है परन्तु ज्वराक्रान्त मनुष्य को घृत दिया जाय तो वह घृत बल जनक नहीं हो करके पीलियारोग का उत्पादक हो जाता है यथा वा उष्ट्र के लिये घृतपान अनर्थ जनक हो जाता है । इसी प्रकार से प्रकृत में अशुद्धान्तः करण शील पुरुष में ज्ञान योग फल जनक नहीं होता है प्रत्युत प्रमादादि कारण से इह जन्म परजन्म में भी तादृश अधिकारी को फल नहीं देने से सर्वथा अनुपयोगी सिद्ध हो जाता है । कर्मयोग किसी कारण से इस जन्म में फल नहीं दे सका तो वह जन्मान्तर में भगवत् साक्षात्कार में सहकारी अवश्य ही होता है । निष्कर्ष यह है कि ज्ञानयोग सापद हैं और कर्मयोग स्वाभाविक होने से निरापद है इसलिये भगवान् तथा भाष्यकार दोनों ने यहाँ कर्म योग की श्रेष्ठतमता का प्रतिपादन किया है । इस विषय में विशेष विचार अन्यत्र देखें ॥३५॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥३७॥

ज्ञानयोगे वर्त्तमानस्य पतनहेतुं पृच्छन्नर्जुन उवाच—अथेति । अथशब्दः प्रश्नार्थकः । वार्ष्णेय ! हे वृष्णिकुलावतीर्ण ! भगवन् ! कथं ज्ञानयोगे प्रवृत्तः । अनिच्छन्नप्यनभिलषन्नपि । केन केन हेतुना प्रयुक्तश्चोदितः । बलात् प्रसह्य । नियोजित इव । पापमनर्थम् चरति ॥३६॥

एवं पृष्टः श्रीभगवानुवाच केन प्रेरितो मनुष्यः पापोत्पादकं कार्यमाचरतीत्येतत्त्वया जिज्ञासितम् । स एष जिज्ञासाविषयीभूत काम एव । स एव चावरुद्धगति-

जो व्यक्ति ज्ञानयोग के अनुष्ठान में व्यापृत है उसका पतन होने में क्या कारण है तादृश कारण की जिज्ञासा करते हुए अर्जुन भगवान् से पूछते हैं "अर्जुन उवाच अथेति । अर्थात् इससे पूर्व प्रकरण में कहा है कि इन्द्रिय तथा इन्द्रिय का जो विषय शब्दादिक है उस में रागद्वेष रूप शत्रु बैठा रहता है उस शत्रु रूप राग द्वेष के अधिकार में साधक को नहीं जाना चाहिये ऐसा कहा है क्योंकि शत्रु जो है वह अपने विरोधी को निर्मूल करने के लिये पापानुष्ठान में प्रेरित करता है। तो यहाँ पाप का आचरण करानेवाला कौन है इस बात का निर्णय कराने के लिए अर्जुन भगवान् से पूछते है "अर्जुन उवाच अथ" यहाँ अथ शब्द प्रश्नार्थ का वाचक है। अथवा प्रारंभार्थक भी है क्योंकि काम विषयक अवान्तर छोटासा प्रकरण का द्योतक है। अथवा मंगलार्थक भी कह सकते हैं । यद्यपि मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त एषणात्रय रहित व्यक्ति के लिये उपयोगी नहीं है काम का विनाश तथा विनाश के उपाय का आगे कथन होगा तो काम नाशतो पर मंगलरूप ही सब के लिये होता है । अभावज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यय है अप्रमित प्रतियोगिक अभाव नहीं होता है वन्ध्यापुत्राभाववत् । ऐसा होने से निस्वार्थ का समर्थक होने से मंगलार्थता का भी संभव है । हे वार्ष्णेय वृष्णि के कुल में संजायमान भगवन् देवाधिदेव ! यह ज्ञानयोग में प्रवृत्त जो साधक है वह इच्छा न करता हुआ भी किस कारण विशेष से प्रयुक्त हो करके बल पूर्वक नियोजित होते हुए के समान पाप अर्थात् अनर्थ कर्म को करता है । स्वयम् अनर्थ कर्म के आचरण करने में तो इच्छा नहीं है तथापि किस कारण से पापाचरण में प्रवृत्त होता है यह साधक । यह अर्जुन का प्रश्न है।।३६॥

इस प्रकार अर्जुन की जिज्ञासा के बाद भगवान् श्रीकृष्ण कहते है— हे अर्जुन ? तुमने जो पूछाकि किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप को उत्पन्न कराने वाला कार्य करता है इसका यह

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

यदा जायते तदा क्रोधात्मनापरिणमतेऽतः क्रोधोऽप्येषः, 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' (गी. २।६२) इत्युक्तेः । अयं च कामो 'रजोगुणसमुद्भवः' सत्वमभिभूय प्रवृद्धरजोगुणात्समुद्भवो यस्य स तथा महाशनो नानाविधविषयभोगग्राहकस्तृप्तिरहितोऽत एव महापाप्मा महति पापे प्रवर्तकः 'क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि' इति स्मृतेः । तस्मादेनं काममेवेह वैरिणं विद्धि ॥३७॥

कामस्य वैरित्वं दृष्टान्तैरुपपादयति—धूमेनेति । यथा धूमेन वह्निराव्रियते

उत्तर है यह जो काम है वही असत्कर्म में लोगों को प्रवृत्त कराता है। वही काम जब किसी कारण से अनवगतिक होता है तब वही क्रोधरूप में परिणत हो जाता है अतः क्रोध भी यही काम है इसलिये गीता जी में ही भगवान् ने कहा है काम से क्रोध उत्पन्न होता है। यह जो काम है वह रजोगुण से उत्पन्न होता है अर्थात् जब सत्व गुण का रजो गुण से अभिभव हो जाता है तब तादृश रजो गुण से काम प्रादुर्भूत होता है तथा यह काम महाशन है अनेक प्रकार का जो विषयभोग उसे ग्रहण करनेवाला तृप्ति रहित है।

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥"

काम्यमान वस्तु समुदाय के अनवरत उपभोग करने पर भी यह काम शान्त नहीं होता है प्रत्युत अग्नि में घृत प्रक्षेप करने पर अग्नि की शिखा उत्तरोत्तर बढ़ती है उसी प्रकार यह काम शान्त नहीं होता है अतः तृप्ति रहित है। अन्यत्र भी कहा है "जामाता जठरो जाया जातवेदा जलाशयः । पूरिता नैव पूर्यन्ते जकाराः पञ्चदुर्भराः ॥" जमाई, जठर जाया जातवेदा अग्नि, जलाशय ये सब भरते रहने पर भी कभी भरते नहीं हैं ये पांच दुर्भर हैं। इसी गीता प्रकरण में अनल दृष्टान्त से सिद्ध किया है कि अनल सदृश यह काम कभी भी तृप्त नहीं होता है। जिसलिये यह काम अतृप्त है अत एव यह काम महापापी है अत्यन्त अनर्थकर कर्म में प्रवृत्त कराता है। महर्षि श्रीवाल्मिकी ऋषि ने भी कहा है "क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि । क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेदिति ॥" क्रोधयुक्त मनुष्य अनेक पाप कर्म को करता है क्रोधी पुरुष गुरु को भी मार देता है क्रुद्ध मनुष्य रुक्ष वाणी से सज्जन को भी आक्षेप करता है। इसलिये हे अर्जुन ! इसी काम को तुम महान् शत्रु समझो यही साधक को अधः पतन करवाता है ॥३७॥

काम शत्रु है इस बात का अनेक दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादन करते हैं शत्रु स्व विरोधी

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

प्रकाशप्रचुरोऽपि वह्निराच्छाद्यते यथाऽऽदर्शो दर्पणो मलेन सान्द्रीभूतकिट्टेनोपरिष्टा-द्वस्थितेनावियते यथा चोल्वेन गर्भाशयेन गर्भः सर्वत आवृतस्तथा तेन कामेनेद-मावृतम् ॥३८॥

किमिदंशब्दवाच्यं यदावृतमित्यपेक्षायामाह—आवृतमिति । हे कौन्तेय ! एतेन निरुक्तेन कामरूपेणेष्टानिष्टवस्तुष्वनुरागविरागविषयाभिलाषेण नित्यवैरिणा । प्राकृ-तान्तः करणधर्मत्वादादेहं संयमाय प्रयततां संयमविरोधित्वेन स्थितत्वान्नित्य वैरित्वं बोध्यम् । दुष्पूरेण दुःखेनापि पूरयितुमशक्येन "तृष्णाखनिरगाधेयं दुष्पूरा केन पूर्यते" इत्युक्तत्वात् । अनलेनेष्टप्रतिघातेऽयमेव कामः कोपवृत्त्या ज्वलितं भवतीत्यतोऽन-

के आवास स्थानादिक को घेर लेना है किस प्रकार से ! इस बात का दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शन करने के लिये कहते हैं "धूमेनेत्यादि" जिस प्रकार वह्नि से जायमान धूम आलोक बहुल वह्नि को आवृत कर देता है यथा वा आदर्श दर्पण स्वाश्रित मल से अर्थात् घनीभूतता को प्राप्त करके रजोराशि से आवृत हो जाता है यथा वा उल्व जरायु नामक चमडी विशेष से गर्भ अर्थात् गर्भस्थित बालक आवृत आच्छादित रहता है इसी प्रकार इस काम में जीव का ज्ञान भी आच्छादित रहता है (आच्छादित हो जाता है) यद्यपि वह्नि से जन्य जो धूम वह वह्नि का आच्छादक नहीं है तथापि वह्नि में रहनेवाला वह्नि जनित प्रकाश को धूम आच्छादित करता है तो प्रकाश विशिष्ट वह्नि भी धूम से आच्छादित कहा जाता है धूमादि दृष्टान्तत्रय से काम में अनादि कालिक वासना जन्यत्व स्वाभाविकत्व बाह्यविषय का जो आसक्ति लक्षण उपाधि उससे निष्पाद्यत्व तथा दुःख से विनाश्यत्व का प्रदर्शन होता है ॥३८॥

इस श्लोक के अव्यवहित पूर्व श्लोक में कहा कि "तथा तेनेदमावृतम्" एतद्वाक्य घटक जो इदम् शब्द है उससे किसका बोध होता है ऐसा स्पष्ट नहीं किया है तो उसी इदम् शब्द वाच्य को बतलाने के लिये कहते हैं "आवृतमित्यादि" हे कौन्तेय कुन्ती पुत्र ! यह जो पूर्वकथित जो कामरूप है (कामना ही एकरूप है जिसका, उसका नाम है कामरूप) इष्ट अनिष्ट वस्तु में अनुराग तथा विराग लक्षण विषयाभिलाषा से स्वभावतः सर्व प्राणी का शत्रुरूप से प्रकृत जन्य अन्तः करण के धर्म होने से देहपर्यन्त (मोक्ष के अव्यवहित प्राक् काल तक रहने वाला संयम के लिये प्रयत्न करनेवाले जो पुरुष विशेष उनके विरोधी रूप से उपस्थित होने के कारण नित्य विरोधी होने से नित्यवैरित्व काम में है यहाँ समझना चाहिये । तथा यह काम दुष्पूर है अर्थात् दुःख से भी पूर्ति करने में अशक्य है । "यत्पृथिव्यां व्रीहियवं

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

लत्वमप्यस्य । ज्ञानिनो निश्रेयसाय यत्नमाचरतो ज्ञानं वृत्तिस्वरूपात्मकमुभयविधमपि ज्ञानमावृतमाच्छादितम् । एतेनास्य श्रेयो विघातकता स्पष्टं प्रतीयते ॥३९॥

ज्ञानावरकस्यास्य विनाशायाश्रयोऽभिधीयते इन्द्रियाणीति । **अस्य कामस्य इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दश बाह्येन्द्रियाणि । अत्रेन्द्रियशब्दस्य गोबलीवर्दन्यायेन बाह्येन्द्रियरूपोऽर्थः । मनोऽन्तरिन्द्रियम् बुद्धिरपुरुपार्थभूतेष्वर्थेषु पुरुपार्थत्वाध्यवसायः । च । अधिष्ठानमाश्रयः । उच्यते । एष कामः एतैर्विपयोन्मुखैरिन्द्रियादिभिः ।**

हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥" पृथिवी में जितना व्रीहि जौ है जितना सोना रत्न है जितने पशु हैं स्त्रियाँ हैं ये सभी व्यक्ति को उपलब्ध हो जाय तो भी पुरुष के लिये पर्याप्त नहीं है यह समझ करके वैराग्य को धारण करें। यह तृष्णारूप जो गर्त है (खड्डा है) वह अगाध है दुष्पूर है, इसे किसने पूर्ण किया । इसे भरने के लिये जितना ही प्रयत्न किया जाता है उतना ही बढता है । आज भी अकिञ्चन व्यक्ति भाग्यवश करोडों रुपया पाने पर भी सतुष्ट नहीं हो रहा है किन्तु उसका काम तृष्णा दिन प्रतिदिन बढती ही जाती है । तथा यह काम अनल है वह्नि के समान दाहक है अर्थात् इष्ट वस्तु का किसी कारण से यदि विघात हो जाता है तब यही काम क्रोध रूप से परिणत होकर कोप वृत्ति से प्रज्वलित होता है इसलिये इस काम को अनल कहते है । ज्ञानी को अर्थात निः श्रेयस के लिये यत्न करने वाले व्यक्ति का जो ज्ञान है वृत्ति स्वरूप उभय प्रकारक ज्ञान है उसे यह काम आच्छादित कर देता है यही ज्ञान पूर्वश्लोकस्थ इदम् पद का वाच्य है । एतावता इस काम में निःश्रेयस के प्रति विघातकत्व है यह स्पष्ट रूप से प्रतीयमान होता है ॥३९॥

ज्ञान का आवरक आच्छादन करनेवाला जो काम उस कामका विनाश करने के लिये काम का जो आधार है जिसमें स्थित हो कर काम आवरक होता है उस अधिकरण को बतलाने के लिये कहते हैं, शत्रु के निवास स्थान का यथावत् ज्ञान होने पर शत्रु का उच्छेद करना सरल होता है इसलिये कहते हैं "इन्द्रियाणीत्यादि" इस कामरूप शत्रु का इन्द्रिय जो बाह्येन्द्रिय पांच श्रोत्रादिक तथा पांच वागादिक कर्मेन्द्रिय । इस प्रकार दश बाह्येन्द्रिय अधिष्ठान है । यहाँ इन्द्रिय शब्द का दश बाह्येन्द्रिय रूप दशेन्द्रिय ही गोबलीवर्दन्याय से अभिमत है क्योंकि आन्तर इन्द्रिय का पार्थक्येन कथन गीता चार्य ने किया है । तथा संकल्प विकल्प

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ? ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

ज्ञानमात्मपरमात्मगोचरं ज्ञानम् । आवृत्याच्छाद्य । देहिनं शरीरिणम् । विमोहयति विविधं मोहयति । 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः ।' (वि.पु. ६।७। ११) इत्याद्युक्तानेकरीत्या देहिनमात्मपरमात्मानुभवविमुखं विधाय विषयपरायणं विदधातीत्यर्थः ॥४०॥

एवं कामकर्तव्यमुपदिश्य तज्जयोपायमाह—तस्मादिति । हे भरतर्षभ ! यस्मादयं कामाख्यो रिपुर्मोक्षोपायस्य ज्ञानस्यैव नाशकस्तस्मात्त्वं प्रयत्नशीलः सन्नादौ मोक्षसाधनप्रयत्नारम्भ एवेन्द्रियाणि मनः प्रभृतीनि नियम्य गुरुशास्त्रनिर्दिष्टोपायैर्वशीकृत्य ज्ञानस्यात्मनिदिध्यासनरूपविज्ञानस्य नाशनं पाप्मानं दुष्टं ह्येनं कामं प्रजहि ॥४१॥

वृत्तिक मन आन्तर इन्द्रिय एवं निश्चय वृत्तिक बुद्धि ये सभी काम के अधिष्ठान अर्थात् आधार हैं इनमें लब्धवृत्तिक होकर ही काम ज्ञानका आवरक होता है । यह काम विषयोन्मुख इन्द्रिय मन बुद्धि के द्वारा ज्ञान को अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा विषयक ज्ञान को आच्छादित करके देही अर्थात् शरीरावच्छिन्न साधक को अनेक रूप से विमोहित करता है । विष्णु पुराण में कहा है "अनात्मा देहेन्द्रियादिक में तथा स्वभिन्न में स्वम् इत्याकारक जो मति बुद्धि वाले होकर के अज्ञानतया भ्रमित होते हैं ।" इत्यादि कथित अनेक प्रकार से जीव के आत्मपरमात्मा विषयक अनुभव से विमुख करके विषयोन्मुख कर देता है ॥४०॥

इस प्रकार काम का जो कर्तव्य है काम से क्या होता है इस बात को बतला करके काम के ऊपर जय किस प्रकार की जाती है उस उपाय को बतलाते हैं "तस्मात्त्वमित्यादि" से हे भरतर्षभ भरतान्वय प्रधान ! जिसलिये यह काम रूप जो शत्रु है वह मोक्ष के कारणीभूत जो ज्ञान उसी का विनाश करनेवाला है इसलिये तुम प्रयत्नशील हो करके प्रथमतः मोक्ष साधन विषयक प्रयत्न के पहले बाह्येन्द्रिय तथा आन्तर इन्द्रिय मन को नियंत्रित करके अर्थात् गुरु तथा शास्त्र से प्रदर्शित जो उपाय उससे उन्हे अपने वश में करके ज्ञान का अर्थात् आत्मा का जो निदिध्यासन तद्रूप विज्ञान को विनष्ट करनेवाला और पाप्मा दुष्ट जो यह काम है उसका विनाश करो ॥४१॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।

एवमिन्द्रियादीनामात्मसाधनानुष्ठानविरोधित्वेऽपि प्रबलविरोधिनः कामस्यैव तत्र परत्वं दर्शयन् तस्य च विजयेनैवेष्टसिद्धिरित्युपदिशति—इन्द्रियाणीत्यादिभ्यां द्वाभ्याम् । इन्द्रियाणि पराण्याहुः श्रेयःसाधनविरोधे बाह्येन्द्रियाणि प्रधानान्याहुर्विद्वांसस्ततोऽपि बाह्येन्द्रियप्रयोजकत्वान्मनोऽन्तरिन्द्रियं परं प्रधानमाहुः । मनसस्तु बुद्धिः परा प्रधानभूता । बुद्धेरध्यवसायात्मकत्वेन प्राधान्यम् । यश्च बुद्धेरपि परः प्रधानभूतः स कामः। रजोगुणकार्यत्वेनेच्छात्मकस्य तस्य चाञ्चल्याद् धृत्यादेर्विघातकत्वेन ज्ञानविरोधे प्राधा-

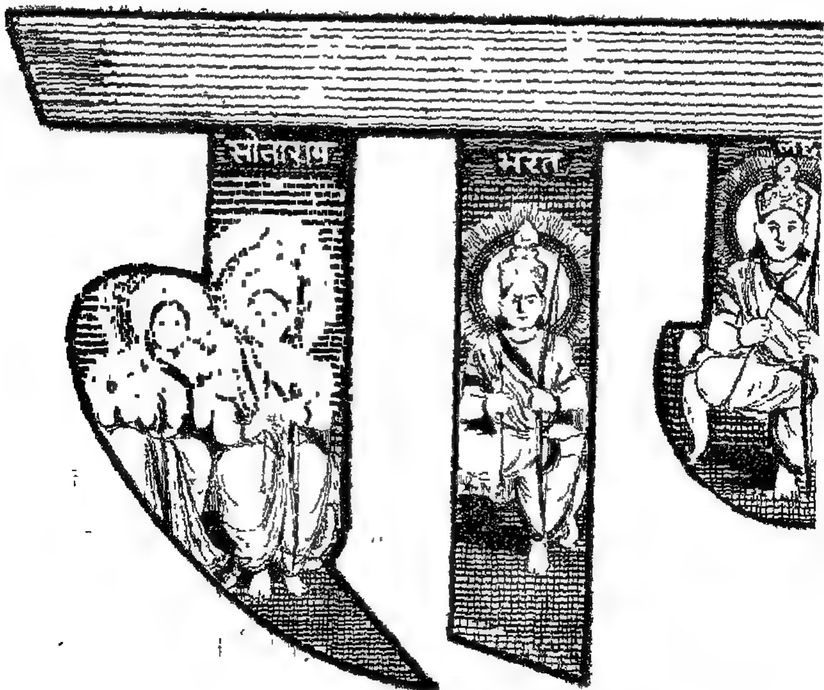
यद्यपि आत्मा का साधन जो शमादिक तदनुष्ठान में प्रति बन्धकत्व बाह्येन्द्रिय में भी है तथापि प्रबल विरोधिता काम में ही है। इसलिये काम में परत्व तथा श्रेष्ठत्व को बतला करके और काम के ऊपर विजय प्राप्त होने से ही अपने इष्ट की सिद्धि होगी, इस बात का उपदेश देते हैं "इन्द्रियाणीत्यादि" दो श्लोकों से । श्रेयस का जो साधन शमादिक उसके विरोध करने में बाह्येन्द्रिय जो चक्षुरादिक दश हैं इन्हें विद्वानों ने प्रधान माना है क्योंकि जब तक यह बाह्य चक्षुरादिक दश इन्द्रिय अपने अपने विषय की तरफ दौडते रहेंगे तब तक कल्याण को चाहने वाला पुरुष क्षणभर भी शम की सिद्धि में समर्थ नहीं हो सकता है इसलिये प्रतिबन्धक कोटि में बाह्येन्द्रिय को विद्वानो ने प्रधान माना है । और बाह्येन्द्रिय की अपेक्षा आन्तर इन्द्रिय मन को प्राधान्य है ऐसा विद्वानों ने कहा है क्योंकि बाह्य दश इन्द्रिय का प्रयोजक मन है । मन दश बाह्येन्द्रिय का अध्यक्ष है ऐसा शास्त्र में वर्णन किया है अर्थात् मन का जो व्यापार है तदधीनता है बाह्य दश इन्द्रिय को अतः बाह्येन्द्रिय की अपेक्षा मन को प्रधानता है। और मन से भी परा प्रधान बुद्धि है क्योंकि बुद्धि को अध्यवसायात्मक (निर्णय जनकत्व होने से) होने से मन की अपेक्षा बुद्धि में प्रधानता है और जो बुद्धि से भी पर है अर्थात् प्रधान है वह काम है आत्म ज्ञान के प्रति बन्धन करने में सेनानी है अर्थात् रजोगुण का कार्य रूप जो इच्छा तादश इच्छात्मक जो काम है उसमें चंचलता अधिक होने से धृत्यादिक गुण के विनाश होने से ज्ञान के विरोध करने में सर्वापेक्षा प्रधानभूत काम है। एवम् पूर्वोक्त प्रकार से हे महाबाहो अर्जुन ! बहुत बडे हैं हाथ जिनके उन्हें कहते हैं महाबाहु आजानुबाहु । इस विशेषण से यह सूचित होता है कि हे अर्जुन ! आप बडे से भी बडे काम शत्रु को विनष्ट करने में समर्थ हैं। महाबलशाली आप इस महाशत्रु को मारें क्योंकि यह आप का स्वकीय लक्ष्य जो भक्ति है उसकी सिद्धि में साक्षात्

न्यमित्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेण हे महाबाहो ! बुद्धेरपि परं
ध्वाऽऽत्मना भगवद्भक्तिसंस्कृतया बुद्ध्याऽऽत्मानं मनः स
संस्थाप्य दुरासदं कामरूपं शत्रुं जहि विनाशय ॥४२-४३

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदा
।

प्रतिबन्धक है। बुद्धि से भी पर अर्थात् प्रतिबन्धकता अंश में
महाशत्रु है उसका स्वरूप उसका कार्य तथा उसका आश्रय इन
प्रकार से जान करके आत्मा से अर्थात् भगवान् की जो निरूपम
संस्कृत जो बुद्धि उस बुद्धि के द्वारा आत्मा को अर्थात् आत्मा के
जो मन उस मन को संस्तब्ध करके अर्थात् निष्काम कर्मयोग में व्यव
दुर्जय जीतने में साधारण पुरुष से अशक्य जो कामरूप आन्तर शत्रु
यह अर्जुन के प्रति भगवान् का उपदेश है ॥४३॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधी
स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य
प्रणीते गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे तृतीयोऽध्याय
श्रीरामः शरणं मम



श्रीसीतारामाभ्यां नमः

卐 अथ चतुर्थोऽध्यायः 卐

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ? ॥२॥

एवं कर्मयोगमभिधायेदानीं तद्भेदनिर्देशपुरस्सरं तस्य परभक्तिलक्षणे ज्ञानयोगे सहकारित्वं दर्शयितुं श्रीभगवानुवाच—इममिति । इमं मयेदानीं तुभ्यमुपदिष्टो योऽयं कर्मयोगस्तमिममव्ययम् । सर्वज्ञस्य ममोपदेशकस्याविनाशित्वान्मदुपदिष्टस्यास्य कर्मयोगस्याप्यविनाशित्वमिति भावः । योगमहंमहाकल्पारम्भे मन्वन्तरादौ विवस्वते भास्कराय देवाय प्रोक्तवान् । विवस्वाँश्च स्वपुत्राय वैवस्वताय मनवे प्राह । मनुश्च स्वपुत्रायेक्ष्वाकवेऽब्रवीत् । इत्युक्तप्रकारेण परम्पराप्राप्तं पारम्पर्येण प्राप्तमिममपवर्ग-

इससे पूर्व अध्याय में कर्मयोग का कथन करके कर्मयोग के भेदनिर्देशपूर्वक उसे पराभक्ति लक्षण ज्ञानयोग में सहकारिता को दिखाने के लिये भगवान् कहते हैं "इममित्यादि"।

यहाँ अभिप्राय यह है कि अतीत अनन्तर अध्याय में भोगेच्छुक तथा मोक्षाभिलाषी दोनों के लिये समान रूप से वर्णाश्रमोचित कर्मानुष्ठान में अधिकार है ऐसा प्रतिपादन किया गया है । उसमें जिसने तत्वज्ञान को प्राप्त नहीं किया है अथ च सांसारिक वासना से ओतप्रोत चित्तवाला पुरुष है उसके लिये कर्मयोगानुष्ठान ही श्रेयस्कर है ऐसा भी कहा है क्योंकि एतादृश पुरुष का मन असंस्कृत होने से उसे परमभक्ति का साधक जो ज्ञानयोग है उसमें अधिकार नहीं होने से और मोक्ष विषयक इच्छावान् पुरुष को भी फलेच्छा रहित हो करके कर्मयोग का ही अनुष्ठान करें इस प्रकार विवेचन करके कर्मानुष्ठान को बतलाया गया । अब अग्रिम प्रकरण से ज्ञानयोग की ही प्रधानता कहने के लिये भेद कथन पूर्वक कर्म स्वरूप का वर्णन करके उस कर्म योग की ज्ञानाङ्गता का व्यवस्थापन करने की इच्छा से प्रथमतः कर्मयोग की अनादिता का कथन करने के लिए भगवान् प्रक्रम करते हैं ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

साधनतयैव राजर्षयो विदुर्ज्ञातवन्तः। हे परन्तप ! स च कर्मयोगो महता कालेन बोध्यबोधकतारतम्यादिह नष्टो विनष्टप्रायोऽभूत्। स एव चायं पुरातनो योगोऽद्य मया ते तुभ्यं प्रोक्तः परमगुह्यस्याप्यस्य योगस्य भूयः प्रवचने हेतुं निर्दिशति—भक्त इति। हि यतस्त्वं मे भक्तो मय्यतिशयानुरक्तोऽसि सखा सख्यभक्त्या सर्वदा मच्छरणागतश्चासि। अत श्चैतदुत्तमं रहस्यमनधिकारिणेऽदेयत्वात्परमगोप्यं ज्ञानं मदतिरिक्तेन ज्ञातुमनर्हं कुतस्तर्हि प्रवक्तुमित्यवगन्तव्यम् ॥१–२–३॥

जिस कर्मयोग का मैं ने अभी उपदेश दिया है यह कर्म योग अव्यय है नाश रहित है अनादिकाल से प्राप्त होने से अर्थात् इस कर्म योग का जो उपदेशक हूं तादृश सर्वज्ञ जो मैं उसका कभी नाश नहीं होता है इसलिये मुझ से उपदिष्ट जो कर्मयोग है वह भी अविनाशी है। इस कर्म का उपदेश मैंने महाकल्प के आदि में अर्थात् सर्गान्तर के प्रारंभ में विवस्वान् सूर्य देव को दिया था। उसके बाद इसी को सूर्यदेव ने अपने पुत्र वैवस्वत राजर्षि मनुको कहा इसके बाद मनु राजा ने अपने प्रियपुत्र इक्ष्वाकु राजा को उपदेश दिया। इस यथोक्त प्रकार से परम्परा प्राप्त अर्थात् पारंपर्य से आया हुआ जो कर्मयोग है जो कि परम्परया अपवर्ग मोक्ष परमपद का साधन है उसे राजर्षि लोगों ने जाना। यथोक्त वंश परम्परा से प्राप्त इस कर्म में अनादित्व का कथन किया जाता है। हे परन्तप ! स्वसम्बन्धी से इतर जो स्वकीय शत्रु को ताप देनेवाले अर्जुन एतादृश जो यह कर्म योग है वह महान् काल से अर्थात् काल की महिमा से समझनेवाले तथा समझाने वाले के तारतम्य से नष्ट हो गया अर्थात् विनष्ट प्राय हो गाया न तु सर्वथा नाशभाव को प्राप्त हुआ है। वही पुरातन कर्म योग का कथन आज मैंने तुम्हें कहा है। भगवन्! परम गोपनीय यह जो कर्मयोग है उसका कथन आपने मुझ से किया इसका क्या कारण है इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं 'भक्त' इति। अर्जुन ! जिसलिये तुम मेरे भक्त हो मुझ में अतिशयानुराग से युक्त हो सखा हो अर्थात् सख्य भक्ति से सर्वदा मेरे शरणागत हो इसलिये उत्तम रहस्य अनधिकारी को इसका कथमपि उपदेश देना अयोग्य होने से अतिगोप्य है ऐसा जो यह ज्ञान जो कि मेरे सिवाय अन्य व्यक्ति से जानने के योग्य नहीं है। जब अन्य व्यक्ति से जानने के योग्य नहीं है तब व्यक्त्यन्तर इसका उपदेश कैसे दे सकता है। एतादृश विलक्षण कर्मयोग को योग्य अधिकारी समझकर मै ने तुम से कहा है ॥१॥२॥३॥

卐 अर्जुन उवाच 卐

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

विवस्वते योगमिममहं प्रोक्तवानिति भगवद्वचस्यसंभवं मन्वानोऽर्जुन उवाच--अपरमिति । भवतो मदध्यक्षमुपविष्टस्य मन्मित्रत्वेन मत्समानवयस्कत्वेन च विद्यमानस्य भवतो जन्मापरं कालकृतकनिष्ठत्ववद्विवस्वतश्च जन्म परं कालसंख्यया ज्येष्ठत्ववत्तथा भवतो मत्सदृशमनुष्यत्वादपरत्वं विवस्वतश्च देवत्वात्परत्वमिति प्राचीनार्वाचीनकालस्थितयोर्देवमनुष्यदेहस्थितयोश्चयौगपद्यासम्भवात्त्वमेवादौ तदानीन्तनकालेऽवस्थिताय देवशरीरकाय विवस्वते प्रोक्तवानित्येतदहं कथं विजानीयाम् । न च देवमनुष्ययोर्यौगपद्यं शरीरभेदेन सम्भवत्येवेति वाच्यम् । मनोर्जातस्य परिमितवयस्कस्य मनुष्यस्य मनुसृष्टेः प्रागादित्यावस्थितिकालेऽसत्वात् । अथ सर्गादौ देवादिरूपेणैवोपदेशस्तदा किम्प्रयोजनकः स तदानीमिति प्रश्नाशयः ॥४॥

पूर्व समय में मै ने विवस्वत देव को इस कर्म का कथन किया था। इस प्रकार का जो भगवान् का वचन हैं उस वचन में असंभाव्यता को मानते हुए अर्जुन बोलते हैं "अपरमित्यादि ।' अभिप्राय यह है कि भगवान् स्वयं उत्पत्ति विनाशरहित हैं एतादृश भगवान् जो अवतार धारण करते हैं उसका कारण जगत् का कल्याण करना है अथवा अन्य ही किसी प्रयोजन को ले करके भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं इस विषय का निश्चय रूप से भगवान् के मुख से ही निर्णय कराने की इच्छा से अर्जुन पूछते हैं हे भगवन् ! मेरे समीप में बैठे हुए मेरे मित्र तथा मेरे समान अवस्थावाले जो आप हैं तो आपका जन्म तो अपर काल में हुआ है अर्थात् आपका जन्म कालकृत कनिष्ठ है। और विवस्वान् का जो जन्म है वह तो पर है कालकृत ज्येष्ठ है । एवम् आप तो मेरे सदृश मनुष्य होने से अपर हैं और विवस्वान् देव तो देवता होने से पर बडे हैं । अतः पूर्वकाल तथा परकाल में अवस्थित तथा देवता और मनुष्य के देह में स्थित जो आत्मा है उनमें एक कालावस्थायित्व के असंभव होने से सर्ग के आदिकाल में अवस्थित विवस्वान् (सूर्य) देव शरीर से युक्त हैं उन्हें आपने कर्मयोग सुनाया ऐसा मैं किस तरह समझू ? अर्थात् आपतो मनुष्य देहस्थित वर्तमान कालिक हैं और सूर्य तो देवशरीर स्थित अतिशयित प्राचीन कालिक हैं तो विभिन्न कालिक व्यक्ति में गुरु शिष्यभाव कैसे हो सकता है अत: आपका कथन मनुष्य दृष्टि से हमारे मन में नहीं जँच रहा है । नहीं कहें कि शरीर भेद से देवता और मनुष्य में यौगपद्य हो सकता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं हैं क्योंकि मनु से जायमान तथा परिमित वयस् वाला जो मनुष्य है वह मनु की सृष्टि से पूर्वकालिक जो

॥ भगवानुवाच ॥

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन !।
तान्यहं वेद सर्वाणि नत्वं वेत्थ परन्तप ? ॥५॥

एवमर्जुनप्रश्नस्योत्तममकर्मवश्यत्वेन स्वतन्त्रेच्छत्वेन तथा सम्भवतीत्यादिकं भगवानुवाच–बहूनीति। हे अर्जुन ! मम जन्मानि बहूनि व्यतीतानि तवापि जन्मान्यनेकानि व्यतीतानि। इदञ्च निदर्शनार्थमुच्यतेऽनाकांक्षितत्वात्। जन्मोपादानेऽपि स्वरूपस्वातन्त्र्यं नापैति। अर्जुनजन्मवत्कर्मपरवशताया भगवज्जन्मनोऽयुक्तत्वात्। लोकरञ्जनार्थमेव जन्मानुकूलमनुतिष्ठति परेशः। तथा चोक्तं 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र. सू. २।१।३२। इति अत एवोत्तरभागार्थः संगच्छते। हे परन्तप ! तानि

आदित्य उसके काल में वह मनुष्य था, यह असंभवित है ! अथ यदि कहें कि सृष्टि के आदि में जो उपदेश दिया गया वह देवादि रूप से ही दिया गया था तो उस उपदेश का क्या प्रयोजन था ॥४॥

पूर्वोक्त प्रकार के जो अर्जुन के प्रश्न हैं उनका उत्तर इस प्रकार से हो सकता है तथाहि मैं कर्मवश नहीं हूं तथा स्वतंत्रेच्छ हूं इस प्रकार से उत्तर संभवित है इत्यादि विषय को कहने के लिए भगवान् कहते हैं "बहूनीत्यादि" "अपरं भवतो जन्म" इस ग्रन्थ के सन्दर्भ से भगवान् के अवतार विषय में अर्जुन ने पूछा उसमें भगवान् का जो अवतार होता है, वह अवतार क्या पारमार्थिक है अथवा काल्पनिक यह प्रथम प्रश्न है। वह अवतार क्यों होता है यह द्वितीय प्रश्न है। और वह शरीर भगवान् का प्राकृतिक है अथवा अप्राकृतिक (लोकोत्तर) है यह तृतीय संशय है। क्या कुछ निश्चित समय है अथवा यदा कदाचित् होता है यह चतुर्थ संशय है। और भगवान् का जो अवतार होता है उसका प्रयोजन क्या है यह पंचम प्रश्न है। इन सब प्रश्नों का समुचित उत्तर आवश्यक है यह समझ करके उसमें से प्रथम प्रश्न के समाधान के लिये भगवान् कहते हैं बहूनीत्यादि। इन पांचों प्रश्नों का सूचन भाष्यकार ने अवतरण ग्रन्थस्थ "संभवतीत्यादिकम्" इस वाक्य घटक आदि पद से किया है अतः इसमें उदक्षरता दोषाघात की शंका नहीं।

हे अर्जुन ! अवतार रूप से परिगणित मेरे अनेक जन्म बीत गये अर्थात् अवतार रूप में परिगणित अनेकानेक जन्म हो गया है तथा तुम्हारा भी अनेक जन्म बीत गया है। यहाँ अर्जुन का जन्म केवल उदाहरण के लिये कहा गया है। अनाकांक्षित होने से। अर्थात् अर्जुन जन्म विषयक विचार प्रश्न विषयक नहीं है यहाँ तो भगवत् जन्म सम्बन्धी विचार

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

मदीयत्वदीयजन्मान्यहं वेद सर्वज्ञत्वान्निरस्तसमस्तदोषत्वे सति दिव्यकल्याणगुणाश्रयत्वाच्च । न तु त्वं वेत्थ कर्मरूपयाऽनाद्यविद्ययाच्छादितस्वरूपज्ञानत्वात् । एवमनेन भगवद्रूपस्यावतारपक्षेऽपि मनुष्यशरीराद्वैलक्षण्यमभिहितम् ॥५॥

एवमवतारस्य पारमार्थिकत्वमभिधाय कथं किमात्मकमवतरतीत्युच्यते—अज इति। अजोऽकर्मपरवशतया जन्मादिरहितोऽपि सन् भूतानामशेषप्राणिनामीश्वरोऽपि सन्नव्यय·

मात्र प्रश्न का विषय होने से। भगवान् के जन्म का कथन करने पर भी भगवान् की स्वतंत्रता की क्षति नहीं होती है क्योंकि कर्माधीन नहीं होने से। जैसे अर्जुन का जन्म कर्म पराधीन है तथा भगवान् का अवतार कर्माधीन नहीं है। केवल भक्त जन के अनुरंजन के लिये भगवान् जन्मानुकूल आचरण करते हैं। इस विषय को "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" लोगो के समान भगवान् की लीला मात्र है, इस व्याससूत्र में स्पष्ट किया गया है। अत एव इस श्लोक का उत्तर भाग का अर्थ संगत होता है। हे परन्तप हे अर्जुन! मेरा तथा तुम्हारा जो अनेक जन्म है उसे मै जानता हूं क्यों कि मैं सर्वज्ञ हूं अतीत अनागत वर्तमान सर्वविषयक ज्ञानवान् होने से। एवं निरस्त है सर्वदोषों से रहित है स्वरूप जिसका ऐसा हो करके दिव्य अनेक कल्याण गुण के आश्रय होने से। जो दिव्य अनेक कल्याणगुणों का आश्रय नहीं है वह सर्व जन्मो को नहीं जानता है, जैसे पामरादिकव्यक्ति। किन्तु तुम मदीय वा त्वदीय सर्व जन्म को नहीं जानते हो क्योंकि कर्मरूप अनादि अविद्या से तुम्हारा स्वरूप विषयक ज्ञान आच्छादित है और मेरा ज्ञान आच्छादित नहीं है। यहाँ 'जन्मानि' यह जो कथन है इससे भगवत् अवतार में तात्विकत्व को अभिव्यक्त किया जाता है अन्यथा काल्पनिक मेरा जन्म है, ऐसा भगवान् कहे होते। एवं यथोक्त कथन से भगवान् के अवतार पक्ष में मनुष्य शरीरापेक्षया विलक्षणत्व कथित होता है। इस प्रकार अवतार विषयक प्रथम प्रश्न का समाधान किया गया। भगवान् का शरीर धारण होता है तथा अवतार सत्य है काल्पनिक नहीं है। इससे भगवान् का जन्म अवतारादिक काल्पनिक है ऐसा जिनका मत है वह भी परास्त होता है क्योंकि मेरा जन्म (अवतार ग्रहण) काल्पनिक है, ऐसा नहीं कहा है ॥५॥

इस प्रकार अवतार में पारमार्थिकत्व (वास्तविकता) का कथन करके भगवान् का वह अवतार कैसे होता है तथा किस स्वरूप से भगवान् अवतरित होते हैं इस बात को बतलाने

यात्माऽविनश्यत्स्वरूपः स्वां स्वकीयां प्रकृतिं स्वभावमधिष्ठायात्मनस्स्वस्य माययाऽतर्क्यमनीषया सम्भवामि स्वावतारमाविष्करोमि । तथा च श्रुतिः 'अजायमानो बहुधा विजायते' (पु. सू.) इति एवञ्चाखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरो भगवान् स्वानन्यभक्तानुग्रहार्थं कर्मवश्यतामन्तरेण स्वेच्छयैव स्वकीयं दिव्यमंगलविग्रहमप्राकृतमेव प्रकटय्य लीलाविभूतिमलंकरोति । तथैव प्रतिपादयन्ति श्रुतिस्मृतयः "यषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा १।६।६) 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (पु.सू) 'न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः' (भारते) श्रीशार्ङ्गधारिणं रामं सच्चिदानन्द-

के लिये कहते हैं "अजोपीत्यादि" । कर्म पराधीन नहीं हूं तथा वास्तविक सर्व विषय ज्ञान के आश्रयत्वरूप हेतु द्वारा स्वकीय अवतार में यथार्थता का प्रतिपादन पंचम श्लोक से करके अब किस प्रकार के स्वकीय देह को आश्रित करके किस प्रकार से भगवान् अवतरित होते हैं इस प्रश्न द्वय का समाधान करने के लिये अग्रिम श्लोक का जवनिकापात करते हैं । यह अभिप्राय भाष्यावतरण का है ।

अज हूं, जो उत्पत्ति क्रिया का आश्रय नहीं हो उसे अज कहते हैं भगवान् कर्म पराधीन नहीं हैं अतः जन्मादिक जो छ विकार हैं उनसे रहित होने पर भी भूतों का अर्थात् जगतीतल में बिपरिवर्तमान निखिल प्राणियों के ईश्वर सर्व नियामक होते हुए भी तथा अव्ययात्मा विनाशभाव को नहीं प्राप्त करनेवाला जो स्वरूप तादृश स्वरूप स्वाभाव से युक्त होने पर भी स्वकीय अर्थात् स्व (ईश्वर) से सम्बन्धी जो प्रकृति स्वभाव तादृश स्वकीय स्वभाव को अधिष्ठित करके अर्थात् तादृश जो स्वभाव विशेष उस के द्वारा तथा अपनी भगवत् सम्बन्धी जो माया अन्य व्यक्ति से तर्क करने के अयोग्य जो ज्ञान विशेष उसके द्वारा संभवित हूं अर्थात् अपते अवतार को प्रकट करता हूं । यहाँ माया शब्द का अर्थ केवलाद्वैतवादी सम्प्रदाय सिद्ध नहीं है किन्तु माया शब्द मनीषा बुद्धि बोधक है क्योंकि तमोरूप माया का सम्बन्ध अनेक सूर्य प्रभा से भी अधिक प्रभा भासित भगवत् बिग्रह में तादृश माया का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुमान आगम तथा अनुभव विरुद्ध है । भगवान् के एतादृश अवतार ग्रहण में श्रुति भी कहती है "अजायमानः" उत्पन्न नहीं होने वाले होते हुए भी अनेक रूप से प्रादुर्भूत होते हैं। अखिल जो हेय गुण उन के विरोधी अनन्त कल्याण गुण है उन के आकार जो सर्वेश्वर सर्वावतारी श्रीरामचन्द्रजी हैं वे स्व शरणागत अनन्य भक्तों को अनुग्रह करने के लिये शुभाशुभ कर्म की अधीनता के बिना अपनी इच्छा मात्र से स्वकीय दिव्य लोकोत्तर मंगलमय अप्राकृतिक स्वरूप देह को प्रकट करके लीला विभूति को अलंकृत करते हैं । इस प्रकार से भगवत् स्वरूप का श्रुति स्मृति प्रतिपादन करती है "य एष" जो यह आदित्य

विग्रहम्' (सनत्कु.सं.रामस्तवराजे) 'परमात्मा परब्रह्म सच्चिदा- नन्दविग्रहः ।' (पाद्मोत्तरखंडे) 'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा' (वाराहे) तथा चाहुस्सदाचार्याः श्रीराघवांघ्रिवर्णने...

दिव्यं निधाय हृदये खलु यत्स्वरूपं संसारतारणविधौ प्रथमं निदानम् ।
योगं चरन्ति यतयोऽतिविशुद्धसत्त्वाः सोऽन्तः स्फुरत्वविरतं मम राघवाङ्घ्रिः ॥३॥
अर्चादिषु स्मरणवन्दनपूजनादिष्वेकं वलम्ब्य मनुजा जनितत्तरन्ति ।
दिव्यस्य यस्य मुनिमानसमोहनस्य सोऽन्तः स्फुरत्वविरतं मम राघवाङ्घ्रिः ॥२२॥

उक्तञ्चास्मद्गुरुवर्यैराचार्यसार्वभौमैर्जगद्गुरुश्रीराघवानन्दमहामुनीन्द्रैरपि 'दिव्य देहाय हृद्याय दिव्यालङ्कारधारिणे । दिव्यपरिकरायाथ राघवेन्द्राय मङ्गलम् ॥' इति॥६॥

मण्डल के बीच में हिरण्यमय पुरुष देखने में आता है, छा. १।६।६। अन्धकार से परे आदित्य के समान देदीप्यमान पुरुष देखने में आता है, पु. सू.। भूत समुदाय से बना हुआ देह परमात्मा का नहीं है, भारत में लिखा है "सत् चिदानन्द विग्रह धारी तथा हाथ में शार्ङ्ग धनुषधारण किये हुये श्रीरामजी है" सनत्कुसंहिता में–परमात्मा परब्रह्म सत् चित् आनन्द विग्रह वाले है, पद्मपुराण तथा बराह में भी कहा है "भगवान् का शरीर मांस मेद अस्थित्वगादि से जायमान प्राकृतिक नहीं है" इत्यादि। तथा श्रीराघवांघ्रि वर्णन में जगद्गुरु श्रीसदानन्दाचार्य ने भी कहा है–

अत्यन्त विशुद्ध सत्त्व यानी सत्त्वगुण सम्पन्न सर्वदा योगाचरण शील साधक लोग संसार सागर को पार करने के लिये एक मात्र आदि कारण भूत जिन सर्वेश श्रीरामचन्द्रजी के अति दिव्य स्वरूप को अपने हृदय कमल में संस्थापित कर योग साधना किया करते हैं उन श्री राघवजी के श्रीचरण मेरे अन्तःकरण में सदा स्फुरित हों ॥३॥

मुनि जनों के मन को भी मोहित करने वाले जिन दिव्याति दिव्य पर पुरुष श्रीरामचन्द्रजी के अर्चादिओं में अर्थात् श्रीचरण की सेवा के भेदों में से स्मरण कीर्तन वन्दन पूजन श्रवण सेवा वन्दन दास्य भाव सखाभाव आत्मनिवेदन प्रभृति में से किसी भी एक का अवलम्बन यानी आश्रय लेकर मनुष्य जन्म मृत्युरूप दुस्तर सागर से अनायासही तर जाते हैं उन श्रीराघवजी के सर्वाश्रयदाता श्रीचरण कमल मेरे मन में सदा विराजें ॥२१॥

हमारे गुरुवर आचार्य सार्वभौम जगद्गुरु श्रीराघवानन्दाचार्यजी महामुनीन्द्र ने भी कहा है "दिव्यदेह वाले कमनीय दिव्यालंकार को धारणकरनेवाले तथा दिव्य है परिकर परिवार जिनका ऐसे भगवान् राघवेन्द्र के लिये मंगल हो ॥६॥

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ? ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

अथ कदा परमपुरुषोऽवतरतीत्याशंकायामाह–यदेति । हे भारत ! अहमस्यां लीलाविभूतौ स्वावतारं कालनैयत्येन प्रतिकल्पं प्रतियुगं प्रतिशताब्दि वा न विदधे किन्तु यदा यदा हि मुक्तिसाधनस्य वेदविहितस्य वर्णाश्रमोचितारम्भलक्षणस्य सामान्यधर्मस्य भगवदाराधनादिरूपविशेषधर्मस्य च लेशतोऽपि ग्लानिर्भवति, अधर्मस्याभ्युत्थानं लेशतोऽप्युत्थानं भवति तदा धर्माधर्मयोरक्षाविनाशाभ्यामात्मानं सृजाम्यहं स्वेच्छयैवाऽऽत्मानमाविर्भावयामि । मदवतारग्रहणे मदीयसंकल्प एव निमित्तं न तु कर्मादिकमिति भावः ॥७॥

इदानीमवतारप्रयोजनमाह–परित्राणायेति । साधूनां वेदविहितधर्मानुष्ठायिनां मदनन्यभक्तानां परित्राणाय दुष्कृतां वैदिकाचाररहितानां मद्भक्तिविधुराणां पापाचा-

परमपुरुष मर्यादा सागर भगवान् कब अवतरित होते हैं क्या मन्वन्तर के आदि में अवतार ग्रहण करते हैं अथवा युग के आदि में अथवा यदा कदाचित् अवतार ग्रहण करते हैं इस शंका में कहते हैं "यदा यदा हीत्यादि" हे भारत ! हे अर्जुन ! मैं इस लीलाभूमि में किसी काल विशेष में अर्थात् मन्वन्तर के आदि में अथवा युग के आदि में इस प्रकार अपने अवतार को नहीं लेता हूं अपितु जब जब मोक्ष का कारण वेद से प्रतिपादित वर्णाश्रय के उचित आरंभ लक्षण सामान्यधर्म का तथा भगवदाराधनात्मक विशेष धर्म का लेश मात्र भी ह्रास होता है और अधर्म का अर्थात् वेद निषिद्ध क्रिया रूप अधर्म का उत्थान होता है उस समय मे वह समय चाहे मन्वादि हो अथवा युगादि हो तब धर्म की रक्षा तथा अधर्म का विनाश के लिये अपनी आत्मा को सर्जित करता हूं अर्थात् अपनी इच्छामात्र से अवतार ग्रहण करता हूं, मेरे अवतार ग्रहण करने में केवल मेरा संकल्प ही कारण है । जीव के शरीरधारण करने में जैसे अदृष्ट कारण होता है उस प्रकार मेरे अवतार ग्रहण में कर्मादिक किसी भी अन्य को कारणता नहीं है ॥७॥

भगवान् का जो अवतार होता है उसका प्रयोजन क्या है यह जो प्रयोजन विषयक प्रश्न था उसके उत्तर में कहते हैं "परित्राणायेत्यादि" साधु किसे कहना चाहिये इस विषय में महाभारत पुराणादि वचन के बल पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है । महाभारत में कहा है–

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥९॥

रपरायणानां विनाशय धर्मसंस्थापनार्थाय च वर्णाश्रमादिधर्माणांमदर्चनवन्दनकीर्तन-स्मरणादीनां मदाराधनलक्षणानां धर्माणाञ्च संस्थापनार्थाय । एतत्संस्थापनञ्च स्वकीयदिव्यमङ्गलविग्रहस्यावतारधारणमन्तरेण न सम्भवतीत्यतो युगे युगे सम्भवामि । स्वसंकल्पादेव लीलाविभूतावाविर्भवामि न तु कृतादिविशेषनियमोऽस्तीति भावः ॥८॥

"तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् । अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् । मत्कृतेत्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च । तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः ॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसंगविवर्जिताः ॥"

जो तितिक्षु हैं, करुणाशील हैं, सभी देहधारी का जो सुहृद् हैं, जिसका कोई शत्रु नहीं है उसका नाम है साधु तथा मुझ परमेश्वर में जो अनन्यभाव से दृढाभक्ति करनेवाला है मेरे लिये सर्वकाम सभी स्वजन बान्धव का त्याग करनेवाला हो और मेरी कथा को स्वयं सुने और दूसरे को सुनावे अनेक प्रकार का तप करने वाला सभी संग से विवर्जित हो उसे साधु कहते हैं इत्यादि शास्त्रोक्त लक्षण लक्षित ही साधुपद वाच्य हैं एतादृश साधु जन की रक्षा करने के लिये भगवान लीलाभूमि में अवतरित होते हैं ।

साधुओं का रक्षा करने के लिये अर्थात् वेद विहित धर्म के अनुष्ठान करने में जो हर हमेशा दत्तचित्त हैं तथा जो मेरे अनन्यभक्त हैं एतादृश साधुजन की रक्षा करने के लिये । तथा जो दुष्कृत है वैदिक सदाचार रहित है मेरी भक्ति से सर्वथा दूर वर्ती है और पापाचार में परायण है एतादृश महापापी व्यक्ति के विनाश के लिये तथा धर्म संस्थापन के लिये अर्थात् वेदोक्त जो वर्णाश्रमादिक धर्म हैं तथा भगवदर्चन वन्दन कीर्तन दर्शन स्मरणादिक जो भगवान का आराधन लक्षण धर्म है एतादृश धर्म की रक्षा के लिये । साधुओं का संरक्षण पापियों का विनाश तथा धर्म की संस्थापना प्रभृतिक जो कार्य हैं उसका संपादन स्वकीय जो दिव्य मंगलमय विग्रह (शरीर लोकोत्तर देह) का अवतार—धारण किए बिना नहीं हो सकता है इसलिये युग युग में संभवित अर्थात् अवतार को धारण करता हूं । अपने संकल्प मात्र से लीला विभूति में आविर्भूत होता हूं नतु कृतयुग कलियुग मन्वादि विशेष समय का कोई नियम है । अर्थात् भगवान के अवतार ग्रहण करने में कोई काल विशेष का नियम

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

अथावतारयाथात्म्याभिधानं मोक्षोपयोगीत्याह—जन्मेति हे अर्जुन! एवं यथोक्तप्रकारेण मेऽखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरस्य सर्वेशितुर्दिव्यप्राकृतं मदिच्छामात्रसाध्यं जन्म साधुपरित्राणादिफलकमनेकलीलाविलासादिकं प्रणतौपयिकं कर्म च यस्तत्त्वतो मदुक्तप्रकारेण संशयादिकं व्युदस्य वेत्ति स तद्देहभोग्यप्रारब्धावसाने देहं त्यक्त्वा मामखिलानन्दैकनिलयमेव प्राप्नोति पुनर्जन्म नैति भूयो जन्मादिक्लेशाश्रयं संसारं नाप्नोति ॥९॥

भगवज्जन्मकर्मविषयकावबोधजन्यभगवदवाप्तिप्रकारमाह—वीतेत्यादिना। ज्ञानतपसा ज्ञानञ्च तपश्चेत्यनयोः समाहारो ज्ञानतपस्तेन भगवद्दिव्यजन्मकर्मविषयका-

नहीं है किन्तु मात्र स्वसंकल्प से भक्त का रक्षणादि निमित्त से लीलाभूमि में लीलावतार होता है ॥८॥

अवतार का याथात्म्य कथन मोक्ष में उपयोगी है अर्थात् जन्म कर्म विषयक जो ज्ञान है उसका फल क्या है—इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "जन्म कर्म चेत्यादि" हे अर्जुन! यथोक्त प्रकार से अखिल (समस्त) जो हेय परित्याज्य गुण के विरोधी जो अनंत कल्याण गुण उसका समुद्रसमान मेरा सर्वेश्वर सर्वनियन्ता लीलाविग्रहधारी परमात्मा का जो दिव्य अप्राकृत लोकोत्तर मेरे संकल्पमात्र से सम्पन्न होनेवाला जो जन्म देवादि शरीर का धारण जिस शरीरका साधु पुरुषोंका परित्राणमात्र प्रयोजन है तथा अनेक प्रकार का लीला विलास फल है एवं मेरे जो भक्त हैं उनके लिये परमोपयोगी कर्म को तत्त्वत अर्थात् जो मैने प्रकार बतलाया है उस प्रकार से संशय विपर्यय को निराकरण करके समझता है वह पुरुष उसी देह से भोग करने के योग्य प्रारब्ध कर्म के अवसान होने पर प्रकृत जो शरीर है उसे छोड करके अखिल आनन्द के परमोत्कृष्ट स्थान रूप मुझे प्राप्त कर लेता है। पुनः जन्मान्तर को प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् जन्म जरा क्लेश मरण के आश्रयरूप संसार को प्राप्त नहीं करता है। जब मेरे विलक्षण जन्म कर्म को मदुक्त प्रकार से जानने वाला पुरुष इस शरीर के अवसान हो जाने पर मुझे प्राप्त करके सोपद्रव संसार गति को प्राप्त नहीं करता है अपितु विमुक्त होता है कृतकृत्य हो जाता है ।९।

भगवान् का जो लोकोत्तर जन्म तथा कर्म है तादृश जन्म कर्म विषयक ज्ञान से भक्त को भगवान् की प्राप्ति किस तरह से होती है उस प्रकार को बतलाते हैं अर्थात् इससे पूर्व-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥११॥

वबोधेन तत्सहवर्तिना तपसा च। पूता निरस्ताशेषभगवत्समाश्रयणविरोधिपापाः। बहवः पुरुषाः। मामाश्रिताभयदानपरायणं वात्सल्यैकमहार्णवम्। उपाश्रिता मनसा वचसा कायेन च मामेव प्रपन्नाः। अत एव वीतरागभयक्रोधा वीता विगता राग-भयक्रोधा येषां ते तथोक्ताः। मन्मया मदेकचित्ताः सन्तः मद्भावं मम साधर्म्यम्। सायुज्यमित्यर्थः। गताः प्राप्ताः भवन्ति ॥१०॥

भगवदवतारस्य न साधुपरित्राणमात्रं प्रयोजनमित्याह य इति। एवं प्रपन्नजन-परित्राणाय विविधावतारधारणं करोमि। नैतावदेव मम सौलभ्यायालमपि तु ये भक्ता

श्लोक में कहा है कि मुझे प्राप्त कर जाता है वह बात अर्जुन पूछते हैं–हे भगवन्! आज तक किसी व्यक्ति को भगवान् के जन्म कर्म विषयक ज्ञान से किसीको मोक्ष हुआ है इस प्रश्न के उत्तर रूप में कहते हैं "वीतरागेत्यादि" ज्ञान तथा तपस्या से यहां ज्ञान और तप का समाहार है तब ऐसा अर्थ होता है। गभवान् जन्म तथा कर्मविषयक ज्ञान (अवबोध) से तादृश ज्ञानसहकृत तपस्या से पूताः अर्थात् भगवान् की प्राप्ति करने में विरोधी जो पापकर्म तादृश पापकर्म विनष्ट होगया है जिनका एतादृश अनेक भक्त पुरुष माम् मुझे अर्थात् आश्रित व्यक्ति को अभय देने में परायण वत्सलता का समुद्र जो मै हूं, तादृश अभयदाता मुझे जिन्होंने मन वाणी शरीद से प्राप्त कर लिया हैं ऐसे अनेक व्यक्तियों को अत एव अर्थात् मदाश्रित अनेक व्यक्ति जो कि वीतराग वीतभय तथा वीत क्रोध हैं जिनका यानी राग भय क्रोध विनष्ट हो गया हैं जिनका ऐने और मदर्थ मदेकचित्त अर्थात् मुझ में ही संलग्न है चित्त जिनका ऐसे अनेक पुरुष मेरे साधर्म्य अर्थात् मेरे सायुज्य को प्राप्त हो गये। जिन्होंने मेरे जन्म कर्म विषयक ज्ञान से युक्त होकर अथ च रागद्वेष तथा भय को छोड कर मन वाणी शरीर से मदेकचित्त हुए ऐसे अनेक महापुरुष मेरे सायुज्य को प्राप्त कर गये। यानी हे अर्जुन! ऐसा तुम समझो कि मेरा ज्ञान जिन्हें हुआ तथा मदेक चित्त होकर मेरी शरण में आ गये वे सब संसार बन्धन से मुक्त हो गये ॥१०॥

सर्वेश्वर श्रीरामजी का जो अवतार ग्रहण है उस अवतार ग्रहण का फल केवल साधुजन का परित्राण ही है ऐसा नहीं अपितु एतदतिरिक्त और भी अनेक प्रयोजन हैं इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "ये यथा मामित्यादि" इस प्रकार पूर्वोक्त रीत से मेरी शरण में जो आये हैं उन साधु पुरुषों की रक्षा करने के लिये अवतार ग्रहण करता हूं एतावदेव इतना ही

यथा येन प्रकारेण दर्शनार्चनस्मरणवन्दनादिरूपभजनेन मामखिललोकाधिपतिं सर्वलोकशरण्यं प्रपद्यन्ते मत्प्रपत्तिमनुतिष्ठन्ति, तानपि तथैव तत्संकल्पमनुरुध्याहं भजामि तथाविधफलदानेन तोषयामि । नन्वेवमनन्यभक्तेभ्यो मुक्तिदानमितरभक्तेभ्यश्च मुक्तीतरदानमतो भगवति वैषम्यं दुष्परिहरमित्याह—ममेति । हे पार्थ ! सर्वेऽपि मनुष्यास्तत्तत्कर्मण्यधिकृताः सर्वप्रकारैः सकामकर्मानुष्ठानेन देवतान्तरार्चनादिना तत्तद्देवेभ्यः फलोपलिप्सया यत्कर्मानुष्ठानं तदपि ममैव वर्त्म । यतस्तत्तद्देवतान्तर्यामितयाऽहमेव तत् फलप्रापक इति तदनुवर्तन्ते ॥११॥

अवतार का प्रयोजन नहीं है अर्थात् इतना ही फल मेरी सुलभता के लिये पर्याप्त है ऐसा नहीं अपितु जो भक्त यथा जिस प्रकार दर्शन अर्चन स्मरण वन्दनादि रूप भजन से संपूर्ण लोक के नियामक तथा सर्वपुरुष के शरण्य मुझे प्रपन्न होते हैं मेरी प्रपत्ति का अनुष्ठान करते हैं उन सबों को उन लोगों का जो संकल्प है तदानुकूल्येन तादृश फल दान द्वारा उन्हें सतुष्ट करता हूं। अर्थात् यादृश स्वकीय संकल्प के अनुसार मेरा भजन करते हैं उन व्यक्तियों को तत्तत् संकल्पानुसारेण उन्हें तत्तत् फल दे करके उन्हें संतुष्ट कर देता हूं क्यों कि मैं सर्व शक्तिमान् सर्वनियन्ता परमेश्वर हूं सभी फलों को देने में समर्थ हूं। हे भगवन् ! आप तो समदर्शी हैं तब आपका जो अनन्य भक्त है उसे तो आप अपना परमपद देते हैं और जो साधारण भक्त है अर्थात् अप्राप्यवृत्तिभक्त हैं उन्हें आप मोक्षेतर साधारण फल देते हैं तब तो आप में भी प्राकृत पुरुष के समान विषमतादोष प्राप्त होता है, किन्तु नित्य निर्दोष में दोष होना तो असंभवित है इस शंका को हटाने के लिये कहते हैं "मम वर्त्म" इत्यादि । हे पार्थ पृथा पुत्र अर्जुन ? सभी मनुष्य स्ववर्णाश्रम सम्बन्धी तत्तत् कर्म में अधिकृत हैं वे सब सर्व प्रकार से सकाम कर्म के अनुष्ठान द्वारा देवतान्तर इन्द्र यम कुबेरादि के अर्चन वन्दनादिक कर्म से तत्तत् देवताओं से फल पुत्र धनादि की प्राप्ति की इच्छा से जिन जिन कर्म का अनुष्ठान करते हैं वह भी मेरा सर्व नियन्ता परमेश्वर का ही वर्त्म-मार्ग है । क्योंकि उन देवताओं के अन्तर्यामी होने से मैं ही तत्तत् फल का प्रापक हूं। अर्थात् जो पुरुष पशु पुत्रादि फल की इच्छा से देवतान्तर को उद्देश्य करके कर्माराधन करते हैं तादृश स्थल में तत्तत् देवादि शरीर में अन्तर्यामित्व रूप से अवस्थित जो परमात्मा है उसी से वहां भी फल प्राप्ति होती है। यद्यपि इस कथन से तो यह सिद्ध हुआ कि देवान्तर के पूजा स्थल में भी फल प्रापकत्व भगवान् में ही है किन्तु न्यून फल मिलने से वैषम्य दोष जो अवतरण ग्रन्थ से किया गया उसका परिहार तो नहीं होता है तथापि भगवान् तो समान फलदायक हैं परन्तु यह जो फल भेद देखने में आता है उसके प्रयोजक भगवान् नहीं हैं किन्तु आराधक व्यक्ति

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

प्रकृतमनुसरति । कर्मणां सिद्धिमाशु फलोदयं कांक्षन्तः फलेप्सवः पुरुषा इह कर्मभूमौ देवताः कर्मफलदानसमर्था देवता यजन्ते विशिष्टयागादिभिस्तर्पयन्ति । यतो मानुषे लोकेऽस्मिन् मर्त्यलोके कर्मजन्यफलसिद्धिराशु भवति । अत्र फलार्थी सर्वोऽपि लोक आशु फलवाञ्छया कर्मण्येव प्रवर्तते नतु भगवद्भजने । तस्यैहिकामुष्मिकफलस्पृहाऽपवर्गाख्यस्याक्षय्यफलस्य साधने प्रवृत्तिं प्रतिबध्नातीत्यर्थः ।१२

की कामना तथा देवतान्तर में कनिष्ठता ही प्रयोजक है इसलिए भगवान् में वैषम्य दोष नहीं होता है ।

जिस प्रकार अंकुर की उत्पत्ति में जलदान से मेघ साधारण कारण होता है यावदंकुरोत्पत्ति में मेघ सहायक है और जौ के अकुर में यव बीज विशेष कारण है जिससे यव व्रीहि का भेद होता है इसी प्रकार भगवान् तो यावत् फल प्राप्ति के प्रति साधारण कारण हैं देवतान्तरोद्देश्यक कर्म स्थल में जो फल में न्यूनाधिक भाव देखने में आता है उसमें विशेष कारण है आराधक की क्षुद्रफल कामना तथा देवतान्तर की क्षुद्रता । इसलिये भगवान् में वैषम्यापत्ति रूप दोष की संभावना नहीं होती है ॥११॥

इस प्रकार कर्म योग के प्रकरण में प्रसंगोपात्त भगवान् का अवतार विषयक विचार करके प्रक्रान्त जो कर्म योग है वही कैसे ज्ञानाकार में प्रवृत्त होता है इस बात को बतलाने के लिये प्रथमतः तादृश अधिकारी की दुर्लभता अग्रिम प्रकरण से कहने के लिए भाष्यकार कहते हैं प्रकृत कर्मयोग का अनुसरण करते है "कांक्षन्तः" इत्यादि । हे अर्जुन ! कर्म सिद्धि को अर्थात् शीघ्रता से कर्म जनित फल को चाहने वाले फललिप्सु पुरुष इह इस कर्मभूमि में कर्म करनेयोग्य मनुष्य लोक में कर्म फल को देने में समर्थ जो इन्द्र वरुणादिक देव विशेष हैं उन देवों को उद्देश्य करके यजन करते हैं अर्थात् विशिष्ट यागादि द्वारा उन देवों को तृप्त करते हैं । जिसलिये इस मनुष्य लोक (मृत्यु लोक) में कर्मयागादि जनित फल की सिद्धि झटिति जल्दी होती है । यहां फल कामी जो पुरुष है वह फल जो कि ऐहिक वा पारलौकिक हो उस फलकी इच्छा से ही यागादिक कर्म में ही सब प्रवृत्त होते हैं । परन्तु भगवद्भजनादिक जो निष्काम कर्म है इस में प्रवृत्त नहीं होते हैं । फलाभिलाषी पुरुषों की फल विषयक जो इच्छा है वह अपवर्गाख्य मोक्ष फल की साधन जो म कर्म है उस में प्रति

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

कर्तृत्वाभिनिवेशराहित्येन विहितानां कर्मणामबन्धकत्वमाह—चातुर्वर्ण्यमित्यादिभ्यां द्वाभ्याम् । चत्वारो वर्णा इति चातुर्वर्ण्यम् । स्वार्थे ष्यञ् । चातुर्वर्ण्यप्रभृतिनिखिलं जगत् । गुणकर्मविभागशो गुणाः सत्त्वादयश्च कर्माणि शमदमादीनि च गुणकर्माणि तेषां विभागस्तेन । मया सर्वेश्वरेण । सृष्टम् । एतच्च स्थितिप्रलययोरप्युपलक्षणम् । तस्याखिलस्य जगतः सृष्ट्यादेः कर्तारमपि मामव्ययमुत्पादविनाशरहितमकर्तारम्फलतः कर्तृत्वशून्यमेव विद्धि १३

अनेकपुरुषों में एकाध व्यक्ति ही फलेच्छा को छोड करके भगवद्भजनादि निष्काम कर्म में प्रवृत्त होते हैं ॥१२॥

मै कार्य को करता हूं, इत्याकारक जो अभिनिवेश तादृश अभिनिवेश रहित पुरुष से किया गया जो शास्त्र प्रतिपादि कर्म है वह बन्धजनक नहीं होता है । अर्थात् कर्म में जो कर्तृत्व का अभिनिवेश रखता है मैं इस कार्य का कर्ता हूं इत्याकारक तादृश पुरुष से संपादित जो विहित कर्म वही उस पुरुष को बन्ध में डालता है और कर्तृत्वाभिमान रहित पुरुष से जो शास्त्र विहीत कर्म किया जाता है वह कर्म कर्ता के लिये बन्धन जनक नहीं होता है । इस में भगवान् अपना ही उदाहरण बतलाते हैं "चातुर्वर्ण्यमित्यादि" चार जो वर्ण ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र उसे चातुर्वर्ण्य कहते हैं । यहाँ चतुर्वर्ण शब्द से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय करके चातुर्वर्ण्य की सिद्धि की गई है और चतुर्वर्ण पद उपलक्षक है । अर्थात् चातुर्वर्ण्य प्रभृतिक चराचरात्मक सकल जगत् को, गुण कर्म के विभाग से, गुण कहते हैं सत्त्व गुण रजो गुण तथा तमोगुण तथा कर्म में शम दमादिक यह हुआ गुण कर्म इनका जो विभाग उस विभाग के द्वारा (अर्थात् सत्व गुण है प्रधान जिसमें वह हुआ ब्राह्मण सत्व तथा रजो गुण विशिष्ट क्षत्रिय रजोगुण तथा तमोगुण विशिष्ट वैश्य केवल तमोगुण प्रधानक शूद्र एवं कर्म शौच शम दम ब्राह्मण का कर्म शौर्य धैर्य दक्षता युद्ध से अपलायन क्षत्रिय कर्म कृषि गो रक्षा वाणिज्य प्रभृतिक वैश्य का कर्म और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का परिचर्याकरण शूद्र का कर्म है एतादृश गुण कर्म के विभाग से सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् मुझ से यह जगत् सृष्ट हुआ । यहाँ सृष्टि शब्द स्थिति प्रलय का भी संग्रह करता है । एतादृश सकल जगत् का उत्पादन स्थिति प्रलय का कर्ता करनेवाला मै हूं तथापि अव्यय उत्पाद विनाश रहित मुझे फलतः अकर्ता ही तुम समझो क्योंकि इनका उत्पादक होने पर भी मुझ में कर्तृत्व का अभिनिवेश न होने से जल से जैसे कमल पत्र लिप्त नहीं होता हैं, उसी प्रकार कर्तृत्वाभिनिवेश के अभाव से मैं वस्तुतः अकर्ता ही हूं । इसी प्रकार

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

एकस्यैव कर्तृत्वे तदभावे च व्याघातमपाकरोति नेति। कर्माणि जगत्सृष्ट्यादीनि मां सर्वेश्वरम्। न लिम्पन्ति न स्पृशन्ति। बन्धकानि न भवन्तीत्यर्थः। जीवानां पुण्यपापमूलकानि कर्माणि तेषामेव बन्धविधायकतामुपयान्ति न तु मम

जो अन्य व्यक्ति कर्तृत्वाभिमान को छोड करके कर्म करेगा तो उसका वह कर्म वस्तुतः बन्धन जनक नहीं होगा यह भाव है ॥१३॥

पूर्व श्लोक में कहा है जो परमेश्वर जगत् उत्पादादि क्रिया का कर्ता है तथा अन्तिम चरण में यह भी बतलाया कि मै परमेश्वर अकर्ता हूं तब तो इस प्रकार के कथन में व्याघात दोष होता है इस व्याघात दोष को हटाने के लिये कहते हैं "न मां कर्माणी त्यादि। हे अर्जुन ! यह जो जगत् के उत्पाद स्थिति प्रलयात्मक कर्म क्रिया है वह सर्व का ईश्वर सर्व नियन्ता परमेश्वर मुझे लिप्त नहीं करता है। अर्थात् उस कर्म का स्पर्श मुझे नहीं होता है किन्तु जीव का जो पुण्यपाप मूलक कर्म है वह जीव के लिये ही बन्ध विधायक होता है नतु सर्वेश्वर जो मैं हूं उसे होता है। न वा मुझे कर्म के फल में किसी प्रकार की अभिलाषा है क्योंकि संप्राप्त सकलेप्सित होने से। अप्राप्त वस्तु विषयक इच्छाको अभिलाषा कहते हैं वह तो हमारे लिये अप्राप्त नहीं है किन्तु अवाप्त सकलेप्सित हूँ। अर्थात् इस प्रकार से मुझ में कर्म का लेप नहीं होता है न वा परमेश्वर को कर्म फल में स्पृहा है इस प्रकार जो कोई साधक समझता है वह तादृश भावनावान् पुरुष भी कर्म बन्धन से बद्ध नहीं होता है। अर्थात् तादृश व्यक्ति से आचरित जो कर्म है वह उसके लिये कल्याण कारक होता है। जब परमेश्वर विषयक तादृश ज्ञानवान् पुरुष का कर्म बन्धक नहीं होता है तब परमेश्वर के लिये वह बन्धक नहीं हैं यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है।

शंका—परमेश्वर की जगत् सर्जन स्थिति प्रलयात्मक कार्य में प्रवृत्ति होती है यह कहना बिलकुल असंगत जैसा लगता है तथाहि

(१) परमेश्वर की प्रवृत्ति स्वार्थ कामना से होती है या शास्त्र से नियन्त्रित होकर प्रवृत्ति होती है ? (२) अथवा पर की प्रेरणा से होती है (३) अथवा करुणा से प्रवृत्ति होती है (४) या अपने कर्तव्य को समझ कर प्रवृत्ति होती है इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि परमेश्वर अवाप्त सकल काम हैं। द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि जो सर्व नियन्ता है उसका प्रवर्तक दूसरा कौन होगा ? श्रुति कहती है उसका कार्य नहीं उसका कोई कारण नहीं उसके

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।१५।

सर्वेश्वरस्येति यावत । मेऽवाप्ताखिलकामस्य मम कर्मफले स्पृहाऽऽकांक्षा । नास्ति । इतीत्थम् यो मामभिजानाति । स कर्मभिर्न बध्यते । तदाचरितानि कर्माणि श्रेयस्कराणि भवन्तीत्यर्थः ॥१४॥

प्राचीनानुदाहृत्य कर्मयोगमेव दृढयन्नाह-एवमिति । एवमित्थम् । ज्ञात्वा दिव्यजन्मकर्मवन्तं निर्लिप्तं कर्मानुष्ठातारं सर्वेश्वरं मामवबुध्य । पूर्वैरनर्वाचीनैरपि मुमुक्षुभिर्मुक्तिमाकांक्षमाणैर्विवस्वद्वैवस्वतादिभिः कर्म कर्मयोगः । कृतमनुष्ठितम् । तस्मात्

समान कोई नहीं उससे कोई बडा नहीं है। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि वह करुणा से सृष्टि करता है तब तो सकल प्राणी को सुख विशिष्ट ही बनावे किसी को दुःखी क्यो बनाता है । नहीं कहें कि प्राणी के कर्माधीन विषमता होती है तब उसकी करुणा किस काम की ? "दयालोरसमर्थस्य दुःखायैव दयालुता" असमर्थ दयालु व्यक्ति की दया दुःख ही देनेवाली होती है । चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् तो विधिनिषेध शास्त्र के अधीन नहीं हैं इसलिये श्रुति प्रतिपादित कर्तव्यता का अभाव है ।

समाधान– जैसे राजालोग महा प्रासाद बनाने में प्रवृत्त होते हैं । उसके पास सकल वस्तुओं के होने पर भी यथा वा लीला के लिए लोक में कन्दुकादि का क्रीडन देखा जाता है इसी प्रकार अवाप्त सकलेप्सित परमेश्वर को भी जगन्निर्माणादिक कार्य में प्रवृत्ति होने में कोई क्षति नहीं है । विशेष विचार "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" इस ब्रह्मसूत्र के आनन्दभाष्य की टीका जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यजी योगीन्द्र प्रणीत भाष्य दीप तथा मेरी प्रकाश टीका में देखें । प्रसंगवश यहाँ थोडा बतलाया गया है ॥१४॥

प्राचीन पूर्वकालिक महापुरुषों का उदाहरण देते हुए प्रकृत जो कर्मयोग है उसे दृढ करने के लिये कहते हैं "एवं ज्ञात्वेत्यादि । एवम् इस प्रकार से विलक्षण जन्म अवतार ग्रहण रूप तथा दिव्यकर्म विशिष्ट एवं सर्व कर्म के अनुष्ठान करनेवाले सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी को सम्यग् रूप से जान कर पूर्वकालिक मुमुक्षु-मोक्ष रूप फल की इच्छा रखनेवाले जो विवस्वान् तथा विवस्वत के पुत्र प्रभृति से इस कर्मयोग का अनुष्ठान किया गया है । इसलिये पूर्वतर अर्थात् पूर्वकाल में हम से अनुशासित जो पूर्वकालिक प्राचीन पुरुषों ने जैसा किया उसी प्रकार आप भी हम से आत्मा तथा परमात्मा का जो याथार्थ्य स्वरूप है उसे जानकर कर्मयोग का ही अनुष्ठ करें । विरक्ति का अवलम्बन मत करें । विरक्ति का अवलम्बन मत

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

पूर्वतरं पुरा मयाऽनुशासितम् । पूर्वैःप्राचीनैर्यथा कृतं तथा लब्धात्मपरमात्मयाथा-त्म्योपदेशस्त्वमपि कर्मैव कुरु । ततो विरक्ति नामादद्येत्यर्थः ॥१५॥

अथ कर्मणो दुर्ज्ञेयत्वमभिदधाति–किमिति । कर्म मुमुक्षुभिराचरणीयमीश्वराराधनात्मकं फलासक्तिवर्जितं कर्म । किम् कीदृशम् । अकर्म कर्माङ्गभूतं कर्मानुष्ठात्रात्मयाथात्म्यज्ञानम् । किम् किं लक्षणम् । इत्यत्रास्मिन् विषये । कवयो विद्वांसोऽपि । मोहिता मोहमवाप्ताः । याथार्थ्येन नावगच्छन्तीत्यर्थः । तज्ज्ञानगर्भं भगवदाराधनात्मकं कर्म ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि । यज्ज्ञात्वा ज्ञानपूर्वकमनुष्ठाय । अशुभात् संसारबन्धलक्षणादनर्थात् । मोक्ष्यसे मुक्तिमवाप्स्यसि ॥१६॥

करें । अर्थात् प्राचीन कालिक महापुरुषोंने इस से आत्मा तथा परमात्मा के याथात्म्य रूप को जानकर जैसे कर्म योग का अनुष्ठान किया उसी प्रकार तुम भी इस से उस चीज को जान करके कर्मयोग का ही अनुष्ठान करो । नतु स्ववर्णाश्रमोचित कर्म का त्याग करके उदासीनता को प्राप्त करें ॥१५॥

ज्ञानाकारता को प्राप्त हुआ जो कर्म उसे श्रेयस मोक्ष संपादकता होने से उस कर्म में उपादेयता ज्ञान के उत्पादन करने के लिये उस कर्म के दुर्विज्ञेयत्व का कथन करते हैं–"किं कर्मेत्यादि" हे अर्जुन ! कर्म क्या है मुमुक्षु से आचरणीय परमेश्वर के आराधनात्मक फलासक्ति से रहित जो कर्म वह कर्म क्या वस्तु है, अर्थात् किमाकार वह पदार्थ है तथा अकर्म कर्म का अंगभूत कर्मानुष्ठाता का आत्म याथार्थ्य ज्ञान अर्थात् स्वरूप विषयक ज्ञान कर्म ही अन्ततः ज्ञानरूपता को प्राप्त करता हुआ जो ज्ञान है वह क्रियात्मक है । इसविषय में कवि विद्वान् लोग भी मोहित हो जाते हैं कर्म तथा अकर्म के स्वरूप निर्णय में असमर्थ हैं अर्थात् यथार्थ रूप से उसके कर्म अकर्म को नहीं समझ पाते हैं । कर्मवाद अकर्मवाद विभिन्न प्रस्थानक होने से यह प्रकृत प्रसंग का भाव है । तत् कर्म वह कर्म ज्ञान घटित भगवान् के आराधनात्मक कर्म जिसके स्वरूप में ज्ञान भी छुपा हुआ है । वह कर्म तुम्हें यथार्थरूप से कहूंगा जिसे जान करके जिसके स्वरूप को जान करके यथा विधि उसका अनुष्ठान करके अशुभ से संसार बन्धन लक्षण अशुभ से मुक्त हो जाओगे। यहाँ केवल ज्ञान मात्र से विमुक्ति संभवित नहीं हैं इसलिये प्रकृत में ज्ञानपद से कर्म ज्ञान

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मणो दुर्ज्ञेयतामुपपादयति--कर्मण इति । हि यस्मात् । कर्मणो मोक्षोपायस्य भगवदाराधनलक्षणस्य कर्मणः । बोद्धव्यं स्वरूपं ज्ञेयमस्ति । नित्यनैमित्तिकादिरूपेण तत्साधनद्रव्यसम्पादनाकारेण च वैविध्यमापन्नं कर्म न तु प्रतिषिद्धं कर्म 'गहना कर्मणो गतिरि'ति निगमनविरोधात् । तस्य च विकर्मणः । बोद्धव्यं स्वरूपं ज्ञेयमस्ति। अकर्मणश्चात्मपरमात्मयाथात्म्यावबोधस्य चापि न तु तुष्णींभावस्य । कुत इति चेदुक्तविधनिगमनविरोधादेवेति ब्रूमः । बोद्धव्यं स्वरूपमवगन्तव्यमस्ति । अतः कर्मणोऽपवर्गाकांक्षिभिरनुष्ठेयस्य त्रिविधस्य कर्मणः । गतिः गहना दुर्ज्ञेया ॥१७॥

तथा कर्मानुष्ठान इन दोनों का बोध होता है । यहां ज्ञान तथा कर्म का अनुष्ठान इन दोनों को समझाता है ॥१६॥

पूर्वश्लोक से कर्म में दुर्विज्ञेयता का प्रतिपादन किया वह दुर्विज्ञेयत्व किस तरह है इस बात को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं "कर्मणोह्यपीत्यादि । जिसलिये मोक्ष का कारण भगवदारा धनात्मक जो कर्म उस कर्म का भी स्वरूप बोधव्य है जानने के योग्य है । विकर्म का स्वरूप भी बोधव्य है नित्य नैमित्तिक रूप से तथा तत्साधनीभूत जो द्रव्य तत्संपादनाकार से अनेक स्वरूपता को प्राप्त किया हुआ जो कर्म है उसी का नाम है विकर्म नतु शास्त्र प्रतिषिद्ध कर्म का नाम विकर्म है । क्योंकि यदि शास्त्र प्रतिषिद्ध कर्म को विकर्म कहें तब जो गहना कर्मणो गतिः कहा है वह असंगत हो जायगा । यतः कर्मपद से तो कर्म का ग्रहण नहीं होगा । एतादृश विकर्म का भी स्वरूप ज्ञातव्य है । एवम् अकर्म का स्वरूप बोधव्य है । अकर्म शब्द का अर्थ होता है आत्मा तथा परमात्मा का यथार्थ अवबोधन न तु तूरणीभाव अर्थ है । क्योंकि आगे कर्म गति कर्म प्रकार को गहन कहा है तो आप के मत से तो अकर्म कर्म है नहीं तब उसमें गहनत्व का कथन असंगत प्रायः हो जायगा इसलिये अकर्म शब्द का अर्थ कर्मभिन्न आत्मा परमात्मा का अवबोध ही अर्थ है । इस अकर्म का भी स्वरूप ज्ञातव्य है । अतः कर्म का अर्थात् अपवर्ग मोक्ष तदभिलाषी पुरुष से अनुष्ठेय स्वरूप वाला जो तीनों प्रकार का कर्म विकर्म तथा अकर्म का स्वरूप ज्ञातव्य है । एवं त्रैविध्य को प्राप्त किया हुआ जो कर्म है उसकी गति अर्थात् प्रकार अतिगहन है गुरु शास्त्र के सत्संग रहित पुरुष से दुर्विज्ञेय है ॥१७॥

कर्मण्यकर्म य पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

एवं कर्मादीनां ज्ञेयत्वमुक्त्वा तेषां स्वरूपमुपदिशति कर्मणीति । कर्मविकर्मणोः सामान्यविशेषरूपतया कर्मपदेनैव संगृह्य व्याचष्टे यो मुमुक्षुर्नित्यनैमित्तिककर्मयोगेऽकर्मस्वपरस्वरूपयाथात्म्यज्ञानमेवेदमिति जानाति । अहरहोऽनुष्ठीयमानानि कर्माण्येव प्रतिबन्धकं दुरितं निवर्त्य ज्ञानाकारतां दधते नतु कर्मनिवर्तकमितरज्ज्ञानं जायते । नैष्कर्म्यवादप्रसंगात् । एवमकर्मणिकर्मयोगसमकालिकफलतयोत्पद्यमाने ज्ञाने च कर्मपार्थक्येन तथाविधज्ञानस्यानवस्थितेस्तत्स्वरूपसत्तयैव ज्ञानसत्ताया व्यपदिश्यमानत्वा-

पूर्व श्लोक से कर्म अकर्म विकर्म को ज्ञेयत्व कह करके अब कर्म अकर्म विकर्म का क्या स्वरूप है इस जिज्ञासा के उत्तर में कर्म अकर्म विकर्म का जो स्वरूप है उसका प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं "कर्मण्यकर्मेत्यादि" । यद्यपि अवतरण ग्रन्थ के अनुसार यहाँ कर्म विकर्म अकर्म इन तीनों का पृथक् पृथक् रूप से विवेचन करना समुचित है तथापि विकर्म जो है वह कर्म से अत्यन्त भिन्न नहीं है किन्तु कर्म का ही विशेष रूप है । जैसे द्रव्य का विशेष जलादिक इसलिए यहाँ कर्म विकर्म में सामान्य विशेषभाव से व्यवस्थित में एकता संपादन करने के लिये भाष्यकार कहते हैं "कर्मविकर्मणोरित्यादि" कर्म तथा विकर्म ये दोनों सामान्य विशेष रूप से व्यवस्थित है कर्मसामान्य को कर्म कहते हैं और अमुक प्रकार के कर्म को विकर्म कहते हैं जैसे सामान्याकार, से द्रव्य नाम होता है और अमुक विशेषता को लेकर के जलादिक कहते हैं इस अभिप्राय से कर्म अकर्म का ही स्वरूप प्रतिपादित करते हैं विकर्म का ग्रहण कर्मपद से ही हो जाता है । अतएव स्वरूप प्रतिपादन परक ग्रन्थ में न्यूनत्व दोष नहीं होता है । जो मोक्ष विषयक इच्छावान् पुरुष विशेष नित्य नैमित्तिक कर्मयोग में अकर्म अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा का यथार्थज्ञान रूप ही कर्मयोग है ऐसा जानता है अकर्म शब्द का अर्थ है कर्म भिन्न आत्मा परमात्मा का यथार्थज्ञान प्रतिदिन अनुष्ठीमान संध्यावन्दनादिक कर्म ही प्रतिबन्धक जो दुरित पापविशेष है उसको हटाकर ज्ञानाकारता को प्राप्त करता है (धारण करता है) न तु कर्म निमित्त कोई इतर ज्ञान होता है क्योंकि तब तो नैष्कर्म्यवाद आपतित हो जायगा । एवम् अकर्म में कर्मयोग के समान कालिक फल रूपेण समुत्पद्यमान ज्ञान में कर्म के पृथक् रूपसे तादृश ज्ञान के अवस्थान नहीं होने से कर्म की स्वरूप सत्ता से ही ज्ञान सत्ता का व्यवहार होने से उस ज्ञान को भी जो कर्म ही देखता है । यहाँ भी कर्मभावविशिष्टज्ञान में, यह अर्थ नहीं है अपितु कर्मानुष्ठान समकालिक पूर्व पूर्व कर्म के परिणाम को ही ज्ञानरूप से व्यवहार विषयता होने से तादृश

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९

वस्यापि ज्ञानस्य कर्मैव यः पश्येत् । अत्रापि पूर्ववाक्यवत् कर्माभावविशिष्टज्ञान इति नार्थोऽपितु कर्मानुष्ठानसमकालिकपूर्वपूर्वकर्मपरिणतेर्ज्ञानत्वेन व्यवह्रियमाणतया तथाविधज्ञाने यः कर्मैव मयाऽनुष्ठीयत इति बुद्धिं विधत्ते स मनुष्येषु बुद्धिमान् युक्तः युक्तः कृत्स्नकर्मकृचास्ति ॥१८॥

उक्तं बुद्धिमत्त्वमुपपादयति—यस्येति। यस्य मुक्तिमिच्छतः पुरुषस्य । सर्वे सम्यगारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि । कामसङ्कल्पवर्जिताः कामः फलासक्तिस्तद्वर्जिताः सङ्कल्पः कर्तृत्वाभिनिवेशस्तद्वर्जिताश्च भवन्ति । अयम्भावः कर्मणि जीवस्य परमात्मा-ज्ञान में जो व्यक्ति मैंने कर्म का ही अनुष्ठान किया एसा बुद्धि को बनाता है वही पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान है वही पुरुष मुक्त है तथा अशेष कर्म को करनेवाला है ।

तात्पर्य यह कि जो कोई पुरुष कल्याण को चाहने वाला कर्म में अनुष्ठीयमान वर्णाश्रमोचित कर्मयोग में अकर्मात्मक ज्ञान को देखता है अर्थात् अनुष्ठीमान जो कर्म है वही मनोविशुद्धि द्वारा आत्मज्ञानरूपत्व को प्राप्त कर जाता है मुमुक्षु उस समय में कर्म को अपोहित करके कर्म भिन्न कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है परन्तु अनुष्ठोयमान जो कर्म है वही कर्म ज्ञानाकार हो जाता है । इसी तरह से अकर्म में अर्थात् स्वस्वरूप तथा परमात्मा स्वरूप का अनुसंधान करने वाले की ज्ञान में जो पुरुष कर्मयोग के अनुष्ठान करते हुए ज्ञानोत्पत्ति होने से उस ज्ञान को कर्म से पार्थक्यरूप से कथन करना अशक्य होने से उस ज्ञान को कर्माकार ही देखता है । कर्मयोग का अनुष्ठान होने से उस कर्मके मोक्ष साधकता होने से ज्ञानाकारता हो सकती है । कर्ममूलक होने से तादृश ज्ञान में कर्माकारता भी हो सकती है । सबुद्धिमान् इत्यादिक पूर्ववत् समझना चाहिये । इस प्रकार भाष्य संमत संपिण्डित अर्थ होता है । इस श्लोक का विशेष रहस्य तो सम्प्रदाय रहस्य वक्ता विद्वान् के साथ सत्संग करने से ही प्राप्त होगा । मैंने तो केवल भाष्याक्षर अनुवाद का ही प्रयास किया है ॥१८॥

पूर्वश्लोक में कहा कि "स बुद्धिमान्" वह बुद्धिमान अर्थात् पंडित है जो कर्माकर्म विभाग तथा स्वरूप को सम्यक् रूप से जानता है उस पुरुष में बुद्धिमत्त्व क्या है इस प्रकार की जिज्ञासा होनेपर तादृश बुद्धिमत्त्व का प्रदर्शन करने के लिये कहते हैं "यस्य सर्वे" इत्यादि । जिस मोक्षाभिलाषी पुरुष का समारंभ समीचीन रूप से आरभ्यमाण जो हो उसे कहते हैं समारंभ । अर्थात् कर्म राशि काम संकल्प से वर्जित है उसमें काम शब्द का अर्थ है फल में

यत्तत्कर्तृत्वमेवास्ति न तु स्वतन्त्रकर्तृत्वमि'ति सम्यगुपपादितं 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र.सू.२।३।४१) इत्यनेन सूत्रेणास्मत्सम्प्रदायाचार्यैर्भगवद्भिः श्रीबादरायणैः। तथा च 'न मयैतत्कर्मक्रियते किन्तु सर्वनियामकेन भगवता श्रीरामेणैव सम्पाद्यत' इत्येवं कर्मानुष्ठानवेलायामपवर्गमिच्छता पुरुषेण सर्वदा भावनीयम् फलञ्च भगवते श्रीरामायैव समर्पणीयम् तथा च कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या तत्कर्म न कर्तुर्बन्धाय भवेत्। न च जीवकर्तृत्वस्येश्वरायत्तत्व ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यदोषौ स्यातां जीवस्य विधिनिषेधयोर्वैयर्थ्यञ्च स्यादिति वाच्यम्' 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र.सूत्र २।३।४२) इति सूत्रेण दत्तोत्तरत्वात्। बुधा विद्वांसस्तं कामसङ्कल्पवर्जितं कर्मानुष्ठातारम् पण्डितं स्वात्मपरमात्मस्वरूपविवेकचतुरम्। ज्ञानमेवाग्निर्ज्ञानाग्निस्तेन दग्धानि कर्माणि यस्य तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणमात्मयाथात्म्यावबोधानलदग्धकर्माणमाहुः ॥१९॥

आशक्ति, तथा संकल्प शब्द का अर्थ होता है कर्तृत्वपना का अभिनिवेश तो तादृश फलाकांक्षा तथा अभिनिवेश से रहित है। यहाँ अभिप्राय यह है कि कर्म में जो जीव का कर्तृत्व है वह स्वाधीन नहीं है किन्तु परमेश्वराधीन ही है। इस बात को अर्थात् कार्य में जो जीव का कर्तृत्व है वह परमेश्वराधीन है नतु स्वतन्त्र कर्तृत्व है। इस विषय को "परात्तु तच्छ्रुतेः" इस ब्रह्मसूत्र में मेरे सम्प्रदाय के ७ वें आचार्य भगवान् श्रीबादरायण ने स्पष्टरूप से परमेश्वराधीन कर्तृत्व का सम्यक् रूप से विवेचन किया है। ऐसी स्थिति में मैं इस कर्म को नहीं करता हूँ परन्तु सर्वनियामक सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम से सभी कार्य की संपत्ति होती है, इस प्रकार संपादनावसर में मोक्ष फल को चाहनेवाले पुरुष से सर्वदा भावनीय है। और तादृश कर्म से जायमान जो फल विशेष है उस फल को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी में समर्पित कर दें। ऐसा होने से कर्म करने वाले उस पुरुष में कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति हो जाने से तादृश कर्म अनुष्ठाता पुरुष का कर्म बन्धन जनक नहीं होता है। नहीं कहें कि जीव का कर्तृत्व यदि परमेश्वराधीन हो तब तो परमेश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष होता है और जीव के लिये विधिनिषेध का वैयर्थ्य प्रसंग होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन दोनों दोष का उत्तर "कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः" इस ब्रह्म सूत्र में दिया गया है। इस सूत्र के तात्पर्य को मेरे आनन्दभाष्य प्रकाश में देखें एतादृश काम संकल्प वर्जित कर्म का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति विद्वान् लोग पंडित कहते है। स्वात्मा तथा परमात्मा का जो स्वरूप उसका जो विवेक यथार्थ ज्ञान तादृश ज्ञान में चतुर परिनिष्ठित जो हो उसका नाम होता है पण्डित स्व पर स्वरूप विवेक में निपुण जो बुद्धि उसका नाम हैं पण्डा और पण्डा

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

उक्तमेव स्पष्टतयाऽभिदधाति—त्यक्त्वेति । यः । कर्म फलासङ्गमनुष्ठीयमाने । कर्मण्यासक्तिम् । कर्तृत्वाभिनिवेशमित्यर्थ । फलासक्तिं कर्मफलभोगतृष्णाम् च । त्यक्त्वाऽपहाय । नित्यतृप्तो नित्ये स्वात्मनि स्वात्मनोऽप्यात्मभूते परमात्मनि वा तृप्तस्तुष्टिमापन्नः । तृप्तिनिमित्तानभिधानान्नित्यं तृप्त इत्यर्थस्त्वत्रोपेक्षणीय एव । निराश्रयः सर्वथा समाश्रयणीयभगवच्छ्रीरामव्यतिरेक्तेष्वाश्रयणीयत्वबुद्धिरहितः । सः । कर्मणि स्ववर्णाश्रमोचिते कर्मणि अभिवृत्तोऽप्याभिमुख्येन प्रवृत्तोऽपि । किञ्चिदपि कर्म नैव करोतीति भावः । तथा च नात्र भगवदुक्तौ व्याघातदोषशङ्काऽवसरः ॥२०॥

प्राप्त है जिसे उसका नाम है पण्डित एतादृश जो पण्डित तथा ज्ञानरूपी जो अग्नि उस ज्ञानाग्नि से नष्ट हो गया है कर्म जिसका वह है ज्ञानाग्नि दग्ध कर्मा अर्थात् आत्मा का यथार्थ बोध रूप अनल से दग्धकर्माव्यक्ति को प्राचीन विद्वानों ने पण्डित कहा है ॥१९॥

पूर्व श्लोक कथित जो अभिप्राय है उसी का पुनः स्पष्टरूप में प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "त्यक्त्वे त्यादि" जो अधिकारी विशेष अनुष्ठीयमान जो कर्म है उसमें कर्तृत्व का जो अभिनिवेश तत्स्वरूप जो आसक्ति तादृश आसक्ति को छोड कर के तथा कर्म से जायमान जो फल भोग तादृश फल भोग विषयक तृष्णा अर्थात् फल भोगाभिलाषा को "त्यक्त्वा" छोड करके तथा नित्य तृप्त अर्थात् नित्य जो स्वात्मा अथवा स्वकीय आत्मा का भी आत्म स्वरूप जो परमात्मा सर्वेश्वर श्रीराम उसमें सर्वदा तृप्ति को प्राप्त करने वाला, किसी टीकाकार ने नित्यतृप्त का अर्थ ऐसा किया है कि "तृप्ति का जो कारण उसका कथन नहीं करने से नित्य तृप्त है" परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं होने से उपेक्षणीय है । निराश्रय सर्वप्रकार से आश्रय करने के योग्य जो भगवान् श्रीरामचन्द्रजी उनसे भिन्न में आश्रयणीयता बुद्धि से रहित ऐसे को कहते है निराश्रय एतादृश जो व्यक्ति विशेष वह कर्म में अर्थात् वर्णाश्रम विहित कर्म में प्रवृत्त होते हुए भी कुछ भी कर्म नहीं करता है प्रत्युत कर्मानुष्ठान के व्याज से वह पुरुष विशेष ज्ञानाभ्यास को ही करता है । इसलिये भगवान् के कथन में व्याघात दोष की शंका नहीं होती है ॥२०॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥२२॥

कर्मणो ज्ञानाकारतामेव पुनरपि विविच्य प्रतिपादयतिनिराशीरित्यादिभिस्त्रिभिः । निर्गता आशिषो यस्मात् स निराशीः फलाकाङ्क्षाशून्यः । यतौ चित्तात्मनौ यस्य स यतचित्तात्मा नियतचित्तशरीरः । त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा येन स त्यक्तसर्वपरिग्रहः परित्यक्तसमस्तभोगोपकरणकः । भगवत्सुखैकप्रयोजन इत्यर्थः । केवलं शरीरं शरीरधारणार्थमेव कर्म कुर्वन्नपि किल्बिषं संसारं नाप्नोति ॥२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो यदृच्छया लाभो यदृच्छालाभस्तेन सन्तुष्टोऽनायासलब्धेन शरीरधारणहेतुवस्तुनैव तृप्तः । अधिकार्थं मनोज्ञार्थञ्च प्रवृत्तिमकुर्वाण इत्यर्थः । द्वन्द्वा-

कर्म ज्ञानाकारता को प्राप्त करता है इस बात का फिर भी विस्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं "निराशीरित्यादि" तीन श्लोकों से । निर्गत है आशिष अर्थात् चली गई है फल विषयक कामना जिसकी उसे निराशी कहते हैं । कर्मजन्य जो फल तद्विषयक आकांक्षा तृष्णारहित होकर और यतचित्तात्मा यत अर्थात् वशीकृत है चित्त और आत्मा जिसकी उसे यतचित्तात्मा कहते हैं अर्थात् जिस व्यक्ति ने अपने अन्तः करण मन और बाह्य करण चक्षुरादिक पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादिक पांच कर्मेन्द्रिय को अपने अधीन में कर लिया है । तथा त्यक्त है सर्व परिग्रह जिससे उसे त्यक्त सर्वपरिग्रह कहते हैं । परित्यक्त सम कृत भोगोपकरणवान् भगवान् का जो सुख तावन् मात्र है प्रयोजन जिसे एतादृश जो व्यक्ति वह केवल शरीर अर्थात् शरीर धारण मात्र के लिए कर्म को करता हुआ भी किल्बिष को अर्थात् पाप का उत्पादक संसार गति को प्राप्त नहीं करता है अर्थात् जो पुरुष परित्यक्त फल कामनावान् है त्यक्त सर्व परिग्रह है एवं जिसका अन्तः इन्द्रिय तथा बाह्येन्द्रिय वशीकृत है एतादृश पुरुष से शरीर धारण मात्र के लिये कर्म का "आचरण करने पर भी पापप्रयोजक संसार को प्राप्त नहीं करता है" एतादृश पुरुष से अनुष्ठीयमान कर्म बन्धकारक नहीं होता है यह भाव है ॥२१॥

"यदृच्छा लाभ से संतुष्ट" इति । यदृच्छा से जो लाभ उस यदृच्छा लाभ से सन्तुष्ट अनायास से प्राप्त न तु पर की पीडा को उत्पादन करके न वा अन्य व्यक्ति से प्रार्थना पूर्वक प्राप्त शरीर धारण में कारण जो वस्तु तावन्मात्र से मन में तृप्ति को धारण करने वाले अर्थात् अधिक संग्रह के लिये तथा मनोज्ञ वस्तु के लिये प्रवृत्ति को नहीं करनेवाला । द्वन्द्व से रहित अवर्जनीय जो शीतोष्णादिक उसे सहन करनेवाले तथा विमत्सर मेरे कर्म के निमित्त से ही मेरा अनिष्ट है इत्याकारक निश्चय से अन्यव्यक्ति में मात्सर्य शून्य सिद्धि तथा असिद्धि में

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

व्यतीतोऽवर्जनीयशीतोष्णादिद्वन्द्वसहनशीलः । विमत्सरो मत्कर्मनिमित्तकमेव मदनिष्टमितिनिश्चयेन परस्मिन् मात्सर्यशून्यः । सिद्धावसिद्धौ च समः समभावापन्नः । निर्विकार इत्यर्थः । कृत्वाऽपि कर्मानुष्ठायापि । न निबध्यते संसारं न प्राप्नोति ॥२२॥

किंच गतसङ्गस्य क्रियमाणकर्मणि तत्फले चासक्तिरहितस्य मुक्तस्य देहगेहादावासक्तिरहितस्य ज्ञानावस्थितचेतसः परमात्मार्पितमानसस्य परमपुरुषप्रीतये कर्माण्याचरतः पुरुषस्य समग्रं कृत्स्नमनादिकालसंचितं कर्म प्रविलीयते समुत्पन्नभगवत्साक्षात्काराद्विनश्यतीत्यर्थः ॥२३॥

समभाव को प्राप्त हुआ अर्थात् निर्विकार सभी प्रकार के विकार से रहित जो पुरुष अर्थात् स्वकीय प्रारब्ध कर्म का जो कार्य है लाभालाभ उसमें मन के वैषम्यभाव को नहीं प्राप्त करने वाला पुरुष कर्म कोनहीं करके भी सर्वदा कर्म को करता हुआ साधनान्तर से निस्पृह पुरुष उन अनेक प्रकार के कर्म करने पर भी निबद्ध नहीं होता है संसार गति को प्राप्त नहीं करता है प्रत्युत एतादृश पुरुष से क्रियमाण जो कर्म वह मुक्ति रूप को ही उत्पादित करने वाला होता है न तु संसार गति का प्रापक होता है ॥२२॥

और भी देखिए जो गतसंग है अर्थात् क्रियमाण जो शास्त्र विहित कर्म है अग्निहोत्र भगवद्भजनादिक उस कर्म में तथा तादृश कर्म से जायमान जो स्वर्गादिक शुभाशुभ फल तादृश कर्म तथा तत्फल में आसक्ति रहित है । तथा जो मुक्त है अर्थात् गृहपुत्र कलत्रादिक बाह्य वस्तु में शरीरेन्द्रियक आन्तर पदार्थ में आसक्ति रहित है । तथा ज्ञानावस्थितचित्त है परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी में समर्पित है मन जिनका अर्थात् भगवान् की जो उपासना उस उपासना से प्राप्त जो स्मरण विशेष उस स्मरण का विषयीभूत परमात्मा महापुरुष में अवस्थित है मन जिनका ऐसा जो साधक विशेष ऐसे साधक से परम पुरुष के प्रीतिप्रयोजक किया हुआ जो कर्म वैसा कर्माचरण करनेवाले पुरुष का समग्र कृत्स्न अनादिकाल से संचित जो कि दुःखजनक था वह सभी कर्म भगवान् के साक्षात्कार होने से नाश हो जाता है । जैसे भर्जित बीज अंकुरात्मकफल देने में समर्थ नहीं होता है । अपितु वनाग्निदग्धवेत्र बीज वेत्रांकुर काजनक न होकर कदलीकाण्ड का जनक होता है । उसी प्रकार प्रकृत में भगवत्प्रीत्यर्थ क्रियमाणकर्म संसारफल दुःखरूप अंकुर को विनष्ट करके ज्ञान से उत्पादन होने के योग्य मोक्ष रूप नित्यफल को देता है ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

प्रकारान्तरेण ज्ञानाकारत्वमुपपादयति—ब्रह्मार्पणमिति । अर्पणमर्प्यतेऽग्नौ प्रक्षिप्यते हविरनेनेत्यर्पणं जुहूस्रुगादिकं ब्रह्म ब्रह्मकार्यत्वात् ब्रह्मात्मकमर्पणं स्रुगादिकं यस्य तद्ब्रह्मार्पणम् । ब्रह्मब्रह्मात्मकं हविर्होमद्रव्यम् । ब्रह्मणा ब्रह्मात्मकेन कर्त्रा । ब्रह्मात्मकोऽग्निराहवनीयादिस्तस्मिन् । हुतं त्यक्तम् । इति ब्रह्म ब्रह्मात्मकं कर्म ब्रह्मकर्म तस्मिन् समाधिरनुसन्धानं यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन कर्त्रा । ब्रह्म "इति रामपदेनासौ पर ब्रह्माभिधीयते" इतिश्रुतिप्रतिपादितं परात्परं ब्रह्म भगवान् श्रीरामः एव । नत्वनित्यं स्वर्गादिकमित्यर्थः । गन्तव्यं प्राप्तव्यम् ॥२४॥

कर्म की ज्ञानाकारता का प्रकारान्तर से पुनः प्रतिपादन करते हैं अर्थात् वर्णाश्रमोचित जो नित्यनैमित्तिक कर्म है उसमें ज्ञानाकारता का कथन करके पुनः उसी कर्म के ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने योग्य जो परमेश्वर है उसमें तदात्मकता का अनुसन्धान कर उसमें उपयोगिता को बतलाने के लिये कहते हैं "ब्रह्मार्पण मित्यादि" शास्त्रोक्त संस्कार द्वारा संस्कृत जो गार्हपत्यादिक अग्नि उस अग्नि में अर्पित हो प्रक्षिप्त हो हवि घृतादिक जिसके द्वारा उसका नाम है अर्पण अर्थात् श्रुव जुहु प्रभृतिक प्रक्षेप का साधन वहब्रह्म हैं ब्रह्मका कार्य होने से ब्रह्मात्मक अर्पण श्रुव जुहु प्रभृति साधन है जिसका उसे ब्रह्मार्पण कहते हैं । हवि होम द्रव्य अर्थात् अग्नि में क्षेपण का कर्म लक्षण घृत चरु पुरोडासादिक वह भी ब्रह्म ही है ब्रह्म कार्य होने से ।

"ब्रह्मणाहुतम्" ब्रह्म से अर्थात् ब्रह्म स्वरूप कर्ता से । ब्रह्मरूप अग्नि में आहवनीयादि अग्नि हुत त्यक्त प्रक्षिप्यमाण जो हवि ब्रह्मात्मक जो कर्म उस ब्रह्मात्म कर्म में समाधि अनुसंधान है जिसे उसे कहते हैं ब्रह्म कर्म समाधि उस ब्रह्म कर्म समाधिकर्ता से "इतिरामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते" इस श्रुति से प्रतिपादित जो परात्पर सर्वेश्वर श्रीसाकेतविहारी श्रीराम ही ब्रह्मपदवाच्य हैं उन ब्रह्मात्मकश्रीरामजी को यथोक्त कर्मकारी कर्ता प्राप्त करता है नतु अनित्य स्वर्गादिक फल को प्राप्त करता है । यथोक्त रूप से कर्म को ब्रह्मस्वरूपता के अनुसंधान के अनन्तर में वही कर्म ज्ञानाकारता को धारण करके ब्रह्मप्राप्ति स्वरूपमोक्ष को देता है । नतु मोक्षातिरिक्त फल को देता है । इसमें पूर्वप्रतिपादितकर्म से अतिरिक्त कोई ज्ञानादिरूप उपायान्तर की आवश्यकता नहीं होती है इस प्रसंग का विशेष विचार गीतातत्त्वमीमांसा विवरण प्रभृति मेरे अन्य ग्रन्थों में देखें ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।२६।

यज्ञान्तराणि ब्रूते—दैवमिति । अपरेऽन्ये । कर्मयोगिनः । दैवमिन्द्रादिदेवार्चनात्मकम् । यज्ञम् । पर्युपासते सेवन्ते । अपरे केचित्तु यज्ञं यागहोमार्हं द्रव्यम् । यज्ञेनैव यज्ञसाधनस्रुगादिनैव । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मात्मकेऽग्नौ । उपजुह्वति प्रक्षिपन्ति ॥२५॥

अन्ये योगिनः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि हविष्ट्वेन भावितानि संयमाग्निषु संयमा एवाग्नयस्तेषु जुह्वतीन्द्रियसंयमनमेवानुतिष्ठन्ति । अन्ये च तत उत्कृष्टाः कर्मयोगिनः

पूर्वोक्त प्रसार से कर्म के स्वरूप का उपन्यास करके उस कर्म के ज्ञान घटित होने से ज्ञानाकारता का उपपादन करके उसमें ब्रह्म स्वरूपत्व के अनुसंधान से ब्रह्म की प्राप्ति रूप ही फल उपलब्ध होता है इस लिये वक्ष्यमाण जो अनेक प्रकार के यज्ञ ततदपेक्षया इस ब्रह्म यज्ञ में श्रेष्ठत्व को बतलाने के लिये यज्ञान्तर को बतलाते हैं "दैवमेवापरे" इत्यादि ।

अन्य कोई कोई कर्मयोगी लोग दैव वरुणादि देवता के आराधनात्मक यज्ञ को करते हैं अर्थात् इन्द्रादि देवताओं को उद्देश्य करके घृतादि होतव्य पदार्थ का अग्नि में प्रक्षेपात्मक यज्ञ का ही संपादन करते हैं तत्तत् फल की कामना को अपने मन में रख करके । ये कर्मयोगी कर्ममात्र में श्रद्धाशील हैं । इस पूर्वोक्त कर्ममात्र श्रद्धाशील कर्मयोगी अधिक योगी जिनको शुद्ध कर्मानुष्ठान से ज्ञान उत्पन्न हो गया अर्थात् ज्ञानयोगीलोग यज्ञ के याग होम के योग्य घृतादि द्रव्य को यज्ञ से अर्थात् यज्ञ का साधन (करण) जो स्रुवादिक है उस स्रुव जुहू के द्वारा ब्रह्मकार्य होने से ब्रह्मात्मक अग्नि में प्रक्षेप करते हैं । ये योगीलोग केवल अग्नि में ही ब्रह्मस्वरूपता के माननेवाले होने से गत पूर्वश्लोक प्रतिपादित ब्रह्मवित् की अपेक्षा अल्पज्ञ हैं क्योंकि साधनमात्र में ही वर्तमान होने से पूर्व श्लोकोक्त अधिकारी की अपेक्षा कनिष्ठ है ॥२५॥

यज्ञ परम्परा तथा तादृश यज्ञकर्ता में न्यूनाधिकभाव को बतलाने के लिए कहते हैं "श्रोत्रादीनीत्यादि" पूर्वोक्त कर्म योगी की अपेक्षा उत्कृष्ट कोई योगी श्रोत्रादिक बाह्यआभ्यन्तर इन्द्रिय समुदाय को जो कि प्रक्षेपणीय हविरूपसे भावित है उसइन्द्रिय समुदाय को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं । इन्द्रिय का संयमन करते हैं । इस पूर्वोक्त कर्मयोगी की

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

शब्दादीन् विषयानिन्द्रियाग्निषु जुह्वति सर्वथाऽक्षुब्धमना मोक्षसाधनाऽविघातकान् परिमितानेवाहारविहारादीन्विषयानुपसेवन्ते । वस्तुतस्तेऽपीन्द्रियसंयमनमेव कुर्वन्ति तेषामयमेव विलक्षणो होम इति भावः ॥२६॥

ततोऽप्यधिकसाधनावतो योगिनो दर्शयति सर्वाणीति । अपरे च योगिनो ज्ञानदीपित उपनिषद्विचारधारा संधुक्षित आत्मनो मनसः संयमो विषयवैतृष्ण्येनात्मनि स्थिरीकरणं योगः स एव मनः कल्मषनाशकत्वादग्निस्तस्मिन्नग्नौ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि-श्रवणस्पर्शनादीनि पञ्चप्राणानां कर्माण्यूर्ध्वगमनाधोगमनादीनि जुह्वति । मनोवृत्तेः प्राणेन्द्रियकर्मप्रवाहान्निवर्त्याऽत्माभिमुख्ये स्थापयन्तीत्यर्थः ॥२७॥

अपेक्षा उत्कृष्ट अन्य कोई कर्मयोगी हविः स्वरूप से भावित शब्दादिक विषय को इन्द्रियरूप अग्नि में प्रक्षेप करते है । सर्वथा अक्षुभित मनहोकर मोक्ष साधन में विघ्न नहीं करनेवाला ऐसा जो प्रमाण प्रमित आहारविहारादिक विषय हैं उनका सेवन करते हैं । वस्तुतः ये लोग भी इन्द्रिय संयम को ही करते हैं इन लोगों का यही विलक्षण होम है । कोई तो इन्द्रियरूपी हविष का त्याग करते हैं संयमरूपी अग्नि में और कोई तो शब्दादिक विषय रूप हवि का त्याग करते हैं इन्यिरूपी अग्नि में ॥२६॥

पूर्वयोगीकी अपेक्षा अधिक साधनावान् उत्कृष्टयोगी को दिखाने के लिये कहते हैं अर्थात् कठवल्ली में कहा है "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाअर्थेभ्श्च परंमनः" इन्द्रियापेक्षया अर्थ शब्दादिक विषय उत्कृष्ट है और विषयापेक्षया भी उत्कृष्ट मन है इस श्रुति कथित प्रकार से इन्द्रिय का संयमरूपी अग्नि में प्रक्षेप बतलाया इन्द्रियापेक्षया विषय का हवन इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन अर्थात् संयमन कह करके विषयापेक्षया उत्कृष्ट मन को संयमन बतलाने के लिये कहते हैं— "सर्वाणीत्यादि" पूर्वकथित योगी से भिन्न कोई योगी । ज्ञानदीपित उपनिषद् वाक्य का जो विचारप्रवाह से संदीपित आत्मा अर्थात् मन उस मनका जो संयम विषय के वैतृष्ण्य से आत्मा में मन का स्थिरीकरण तद्रूप जो योग तादृश योगरूपी अग्नि में (मननिष्ठकलुषता के विनाश करने के कारण उस योग में अग्नि का औपचारिक व्यवहार हैं।) उस आत्मसंयम योगाग्नि में सभी इन्द्रिय श्रोत्रादिका जो कार्य है दर्शन श्रवणादिक उसे तथा पांच जो प्राण अपानादिक का कर्म है ऊर्ध्वगमन अधोगमनादिक इन सबका हवन करते हैं । मन की जो वृत्ति है उसे प्राण तथा इन्द्रिय का जो कर्म कार्य प्रवाह उसे भी निवृत्त करके आत्मा

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अन्ये यज्ञकर्मानुयायिनो द्रव्ययज्ञाः स्वशरीरायासेन प्रभूतं द्रव्यं सम्पाद्य तस्य गोविप्रगुरुदेवातिथिरूपेषु सत्पात्रेषु विनियोग एव यज्ञो एषांते द्रव्ययज्ञा यज्ञाधिकारिणः केचित् तपः यज्ञो येषान्ते तपो यज्ञास्तपस्विनः फलाहारिणः स्थण्डिलशायिनः पञ्चाग्निसेविनो जटावल्कलधारिणस्तस्थापरे योगो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधिरूपो यज्ञो येषान्ते योगनिष्ठापरायणाः केचित् स्वाध्याययज्ञाः स्वाध्याय आम्नायाध्ययनमेव यज्ञो येषान्ते वेदाध्येतारोऽन्ये च ज्ञानयज्ञा ज्ञानं वेदान्तार्थविचार एव यज्ञो येषान्ते ब्रह्मविद्याभ्यासवन्तः । एते सर्वेऽपि यतयः शश्वत्प्रयत्नशीलाः संशितव्रताः संशितं सम्यक्शितमतितीक्ष्णं व्रतं येषान्ते दृढव्रता भवन्ति ॥२८॥

की तरफ स्थापित करते हैं। प्राणेन्द्रियादिका जो व्यापार वे सभी मन के अधीन हैं अतः मन के निरोध होने से उनका जो कर्म अर्थात् कार्य हैं उनका निरोध तो पुनरामेव हो जाता है तादृश निरोध को ही यहाँ हवन रूप से प्रतिपादित किया गया है ।२७॥

इस यज्ञ प्रकरण में बारह प्रकार का यज्ञ कहा गया है जिसमें कथित श्लोकत्रय से पांच यज्ञ का प्रतिपादन करके प्रकारान्तर से अवशिष्ट यज्ञ को बतलाने के लिए कहते हैं "द्रव्ययज्ञाः" इत्यादि । उसमें से कोई कोई द्रव्ययज्ञ है शारीरिक वाचिक मानसिक प्रयास से धर्मानपेत पुष्कल धन का संचय करके संचित उस द्रव्य का गो ब्राह्मण गुरुदेवातिथि प्रभृतिक सत्पात्र विहित देशकाल में जो विनियोग किया जाय उसे द्रव्ययज्ञ कहते हैं और एतादृश द्रव्य यज्ञ हैं जिनका वे द्रव्ययज्ञ कहे जाते हैं। तथा कोई कोई 'यज्ञाधिकारी तपोयज्ञ होते हैं चान्द्रायण कृच्छ्रचान्द्रायण शास्त्रोक्त उपवासादि रूप तप ही यज्ञ है जिनका वह तपोयज्ञ है तपस्या करनेवाले फलाहार करनेवाले भूमिपर शयन करनेवाले पंचाग्नि सेवन करनेवाले जटा वल्कलधारी ये सब तपोयज्ञ कहलाते हैं। कोई योगयज्ञ होते हैं यम नियम प्रणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधि रूपयज्ञ है जिनका वे योगयज्ञ हैं योगनिष्ठ में परायण हैं। कोई स्वाध्याययज्ञ होते हैं वेद का अध्ययन ही है यज्ञ जिनका वे वेदाध्यायी हैं ये स्वाध्याय यज्ञ कहलाते हैं । ज्ञान अर्थात् वेदान्तार्थ का विचार है यज्ञ जिनका वह ज्ञानयज्ञ कहलाता है जो ब्रह्म विद्या में सदैव तत्पर रहते हैं। ये सभी यति लोग हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं । संशित हैं सम्यक् तीक्ष्णीकृत हैं व्रत जिनके तादृश ऐश्वर्य सब दृढव्रत होते हैं ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपाने तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

प्राणायामयज्ञमाह अपरे केचित् कर्मयोगिनोऽपान आभ्यन्तरगमनवृत्तिके वायौ प्राणं बाह्यगमनवृत्तिकं वायु जुह्वति प्रयत्नादेकीकृत्य स्थापयन्ति, तथोक्तवृत्तिके प्राणे-निरुक्तवृत्तिकमपानं वायुं जुह्वति प्रयत्नादेकीकृत्य स्थापयन्ति, एवमेव प्राणापानगति रुद्ध्वोर्ध्वसंचरणरूपां प्राणस्य गतिमधःसंचरणरूपामपानस्य गतिश्च मध्यस्थाने एवा-वरुद्ध्य प्राणायामपरायणा ये भवन्ति पूरकरेचककुम्भकाख्यप्राणायामं कुर्वाणास्तिष्ठन्ति ते प्राणायामयज्ञा इति समुदितार्थः। द्वादशयज्ञमभिधत्ते–अपर इति। अपरे योगिनो नियताहाराः शुद्धमिताहाराः सन्तः प्राणान् प्रवृत्तवेगान् सेन्द्रियान् सर्वान् प्राणान् प्राणेषु प्राणायामादिप्रयत्नाद्वशीकृतेषु जुह्वति प्रयत्नपूर्वकं स्थापयन्ति ते। एवमस्मिन् प्रकरणे द्वादशयज्ञोनुष्ठानवैलक्षण्यादभ्यधायि। योगयज्ञे योगाङ्गतयाऽनुष्ठीयमानात्प्रा-णायामादिमौ विशिष्टप्राणायामसाध्याविति विशेषः। एते दैवयज्ञादिद्वादशयज्ञकर्त्ता-

अब डेढ श्लोक से एकादश द्वादश प्राणायाम यज्ञ को बतलाते हैं–"अपाने" इत्यादि। अन्य कोई कोई कर्मयोगी अपान में अर्थात् आभ्यन्तर गमनवृत्तिक वायु विशेष में प्राण को अर्थात् बाह्यगमन वृत्तिक वायु विशेष का हवन करते हैं, प्रयत्न पूर्वक एक करके स्थापित करते हैं अर्थात् अधः प्रवहण वृत्तिक धर्मी में प्राण को ऊर्ध्वप्रहरण वृत्तिक धर्मीको तत्तद्वृत्ति द्वारा प्रयत्न पूर्वक एकीकरण करते हैं। ऐसा करने से पूरक नामक प्राणायाम संपन्न होता है। इसी तरह यथोक्त वृत्तिक प्राणवायु में यथोक्त वृत्तिक प्राणवायु में सवृत्तिक अपान वायु का हवन करते हैं। प्रयत्न पूर्वक एकीकरण करके स्थापित करते है ऐसा करने से रेचक नामक प्राणायाम करते हैं। इसी तरह प्राण तथा अपानवायु की वृत्ति को रोक करके ऊर्ध्व संचरण लक्षण प्राणवायु गति को और अधः संचरणरूप अपानवायु की गति को मध्यवस्थान में हृदय में अवरोधित करके जो कर्मयोगी प्राणायाम में परायण अर्थात् तत्पर होते हैं वे पूरकरेचक कुम्भक नामक प्राणायाम का संपादन करते हुए स्थिर रहते हैं, इसका नाम होता है प्राणायाम यज्ञ यह संमिलित अर्थ है। अर्थात् प्राणवायु की गति को रोक कर अपानवायु में लीन करना इसका नाम है पूरक प्राणायाम तथा उभयवायु की गति को रोककर हृदयदेश में व्यवस्थित करके स्थापित करने का नाम होता है कुम्भक नामक प्राणायाम। इस प्रकार प्राणायाम का मन्द तीव्रता मध्यम भेद से तथा दीर्घ सूक्ष्मादि भेद से अनेक प्रकार का होता है। ये सभी प्राणायाम प्राणायाम यज्ञ से संगृहीत होते हैं ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

रस्सर्वेऽपियज्ञविदो वर्णाश्रमधर्ममनुतिष्ठन्तस्तादृशकर्मयोगयज्ञरहस्यविदोऽत एव यथा-विधानुष्ठितयज्ञेन क्षपितमखिलकल्मषं येषान्ते तथा यज्ञशिष्टामृतभुजः प्रत्यहं नित्य-कर्मतया भगवन्नैवेद्यवैश्वदेवादियज्ञस्य सर्वैः क्रियमाणत्वात्तच्छिष्टत्वादमृतपदव्य-पदेश्यं तदन्नं भुञ्जन्ति तच्छीलास्तदुक्तं पाद्मे—'ये वैश्वदेवनिरता विप्राद्या वैष्णवा-स्तु ते । यल्लब्धं भगवद्भुक्तं तस्मादादाय चांशकम् । तेन कृत्वा वैश्वदेवमशि-ष्टांशकेन तु । कुर्यात्प्राणादियात्रान्तु विधानेन द्विजोत्तम' इति । एवञ्च यथा दर्श-पौर्णमासादियज्ञशिष्टस्य पुरोडाशादेरमृतत्वं तथा भगवन्नैवेद्ययज्ञशिष्टस्य भगवत्प्रसा-दस्याऽप्यमृतत्वम् । तादृशामृतभोजिनः पुरुषाः सनातनं ब्रह्म यान्ति । संसारबन्ध-नान्मुक्ताः सन्तः परमपदवाच्यं भगवद्धाम प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यस्तु यज्ञकर्मानुष्ठानं

अब द्वादश यज्ञ का कथन करते हैं "अपरेनियताहारा" इत्यादि तीसवां श्लोक से । इससे भिन्न कोई कर्मयोगी नियत आहार शुद्ध परिमित आहार के स्वरूप का प्रदर्शन इस प्रकार से किया गया है ।

"द्वौभागौ पूरयेदन्नै स्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचरणार्थं च चतुर्थमवशेषयेत् ॥"

उदर के दो भाग को अन्न के द्वारा पूर्ण करे तथा तृतीयांश को जल से पूर्ण करे एवं चतुर्थ अंश को वायु के श्वाशोच्छ्वास के संचरण करने के लिये खाली रखें इस कथित प्रकार से जो आहार होता है उसे परिमित आहार कहते हैं । एवं लशुन गृञ्जनादिक जो शास्त्र प्रतिषिद्ध आहार है उस को छोडकर हविष्यान्न का ग्रहण करने का नाम होता है शुद्धाहार तथा प्रमाण परिमित अहारवाले प्रवृद्ध है वेग जिसका ऐसा तथा इन्द्रिय विशिष्ट सभी प्राण को प्राणायाम प्रक्रिया से वशीकृत प्राण में प्रयत्न पूर्वक स्थापित करते हैं । उन्हीं लोगों का इस प्रकरण में बारह यज्ञ के अनुष्ठान की विलक्षणतासे कथन किया गया है । योग यज्ञ में योग के अंगरूप से अनुष्ठीयमान जो प्राणायाम उस प्राणायाम की अपेक्षा ये जो दो प्राणायाम हैं वे विशिष्ट हैं इसलिये इन दोनों प्राणायाम यज्ञ का योग यज्ञ से पार्थक्येन निर्देश किया गया है ।

चित्तवृत्ति निरोध को योग कहते हैं । उस योग का यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधि ये आठ अंग है, तब योग यज्ञ में योग का अंगरूप जो प्राणा-याम उसका समावेश हो जाता है तब योग यज्ञ से पार्थक्येन अतिरिक्त प्राणायाम यज्ञ का कथन करना निरर्थक प्राय ज्ञात होता है और जब निरर्थक है तब उस भेद से यज्ञ में द्वादश

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

न करोति तस्य जीवनमेव व्यर्थमित्याह नेति । हे कुरुसत्तम ! अयज्ञस्य प्रोक्तेषु यज्ञेषु मध्ये एकमप्यकुर्वतो नित्ययज्ञाद्यकुर्वत इति यावत् । अयं लोको ब्रह्मलोकेतर-लोको प्राकृतलोक इति यावत् । नास्ति अन्यो ब्रह्मलोकस्तु कुत एव स्यादित्यर्थः ॥२९-३०-३१॥

भेद कथन अयुक्त है । तथापि योग यज्ञ के अन्तर्गत प्राणायाम का जो अनुष्ठान होता है वह अंगरूप से होता है । यहाँ प्राणायाम का जो अनुष्ठान होता है वह विशेष रूप से होता है इसलिये योग यज्ञ से अतिरिक्त प्राणायाम यज्ञ का प्रतिपादन किया है । ऐसा भाष्य ग्रन्थ का अभिप्राय विदित होता है ।

पूर्वोक्त प्रकार से कथित जो बारह प्रकार का यज्ञ है उसका फल क्या है ? तो ब्रह्म प्राप्ति इनका फल है इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं भाष्यकार "एते दैवयज्ञादीन्यादि ग्रन्थ से । ये जो देव यज्ञ प्रभृति द्वादश यज्ञ हैं इस द्वादश प्रकारक यज्ञ के संपादन करनेवाले सभी के सभी यज्ञविद हैं अर्थात् वर्णाश्रम विहित धर्म का अनुष्ठान करते हुए कर्मयोग रहस्य को जानने वाले हैं । अतएव शास्त्र प्रतिपादित यज्ञ के अनुष्ठान करने से क्षपित कल्मष पाप जिनका ऐसा तादृश व्यक्ति विशेष यज्ञ शिष्ट अमृत भोजन शील है । प्रतिदिन नित्य कर्मत्वेन भगवान् का जो नैवेद्य वैश्व देवादि यज्ञ का सत्रो के संपादन करने से यज्ञ शेष अत एव अमृत पद से कथित उस अन्न को खाते हैं एतादृश स्वभाव वाले होते हैं । ऐसा पद्म पुराण में कहा है "हे द्विजोत्तम जो ब्राह्मण प्रभृति वैश्व देव यज्ञ में संलग्न हैं वे वैष्णव हैं । भगवत्समर्पित जो अन्न प्राप्त हुआ है उस में से एक अंश लेकर वैश्व देव यज्ञ का संपादन करके अवशिष्ट भगवत्समर्पित अन्न से विधिपूर्वक प्राणयात्रा को चलावे" इति । एवञ्च जिस प्रकार दर्श पूर्णमास यज्ञ करने के बाद अवशिष्ट जो पुरोडाशादिक है वह अन्न अमृत कहलाता है उसी प्रकार भगवन्नैवेद्य यज्ञ शिष्ट जो भगवान् का प्रसाद है वह भी अमृतवत् अमृतपद वाच्य ही है । भगवत् प्रसाद रूप अमृत भोजन करनेवाले ये सभी महापुरुष सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं । अर्थात् संसारात्मक बन्धन से मुक्त होते हुए परमपदवाच्य भगवद्धाम साकेत को प्राप्त करते हैं ।

अनेक जन्मार्जित पाप कर्म के उदय से जो व्यक्ति विशेष परमपद को प्राप्त कराने वाला यज्ञ कर्म का अनुष्ठान नहीं करता है उसका इस लोक में जन्म और जीवन निरर्थक है

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।३२।

एवं निरुक्तप्रकारेण बहुप्रकारा यज्ञा ब्रह्मणो वेदस्य मुखे प्राथमिके कर्मकाण्डे वितता विस्तरशः प्रतिपादिताः । तान् सर्वान् कर्मजान् नित्यनैमित्तिककर्मभ्यो जातान् विद्धि । एवमुक्तप्रकारेण सम्यक्परिज्ञाय भगवत्प्रसत्तिकराणि नित्यनैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठाय विमोक्ष्यसे नान्यथा ॥३२॥

इस बात को बतलाते हैं "नायमित्यादि" हे कुरुसत्तम ! अयज्ञ पुरुष को कथित यज्ञ में से एक भी यज्ञ को नहीं करनेवाले व्यक्ति को अर्थात् नित्य यज्ञकर्म नहीं करने वाले व्यक्ति को यह लोक अर्थात् ब्रह्म लोक से भिन्न जो यह प्राकृत लोक है वह नहीं मिलता है । और इस लोक से भिन्न जो ब्रह्म लोक है वह तो कहाँ से प्राप्त होगा ! जिसने यज्ञ कर्म का संपादन नहीं किया उसे यह लोक भी प्राप्त नहीं होता है क्योंकि शास्त्र का कथन है कर्मानुष्ठान करने से ही कर्म फलात्मक लोक की प्राप्ति होती है । तो इस कारण लक्षण यज्ञका अनुष्ठान तो किया नहीं तब ब्रह्म लोक प्राप्ति तो दूर रही अन्य लोक प्राप्ति भी नहीं होगी क्योंकि नियत कर्मानुष्ठन से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान के बल से मोक्ष की प्राप्ति होती है तो नित्य यज्ञज्ञान के बिना मोक्ष भी किस प्रकार मिल सकता है ॥२९॥३०॥३१॥

अवान्तर भेद प्रदर्शन पूर्वक कर्मयोग का निर्वचन अतीत सन्दर्भ से किया गया अब उस कर्म योग में वेद मूलकत्व का समर्थन करने के लिये कहते हैं अर्थात् यह जो पूर्वोपदर्शित सभेद कर्म योग है वैदिक सम्प्रदाय सिद्ध अनादि परम्परा प्राप्त है अवेदमूलक नहीं है इसे प्रदर्शित करने के लिये कहते है "एवमित्यादि" एवम् अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिपादित जो यज्ञ है वह अनेक प्रकारक है । वह यज्ञ ब्रह्म अर्थात वेद के मुख में प्रथम काण्ड कर्म काण्ड में "इषेत्वा" इत्यादि प्रकरण में व्यक्त है अर्थात् विस्तार भेद प्रभेद रूप से प्रतिपादित है । उन सभी यज्ञ को कर्मजन्य नित्य नैमित्तक कर्म से जायमान समझो । अर्थात् ये सभी यज्ञ नित्य नैमित्तिक कर्म से ही उत्पन्न होते हैं ऐसा जानना चाहिये । एवं यथोक्त प्रकार से समीचीन रूप से जानकरके भगवान् की जो प्रपत्ति उसे उत्पन्न करनेवाला जो नित्य नैमित्तिक कर्म है उसका यथा शास्त्र अनुष्ठान करने परही संसार बन्धन से विमुक्ति हो सकेगी अन्यथा संसार बन्धन से विमुक्ति होने का कोई प्रकारान्तर नहीं है ॥३२॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ? ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ? ज्ञाने परिसमाप्यते ।३३।

अथाभिहितेषु द्वादशयज्ञेषु प्रधानभूतस्य ज्ञानयज्ञस्यैव श्रेष्ठत्वमुच्यते श्रेयानिति । हे परन्तप ! शत्रुनिवारणसमर्थ ? द्रव्यमयाद्यज्ञात् दैवमेवापरेयज्ञमित्यारभ्य द्वादशयज्ञा निर्दिष्टास्तेभ्यो ज्ञानयज्ञः श्रेयान् द्रव्ययज्ञसम्पादने ह्यासक्तिरवश्यमुपजायतेऽतस्तेभ्योऽनासक्तिमतो ज्ञानयज्ञस्यैव ज्यायस्त्वमित्यर्थः । एतेन 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन' (गी. ३।१) इत्यस्योत्तरं दत्तम्भवति । अयमाशयः कर्मणामवश्यानुष्ठेयत्वेऽपि अहं कर्ताऽस्य कर्मणोऽहमेव फलभोक्ता मयेदमनुष्ठितमित्यभिमानमास्थाय यदि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते तदा तेषां ज्ञानापेक्षया लघीयस्त्वमेव । एतदभिप्रायेणैवोक्तं

पूर्वप्रतिपादित कर्मात्मक द्वादश यज्ञ में प्रधानभूत ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "श्रेयानित्यादि" हे परन्तप ! शत्रु को उन्मूलित करने में कुशल अर्जुन ! द्रव्यमययज्ञ से "दैवमेवापरे यज्ञम्" यहाँ से लेकर जो बारह प्रकार का यज्ञ निर्दिष्ट किया गया है उन यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानलक्षण जो यज्ञ है वह अतिशयरूप से प्रशस्त है क्योंकि द्रव्ययज्ञ के संपादन करने में कर्ता को अवश्यमेव अंश से भी आसक्ति होती है इसलिये उन यज्ञों की अपेक्षा आसक्ति रहित विद्वान् से क्रियमाण ज्ञानयज्ञ को ही ज्यायस्त्व है । यद्वा द्रव्ययज्ञ साक्षात् अथवा परम्परा हिंसादि सांकर्यलेश से भी अवश्य सम्मिलित रहता है और ज्ञानयज्ञ हिंसादि सांकर्य से रहित है तथा मोक्षप्रापक भक्ति के उत्तेजक होने से अन्य यज्ञापेक्षया अतिशयेन श्रेष्ठ है । अथवा ज्ञान और क्रिया में दो अंश कर्म के हैं उनमें से क्रिया अंश की अपेक्षा ज्ञान अंशप्रधान होता है अतः कर्मापेक्षया ज्ञानयज्ञ में श्रेष्ठत्व माना जाता है इससे "ज्यायसीचेत्" इस प्रश्न का यह उत्तर संभवित होता है । इस प्रकृत ग्रन्थ का यह आशय है "कर्म को अवश्य अनुष्ठेयत्व होने पर भी" मैं ही अमुक कर्म को करनेवाला हूं और इस कर्म से होनेवाला जो स्वर्गादिक फल है उसका भोक्ता हूं मैंने इस कर्म का अनुष्ठान किया है, इस प्रकार का जो अभिमान उस अभिमान को लेकर यदि कर्म का अनुष्ठान किया जाता है तबतो उन कर्मों को अर्थात् साभिमान अनुष्ठित जो कर्म वह ज्ञान की अपेक्षा अत्यन्त लघु है । एतादृश साभिमान अनुष्ठित कर्म के अभिप्राय से ही "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय" हे धनञ्जय ! बुद्धियोग की अपेक्षा साभिमान अनुष्ठित कर्म अत्यन्त अवर (कनिष्ठ) है । यदि कर्म के अनुष्ठान करने पर भी उस कर्म में अभिमान हो आसक्ति न हो किन्तु कर्म करते हुए भी ऐसा समझें कि मैं केवल भगवान् की आज्ञा का पालन करता हूं, मुझे किसी

'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' (गी.२।४९) यदि तु कर्माऽनुष्ठानेप्यासक्ते रभावो 'भगवदाज्ञापालनमेव मया क्रियते न हि कस्य चित्फलस्येच्छया किमपि कर्मा नुष्ठीयते' इति निश्चयेन कर्मानुष्ठीयते तदा तादृशं कर्म ज्ञानाकारतामाप्नुवानं श्रेयस्त्वमाश्रयति । अतो ज्ञानांशमादायैव कर्मणोज्यायस्त्वं निष्पद्यते । एतदभिप्रायेणैव ज्ञानयज्ञस्य ज्यायस्त्वं निष्पद्यते । एतदभिप्रायेणैव ज्ञानयज्ञस्य ज्यायस्त्वेन प्राधान्य-मुपपद्यते । अत एवोच्यते सर्वमिति । हे पार्थ ! सर्वं कर्मैकादशयज्ञादिरूपमखिलमवि-कलं वर्णाश्रमोचितधर्मादिसाधनयुक्तमित्यर्थः । कर्मज्ञाने ज्ञानयज्ञे परिसमाप्यतेऽन्त-र्भवति । नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन निवृत्तकल्मषम्प्रति तदेव कर्म ज्ञानाकारेण परि-णमते । एवञ्चानुष्ठातुस्तथानुष्ठीयमाने कर्मणि ज्ञाननिष्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥३३॥

भी प्रकार के कर्मफल की इच्छा नहीं है, किसी भी प्रकार के कर्म का अनुष्ठान नहीं करता हूं, इस प्रकार का निश्चय करके यदि कर्म किया जाता है तब फलानभिसंधि मात्र भगवान् की आज्ञा का पालन तथा भगवान् की आराधना मात्र के लिए जिस कर्म का अनुष्ठान किया जाता है तादृश कर्म अन्ततः ज्ञानाकारता को प्राप्त करता हुआ श्रेष्ठत्व को प्राप्त करता है। इसलिए ज्ञानांश को लेकर ही कर्म में ज्यायस्त्व निष्पन्न होता है । इस अभिप्राय से ही ज्ञानयज्ञ के श्रेष्ठरूप होने से प्रधान्य उपपन्न होता है। अर्थात् यदि करने वाला पुरुष कर्मानुष्ठान से पहले उस कर्म के कर्तापन का निश्चय करता है, फलविषयक इच्छाको रखकरके कर्मानुष्ठान करता है तो एतादृश कर्म जोकि साभिमान फलाशक्ति पूर्वक अनुष्ठीयमान होता है वह बुद्धि-योगापेक्षया अतिशयेन कनिष्ठ है अस्थिर अनित्य अल्पफलक होने से और ''प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म'' यह यज्ञात्मक कर्म अदृढ है चलायमान है जिसमें अठारह प्रकार के कनिष्ठ कर्म कहे गये हैं (सोलह ऋत्विक् यजमान यजमान पत्नी ये अठारह जिसमें वह कर्महीन है) एवम् ''कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविडमीहमानाः'' प्रजावान् धन को चाहनेवाले ऋषिलोगों ने कर्म से मृत्यु को प्राप्त किया।) इत्यादि स्थल में जो कर्म की निन्दा की गई है वह इसी कर्म के अभिप्राय से जो कर्मफलेच्छा तथा अभिमानपूर्वक किया जाता है। इसलिये कहते हैं गीताचार्य ''सर्वंकर्मेति'' हे पार्थ ! एकादश प्रकारक कथित ये सभी कर्म एवम् अखिल अर्थात् अविकल वर्णाश्रमोचित धर्मादिसाधन से युक्त है कर्म वह ज्ञान में अर्थात् ज्ञानयज्ञरूप बारहवां यज्ञ में परिसमापित होता है अर्थात् ज्ञानयज्ञ में अन्तर्भूत समाविष्ट हो जाता है। नित्य नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठान करने से जिस अधिकारी का पाप कर्म सभी विनष्ट हो गया है उसके प्रति वही कर्म ज्ञानाकार से परिणमित हो जाता है ऐसा हुआ तब अनुष्ठाता पुरुष से फलानभिसंधिपूर्वक अनुष्ठीयमान कर्म होने पर ज्ञान की

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तत् कर्मसमुद्भवमात्मयाथात्म्यगोचरं ज्ञानं त्वं प्रणिपातेन साष्टाङ्गप्रणामादि-रूपेण प्रह्वीभावेन परिप्रश्नेन तद्विषयक जिज्ञासापनुत्तये सविनयं विविधप्रश्नेन सेवया

निष्पत्ति होती है। "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः" पाप कर्म के क्षय होजानेपर पुरुष को ज्ञानोदय होता है ऐसा शास्त्र है तब जब अविकारी पुरुष नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान करके पाप कर्म को दूर करके ईश्वराराधन तथा फलासक्ति रहित हो करके जो कर्म करता है तब उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति होती है। अर्थात् तादृश कर्म ही ज्ञानाकार में परिणत होजाता है ॥३३॥

हे भगवन्! कर्मजनित ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाया जिस ज्ञान में सभी कर्म की परिसमाप्ति होती है अर्थात् सभी जो यह एकादश प्रकारक द्रव्य यज्ञ उस ज्ञान में अन्तर्भूत समाविष्ट हो जाता है ऐसा आपने कहा तो तादृश विलक्षण जो यह साधन शिरोमणि है उसे मैं कैसे जानूंगा इस प्रकार की जो अर्जुन की जिज्ञासा है उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं।

"तद्विद्धीत्यादि" हे अर्जुन! एतादृश ज्ञान को तुम गुरु के पास जाकरके जानो क्योंकि श्रुति कहती है "आचार्यवान् पुरुष जानता है" तत्व जिज्ञासुपुरुष आचार्य के पास जाकरके अध्ययन करें। उसमें गुरुकुल में रह करके किस प्रकार से विद्या सीखें उसको कथन करते हैं।

भगवदर्पण बुद्धि से क्रियमाण कर्म के द्वारा जायमान जो आत्मा का याथात्म्य विषयक तत्वज्ञान है उसको हे अर्जुन! तुम गुरु के प्रणिपात से साष्टांग प्रणामादि प्रह्वीभाव से तथा परिप्रश्न से अर्थात् तद्विषयक जिज्ञासा का निराकरण करने के लिए विनयपूर्वक अनेक प्रकार के प्रश्न से एवं सेवा से अर्थात् कायिक वाचिक मानसिक परिचर्या से जानो।

तत्वज्ञान की प्राप्ति में प्रणिपात परिप्रश्न सेवा शुश्रूषा आवश्यक है शास्त्र में लिखा है "दण्डवत्प्रणमेद्भूमौ निर्लज्जो गुरुसन्निधौ" गुरु के समीप में त्यक्त लज्ज होकर पृथिवी के ऊपर दण्डवत् प्रणाम करें। तथा सद्गुरु को स्वकीय शरीर तथा धनप्राण भी समर्पित करें। परिप्रश्न की पोषक श्रुति यह है "श्रुतं ह्येव" हे भगवन्! आपके सदृश उत्तम पुरुष से सुना हूं कि आत्मज्ञानवान्–संसार को प्राप्त नहीं करता है। सेवा भी ज्ञान प्राप्ति में उपाय है "यथा खनन् खनित्रेण नरोवार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥" जिस तरह

कायिकवाचिकमानसिकपरिचर्यया विद्धि । तत्त्वदर्शिनस्तत्त्वसाक्षात्कारवन्तो ज्ञानिनो ज्ञानप्रक्षीणवासना महात्मानस्ते तुभ्यं तज्ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति ॥३४॥

जलार्थी व्यक्ति खनित्र (खंती) से पृथिवी को खोद करके पानी को प्राप्त करलेता है उसी प्रकार गुरुसेवा करनेवाला जिज्ञासु गुरु में रहनेवाली विद्या को सेवा द्वारा जान लेता है। एतादृश ज्ञान का उपदेश तुम्हें तत्त्वदर्शी आत्मसाक्षात्कारवान् ज्ञानी जिनकी वासना ज्ञान से नष्ट हो गई है ऐसे महात्मालोग तुम्हें ज्ञान का उपदेश देंगे। यहाँ प्रणिपात परिप्रश्न तथा सेवा में जो कारणता है वह तृणारणिमणिन्याय से एक में नहीं है किन्तु दण्डचक्रादिन्याय से सम्मिलित में कारणता है।

जिस स्थल में अनेक कारण के द्वारा एक कार्य उत्पन्न होता है उसस्थल में दण्डचक्रादि न्याय से कारणता कहते हैं जैसे एक घट रूपकार्य दण्डचक्र कुलाल कपाल रूप अनेक कारण से होता है इसमें से अन्यतम का भी यदि अभाव रहे तो घट नहीं होगा और जहाँ एक कारण से एक कार्य होता है उस स्थल में तृणारणिन्याय से कारतणा कहते हैं। जैसे वह्निरूप कार्य के प्रति केवल तृण भी कारण है क्योंकि तृण से भी अग्नि होती है तथा केवल अरणी से भी वह्नि उत्पन्न होती है कहीं केवल मणि में भी वह्नि उत्पन्न होती है नतु तृण विशिष्ट अरणी मणि से कार्य होता है जैसे घटस्थल में समुदित दण्डादि को कारणता है उस प्रकार से समुदित तृणादि को वह्नि के प्रति कारणता नहीं है। अर्थात् जहाँ समुदित रूप से कारणता होती है उस स्थल में दण्ड चक्रादि न्याय है और जहाँ प्रत्येक में इतरानपेक्ष स्वातंत्र्येण कारणता है उस स्थल में तृणारणिमणि न्याय से कारणता होती है। जैसे—काव्यप्रदीप में शक्त्यादिक में समुदित रूप में दण्डचक्रादिन्यायेन कारणता को स्वीकार किया है "इति हेतुस्तदुद्भवे" इस कारिका में 'हेतुः' इस पद में एक वचन से, नतु दण्डचक्रादि न्याय से प्रत्येक में कारणत्व कहा है। प्रकृत में भी प्रणिपातादि त्रितय में सम्मिलितरूप से दण्डचक्रादिन्यायेन कारणता है नतु प्रत्येक प्रणिपातादिक में तृणारणिमणिन्याय से कारणता है ऐसा गीताचार्य का तथा भाष्यकार का अभिप्राय है। अलमधिकेन।

प्रश्न—एक गुरु से ही विद्याग्रहण करना चाहिये क्योंकि "स गुरुमेवाभिगच्छेत्" "आचार्यादेव विद्याविदिता" इत्यादि प्रथम श्रुति में "गुरुम्" यह एक वचन का प्रयोग है एवम् द्वितीय श्रुति में "आचार्यात्" यहाँ भी एक वचन का ही प्रयोग है। श्रुति में एक वचन का प्रयोग है इससे सिद्ध होता है कि एक ही गुरु से विद्या ग्रहण करना चाहिए तब गीता कारने "तत्त्वदर्शिनः" इस पद में बहुवचन का प्रयोग करके अनेक गुरु से विद्या की प्राप्ति का प्रतिपादन किस तरह किया।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ?।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

प्रोक्तस्यात्मयाथात्म्यज्ञानस्य फलमाह–यदिति । हे पाण्डव ! पाण्डुनन्दन ! यज्ज्ञानं सम्यगधिगम्यैवमिदानीं यथा देहात्मभ्रमेण मोहं प्राप्तोसि तथा पुनरहंतया ममतया च देहगेहादौ मोहं न यास्यसि । येन सद्गुरूपदिष्टात्मविषयज्ञानेन सर्व-

उत्तर–ठीक है आपका कहना कि एक ही गुरु से विद्या की प्राप्ति करनी चाहिए परन्तु तदर्थ को दृढ करने के लिये अन्य तत्वज्ञानी का भी अनुसरण करने में कोई क्षति नहीं है ।

अत एव शास्त्र में ऐसा भी आया है कि अनेक गुरु का भी अनुसरण किया गया है । जैसे भागवत के एकादश स्कन्ध में अवधूत ब्राह्मणने चौवीस गुरु से ज्ञान का ग्रहण किया । अथवा ज्ञान का तथा ज्ञानी का महत्व प्रख्यापन करने के लिये तत्वदर्शिनः यहाँ बहुत्व प्रयोग है। अथवा "एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे" गुरु में आत्मा में तथा परमेश्वर में एकत्व का प्रयोग नहीं करना चाहिये इस स्मृति के अनुरोध से तत्वदर्शिनः इस पद में बहुवचन का प्रयोग है । "तत्वदर्शिनः" यहां जो बहुवचन का प्रयोग है वह तत्वदर्शी में अनेकत्व को सिद्ध करता है । अर्थात् संसार में आत्मतत्त्व के प्रतिपादन करने वाले अनेक है नतु बहुवचन के बल से प्रत्येक ज्ञानी के समीप गमन का प्रतिपादन करना है । अतः प्रत्येक के प्रतिगमन का प्रतिपादक कोई पद या वाक्य है । कपडा बेचने वाले अनेक शेठ हैं तो क्या एक ग्राहक को प्रत्येक शेठ के वहां कपडा लेने के लिए जाना पडता है! अतः इस पर चर्चा व्यर्थ है ॥३४॥

जिस ज्ञान की प्राप्ति करने में असाधारण प्रयत्न करना पडता है उस आत्म याथात्म्य ज्ञान से क्या कुछ फल प्राप्ति भी होगी अथवा जलताडनवत् निरर्थक आयास मात्र ही है ! एतादृश अर्जुन की शंका को लक्षित करके भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र उस आत्म याथात्म्य ज्ञान का फल बतलाते हुए कहते हैं "यज्ज्ञात्वेत्यादि" हे पाण्डव पाण्डुनन्दन ! (इस विशेषण को देकर के अर्जुन के अन्तःकरण में पवित्रता का द्योतन करते हैं निर्मल अन्तः करण में प्राप्त जो उपदेश वह अवश्य ही सफल होगा फल की अभिव्यक्ति आधार के अधीन होती है । जैसे आकाश से मेघ द्वारा गिरा हुआ पानी लवणोदधि नींब नारिकेल में तत्तद्विकरण में आ करके तत्स्वरूप होता है उसी प्रकार से विशुद्ध भवदीय अन्तः करण में ज्ञानी से दिया हुआ सदुपदेश सार्थक होगा । ऐसा भाव अभिव्यक्त किया है ।) जिस ज्ञान को जानने के बाद अभी जिस प्रकार से देह में आत्म भ्रम से मोहक भ्रम को प्राप्त किये हो । उसी तरह

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

भूतात्मविषयज्ञानेन सर्वभूतात्मस्वरूपाणि कार्त्स्न्येन स्वात्मनि ज्ञानैकाकारतया स्वात्मसाम्येन द्रक्ष्यसि । अनन्तरं विगलितसांसारिकभावमाविर्भूतगुणाष्टकत्वेन विशुद्धं सर्वमात्मस्वरूपं मत्साम्यमुपगतं मयि द्रक्ष्यसि । इदमेव दर्शनं मुक्तिप्रयोजकमिति ज्ञानफलत्वेनोक्तम् ॥३५॥

प्रोक्तस्य ज्ञानस्य विरोधिनिरसनसामर्थ्यमाह–अपीति । यदि सर्वेभ्यः पाप-
पुनः शरीरेन्द्रिय में तथा गृह पुत्र कलत्रादिक में मोहक भ्रम को नहीं प्राप्त करोगे। अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त होने के पूर्वकाल में जिस प्रकार शरीरेन्द्रिय गृह वित्तादिक में यादृश अहंभाव मम भावात्मक विपरीत ज्ञानात्मक मोह से मुग्ध हो करके आत्मविमुख होकर संसाराभिमुख प्रवृत्ति करते थे वह यथोक्त आत्म याथात्म्य विषयक ज्ञान प्राप्ति के उत्तरकाल में तादृश मोह से विमुक्त हो जाओगे। अत एव जैसे दण्ड के रहने पर घट होता है दण्ड के नहीं रहने से घटरूप कार्य नहीं होता है तो अन्वय व्यतिरेक से घट के प्रति दण्ड को कारण कहते हैं। इसी तरह यथोक्त आत्मावगम होने पर मोहाभाव होता है और तादृश आत्मज्ञान प्राप्त नहीं करने से मोहाभावाभाव मोह होता है इसलिये आत्मज्ञान मोहाभाव के प्रतिकारण होता है। इसमें "तरति शोकमात्मवित्" आत्मज्ञानी शोक शब्द शब्दित संसार का अतिक्रमण कर जाता है यह श्रुति प्रमाण है। जिस गुरु शास्त्रोपदेश प्राप्त आत्म विषयक ज्ञान से सर्वभूतात्म स्वरूप को संपूर्णरूप से नतु एक देश से अपने में ज्ञान की एकाकारता से स्वकीय आत्मा के सदृश देखोगे। इसके बाद विगलित है विनष्ट हो गया है सांसारिक भाव जिसमें और आविर्भूत हुआ है आठगुण जिसमें ऐसा विशुद्ध सर्व आत्म स्वरूप मेरी समता को प्राप्त करके सर्वात्म स्वरूप मुझ परमात्मा में सभी भूतों को देखोगे। एतादृश जो दर्शन है वही मोक्ष का प्रयोजक है इसलिये इसे ज्ञान फल कहा है ॥३५॥

जिस विलक्षण ज्ञान से मोह का विनाश होता है उस ज्ञान से केवल मोह ही गया इतना ही नहीं किन्तु मोह का जो कार्य है पापराशि उसका भी नाश हो जाता है। अर्थात् ज्ञान में मोह कार्य के विनाश करने का सामर्थ्य भी है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "अपि चेदसी त्यादि" इस श्लोक में जो 'चेत्' शब्द है वह "यदि" का संभावना परक है। यदि तुम सभी पापकारियों से भी अधिक पापकारी भी हो तथापि सभी वृजिन को अर्थात् दुःख के उत्पादक पापात्मक महासमुद्र को यथोक्त ज्ञानात्मक प्लव से ही ज्ञानरूपसाधन से पार कर जाओगे। 'प्लवेनैव' इसमें जो एवकार है वह साधनान्तर

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।३७।

कृद्र्योऽपि पापकृत्तमोऽसि तथापि सर्वं वृजिनं दुःखोत्पादकपापार्णवमनेन ज्ञानप्लवेनैव सम्यक्प्रकारेणैव तरिष्यसि ॥३६॥

दृष्टान्तान्तरेण कर्मणां पुनःकार्यकरत्वप्रसङ्गं वारयति–यथेति । हे अर्जुन !

निरपेक्षता का द्योतक है । अर्थात् साधनान्तरनिरपेक्ष ज्ञानमात्र साधन से पापरूप महोदधि को पार करोगे जैसे कुशल नाविक नौकामात्र को साधन बना करके महासमुद्र को पार कर जाता है हे अर्जुन ! इसी प्रकार से तुम भी ज्ञानरूप विलक्षण इतर साधन निरपेक्षता से अनेक जन्म परम्परा से संचित पापपुण्योभय संसार कारण को पार कर जाओगे । यद्यपि प्लवेनैव यहाँ एव शब्द से ज्ञानरूप साधन में साधनान्तर निरपेक्षता का प्रतिपादन करने वालों ने केवलाद्वैत मत का समर्थन करते हुए विशिष्टाद्वैत मत के ऊपर प्रबल कुठाराघात किया है क्योंकि केवल ज्ञान में कारणता तो विशिष्टाद्वैती नहीं मानते हैं। इनका तो ज्ञान कर्म का समुच्चयवादात्मक भक्ति-प्रपत्तिमुक्तिकासाधन है । ऐसा करने से तो यह "हन्यतां हन्यतां बालो-नानेनार्थोऽस्ति जीवता । स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद्यः कुलाङ्गारतां गतः ।" इस बालक को मारो मारो इसके जीनेसे कोई प्रयोजन नहीं है जिसने अपने पक्ष की हानि करने से कुलांगारता को प्राप्त किया है" इस न्याय विषयता को यह व्यक्ति अतिक्रमण नहीं करता है । लोक में भी कहते हैं "नहि वरघाताय कन्योद्वाह्यते" वरराजा को मारने के लिये कन्या का विवाह नहीं कराया जाता है । तथापि यह आक्षेप भ्रममूलक है । तथा हि ईश्वरार्पण बुद्धि से क्रियमाण जो कर्म है वही ज्ञानाकारता को प्राप्त करता है इसलिये कोई विरोध नहीं है । अथवा मोक्ष कहते हैं शोकनिवृत्ति तथा भगवत्प्राप्ति को । उसमें शोक निवृत्यंश में ज्ञान प्रयोजक है और भगवत्प्राप्ति में तो पराभक्ति प्रयोजिका है । यहाँ संयोग पृथक्त्व न्याय से ज्ञानका दो फल मानते हैं एक तो शोक निवृत्ति और दूसरा फल है भक्ति और भक्ति से भगवत्प्राप्ति होती है । नैयायिक लोग न्याय के मत से कारण के कारण को अन्यथा सिद्ध मानते हैं । यहाँ भगवत्प्राप्ति का कारण है भक्ति । उसमें प्रयोजक है ज्ञान । इसलिये पूर्वोक्त भ्रमपूर्ण आक्षेप अयोग्य है । इसका विवेचन विशेष रूप से मत्कृत मतपरीक्षा में देखें ॥३६॥

कर्म पुनरपि स्वकीय कार्य को करेगा, इस प्रसंग का निराकरण करने के लिये अन्य दृष्टान्त देते हुए कहते हैं यानी पूर्वश्लोक में ज्ञानप्लवेनैव इससे जिस प्रकार नौकादि साधन के द्वारा समुद्र का संतरण होता है उसी प्रकार पर प्रापकत्व का कथन किया गया है ।

समिद्धः सम्प्रवृद्धः । अग्निर्वह्निः । यथा येन प्रकारेण एधांसीन्धनानि । भस्मसात्कुरुते भस्मतां नयति । तथा ज्ञानाग्निर्ज्ञानरूपोऽनलः । सर्वकर्माण्यनारब्धकार्याणि पुण्यापुण्यात्मकानि निखिलानि कर्माणि । भस्मसात्कुरुते । कार्त्स्न्येन नाशयतीत्यर्थः । अथैवं 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥'' (ब्रह्मवैवर्त्त प्र. खं. २६-७०) इतिवचनविरोधः, मैवमस्य वचनस्य

यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता देखने में नहीं आती है। दृष्टान्त में नौकादिरूप जो प्लव है वह तो समुद्र का नाशक नहीं है। यदि ज्ञान को भी आप तत्सदृश कहें तब तो ज्ञान से भी संसार विनाशात्मक विशिष्टफल की सिद्धि नहीं होगी, शिष्य की ऐसी आशंका को लक्षित करके भगवान् अन्य दृष्टान्त से प्रकृतज्ञान में विशिष्टफल प्रापकता को सिद्ध करने के लिये कहते हैं। यह अभिप्राय भाष्यावतरणग्रन्थ का है, ऐसा मुझे लक्षित होता है। ऐसा माननेपर ही प्रकृतग्रन्थ का सामंजस्य होता है।

"यथैधांसीत्यादि" हे अर्जुन ! समिद्ध घृतादि उत्तेजक द्रव्य से अतिशयेन प्रज्वलित वह्नि जिस प्रकार एधस अनन्त काष्ठ समुदाय को भस्मसात् निरवशेष रूपसे भस्मावशेष कर देती है तथा उसी प्रकार यह ज्ञान लक्षण जो ज्वालाकराल से आकलित वह्नि वह भी सभी कर्म को प्रारब्ध कर्म से भिन्न पुण्यापुण्यात्मक निखिल कर्मराशि को निरवशेषरूप से जला देता है।

शंका—"करोड़ों कल्प से भी अभुक्त कर्म का नाश नहीं होता है। किया हुआ जो शुभाशुभ कर्म है उसका फल तो अवश्य ही भोगना पड़ता है" इत्यादि वचन से विरोध होता है। अर्थात् कथित वचन से यह सिद्ध होता है कि शुभ अथवा अशुभ जो कोई भी कर्म हो वह फलोपभोग के बिना नष्ट नहीं होता है तब तो आप जो कहते हैं ज्ञानरूप अग्नि सभी कर्म को भस्मीभूत कर देती है !

समाधान—मैवम् ! यह जो अवश्यमेवभोक्तव्यम् इत्यादि शास्त्रवचन है उसका यह अर्थ है कि प्रारब्ध कर्म का विनाश नहीं होता है अर्थात् प्रारब्ध कर्मफलोपभोग कराकर ही नष्ट होता है। और प्रारब्धेतर जो कर्म है वह ज्ञान से नष्ट हो जाता है। अगर इस प्रकार न मानें तब तो दुरित कर्म का विनाश करने के लिये शास्त्र में जो प्रायश्चित्त का तथा प्रयाग में सुवर्णदान का विधान किया गया है वह सब निरर्थक हो जायगा।

यद्यपि पापकर्म अशुभ फलक होने से उस अशुभफलक पाप का विनाश ज्ञानरूप अग्नि से हो तो वह संभवित है परन्तु पुण्यकर्म तो शुभफलक है तो उस शुभफलक पुण्य का भी विनाश ज्ञान से होता है इसमें क्या प्रमाण है अर्थात् श्रुत्यादिक ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। तथापि प्रकृत में कर्मशब्द पुण्यपाप शुभाशुभ उभयपरक है। यह प्रमाण

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

प्रारब्धकर्मविषयकत्वादन्यथा प्रायश्चित्तशास्त्रव्याकोपप्रसङ्गः स्यात् ॥३७॥

उक्तेर्थे हेतुमाह–नेति । यस्मादिह जगति ज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनकर्तृकिमप्यन्यन्न विद्यते । तदेतज्ज्ञानं ज्ञानरूपं भजताकर्मयोगेन संसिद्धः पुरुषः क्रियता कालेनादरादनुतिष्ठन् स्वयमेवात्मनि प्राप्नोति ॥३८॥

होकर आगम से सिद्ध होता है कि पुण्यपाप इन दोनों प्रकार के कर्म का नाश ज्ञानाग्नि से होता है । "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" "तदाविद्वान् पुण्यपापे विधूय" "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवंहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" "यथा पुष्करपलाश आपो नाश्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते" ज्ञानी का सुकृत शुभकर्म पुण्य तथा दुष्कृत पाप ये दोनों नष्ट हो जाते है । विद्वान् पुरुष पुण्य पाप दोनों कर्म को नष्ट करके जिस प्रकार इषिका तुल अग्नि में देने से नष्ट हो जाता है उसी प्रकार तत्वज्ञानी का सभी पाप नष्ट होजाता है जिस प्रकार पुष्कर पलाशपत्र में जल का संश्लेष सम्बन्ध नहीं होता है इसी प्रकार तत्वज्ञानी में पापकर्म का संश्लेष नहीं होता है । इत्यादि आगम के बल से यह सिद्ध होता है कि यहाँ कर्म शब्द शुभाशुभ दोनों कर्म का बोधक है । दोनों में ज्ञान नाश्यत्व है । युक्ति से भी सिद्ध होता है जब बन्धजनक पाप का नाश ज्ञान से होता है बन्धजनकत्व जैसे पाप में है उसी प्रकार बन्धजनकता पुण्य में भी है ॥३७॥

अग्नि से जैसे ईन्धन का विनाश हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान से कर्म का विनाश होता है ऐसा प्रतिज्ञामात्र से कहा है हेतु का प्रदर्शन तो नहीं किया । "संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना" प्रतिज्ञा वाक्य से संभावित जो पक्ष उसकी सिद्धि हेतु द्वारा होनी चाहिए । अतः पूर्वकथित ज्ञान को कर्म नाशकता में हेतु का प्रदर्शन आवश्यक होने से हेतु प्रदर्शन करने के लिये कहते हैं, अथवा पूर्वोक्त ज्ञान में सर्वोत्कृष्ट पावन कारित्व नामक गुण को बतलाने के लिये कहते हैं "नहि ज्ञानेनेत्यादि" जिस लिये इस जगत् संसार में ज्ञान के समान पवित्र पावन करने वाला ज्ञानेतर कोई भी पदार्थ नहीं है । वह यह ज्ञान ज्ञानरूपता को प्राप्त करने वाला कर्म योग से संसिद्ध अर्थात् सिद्धि से युक्त जो पुरुष वह पुरुष बहुत काल तक आदरादि से अनुष्ठीयमान होता हुआ स्वयमेव आत्मा में प्राप्त होता है अर्थात् मध्याह्न कालिक सूर्य के समान आत्मा में प्रकाश को विस्तारित करता है ॥३८॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।३९।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०।

ज्ञानाधिकारिणमाह—श्रद्धावानिति । श्रद्धा ह्युपदिष्टेऽर्थ आदरातिशयस्तद्वान् तत्परो ज्ञानाभिलाषपूर्णः संयतेन्द्रियो विरक्त्यादिसाधनैः सम्यग्वशीकृतेन्द्रियस्तत्त्वजिज्ञासुः शिष्यो ज्ञानमुक्तप्रकारकं ज्ञानं लब्ध्वाऽचिरेण प्रारब्धकर्मक्षयसमनन्तरक्षणेनैव परां शान्तिं भगवद्धाम्नि सायुज्यमधिगच्छति ॥३९॥

व्यतिरेकेणानिष्टफलं दर्शयति—अज्ञ इति । अज्ञः पूर्वोक्तज्ञानशून्योऽश्रद्धानः

कर्ममात्र को ज्ञान नाश कर देता है इत्यादि रूप से ज्ञान का माहात्म्य तथा ज्ञान का क्या स्वरूप है इन सब बातों का कथन तो किया गया परन्तु एतादृश ज्ञान को प्राप्त करने के लिये कौन अधिकारी है वह तो अभी तक नहीं कहा गया । जब तक अधिकारी का निर्वचन नहीं होगा तब तक इसमें प्रवेश किसे है इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए अधिकारी के स्वरूप को कहते हैं "श्रद्धावानित्यादि" जो श्रद्धा शील है वह इस शास्त्र प्रतिपाद्य ज्ञान में अधिकारी है। श्रद्धा किसे कहते हैं इस जिज्ञासा के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं "श्रद्धेत्यादि" गुरु के द्वारा उपदिश्यमान वेदान्त वाक्य में तथा गुरु देव में जो आदरातिशय उसे श्रद्धा कहते हैं, एतादृश श्रद्धावान् विनेय यहाँ अधिकारी है । और जो तत्पर है अर्थात् ज्ञान की अभिलाषा से परिपूर्ण हो वह अधिकारी है तथा संयतेन्द्रिय हो विरक्ति प्रभृति साधन से जिसने समीचीन रूप से इन्द्रिय को वशीभूत किया है तथा परमार्थ तत्व के जिज्ञासु हो एतादृश जो शिष्य वह अधिकारी है। वह शिष्य ज्ञान का लाभ करता है। यानी ऐसा शिष्य गुरु के उपदेश द्वारा वर्णाश्रमोचित शास्त्र विहित कर्म का अनुष्ठान के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करके अचिर काल में ही प्रारब्ध कर्म के क्षपणके अव्यवहित उत्तरक्षण में ही परा शांति को अर्थात् अर्चिरादि मार्ग से जा करके भगवद्धाम में सायुज्य मोक्ष रूप परम शान्ति को प्राप्त करता है ॥३९॥

व्यतिरेक से अनिष्ट फल को बतलाते हैं। अर्थात् ज्ञान प्राप्ति में श्रद्धा ज्ञानाभिलाषा इन्द्रिय के वशीकरण को प्रयोजक रूप से गत श्लोक में बतलाया गया है, परन्तु जिस अधिकारी में श्रद्धादिक विशेष गुण नहीं है उसे ज्ञानप्राप्ति रूप फल प्राप्ति तो दूर में रहे प्रत्युत अनिष्ट की ही प्राप्ति होती है इस बात को इस श्लोक में बतलाते हैं "अज्ञश्चे-

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ? ॥४१॥

स्वाचार्यशास्त्रवाक्ये श्रद्धारहितः संशयात्मा संशययुक्तमनाश्च विनश्यति । इमे त्रयोऽपि विनश्यन्तीत्यर्थः । संशयात्मनो द्वाभ्यां यद्वैशिष्ट्यं तदाह—नेति । संशयात्मनोऽयं लोकः परलोकश्चोभावपि न स्तस्तत्साधनधियोऽनिश्चितत्वात् । एवमैहिकं पारलौकिकं सुखमपि संशयग्रस्तत्वान्नास्ति मोक्षसुखन्तु दूरापास्तमिति भावः ।४०।

त्यादि'' जो अज्ञ है पूर्वोक्त ज्ञान रहित है अर्थात् अनादि अविद्या प्रवाह में ओत प्रोत रहने के कारण ज्ञान शून्य है न तु गुरु के उपदेश से लब्ध जो ज्ञान उससे युक्त है । अश्रद्धान है स्वशास्त्र तथा स्वकीय गुरु के वाक्य में उपदेशादि में अनादर युक्त है । और संशयात्मा है अर्थात् संशय में आत्मा मन है जिसका यानी ज्ञान मोक्ष में कारण है अथवा कर्म मोक्ष में कारण है, आत्मादेह भिन्न है अथवा नहीं, गुरु तथा वेदान्त वाक्य हित साधक है अथवा नहीं इत्याद्यनेक प्रकारक संशय से युक्त है आत्मा मन जिसका ऐसा जो शिष्य वह विनष्ट होता है, ये तीनों प्रकार के अधिकारी विनष्ट हो जाते हैं । अज्ञ तथा अश्रद्धधान इन दोनों की अपेक्षा संशयात्मा लक्षण तृतीय अधिकारी में विशेषता बतलाने के लिए कहते हैं "नायं लोकोस्तीत्यादि'' संशय मनवाले को न तो यह लोक है न वा परलोक है क्योंकि इसलोक के तथा परलोक के साधन भूत जो ज्ञान है उसमें अनिश्चय होने से । एवम् संशयात्मा को न इहलोक सम्बन्धी सुख प्राप्त होता है न वा परलोक स्वर्गादि लोक सम्बन्धी ही सुख मिलता है संशयग्रस्त होने से तो मोक्ष सुख तो दूर रहे, अर्थात् ऐसों को मोक्ष सुख कथमपि प्राप्त नहीं होता है ।

यहाँ अभिप्राय यह है कि कोई भी कार्य तभी होगा जब उस कार्य की अविकल सामग्री की सत्ता रहे । ऐहिक सुख का साधन है अन्नमालादिक, पार लौकिक सुख का साधन है याग अमुक प्रकारक भगवद् भजनादिक । मोक्ष का कारण हैं भगवत्प्रपत्ति । यदि कदाचित् संशयात्मक जनके पास अन्यतम कोई भी कारण रहता तब अन्यतम कार्य संपन्न होता ऐसा तो है नहीं कारण कि उसे तो पदार्थ मात्र संशय ग्रस्त है । किसी प्रकार की प्रवृत्ति में तद्विषयक निश्चय को ही जनकता है । संशयात्मा को तो निश्चय विरोधी सन्देह है तब प्रवर्तक कारण न रहने से किसी साधन में प्रवृत्ति नहीं होती है, और कारण संपादन में प्रवृत्त नहीं होने से सुखात्मक कार्य कैसे होगा, इसलिए गीताचार्य ने संशयात्मा के लिए सकल सुख का अभाव कथन किया है । कारणाभाव से कार्याभाव को देख करके । इसलिये भाष्यकारण ने कहा है— मोक्ष सुखं तु दूरापास्तमिति ॥४०॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ? ॥४२॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अध्यायार्थमुपसंहरति—योगेत्यादिद्वाभ्याम् । हे धनञ्जय ! योगसंन्यस्तकर्माणं अहर्दिवमनुष्ठीयमानकर्मयोगेन भगवदाराधनात्मकेन संन्यस्तानि ज्ञानरूपेणापरिणतानि कर्माणि येन तं ज्ञानांशग्रहणमनस्कं ज्ञानसंछिन्नसंशयं स्वपरस्वरूपयाथात्म्यनिश्चयेन विनष्टः पूर्वोक्तः संशयो यस्य तमात्मवन्तं संयतेन्द्रियतया विशुद्धमानसं कर्माणि भगवदर्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानानि सन्ति न निबध्नन्ति संसाराधादकबन्धकराणि न भवन्तीत्यर्थः ॥४१॥

एवमुक्तेऽर्थेऽर्जुनकर्तव्यमुपदिशन्निगमयति—तस्मादिति । यस्मादेवं तस्मादज्ञान-

संपूर्ण चतुर्थाध्याय से प्रतिपादित विषय का उपसंहार करते हैं अर्थात् नियत कर्म जो वर्णाश्रमोचित यागादिक कर्म है उनके परिणाम में ज्ञान स्वरूपत्व का कथन करके प्रकरण प्रतीत जो विषय है उसका कार्यात्मक बन्धनविमुक्ति लक्षण जो फल उसका प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं "योग संन्यस्तेत्यादि" हे धनंजय ! योग से संन्यस्त है कर्म जिसका प्रतिदिन अनुष्ठीयमान भगवदाराधनात्मक कर्मयोग से संन्यस्त किया है अर्थात् ज्ञान रूप से परिणत कर दिया है जिसने तादृश व्यक्ति को तथा ज्ञान से नष्ट है कर्म जिसका अर्थात् स्वपरस्वरूप आत्मा का यथार्थ निश्चय के द्वारा विनष्ट हो गया है सन्देह जिसका एतादृश आत्मवान् को अर्थात् स्वाधीन इन्द्रिय के होने के कारण विशुद्ध है मन जिसका ऐसा जो पुरुष है अर्थात् भगवदर्पण बुद्धि से क्रियमाण जो वर्णाश्रमोचित कर्म है वह संसार प्रयोजक बन्ध का कारण नहीं होता है। वही कर्म बन्धन का जनक होता है जो फलेच्छापूर्वक तथा साहंकार साधक से अनुष्ठीयमान है परन्तु जो कर्म फलेच्छानभिसंधानपूर्वक भगवदाराधन के लिये किया जाता है तथा मैं कुछ नहीं करता हूं किन्तु सर्वनियन्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम से प्रेरित होने से मुख्य कर्तृत्व सर्वेश्वर में ही है मैं तो केवल उनका दास हूं, वे स्वामी यथा प्रेरित करते हैं उसी प्रकार कार्य होता है "एष एव साधु कर्मकारयति" यही सर्वेश्वर साधु कर्म भक्त से करवाते हैं । इस प्रकार का निष्ठा से क्रियमाण कर्म बन्धन जनक नहीं होता है अपितु भगवान् के सायुज्य का प्रापक होता है। यह आशय भाष्यकार का है ।४१॥

इस प्रकार कथित अर्थ में अर्जुन को कर्तव्यता का उपदेश करते हुये कहते हैं "तस्मा-दित्यादि" जिस लिए ज्ञान के द्वारा जिसका सन्देह नष्ट हो गया है एवं निर्मल हो गया है मन

दिप्राक्तनकर्मवासनासमुत्पन्नं सूक्ष्मरूपेण मनसि वर्तमानमेनमात्मनः संशयं स्वपरस्वरूपयाथात्म्यरूपज्ञानेनासिना छित्त्वा क्षयं नीत्वा योगं भगवदनु- ैकफलं निष्कामकर्मयोगमातिष्ठ समाचर। हे भारत ! उत्तिष्ठ एतत्कर्म- ाातिवर्णाश्रमधर्मत्वेन युद्धस्यानुष्ठानायोत्तिष्ठ सन्नद्धो भवेत्यर्थः ॥४२॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायाः
श्रीमदानन्दभाष्ये कर्मज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

जो कर्मयोगी वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है और एतादृश पुरुष से भिन्न अविद्या से दूषित अन्तःकरण वाला संशयात्मा है वह विनाश को प्राप्त करता है; । से समुत्पन्न अर्थात् अनादि पूर्वकालिक कर्मवासना से जायमान सूक्ष्म रूप से । जो संशय उस संशय को ज्ञानलक्षण तलवार से अर्थात् स्वस्वरूप यथार्थ ज्ञानरूप स्त संशय को छेदित करके योगको यानी भगवान् के अनुग्रह से जायमान मोक्ष । ऐसा जो निष्काम कर्मयोग उस कर्मयोग का तुम आचरण करो अर्थात् निष्काम ठान करो । हे भारत हे अर्जुन ! उठो अर्थात् फलाभिसंधि रहित वर्णाश्रमोचित ानुष्ठान करो । कर्मयोग के अन्तर्गत वर्णाश्रमोचित युद्ध के लिए संनद्ध हो जाओ। शेषण से अभिव्यक्त करते हैं कि भरतवंशोद्भव तुम्हारे लिये कर्मयोगान्तः पाति ा ही आवश्यक है ॥४२॥

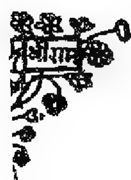
इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश

स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे

चतुर्थोऽध्यायः

॥ श्रीरामार्पणमस्तु ॥






ॐ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॐ

ॐ अर्जुन उवाच ॐ

संन्यासं कर्मणां कृष्ण ? पुनर्योगञ्च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

एवमतीतेन ग्रन्थेन परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षम्प्रतिज्ञानकर्मणोरुभयोरप्यविशेषेण साधनत्वमुक्तम् । कर्मण एव परिणामे ज्ञानरूपता तादृशकर्मान्तर्गतज्ञानांशमधिकृत्यैव सर्ववृजिनसंतरणफलोक्तिः 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमि'त्यनेनात्मप्राप्तिश्चाभिहिता । उपसंहारे च 'योगसंन्यस्तकर्माणमि'त्यस्य योगेन–कर्मयोगेन संत्यक्तकर्माणं पुन 'ज्ञानसंछिन्न संशयम्' इत्यत्रज्ञानेन विध्वस्तसंशयमित्यर्थस्वीकारेणोभयोरेव ज्ञानकर्मणोर्बन्धविच्छेदकमुक्त्वा 'छित्त्वैनं परमोपसंहृति संशयं योगमातिष्ठे'तिवचनेन च भूयोऽपि योगमातिष्ठेत्यभिदधत्फलाभिसन्धिरहितस्य भगवदर्पणबुद्ध्यानुष्ठितस्य कर्मयोगस्यैव श्रेयःसाधनत्वमुपादिशत् । एवञ्चोभयोर्ज्ञानकर्मणोः फलजनसामर्थ्ये ह्येकरूपां प्रशंसां श्रावं श्रावं पुनस्तत्र संदिहानोऽर्जुन उवाच–संन्यासमिति । हे कृष्ण ! कर्मणां सन्यासं कर्मपरिणामज्ञानयोगं पुनर्योगं वर्णाश्रमविहितनिष्कामकर्मयोगं च शंससि ।

इस प्रकार अतीत ग्रन्थ चतुर्थाध्याय से परम पुरुषार्थ मोक्ष के प्रति ज्ञान और कर्म इन दोनों को अविशेषरूप से अर्थात् स्वातंत्र्येण दोनों में कारणता का प्रतिपादन किया गया ।

कर्म ही परिणाम में (अंत में) ज्ञानरूपता को प्राप्त करता है और तादृश कर्म के अन्तर्गत ज्ञानांश को ले करके पापरूप समुद्र का संतरणरूप फल का कथन किया गया और "ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्" इससे आत्मप्राप्ति का भी प्रतिपादन किया गया है । उपसंहार में भी "योगसंन्यस्तकर्माणम्" इसका योग से अर्थात् कर्म योग से त्यक्त है सर्व कर्म जिसका पुनः "ज्ञानसंच्छिन्न संशयम्" यहाँ ज्ञान से विनष्ट है सर्व प्रकार का संशय जिसका ऐसे अर्थ के स्वीकार करने से दोनों ज्ञान तथा कर्म इन दोनों में बन्ध विनाशकत्व है ऐसा कह करके "छित्वैनं संशयं योगम्" इत्यादि अन्तिम उपसंहार वचन से पुनरपि "योगमातिष्ठ" कहते हुए फल कामना से रहित होकरके फल भगवदर्पण बुद्धि से अनुष्ठीयमान कर्मयोग को ही श्रेयः साधनता का उपदेश दिया है । ऐसा हुआ तब कर्म तथा ज्ञान योग इन दोनोंमें मोक्षरूप फलोत्पादकता सामर्थ्य होने से एक रूप प्रशंसा को सुनकरके पुनः उस ज्ञानयोग तथा कर्म योग में सन्देह करते हुए अर्जुन बोले "संन्यासमित्यादि" हे कृष्ण ! एक तरफ तो आप कर्म

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोऽस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ? सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

एतयोर्ज्ञानकर्मणोर्मध्ये यच्छ्रेयः स्वानुष्ठाने यत्सुकरमाशुफलप्रापकं सुनिश्चितं तदेकं मे ब्रूहि ॥१॥

एवमर्जुनाशंकां निराकुर्वन् श्रीभगवानुवाच–संन्यास इति संन्यासो ज्ञानयोगः कर्मयोगश्चेत्येतावुभावपि निःश्रेयसकरावपवर्गप्रापकौ यद्यपि स्तस्तथापि तयोर्ज्ञानकर्मयोगयोः कर्म संन्यासाज्ज्ञानयोगान्नियतेन्द्रियत्वेन निर्मलमनस्कस्य कर्मयोग एव विशिष्यते । अनुष्ठानसौकर्यादत्र वैशिष्टयमिति भावः ॥२॥

पूर्वोक्तार्थे हेतुं निर्दिशति–ज्ञेय इति । यः कर्मयोगी नित्यंस्वकर्तव्यतया कर्मीका संन्यास त्याग बतलाते हैं अर्थात् कर्म का परिणाम ज्ञान योग का कथन करते हैं और पुनश्च योग भी कहते हैं अर्थात् वर्णाश्रम विहित निष्काम कर्मयोग का कथन करते हैं । अतः ये जो दो हैं ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनों में से जो श्रेय हो अर्थात् स्वानुष्ठान में जो सुकर तथा संपादन करने में सरल हो और शीघ्र तथा फल देने में समर्थ हो निश्चय रूप से उन दोनों में से एक का ही कथन मुझे करें । अर्थात् ज्ञानयोग कर्मयोग में से एक का निश्चय-रूप से कथन कीजिए जो अनुष्ठान में सरल हो और फल देने में भी समर्थ हो ॥१॥

पूर्वोक्त प्रकार से अर्जुन की जो शंका है उसका निराकरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र कहते हैं "संन्यास" इत्यादि । हे अर्जुन ! संन्यास अर्थात् ज्ञानयोग तथा कर्मयोग कर्मानुष्ठान ये दोनों ही यद्यपि निः श्रेयस मोक्ष रूप फल देनेवाले हैं चाहे कर्म संन्यास हो अथवा कर्मयोग हो मोक्ष प्रापक सामर्थ्य दोनों में समान है । तथापि ज्ञान योग और कर्मयोग इन दोनो के मध्य में कर्म संन्यास ज्ञानयोग से श्रेष्ठ है कारण कि संयत इन्द्रिय के होने से निर्मल है अन्तः करण जिसका एतादृश व्यक्ति अधिकारी विशेष के लिये कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । क्योंकि कर्मयोग में अनुष्ठान की सरलता होने से ज्ञान योग की अपेक्षा वैशिष्ट्य है यह भाव है ॥२॥

पूर्वकथित वस्तु में हेतु बतलाते हैं अर्थात् पंचमाध्यायस्थद्वितीय श्लोक से ज्ञानयोगापेक्षया कर्मयोग की विशिष्टता का प्रतिपादन किया प्रतिज्ञा मात्र से परन्तु हेतु का कथन तो किया ही नहीं और हेतु प्रयोजन के बिना केवल प्रतिज्ञा से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

ण्यनुतिष्ठन् तदतिरिक्तं स्वात्मने न कांक्षति न वान्यान् द्वेष्टि स नित्यसन्यासी नित्य-ज्ञानयोगी ज्ञेयः। यतो हे महाबाहो! निर्द्वन्द्वो रागद्वेषशून्यः स सुखमनायासेनैव संसारबन्धात् प्रमुच्यते। बन्धनिर्मुक्त्यै तस्य साधनान्तरनैरपेक्ष्येण कर्मैव परमं साध-नमिति भावः।३।

कर्मयोगिनोनित्यसंन्यासित्वं यथा भवति तथा विविच्य दर्शयति सांख्ययोगाविति। अन्यथा सर्वत्र प्रतिज्ञा मात्र से ही प्रतिपादनीय वस्तु की सिद्धि हो जायगी तो हेतु वचन सर्वत्र निरर्थक हो जायगा। अगर उसमें इष्टापत्ति मान ले तब तो अनुमान का ही प्रामाण्य लुप्त हो जायगा। इसमें भी यदि कोई इष्टापत्ति करे तब तो श्रवण के बाद जो मनन लक्षण अनुमान का शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है उस अनुमान प्रतिपादक शास्त्र में भी अप्रा-माण्य की शंका आ जायेगी। अतः हेतुकथन अत्यावश्यक है। केवल प्रतिज्ञा से साध्य की सिद्धि नहीं होती है, इसलिये प्राचीनाचार्यों ने कहा है "संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना" प्रतिज्ञा में साधनवत्तारूप से संभावित जो पक्ष है वह हेतु के द्वारा सिद्ध किया जाता है। अतः गीताचार्य पूर्वोक्त विषय में हेतु प्रदर्शन करने के लिये कहते हैं "ज्ञेयः सः" इत्यादि। हे अर्जुन ! जो कर्मयोगी सदा अपनी कर्तव्यता समझ करके नित्य नैमित्तिक वर्णाश्रमोचित कर्म का अनुष्ठान करता है तदतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु को आत्म सुख के लिये इच्छा नहीं करता है और अनभिलषित किसी भी वस्तु के प्रति द्वेष नहीं करता है उसे नित्य संन्यासी नित्यज्ञान योगी समझो। जिसलिये हे महाबाहो ! वह निर्द्वन्द्व है अर्थात् रागद्वेष से रहित है अतः वह कर्मयोगी पुरुष सुखपूर्वक आयासादि के बिना ही संसार बन्धन से प्रमुक्त हो जाता है। अर्थात् बन्धविमोक्षण के लिए उस व्यक्ति को साधनान्तर से निरपेक्ष जो कर्म है वही कर्म कारण होता है। मार्ग में चलनेवाले पथिक को पाथेय के समान कर्म का परिणामात्मक आत्मविषयक ज्ञान से स्वरूप विषयक ज्ञान प्राप्ति से अत्यन्त संतुष्ट होने के कारण स्वसुख के लिये अन्य किसी भी पदार्थ की आकांक्षा नहीं रखता है न वा द्वेष करता है अपितु सुख कर्मात्मक साधन सापेक्ष हो करके संसार बन्धन से छुट करके भगवत् सायुज्य को प्राप्त हो जाता है अतः कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥३॥

कर्मयोगी में नित्य संन्यासित्व जिस प्रकार से सिद्ध होता है उस वस्तु को विवेचन-पूर्वक बतलाते हैं "सांख्ययोगावित्यादि" जो बालक अल्पज्ञानवान् है वह सांख्ययोग को अर्थात् ज्ञानयोग कर्मयोग को विभिन्नफलक मानते हैं अर्थात् कर्म का फल ज्ञान है और ज्ञान का फल

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

बाला अल्पज्ञाः सांख्ययोगौज्ञानयोगकर्मयोगौ भिन्नफलकौ पृथगेव ज्ञानफलकं कर्म-ज्ञानञ्चमोक्षफलकमिति भिन्नफलत्वादिमौ ज्ञानकर्मयोगौ भिन्नावेवेति प्रवदन्ति । पण्डितास्तु नैवम् । ते हि तयोरेकफलदायित्वेनैक्यमेवेति मन्वत इति भावः । कुत ऐक्यं तदाह एकमिति । यत आत्मप्राप्तरूपैकफलप्रापकत्वाद् द्वयोरेकमपि सम्यगास्थि-तोऽनुष्ठानायाश्रितो मोक्षाख्यं फलं लभते ॥४॥

प्रोक्तार्थं विवृणोति यदिति । सांख्यैर्ज्ञानयोगिभिर्यत्फलत्वेनाश्रयणीयं स्थानं प्राप्यते तदेव स्थानं योगैः कर्मयोगिभिरपि भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितैः कर्मभिरवाप्यते । तस्मादेकफलसाधकत्वेनैकं सांख्यं योगञ्च यः पश्यति । स पश्यति स एव यथा-र्थदर्शीनान्य इति भावः ॥५॥

मोक्ष है इस प्रकार विभिन्नफलक होने से ज्ञानयोग कर्मयोग भिन्न हैं ऐसे बालक लोग कहते हैं । पण्डित लोग तो ऐसा नहीं कहते हैं अपितु पण्डित लोग तो ज्ञानयोग कर्मयोग के एक फलदायक होने से दोनों में एकता ही मानते हैं। उभय में एकता क्यों है ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं—"एक मित्यादि" जिसलिये कि आत्मप्राप्तिरूप एक फल के दोनों प्रापक हैं। इन दोनों में से एक का भी समीचीनरूप से जो अनुष्ठान करता है वह मोक्ष नामक निरतिशय सुखात्मक फल को प्राप्त करता है अर्थात् ज्ञानयोग कर्मयोग उभय का फल मोक्ष ही है। भिन्न भिन्न फल उन दोनों का नहीं है ॥४॥

चतुर्थ श्लोक से कथित जो अर्थ उसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं अर्थात् कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग इन दोनों में से एक का भी समीचीन रूप से अनुष्ठान करने पर समान-फल की ही प्राप्ति होती है इस पूर्वकथित अर्थ का स्पष्टीकरण किया जाता है क्योंकि शास्त्र तथा शास्त्रकारको आलस्य नहीं होता है—"यत्सांख्यैरित्यादि" सांख्य अर्थात् सत् असत् का विवेचन करनेवाला जो ज्ञान उसे संख्या कहते हैं और तादृश संख्या ज्ञान को आश्रय करने वाले जो व्यक्ति उन्हें सांख्य कहते हैं ज्ञानयोगी तो यथोक्त सांख्यपद वाच्य ज्ञानयोगी जिस स्थान को अर्थात् जिसफल को प्राप्त करते हैं "स्थीयते यस्मिन्" स्थित हो जिसमें इस व्युत्पत्ति से स्थान शब्द का अर्थ होता है प्राप्त करनेके योग्य आत्मतत्त्वरूप फल तो ज्ञान-योगी जिस आत्मतत्त्व रूप फल को प्राप्त करते हैं ? उसी फल को कर्म योगी लोग भी भगवान्

संन्यासस्तु महाबाहो ? दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

एवं ज्ञानकर्मणोरेकफलकत्वेन साम्येऽपि कर्मणो वैशिष्ट्यमुच्यते संन्यास इति। **महाबाहो ! संन्यासो ज्ञानयोगस्तु कर्मयोगेन विनाऽऽप्तुं दुःखम् । यदा च कर्मभि-**

की अर्पण वुद्धि से अनुष्ठीयमान जो वर्णाश्रमोचित नित्य नैमित्तिक कर्म हैं उनके करने से भी प्राप्त करते हैं । तस्मात् एक फल के साधक (जनक) होने से एक सांख्य अर्थात् ज्ञानयोग को तथा योग अर्थात् कर्मयोग को एक रूप से जो देखते हैं वे ही यथार्थदर्शी हैं एतदन्य यथार्थदर्शी नहीं हैं । अर्थात् स्वरूपतः ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के परस्पर भेद होने पर भी एक फलोत्पादकत्वरूप से दोनों ज्ञानयोग कर्मयोग को जो एक रूप से जानते हैं ऐसे फलाभो संधि रहित कर्म का सम्यक् अनुष्ठान करने वाले कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं ।

यद्यपि एक फल जनकत्वेन एकत्व हो तत्र तो घटरूप एक फलक होने से दण्ड चक्र में भी एकत्व हो जायगा और अगर ऐसा मानें तब तो दण्ड चक्रादिक में अनुभूयमान भेद का विलोप हो जायगा । तथापि दण्डत्व तथा चक्रत्व और कुलालत्व धर्म को पुरस्कृत कर के दण्डादिक में परस्पर भेद होते हुए भी घटोत्पादकता रूप सामान्य धर्म को पुरस्कार करके समानता तो इष्ट ही है । दण्ड चक्रादिक में पार्थक्य धर्मान्तर से है और एकत्वघटोत्पादकत्व लक्षण धर्मान्तराधीन होने से कोई क्षति प्रतीत नहीं होती है तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये ॥५॥

पंचमश्लोक से ज्ञान योग कर्मयोग को एक फलोत्पादकत्वरूप से एकत्व का प्रतिपादन करके समत्व कहा है तथापि ज्ञानयोगापेक्षया कर्म योग में वैशिष्ट्य का प्रतिपादन कहते हैं "संन्यासस्तु इत्यादि ।

यानी पंचम श्लोक में ज्ञान योग और कर्मयोग में समत्व का प्रतिपादन किया गया वह किस प्रकार माना जाय यदि कदाचित् श्रद्धातिशय से मान लें तो "तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते" यह जो भगवद्वचन है वह संगत कैसे होगा और भी देखिये यदि फल को देने वाले दोनों में ही समानता होती है ऐसा मानें तब तो दोनों के बीच एक का ही अनुष्ठान करना चाहिये नतु दोनों का इस स्थिति में निरापद हिंसादि सांकर्य रहित जो ज्ञान योग उसी का मैं अनुष्ठान क्यों न करु ? तो यह कर्मयोग हिंसादि का अनुष्ठान निरर्थक है । इस प्रकार की जो अर्जुन की शंका है उसे दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं "संन्यासस्तु" इत्यादि । हे महाबाहो अर्जुन संन्यास अर्थात् ज्ञानयोग तो कर्मयोग के बिना प्राप्त करना अति-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

मनोमलं समूलमुन्मूलितं भवति तदैव ज्ञाननिष्ठा जायते नान्यथा । परमात्मोपासनलक्षणकर्मयोगयुक्तस्तु मुनिर्मननशीलो नचिरेणैव ब्रह्माधिगच्छति मोक्षाख्यं फलं प्राप्नोति ॥६॥

ननु कर्मणां सर्वदा फलोत्पादकत्वात्कर्मयोगी कथं ब्रह्माधिगच्छतीत्यत आह योगयुक्त इति । भगवदाराधनकर्मयोगयुक्तो विशुद्धात्मा निष्कामकर्माचरणात्क्षालितमानसोऽभ्यासवैराग्यादिभिर्वशीकृतान्तः करणः संयमादिभिश्च जितेन्द्रियः सर्व-

दुःखद है । जब कर्म करने से मन का मल (पाप) मूल सहित नष्ट हो जाता है तदनन्तर में ही ज्ञान निष्ठा समुत्पन्न होती है अन्यथा कर्मानुष्ठान के विना ज्ञान निष्ठा नहीं होती है । और परमात्मा का उपासना स्वरूप जो कर्मयोग है उस से युक्त मुनि (मननशील जो व्यक्ति है) वह बिना विलंब से ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर लेता है । यानी ज्ञान योगापेक्षया कर्मयोग में विशिष्टता नहीं है कि कर्म ही चरमावस्था में जाकर ज्ञानाकारता को प्राप्त करता है ऐसा चतुर्थाध्याय में कहा है तब ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिये सविधि कर्मानुष्ठान अवश्यमेव प्राप्त होता है और कर्मयोग तो जो कि वर्णाश्रम विहित है वह तो परमपुरुष के आराधन स्वरूप होने से कर्मानुष्ठाता साधक को झटिति निर्विघ्न पूर्वक परमात्म साक्षात्कार लक्षण फल को देता है अतः कर्मयोग संपादन करने में सरल है तथा शीघ्र फल देनेवाला है और ज्ञानयोग कर्मयोग से अन्तरित होने से अनुष्ठान में दुष्कर तथा फलांश में विलंबित प्रतिपत्तिक होने से कनिष्ठ है ॥६॥

गत श्लोक में कहा गया है कि कर्मयोग युक्त जो मुनि वह बहुत जल्दी मोक्ष को प्राप्त कर जाता है परन्तु यह तो नहीं बन सकता है क्योंकि निरन्तर रूप से क्रियमाण जो कर्मानुष्ठान है वह तो नैरन्तर्येण फल का उत्पादक होतारहेगा तब तो कर्मफल का जो फल है उसकी समाप्ति तो कभी भी नहीं होगी तब उस कर्मयोगी को मोक्ष कैसे होगा एतादृश अर्जुन की शंका को लक्षित करके भगवान् कहते हैं "योगयुक्त" इत्यादि । योग युक्त= भगवदाराधनात्मक कर्मयोग से युक्त जो मुनी अर्थात् शास्त्र प्रतिपादित नित्य नैमित्तिक कर्म ही भगवदाराधनात्मक है एतादृश कर्मयोग में अनवरत लगा हुआ जो महापुरुष है वह परमेश्वर की उपासना में परायण कर्मयोगी है । पुनः विशुद्धात्मा अर्थात् निष्काम कर्म के आचरण करने से क्षालित है मन जिसका तथा विजितात्मा अभ्यास वैराग्य से विजित है मन जिसका

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

भूतानां देवमनुष्यादीनामात्मभूतो ज्ञानैकाकारतयाऽऽत्मा यस्य स आत्मस्वरूपानुसन्धानतत्परः पुरुषः कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि तत्कृताभिमानरहितत्वान्न सम्बद्ध्यते ॥७॥

कर्मयोगिनो यावच्छरीरधारणं व्यवहारान् प्रदर्शयति नेति द्वाभ्याम् । युक्तः कर्मयोगनिष्ठस्तत्त्वविदात्मज्ञानसम्पन्नो दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनेषु ज्ञानेन्द्रियाणां

तथा जितेन्द्रिय जिसने संयम द्वारा अर्थात् प्राणायाम प्रत्याहारादि साधन के द्वारा समस्त बाह्येन्द्रिय को जीत लिया है । तथा सभी भूतों का देव मनुष्यादि जीवों का आत्मरूप ज्ञान के एक रूप से आत्मा है जिसकी अर्थात् सर्वजीव निकाय में आत्मस्वरूप के अनुसन्धान में तत्पर जो पुरुष विशेष वह कर्म का अनुष्ठान करता हुआ भी स्वकृत कर्म में अभिमान रहित होने से कर्म से सबद्ध नहीं होता है । अर्थात् जिस कर्मयोगी ने अपने मन तथा बाह्येन्द्रिय को जीत लिया है तथा प्रत्येक प्राणी में स्वकीयात्मभावना को रखनेवाला है वह संपादित कर्म में अभिमान नहीं होने से कर्म के करने पर भी कर्म के फल से लिप्त नहीं होता है । श्रुति भी कहती है "एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते" एतादृश आत्मज्ञानी व्यक्ति को पाप कर्म का संश्लेष नहीं होता है । अर्थात् ज्ञान से कर्म बीज में फलोत्पादकता शक्ति का सर्वथा विनाश हो जाने से पुनः तादृश कर्म परम्परा से फलोत्पत्ति नहीं होती है ॥७॥

गत श्लोक में कहा है कि कर्म करते हुए भी कर्म योगी कर्म से लिप्त नहीं होता है तब कर्मयोगी किस प्रकार शरीर यात्रा चलाते हुए यावत् जीवन किस प्रकार व्यवहार करता है इस जिज्ञासा के उत्तर में दो श्लोकों से कहते हैं "नैवकिञ्चित् करोमि त्यादि युक्त अर्थात् कर्मयोग में परायण तथा आत्मवित् आत्मज्ञान संपन्न कर्म योगी दर्शन श्रवण स्पर्शन घ्राण रसनादिक ज्ञानेन्द्रिय चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय के विषय में तथा गमन प्रलपन विसर्जन ग्रहणात्मक कर्मेन्द्रिय वागादिक के विषय में तथा प्राण व्यापार स्वाप श्वास उन्मेष निमेषव्यापार में प्रवृत्ति करता हुआ भी इन्द्रिय ही अपने अपने व्यापार विषय में प्रवृत्त होती है इस प्रकार विचार करता हुआ मैं कुछ नहीं करता हूं । किन्तु अनादि कर्म के सम्बन्ध से प्रवृत्त जो करण (इन्द्रिय ग्राम) तथा शरीर इनके सम्बन्ध मात्र से मेरी यह दर्शनादिक में प्रवृत्ति होती है एवम् इन्द्रिय के सम्बन्ध रूप कारण बल से मुझ में कर्तृत्व है परन्तु मेरे स्वरूप के अनुकूल यह उपरोक्त

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

विषयेषु गमनप्रलपनविसर्जनग्रहणेषु कर्मेन्द्रियाणां विषयेषु स्वापश्वासोन्मेषणनिमेषणेषु प्राणानां व्यापारेषु प्रवृत्तिं कुर्वन इन्द्रियाण्यन्येव स्वस्वविषयेषु वर्त्तन्ते इत्येवं विचारयन्नहं किञ्चिदपि नैव करोमि किन्त्वनादिकर्मसंसर्गप्रवृत्तकरणकलेवरादिसम्बन्धादियं मे प्रवृत्तिरिन्द्रियसम्बन्धप्रयुक्तमिदं कर्तृत्वं मत्स्वरूपानुगुणं नैवास्तीति मन्येत ।८।९।

तथा भावनायाः फलं दर्शयति ब्रह्मणीति । ब्रह्मण्याधायेत्युक्तिवैचित्र्यात्पूर्वमिन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इत्युक्तत्वाद् ब्रह्मशब्देनेह प्रकृतिपरिणामविशेषेन्द्रियरूपा प्रकृतिरुच्यते । यद्यपि मम योनिर्महद्ब्रह्मेत्यादौ प्रकृतिरेव ब्रह्मशब्देन निर्दिष्टा तथापि प्रकृतिकार्यत्वादिन्द्रियेष्वपि प्रकृतिव्यवहारोऽक्षतः । तथा चेन्द्रियरूपायां प्रकृतौ पूर्वोक्तरीत्या क्रियमाणं कर्मसमर्प्य फलकामनाम्परित्यज्य योऽनुतिष्ठति स प्रकृति सम्ब-

कुछ भी कार्य नहीं है ऐसा कर्मयोगी मानता है। शरीरेन्द्रिय का यह सब कार्य है मुझ में कर्तृत्व नहीं है, यह समझकर शरीर यात्रा का निर्वाह कर्मयोगी करता है।

यद्यपि प्रकृत में शरीरेन्द्रिय सम्बन्ध मूलक जीव में कर्तृत्व कहा गया है स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है ऐसा कहा है। पर "कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्" इस ब्रह्म सूत्र में तो जीव में कर्तृत्व कहा गया है क्या तब दोनों जगह में विरोध नहीं होता है? तथापि तादृश सूत्र में भी शरीरेन्द्रिय में कर्तृत्व है क्योंकि अनादि कर्म प्रवाह मूलक करण कलेवरादिक सम्बन्ध होने से तदनुसंधान जीव में आवश्यक है। वस्तुतः भगवदंशरूप जीव हैं अतः उनके भगवत्स्वरूप होने से स्वाभाविक कर्तृत्व संभवित न होने से औपाधिकानुसन्धान है। विशेष विवेचन सूत्र भाष्य भाष्यदीप तथा भाष्य प्रकाश में ही देखें ॥८-९॥

मैं कुछ नहीं करता हूं इन्द्रिय वर्ग ही कर्ता है इत्यादि जो भावना उस भावना का क्या फल है अर्थात् सभी प्रकार के होने वाले इन्द्रिय व्यवहार में मैं कुछ नहीं करता हूं एतादृश विशुद्ध भावना के बल से तत्व ज्ञानी कर्मफल से संस्पृश्यमान नहीं होता है इसी बात का पुनः कथन करते हैं "ब्रह्मणीत्यादि" जो साधक विशेष ब्रह्म में अर्थात् ब्रह्म कार्य इन्द्रिय वर्ग में कर्म को संन्यस्त करके, ब्रह्म में आधान करके इस प्रकार के वचन वैचित्र्य से इन्द्रिय अपने विषय में रहती है ऐसा कहा है यहाँ ब्रह्म शब्द से प्रकृति के परिणाम विशेष रूप इन्द्रिय को प्रकृति शब्द से कहते हैं। यद्यपि "ममयोनिर्महद्ब्रह्म" यहाँ ब्रह्म शब्द से प्रकृति का कथन किया है और यहाँ ब्रह्म शब्द से इन्द्रिय का ग्रहण करते हैं तो परस्पर विरोध होता है तथापि कार्य

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्मकुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

द्धोऽपि तदभिमानशून्यत्वात्कर्मबन्धजनितपापेनाऽम्भसा पद्मपत्रमिव न लिप्यते नार्द्रतामुपगच्छति ॥१०॥

प्रोक्तमर्थं शिष्टाचारेण दृढयन् विवृणोति—कायेनेति । योगिनः कर्मयोगिनः फलाभिकांक्षाऽपरित्यज्यान्तः करणान्तर्निविष्टकर्माशयविनाशाय । कर्तृत्वाभिमानम्परिहाय देहमनोबुद्धीन्द्रियैरपि कर्म कुर्वन्ति ॥११॥

फलकामनायामेव बन्धस्तदभावे च मुक्तिरित्युपदिशति युक्त इति । युक्त आत्मनिविष्टचेतसा कर्मानुष्ठानतत्परोऽनुष्ठीयमानकर्मणां फलंत्यक्त्वाऽऽत्यन्तिकीं शान्तिं

हार होने में भी कोई विरोध नहीं है । ऐसा हुआ तब इन्द्रिय रूप प्रकृति में पूर्वकथित प्रकार से क्रियमाण जो कर्म उसे समर्पित करके और फल कामना का परित्याग करके जो व्यक्ति कर्म का अनुष्ठान करता है वह प्रकृति तथा प्रकृति कार्य से संबद्ध होने पर भी देहाद्यभिमान रहित होने के कारण कर्म बन्धन जनित पाप से बद्ध नहीं होता है । जैसे कमल पत्र सर्वदा जल में रहने पर भी जल से लिप्त नहीं होता है अर्थात् आर्द्र भाव को प्राप्त नही करता है ॥१०॥

कथित पदार्थ को शिष्टाचार द्वारा दृढ करते हुए कहते हैं "कायेनेत्यादि" योगी अर्थात् कर्मयोगी लोग फलाकांक्षा का सर्वथा त्याग करके आत्मशुद्धि के लिये अन्तः करण में निविष्ट जो कर्माशय उसके विनाश के लिए, कर्तृत्वाभिमान का परित्याग करके देह इन्द्रिय मन बुद्धि से भी कर्म करते हैं । महापुरुष के आराधन में तत्पर कर्म योगी लोग ऐहिकामुष्मिक फलेच्छा को छोड करके मन में स्थिरता का संपादन करने के लिये कायिक कर्म मन्दिरादि का मार्जन मानसिक भगवद्ध्यान बुद्धि से भगवत्स्वरूप का विनिश्चय इन्द्रिय से प्राणायामादिक भगवान् के आराधनात्मक कर्म करते है जो कुछ करते हैं वह भगवान् के आज्ञापरिपालन के लिए हि करते हैं नतु फललिप्सा से कुछ करते हैं ॥११॥

फल की कामना में बन्धन होता है और फल की कामना नहीं रख करके यदि कर्म किया जाय तब कामना के अभाव होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है इसी का उपदेश देते हैं । अर्थात पूर्वोक्त श्लोक से यह सिद्ध हुआ है कि कर्मानुष्ठान आवश्यक है तब

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

मुक्तिं प्राप्नोति। अयुक्तः स्वात्मानुसन्धानरहितः प्रभिन्ने फलेऽतिशयासक्तिं दधानो निबध्यते संसारबन्धं प्राप्नोति ॥१२॥

प्रकृतिपरिणामक्षेत्र एव कर्तृत्वादिकं संन्यस्यावतिष्ठमानस्य ज्ञानिनः स्थितिमाह सर्वकर्माणीति। मनसा गुणसङ्क्रान्तप्राकृतक्षेत्रसम्बन्धादेव कर्तृत्वं न तु मम स्वाभाविकं तदितिविचाराञ्चितचेतसा सर्वाणि क्रियमाणानि कर्माणि नवद्वारे ग्रीवाया उपरि भागे सप्तद्वाराणि पायूपस्थाख्यं द्वारद्वयमधस्तादिति नवद्वारात्मकेऽस्मिन् पुरे मनुजदेहे 'पुरमेकादशं द्वारमजस्यावक्रचेतस' इति काठके वचसि तु नाभिमूर्धन्यरं-

जबकर्म का अनुष्ठान करेंगे तब उसका फलोपभोग भी आवश्यक ही है फलोपभोग करने के लिये अधिष्टान शरीरादिक आवश्यक है इस स्थिति में संसार स्थिति तो बनी रहती है ऐसी शंका होने से सिद्धान्त बतलाते हैं "युक्तः कर्म फलमित्यादि" युक्त जो पुरुष है वह आत्मा में निविष्ट अर्थात् संलग्न मन होने से कर्म के अनुष्ठान में परायण व्यक्ति विशेष है अतः उस पुरुष से अनुष्ठीयमान वर्णाश्रमोचित जो कर्म है उस कर्म से जायमान जो ऐहिक आमुष्मिक फल विशेष है उस को छोड करके आत्यन्तिक शान्ति यानी संसार से उपराम अर्थात् मोक्ष को प्राप्तकरता है। और जो व्यक्ति अयुक्त है अर्थात् स्वात्मानुसन्धान से रहित है कर्म जनित फल में अतिशयेन आसक्ति को रखनेवाला है अतः वह बन्धन प्राप्त करता है यानी बद्ध ही होता है अर्थात् अनेक प्रकारक फलोपभोग प्रयोजक संसार बन्धन को ही प्राप्त करता है ॥१२॥

प्रकृति का परिणाम (कार्यरूप) जो क्षेत्र शरीर उस क्षेत्र में कर्तृत्व का संन्यास करके अर्थात् शरीर में ही कर्तृत्व यह बुद्धि करके अवस्थित (रहने वाला) ज्ञानी उस ज्ञानी की स्थिति को बतलाते हैं "सर्वकर्माणीत्यादि" (अथवा युक्त तथा अयुक्त पद बोधित जो आत्मानुभव तथा अनात्म स्वरूप शरीरादि विषयक जो बुद्धि है उससे अनासक्ति तथा आसक्ति के द्वारा मोक्ष तथा संसार रूप फल का कथन करके जिस पुरुष ने अपने अन्तःकरण को स्वाधीन कर लिया है उस पुरुष की स्थिति को बतलाने के लिये कहते हैं "सर्वकर्माणीत्यादि) जो व्यक्ति मन से अर्थात् गुण प्रकृति सम्बन्ध प्रयुक्त प्राकृत जो क्षेत्र शरीर उस के संबन्ध से ही कर्तृत्व है न तु मुझ में स्वाभाविक कर्तृत्व है इस प्रकार का जो सद्विचार उससे युक्त मन से क्रियमाण (संपाद्यमान) सभी कर्म के नव द्वार वाला इस देह में

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

ग्राभ्यां सहैकादशत्वोक्तिरत्र तु सर्वदोद्घाटितानामापामरं प्रत्यक्षतो दृश्यमानानां ग्रहणान्नवत्वोक्तिरिति न विरोधः । सन्न्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन् स्वयं कर्तृत्व कारयितृत्वादिभिर्व्यवहारैर्विरक्तो भूत्वा कर्मणां स्वरूपेणत्यागजन्या नेयं विरक्तिरपि तु कर्माणि कुर्वन्नपि मनसा तत्कर्तृत्वममत्वफलाशादिभिस्संन्यासोऽत्राभिप्रेतः । तथाविधो य सुखं स्वरूपमात्रावस्थः सन्नास्ते ॥१३॥

प्रभुः स्वस्वरूपस्वभावविशिष्टोऽयं जीवो लोकस्यान्यजनस्य न देवमनुष्या-

ग्रीवा के ऊपर सात द्वार दो आँख दो श्रोत्र दो नासिका छिद्र तथा मुख यह है सप्त द्वार कण्ठ से ऊपर तथा नीचे दो द्वार हैं पायु तथा उपस्थ मल मूत्र का प्रस्रवण स्थान इस प्रकार नव द्वारात्मक इस मनुष्य के शरीररूप नगर में रहनेवाला । यद्यपि नाभिमूर्धन्य छिद्रद्वय के साथ इस देह को एकादश द्वारवाला कहा गया है "पुरमेकादशद्वारम्" इस काठक उपनिषद् में तथापि प्रकृत में उससे कोई विरोध नहीं है क्योकि नवद्वारता तो आपामर प्रसिद्ध है जो कि प्रत्यक्षतः समुपलभ्यमान है । अन्यत्र भी कहा है "उद्घाटित नव द्वारे पुरे तिष्ठन् खगोऽनिलः । निष्ठतीत्येवमाश्चर्यं गच्छतीति किमद्भुतम ॥" खुला हुआ है नवद्वार जिस में एतादृश देह रूप नगर में रहने वाला वायु (जीव) रूप पक्षी रहता है यही आश्चर्य है निकल गया तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

अतः इस देह में नवद्वारता प्रसिद्ध है । एकादश द्वारात्मकता तो पामरयानी साधारण जन बोध्य नहीं है किन्तु बुधजन मात्रगम्य है ।

एतादृश नवद्वारवाला शरीर में कर्तृत्वादिक है यह समझ कर के स्वयं न करता हुआ न वा अन्य से कारयितृत्व व्यवहार से विरक्त हो करके कर्म में यह जो विरक्ति है वह कर्म के स्वरूपतः त्याग से जायमान नहीं है किन्तु कर्म के करते हुए भी मन से तद्विषयक कर्तृत्व ममत्व फलाशा के त्याग से सन्यास यहाँ अभिप्रेत है । ऐसा करके सुखपूर्वक अर्थात् स्वरूप मात्रावस्थ हो करके रहता है । अर्थात् जो कुछ करता है वह फलाशा रहित हो करके मैं कर्ता नहीं हूं, शरीरादिक कर्ता है मुझे कहीं आसक्ति या ममभाव नहीं है ऐसा बुद्धि पूर्वक विचार से कर्म करने पर कर्म बन्धन से विनिर्मुक्त होकर सुखपूर्वक अवस्थित रहता है ॥१३॥

इस प्रकार शरीर सम्बन्ध को लेकर के जीव द्वारा अनुष्ठीयमान वर्णाश्रमोचित विहित कर्मों का शरीर में ही संन्यास कह करके इसके बाद जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है उसे

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

धसाधारणं कर्तृत्वं तथा कर्माणि न कर्म फलसंयोगं नापि कर्मफलस्य संयोगं तत्तच्छरीरेषु सम्बन्धं सृजत्युत्पादयति । कथं तर्हि तथाऽभिमन्यमानो व्यवहरती त्याह स्वभावस्तु प्रवर्तत इति । अनादिकर्मवासनावशाद्देवमनुष्याद्याकारमासाद्य तस्य तथाविधप्राकृतस्वभाव एव कर्म फलसंयोगानुगुणं कर्तृत्वादिकं धत्ते । न पुनर्जीवस्य स्वरूप प्रयुक्तमेतत्सर्वम् तस्य स्वतो विशुद्धत्वात् ॥१४॥

विभुर्विशुद्धस्वरूपः स्वतो निर्विकारश्चायमात्मा कस्यचित् कर्मप्राप्तशरीरसम्बन्ध-

बतलाने के लिये कहते है "न कर्तृत्वमित्यादि" प्रभुः=कर्म के पराधीन नहीं स्वरूप स्वभाव विशिष्ट अर्थात् स्वकीय वास्तविक रूप से वर्तमान यह जीव भगवान् का शेषरूप किसी अन्य लोक के प्राकृत सम्बन्ध विशिष्टान्य व्यक्ति के सर्व देव मनुष्य साधारण तत्तत् शरीर के अभिमान से जायमान कर्तृत्व तथा कर्म को तत्तत् रूप से अनुष्ठित कर्मफल सयोग को सर्जित नहीं करता है, कुलालादि की तरह से तत्तत् शरीर में । यदि प्रभु जीव कर्तृत्व तथा तत्तत् शरीर में कर्म फल सम्बन्ध को उत्पादित नहीं करता है तब जगत् की यह प्रवृत्ति कैसे होती है इस आशंका के उत्तर में कहते हैं "स्वभावस्तु प्रवर्तते" अनादि कालिक जो कर्म वासना उसके बल से देव मनुष्यादि आकार को प्राप्त करके उस जीव का तादृश जो प्रकृति निर्मित स्वभाव है वही स्वभाव विशेष कर्मफल के संयोग में उपयोगी कर्तृत्वादिक को धारण करता है । ननु जीवात्मा के स्वरूप जनित कर्तृत्वादिक है क्योंकि स्वरूप से तो यह जीव भगवदंश होने से अत्यंत विशुद्ध है । तात्पर्य यह है कि जीव तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सर्वेश्वर परमात्मा श्रीरामजी के शेष होने से स्वरूप से तो वह अत्यन्त निर्मल है तब जो इसमें कर्तृत्व कर्मफल संयोगादि का प्रतिभास होता है वह केवल अनादिकालिक कर्मवासना के बल से प्रतिभासित होता है स्वभाव प्रयुक्तनहीं है । जैसे स्फटिक में जपाकुसुमादि नील पीत रूप से सम्बन्ध होने पर नीलादि का प्रतिभास होता है स्वरूप से तो स्फटिक अतिस्वच्छ है उसी तरह से प्रकृत में जीव तो भगवत् शेष होने से सर्वमल से असंपृक्त ही है स्वभावतः केवल अनादि कालिक संचित कर्मवासना से वासित होने के कारण कर्तृत्व कर्मफल संयोग से समवेत के समान प्रतिभासित होता है स्वाभाविक स्वच्छता होने पर भी ॥१४॥

"न कर्तृत्वं न कर्माणि" इत्यादि । पूर्वश्लोक से जो जीवात्मा में अकर्तृत्व का व्यवस्थापन किया गया है उसी अकर्तृत्व को स्थुणा निखननन्यायेन दृढी करण करने के लिये कहते हैं

युक्तस्य परिजनादेः पापं पापफलं दुःखं न स्वयमादत्ते गृह्णाति। कस्यचित् सुकृतं पुण्यफलमपि नैव गृह्णाति। किन्तु सात्विकस्य ज्ञानस्यावरकं तमोगुण जन्यमज्ञानमेव। तेनेदमात्मस्वरूपप्रकाशकं ज्ञानमावृतमाच्छादितम् तेन हेतुना सर्वे जन्तवो मुह्यन्ति मद्वैमुख्येन संसार सागरे निमग्ना मोहं प्राप्नुवन्ति ॥१५॥

"नादत्ते" इत्यादि। विभु भगवत् शेष होने से अत्यन्त निर्मल स्वभाव वाला तथा स्वरूप से सर्वविकार वर्जित यह जीवात्मा। यहाँ प्रकृत श्लोक में जो विभु शब्द है उसका कोई कोई व्यक्ति अर्थ करते हैं कि व्यापक सर्वमूर्त संयोगी जीवात्मा है, परन्तु वह अर्थ ठीक नहीं है इस विषय में वैष्णव भाष्यकार स्वामी श्रीवैष्णवाचार्यजी का कथन है कि यदि यहाँ व्यापकतार्थक विभु शब्द को मानें तब तो "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" "वालाग्रशत भागस्य" अन्तःकरण मन के द्वारा जानने के योग्य यह जीव प्रमाण से अणु है। बाल का जो अग्रभाग है उसका सौभाग करके एकभाग का पुनः सौभाग किये जाने पर यादृश प्रमाण हो तादृश अणु प्रमाणक जीव है, एतादृश जीव की अणुता प्रतिपादक जो श्रुति है उसका विरोध होगा। तथा जो श्रुति में जाव का उत्क्रमणादिक कहा गया है वह भी असंगत हो जायगा क्योंकि व्यापक पदार्थ का आवागमन असामंजस्य दोष प्रधान है। वस्तुतः विचार किया जाय तो विभु शब्द का अर्थ व्यापकता नहीं है क्यों कि भूधातु का अर्थ है सत्ता कथंचित् उत्पत्ति। यदि विपद के समभिव्याहार से व्यापक अर्थ करे "उपसर्गेणधात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते" इस नियम से तो वह भी ठीक नहीं क्योकि कोई कोई वैयाकरण उपसर्ग को वाचक नहीं मानकर द्योतक मानते हैं तब तो प्रकृति में जो अर्थ है उसका द्योतक हा वि उपसर्ग होगा अतः विभु का अर्थ व्यापक नहीं है। विशेषेण स्थावर जंगम देव नारका दिरूपेण भवति यः स विभुः, यह अर्थ ही उचित है। अत एव भाष्यकारने व्यापक अणुवाद की चर्चा में न पडकर "विशुद्धः स्वरूपः" यही अर्थ किया।

किसी का अर्थात् कर्म बल से प्राप्त है शरीर सम्बन्ध जिसे ऐसा जो परिजनों का पाप है अर्थात् पापकर्म जनित जो दुःख है उसे स्वयं नहीं ग्रहण कर लेता है। अथवा किसी भी परिजन सम्बन्धी जो सुकृत फल है सुख उसका भी ग्रहण नहीं करता है क्योंकि स्वभावतः यह आत्मा जीव अनुकूलता प्रतिकूलता स्वभाव से सर्वथा रहित है।

प्रश्न—तब किस कारण को लेकर इसे आनुकूल्य तथा प्राति कूल्य का व्यवहार होता है।

उत्तर—वासनामूलक यह सब व्यवहार होता है। यह एतादृशी वासना ही किस कारण से आती है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

एवं कर्मणी कर्तृत्वाभिमानेनानर्थावाप्तिरुक्ताऽथतन्निवारणाय ज्ञानयोगस्यैव विशोधनं क्रियते ज्ञानेनेति । येषां सुकृतभाजान्तु स्वरूपविषयकेनात्मनो ज्ञानेन तदज्ञानं ज्ञानाद्याच्छादकमज्ञानं नाशितं तेषां तत्स्वरूपप्रकाशकं परमानन्त्यविशिष्टं ज्ञानमादित्यवद्भास्करवत् प्रकाशयति कृत्स्नं जगद्याथार्थ्येनावभासयति । एतेनाज्ञानोपाधिवशादात्मनो नानात्वमवभाति व्यपेतोपाधौ त्वेक एवात्माऽवशिष्यते सोऽपि च ज्ञप्ति-

इसके उत्तर में कहते है "अज्ञानेनेत्यादि" स्वयं किसीके सुख दुःख का ग्रहण नहीं करता है किन्तु सात्विक ज्ञान के आवरण करनेवाला तमोगुण से उत्पन्न जो अज्ञान वही करण है उस अज्ञान से आत्म स्वरूप का प्रकाशक अर्थात् सात्विक ज्ञान आवृत ढका हुआ है । इसी कारण से हे अर्जुन ! सभी जीव मुग्ध होते हैं । अर्थात् हम से विमुख होकर संसार सागर में डूब करके मोह को प्राप्त करते हैं । अर्थात् ज्ञान के विरोधी प्राचीन कर्म जो अज्ञान उससे प्रायः जीव विमुग्ध होते हैं इसी अज्ञान के बल से विपरीत वासना होती है तब इस जीवराशि का संसार सागर में पतन होता है ॥१५॥

कर्म में कर्तृत्व का अभिमान करनेसे अज्ञान की वृद्धि होती है और उस अज्ञान से विमुख हो करके जीव बारंबार संसार प्राप्ति रूप अनर्थ को प्राप्त करता है ऐसा कहाहै पन्द्रहवें श्लोक में अतः उस अज्ञान के निवारण करने के लिए ज्ञानयोग का ही विशोधन करते हैं अर्थात् तादृश अज्ञान के निराकरण करने में ज्ञान ही समर्थ है । अतः ज्ञान का वैशिष्ट्य बतलाते हैं "ज्ञानेनेत्यादि" जिन पुण्य शाली व्यक्तियों को स्वरूप विषयक आत्मज्ञान द्वारा ज्ञान के आच्छादक यानी आवरण करनेवाला वह अज्ञान नाशित हो गया है उन पुण्यशाली व्यक्तियों का वह स्वरूप विषयक परम आनन्त्य विशिष्ट अर्थात् स्वाभाविक सर्वपदार्थ विशोधक अपरिच्छिन्न असंकुचित ज्ञान आदित्य प्रकाश के समान प्रकाश करता है अर्थात् संपूर्ण जगत् को अवभासित कराता है । एतादृश कथन से जो व्यक्ति उपाधि के बल से आत्मा में नानात्व मानें यानी भेद अवभासित होता है और जब उपाधि रहित हो जाता हैं तब एक ही आत्मा रह जाती है वह भी एक तथा विज्ञान मात्र रूप ही है ऐसा जो मानने वाले हैं उनका मत खण्डित हो जाता है क्योंकि विनष्ट है अज्ञान जिसका ऐसी जो आत्मा उसका ज्ञान सूर्य के समान भासित होता है यहाँ "तेषाम्" इस बहुवचन से अनेकत्व का निर्देश करने से मोक्ष काल में भी आत्म बहुत्व की ही सिद्धि की गई है । इसी प्रकार जो व्यक्ति

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

मात्रमिति मतं निरस्तम् । विनष्टाज्ञानानामेव 'तेषामि'ति बहुत्वेन निर्देशान्मुक्तिदशायामपि बहुत्वं सिद्धमेव । ज्ञप्तिमात्रमेवात्मेति मतमप्यपाकृतं 'तेषां ज्ञानमि ति धर्मधर्मिभावेनैव निर्देशात् सर्वज्ञस्य भगवतो वचनस्यान्यथा व्याख्यातुमशक्यत्वात् ।१६।

ज्ञानाभ्यासं दर्शयति तद्बुद्धय इति । तद्बुद्धयस्तस्मिन्नात्मज्ञाने बुद्धिर्दृढनिश्चयो येषान्ते तथा तदात्मानस्तस्मिन्मनो येषान्ते तथा तन्निष्ठास्तस्मिन्नेव श्रद्धावन्तस्तत्परायणास्तदेव परमयनं प्रयोजनं येषान्ते स्वरूपविषयकज्ञा नैकप्रयोजना इत्यर्थः ।

ज्ञानमात्र स्वरूप आत्मा को मानते हैं उनका मत भी परास्त हो जाता है क्योंकि "तेषाम् ज्ञानम्" यहाँ धर्म धर्मिभाव से निर्देश करने के कारण अर्थात् आत्मारूप धर्मि से ज्ञानरूप धर्म भिन्न है । जैसे "देवदत्तस्यकंवलम्" देवदत्त का यह कंवल है ऐसा कहने से देवदत्त तथा कंवल में भेद रहता है, नतु देवदत्त तथा कंवल एक होता है । क्योंकि देवदत्तस्य यहाँ षष्ठी विभक्ति सम्बन्ध को बतलाती है और सम्बन्ध भेदाधीन है । उसी प्रकार "तेषाम् ज्ञानम्" यहाँ तत्पद के उत्तर में षष्ठी विभक्ति आत्मा तथा ज्ञान में भेद का हा प्रतिपादन करती है । नहीं कहें कि अभेद में यहां षष्ठी है "राहोः शिरः" राहु तथा शिर के एक होने से षष्ठी यहाँ भेदार्थक नहीं है किन्तु अभेदार्थक है इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं "सर्वं ज्ञस्य भगवतः" इत्यादि । भगवान् सर्वज्ञ जो गीताचार्य हैं उनके वचन को प्रकारान्तर से व्याख्यान करना अशक्य है । अर्थात् सर्वत्र षष्ठी विभक्ति स्वारसिक रूप से भेद अर्थ के प्रतिपादन करने में जब समर्थ है तब भगवद् वचन में जघन्य वृत्ति को लेकर षष्ठी का अर्थान्तर करना अनुचित है । इस विषय का विशेष विवेचन द्वितीयाध्याय के बारहवें श्लोक में विस्तृत रूप से किया गया है अतः विशेषार्थी वहीं देखें ॥१६॥

जो ज्ञान परमपद का जनक है उस ज्ञान के अभ्यास प्रकार को बतलाते हुए कहते हैं "तद् बुद्धयः" इत्यादि । आत्मविषयक ज्ञान में ही दृढ अविचल है बुद्धि निश्चय जिनका वे तद् बुद्धिक कहलाते हैं । एवं तदात्मा उस आत्मा में आत्मविषयक ज्ञान में ओतप्रोत है मन जिनका तथा उसी में श्रद्धावान् तथा तत्परायण आत्मविषयक निश्चय ही है प्रयोजन जिनका अर्थात् स्वरूप विषय ज्ञानमात्र ही है प्रयोजन जिनका एतादृश ज्ञानैक चित्तवाले अत एव ज्ञान से अपनीत है विनाशित है कल्मष कर्म जनित वासना जिनकी ऐसे जो उपासक हैं वे अपुनरावृत्ति पद को प्राप्त करते हैं । अर्थात् जो साधक आत्मविषयकज्ञान में निश्चित बुद्धि वाला तथा

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

तथाविधा ज्ञानैकचित्ता ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ज्ञानापनीतकर्मवासना उपासका अपुनरावृत्ति पुनरावृत्तिवर्जितं परमात्मानं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । अत्रापि तद् बुद्धयः परमात्म-बुद्धय इति तच्छब्देन परमात्मग्रहणे प्रकरण भङ्गापत्तेः परव्याख्यानमसङ्गतं ज्ञेयम् ।१७।

एवं भूतस्य ज्ञानिनोऽन्यत्र समानव्यवहारो भवतीत्याह विद्येति । विद्या-विनयसम्पन्ने विद्यया शास्त्राभ्यासेन विनयेन च सम्पन्ने विद्वद्ब्राह्मणे जातिमात्रेण

आत्म ज्ञान में संलग्न मनस्क है तत श्रद्धाशीलादि गुण विशिष्ट तथा ज्ञान द्वारा अनादि कालिक कर्म वासनामल को हटा लिया है जिसने ऐसा साधक विशेष पुनरावृत्ति विवर्जित आत्म स्वरूप लक्षण दिव्य लोकोत्तर पद को प्राप्त करता है | संसारचक्र का जो आवागमन लक्षण बन्धन है उस से सर्वदा के लिए मुक्त होकर भगवद्धाम दिव्य श्रीसाकेत में प्राप्त हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है यहां पर 'तद्बुद्धयः' में तत् शब्द से 'परमात्मबुद्धयः' इस प्रकार से पर मात्मा का परामर्श ग्रहण कितनेही व्याख्याकारों ने किया है पर वह प्रकरण विरुद्ध होने से असंगत है अत एव उपेक्षणीय है ॥१७॥

पूर्वश्लोकोक्त गुणविशिष्ट जो ज्ञानी है वह जिस प्रकार स्वस्वरूप में आत्मतत्व को देखता है वह स्वस्वरूप व्यतिरिक्त परमात्म शेष सात्विक राजस तामस प्रभेदभिन्न जीवान्तर में भी समानता को ही देखता है न कि विषम दृष्टि उसकी होती है । क्योंकि विषमता का प्रयोजक आत्मस्वरूपका अनवबोध था वह तो आत्मयथार्थावबोध से अपगत हो गया है इसलिए कारणाभाव से कार्याभाव का अवस्थान स्वाभाविक है इसी बात को भाष्यकार एवं भूतज्ञानी को अन्यत्र भी समानव्यवहार होता है यह कह करके अग्रिम ग्रन्थ का उत्थान करते हैं "विद्येत्यादि" इस अठारहवें श्लोक में भगवान् ने समदर्शी को उद्देश्य करके पाण्डित्यरूप गुण का विधान किया है—जो समदर्शी है वही पण्डित हैं यह अर्थ होता है । अथवा पण्डित को उद्देश्य करके समदर्शिता गुण का विधान किया है जो पण्डित हो उसे समदर्शिता अवश्य हो, यह अर्थ है । इसमें ज्ञानाकार से आत्मा सर्वत्र समरूप से है इस वस्तु को बतलाने के लिये इस श्लोक का उत्थान होता है ।

विद्या विनय से संपन्न ब्राह्मण में, विद्या नाम है शास्त्राभ्यास जनित ज्ञान तथा विनय सदाचार युक्त प्रवृद्ध सत्य गुण ब्राह्मण तथा सत्वगुणक विनय रहित जाति ब्राह्मण में (ब्राह्मण दो प्रकार के होते हैं "तपः श्रुतं च योनिश्च एतद् ब्राह्मण कारणम् । तपः

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

च ब्राह्मणे सात्विकप्रकृतिके गवि हस्तिनि राजसप्रकृतिके शुनि चैव श्वपाके चेति तमः प्रकृतिकेऽत्यन्तविषमाकारेषु पण्डिता आत्म याथात्म्यवेदिनः समदर्शिनः सर्वत्र ज्ञानाकारेण सममेवात्मानं पश्यन्तीत्यर्थः ॥१८॥

इदानीं समदर्शिनां प्रशंसया समदर्शनस्य फलमुच्यते इहेति । इह समदर्शनानुष्ठानसमय एव तैर्मुमुक्षुभिः साधकैस्सर्गस्संसारप्राप्तिप्रयोजककर्मबन्धो जितो निवारितो येषां सज्जनानां मनः साम्ये सर्वात्मनां समभावे स्थितम् । यस्मान्निर्दोषं समं

श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण उच्यते ॥" विशुद्ध योनि तथा तप श्रुत है जिसमें वह उत्कृष्ट ब्राह्मण है और जो तप श्रुति रहित है केवल ब्राह्मण कुल में उत्पन्न है वह जाति ब्राह्मण कहलाती है। इस स्मृति प्रमाण से जिसमें शास्त्राभ्यास जनित ज्ञान तथा विनय है वह विशिष्ट अतिशयेन प्रवृद्ध सत्व गुणक है उसमें और गुण है जिसमें तथा विद्या विनय है जिसमें ऐसी जो ब्राह्मण जाति है उसमें) इन दो प्रकार के ब्राह्मण में तथा अतिशयेन प्रवृद्ध है रजोगुण जिसमें ऐसा गो जातीयक में एवं राजस प्रकृतिक हाथी प्रभृति में तथ प्रवृद्ध है तमोगुण जिसमें एतादृश कुक्कुर जातीयक में केवल तमः प्रकृतिक श्वपाक (चाण्डाल) में जो कि परस्पर अत्यन्त विषम आकार वाले हैं इन सबों में पण्डित आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले समदर्शी होते हैं पूर्वोक्त सबों में ज्ञानाकार से अवस्थित आत्मा को समानरूप से जानते हैं ॥१८॥

जो समदर्शी हैं उनकी प्रशंसा करने के लिए तत्स्य गुण स्वरूप समदर्शन विशेष फलका प्रदर्शन करते हैं "इहैवेत्यादि" हे अर्जुन ! यहाँ समदर्शन के अनुष्ठान समय में ही उन मुमुक्षु साधकों ने सर्ग को जीत लिया है अर्थात् संसार देव मनुष्य तिर्यगादि भेद भिन्न जो सकल जगत्, उसका प्रयोजक जो कर्म बन्धन उसे निवारित कर दिया है जिन मुमुक्षु सज्जन का मन, सभी आत्मा के समभाव में अवस्थित हो गया है । जिस लिये कि प्राकृत संसर्ग दोष से विनिर्मुक्त समपद से वाच्य जो आत्म तत्व वही ब्रह्म है, इसलिए समता में व्यवस्थित वे मुमुक्षु ब्रह्म में ही स्थित हैं क्यों कि कर्मबन्ध का विनाश हो जाने पर ब्रह्मावस्थान संभवित है । संसार संसृजित हो बनाया जाय जिसके द्वारा उसे कहते हैं सर्ग अर्थात् कर्म बन्ध उस कर्म बन्ध का विनाश ही मुमुक्षु की जय है। एतादृश संसार प्रयोजक जो कर्म का विनाश है वह आत्मसमदर्शन से होता है । यहाँ यह अभिप्राय है कि जैसे "धनवान् सुखी" जो धनवान् है वह सुखी है यहां सुख है विधेय और धनवान् पुरुष है उद्देश्य अर्थात् धनवान्

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

ब्रह्म प्राकृतसंसर्गदोषविनिर्मुक्तं समपद वाच्यमात्मतत्वमेव ब्रह्मास्ति । तस्मात्साम्यस्थास्ते ब्रह्मण्येव स्थिताः। कर्मबन्धविनाशे ब्रह्मस्थितिः सम्भवति । सृज्यते संसारोऽनेनेति सर्गः कर्मबन्धस्तस्य विनाश एव हि तज्जयः स चात्मसमदर्शनेना भवतीत्यर्थः ॥१९॥

प्रियाप्रियसमागमे साम्यदृष्टिः कथं स्यादित्याशंकायामाह नेति। ब्रह्मवित् सदाचार्योपदेशेनात्मपरमात्मतत्त्ववेत्ता । ब्रह्मणिस्थितो यतमानः । असंमूढः परित्यक्तास्थिरदेहात्माभिमानः। स्थिर आत्मन्येव बुद्धिर्यस्य स स्थिरबुद्धिः पुरुषो दैवात्

को उद्देश्य करके सुख विधेय होता है एक नियम है कि यदि कोई प्रबल बाधक न हो तो उद्देश्यतावच्छेदक प्रयोज्यताविधेय में भासित होता है प्रकृत में उद्देश्य है धनवान् और उद्देश्य धनवान में विशेषण रूप से विद्यमान धन है वह हुआ उद्देश्यतावच्छेदक तो उद्देश्यतावच्छेदक तो धन है वह होता है विधेय सुख में प्रयोजक अर्थात् धन जनित सुख है उस व्यक्ति में । इसी प्रकार से दार्ष्टान्तिक प्रकृत में समदर्शित्व विशिष्ट पुरुष मुमुक्षु में सर्ग जय का विधान किया है जिस लिये समदर्शी है अतः सर्ग जयवाला है तो यहाँ समदर्शन विशेषण है समदर्शी में तो वह हुआ उद्देश्यतावच्छेदक अर्थात् समदर्शन हुआ और विधेय है सर्ग जय तो उद्देश्यतावच्छेदक जो समदर्शन उस समदर्शन से उत्पन्न होता है सर्ग जय। यही उद्देश्य तावच्छेदक प्रयोज्यता विधेयांश में भासित होता है एतादृश नियम है उसे दृष्टि में रख करके भाष्यकार कहते हैं "सर्गः कर्मबन्धः तस्य विनाश एव तज्जयः स चात्मदर्शनेन संभवतीति । विशेष विवेचन अन्यत्र देखें ॥१९॥

प्रिय अप्रिय पदार्थ के सम्बन्ध होने से समदर्शन कैसे होगा अर्थात् ब्रह्मसमदर्शन से अनादि कालिक अविद्या कर्मबन्ध का विनाश हो जाता है और सर्गजय होता है ऐसा पहले कहा गया है अत विज्ञान की सिद्धि के लिए समदर्शन मुमुक्षु को किस कारण से होता है तो उस कारण को बतलाने के लिये कहते हैं । क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । इसलिये मुमुक्षु को तादृश ब्रह्म दर्शन किस कारण से उत्पन्न होता है उस कारण को बतलाने के लिए कहते हैं "न प्रहृष्ये दित्यादि" सत् शास्त्र तथासद्गुरु के उपदेश से आत्मा तथा परमात्मतत्व को जाननेवाला ब्रह्मवित् ब्रह्म में स्थित होता हुआ उसके लिये प्रयत्मान अर्थात् ज्ञान अर्थ को निदिध्यासन द्वारा दृढ करता हुआ असंमूढ संमोहरहित अर्थात् अस्थिर देहेन्द्रियादिकमें आत्माभिमान को छोडकरके स्थिर अर्थात त्रिकालाबाधित आत्मामें

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

प्रियमनुकूलं प्राप्य न प्रहृष्येत् । अप्रियमननुकूलञ्च प्राप्य नोद्विजेदुद्वेगं न प्राप्नुयात् ॥२०॥

एवमनुष्ठितेऽक्षय्यं सुखं मोक्षं प्राप्नोतीत्युच्यते—बाह्य स्पर्शेष्विति । यः । बाह्यस्पर्शेष्वात्मेतरेषु शब्दादिबाह्यविषयेषु न सक्तोऽसक्त आसक्तिरहितः, असक्त आत्मा मनो यस्य सावसक्तात्माऽऽसक्तिवर्जितमनाः । आत्मनि सुखं विन्दसति । स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्माभ्यासयुक्तमनस्कः अक्षय्यं नित्यं । सुखंब्रह्मानुभवरूपं मोक्षसुखम् । अश्नुते ॥२१॥

ही बुद्धि है जिसकी ऐसे मुमुक्षु पुरुष प्रारब्ध कर्म के बल से प्रिय अनुकूल पदार्थ को प्राप्त करके मनमें प्रसन्नता को प्राप्त न करे तथा अप्रिय स्व के प्रतिकूल पदार्थ को प्राप्त करने पर भी उत्तेजित नहीं हो । अप्रिय समागम में लेशमात्र से भी मन में उद्वेग न करे । भाग्यवलादुपस्थित प्रियाप्रिय पदार्थ में हर्ष आमर्ष रहित होता हुआ सर्वदा नित्यसुख सुखस्वरूप आत्मा का ही अनुध्यान करे, न तु प्रियादिक का कथमपि चिन्तन करे ॥२०॥

उपरोक्त श्लोक प्रदर्शित प्रकार से अनुष्ठान करने वाला साधक अक्षय सुख जिसको मोक्ष कहते हैं उसे प्राप्त करता है, अर्थात् समदर्शिता का प्रयोजक प्रियाप्रिय का चिन्तन न करनेवाला पुरुष को जो नित्य निरतिशय आत्यन्तिक सुख प्राप्त होता है उसका वर्णन करने के लिए कहते हैं—"बाह्येत्यादि" जो श्रेयार्थी महापुरुष आत्मा से भिन्न क्षणभंगुर श्रोत्रादीन्द्रिय ग्राह्य बाह्य शब्दादिक में असक्तात्मा है सक्त नहीं होने का नाम है असक्त अर्थात् विषय में आसक्ति इच्छा रहित बाह्यवस्तु शब्दादिक में नहीं हैं । सक्त आत्मा अर्थात् मन जिसका यानी आसक्ति रहित मनवाला मुमुक्षु पुरुष आत्मा में सुख को प्राप्त करता है, वह ब्रह्मयोग युक्तात्मा अर्थात् ब्रह्म के अभ्यास निदिध्यासन करने में अनवरत लगा हुआ है मन जिसका ऐसा साधक पुरुष अक्षय्य अर्थात् नित्यनिरतिशय उत्पाद विनाश रहित सुख को ब्रह्मानुभव रूप मोक्ष सुख को प्राप्त करता है । 'अनित्य शब्दादिक बाह्य पदार्थ से असक्त' मन होकर, ब्रह्मानुभव करने में सर्वदा व्यापृत है मन जिसका ऐसा साधक पुरुष नित्य निरतिशय ब्रह्म रूप मोक्ष सुख को प्राप्त करलेता है ॥२१॥

अनादिकालादनुभूतविषयेभ्यो विरतिस्तु दोषदर्शनादेव जायते तदाह य इति। हे कौन्तेय ! ये हि विषये संयोग जनिता भोगा दिव्या मानसाश्च ते सर्वे दुःखयोन यद्दुःखानां योनयः सर्वेषु कालेषु दुःखप्रदा एव। आद्यन्तवन्त उत्पन्न विनश्वरा न

अनादिभव परम्परा से अनुभूत जो विषय समुदाय उससे वैराग्य कैसे हो सकता है यदि विषयों में दोष दर्शन हो अन्यथा नहीं। अतः विषयमें दोष दृष्टि का उपपादन करने के लिये प्रक्रम करते हैं अर्थात् अनादिकाल से विषय में लगा हुआ जो अन्तःकरण है वह आत्मदर्शन में अकस्मात् किस तरह प्रवृत्त होगा तथा झटिति विषयभोग से उपरत किस प्रकार होगा। इस प्रकार आशंका करके विषय में वैराग्य होने से मनका निरोध होगा और विषय में वैराग्य विषय में दोष दर्शन से होगा इसलिए भोग की निन्दा करते हुए वैराग्य को दृढ करने के लिए भगवान् प्रक्रम करते हैं "ये हीत्यादि" हे कौन्तेय जो विषय शब्दादिक में संयोग से जायमान भोग है वह चाहे दिव्य भोग हो अथवा मनुष्यादि सम्बन्धी भोग हों वे सभी भोग दुःख के कारण ही हैं दुःख की योनि है सभी काल में दुःख देनेवाला है और इन सबों के विषयभोग आद्यंतवान् हैं अर्थात् उत्पाद विनाशशील हैं इन विषयों में नित्यता की तो गन्ध भी नहीं है। अतः जो बुध है अर्थात् जो आत्मयाथात्म्य ज्ञान में निपुण हैं वे लोग क्षुद्र अत्यल्पफलक अत्यल्प काल मात्र में रहनेवाले इन बाह्यभोग में कभी भी नहीं रमते हैं किन्तु इन भोगों से विरक्त ही रहते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्म सम दर्शन मोक्ष प्राप्ति सभी के सभी वैराग्यमूलक हैं और वैराग्य विषय में दोष दर्शन से होता है। जिस व्यक्ति को ऐहिकआमुष्मिक विषय में क्षयित्व कारण पारतंत्र्यादि को देखकर उन सभी वस्तुओं में वितृष्णा हो जाय तब परिपक्व वैराग्य कहलाता है। जिसे भगवान् पतञ्जलि ने कहा है "दृष्टानु श्राविक विषय वितृष्णस्यवशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" इसी प्रकार आयुविषयक दोष दृष्टि से वैराग्य करना चाहिये। अभियुक्तों ने कहा है—"येषांनिमेषोन्मेषाभ्यां जगतांप्रलयोदयः। तादृशाः पुरुषा याता मादृशां गणनैवका ॥" जिन महाबल पराक्रमी व्यक्तियों से अनायास से जगत् की उत्पत्ति प्रलयादिक होता है तादृश महापुरुष भी जब कालकवलित हो गये तब मुझ सदृश क्षुद्र जीव के लिये तो कहना ही क्या है। जबकि एक समय ऐसा आता है जिसमें ब्रह्मा का भी पतन हो जाता है तब इस स्थिति में अपने ऐसे व्यक्ति की क्या दशा है कहां गणना है इत्यादि विचार से वैराग्य को परिपक्व करना। यद्यपि विषय अनुराग का कारण है तब उसमें वैराग्य होना असंभवित है। नहीं कहें कि विषय सुख तो दुःख संस्पृष्ट है इसलिए विषय से निवृत्ति होगी तो मैं कहता हूं कि सुख विशिष्ट होनेपर प्रवृत्ति ही क्यों नहीं? अतः दुः

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः २३।

तु नित्याः। अतो बुध आत्मयाथात्म्यज्ञान निपुणस्तेषु क्षुद्रफलेषु क्षुद्रकालावसानेषु भोगेषु न रमते। किन्तु विरमत इत्यर्थः ॥२२॥

ऐन्द्रियकसुखपरित्यागमुक्त्वा परवैराग्ययुक्तस्य फल माह शक्नोतीति यो नरः शरीरविमोक्षणात् कर्मयोगिन एतत्साधनदेहविमोकात् प्रागिहैव साधनानुष्ठानदशायामेव कामक्रोधोद्भवं कामो विषयभोगेच्छा क्रोध इष्टोपलब्धेरन्तरायभूतेषु द्वेषस्ताभ्यां- जनितं वेगं चित्तविकारं सोढुं शक्नोति स्वान्तः करण एव परवैराग्येण शमयितुं समर्थो भवति स एव युक्तः कर्मयोगविशिष्टः स एव च सुखी। दिव्यात्मानुभव लक्षणसुखयुक्त इत्यर्थः ॥२३॥

शको छोड कर सुखमात्र का उपभोग कर सकता है। किसी महापुरुष ने भी कहा है— "त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्यपुंसां दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा। ब्रीहिन् जिहासति सितो- त्तमतण्डुलाढ्यान् को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥" दुःखाप्रात होने के कारण वैष- यिक सुख भी त्याज्य है यह मूर्ख विप्रतारक व्यक्ति का विचार है क्योंकि स्वच्छ तण्डुल से युक्त तुषमात्रावनद्ध ब्रीही को क्या कोई छोडता है तथापि "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" इत्यादि श्रुति तथा अनेक स्मृतियों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त का विषय जात सुख उत्पाद विनाशशाली होने से त्याज्य है। एवम् "न स पुनरावर्तते" "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" इत्यादि श्रुति स्मृति से मोक्ष सुख में नित्यता की सिद्धि होती है। अतः नित्यसुख के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये श्रेयार्थी व्यक्ति को। इन सभी विषयों को लक्ष्य में रख करके श्री भाष्यकार ने कहा है "भोगेषु न रमते किन्तु विरमते" इति। इस विषय में विस्तृत विवेचन अन्यत्र देखें।२२।

इन्द्रिय संपर्कजनित विषय सुख का परित्याग करना चाहिये यह कहकर पर वैराग्य से युक्त पुरुष को क्या फल प्राप्त होता है उसे बतलाते है। अर्थात् विषय संपर्क से उत्पन्न जो भोग वह क्षणिक है तथा सर्वथा सर्वदा क्लेश का कारण है यह बतला कर वैराग्य का प्रतिपादन किया तो पर वैराग्य का फल जो तितिक्षा है उसका प्रतिपादन करने के लिये प्रक्रम करते हैं "शक्नोतीहै वेत्यादि।" जो कर्मयोगी व्यक्ति विशेष शरीर के त्याग से अर्थात् एतत् साधन जो देह उसके विमोक यानी त्याग से पहले यहाँ अर्थात् साधन के अनु- ष्ठान समय में ही काम क्रोध से समुत्पद्यमान वेग को इसमें काम कहते हैं शब्दादि विषयक भोगेच्छा और क्रोध कहते हैं सभी हित वस्तु की प्राप्ति होने में जो प्रतिबन्धक द्वेष इन

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानस्सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

आत्मावलोकनेऽन्तरङ्गसाधनान्याह–योऽन्त इति । यो योगी अन्तः सुखोऽन्तराऽऽत्मन्येव सुखं यस्य स तथाऽन्तरारामोऽन्तरात्मन्येवारामो यस्य स 'आत्म क्रीड-आत्मरतिः' इति श्रुत्यर्थोऽनेन विवृतो भवति । तथाऽन्तर्ज्योतिरन्तरेव ज्योतिः प्रकाशरूपं विमलं ज्ञानं यस्य स ब्रह्मभूतः शुद्धात्मनिष्ठः स योगी ब्रह्मनिर्वाणं स्वात्मानन्दलक्षणं सुखमधिगच्छति ॥२४॥

छिन्नद्वैधाश्छिन्नं नष्टं सुखदुःखात्मकं द्वैधं येषान्ते यतात्मान नियतमानसाः सर्वभूतहितेरताः सर्वेषां भूतानां हिते समुपकारेरता निरता ऋषयः श्रुत्यभ्यासपाटव-

दोनों से जायमान जो वेग चित्त विकार उस वेग के सहन करने में जो समर्थ है अर्थात् तदुभय जनित वेग को अपने अन्तः करण में ही शान्त कर देने में जो समर्थ है वहा युक्त हैं कर्म योग से विशिष्ट है तथा वहा सुखी है अर्थात विलक्षण आत्मानुभव स्वरूप सुख युक्त है ॥२३॥

पूर्वोक्त प्रकार से काम क्रोध के ऊपर प्राप्त विजय पुरुष के सुखादि फल को कह करके आत्मावलोकन में अन्तरंग साधन के प्रतिपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं "योन्त रित्यादि" जो आत्मा को जानने के लिये इच्छुक कर्मयोगी अन्तः सुख हैं अर्थात् अन्तः आत्मा में ही सुख है जिनका तथा अन्तराराम हैं अर्थात आत्मा की क्रीडा का स्थान है, इससे "आत्मक्रीड आत्मरतिः" इस श्रुति का जो अर्थ है वह प्रकाशित होता है । तथा जो योगी अन्तर्ज्योति है अर्थात् अन्दर में ही प्रकाश स्वरूप विमल ज्ञान है जिनका बाह्य विषयानपेक्ष्य विलक्षण ज्ञानवान् जो है वे ब्रह्मभू शुद्धात्म निष्ठयोगी ब्रह्म निर्वाण अर्थात् स्वात्मानन्द लक्षण सुख को प्राप्त करते हैं ॥२४॥

समदर्शी व्यक्ति के लिए अन्तरंग साधन का उपदेश करते है "लभन्ते" इत्यादि । जिन महापुरुषों का द्वैध विनष्ट हो गया है अर्थात् छिन्न है याना विनष्ट हो गया है सुख दुःखात्मक द्वैध अथवा विनष्ट हो गया है संशय लक्षण द्वैध जिनका ऐसे महापुरुष तथा जिनका मन वशीकृत है और जो भूतमात्र के उपकार करने में प्रवीण है सभी भूतों के उपकार करने में जो सदा समुद्यत है एतादृश जो ऋषि तथा जिन्हों श्रुति के अभ्यास से उस

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

मापन्ना मुमुक्षवः क्षीणकल्मषा विगतकर्मबन्धाः सन्तो ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते । परां गतिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥२५॥

एवम्प्रकारेण साधनमनुतिष्ठतां ब्रह्मप्राप्तिर्नेदीयसीत्याह कामक्रोधवियुक्तानामिति कामक्रोधवियुक्तानां त्यक्तकामक्रोधानां यतीनां प्रयत्नशीलानां यतचेतसां संयतमनसां विदितात्मनां निश्चितात्मस्वरूपाणां ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मदर्शनलक्षणानन्दोऽभितोऽतिसमीपतो वर्तते ॥२६॥

एवं कर्मज्ञानयोगावभिधाय मोक्षोपयोगियोगसाधनं योगिभिरवश्यमनुष्ठेयमित्याह स्पर्शानिति द्वाभ्याम् । यो योगी बाह्यान् स्पर्शान् बहिर्भवान् विषयान् बहिः कृत्वा चक्षुश्च भ्रुवोरन्तरे मध्ये च कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ नासा रन्ध्रयोरुच्छ्वासनिश्वा-

विषय में पटुत्व को धारण किया है ऐसे महानुभाव मुमुक्षु विगत कर्म बन्धन होते हुए ब्रह्म निर्वाण अर्थात् परागति अनुभव लक्षण आत्म सुख को प्राप्त करते हैं । अर्थात् वस्तुभूत नित्यनिरवधिक आवागमन विवर्जित सुख महोदधि को पाते हैं ॥२५॥

पूर्वोक्त प्रकार से मोक्ष साधन में प्रवृत्त जो कर्मयोगी हैं उनके लिए मोक्ष प्राप्ति अत्यन्त सन्निहित हो जाती है इस बात को बतलाते हैं—"कामक्रोधेत्यादि" जो साधक विशेष काम क्रोध से वियुक्त है अर्थात् काम क्रोध लक्षण मनो विकार जिनका नष्ट हो गया है तथा जो यति है सर्वदा मोक्ष के साधन के संपादन करने में प्रयत्न शील है एवं जो यतचित्त है अर्थात् जिन्होंने अपने मन को अविकार में कर लिया है तथा जो विदितात्मा है अर्थात् जिन्हें आत्म स्वरूप का निश्चय हो गया है ऐसे जो साधक विशेष सर्व साधन सम्पन्न हो गये हैं तादृश महापुरुष को ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म दर्शन लक्षण जो लोकोत्तर आनन्द विशेष वह अतिशयेन समीप स्थित हो जाता है । अर्थात् यथोक्त साधन सम्पत्ति के अव्यवहितोत्तर क्षण में मोक्ष प्राप्त होता है ॥२६॥

इस प्रकार कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का कथन करके मोक्ष में प्रयोजक जो योग साधन है उसका अनुष्ठान अवश्य कर्तव्य है इस बात को "स्पर्शान्" इत्यादि श्लोक दो से कहते हैं । जो योगी ध्यानयोगी बाह्य स्पर्श को अर्थात् बहिरवस्थित शब्दरूपादि विषय समुदाय को बाहर

यतेन्द्रियमनो बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे
कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

सरूपेण सञ्चरन्तौ प्राणापानौ समौ समानकौ कृत्वा यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्यताः संयताः स्वस्वविषयेभ्यो निवृत्ता बाह्येन्द्रियाणि मनोऽन्तरिन्द्रियं बुद्धिरध्यवसायश्च यस्यासौ तथोक्तः । अत एव विगतेच्छाभयक्रोधः कामनाभयक्रोधादिरहितः केवलं मोक्षपरायणः मोक्षफलैकलिप्सया धृतजीवनोऽत एव मुनिरात्मस्वरूपचिन्तनचतुरः स सदा मुक्त एव । तादृश आत्मचिन्तकः सांसारिकक्लेशनिवृत्त्या परमानन्दमनुभवन्मुक्तवदिहावतिष्ठते । जीवन्मुक्तो भवतीति परव्याख्यानन्त्वयुक्तं मुनिर्मोक्षपरायण इत्यादिपदप्रतिपाद्यार्थाना-मसंगत्यापत्तेः । न हि मुक्तस्य मोक्षपरायणता सम्भवतीति ॥२७-२८॥

एवमुक्तस्य योगस्य सर्वसुहृदो भगवत्स्वरूपस्य ज्ञानात्सिद्धिः शान्तिफलोपलब्धि-

करके चक्षु तथा दोनों भवरों के बीच में नासिका के बीच में नासिका रन्ध्र के अन्तर्गत उच्छ्वास निःश्वास रूप से चलनेवाला जो प्राण अपान वायु उसे समानगति शील बना करके संयत है अपने अपने विषय से प्रत्यावर्तित है बाह्येन्द्रिय चक्षुरादिक अन्तरिन्द्रिय तथा अध्यवसाय लक्षण बुद्धि जिनकी अत एव काम इच्छा विशेष भय क्रोध से रहित केवल मोक्ष परायण अर्थात् मात्र मोक्ष की इच्छा से जिन्होंने स्वकीय जीवन को धारण किया है अत एव मुनि सर्वदा आत्म स्वरूप चिन्तन में संलग्न है ऐसे साधक विशेष सर्वदा मुक्त ही है । अर्थात् एतादृश साधक विशेष को सांसारिक सकल क्लेश की निवृत्ति हो जाने से वे परमानन्द का अनुभव करते हुए मुक्त के समान अवस्थित रहते है । दुःख कारण के अभाव हो जाने से मात्र सुख का अनुभव करने से मुक्त के समान मुक्त कहलाते हैं न तु जीवन मुक्तावस्था नामक कोई वस्तु अलग है। इस स्थल में अन्य टीकाकार ने कहा है कि तादृश पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है, यह व्याख्यान ठीक नहीं है क्योंकि इस श्लोक में "मुनिर्मोक्षपरायणः" कहा है तो इस पद से प्रतिपाद्य जो अर्थ है वह असंगत हो जायगा अतः जो मुक्त हो गया वह मोक्ष परायण कैसे हो सकता है प्रकृत विषय में विशेष चर्चा मैं अन्यत्र करूंगा ॥२७॥ २८॥

ब्रह्मा से लेकर स्थावरान्त अशेष प्राणी जाति के प्रत्युपकारानपेक्ष उपकार परायण सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी के वास्तविक स्वरूप ज्ञान से ही यथोक्त योग की सिद्धि होगी तथा परमशान्ति

श्चेति दर्शयन्नुपसंहरति भोक्तारमिति योगीनां यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषामाब्रह्म स्तम्बपर्यन्तानां स्वातन्त्र्येण महान्नियन्तारं सर्वभूतानां पालकत्वेन परमसुहृदं ज्ञात्वा शान्तिं शश्वत्सुखरूपामृच्छति प्राप्नोति ॥२९॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायां श्रीमदानन्दभाष्ये
कर्मज्ञानयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः

रूप फल की भी सिद्धि होगी अन्यथा नहीं, अर्थात् तादृश फल की सिद्धि अन्य उपायों से नहीं हो सकती है इस बात को दृढ करते हुए अध्यायार्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं "भोक्तारमित्यादि" पूर्वोक्त जो योग द्वय उससे युक्त जो योगी है वह मुझे यज्ञ तथा तप का भोक्ता समझता है अर्थात् यज्ञ दान तप द्वारा मुझे ही आराध्य समझ करके तथा सर्वलोक महेश्वर सभी भूतों का ब्रह्मा से लेकर वनस्पति पर्यन्त परमेश्वर के शरीर भूत प्राणी समुदाय के नियन्ता महा समर्थ मुझे जान कर एवं सभी प्राणियों के सुहृत पिताके समान कर्ता समझ करके "एष सर्वाधिपतिः एष भूत पालः" इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध सर्व पालक मुझे समझ करके नित्यनिरतिशय सुख स्वरूप शान्ति को प्राप्त कर जाता है। जो साधक विशेष ज्ञानयोग कर्म योग से युक्त होकर तपस्यादियों से समाराध्य मैं हूं सर्व नियन्ता सर्वपालक भी मैं ही हूं ऐसा जानता है वह साधक निरतिशय सुख लक्षण शान्ति को प्राप्त करके संसार बन्धन से निर्मुक्त हो जाता है क्योंकि श्रुति कहती है "न स पुनरावर्तते" एतादृश पुरुष पुनः संसार में नहीं आता है ॥२९॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश्वर

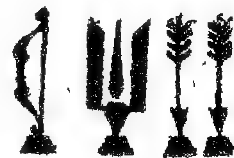
स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्द भाष्य तत्त्वदीपे पञ्चमोऽध्यायः

श्रीरामः शरणं मम







श्रीराम: शरणं मम

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

गतेनाध्यायेन कर्मसंन्यासकर्मयोगावभिहितौ कर्मपदेनाऽत्र वर्णाश्रमधर्माणामेव ग्रहणम्। गृहस्थविरक्तयोरुभयोरप्यत्राधिकारात्। अतोऽत्र कर्मयोगस्य द्वैविध्यं शक्यमाख्यातुम्। तत्र प्राथमिकः कर्मयोग एव द्वितीयप्रकारं परिणमन् मध्य मषट्केण निरूप्यमाणस्य परमपुरुषपरिज्ञानस्य प्रयोजकतामाश्रयति। एवञ्च साङ्गस्य कर्मयोगस्य प्रयोज्यः समाधियोग इदानीमुच्यते अनाश्रित इति। कर्मफलमैहिकामुष्मिकसुखमना

गत अध्यास से (इतः पूर्व कथित अध्यायों से) कर्म संन्यास तथा कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया। इसमें यहाँ कर्मयोग शब्द से वर्णाश्रम धर्म का ही ग्रहण होना है। इस वर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठान में गृहस्थ तथा विरक्त महात्मा जिन्होंने घर को छोड़ दिया है, इन दोनों, को कर्मानुष्ठान में समान अधिकार है। इसलिये यहाँ कर्मयोग दो प्रकार का है यह कह सकते हैं। उसमें प्रथम जो कर्म योग है वही द्वितीय प्रकार में परिणत होता हुआ मध्यम षटक् से निरूपण करने के योग्य जो परम पुरुष का ज्ञान है उस परम पुरुष सम्बन्धी ज्ञान के प्रति प्रयोजकता को प्राप्त करता है। ऐसा हुआ तब अंग सहित जो कर्मयोग उस कर्मयोग से जायमान जो समाधियोग है उसका अब निरूपण करने की इच्छा से कहते हैं।

अर्थात् अत्रत्य प्रथम श्लोक सम्बन्धिभाष्यावतरण ग्रन्थ का यह अभिप्राय है कि इस अध्याय के पूर्ववृत्त अध्यायों से अंगविशिष्ट कर्मयोग का जिसका अपर नाम है ज्ञानयोग तथा कर्मसंन्यास का स्वरूप है उसका वर्णन किया गया है। कर्म नित्य नैमित्तिक काम्य भेद से अनेक प्रकार के हैं उन कर्मों का अनुष्ठान गृहस्थ तथा विरक्त पुरुष अपने अपने अधिकार की अनुकूलता से अनुष्ठान करें। शास्त्र की ऐसी मर्यादा को समझ करके सभी को समान रूप से कर्मानुष्ठान करना चाहिये। अनुष्ठेय कर्म में भी कोई व्यक्ति सर्वानिष्ट निवृत्ति पूर्वक विलक्षण इष्ट-मोक्षलक्षणफल प्राप्ति के लिये फलाभिसंधि रहित कर्म का अनुष्ठान करता है उसीका नाम है कर्मसंन्यास न तु शास्त्रोदित कर्म का सर्वथा परित्याग कर देने का नाम कर्म संन्यास है, क्योंकि एतादृश कर्म त्याग का सर्वथा त्याग को भगवान् ने निषेध किया है इतना ही नहीं प्रत्युत "यज्ञ-दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्" इत्यादि प्रकरण से शास्त्र विहित कर्तव्यता का सर्वतो

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ?।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

श्रितः फलाभिसन्धिरहितः सन् कार्यं स्वावश्यककर्तव्यत्वेनावधार्य यः कर्मानुतिष्ठति स संन्यासी ज्ञानयोगपरायणो योगी च प्रोदीरितः कर्मयोगस्तन्निष्ठो ज्ञानकर्मोभयसाध्यसमाधि योगादिकार्यमपि स इति भावः न निरग्निर्न चाक्रियोऽग्निसाध्याग्निहोत्रादिकर्मपरित्यागत्तपोदानमौनजपादिक्रियोपरमाच्च संन्यासियोगिनौ नैव मन्तव्याविरयर्थः ॥१॥

भोः पाण्डव ! मनीषिणो यं संन्यासमिति प्रकर्षेणाहुस्तं योगं कर्मयोगमेव विद्धि कर्मयोगान्तर्गतमेव कर्मसंन्यासं विजानीहि । अनेन ज्ञानकर्मयोगयोः कात्स्न्र्येनाभेद भावसे प्रतिपादन किया है । और नित्यनैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान तो प्रत्यवाय परिहार के लिये अवश्य कर्तव्य ही है । एतादृश कर्मयोग और कर्मसंन्यास का प्रतिपादन किया गया है । अभी अब इस छट्ठे अध्याय से मोक्ष के प्रति साक्षात् साधन जो भक्ति योग है उसके साधनभूत कर्मयोग तथा ज्ञानयोग से भी अन्तरंग स्वरूप जो समाधियोग है उसका कथन करते हैं। तत्रापि प्रथमतः समाधियोग के निष्पादक ज्ञान घटित कर्मयोग में अवश्य अनुष्ठेयता का प्रतिपादन नौ श्लोकों से किया जायगा उस वस्तु को बतलाने के लिये कहते हैं "अनाश्रित इत्यादि ।

कर्म का जो फल इहलोक सम्बन्धी अथवा परलोक स्वर्गादि सम्बन्धी अथवा सुखादि फलों के प्रति अनाश्रित हो करके अर्थात् फलाभिसंधि रहितहोते हुए कार्य अर्थात् यह कर्म हमसे अवश्य कर्तव्य है इत्याकारक निश्चय करके जो साधक नित्य नैमित्तिक वर्णाश्रमोचित कर्मका अनुष्ठान करता है वही संन्यासी है, ज्ञान योग में परायण है । और योगी भी है ऐसा कहा गया है । पूर्व कथित जो कर्मयोग तन्निष्ठ ज्ञानकर्म उभय से सिद्ध होने के योग्य जो समाधियोग उसका अधिकारी यही व्यक्ति है, जो निरग्नि है तथा क्रिया रहित है वह संन्यासी नहीं है । अर्थात् अग्नि साध्य जो अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिक कर्म हैं उनको छोडनेवाला तथा तपस्या मौन दान भोजन तपादिक्रिया को छोडने वाले को शास्त्र विरुद्ध होनेसे संन्यासी वा योगी को नहीं समझना चाहिये ॥१॥

पूर्व श्लोक में कहा कि "संन्यासी च योगी च" किन्तु ज्ञान योग कर्मयोग का स्वरूप तो परस्पर भिन्न है इस शंका को हटाने के लिये कहते हैं "यं संन्यासमित्यादि" हे पाण्डव ! विद्वान् मन के ऊपर नियन्त्रण रखने वाले महापुरुष जिस पदार्थ को संन्यास समीचीन रूप से न्यास त्याग कहते हैं उसी को तुम योग अर्थात् कर्मयोग समझो कर्मयोग के अन्तर्गत ही कर्मसंन्यासको जानो ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

इति नोपपद्यतेऽपित्वंशतो योगमाफल्यमासादयतः संन्यासस्य योगाङ्गत्वमात्रम् । अत एव न ह्यसंन्यस्तसंकल्प इति तदुपपादनं घटते । अयं भावः कामपदवाच्यास्सर्वे दृष्टानुश्रविकविषयाः संकल्पप्रभवाः । तथा च यावत्संकल्पजयो न जायते तावत्स्वपर-स्वरूपानुसन्धानात्मके योगे मनसः स्थैर्यमपास्तचिन्तत्वमतः प्राग् योगानुष्ठानस्य संकल्पविलयः सम्पाद्य इति । एतदेव न ह्यसंन्यस्तसंकल्प इत्याद्युत्तरार्धेनोपपाद्यते ॥२॥

नन्वेवं कर्मयोगस्य श्रेष्ठत्वाभिध्यानाद्यावज्जीवं कर्म वानुष्ठेयमित्यत आह—आरुरुक्षो

अभाव ज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान में कारणता है, जब तक प्रतियोगी को न जाने जब तक अभाव को नहीं जान सकता है । जैसे 'घटाभाव' में प्रतियोगिता सम्बन्ध से प्रति-योगी घट रहता है तो घटाभाव घट से घटित है, अतः घट के बिना घटाभाव नहीं हो सकता है, किन्तु घट घटित ही घटाभाव होता है । इसी प्रकार से कर्म त्यागरूप कर्म सन्यास कर्मयोग रूप प्रतियोगी के बिना तथा तज्ज्ञान के बिना असंभवित होनेसे दोनों मे एकता का उपचार हैं न कि दोनोंमें तादात्म्य है क्योंकि भावाभाव रूप होनेसे विरोध है ।

इससे ज्ञानयोग तथा कर्मयोग में संपूर्ण रूप से अभेद है यह कथन उपपन्न नहीं होता है, अपि तु अंशतः योग सफलता को प्राप्त करता हुआ कर्मसंन्यास का कर्मयोग अंग मात्र ही सिद्ध होता है । अत एव "न ह्यसन्यस्तसंकल्पः" इसका उपपादन भी घटता है । इसका अर्थ ऐसा है कि काम शब्द से वाच्य जितने दृष्ट वा आनुश्रविक विषय उत्पन्न हैं वे सभी संकल्प द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । (संकल्प मूल कामो वै यज्ञाः संकल्प मूलक यज्ञादि क्रिया भी संकल्प से जायमान हैं अत यमादिक सभी के सभी संकल्प से होते हैं) तब स्मृत्या-दिप्रमाण से जब यह सिद्ध हुआ कि सभी विषय संकल्प से ही होते हैं तब जब तक संकल्प के ऊपर मनोविजय न किया जाय तब तक स्व पर के स्वरूप का अनुसन्धानात्मक योग में मन की स्थिरता का संपादन करना असंभवित है, अतः योगानुष्ठान से पूर्वकाल में ही यावत्संकल्प का विलयन आवश्यक है । इसी विषय को "न ह्यसंन्यस्त संकल्पः" इत्यादि श्लोक के उत्तर भाग से प्रतिपादन गीताचार्य करेंगे ॥२॥

समाधियोग की प्राप्ति के लिये कर्मयोगानुष्ठान का श्रेष्ठत्व यानी परमावश्यक होने से सर्वदैव कर्मयोग का अनुष्ठान करना चाहिये इस शंका के उत्तर में कहते हैं "आरुरु-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न क ास्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी ोगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

रिति । भगवन्निदिध्यासनलक्षण समाधियं ागमुपसेदुषो मुनेर्भगवद्धर्मभावितात्मनः कर्मयोगः कारणतामाश्रयति । समारूढसमा धियोगस्य तस्य तु शमः फलकर्मकर्तृत्वत्यागात्मककर्मनिवृत्तिरेव कारणमुच्यते ॥३॥

कदा योगारूढो भवतीत्याह यदे ि । इन्द्रियाणां श्रोत्रा दीनामर्थाः शब्दादयो विषयास्तेषु तदनुविधायिषु कर्मसु च य ा साधको नानुषज्जते तेष्वात्मानमसङ्गम्भाव-

क्षोरित्यादि" परमपुरुष श्रीराम का निदिध् ासन लक्षण जो समाधि योग उस समाधि योग को प्राप्त करने की इच्छा वाले भगवान् के धर्म से भावितान्तःकरणवाले जो मुनि हैं उनके लिये कर्मयोग कारणता को आश्रयित करता है अर्थात् समाधियोग निदिध्यासन करनेवाले मुनियों के लिये कर्मयोग अवश्यानुष्ठेय है तादृशकर्म ायोग के बिना निदिध्यासन नहीं हो सकेगा यतः कारणाभाव में कार्याभाव नियमतः होता ै है और जिन महापुरुषों ने कर्मयोग द्वारा समाधियोग को प्राप्त कर लिया—समाधियोग ं आरूढ हो गये उनके लिये कर्मयोग आवश्यक नहीं है क्योंकि निमित्त कारण दण्डादिक घट के पूर्वकाल में ही रहता है घट होने के बाद में दण्ड की आवश्यकता नहीं रहती है—त द्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिए । तब समाधियोगारूढ पुरुष को क्या अपेक्षित है इसके उत्तर में कहते हैं 'शमः कारणमुच्यते' अर्थात् आरूढ समाधियोग पुरुष के लिये तो शम कारण है अर्थात् फल कर्म का जो कर्तृत्वाभिमान तत् त्यागरूप कर्मनिवृत्ति लक्षण ही कारण है । जब तक समाधियोग प्राप्त नहीं होता है तावत्पर्यन्त कर्मयोगानुष्ठान आवश्यक है समाधियो । प्राप्ति के बाद में तो फलाभिमानवर्जित कर्म त्याग ही कारणरूप से आश्रयितव्य होता है ॥३॥

वह महापुरुष योगारूढ कब कहलाता है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "यदा हीत्यादि" इन्द्रिय जो श्रोत्र त्वक् चक्षु रसना घ्राण इनका जो अर्थ शब्द स्पर्श रूप रस गंधात्मक विषय में तथा शब्दादि विषयानुविधायी कर्म में जिस काल में साधक महापुरुष उन विषयों में अनुरक्त नहीं होते हैं अर्थात् उ ान इन्द्रियों के विषय में स्वकीय आत्मा की असंगतता का भाव न करता है (ये शब्दा दि विषय मुझे आनन्द देनेवाले हैं इत्याकारक दुर्बुद्धि को छोडकरके तथा संगदोष की भावन । करता हुआ उन विषयों से विरक्त होता है । यहाँ विरक्त शब्द का अर्थ है दृष्ट आनुश्रविक विषयमें दोष देखनेवाला जैसे पतंजलि ने कहा है—"कृपण व्यक्ति से प्रार्थनीय जो विषय मृगतृष्णोपम है तद्रूप अनल में अपनी आत्मा

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

यति तदा तस्यामवस्थायां सर्वसंकल्पसंन्यासी सर्वरहितः स योगारूढ इत्यन्वर्थसंज्ञामादधान उच्यते ॥४॥

योगारूढः किं कुर्यादित्याह उद्धरेदिति । अत्र तृतीयान्तात्मशब्दो विशुद्धान्तःकरणपरः । तथा च निरस्तसंसारिवासनेन मनसा स्वकीयमात्मानं जगद्गभीरगह्वरादुद्धरेदूर्ध्वमानयेन्नत्वात्मानमसंस्कृतान्तःकरणेनावसादयेदवसन्नं कुर्यात् । यत उद्धरणावसादनयोर्मन एव कारणम् । एतदेवोच्यते आत्मनो जीवलोकस्यात्मैव बन्धुर्विशुद्धभावनान्वितत्वात् । तदेव च रिपुः कल्मषोपचितत्वात् । तदुक्तमेकादशे "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरिति । नन्वेकस्यैव बन्धुत्वमरित्वञ्च व्याहतमित्याशंकां स्वयमेव

को मैं खाड़ा कैसे करूं" इत्यादि दोषभावनाशील जब महापुरुष होता है) तदा उस अवस्था में सर्वसंकल्प संन्यासी सर्वदृष्टानुश्राविक विषयक स्पृहा को छोडने वाला जो महापुरुष है वह तब 'योगारूढ' इस अन्वर्थ संज्ञा को प्राप्त करता है ।४।

क्या योगारूढ मात्र से कृत कार्यत्व हो जाता है अथवा साक्षात्कार की कर्तव्य है योगारूढ पुरुष क्या करें इस शंका के उत्तर में कहते हैं—"उद्धरेदित्यादि" श्लोक में जो तृतीयान्त आत्म शब्द है वह विशुद्ध अन्तःकरण परक है नतु जीवात्म परक है क्योंकि यदि जीवात्म परक हो तब तो उद्धरण क्रिया का कर्ता करण कर्म सब जीव ही होगा वह तो बन सकता नहीं है । क्योंकि जो जिस क्रिया का कर्ता होता है वह उसी क्रिया के प्रति कर्म तथा करण नहीं देखने में आता है घट को उत्पन्न करता है घट को देखता है इत्यादि स्थल में वैसा अनुभव नहीं होता है प्रत्युत कर्तृत्व कर्मत्व करणत्व परस्पर विरूद्ध होने से एक में तीनों का होना बाधित है । यद्यपि "सर्पः स्वात्मनैव स्वात्मानं वेष्टयति" यहाँ एक ही सर्प वेष्टन क्रिया का कर्ता कर्म तथा करण होता है । तथापि यह क्वाचित्क प्रयोग है अथवा उपाधि भेद से तादृश प्रयोग का कैसे स्वीकार करना चाहिये जब तृतीयान्त आत्म शब्द से विशुद्धान्तःकरण अर्थ किया गया तब निरस्त है त्यक्त है निखिल सांसारिक वासना जिसमें ऐसा जो मन उसके द्वारा संसार लक्षण अत्यन्त गंभीर जो गुफा कन्दरा उससे आत्मा को उद्धृत करे अर्थात् संसार पंक में विलिप्त आत्मा को ऊपर लावें ऊर्ध्व गति अथवा श्रीरामजी के परमपद में पहुंचावें । न तु अशुद्ध असंस्कृत मन के द्वारा स्वकीय आत्मा को अवसादित करे अर्थात् संसार सागर में गिरावे नहीं श्रुति भी कहती है—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

गीताचार्यो निरस्यति बन्धुरिति। पुरुषेण स्वमनसो नियमनं स्वयमेव कृतं तस्य पुंसो नियतस्थि येन तिकत्वात्तन्मनो बन्धुरेव। अजितमनस्कस्य कस्यचित्तदेव मनः शत्रुवच्छत्रुत्वेवर्तेत। तथा च श्रुतिः।

'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्य मनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति' (का. १।३।७)

जो अविज्ञानवान् है असंस्कृत मनस्कवान् हैं हंमेशा अपवित्र रहते हैं वे पुरुष विष्णु का जो परम पद है उसे प्राप्त नहीं कर सकता है किन्तु संसार को ही बार बार प्राप्त करता है। क्योकि आत्मा का अर्थात् जीवलोक की आत्मा अर्थात् मन ही बन्धु है जो मन अविशुद्धभावना से युक्त है वह आत्मा मन शत्रु है जो कि पाप कर्म से भरा है। इसी प्रकार से एकादश स्कन्ध में कहा भी है "मनुष्य को बन्ध और मोक्ष में मन ही कारण है। उसमें संस्कृत मन मोक्ष में प्रयोजक है और असंस्कृत मन पापोदधि में निपात का कारण है इसलिये अभ्यास वैराग्य द्वारा मन के ऊपर विजय प्राप्त करना सर्वथा प्रथम कर्तव्य है ५॥

एक व्यक्ति में बन्धुत्व तथा शत्रुत्व परस्पर विरोधी धर्म कैसे हो सकता है अर्थात् जिस देशकाल में जो बन्धु है वह उसी देशकाल में शत्रु कैसे हो सकता है लोक में तो यह दृष्ट नहीं है इस शंका के उत्तर में गीताचार्य स्वयं कहते हैं "बन्धुरात्मेत्यादि" जिस पुरुष ने अपने मन का नियमन स्वयमेव कर लिया है उस पुरुष के नियतस्थितिक होने से उस पुरुष का मन उस पुरुष के लिए बन्धु अर्थात् आत्मीय बन जाता है। और जिस पुरुष ने अपने मन को अपने वश में नहीं किया उस पुरुष के लिये उसका अवशीकृत मन शत्रु के समान शत्रुवत् विरोधी होता है। अर्थात् मन तो स्वरूपत एकरूप हैं परन्तु वशित्व अवशित्व भेद से विभिन्न कार्यकारी हो जाता है। जैसे घट स्वरूपतः एक होने पर भी पाक के पूर्वकाल में श्याम होता हुआ भी पाक के उत्तर काल में रक्त होकर रक्त परिभाषा को प्राप्त कर जाता है। श्रुति भी कहती है "जो अविज्ञानवान् है अमनस्क है तथा अशुचि है वह पुरुष उस पद को अर्थात् श्रीरामजी के परमपद मोक्ष को नहीं प्राप्त करता हैं किन्तु बारम्बार संसार गर्त को ही प्राप्त करता है और जो पुरुष विज्ञानवान् हैं तथा हंमेशा पवित्र रहता है तथा मन के ऊपर विजय प्राप्त करता है वह पुरुष उस श्रीराम पद मोक्ष को प्राप्त करता है जिस पद से पुनः संसार में नहीं आता है इसी विषय को निम्न श्लोक स्पष्ट करता है "सत्य सन्धः प्रतिश्रुत्य-

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते (का. १।३।८)

अतो योगारूढेनादौ मनोवशीकारे यत्नः समास्थेय इत्युक्तम्भवति ॥५–६॥

अथ योगारम्भदशाभिधीयते जितात्मन इति । शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोर्जितस्तान्तस्यात एव प्रशान्तस्यात्मा परमधिकं समाहितः समाधियुक्तो भवति ॥७॥

प्रपन्नायाभयं स्वयम् । निवर्त्तयेद्भयेनैनं श्रीरामः श्रितवत्सलः" जिसके लिए श्रुति भी कहती है "न स पुनरावर्तते" वह मोक्ष प्राप्त पुरुष पुनः उस स्थान से नहीं लौटता है अर्थात् संसार में पुनः पतित नहीं होता है । गीताचार्य ने भी कहा है "यस्माद् भूयो न जायते" "दुःखालयमशाश्वतम्" जिस स्थान से पुनः नहीं लौटना है । अशाश्वत दुःखालय संसार को पुनः प्राप्त नहीं करता है । इसलिये योगारूढव्यक्ति को चाहिए कि प्रथमतः वह अपने मन को जीतने के लिए यत्नवान् बना रहे । विष्णु पुराण में भी कहा है ।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासङ्गिमुक्त्यै निर्विषयं मनः"

मनुष्य के बन्ध तथा मोक्ष में कारण मन ही है विषय में आसक्त अर्थात् अविजित जो मन वह बन्ध में कारण है और निर्विषयक विषय वासना से रहित विजित मन मोक्ष के लिये कारण होता है । तस्मात् मनो विजय के लिये सर्वदा साधक तत्पर रहे ॥६॥

इसके बाद योगारम्भ दशा का कथन गीताचार्य करते हैं "जितात्मनः" इत्यादि । शीतोष्ण सुखदुःख में शीत उष्णादि लक्षण द्वन्द्व पदार्थ में जो सहन शील है वही पुरुष मन को जीतनेवाला कहलाता है । शरीरेन्द्रिय तथा मन ये सब भोग करने में उपकारक होते हैं उसमें लेश से भी क्लेश असहनीय होता है जिसने योग का अभ्यास नहीं किया है इसलिये आधिभौतिक दुःख में तथा आध्यात्मिक मानापमान में आदर अनादर में जितात्मा को अर्थात् दृढ अन्तःकरण वाले पुरुष को अतएव प्रशान्त अर्थात् अन्तर इन्द्रिय मनोविकार से रहित पुरुष की आत्मा अत्यधिक समाहित अर्थात् समाधियुक्त होता है । अर्थात् जिस साधक ने शीतोष्णादि द्वन्द्व में तथा मानापमान में अपने मन को जीत लिया है तथा अतिशयेन प्रशान्त है उसकी आत्मा संपूर्ण रूप से समाधियुक्त होती है इसलिये इन्द्रिय विजय के लिए प्रयत्नशील हो ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अलौकिककर्मापेक्षितदेहादिभिन्नात्मविषयकज्ञानेन मुमुक्षोर्विशेषतोऽपेक्षितेन नित्य-निरतिशयानन्दात्मविषयकविज्ञानेन च सम्प्रसन्नान्तःकरणः कूटस्थो निर्विकारितया शश्वद्वर्तमानो विजितेन्द्रियो विशेषेण वशीकृतेन्द्रियगणो मृत्पिण्ड प्रस्तरखण्डकनकादि-पदार्थेषु समभावमादधानस्तत्तद्वस्तुनो हेयोपादेयव्यवहारे समप्रवृत्तिक इति यावत् । एव विधो योगी युक्तः समाधियोगेऽधिक कुशल इत्युच्यते ॥८॥

एवं सुहृद उपकारिणः मित्राणि सखायारयः शत्रव उदासीनो रागद्वेषादिनिमित्त-मन्तरेण प्रियाप्रियपक्षरहिता मध्यस्था द्वयोरपि हितैषिणो द्वेष्याः स्वात्मनोऽप्रिया

उसी योगारंभ दशा का पुनः कथन करते हैं "ज्ञानविज्ञानेत्यादि" ज्ञान से तृप्त प्रसन्न आत्मा है जिनकी अर्थात् अलौकिक जो कर्म शुभाशुभ तदपेक्षित जो देह इन्द्रियादिक पदार्थ उससे भिन्न आत्मा है एतादश आत्म विषयक ज्ञान से तथा मुमुक्षु व्यक्ति को विशेषतः अपेक्षित नित्य निरतिशय निरवधिक आत्मानन्दात्मक आत्मविषयक विज्ञान से अच्छी तरह से प्रसन्न हैं अन्तः करण जिनके तथा कूटस्थ निर्विकारिता रूप से सर्वदा रहनेवाले तथा विजितेन्द्रिय अर्थात् विशेष रूप से जिन्हों ने अपने इन्द्रिय समुदाय को जीत लिया है तथा समलोष्टाश्म काञ्चन अर्थात मृत्पिण्ड पत्थर का टुकडा और सोना प्रभृति पदार्थ में समभाव को धारण करनेवाले अर्थात् हेय उपादेय वस्तु में समान प्रवृत्ति करनेवाले जो व्यक्ति हैं वे योगी हैं । एतादश जो योगी हैं वे युक्त हैं अर्थात् समाधियोग में अधिक कुशल कहे जाते हैं जिस महापुरुष का मन देहादि भिन्नात्म विषयक ज्ञान से तथा मुमुक्षु प्राप्य निरतिशय नित्यानन्दात्मक आत्मा है एतादश विज्ञान से तृप्त है, एवं हेयोपादेय सभी वस्तु को समान-दृष्टि से देखनेवाले व्यक्ति हा समाधियोग में सर्वदा कुशल हैं ऐसा माना जाता हैं एतद्भिन्न काचनादि के संग्रह संरक्षण व्यापार में प्रवृत्त रहते हुए भक्ति की चर्चा करते है वे अना-दरणीय हैं ॥८॥

इस श्लोक से पूर्वश्लोक में "समलोष्टाश्मकाञ्चन" इससे अचेतन जड पदार्थों में समता बुद्धि को बतलाया है अब इस श्लोक में चेतनत्वेन अभिमत वस्तु में जिसमें कि स्वभावतः लोगों को विषमता पैदा होती है तादश चेतन में भी समता प्रतिपादन करने के लिए कहते

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थि[तः।]
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरप[रिग्रहः ॥१०॥]

[ब]न्धवः सम्बन्धिनस्तेषु साधवः कारुण्यादिगुणवन्तः स[...]
निरतास्तेषु समबुद्धिः साम्यशेमुषीकः समाधियोगाभ्यासे [...]

एवं समाधियोगस्य वैशिष्ट्यमभिधायाथाध्यायसम[ाप्ति...]
यते—योगीत्यादिभिः। योगी समादृतकर्मयोगः समुपक्रान्त[...]
विजने प्रदेशे स्थित एकाकी समाधिकाले विक्षेपकार[...]
वशीकृतान्तर्बहिरिन्द्रियगणो निराशीर्निराकांक्षोऽपरिग्रह[...]
प्रत्यहं योगानुष्ठानसमय आत्मानं युञ्जीत स्वान्तःकर[णं]
विधाय परमपुरुषनिष्ठं कुर्यात् ॥१०॥

हैं "सुहृदित्यादि" सुहृद् उपकार करनेवाले अर्थात् प्रत्युपकारा[...]
अर्थात् स्नेहाधिक के कारण हितचाहनेवाले। अरि शत्रु परोक्ष[...]
करनेवाले। उदासीन रागद्वेषादि निमित्त के बिना प्रिय [...]
दोनों पक्ष के लिये जो समान हो। द्वेष्य जो अपने ऊपर अ[...]
जन इन सबों में तथा साधु में सदाचार करुणाशील व्यक्ति में।
व्यक्ति में समबुद्धि समता बुद्धि को रखनेवाले व्यक्ति समाधियो[...]
विशिष्ट कहलाते हैं। अर्थात् समाधियोगी की दृष्टि सर्वत्र समान होती।

पूर्वकथित 'प्रकार' से समाधियोग में इतरयोगापेक्षया वैशिष्ट्य
अध्याय समाप्ति पर्यन्त समाधियोग के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं
त्यादि" योगीकर्मयोगी अथवा समाधियोगवान् पुरुष (यहाँ योग शब्द [...]
समाधियोगपरक है ऐसा समझना) एकान्त स्थान में मनुष्यादि से र[हित]
समाधि समय में विक्षेप के उत्पादक जनसमुदाय रहित स्थान में यतचित्ता[...]
न्द्रिय आन्तर इन्द्रिय समुदाय को वशीभूत करके आकांक्षारहित होकर
के जो परिग्रह दण्ड कमण्डलु प्रभृति विक्षोभोत्पादकसामग्री रहित हो [...]
योगानुष्ठान के समय में स्वकीय आत्मा को युक्त करे। अर्थात् अपने [...]
अभ्यास द्वारा समाहित वृत्तिवाला बनाकर परमात्मा में अपने मन को [...]
का संपादन करे। इस प्रकार परमात्मा में मन को धारण करने को [...]
शब्द से कहा है। 'रहसि स्थितः, एकाकी=इन विशेषण के देने से [...]

[...]नः।
[...]मानयोः ॥७॥

[...] यते (का. १।३।८)
[...]य इत्युक्तं भवति ॥५—६॥
[...]षु सुखदुःखेषु तथा माना
[...] समाहितः समाधियुक्तो

जिसके लिए श्रुति भी कहती
नहीं लौटता है अर्थात् संसार
भूयो न जायते" "दुःखा
[...]लय संसार को पुनः प्राप्त
वह अपने मन को जीतने

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अलौकिककर्मापेक्षितदेहादिभिन्नात्मविषयकज्ञानेन मुमुक्षोर्विशेषतोऽपेक्षितेन नित्यनिरतिशयानन्दात्मविषयकविज्ञानेन च सम्प्रसन्नान्तःकरणः कूटस्थो निर्विकारितया शश्वद्वर्तमानो विजितेन्द्रियो विशेषेण वशीकृतेन्द्रियगणो मृत्पिण्ड प्रस्तरखण्डकनकादिपदार्थेषु समभावमादधानस्तत्तद्वस्तुनो हेयोपादेयव्यवहारे समप्रवृत्तिक इति यावत् । एवं विधो योगी युक्तः समाधियोगेऽधिक कुशल इत्युच्यते ॥८॥

एवं सुहृद उपकारिणः मित्राणि सखायारयः शत्रव उदासीनो रागद्वेषादिनिमित्तमन्तरेण प्रियाप्रियपक्षरहिता मध्यस्था द्वयोरपि हितैषिणो द्वेष्याः स्वात्मनोऽप्रिया

उसी योगारंभ दशा का पुनः कथन करते हैं "ज्ञानविज्ञानेत्यादि" ज्ञान से तृप्त प्रसन्न आत्मा है जिनकी अर्थात् अलौकिक जो कर्म शुभाशुभ तदपेक्षित जो देह इन्द्रियादिक पदार्थ उससे भिन्न आत्मा है एतादृश आत्म विषयक ज्ञान से तथा मुमुक्षु व्यक्ति को विशेषतः अपेक्षित नित्य निरतिशय निरवधिक आत्मानन्दात्मक आत्मविषयक विज्ञान से अच्छी तरह से प्रसन्न हैं अन्तः करण जिनके तथा कूटस्थ निर्विकारिता रूप से सर्वदा रहनेवाले तथा विजितेन्द्रिय अर्थात् विशेष रूप से जिन्हो ने अपने इन्द्रिय समुदाय को जीत लिया है तथा समलोष्टाश्म काञ्चन अर्थात मृत्पिण्ड पत्थर का टुकडा और सोना प्रभृति पदार्थ में समभाव को धारण करनेवाले अर्थात् हेय उपादेय वस्तु में समान प्रवृत्ति करनेवाले जो व्यक्ति हैं वे योगी हैं। एतादृश जो योगी हैं वे युक्त हैं अर्थात् समाधियोग में अधिक कुशल कहे जाते हैं जिस महापुरुष का मन देहादि भिन्नात्म विषयक ज्ञान से तथा मुमुक्षु प्राप्य निरतिशय नित्यानन्दात्मक आत्मा है एतादृश विज्ञान से तृप्त है, एवं हेयोपादेय सभी वस्तु को समानदृष्टि से देखनेवाले व्यक्ति हा समाधियोग में सर्वदा कुशल हैं ऐसा माना जाता हैं एतद्भिन्न काचनादि के संग्रह संरक्षण व्यापार में प्रवृत्त रहते हुए भक्ति की चर्चा करते हैं वे अनादरणीय हैं ॥८॥

इस श्लोक से पूर्वश्लोक में "समलोष्टाश्मकाञ्चन" इससे अचेतन जड पदार्थों में समता बुद्धि को बतलाया है अब इस श्लोक में चेतनत्वेन अभिमत वस्तु में जिसमें कि स्वभावतः लोगों को विषमता पैदा होती है तादृश चेतन में भी समता प्रतिपादन करने के लिए कहते

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

बन्धवः सम्बन्धिनस्तेषु साधवः कारुण्यादिगुणवन्तः सदाचारनिष्ठाः पापा दुराचारनिरतास्तेषु समबुद्धिः साम्यशेमुषीकः समाधियोगाभ्यासे विशिष्यते ॥९॥

एवं समाधियोगस्य वैशिष्ट्यमभिधायाथाध्यायसमाप्तिपर्यन्तं तत्स्वरूपमभिधीयते—योगीत्यादिभिः। योगी समाहतकर्म योगः समुपक्रान्तसमाधियोगो वा रहस्येकान्ते विजने प्रदेशे स्थित एकाकी समाधिकाले विक्षेपकरजननिकररहितो यतचित्तात्मा वशीकृतान्तर्बहिरिन्द्रियगणो निराशीर्निराकांक्षोऽपरिग्रहः सर्वपरिग्रहशून्यः सन् सततं प्रत्यहं योगानुष्ठानसमय आत्मानं युञ्जीत स्वान्तःकरणमभ्यासेन समाहितवृत्तिकं विधाय परमपुरुषनिष्ठं कुर्यात् ॥१०॥

हैं "सुहृदित्यादि" सुहृद् उपकार करनेवाले अर्थात् प्रत्युपकारानपेक्ष उपकारकारी मित्र सखा अर्थात् स्नेहाधिक के कारण हितचाहनेवाले। अरि शत्रु परोक्षतया अपरोक्ष रूप से अपकार करनेवाले। उदासीन रागद्वेषादि निमित्त के विना प्रिय पक्ष अप्रियपक्ष से रहित। मध्यस्थ दोनों पक्ष के लिये जो समान हो। द्वेष्य जो अपने ऊपर अप्रियता करें बन्धु सम्बन्धी जन इन सबों में तथा साधु में सदाचार करुणाशील व्यक्ति में। पाप में दुराचार निरत व्यक्ति में समबुद्धि समता बुद्धि को रखनेवाले व्यक्ति समाधियोग में समाधियोगाभ्यास में विशिष्ट कहलाते हैं। अर्थात् समाधियोगी की दृष्टि सर्वत्र समान होती हैं वैषम्य मुक्त नहीं।९॥

पूर्वकथित 'प्रकार' से समाधियोग में इतरयोगापेक्षया वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करके अध्याय समाप्ति पर्यन्त समाधियोग के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "योगीत्यादि" योगीकर्मयोगी अथवा समाधियोगवान् पुरुष (यहाँ योग शब्द कर्मयोग परक है अथवा समाधियोगपरक है ऐसा समझना) एकान्त स्थान में मनुष्यादि से रहित प्रदेश में एकाकी समाधि समय में विक्षेप के उत्पादक जनसमुदाय रहित स्थान में यतचित्तात्मा अर्थात् बहिरिन्द्रिय आन्तर इन्द्रिय समुदाय को वशीभूत करके आकांक्षारहित होकर के तथा सर्वप्रकार के जो परिग्रह दण्ड कमण्डलु प्रभृति विक्षोभोत्पादकसामग्री रहित हो करके सतत प्रतिदिन योगानुष्ठान के समय में स्वकीय आत्मा को युक्त करे। अर्थात् अपने अन्तःकरण को नैरन्तर्य अभ्यास द्वारा समाहित वृत्तिवाला बनाकर परमात्मा में अपने मन को लगाने आत्मोन्मुखता का संपादन करे। इस प्रकार परमात्मा में मन को धारण करने को ही पतंजलि ने योग शब्द से कहा है। 'रहसि स्थितिः, एकाकी=इन विशेषण के देने से संन्यास करके' ऐसा

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

योगसौकर्यापादकबाह्योपकरणभूतमासनमुच्यते—शुचाविति । शुचौ सततापुचिम्लेच्छान्त्यजपाखण्डिपतितादिवर्जिते पवित्रतमे तीर्थे तीर्थसदृशे वा देशे ब्रह्मावर्तादयो देशाः स्वभावत एव शुद्धाः । तत्र गंगादिपुण्यप्रवाहस्य चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानस्य च शुद्धिप्रयोजकस्य निसर्गत एव सत्त्वात् । चातुर्वर्ण्यव्यवस्थितिरहितस्य तु म्लेच्छदेशत्वमुक्तं विष्णुस्मृतौ—'चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन् देशे निवर्तते । म्लेच्छदेशः स विज्ञेयोह्यार्यावर्त्तादनन्तरः ॥' इति । एवं विधेषु देशेषु स्वारसिकवायस्यापि निषेधो न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते । न पाषण्डजनाक्रान्ते नोपसृष्टेन्त्यजैर्नृभिः ॥' (विष्णुः) इत्यादिवचनैर्दृश्यते । तर्हि का कथा तत्र योगानुष्ठानस्य । योगसमृद्धिविधायकास्तु देशाः प्रति पादिताः विष्णुधर्मोत्तरे—प्रभासे पुष्करे काश्यां नैमिषे मणिकर्णिके । गंगायां सरयूतीरे निवसेद्धार्मिको जनः ॥' एवं निसर्गतः संस्कारतश्च पवित्रे 'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः' (श्वे.२।१०) अर्थ कितने ही विद्वान् करते हैं वह संगत नहीं है क्योंकि इन दोनों विशेषणों में संन्यास अर्थ का प्रतिपादन करने का सामर्थ्य नहीं है और संन्यास करके यह अर्थ करना प्रकृत में कोई उपयोगी नहीं है ॥१०॥

योगाभ्यास करने में सरलता का संपादक बाह्य उपकरण स्वरूप जो आसन तादृश स्थिर सुख प्रयोजक आसन का कथन करने के लिए कहते हैं" शुचौ देशे" इत्यादि । शुचौदेशे पवित्र स्थान में अर्थात् सतत अपवित्र यवन अन्त्यज चर्म कारादि पाखण्डी शास्त्र देव श्रद्धाविरहित पतित धर्मवर्णादि से दूरीभूत मनुष्यों से विवर्जित पवित्रतम गंगायमुना सरयू प्रभृति तीर्थस्थल में अथवा देश में ब्रह्मावर्त आर्यावर्तादिक पवित्रतम प्रदेश में ब्रह्मावर्त प्रभृति देश स्वभावत एव शुद्ध है । उन देशों में गंगा प्रभृति पुण्य नदी का प्रवाह तथा चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जो शुद्धता का प्रयोजक है वह स्वभावतः उपलब्ध होता है । चातुर्वर्ण्य व्यवस्था रहित देश को म्लेच्छ देश कहा गया है विष्णु स्मृति में "जिस देश में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था नहीं है उसी देश का नाम है म्लेच्छदेश जो कि आर्यावर्त से बाहर है । तथा मनु ने भी कहा है "कृष्णसारो मृगो यत्रचरति हि स्वभावतः । सज्ञेयोयज्ञियेदेशोम्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥" स्वभाव से ही कृष्णसार मृग जहाँ रहता चरता हो फिरता वह देश यज्ञीय देश है इससे भिन्न जो देश वह म्लेच्छदेश है जैसे यवनादिक देश । एतादृश देश में जा करके निवास करने का निषेध किया गया है शूद्रराज्य में निवास न करे जो देश अधार्मिक जनों से भरा हुआ है तथा जो

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

इत्यादि श्रुतिप्रतिपादिते देशे नात्युच्छ्रितं नात्युन्नतमत्युन्नतासनेऽपेक्षित देहस्थैर्या-सम्भवात्। तथा चोन्नतिवर्जितमित्यर्थः।नातिनीचं बहुनिम्नताविशिष्टमपि न भवेत्। अन्यथाऽऽसन्नधरणितया शैत्यातिशयवशान्मशकदंशाद्युपद्रवोऽनिवार्यः स्यात् । चैला-जिनकुशोत्तरम् । चैलं कार्पासक्षौमोर्णादितन्तुनिर्मितं मृदु वस्त्रखण्डमजिनं मृदुदीर्घ-रोमराजिराजितं मृगचर्म ते कुशोत्तरे यस्मिन्स्तत् । उपरिभागे चैलं तदधस्तादजिनं तदधः कुशैः समन्वितम् तथा स्थिरं निश्चलमृजुकाष्ठोपलालंकृतं भूमौ स्थण्डिले वाऽत्मनः स्वस्यासनं प्रतिष्ठाप्य संस्थाप्य । वस्तुतस्तु 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' (ब्र.सू. ४।१।११) इत्युक्तत्वाद्यत्र देशे काले च मनसो भगवदाकारग्रहणोन्मुखता

देश पाखण्डी व्यक्तियों से आवृत्त हो तथा जो देश अन्त्यज से युक्त हो उन देशों में निवास नहीं करना चाहिये। यह वचन विष्णु स्मृति का है। और विष्णु धर्मोत्तर में योग के सहायक देशों का भी कथन किया गया है "प्रभास पुष्कर काशी नैमिषारण्य मणिकर्णिका गंगा सरयू इत्यादि प्रदेशों में धार्मिक व्यक्ति निवास करते हैं वहां निवास करे। एवं स्वभाव से तथा संस्कार द्वारा पवित्र "समतल पवित्र शर्करा (पाषाणखण्ड) वह्नि बालुका और भीषण शब्द जलाशयादि विवर्जित में" इत्यादि श्वेताश्वेतर श्रुति प्रतिपादित देश में। अत्यंतोन्नत आसन पर नहीं (अपेक्षित देह स्थिरता की असंभावना होने से) अर्थात् अत्यन्त उन्नति विवर्जित आसन हो वा अत्यन्त नीच अत्यन्त निम्नता विशिष्ट भी आसन नहीं हो। अन्यथा समीपस्थ पृथिवी की शीतता के कारण मच्छर डांस प्रभृति का उपद्रव संभवित है अतः उसका निवारण अनि-वार्य हो जायगा। चैल अजिन कुशोत्तर आसन होना चाहिये। चैल में कपास निर्मित रेशम ऊन निर्मित मृदुल वस्त्र का टुकड़ा लेवें। अजिन कोमल लंबा रोम समुदाय से युक्त मृग चर्म ये दोनों तथा कुशासन अन्त में हों अर्थात् ऊपर भाग में वस्त्र हो उसके नीचे भाग में मृगचर्म तथा उसके नीचे भाग में कुश से युक्त आसन हो। तथा स्थिर निश्चल सरल काष्ठ पाषाण से अलंकृत भूमि में स्थित हो अथवा स्थण्डिल हो एतादृश स्वकीय आसन को स्थिर करके ध्यान लगावें। वस्तुतः देखें तब तो "यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्" इस सूत्र के अनुसार जिस देश काल में मन को स्वाध्यायतत्त्व भगवान् का जो आकार है उसके ग्रहण करने में सरलता हो वही वही देश काल प्रशस्त है। क्योंकि अविशेष रूप से शास्त्र में कहा गया है यह सार है। आसन के लिये अधिक विचार कुछ विशेषता द्योतक नहीं है ॥११॥

सम्पद्येत स एव देशः कालश्च ध्यानविशेषरूपेणैव शास्त्रेऽभिहितत्वादिति निष्कर्षः एवमासनं प्रतिष्ठाप्य किमनुतिष्ठेदित्याह—यत्राऽसने सुसुखं सिद्धासनाद्यासनप्रभेदेष्व-न्यतमे चिरस्थितिसाधनयोग्येन उपविश्यैव न पुनरुत्थाय शयित्वा वा तिष्ठतश्चित्त-वैयग्र्यध्रौव्याच्छयानस्य च निद्रातन्द्रादिसम्भवात् । तदुक्तं ब्रह्मसूत्रे 'आसीनः सम्भ-वादि' ति मनोऽन्तःकरणमभ्यासवैराग्यादिसाधनैकाग्रं भगवद्वैमुख्यापादकवृत्तिविरहितं भगवदाभिमुख्यावेदकवृत्तिविशिष्टञ्च कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियो यताः संयताश्चिन्तन-वृत्तिकस्य चित्तस्य बाह्येन्द्रियाणाञ्च क्रिया वृत्तयो येन स । योग्यात्मविशुद्धये आत्म-नोऽन्तःकरणस्य विशुद्धये । नन्वात्मशब्देनात्रान्तःकरणस्यैव ग्रहणात्तस्य च विशुद्धत्वे एवैकाग्र्यसम्भवाद् तदैकाग्र्ये चात्मविशुद्धिरित्यन्योऽन्याश्रयदोषदौस्थ्यात्कथमर्थसंगति-रिति चेदुच्यते 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता' (का २।३।१४) इत्यादि श्रुत्यनुसारेणानादिकर्मप्रवाहसमुद्भूतरागद्वेषनिमित्तककल्मषस्य मनोऽन्तर्वर्तिता निश्चीयते। स च परमपुरुषैकतानप्रत्ययेनामूलचूडमुच्छिद्यते । इयमेव चात्मविशुद्धिरत्र गीताचार्य-सम्मता । एतत्समानाधिकरणमन्तःकरणैकाग्र्यं ह्यभ्यासवैराग्यादिपाटवजन्यमनोनिरो-

पूर्व श्लोकोक्त रूप से आसन को प्रतिष्ठित करके क्या करे इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं "तत्रैकाग्रमित्यादि" उस आसन पर सुख पूर्वक सिद्धासनादि प्रभेदभिन्न में से अन्यतम चिर-स्थिति योग्य अर्थात् अधिक काल तक बैठने के लायक आसन से बैठ कर के न कि खडे हो करके न वा सो करके क्योंकि अधिक समय तक खडे रहने से चित्त में व्यग्रता होगी सो जानें से लेटने से निद्रा तन्द्रा की संभावना है । ब्रह्मसूत्र में भी कहा है "आसीनः संभवात्" । उस आसन के ऊपर बैठ करके मन को एकाग्र करके अर्थात् मन अन्तः करण उस मन को अभ्यास वैराग्य द्वारा एकाग्र अर्थात् भगवान् से विमुखता का आपादक जो मनोगत वृत्ति विशेष उस वृत्ति विशेष से रहित तथा भगवान् की अभिमुखता का आपादक जो वृत्ति विशेष तादृश वृत्ति विशेष से मन को युक्त करके "यतचित्तेन्द्रिय क्रियः" संमत है चिन्तन वृत्तिक चित्त का तथा बाह्येन्द्रिय की क्रिया वृत्ति जिसकी उसे कहते हैं यत चित्तेन्द्रिय, आत्म विशुद्धि के लिये यहाँ आत्मशब्द का अर्थ है अन्तःकरण उस अन्तःकरण की विशुद्धता के लिए ।

शंका यदि आत्म शब्द से अन्तः करण का ग्रहण करते हैं तब तो उस अन्तःकरण की विशुद्धि होने से ही एकाग्रता होगी और एकाग्रता होने से विशुद्धि होगी तो इस प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष होने से प्रकृत अर्थ की संगति कैसे होगी ?

समाधान "इस अधिकारी पुरुष के अन्तःकरण में रहनेवाली सभी कामनाएं जब नष्ट हो जाती हैं तब यह मर्त्य अमृतधर्मा हो जाता है" इत्यादि श्रुति के अनुसार अनादि कालिक जो

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

धममनन्तरजायमानस्याः प्रयोजकतयाभिमतं तथा चाभ्यासवैराग्यादिसाधनैर्निरुद्धवृत्तिके मनसि शाश्वतिकनद्विशुद्धिविधायकमैकाग्र्यमुत्पद्यते । अत्र चाभ्यासवैराग्यादिसाधनानामेवोपयोगो न तु चरमफलभूतायाश्चित्तविशुद्धेरिति नान्योऽन्याश्रयः । योगं समाधियोगं युञ्ज्यादनुतिष्ठेत् ॥११-१२॥

समाधियोगसाधकानि देशासनादीनि बाह्योपकरणान्यभिधाय देहावयवाद्यन्तरंगोपकरणान्याह समभिति द्वाभ्याम् । कायशिरोग्रीवं । कायशब्दोऽखिलशरीराभिधाय्यप्यत्र शिरोग्रीवस्य पृथङ्निर्देशात् मूलाधारचक्रादारभ्य विशुद्धिचक्रान्तमात्रं मध्यभागमभिधत्ते । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । कायश्च शिरश्च ग्रीवा चेमान्यङ्गानि सममवक्रं यथा स्यात्तथा । समत्वेऽपि पार्श्वयोश्चलनसम्भवादाह अचलमिति । निष्कम्पंयथा तथा । ननु निष्कम्पताऽपि त्रिचतुरक्षणव्यापिन्येव स्यान्न तेन योगसिद्धिः

कर्म का प्रवाह उससे उत्पन्न जो रागद्वेष तन्मूलक जो पाप कर्म रूप मल वह मन में बैठा है ऐसा निश्चित होता है। वह पाप भगवान् की एकाग्रता प्रत्यय रूप कारण से आमूल विनष्ट होता है। एतादृशी आत्म शुद्धि यहाँ गीताचार्य को संमत है।

एतादृश विशुद्धि सहित अन्तःकरण का ऐकाग्र्य अभ्यास वैराग्य की पटुता से उत्पन्न जो मनो निरोध है उस के अनन्तर में होने वाला ऐकाग्र्य इस विशुद्धि के प्रयोजक रूप से अभिमत है ऐसा हुआ तब अभ्यास वैराग्यादि कारण के द्वारा निरुद्ध वृत्तिक मन में सार्वदिक मनोविशुद्धि करनेवाला चित्तैकाग्र्य उत्पन्न होता है। इसमें अभ्यास वैराग्यादि साधनों का ही उपयोग होता है।

अन्तिमफल रूप जो चित्त वृत्ति है उसकी जनकता नहीं है अतः अन्योन्याश्रयदोष की संभावना नहीं है। अतः आत्माविशुद्धि के लिए योग अर्थात् समाधियोग यानी समाधियोग का अनुष्ठान करे ॥१२॥

समाधियोगके साधनीभूत बाह्योपकरण देश आसनादि का कथन करके तदनन्तर अन्तरंग देहावयवादि साधन को बतलाने के लिये कहते हैं श्लोक द्वय से "सममित्यादि" काय शिरोग्रीवा देह का मध्यभाग मस्तक ग्रीवा कण्ठ को अचल स्थिर रूप से धारण करते हुए। यद्यपि काय शब्द संपूर्ण शरीर का वाचक है तथापि यहाँ शिर और ग्रीवा का काय से पृथक् रूप से कथन किया गया है, शिरोग्रीवासे भिन्न मूलाधार चक्र से लेकर विशुद्धि चक्र पर्यन्तमात्र शरीर का जो मध्यभाग है उसी का बोधक काय शब्द यहाँ पर है अतः उससे

स्यादित्यत आह स्थिरमिति । ध्यानानुष्ठानकालपर्यन्तं स्थैर्ययुक्तमिति तदर्थः । एतत् त्रयमपि धारणक्रियाविशेषणम् । दिशश्चानवलोकयन् । दिगवलोकनराहित्यस्य ध्येयातिरिक्ताखिलपदार्थावलोकननिषेधे तात्पर्यम् । न चैवं नासिकाग्रसंप्रेक्षणेनैव दिशां तन्निष्ठाऽखिलवस्तूनाञ्चानवलोकनं स्वतः प्राप्तमिति व्यर्थमेतदिति वाच्यम् । नासिकाग्रसम्प्रेक्षणस्य दृष्टिस्थापनप्रदेशे यत्तानियम एव तात्पर्यम् । न तु वस्त्वन्तरावलोकननिषेधे । तद्व्यावृत्त्यर्थमिदम् । किञ्च नोऽग्रावलोकनमत्र नात्रटीटकर्तृकस्वनोऽग्रावलोकनवत्स्वाभाविकं साधनाभिधानाधिकारे तदुपादानवैयर्थ्यात् । न वा नोग्रावेक्षणमेव पुरुषार्थः सम्प्रेक्ष्येत्युत्तरकालिकार्थकल्यपोऽनिष्पत्तेः किञ्च नोऽग्रसं-

उक्तभाग बाधित होता है "कायशिरोग्रीवम्" यह व्याकरण की परिभाषा के अनुकूल एकवद्भाव प्राण्यंग होने से किया गया है । एकत्व संख्या बोधक विभक्ति को जोड़ा है अन्यथा तीन पद होने से त्रित्व संख्या बोधक विभक्ति का प्रयोग आवश्यक था । काय शिर ग्रीवा ये जो अंग हैं उनको सम करके ।

इन अंगों की समता होने पर भी पार्श्वद्वय चलन संभव है तो इसके उत्तर में कहते हैं 'अचलमिति कंपन रहित करके निष्कंपता भी तो दो चार क्षण तक होगी एतावता तो योग की सिद्धि नहीं होगी तो इसके उत्तर में कहते हैं 'स्थिरमिति' स्थिर पूर्वक रहें । जहाँ तक ध्यानानुष्ठान का काल है तावत्कालपर्यन्त स्थिरता से युक्त रहें । समता अचलन और स्थैर्य ये तीनों विशेषण धारण क्रिया में है दिशा का अवलोकन नहीं करता हुआ यानी दिशा को नहीं देखें । इसका अभिप्राय यह है कि स्वध्येय जो परमात्मा का आकार तदतिरिक्त सभी पदार्थ विषयक अवलोकन का निषेध करना है ।

शंका—नासिका का जो अग्रभाग तावन्मात्र के संप्रेक्षण से दिशा तथा दिगवस्थित सकल पदार्थ का अनवलोकन स्वत एव सिद्ध हो जाता है पुनः "दिशश्च" इत्यादि कथन व्यर्थ प्राय है ।

समाधान—नासिकाग्र संप्रेक्षण को दृष्टि के संस्थापन करनेका जो देश है उसमें इयत्ता (इतनीदूर तक) के नियम में ही तात्पर्य है न तु वस्त्वन्तर के अवलोकन निषेध में तात्पर्य है उसकी व्यावृत्ति निराकरण के लिये यथोक्त विशेषण है । अग्र पदार्थ का अवलोकन नासिका के अग्रावलोकन समान स्वाभाविक नहीं है अर्थात् नासिका के अग्रभाग को देखेगा तब तदतिरिक्त तत्समीप अग्रभागस्थित पदार्थ को देखा ही करेगा ऐसा कोई नियम नहीं है । यदि देखेगा ही तब साधन के मध्य में उसका उपादान निरर्थक होता । नासिकाग्र संप्रेक्षण भी कोई खास प्रयोजन नहीं है क्योंकि यदि नासिकाग्र संप्रेक्षण पुरुषार्थ हो तब तो 'संप्रेक्ष्य' यह

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

प्रेक्षणस्यैव प्रधानकर्तव्यत्वे 'युक्त आसीत मत्परः' (गी. ६।१४) 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' (गी. ६।२५) इत्यादिवाक्यानामसंगत्यापत्तेः । तस्मादुक्तार्थ एव तात्पर्यम् सम्प्रेक्षणन्तु निद्रातन्द्रादिनिरासार्थमन्यथा नेत्रनिर्मीलनेनापीष्टसिद्धेः । परनासिका-प्रेक्षणव्यवच्छेदार्थं-स्वमिति । प्रशान्तात्मा प्रकर्षेण शान्त उपशमप्राप्त आत्मा मनो यस्य स । विगतभीर्विगता विलयमुपगता भीः कायिकवाचिकमानसिककठोरव्रतानुष्ठानेन जातु मच्छरीरे वातपित्तादयः प्रकोपमवाप्यमरणमुत्पादयेयुरितिभीतिर्यस्य स । ब्रह्मचारिव्रते स्थितः । ब्रह्मचारिणो यद् व्रतमावश्यककर्तव्यं मन्वादिधर्मशास्त्रेऽभिहितं ।

'वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥(म.२।१७७)
'एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्कचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ।(म.२।१८०)
नैष्ठिको ब्रह्मचारी च ताम्बूलाभ्यंजने तथा ।
मैथुनं कांस्यपात्रस्थमन्नं चैव न भोजयेत् ॥' (सनत्कुमारः]

जो उत्तर कालिकार्थक ल्यप् प्रत्यय है वह निष्पन्न नहीं होगा। और भी देखिये—यदि नासिका का अवलोकन प्रधान कर्तव्य हो तब तो "युक्तं आसीत मत्परः" "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" इत्यादि वाक्य असंगत हो जायगा अतः पूर्वकथित अर्थ में ही तात्पर्य कहना ठीक है। नासिका संप्रेक्षण जो है वह तो निद्रातंद्रादि निराकरण के लिये है अन्यथा नेत्र निमीलन से भी इष्ट सिद्धि हो सकती है "नासिकाग्रं स्वम" यहाँ जो 'स्व' शब्द है वह परकीय नासिकाग्रा-वलोकन का निषेध परक है । प्रशान्तात्मा प्रकर्षेण शान्त है उपशम प्राप्त है मन जिसका एतादृश । विगत भी, विगत है चला गया है भय कायिक वाचिकमानसिक भय चला गया है जिसका अर्थात् मेरे कठोर व्रतानुष्ठान करने से कदाचित् मेरे शरीर में वात कफ पित्त प्रयुक्त हो करके मेरे मरण को उत्पन्न कर दें एवं प्रकारक जो भय तादृश भय है जिसे विमुक्त तथा ब्रह्मचारी का जो व्रत उसमें स्थित अर्थात् ब्रह्मचारी का जो व्रत आवश्यक कर्तव्य हैं जो कि मन्वादि धर्मशास्त्र में कथित है तद्यथा ब्रह्मचारी मद्य मांस गंधमाला रस स्त्री तथा सभी प्रकार के प्राणियों का विहिंसन इन सब चीजों को छोड़ दें" सनत्कुमारसंहिता में भी कहा है अकेला सोयें। कभी भी वीर्य को नष्ट न करें। यदि कदाचित् रेतस का खण्डन करता है तो अपने व्रत को ही नष्ट करता है। जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो वह कभी भी तांबूल का सेवन न करें,

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

आग्नेय० इत्यादि रूपे तत्र स्थित । एतद्व्रतानुष्ठानतत्पर इत्यर्थः । एतेन चतुर्थाश्रमिण एवैतत्कर्तव्यमिति मतं परास्तम् । ब्रह्मचारिव्रतानां प्रायस्तद्धर्मनियतत्वात् । अतश्चतुर्ष्वप्याश्रमिषु यः कोऽपि भगवत्स्वरूपावाप्तिप्रयोजकमिमं समाधियोगमनुष्ठातुं शक्नोतीति निश्चीयते । मनः संयम्य मच्चित्तो मय्येव चित्तं यस्य स मदेकावलम्बनो मत्परोऽहमेव पर आराध्यो यस्य स तादृशो युक्तः समाधिनिष्ठ आसीत तिष्ठेत ।१३।१४।

एवमुक्तप्रकारेण नियतमानसो नियतं विनिवृत्तकर्मवासनं मानसं यस्य स योगी

तेल का मालिस न करे, मैथुन न करे, और कांस्य पात्र में अन्न भोजन न करे । आग्नेय में लिखा है मैथुन का प्रकार आठ होता है तथाहि स्मरण करना कीर्तन करना केलि क्रीडा का प्रेक्षण देखना, गुह्य भाषण गुप्त बात करना मैथुन विषयक संकल्प करना तथा तद्विषयक अध्यवसाय और मैथुन क्रिया का संपादन इस प्रकार विद्वानों ने मैथुन का आठ प्रकार बताया है । इन आठसे विपरीत आठ प्रकार का ब्रह्मचर्य होता है इत्यादि प्रकारक ब्रह्मचारी का जो व्रत है उसमें स्थित रहने वाला एतादृश व्रतानुष्ठान में तत्पर हो इस प्रकार के शास्त्रसम्मत व्याख्यान से कोई कोई व्याख्याता जो कहते हैं कि यह चतुर्थाश्रमी का (संन्यासी का) व्रत है वह परास्त हो जाता है । क्योंकि ब्रह्मचारी का जो व्रत है वह प्रायः ब्रह्मचारी धर्म नियत होता है । अतः चारों प्रकार के आश्रमी में जो कोई भी व्यक्ति हो वह भगवत्प्राप्ति प्रयोजक इस समाधियोग का अनुष्ठान कर सकता है । ऐसा सर्वशास्त्रसम्मतरूप से निश्चय किया जाता है एवं मन को संयत करके मच्चित्त हो करके मुझ सर्वेश्वर सर्वनियन्ता श्रीराम में ही चित्त है जिसका एतादृश अर्थात् मदेकालम्बन होकर के । मत्पर में ही एक मात्र पर स्वरूपतया आराध्य हूँ, जिसका एतादृश हो करके युक्त अर्थात् समाधि निष्ठ हो करके रहे ॥ १३।१४॥

विधीयमान इस समाधियोग में "मच्चित्तः" इत्यादि वाक्य के द्वारा परम पुरुष परमात्मा में मन को धारण करना ऐसा कहा कहा गया है उस मनोधारण का फल क्या है वह इस श्लोक से बतलाते हैं "युञ्जन्नेवमित्यादि" एवम् उक्त प्रकार से नियतमनवाला होकरके अर्थात् नियत है विनिवृत्त है कर्म वासना जिस में ऐसा जो मन तादृश मन है जिसका ऐसा जो योगी

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ? ॥१६॥

समाधियोगनिष्ठः सदाऽऽत्मानं मनो युञ्जन् मनः शुभाश्रये परमपुरुषे स्थापयन् निर्वाणपरमां निर्वाणस्य परमांचरमकाष्ठां मयि संस्थितां शान्तिमधिगच्छति ॥१५॥

अथ योगोपकारिणमाहारनियममाह नेति । हे अर्जुन ! अत्यश्नतोऽधिकभोजनशीलस्य । तु । योगो नास्ति न सिध्यति । न च नाप्येकान्तमत्यन्तमनश्नतोऽभुञ्जा-

समाधियोग मे संलग्नव्यक्ति । सदा सर्व समय में आत्मामन को शुभाश्रयीभूत परमपुरुष परमात्मा में संस्थापित करता हुआ मुझ में स्थित निर्वाण की परमकाष्ठा रूप शान्ति को प्राप्त करता है । अर्थात् मुझ में अवस्थित परमनि:श्रेयस रूपमदर्शनशांति को प्राप्त करता है । विष्णुपुराण में भी कहा है ।

"योग युक् प्रथमयोगीयुञ्जमानोऽभिधीयते । विनिष्पन्नसमाधिस्तु परब्रह्मोपलब्धिमान् ॥
विनिष्पन्नसमाधिस्तुमुक्तिं तत्रैव जन्मनि । प्राप्नोति योगीयोगाग्निदग्धकर्मचयोचिरात् ।

योगसाधना करनेवाला प्रथम योगी युञ्जानक कहलाता है और जब समाधि बिल्कुल व्यवस्थित होजाती है तब वह युञ्जान योगी परब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला हो जाता है और जब परम पुरुष का साक्षात्कार हो गया तब वह योगी बहुत दिनों तक योगाग्नि के सेवन से कर्म को दग्ध करके इसी जन्म में परमनिश्रेयसरूपमुक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥१५॥

'प्रकान्त' जो समाधियोग है उसका साधनीभूत कर्मयोग ज्ञानयोग का कथन करके समाधियोग का कार्य जो परम पुरुष परमात्मा का आराधन इसे कह करके इसके बाद योग में उपकारक जो आहार विहार उस नियम को बतलाने के लिये कहते हैं—"नाऽत्यश्नतः" इत्यादि । हे अर्जुन ! जो व्यक्ति प्रमाण से अधिक भोजनशील है उन्हें योग की सिद्धि नहीं होती है, अधिक भोजन करने से विषूचिका (हैजा) अजीर्णादि रोग होने की सम्भावना रहती है और स्मृति प्रभृतिक धर्मग्रन्थ तथा आयुर्वेदादि शास्त्र में निषेध भी आया है—

"अनारोग्यमनायुष्कमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् । अपुण्यलोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

अधिक भोजन आरोग्य का संपादक नहीं होता है प्रत्युत अजीर्णरोगादि का जनक है । तथा आयु का अभिवर्धक नहीं हो करके आयु में क्षतिकारक है तथा प्रमाणापेक्षया अत्यधिक भोजन पुण्य प्रयोजक भी नहीं है । स्वर्ग का भी प्रयोजक नहीं एवं लोक से भी विद्विष्ट है अर्थात् अधिक भोजन करने वालों की लोक में निन्दा होती है इसलिये अधिक भोजन शील व्यक्ति को योगासिद्ध भाव को कहा है । तो किस प्रमाण से अन्न भोजन करे इसलिये कहा है कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

नस्य । न चातिस्वप्नशीलस्यात्यन्तनिद्रालोर्नैव जाग्रतोऽत्यन्तजागरणशीलस्यापि योगो सिद्धिमवाप्नोति ॥१६॥

तर्हि कथंभूतो जनो योगसिद्धिमुपयातीत्यत्राह युक्ताहार विहारस्येति । युक्ताहार-

"उदरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलस्य च । वायोः सञ्चरणार्थं च चतुर्थमवशेषयेत् ॥"

उदर पेट के दो हिस्सों को अन्न से पूर्ण करे जल से तृतीय भाग को पूर्ण करे और वायु के संचलन के लिये चतुर्थ भाग को खाली रखें । "अष्टौग्रासामुनेर्भक्ष्याद्वादशारण्यवासिनाम् । द्वात्रिंशत्तुगृहस्थस्ययथेष्टं ब्रह्मचारिणाम ॥" संन्यासीमहात्मा प्रभृति को आठ ग्रास भोजन लेना चाहिये और वानप्रस्थी को द्वादश बारह ग्रास भोजन लेना चाहिये गृहस्थ को बत्तीस ग्रास भोजन लेना चाहिये ब्रह्मचारी के लिए ग्रास का कोई नियम नहीं है किन्तु यथेच्छ भोजन करें । इत्यादि जो भोजन का नियम है उसका अतिक्रमण करके जो अत्यधिक भोजन करता है उसे योग की सिद्धि नहीं होती है । एकान्ततः भोजन नहीं करने वाले को भी योग की सिद्धि नहीं होती है । अर्थात् जो चान्द्रायण कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतशील हैं उन्हें धातु शोषण हो जाने के शरीर में बल नहीं रहता है तब अति दुर्बलता के कारण समाधि के अभ्यास से वंचित हो जाते हैं और आत्मा के उपलब्धि प्रकार में शारीरिक बल को भी प्रयोजक बतलाया है । "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्यादि । यह आत्मा बलहीन व्यक्ति से लभ्य नहीं होती है अतः यह सिद्ध होता है कि बिलकुल भोजन नहीं करने वालों को तथा प्रमाण से अधिक भोजन करने वालों को योग की सिद्धि नहीं होती है ।

जो अत्यन्त स्वप्नशील हैं अर्थात् अधिकनिद्राशील जो व्यक्ति है उनको भी योग सिद्ध नहीं होता है । कारण यह है कि यदि नवाब के जैसे दिन रात सोता ही रहेगा तब योग साधन के उपाय कारण में प्रवृत्त कब होगा और साधन संपादन के बिना साध्य सिद्धि कैसे होगी अर्थात् नहीं होगी । इस प्रमाण से अधिक निद्रा भी क्षति करने वाली होती है । एकान्ततः जागरण शील पुरुष को भी योग की सिद्धि नहीं होती है कारण कि अत्यन्त जागने वालों को उन्मादादि दोष की संभावना रहती है । अतः अत्यन्त जागरण शील व्यक्ति को भी योग की सिद्धि नहीं होती है ॥१६॥

यदि यह अत्यन्त भोजन करनेवालों को योग सिद्धि नहीं होता है बिल्कुल भोजन नहीं करनेवालों को भी योगसिद्धि नहीं होती है, अधिक निद्राशील को भी नहीं होती है

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

विहारस्य परिमिताहारविहारशीलस्य कर्मसु युक्तचेष्टस्य परिमितचेष्टावतो युक्तस्वप्नावबोधस्य परिमितनिद्राजागरस्य दुःखं हन्तीति दुःखहा जराजन्मादिदुःखनाशको योगो भवति सिध्यति ॥१७॥

अथ सम्पन्नयोगावस्थामाह–यदेति । विनियतं विशेषेण नियन्त्रितञ्चित्तं यदाऽऽत्मन्येवावतिष्ठते प्रतिष्ठितं भवति । तदा सर्वकामेभ्यो निस्पृहो गतस्पृहः सन् युक्तः समाहितचित्त इत्युच्यतेऽभिधीयते ॥१८॥

समयातिक्रम करके जागनेवालों को भी योगसिद्धि नहीं होती है तो आखिर यह योगसिद्धि किसे होती है इस जिज्ञासा के उत्तर में गीताचार्य कहते हैं–"युक्ताहारेत्यादि" जिसलिये अधिक भोजनादिशील को योगसिद्धि नहीं होती है किन्तु जो युक्ताहार विहार वाले हैं अर्थात् परिमित आहारविहारशील को योगसिद्धि होती है उसमें आहार शब्द का अर्थ है परिमित हितशाकादि अन्नजल का ग्रहण करना तथा परिमित चलने फिरने का नाम है विहार ये दोनो आहार विहार जिसके प्रमाणोपेत हैं । एवं कर्म में स्नान संध्या जपादि कर्म में युक्त चेष्टा जो है अर्थात् नियत चेष्टावाले जो हैं और युक्त स्वप्नावबोध जो हैं अर्थात् परिमित निद्रा जागरणशील जो व्यक्ति हैं उन व्यक्तियों को ही जरा जन्मादि दुःख को नाश करनेवाला योगसिद्ध होता है इससे अतिरिक्त को नहीं होता है ।

यानी समुचिताहार विहार समुचितनिद्रा जागरणादिशील व्यक्ति दुःखनिवर्तक योग सिद्ध होता है ऐसा कहा गया है इसी विषय को लेकरके दक्षस्मृति में कहा है–

अभियोगात्तथाभ्यासात्तस्मिन्नेवसुनिश्चयात् । पुनः पुनश्च निर्वेदाद्योगाः सिध्यन्ति नान्यथा ।

स्वप्नेपियोभियुक्तस्य जाग्रच्चैवविशेषतः । ईदृक् चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम्"

अभियोगसे तथा अभ्यास से उसी योग में निश्चय करने से बारम्बार निर्वेद करने से योगसिद्ध होता है, जो स्वप्न में भी अभियुक्त है खासकरके जागरणावस्था में युक्त है एतादृश चेष्टावाला साधक ब्रह्मवादियों में श्रेष्ठ तथा वरिष्ठ बडा माना गया है । जिस प्रकार आहार के विषय में अभियुक्तत्व कहा है उसी प्रकार विहार में भी अभियुक्तता शास्त्र दृष्टि से संपादनीय है । स्वप्न में तथा प्रबोध में भी युक्तता अवश्यमेव अपेक्षित है ॥१७॥

समाधियोग में सहायक देश आसन का कथन करके संक्षेप रूप से फल को भी बता करके पुनः सम्पन्न योगावस्था का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं–"यदा विनियतमि-

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

अथ योगिन आत्मस्वरूपं दीपदृष्टान्तेनाह—यथेति । निवातस्थोऽनिलवर्जितस्थानस्थितो दीपो यथा नेङ्गते न चलति । अचलप्रभः संस्तिष्ठतीत्यर्थः । यतचित्तस्य

त्यादि'' जिस समय में विनियत विशेष रूप से नियन्त्रित अर्थात् योगानुष्ठान से निरुद्ध होकर के चित्त अन्तःकरण आत्मा में स्व के आराधनीय जो महापुरुष परमात्मा उस परमात्मा में निरतिशय अनुराग से जब अवस्थित स्थितिमान् हो जाता है तब प्रकृत मूल में 'आत्मन्येव' यहाँ एव शब्द से क्षणिक सुख जनक विषय का व्यवच्छेद किया है अत: उस क्षणिक सुखशील वस्तु में निस्पृह सब कामों से स्पृहा रहित हो जाता है । उचित भी है जिसने नित्यनिरतिशय आनन्द महोदधि में निमज्जन कर लिया है उस व्यक्ति को क्षणिक-परमात्मा के अधिन रहनेवाले सुख विशिष्ट विषयों से स्पृहाविवर्जित हो जाना यह उचित ही कहा है । क्योंकि "अविहितपरमानन्दो वदति जनो विषयमेव रमणीयम् । तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥" जिस व्यक्ति ने परमानन्दलक्षण परमपुरुष को नहीं जाना है वह तब तक विषय सुख को ही परम सुख मानता है । जैसे जिसने घी का मुंह नहीं देखा है वह आदमी तिल तेल को ही मिष्ट समझता है इसलिए कहा है 'सर्वकामेभ्यो निस्पृहः' विषय सुख भी परमात्मा का ही लेशभूत है "एतस्यैवानन्दस्य मात्रमुपजीवन्ति भूतानि" यही जो आनन्दसमुद्र परमात्मा है उसका लेशमात्र सुख का इतरभूत समुदाय अनुभव करता है । तभी तक जलाशय को ही महान् समझता है जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं किया है ।

जब सर्व काम से निस्पृह हो जाता है उस काल में युक्त अर्थात् समाहितचित्तवाला कहलाता है । जब योगाभ्यास के द्वारा निरुद्ध हो करके अन्तःकरण परमात्मा में अवस्थित हो जाता है इतर विषयों से निस्पृह हो जाता है तब वह समाहितचित्त समाधियोगी कहलाता है । "तस्यैव कल्पनाहीनस्वरूपग्रहणंहियत् । मनसाध्याननिष्पाद्यंसमाधिः सोऽभिधीयते ॥" कल्पना से रहित मन के द्वारा ध्यान से "निष्पाद्य जो स्वरूपग्रहण उसी को समाधि कहते हैं । एतादृश समाधियुक्त यथोक्त विशेषण से युक्त योगी होता है ॥१८॥

इसके बाद योगी का जो आत्मस्वरूप है उसे प्रदीप दृष्टान्त के द्वारा प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं—"यथा दीप" इत्यादि । निवात में स्थितवायु से रहित जो अपवदक प्रभृतिस्थल में प्रदीप है वह जिस तरह चलित नहीं होता है अर्थात् कंपक वायु के अभाव होने से दीप की शिखा निष्कंप होकरके एकाकार से ऊर्ध्वप्रदेश में जैसे जाती रहती है

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

वशीकृतचेतसो निवृत्ताखिलबाह्यमनोव्यापारस्येत्यर्थः । योगं युञ्जतो योगिन आत्मनः स्वस्वरूपस्य सोपमाऽनिलवर्जितस्थलस्थो दीप एव दृष्टान्तः । स्मृता ॥१९॥

पुनरपि सफलं योगस्वरूपं निर्दिशति यत्रेत्यादिचतुर्भिः योगसेवया सम्यग्योगानुष्ठानेन निरुद्धमेकाग्रतामापन्नं चित्तमन्तःकरणं यत्र योग उपरमते सर्वतोऽधिकमिदमिति विजानन् ससुखं स्थिरीभवति । यत्र चात्मनान्तःकरणेनात्मानं परमपुरुषशेषरूपं पश्यन् स्वात्मन्येव संतुष्यति 'तं योगसंज्ञितं विद्यात्' इत्युत्तरेणान्वयः ॥२०॥

यानी अचलप्रथा वाला दीप रहता है उसी प्रकार यतचित्त जो योगी है अर्थात् वशीकृत है चित्त जिसका या निवृत्त हो गया है समस्त बाह्य मनोव्यापार जिसका एतादृश जो योग की साधना करनेवाले योगी हैं उसका अपने स्वरूप की परिचाइका यह दीपकलिका की उपमा है अतिनिर्वातप्रदेश में स्थित प्रदीप ही उपमा दृष्टान्त है । इसी आत्मस्वरूप को योगशास्त्र में इस प्रकार से कहा है "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" उस समय में द्रष्टा जो पुरुष है वह स्वकीय स्वरूप में अवस्थित हो जाता है ॥१९॥

पुनः फल सहित उसी समाधियोग के स्वरूपको कहते हैं जो तत्व को जानने की इच्छा रखते हैं उन्हें सरलता से बोध हो इस लिये "यत्रोपरमते" इत्यादि । योग की सेवा से सम्यक् योगानुष्ठान करने से अर्थात् पूर्वकथित जो समाधियोग है उसकी अभ्यास पटुता से निरुद्ध एकाग्रता को प्राप्त किया हुआ अर्थात निर्वात स्थल स्थित प्रदीप के समान निश्चल भाव को प्राप्त चित्त यानी अन्तःकरण जिस योग में उपरमित होना है अर्थात सब से अधिक स्वात्मानुसन्धान यही है ऐसा जानता हुआ सुख सहित स्थिर होता है और जिस काल में आत्मा यानी अन्तःकरण से आत्मा को अर्थात् स्व स्वरूप को परमपुरुष परमात्मा सर्वेश्वर श्रीरामजी का शेष रूप से स्वकीय आत्मा को देखता हुआ स्वात्मा में ही संतुष्ट होता है, उसे योग संज्ञित जाने, इस उत्तर ग्रन्थ से इस श्लोक का सम्बन्ध है । अर्थात् समाधि योगानुष्ठान के द्वारा निरुद्धान्तःकरण होने से जिस योग में सर्वतः सुख विशेष यही है यह समझ करके उपरमित होता तथा सर्वतोभाव से परम पुरुष का शेष लक्षण अपने को अनुभवकर संतुष्ट होता है उसे योग संज्ञित समझना, इस का इसप्रकार के उत्तर ग्रन्थ से सम्बन्ध है ॥२०॥

यत्र यत्तदतीन्द्रियं विशुद्धबुद्ध्यतिरिक्तेन्द्रियाग्राह्यमत एव बुद्धिग्राह्यमात्यन्तिकं दुःखलेशादप्यसंस्पृष्टं सुखं वेत्ति। यत्र चायं परिनिष्ठितयोगः स्थितः सन् तत्त्वतः परानुभवान्नैव चलति ॥२१॥

यत्र जिस योग में जो यह विशुद्ध संस्कृतान्तःकरण से भिन्न जो बाह्य चक्षुरादिक इन्द्रिय हैं उन से ग्रहण करने में अयोग्य अत एव विशुद्धान्तःकरण मात्र से ग्रहण करने के योग्य अर्थात् जिस योग में यह जो अतीन्द्रिय लौकिक विषय ग्राहक बहिरिन्द्रिय चक्षुरादिक तथा असंस्कृत मन से भी ग्रहण करने में अयोग्य है जिस को श्रुति भी इस प्रकार से कहती है "यह न चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत होता है न वा वाणी से ही गृहीत होता है तथा न मन से ही गृहीत है। जो असंस्कृत है उससे तथा वाणी से यहगृहीत नहीं होता है। केवल संस्कृत मन से ग्राह्य है, ज्ञान के प्रसाद से विशुद्धान्तःकरण से ग्राह्य है" मन से जो विशुद्ध है उससे देखने में आता है ऐसा जो आत्यन्तिक सुख है जो कि दुःखलेश से भी असंस्पृष्ट है ऐसे सुख को जानता है। यद्यपि "यन्मनसा न मनुते" जो मन से नहीं जाना जाता है इत्यादि श्रुति से मनोग्राह्यत्व का भी निराकरण किया है तथापि निषेध श्रुति का तात्पर्य है असंस्कृत मन में, अर्थात् असंस्कृत मन से गृहीत नहीं होता है किन्तु "दृश्यते त्वग्र्यया बुध्या" इत्यादि अनेक श्रुति से यह सिद्ध होता है कि परम पुरुष के ध्यानादि से विशुद्ध अन्तःकरण से तो गृहीत होता ही है। अत एव कहते हैं "बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम् बुद्धि से संस्कृत मन से ग्राह्य है, और अतीन्द्रिय है अर्थात् बाह्य करण से अग्राह्य हैं। सुख में आत्यन्तिकत्व विशेषण है उसका तात्पर्य यह है कि दुःख का जो अत्यन्ताभाव समानाधिकरण सुख, संसार कालिक सुख दुःख समानाधिकरण है इसलिये सुख में दुःखात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य कहा। और जिस समाधि योग में यह योगी अवस्थित रहता हुआ अर्थात् परिनिष्ठित योग वाला योगावस्थित। तत्त्वतः परानुभव से अर्थात परम पुरुष परमात्मा का शेष रूप से जो स्वरूप का अनुसन्धान है तादृश अनुसंधान से जायमान जो निरतिशय सुख लक्षण परानुभवरूप योग है उससे कभी भी चलित नहीं होता है॥

यहाँ तत्त्वप्रकाशिकाकार ने श्लोकस्थ च इस अव्यय पद का योग तथा सुख इन दोनों में अन्वय कर के "जिस योग में तथा सुख में स्थित होता हुआ" ऐसा अर्थ किया है वह ठीक नहीं है क्योंकि समुच्चयार्थक च शब्द होता है वह व्यर्थ हो जायगा। यदि कहें कि योग तथा सुख में एकता है इसलिये दोनों में अन्वय किया जाता है तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि धर्म और धर्मी में एकता नहीं होती है घटरूप धर्मी तथा घटत्व रूप घट का धर्म दोनों एक नहीं होता है जो जिसमें रहता है वह उससे भिन्न

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

यं योगं परमात्मानुभवं लब्ध्वाततोपरं लाभं नैव मन्यते यस्मिन् योगे स्थितो गुरुणापि दुःखेन न विचाल्यते । तं दुःखलेशसंश्लेषरहितं योगसंज्ञितं विद्यात् । स

होता है जैसे घर में रहनेवाला देवदत्त घर का स्वरूप नहीं होता है किन्तु घर से एकान्ततः भिन्न ही रहता है अतः आधाराधेय भाव की अन्यथा अनुपपत्ति होने से धर्म धर्मी में एकता का कथन करना अविदितन्याय मार्ग वाले पुरुष के लिए ही शोभित होता है । अतः धर्म धर्मी भावान्यथानुपपत्ति होने से पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं है । इस विषय का विशेष विचार अन्यत्र देखें ॥२१॥

जिस परमात्मा का अनुभवात्मक योग अर्थात् परमात्मा का जो आनन्द लक्षण स्वरूप तत्साक्षात्कारात्मक समाधियोग का लाभ करके उससे अतिरिक्त तदधिक किसी लाभ को नहीं समझता है । जैसे बड़े जलाशय में बलपूर्वक तुमडी को जल में डुबोने पर भी वह तुमडी पानी के नीचे तल में न रह कर के ऊपर आ जाती है उसी प्रकार सांसारिक व्यावहारिक क्षणिक विषय सुख में प्रेर्यमाण भी उसका मन क्षणभर के लिये भी विषय सुख में न रह कर परमात्मानुभव लक्षण सुख के बिना क्षण भर भी अन्यत्र नहीं रहता है, अतः यही सुख परमोत्कृष्ट लाभ है । कारण कि जिस समाधि योग में संस्थित वह महान् से महान् गुरुतर दुःख से भी कभी विचलित नहीं होता है ।

टीकाकार शंकरानन्द ने तो प्रकृत सुख को अत्युत्तम बतलाते हुए इतना भी लिखदिया कि इस सुख की तुलना में बैकुण्ठ सत्यादिलोक सुख भी अल्प सुख ही है । परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि "तद्विष्णोः परमं पदम्" "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" 'अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या' 'एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः" इत्यादि अनेक श्रुति स्मृति से सिद्ध होता है कि वैकुण्ठ साकेत, सत्यादिलोक सब भगवान् का ही नियत स्थान है एतादृश लोक का लाभ सभी वैषयिक लाभापेक्षया परमलाभ है । अतः इस प्रकार का कथन शास्त्रानभिज्ञता तथा दंभमूलक है । इसविषय की विशेष चर्चा मेरे परम गुरु जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्यजी कृत अर्थ चन्द्रिका में है अतः विशेषार्थी वहीं देखें ॥२२॥

दुःख लेश का जो संश्लेष संबन्ध उससे रहित योग संज्ञित योग पद बोध्य जानना, एतादृश

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

एतादृशफलसाधको योगोऽनिर्विण्णचेतसा सोत्साहेन मनसा निश्चयेन योक्तव्योऽनुष्ठेयः ॥२२-२३॥

अथ विषयपरित्यागपूर्वकं योगाभ्यासप्रकारमाह—संकल्प प्रभवानिति । सर्वानखिलान् सङ्कल्पप्रभवान् देहात्माभिमानरूपसङ्कल्पोद्भूतान् । काम्यन्त इति कामा विषयास्तान् कामान । अशेपतस्त्यक्त्वा । समन्ततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः । इन्द्रियग्रामञ्चेन्द्रियसमूहञ्च। मनसैव विषयदोषानुसन्धानपरेण चेतसैव विनियम्य विशेषेण

विलक्षण फल को सिद्ध करनेवाला जो योग समाधियोग को अनिर्विण्ण चित्त से उत्साह संपन्न मन से (अरे भाई दृष्ट जो फल है पशु पुत्रादिक वहीं तो निर्वाह के लिये पर्याप्त है तब शरीर शोषण करने वाला यम नियम व्रतोपवासादि क्रिया को करने से क्या प्रयोजन है इत्यादि प्रकारक जो मानसिक खिन्नता उसे नहीं प्राप्त करने वाला मन से) इस योग का अवश्य अनुष्ठान करना। नकि हतोत्साह हो करके इस योग को छोड देना । श्रुति भी इस योग मार्ग को जो परमात्मा का प्रापक है उसे दुर्विज्ञेयत्व तथा अतिशय काठिन्य का प्रतिपादन करती है "श्रवणायापि बहुभि" श्रवण करने के लिए प्रवृत्त भी अनेक व्यक्ति जिसे श्रवण नहीं कर सकते हैं सुनते हुए भी जिसे अनेक व्यक्ति नहीं समझ सकते हैं इसके कहनेवाला व्यक्ति आश्चर्य ही है समझने वाला भी कोई आश्चर्य ही है एवं "क्षुरस्य धारानिशितादुरत्यथा" इत्यादि । परमात्मा का प्रापक जो मार्ग है वह क्षुरा की धारा के समान अत्यन्त तीक्ष्ण है अत्यन्त कठिन है ऐसाविद्वान् लोग कहते हैं । यद्यपि ऐसा शास्त्र में भी कहा है तथापि मानसिक उत्साह को दृढ करके एतादृश परम लाभ का प्रयोजक जो यह समाधि योग है उस का अनुष्ठान साधक अवश्य करे न कि निरुत्साह हो कर के छोड दे लोकोक्ति है "हिम्मते मर्द तो मददे खुदा" ॥२३॥

इसके बाद विषय जो शब्दादिक है उसके परित्याग पूर्वक योगाभ्यास प्रकार को बतलाने के लिये कहते है । अर्थात् अभीतक अभ्यास वैराग्यसाध्य जो समाधि योग उसका प्रयोजन सहित कथन करके अब उसी समाधि योग की परम काष्ठा की बतलाने की इच्छा से समाधि योग के विरोधी कामादि का परित्याग आवश्यक है इसलिये कामादि स्वरूप प्रदर्शन पूर्वक उसमें त्याज्यता का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "संकल्प प्रभवानित्यादि" दो श्लोकों में । संकल्प के द्वारा जायमान अर्थात् देह में जो आत्मा का अभिमान तत्स्वरूप जो संकल्प

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

संयम्य । शनैः शनैर्धृति गृहीतया धैर्येण वशीकृतया बुद्ध्योपरमेद्विरमेद् । मन आत्मसंस्थमात्ममात्रनिष्ठं कृत्वा किञ्चिदप्यात्मातिरिक्तं किमपि न चिन्तयेत् ॥२४-२५॥

अथ मनश्चाञ्चल्यवारणप्रकारमाह—यतोयत इति । चञ्चलं रजोगुणवैशिष्ट्याच्चाञ्चल्यमापन्नमत एवास्थिरमात्मनि स्थैर्यमनापन्नं मनो यतो यतो यस्मिन् यस्मिन् विषये निश्चरति निर्याति । ततस्तत एव विषयादेतन्मनो नियम्यात्मन्येव वशं नयेन्निश्चलतां प्रापयेत् ॥२६॥

उस संकल्प से उत्पन्न माने जो सभी काम कामित हो अभिलाश का विषय हो उसका नाम है काम अर्थात् शब्दादिक उन अखिल काम को निःशेषरूप से छोडकर तथा सभी शब्दादिक विषयों से इन्द्रिय समुदाय को मन से अर्थात् विषय में जो दोष का अनुसंधान उस अनुसंधान में संलग्न अन्तःकरण से विशेष रूपेण नियन्त्रित करके शनै शनैः धृति गृहीत धैर्य से वशीकृत जो बुद्धि उस बुद्धि से विषयों से उपराम को प्राप्त करे । और मन को आत्मामात्र में संस्थित करके आत्मा से भिन्न किसी भी वस्तु की चिन्तन साधक जन न करे ॥२४।२५॥

मन की जो चंचलता है उसके निवारण का प्रकार बतलाते हैं अर्थात् अनुकूल वेदनीय स्थूल शब्दादिक विषय में आसक्त जो मन है उसे अतिसूक्ष्म असर्वज्ञ दुर्विज्ञेय परमात्म स्वरूप में अवस्थान विषय से विमुख करके करना असंभवित है और इसके पूर्व श्लोक में कहा है "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" तो यह कैसे चंचल मन का वशीकार होगा शिष्य के ऐसे अभिप्राय को लक्षित करके मनो निग्रह के उपाय का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "यतोयत" इत्यादि । मन चंचल है अर्थात् रजो गुण की अति अधिकता के कारण मन ने चांचल्य भाव को प्राप्त किया है अत एव अस्थिर है आत्मा में स्थिरता को प्राप्त नहीं करनेवाला मन जिन जिन विषयों में तत्तत् इन्द्रिय के द्वारा जाता है उन उन विषयों से इस मन को नियन्त्रित करके (विषय में दोष दर्शन के द्वारा अभ्यास वैराग्य से मन को स्वाधीन बनाकर तब उस मन को बहिर्मुखता से विनिवृत्त करके) आत्मा को वश में लावे आत्मा में निश्चलता को प्राप्त कराया जाय । मन अवश्यमेव चचल है इन्द्रिय द्वारा खींचा करके विषयोन्मुख सर्वदा रहने से सूक्ष्म आत्मा में उसका संचार होना असंभवित यद्यपि है तथापि जिन जिन विषयों में वह जाता है उन विषयों में दोष दृष्टि करके अभ्यास वैराग्य द्वारा मन को आत्मोन्मुख करना चाहिये यह अभिप्राय है ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

प्रशान्तमनसं निरुद्धवृत्त्या स्वात्मनि प्रशान्तमासादितस्थैर्यं मनो यस्य तं शान्तरजसं हेतुगर्भितं विशेषणद्वयम् । शान्तं सत्वोद्रेकादिनष्टं रजो यस्य स तमत एवाऽकल्मषं निर्धूनाखिलदुर्वासनोपचितपापपुञ्जमत एव ब्रह्मभूतं देहादावहंबुद्धिपरित्यागादनुसंहितस्वस्वरूपमेनं योगिनं ह्युत्तमं यस्मादुत्कृष्टमन्यन्नास्ति तादृशं सुखमुपैति । स्वत एव सुखं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२७॥

उत्तमसुखस्योल्लेखं करोति युञ्जन्निति । एवं प्रोक्तप्रकारेण विगतकल्मषो योगी

जब आत्मा में मन वशीभूत हो जाता है तब योगी को क्या फल मिलता है उसे बतलाते हैं "प्रशान्त" इत्यादि । प्रशान्त मनवाला । वृत्ति के निरोध होने से स्वआत्मा में प्राप्त कर लिया है स्थिरता को जिसके मन ने उसे कहते हैं प्रशान्तमनसा यानी स्थिर मनवाला शान्त हो गया है रजोगुण जिसमें यह हेतु गर्भित विशेषण है सत्वगुण की अधिकता होने से शान्त अर्थात् विनष्ट हो गया है रजोगुण जिसका ऐसा रजोगुण के शान्त होने से रजोगुणापेक्षया निकृष्ट जो तमोगुण है उसका भी विनाश कैमुतिक न्यास से सिद्ध हो जाता है । जिस लिये रजोगुण तमोगुण विनष्ट हो गया अत एव अकल्मष अर्थात् अनादिकालिक दुर्वासना से संचित जो निखिलपाप वह विनष्ट हो गया है जिसका अत एव ब्रह्मभूत करण कलेवर में अहं बुद्धि तथा मम बुद्धि के परित्याग के बाद में अपगत यानी विनष्ट हो गया है पाप जिसमें ऐसा हो करके योगी सर्वदा प्रतिदिन आत्मा में मन को युक्त करता हुआ अर्थात् आत्मस्वरूप में मन को स्थिर करता हुआ ब्राह्य संस्पर्श को परम पुरुष का अनुभव लक्षण आत्यंतिक सुख को अनायास से श्रमाधिक्य के बिना ही सर्वोत्कृष्ट सुख को सर्वदा प्राप्त करता है । मन में सत्वगुण के उद्रेक होने से रजोगुण तमोगुण का विनाश होता है तदनन्तर अनादि संचित पापकर्म के अभाव होने से देहाभिमान निवृत्त हो जाने पर स्व स्वरूप से अवस्थित योगी को सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है ॥२७॥

योगसाधन करनेवाले योगी को सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है ऐसा पूर्वश्लोक में कहा है उसी की संप्राप्त चरमावस्था का स्पष्टीकरण करते हैं "युञ्जन्नेवमित्यादि" एवं पूर्वोक्त प्रकार से रजोगुण तमोगुण के विनाश होजाने पर अपगत है पाप कर्म जिसमें ऐसा

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सदा प्रत्यहमात्मानं मनोयुञ्जन्नात्मस्वरूपे स्थिरीकुर्वन् ब्रह्मसंस्पर्शं परमपुरुषानुभवरूपं सुखमत्यन्तं सुखेनानायासेनैव सदाऽश्नुते ॥२८॥

निरूपितः सफलः समाधियोगः । तन्निष्ठानां योगिनां योगपरिपाकावस्थानां तीव्राद्यधिकारिभेदेनानुष्ठानक्रमतारतम्येन च चातुर्विध्यं फलति । तदनुरोधाद्योगिचातुर्विध्यमपि स्वाभाविकम् । योगिस्वभावप्रतिपादनमुखेन तत्प्रपंचयति सर्वभूतस्थ

जो योगी वह प्रतिदिन आत्मस्वरूप में मन को स्थिर करता हुआ परमपुरुष परमात्मानुभव लक्षण शाश्वतिक दुःखासंस्पृष्ट सुख को सुख पूर्वक शरीरायास के बिना ही सर्वदा प्राप्त करलेता है। जब योग की पराकाष्ठा प्राप्त हो जाती है तब छोग प्रभाव से स्वस्वरूप पर स्वरूप का अनुभव स्वत एव हो जाता है ॥२८॥

इस श्लोकान्त प्रकरण से सफल समाधियोग का निरूपण किया गया है इससे समाधियोगनिष्ठ योगियों का योग की जो परिपाकावस्था उसमें अवस्थित योगियों का तीव्र मध्यमादि अधिकारी भेद से तथा अनुष्ठान के न्यून अधिकादि तारतम्य से चार प्रकार के योगी का योग होता है यह भी फलित होता है। जब योग चार प्रकार का होता है तब तादृश योग साधक योगी भी चार प्रकार के हैं यह भी स्वभावत एव फलित होता है। इसलिए योगी के स्वभाव प्रतिपादन द्वारा योग तथा योगी का विस्तार रूप से प्रतिपादन करते हैं "सर्वभूतस्थ" इत्यादि। चार श्लोको से योगयुक्तात्मा समाधियोग से युक्त है भावित है आत्मा जिसकी ऐसा जो अधिकारी विशेष अर्थात् विपाकावस्था को प्राप्त किया हुआ जो समाधियोग उस विपक्व समाधियोग की महिमा से आविर्भूत प्रकाशित है स्वकीय भगवच्छेषात्मक स्वरूप यानी प्राकृतिक स्वरूप से भिन्न स्वरूप जिसका ऐसा जो जीव विशेष अतएव सर्वत्र ब्रह्मा से लेकर पिपीलीकान्त अनेक चित् अचित् जड चेतनपदार्थ जात में समदर्शनवाला अर्थात्प्रत्येक वस्तु में समता दृष्टि से युक्त हो करके, 'अयंभावः' इसका यह अभिप्राय है कि अनादिकाल से संचित जो शुभाशुभ कर्म जिसका अपर दूसरा नाम है अदृष्ट तद्रूप जो अविद्या यहाँ पर अविद्या से 'भावाभावविलक्षण ज्ञान निवर्त्य ज्ञान प्रतिबन्धक मायादिपद व्यपदेश प्रसिद्ध अविद्यान नहीं लिया जाता है किन्तु परम पुरुष के ज्ञान से निवर्त्य कर्मात्मक अविद्या ली जाती है। तद्रूप उपाधि की विचित्रता—अनेकता से जीव समुदाय को प्रकृति का परिणाम कार्य-रूप देवमनुष्य तिर्यक् स्थावर वनस्पति तत् तत् शरीराकारतया अनेक प्रकारक उत्पन्न होला

मित्यादिचतुर्भिः । योगयुक्तात्मा विपक्वसमाधियोगमहिम्नाऽऽविर्भूतस्वस्वरूपोऽत एव सर्वत्र ब्रह्मादिपिपीलिकान्तेषु चिदचिद्वस्तुषु समदर्शनः साम्यदृष्टियुक्तः । अयम्भावः अनादिकर्मरूपाविद्योपाधिवैचित्र्याज्जीवानां प्रकृतिपरिणामरूपदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिशरीराकारवैचित्र्यमुत्पद्यते । एवं सति यद्यच्छरीरमसावुपादत्ते तत्तदनुकूलप्राक्तनवासनोदयात्तत्संसृष्टान्तः करणतया तथा तथाभिमानवान् भवति । व्युत्थानकाले जीवः समुद्रिक्तप्राकृताभिमानतयाऽशेषजगद् व्यवहारेष्वहं करोमि मयैतदनुष्ठितं मदीयमिदं गृहमित्यादिरूपेणाभिमानं धत्ते । एवमनादिकालात्प्रवृत्ते जीवव्यवहारे कर्हिचिन्निर्व्या-

है । अर्थात् कर्म के बल से जीवों का अनेक प्रकारक शरीर जो कि 'भोगाधिष्ठान है वह उत्पन्न होता है । ऐसा होने से प्रकृति से उत्पादित इन अनेक शरीर के बीच से स्वकीय कर्म के बल से तथा भगवत्कृपा से जिस जिस शरीर को प्राप्त करता है तथा प्राप्त उस शरीर के अनुकूल पूर्वकालिक वासना के उदय होने से तत् तत् शरीर संसृष्ट अन्तःकरणवाला होकर, जीव तत्तत् शरीरान्तः करण का अभिमानवाला होता है । अर्थात् यह मेरा शरीर है इस शरीर से एतदुचित कार्य मै करता हूं, एतादृश अभिमान होता है । व्युत्थानकाल में (जाग्रत् संसारकाल में) जीव देहाद्यभिमानीपुरुष प्रकृति सम्बन्धी यानी प्रकृति जन्य अभिमान के अत्यन्त उद्रेक होने से जागतिक सकल व्यवहार में मैं करता हूं, मैंने अमुक कार्य का अनुष्ठान किया (मैंने मठ बन्वाया पाठशालायें चलाई साधुसेवा की) मेरा यह घर है मेरा यह पशुपुत्र धनधान्यादि जगत् है इत्यादि रूप से अनेक प्रकारक अभिमान को धारण करता हुआ अवस्थित रहता है । इस प्रकार अनादिकाल से (ब्रह्मा के आरम्भ से लेकर द्वितीयपरार्ध के प्रथम दिन पर्यन्त में) प्रवृत्त इस जीव के व्यवहार में कदाचित् प्राक्तन शुभ कर्म के उदय होने से निर्व्याज अकारणक परम पुरुष साकेताधिपति के कृपा कटाक्ष से देखागया यह जीव जब होता है तब सात्विकभाव से आविष्ट-युक्त-होकर सायुज्य लक्षण चतुर्थ प्रकारक मोक्ष के साधन जो स्वस्वरूप तथा भगवत्स्वरूप के अनुसंधान रूप है उस में प्रवृत्त होता है ।

यों अलग अलग सिद्धान्तों में मोक्ष के चार भेद होते हैं सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य इनमें प्राथमिक तीन में सेव्य सेवक भाव, सर्वदा जागरुक नहीं रहता है । चतुर्थ में सेव्य सेवक भाव रहता है । विषय के अति सूक्ष्म होने से यह सहसा साधक को बोध नहीं होपाता है अतः प्रकृतविषय साम्प्रदायिक महापुरुष से ही ज्ञातव्य है । मोक्ष धर्म प्रकरण में कहा है "समुत्पद्यमान जिस जीव को भगवान् उद्धार करने की इच्छा से देखते हैं उस मनुष्यादि जीव को सात्विक भावाविष्ट समझना चाहिये वही जीव विशेष मोक्षरूप परमपुरुषार्थ

जभगवत्कृपाकटाक्षवीक्षितोऽयं जीवः सात्त्विकभावाविष्टः सायुज्यमुक्तिसाधने स्वपरस्वरूपानुसन्धाने प्रवर्तते। तदुक्तं मोक्षधर्मे "जायमानन्तु पुरुषं यम्पश्येन्मधुसूदनः। सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः" इति। तथा च जन्मत एवास्य शुभाश्रयदृष्ट्या योगानुष्ठानसंधुक्षितपरानुध्यानानलेन सपरिकरं कर्मबीजं निर्दग्धं भवति। एवं विनिवृत्तकर्मोपाधिकस्य भगवदनुध्यायिनस्तस्य वैराग्यादिसमन्वितं विशुद्धविज्ञानमुत्पद्यते। अनेन च विज्ञानेन समाधियोगी सर्वत्र स्वात्मनि परात्मसु च ज्ञानैकाकारतया साम्यमेव पश्यति। स च देहादिवैषम्यं विवेकतोऽपहाय प्रकृतिवियुक्ते ष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया साम्यं मन्वानः स्वात्मानमेव सर्वभूतस्थं सर्वभूतानि च स्वात्मनीक्षते। ज्ञानमात्रैकस्वरूपस्यात्मनः सर्वत्राविशेषादेकस्मिन् स्वात्मन्यवलो-

का चिन्तक है। (और जिसके ऊपर भगवान् की शुभकृपा दृष्टि नहीं पड़ी वह मोक्षचिन्तक नहीं होता है।) ऐसा होने से जन्म से ही जिसके ऊपर भगवान् की शुभ दृष्टि हुई वह पुरुष शुभाश्रय दृष्टि के बल से योगाभ्यास करके योगानुष्ठान से प्रदीप्त भगवान् का अनुध्यान लक्षण अनल से सपरिकर (साङ्गोपाङ्ग) कर्मलक्षण संसारबीज को निर्दग्ध कर देता है। (अथवा तादृश परमपुरुषानुध्यानरूप यथोक्त अनल से कर्मबीजदग्ध हो जाता है।) इस प्रकार निवृत्त हो गयी है कर्म लक्षण उपाधि जिसकी ऐसा जो भगवान् का अनुध्यान करनेवाला परमभक्त जीव विशेष है तादृश जीव को शमदमादि युक्त वैराग्य से समन्वित विशुद्ध संशय विपर्यय मल रहित विज्ञान उत्पन्न होता है और समुत्पन्न तादृश विज्ञानयुक्त समाधियोगी सभी जगह स्वात्मा में तथा परात्मा में ज्ञान लक्षण एक आकार से समता को देखता है। अर्थात् ज्ञानरूप से सभी आत्मा को समान रूप से समान जानता है न तु उपाधि विशेष के ऊपर दृष्टि होती है। इसके बाद तादृश समदर्शी व्यक्ति देहादिलक्षण जो आत्मा का विषमता प्रयोजक धर्म है उस विषमता को विवेक द्वारा छोड़कर प्रकृति सम्बन्ध रहित आत्मा में ज्ञान लक्षण एकाकारता से समता को मानता हुआ अपनी आत्मा को ही सर्वप्राणियों में देखता है तथा सभी स्थावर जंगम ऊंच–नीच मध्यम प्राणियों में अपने को देखता है। ज्ञानमात्र है एक समान स्वरूप जिसका ऐसी जो आत्मा उसके सर्वत्र समान होने से एक ज्ञानाकार स्वरूप है जिसका एतादृश स्वकीय आत्मा के ज्ञान होने पर सभी आत्मा के तत्समान होने से सर्वात्माविषयक ज्ञान समुत्पन्न हो जाता है तब यह अर्थ निस्सृत होता है कि समाधियोग युक्तसाधक सभी भूत के समानाकारक स्वकीय आत्मा को तथा स्वकीय आत्मा के समानाकार सभी भूत को देखता है (यदि कहें कि अप्राप्त अर्थ को बतलानेवाला शास्त्र ही अर्थवान् होता है प्राप्त प्रापक शास्त्र अर्थवान् नहीं होता है। प्रकृत में जैसे घटत्व रूप से समानता सभी घट में समान है उसी प्रकार

क्तिे सर्वात्मनां तत्साम्यात्मशीत्मवस्तुविषयकदर्शनस्योपपन्नत्वात् । तथाच सर्वभूत समानाकारं स्वात्मानं स्वात्मसमानाकाराणि च सर्वभूतानीक्षत इति तदर्थः । एतादृगेव समदर्शित्वं यत्र तत्र गीताचार्येणाभ्यधायि । 'पण्डिताः समदर्शिनः' गी. ५।१८ इत्यादिवचनैः । संसारदशायान्तु देवमनुष्यादिदेहविशिष्टानां जीवानां भेदोऽवर्जनीय एव । एवञ्च सर्वभूतेषु तिष्ठतीति सर्वभूतस्थमात्मानं स्वात्मानमीक्षत इति नार्थः । न ह्यणुपरिमाणस्य स्वात्मनोऽन्यत्रात्मसु स्थितिरुपपद्यते । न हि कुण्डबदरवदाधाराधेयभावोऽत्र सम्भवत्यणुत्वादेव । तस्मात्साम्येक्षणमेवात्राभिहितम् । अन्यथा 'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन' गी. ६।३३ इत्यर्जुनप्रश्नस्यासंगत्यापत्तिर्दुर्निवारा स्यात् ॥२९॥

ज्ञानरूप से सभी आत्मा में समानता तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है तब आपने महान् कण्ठ शोषण करके जो ज्ञानरूपेण सभी आत्मा में समानाकारता का साधन किया वह तो आपका कोई नवीन आविष्कार नहीं हुआ ?

उत्तर—ठीक कहते हैं आपकी नवीनता कुछ नहीं है परन्तु आत्मा को ज्ञानरूप से सर्वत्र समान होने पर भी अनादि कर्म प्रयोज्य देहादिभेद मूलक जो विषमता है उस विषमता को लेकर मनुष्य भिन्न है देवता भिन्न है तिर्यक् पशु प्रभृति- प्राणी भिन्न है यहाँ तक कि चौरासीलक्ष योनि के भेद से जो यह आत्मा में भेद प्रतिभास है उस भेद प्रतिभास का विवेक द्वारा निराकरण करके समानाकारकता प्रतिपादन करना यह महान् फल इस दर्शन का है तो विषमता प्रयोजक उपाधि निराकरण में तात्पर्य है । यदि कोई पूर्व पक्ष करे कि तब तो केवलाद्वैत का गन्ध इस दर्शन में आगया क्योंकि समानता आगई ।

उत्तर—अद्वैतमात्र से दोनों मत में एकत्व नहीं हो सकता है । उनका तो केवलाद्वैत है । यहां तो विशिष्टाद्वैत, उनके मत में सभी आत्मा में एकता है हमारे मत में समानता है । सादृश्य भेद घटित होता है । एक जीवापेक्षया अन्य जीव समान हैं न तु एक । इसलिये मतान्तर का गन्ध इस मत में नहीं आता है ।

'एतादृगेव समदर्शित्वमिति' एतादृश समदर्शिता का ही प्रतिपादन यत्र तत्र गीताचार्य ने भी किया है "पण्डिताः समदर्शिनः" इत्यादि वचन द्वारा । संसार दशा में तो देव मनुष्य तिर्यक् स्थावरादिक देह विशिष्ट जीवात्मा का भेद तो आवश्यक ही है ऐसा हुआ तब सभी भूतों में जो रहे उसका नाम है—सर्व भूतस्थ और एतादृश सर्वभूतस्थ स्वात्मा को देखता है यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि अणुपरिमाणवाली जो स्वकीय आत्मा है उसका अवस्थान अन्यदीय आत्मा में नहीं हो सकता है । प्रकृत में कुण्ड और बदर (बैर) के समान आधा-

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

ततोऽप्यधिकां विपाकावस्थामुदीरयति य इति । योगी मां मत्स्वरूपं सर्वत्राखिलेष्वात्मस्वरूपेषु पश्यत्यवलोकयति । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति श्रुतेः प्रकृतिसम्बन्धापेतानामात्मनां परमात्मनश्च स्वरूपाणां ज्ञानैकाकारत्वेनात्यन्तसमत्वादिति भावः । सर्वञ्च ज्ञानैकाकारमात्मवस्तु मयि ज्ञानैकाकारे परमात्मनि पश्यत्यन्योन्यमास्यदर्शी भवति । अहं तस्य न प्रणश्यामि 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्युक्तप्रकारेण कदाचिदपि तदनुभवागोचरतां नावैमि । मे च मम परमात्मनश्च स योगी न प्रणश्यति ॥३०॥

ततोऽपि विपाकावस्थामभिदधाति सर्वभूतस्थितमिति । यो योगी सर्वभूतस्थितं

राधेयभाव विवक्षित नहीं है क्योंकि कुण्डबदर तो मध्यम परिमाण तथा रूप स्पर्शवान् है तो उसमें तादृश आधाराधेयभाव संगत है भी परन्तु प्रकृत में तो अणुपरिमाणवाला है रूप स्पर्शादि रहित है अतः ज्ञानाकार से समानता मात्र विवक्षित है । अन्यथा यदि ज्ञानाकार से समानतामात्र विवक्षित न हो तब तो "योयं योगस्त्वया" यह जो भगवान् के प्रति अर्जुन का प्रश्नवाक्य है उसकी असंगति दुर्निवार हो जायगी । इसलिये मैंने भाष्यकारजी ने जो अर्थ किया वही समुचित है ॥२९॥

पूर्वश्लोक कथित विपाकावस्थ योगी की अपेक्षा तदधिकविपाकावस्थ योगी के स्वरूप को बतलाते हैं "योमामित्यादि" जो योगी मदीयस्वरूप को अखिल आत्मस्वरूप में समीचीन रूप से देखता है "निरंजन सर्व दुःख रहित पर समता को प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुति वचन से प्रकृति सम्बन्ध रहित सकल जीवस्वरूप को तथा परमात्मस्वरूप को ज्ञानाकारता से अत्यन्त समानता होने से तथा सभी ज्ञानैकाकार आत्मवस्तु को मुझमें अर्थात् ज्ञानमात्राकार परमात्मा में देखता है अन्योन्य साम्यदर्शी होता है । मैं उसके लिये प्रनष्ट नहीं होता हूं 'सदा योगी लोग देखते हैं' इस श्रुति कथित प्रकार से कभी भी मैं तादृश योगी के अनुभव अविषयता को नहीं प्राप्त करता हूं, किन्तु सर्वदा अनुभव का विषय बना रहता हूं और वह योगी भी मुझ परमात्मा से प्रणष्ट नहीं होता है ; अर्थात् सर्वदा मेरी समता का अनुभव करता हुआ मुझ में अनन्यभाव विशिष्ट होता है ॥३०॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ?।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

मामेकत्वमास्थितः संकोचककर्मलक्षणा विद्याविरहादसंकुचितज्ञानैकाकारतया ब्रह्मापृथक्सिद्धविशेषणतया वैक्यमङ्गीकुर्वन् सन् भजति। स योगी। सर्वथा। न समाधिदशायामेवापि तु व्युत्थानकालेपीत्यर्थः। वर्त्तमानः स्वात्मानं सर्वभूतानि च चिन्तयन् मयि वर्त्तते मामेव चिन्तयति। मत्प्रकारतयावस्थितेषु सर्वभूतेषु स्वस्मिंश्च मत्सादृश्यमेवावलोकयतीत्यर्थः ॥३१॥

अथोत्कृष्टतमां विपाकावस्थामाह आत्मौपम्येनेति। हे अर्जुन! यो योगी। आत्मौ

द्वितीय अवस्थावान् योगी की अपेक्षा तृतीयावस्था में अवस्थित योगी में पूर्वापेक्षया वैलक्षण्य को प्रदर्शन करने के लिये कहते हैं "सर्वभूतस्थितमित्यादि" जो विपक्वसमाधिवाला योगी सभा भूतों में अवस्थित वर्तमान मुझे एकत्व को प्राप्त करके अर्थात् संकोच जो कर्म तत्स्वरूप जो अविद्या उसके अभाव होने से असंकुचित ज्ञानैकाकार रूप से एकत्व को मानता हुआ अथवा ब्रह्म के साथ अपृथक् सिद्ध विशेषणरूप से एकता का अंगीकार करता हुआ मेरा भजन करता है वह योगी सर्वदा अर्थात् न केवल समाधिकाल में अपितु व्युत्थानकाल में भी वर्तमान अपने स्वरूप को तथा सभी भूतों में रहता है अर्थात् मेरा ही स्मरण (चिन्तन) करता है। मुझ में विशेषण (शेष) रूप में अवस्थित सभी प्राणियों में तथा स्वकीय स्वरूप में मेरे सादृश्य को ही देखता है, यह अर्थ है। प्रकृत प्रसंग में भाष्यकार ने जो एकता का कथन किया है वह स्वरूप भेद का अर्थात् परमेश्वर तथा जीव का जो स्वरूप भेद है उसका प्रतिपादन नहीं किया है। अभिप्राय यह है कि भेद चार प्रकार का होता है स्वरूपभेद प्रथम अन्योन्यभेद द्वितीय वैधर्म्य भेद तृतीय तथा पृथक्त्वात्मक भेद चतुर्थ। इनमें से प्रथम भेदातिरिक्त जो भेद है वह एकता का निराकरण करता है। जैसे अन्योन्य भेद जो घट पट का है वह घट पट की एकता को विघटित करके सर्वथा भेद को सिद्ध करता है। घट में घटत्व तथा पट में पटत्वात्मक जो भेद वह भी घटपट की एकता का निराकरण करता है। एवं पृथक्त्वात्मक भेद भी एकत्व का निराकरण परक है। परन्तु स्वरूप भेद जो है वह एकता प्रतिभास को नहीं रोकता है। जैसे शुक्तिका और रजत में रहनेवाला जो स्वरूप भेद है वह "इदं रजतम्" इस सामानाधिकरण, का बाधक नहीं होता है। अन्यथा सर्वथा सर्वत्र स्वरूपभेद का स्फुरण होने से अभेदात्मक प्रत्यय का विलोप हो जायगा। यथा वा यदि स्वरूप भेद अभेद का प्रतिद्वन्द्वी हो तो नीलोघट इत्यादि स्थल में भी अभेदान्वय बोध नहीं होगा क्योंकि स्वरूप भेद सर्वत्र सदा रहता ही है ॥३१॥

॥ श्रीअर्जुन उवाच ॥

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ?।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

पम्येनात्मनामसंकुचितज्ञानाकारत्वेन देहादिवैलक्षण्येन वा तुल्यतया सर्वत्र स्वस्मिन्नितरेषु वा वर्त्तमानं सुखं दुखं वा समं तुल्यं पश्यति । परकीयसुखदुःखे अपि स्वकीयसुखदुःखतुल्यतयाऽवलोकयतीत्यर्थः । स परमः सर्वोत्कृष्टो मतोऽभिमतः ॥३२॥

अथ योगसाधकमनोनिग्रहसाधकोपायं पृच्छन्नर्जुन उवाच य इति । हे मधुसूदन ! त्वया साम्येन समभावेन योऽयं योग उक्तः । चञ्चलत्वादेतस्य त्वदुक्तस्य

सर्वोत्कृष्ट चतुर्थयोगावस्था का प्रतिपादन करते हैं "आत्मौपम्येनेत्यादि" हे अर्जुन ! जो समाहितमनवाला योगीपुरुष स्वकीय उपमा से असंकुचित ज्ञानाकाराकारता रूप से अथवा देहादिविलक्षणरूप से समानतया तुल्यरूप से सर्वत्र परमात्मा के प्रकार शेषरूप स्वात्मा में तथा परकीय आत्मा में वर्तमान रहने जो सुख वा दुःख इन्हें सम तुल्य रूप से देखता है। अर्थात् परकीय सुख दुःख को भी स्वकीय सुखदुःख के समान ही देखता है—स योगी परमपुरुष के अभिध्यान से निर्मत हो गया है निखिल पाप जिसका ऐसा वह योगी सर्वोत्कृष्ट है। परमात्मा का प्रकार यानी विशेषणरूप से ही सर्वात्मा की स्थिति है ऐसा दृढ निश्चयवान् पुरुष को स्वकीय आत्मा के समान ही अन्यत्रापि सुख दुःख का अनुभव होता है क्योंकि विषमता का कारण जो रागद्वेष है उस रागद्वेष के अभाव होने से, अतः असंकुचितज्ञानाकार होने से अन्य आत्मा में वर्तमान सुख दुःख को भी स्वकीय सुख दुःख के समान ही देखता है एतादृश जो समाधियोगी वह पूर्वोक्त सर्वयोगी की अपेक्षा परमोत्कृष्ट है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है॥३२॥

पूर्वोक्त जो समाधियोग है वह कब सिद्ध होगा, मन का निग्रह हो अर्थात् निगृहीत मन के द्वारा ही वह योग संभवित हो सकेगा तब प्रथमतः मन का निग्रह साधक कौन कारण है इस बातको पूछते हुए अर्जुन बोलते हैं—"योऽयमित्यादि" हे मधुसूदन ! आपने समता से अर्थात् समभाव से जो इस योग-समाधियोग का महान् प्रक्रमपूर्वक कथन किया है। उसको चंचलता के कारण भवत् कथित यह सर्वत्र समदर्शित्वात्मक समाधियोग की स्थिर यानी चंचलता रहित स्थिति है उस को मैं नहीं देख रहा हूं। अर्थात् अगर शास्त्र दृष्टि को छोड भी दूं तो भी लोकदृष्टि से विचार करने पर स्वकीय आत्मा में तथा परकीय आत्मा में स्वरूप भेद तो देखने में आता ही है। अन्यथा सुखित्व दुःखित्वादि सर्वलोक प्रसिद्ध व्यवस्था लुप्त प्राय हो जायगी। और अणुत्व अल्पज्ञत्वादि कर्म पराधीनतादि हेतु से एवं व्यापकत्व सर्व-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ? प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

सर्वत्र समदर्शित्वात्मकस्य योगस्य स्थिरां चाञ्चल्यवर्जितां स्थितिमिह न पश्यामि ॥३३॥

हे कृष्ण ! हि यतो मनः चञ्चलं चाञ्चल्यविशिष्टं प्रमाथि प्रमथनशीलं दृढं बलवदतस्तस्य निग्रहमहं नियन्त्र्यैकत्रस्थापनं वायोः सदाप्रवहणशीलस्य वातस्य निग्रहमिव सुदुष्करं मन्ये । यथा वायुर्निरोद्धुं न शक्यते तथा मनोऽपीति भावः ॥३४॥

ज्ञत्वादि हेतु द्वारा जीव परमेश्वर में भी जीव प्रतियोगिक शाश्वतिक स्वरूपभेद शास्त्र अनुमानादि से अनुभूत है और परम कारुणिक सर्वज्ञ भगवान् फरमा रहे हैं—स्वकीय आत्मा में तथा सर्वभूतात्मा में ज्ञानाकारत्व रूप से समता तथा जीव परमेश्वर में भी समानता का प्रतिपादन कर रहे हैं । परन्तु एतादृश समदर्शनयोग तो हमलोगों की बात तो दूर है विचक्षण पुरुष से भी उस योग का अनुष्ठान अशक्य है । कथंचित् प्राप्त करें भी तो वह स्थिर नहीं होगा क्योंकि तादृशयोग का उपाय रूप जो मन है वह तो वायु से भी अधिक चंचल है ॥३३॥

उक्त समाधियोग का संपादन अत्यन्त दुष्कर है ऐसा पूर्व श्लोक में कहा है परन्तु क्यों दुष्कर है इस में हेतु का कथन नहीं किया तो यहां हेतु का कथन करने के लिये कहते हैं "चञ्चलमित्यादि" हे कृष्ण ! सर्व पाप के विनाश करने में समर्थ महापुरुष ! यहाँ "हि" यह अव्यय शब्द हेत्वर्थक है जिसलिये कि यह जो मन है जो कि समाधियोग की प्राप्ति कराने में हेतुभूत है वह तो चंचल है चांचल्य विशिष्ट है और जो प्रमथनशील हैं अर्थात् शरीर तथा इन्द्रियों को प्रमथन करने में पटु हैं और यह बडा बलवान् है नतु दुर्बल है कमलनाल तन्तुवत् । तथा दृढ है प्रबलवासनारूप तन्तु से निबद्ध होने के कारण भेदन करने में असमर्थ है । इसलिये एतादृश जो मन है उस मनका निग्रह नियमन एक विषय में संस्थापन करना सदा प्रवहनशीलवायु के निग्रह के समान इसका निग्रह भी अत्यन्त दुष्कर है अति कठिन है ऐसा मैं मानता हूं जैसे वायु का निरोध नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार मन का भी निरोध करना अत्यन्त दुष्कर है । ऐसा ही कहा भी है—अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि । अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥" हो सकता है कि कोई महापराक्रमी व्यक्ति समुद्र का भी पान कर जाये । हो सकता है कि कोई मेरु पर्वत को भी उखाड़ दे, हो सकता है कि कोई अग्नि का भी भक्षण कर ले परन्तु मन का जो निग्रह है वह

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

असंशयं महाबाहो ? मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ? वैराग्येण च गृह्यते ॥३५

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।३६

अथ मनोनिग्रहोपायमाह हे महाबाहो ! चलं मनो दुर्निग्रहं वशीकर्तुमशक्यमित्यसंशयम् । अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः हे कौन्तेय ! अभ्यासेन भगवद्व्यतिरिक्तपदार्थदोषानुसन्धानजन्येन वैराग्येण च गृह्यते ।३५।

अति कठिन है किसी प्रकार से यह निगृहीत नहीं हो सकता है तब मनोनिग्रहाधीन समाधियोग किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? यह अर्जुन का प्रश्न है ।३४।

वायु से भी अधिक मन चंचल है वायु के निरोध के समान मन का निरोध करना अति दुष्कर है, अर्जुन के संभवित इस प्रश्न को जान करके मन का निग्रह कैसे होगा तादृश उपाय का कथन करने की इच्छा से भगवान् कहते हैं "असंशयमित्यादि"—

हे महाबाहो महान् बहुत बडी है बाहु जिसकी उसे महाबाहु कहते हैं उसके सम्बोधन में महाबाहो ! महाबाहु होने से शत्रु के ऊपर विजय करने का सामर्थ्य स्वाभाविक रूप से आप में है तो मन रूप शत्रु जो सकल साधारणजन से जीतने में अशक्य प्रायः है तथापि आप उसके ऊपर विजय अवश्य प्राप्त करेंगे ऐसी संभावना को भगवान् ने यथोक्त विशेषण देकर अभिव्यक्त किया । मेरा भक्त कभी भी विपदग्रस्त नहीं होता है भगवान् की ऐसी प्रतिज्ञा है इसलिये हे अर्जुन ! तुम मेरे अत्यन्त भक्त हो अतः तुम मन पर भी विजय अवश्य ही प्राप्त करोगे कौरव विजय के समान ।

मन चंचल है तथा दुर्निग्रह वशीभूत करने में अशक्य है ऐसा आपने जो कहा वह अवश्य वैसा ही है इसमें संशय नहीं है लोक वेद में ऐसी ही प्रसिद्धि है कि मन का निग्रह अशक्य है परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास से तथा भगवद् भिन्न पदार्थ जात में चाहे वह पदार्थ लौकिक हो वा पारलौकिक हो उन वस्तुओं में दोष का जो अनुसंधान तादृशानुसन्धान जनित वैराग्य से वह मन निगृहीत होता है । यही एक उपाय मनोनिग्रह के लिये है ऐसा महर्षियों ने शास्त्र में प्रतिपादन किया है। जब तक अभ्यास वैराग्य रूप साधन का अनुसरण नहीं करेगा तब तक मन का निग्रह असंभवित ही है ॥३५॥

卐 श्रीअर्जुन उवाच 卐

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण? गच्छति ३७

एतस्याहं न पश्यामीत्यादेरुत्तरमाह असंयतात्मनेति । असंयतात्मनाऽवशीकृत-चेतसा योगः साम्ययोगो दुष्प्रापोऽधिगन्तुमशक्यः । इति मे मतिर्मन्तव्यमस्ति । उपायतः पूर्वोक्तेनाभ्यासवैराग्यसहकृतेन मदाराधनात्मककर्मयोगादिना वशीकृतचेतसा यतता यत्नं विदधता तु योगोऽवाप्तुं शक्यः ॥३६॥

अथ योगमाहात्म्यजिज्ञासुरर्जुन उवाच अयतिरिति । हे कृष्ण ! श्रद्धयाऽऽस्ति-

इस चंचलमन की स्थिरा स्थिति को मैं नहीं समझ रहा हूं यह जो अर्जुन का प्रश्न था उसका उत्तर देने के लिये कहते हैं। अर्थात् अर्जुन ने जो प्रश्न किया था मन के विषय में उसका आंशिक उत्तर पूर्व श्लोक से दे करके "एतस्याहं न पश्यामि" इस अंश के उत्तर में कहते हैं "असंयतात्मनेत्यादि" हे अर्जुन जो व्यक्ति साधक असंयतात्मा है असंयत है स्वाधीन चित्त अन्तः करण नहीं है जिसका ऐसा जो अवशीकृत मनवाला साधक तादृश साधक से यह जो साम्ययोग है वह दुःप्राप्त है, अर्थात् प्राप्त करने के योग्य नहीं है, यह मेरी मान्यता है। अर्थात् साम्ययोगरूप जो फल है उसमें कारण है संयतमन तब जिसका मन संयत नहीं है उस व्यक्ति को तत्साध्य साम्ययोग यानी समाधियोग कैसे प्राप्त होगा क्योंकि कारणा-भाव में कार्याभाव होता है जैसे तण्डुलरूप कारण के अधीन जो ओदनपाकरूप कार्य है वह तण्डुलादिकारण के समवधान में ही होता है तण्डुलादि के अभाव में नहीं होता है। यदि हो जाय तब तो अन्वय व्यतिरेकाधीन कार्य कारण भाव की व्यवस्था ही नहीं रहेगी वैसे ही प्रकृत में जबतक संयत मनरूप कारण नहीं रहेगा तबतक समाधि योगरूप कार्य भी नहीं होगा।

यदि कारणाभाव में कार्य नहीं होगा तब तो समाधियोग की प्राप्ति किसी को भी नहीं होनी चाहिये इस शंका के उत्तर में कहते हैं "वश्यात्मनेत्यादि" उपाय कारण से पूर्वकथित अभ्यास वैराग्य सहकृत परमपुरुष श्रीराम के आराधनात्मक जो कर्म योग है उसके द्वारा जिसने अपने मन को वशीकृत कर लिया है ऐसा प्रयत्न करने वाला जो साधक है वह समा-धियोग को प्राप्त करने में समर्थ होता हैं। अर्थात् परमात्मा के अनुध्यान के अंगभूत अभ्यास वैराग्य यम नियमादि से जिसने अपने मन को जीत लिया है उस व्यक्ति के लिये समाधियोग अप्राप्य नहीं है ३६

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ३८
एतन्मे संशयं कृष्ण ? छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।३९।

क्यबुद्ध्या । उपेतो युक्तः । अयतिरभ्यासे शिथिलो योगाच्चलितमानसो योगच्युतमनस्को योगसिद्धिमप्राप्य कां गतिं गच्छति ॥३७॥

हे महाबाहो ? नास्ति प्रतिष्ठा स्वर्गादिफलेषु स्थितिर्यस्यासावप्रतिष्ठः । ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्त्युपायात्मने योगमार्गे । विमूढः प्रच्युतः । अत उभयभ्रष्टो भोगमोक्षोभयरहितः । सन् । छिन्नाभ्रमिव । न नश्यति कच्चित् ? उभयतो भ्रष्टत्वेन किमयं नश्यत्येवोत न ! इत्यर्थः ॥३८॥

हे कृष्ण ! मे ममैतं संशयं सन्देहमशेषतः कात्स्न्र्येन छेत्तुमर्हसि । हि यतस्त्वदन्यस्त्वदपरोऽस्य संशयस्य छेतापरिहारको नोपपद्यते ॥३९॥

समाधियोग के माहात्म्य को जानने की इच्छावाले अर्जुन पुनः प्रश्न करते हैं "अयतिरित्यादि" हे श्रीकृष्ण जो साधक श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य बुद्धि से युक्त है परन्तु अयति है अर्थात् अभ्यास करने में किसी लौकिक वैदिक कारण से शिथिल हो गया है जिसका मन अत एव योग से चलित यानी स्खलित हो गया तब वह योग सिद्धि यानी मोक्ष सिद्धि को प्राप्त न कर के किस गति को यानी स्वर्ग वा नरक आदि गति को प्राप्त करता है वह मुझे कहिए ॥३७॥

हे महाबाहो श्रीकृष्ण ! नहीं है प्रतिष्ठा स्वर्गादि फल में स्थिति जिसकी ऐसा जो अप्रतिष्ठ साधक तथा ब्रह्म के मार्ग में अर्थात ब्रह्म प्राप्ति में उपाय लक्षण जो समाधियोग है उस मार्ग में विमूढ अर्थात् योग मार्ग से च्युत गिरा हुआ साधक अत एव उभय विभ्रष्ट अर्थात् भोग तथा मोक्ष एतदुभय से रहित होता हुआ श्रद्धाशील साधक छिन्न मेघ के समान अर्थात् वायु द्वारा इतस्ततः नीयमान उड़ते हुए मेघ की तरह नष्ट हो जाता है क्या ? दोनों तरफ से भ्रष्ट हो जाने से क्या वह विनष्ट हो जाता है अथवा नष्ट नहीं होता है ? हे श्रीकृष्ण इस प्रकार का जो मेरा संशय है उस संसय को आप अशेष संपूर्णरूप से काटने दूर करने के योग्य हैं । जिसलिये कि आप से अतिरिक्त दूसरा ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो इस सन्देह के निराकरण में समर्थ हो अतः कृपापूर्वक आप ही इस सन्देह को दूर करें ॥३८-३९॥

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

पार्थ? नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ४०
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ४१

अथ पार्थसंशयमपाकुर्वञ्छ्रीभगवानुवाच पार्थेति। हे पार्थ ! तस्य पूर्वोक्तस्य योगाच्चलितमानसस्येहास्मिंल्लोकेऽमुत्र परस्मिंश्चलोके विनाशो न विद्यते । अत्र विनाशोहि द्विविधो मतः। प्राकृतभोगब्रह्मान्यतरानुभवरूपेष्टानवाप्तिः प्रत्यवायात्मकानिष्टावाप्तिश्चेति । स चास्य योगभ्रष्टस्य न भवति । हे तात ! हि यतः कल्याणकृत् कल्याणात्मकयोगकर्ता दुर्गतिमुक्तामिष्टानवाप्तिमनिष्टावाप्तिश्च न गच्छति न प्राप्नोति ।४०।

अथ कथमयं भविष्यतीत्याह प्राप्येति । योगभ्रष्टः पुरुषः पुण्यकृतां पुण्याचरणशालिनां प्राप्यान् स्वर्गादिलोकान् प्राप्य लब्ध्वा तत्र शाश्वतीः समा वत्सरानुषित्वा स्थित्वा । योगभ्रंशहेतून् स्वाभिलषितान् भोगान् तेषु पुण्यसम्पाद्येषु लोकेषु बहुकालं

प्रश्न श्रवण के बाद अर्जुन का जो प्रश्न उसका निराकरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं" पार्थेत्यादि" हे पार्थ ! पूर्वोक्त योग से चलित मनवाला जो साधक उस साधक को इहलोक में अथवा परलोक में भी विनाश नही होता है।

अर्थात् यहाँ विनाश दो प्रकार का होता है एक तो प्रकृति सम्बन्धी भोगानुभव लक्षण इष्ट की अप्राप्ति तथा ब्रह्मानुभवलक्षणेष्ट को अनवाप्ति और दूसरा है प्रत्यवाय (पाप) लक्षण अनिष्ट की प्राप्ति यहाँ दोनों प्रकार का विनाश योग भ्रष्ट साधक का नहीं होता है क्योंकि हे तात अर्जुन ! जिसलिए कल्याणकृत जो व्यक्ति है अर्थात् कल्याण लक्षण योग का अनुष्ठान करने वाला जो साधक है वह पूर्वोक्त इष्ट की अनवाप्ति तथा पूर्वोक्त अनिष्ट प्राप्ति लक्षण दुर्गति को प्राप्त नहीं करता है ॥४०॥

यह पूर्वोक्त कथन कैसे संभवित होगा। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं "प्राप्येत्यादि" हे अर्जुन ! जो समाधियोग से परिभ्रष्ट पुरुष हैं वे पुण्यकृत् पुण्याचरणशील व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त होने के योग्य जो स्वर्गादि लोक तादृश स्वर्गलोक को देहावसान के बाद प्राप्त करके (लाभ करके) उस स्वर्गलोक में अनेक वर्षपर्यन्त स्थित हो करके अर्थात् योगभ्रंश (नाश) के कारणीभूत जो तत्तत् स्वाभिलषित भोग उसको पुण्य के द्वारा संपाद्यमान उस लोक विशेष में बहुत काल पर्यन्त भोग करके पवित्राचरण युक्त श्रीमान् धनाढ्य के घर में उत्पन्न होते हैं पुन जन्म

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।४२।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥४३॥

यावद् भुक्त्वेत्यर्थः । शुचीनां विशुद्धानां श्रीमताञ्चगेहे भवनेऽभिजायते ॥४१॥

अथ परिपक्वाद्योगाद् भ्रष्टस्य गतिमाह अथवेति । अथवा पक्षान्तरे । परिपक्वयोगाद् भ्रष्टो जनः । धीमतां स्वतो योगोपदेशशक्तानां योगिनां योगं विदधतां कुले भवति । जायत इत्यर्थः । ईदृशं यज्जन्मैतल्लोके हि दुर्लभतरमत्यन्तं दुष्प्रापमेवेत्यर्थः ॥४२॥

ननु ततः किम् ? न हि शुचीनां श्रीमतां धीमतां योगिनां वा कुले समुत्पत्तिमात्रं मोक्षापादकं भवतीत्यत्राह–तत्रेति । हे कुरुनन्दन ! तत्र द्विविधेऽपि तस्मिञ्जन्मनि पौर्वदैहिकं पूर्वदेहे भवं तम् । बुद्ध्या संयोगो बुद्धिसंयोगस्तं योगविषय-

लेते हैं । अर्थात् योगभ्रष्ट पुरुष इस साधक शरीर के अवसान में स्वर्गलोक के बहुत कालतक उपभोग करने के बाद में पुनः स्वर्गलोक से च्यवित पतित हो करके पुनः पवित्राचरण सम्पन्न धनी व्यक्ति के घर में पुनर्जन्म को प्राप्त करते हैं, अधोगति में तो कथमपि प्राप्त नहीं होते हैं । यह योग का विशेष माहात्म्य है ॥४१॥

योग के परिपक्वावस्था के योगि जनों के योग भ्रष्ट की क्या गति होती है इस बात को बतलाते हैं "अथवेत्यादि" अथवा शब्द पक्षान्तर को बतलाता है अर्थात् इस श्लोक के पूर्वश्लोक में जो पवित्र धनवान् के घर में योगभ्रष्ट का जन्म होता है तदपेक्षया अन्य अर्थ बतलाते हैं परिपक्व योगभ्रष्ट जो पुरुष हैं उनका जन्म धीमान् विद्वान् अर्थात् जो स्वयमेव योग के उपदेश करने में शक्ति सम्पन्न हैं ऐसे योगी अर्थात् योग को धारण करने वाले हैं उनके कुल में पैदा होते हैं । परन्तु एतादृश जन्म अर्थात् योगोपदेश में समर्थ योगियों के कुल में जन्म प्राप्त करना इस लोक में दुर्लभ है अत्यन्त दुष्प्राप्य है अर्थात् एतादृश जन्म क्वाचित्क होता है ॥४२॥

पवित्र श्रीमान् के कुल में जन्म प्राप्त करते हैं योग भ्रष्ट पुरुष अथवा योगी के कुल में जन्म प्राप्त करते हैं इससे क्या हुआ क्योंकि उत्तम कुल में जन्ममात्र तो मोक्ष संपादक नहीं है अर्थात् विशिष्ट कुल में जन्म प्राप्त करने मात्र से तो मोक्ष होने की संभावना नहीं है इस के उत्तर में कहते हैं "तत्रतमित्यादि" हे कुरुनन्दन ! हे अर्जुन ! तत्र दोनों प्रकार

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥४४॥

बुद्धिसम्बन्धं लभतेऽधिगच्छति । ततोऽनन्तरम् । जन्मान्तरे सुकृतिनाम्प्राक्तन-संस्काराणामुच्छेदाभावात् स सुप्तजागरित इव भूयः पुनरपि संसिद्धावन्तरायवर्जितायां योगसिद्धौ विषये यतते यत्नमादधाति ४३॥

तत्र हेतुमभिधत्ते–पूर्वाभ्यासेनेति । अवशोऽपि देहादि परवशोऽपि स योगभ्रष्ट-स्तेन पूर्वाभ्यासेन ह्रियते योग एवाकृष्यते । हि प्रसिद्धम् । योगस्य योगे जिज्ञासुरपि न तु योगे प्रवृत्त इत्यर्थः शब्दब्रह्मातिवर्त्तते प्रकृतिसम्बन्धमतिक्रामति । 'नाहं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक् स्थावरोऽपि वा । ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः ॥'

का जो जन्म है उसमें पौर्वदेहिक पूर्वदेह में प्राप्त जो बुद्धि संयोग बुद्धि से होनेवाला जो संयोग उसे कहते हैं बुद्धि संयोग तद्दशयोग विषयक बुद्धि सम्बन्ध को लाभ करता है तादृश बुद्धि संयोग को योगभ्रष्ट पुनः प्राप्त करता है तदनन्तर जन्मान्तर में भी विद्वान् का पूर्व-कालिक जो संस्कार उसका उच्छेद विनाश नहीं होने से वह योगभ्रष्ट पुरुष सुप्त जागरित पुरुष की तरह भूयः पुनरपि संसिद्धि में अन्त रायवर्जित योग विषयक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है । जैसे कोई व्यक्ति पूर्व दिन में किसी कार्य को करता हुआ सो जाता है जब द्वितीय दिन में सोकर उठता है तब पुनः वह पुरुष प्रथम दिन में जिस कार्य को करता था उसी कार्य को पुनः करने लगता है पूर्वकार्य विषयक संस्कार के बल से, इसी प्रकार यह योग भ्रष्ट विशिष्ट कुलान्तर में जन्म को प्राप्त करने पर भी पूर्वजन्म का जो अपरिलुप्यमान संस्कार है उस के बल से इस नवीन विलक्षण जन्म में भी योग विषयक अभ्यास को चालू रखता है । जैसे दृष्टान्त में दिनान्तर संस्कार का व्यवधायक नहीं होता है इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में जन्मान्तर भी पुण्यातिशय के बल से संस्कार का विनाशक नहीं होता है संस्काराभाव में भगवत्कृपा प्रतिबन्धक हो जाती है ॥४३॥

योगभ्रष्ट पुरुष जन्मान्तर में भी योग में प्रवृत्त हो जाता है इस विषय में हेतु का कथन करते हैं "पूर्वाभ्यासेनेत्यादि" परिभ्रष्ट योग वाला जन्मान्तर को प्राप्त करने पर भी यद्यपि विलक्षण करण कलेवरादि के अधीन में पड़ा हुआ योगभ्रष्ट पुरुष है तो भी उस योग विषयक अभ्यास के द्वारा पुनः नवीन जन्म में भी योगाभ्यास में ही बलात् आकृष्यमाण होता है । इस श्लोक में जो 'हि' अव्यय वाचक शब्द है, उसका अर्थ है प्रसिद्धि अर्थात् प्रसिद्धार्थक "हि" शब्द है । योगस्य योग का अर्थात् योग विषय में जिज्ञासाशील होने पर भी न तु योग में

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ४५

इति पाञ्चरात्रवचनप्रामाण्यात् देवमनुष्यादिशब्दाभिलापायोग्यज्ञानानन्दैकस्वरूपमात्मानमधिगच्छतीत्यर्थः । तर्हि योगे प्रवृत्तस्य तु किमु वक्तव्यमितिभावः । अत्र देवमनुष्यपृथिवीस्वर्गप्रभृतिशब्दाभिलापार्हं ब्रह्म प्रकृतिरेव न तु परब्रह्मजीववेदादयस्तेषामतिवर्त्तनीयत्वानुपपत्तेः ॥४४॥

तस्य परगतिप्राप्तिमाह—प्रयत्नादिति । योगी चलितयोगोऽपि प्रयत्नादिन्द्रियनियमनादिप्रयत्नेन यतमानो योगे प्रयत्नमालम्बमानः संशुद्धं किल्बिषं यस्य स संशुद्धकिल्बिषो विधूतपापोऽनेकजन्मसंसिद्धोऽनेकजन्माभ्यासनिष्पन्नयोगस्तस्मादेव परां परमोत्कर्षवर्तीं गतिं यात्यवाप्नोति ॥४५॥

प्रवृत्त यह अर्थ है, शब्द ब्रह्म को अतिवर्तन कर जाता है अर्थात् प्रकृति सम्बन्ध को अतिक्रमण कर जाता है ।" मै देव नहीं हूं, मैं मनुष्य हूं मै पशु पक्षी नहीं हूं तथा मै स्थावर वनस्पति रूप हूं किन्तु इन सब जड स्वभाव से विवर्जित ज्ञान आनन्दमय आत्म स्वरूप हूं और सर्वनियन्ता सर्वेश्वर साकेताधिपति का शेष शरीरभूत दास हूं" इत्यादि पांचरात्र वचन के प्रमाण से "अयं देवोऽयं मनुष्यः" इत्यादिक जो देववाचक मनुष्यवाचक शब्द तादृश शब्द से अव बोध्य ज्ञान आनन्दैक स्वरूप आत्मा को जानना है । जब जिज्ञासा मात्र में एतावान् गुण है तब योग में प्रवृत्त जो है उसे कहना ही क्या । यहाँ देव मनुष्य पृथिवी स्वर्ग प्रभृतिक शब्द से कथन करने के योग्य ब्रह्म प्रकृति ही है, पर ब्रह्म जीव वेद ये सब ब्रह्म शब्द बोध्य नहीं है । क्योंकि ब्रह्म का अथवा जीव का या वेद का अतिक्रमण करना सर्वथा अनुपपन्न है । अर्थात् योग भ्रष्ट पुरुष देहेन्द्रियादि के पराधीन होते हुए भी पूर्व जन्मकालिक अभ्यास से योग में ही आकृष्यमाण होता है । तथा योग की जिज्ञासामात्र से शब्द ब्रह्म अर्थात् देवादि शब्द वाच्य प्रकृति सम्बन्ध को अतिक्रमण कर जाता है ॥४४॥

प्रकृति सम्बन्ध को अतिक्रमण करने वाला योगी क्रमिक रूप से परगति मोक्ष को भगवत्सायुज्य रूप परम पद को प्राप्त करता है इस बात को बतलाते हैं "प्रयत्नादित्यादि ।" जो योग साधन में प्रवृत्त योगी है वह पूर्वभवोपार्जित दुरित कर्म के बल से चलित योग हो भी गया है तो भी पुनः प्रयत्न से अर्थात् इन्द्रियादि के नियमादि क्रम से यतमान योग में प्रयत्न को आलंबन करता हुआ विशुद्ध किल्बिष हो करके अनेक जन्म का जो प्रयास है उससे निष्पन्न योग हो करके उसी योग के माहात्म्य से परा गति परम उत्कर्षवती गती अर्थात् नित्यनिरतिशय सुखात्मक गति को प्राप्त कर लेता है ॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगी तस्माद्योगीभवार्जुन ? ।४६।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां समे युक्ततमोमतः ४७

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादेऽभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ६ ॥

योगिनस्तपस्विप्रभृतिभ्यः श्रेष्ठतामाह—तपस्विभ्य इति । योगी तपस्विभ्यः केवल-तपोनिष्ठेभ्योऽधिकः श्रेष्ठः । केवलतपः साधितपुरुषार्थाधिकपुरुषार्थसाधनविशिष्टतया-योगी तपस्विभ्यः श्रेयानित्यर्थः । एवं ज्ञानिभ्यः केवलशास्त्रजन्यज्ञानविशिष्टेभ्यो-ऽप्यधिकः । कर्मिभ्यः केवलकर्मानुष्ठातृभ्यश्चाधिको मतः । हे अर्जुन ! तस्मात् त्वं योगी भव ॥४६॥

एवमात्मदर्शनमभिधाय विवेकादिसाधनसप्तकजन्यपरविद्याप्रस्तावं विदधाति—योगिनामिति । यो योगी मामपरित्यक्तात्ममहिमानं वाङ्मनसाऽनवच्छेद्यस्वरूपस्व-

तपस्वी प्रभृति की अपेक्षा से योगी में श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "तपस्विभ्यः" इत्यादि । योगी समाधि योगवाला तपस्वी केवल तपो निष्ठता के रूप से साधकापेक्षया श्रेष्ठ उत्तम है अर्थात् केवल तपस्या के द्वारा साधित जो पुरुषार्थ तदधिक जो पुरुषार्थ है उसके साधन से विशिष्ट होने के कारण तपस्वी की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है । इसी प्रकार ज्ञानी के अपेक्षया भी योगी श्रेष्ठ है। अर्थात् केवल शास्त्र जनित ज्ञानवान् जो पुरुष है तदपेक्षया योगी श्रेष्ठ है । एवं कर्मी अर्थात् केवल कर्मकाण्ड के अनुष्ठाता जो पुरुष हैं उपासना विरहित कर्ममात्र में प्रवृत्त हैं तादृश कर्मी की अपेक्षा से भी योगी श्रेष्ठ है । इस लिये हे अर्जुन ! अन्यों के अपेक्षा अति श्रेष्ठ होने से आप भी योगी बनने के लिए ही प्रयत्न शील हों ॥४६॥

पूर्वोक्त क्रम से आत्मदर्शन को कह करके विवेक विमोक अभ्यास क्रिया कल्याणान-वसाद अनुद्धर्ष लक्षण जो सात प्रकार का साधन तादृश साधन द्वारा जायमान परविद्या का जो प्रस्ताव उस प्रस्ताव का विधान करते हुए कहते हैं "योगिनामित्यादि" जो योगी मेरी सेवा करते हैं कीदृश गुण विशिष्ट मेरी अपरित्यक्त है आत्ममहिमा विशिष्ट जिसने अर्थात् स्वकीय स्वरूपानुकूल विशेष गुणादि का जिसने परित्याग नहीं किया है एतादृश तथा "वाणी तथा मन से भी स्पृष्ट नहीं है स्वरूप जिसका तादृश स्वभाव विशिष्ट (एवो मयो

सर्वशक्तिमन्तञ्च मां सर्वेश्वरं मद्गतेन मत्परायणेन अन्तरात्मना मनसा श्रद्धावान् मय्यत्यधिकया प्रीत्या मदवाप्तिविषयकत्वरावान् सन् भजते उपास्त इत्यर्थः स सर्वेषां योगिनां सर्वेभ्योऽपि पूर्वोक्तेभ्यो योगिभ्यो मे मम युक्ततम श्रेष्ठतमो मत योगिनामिति षष्ठी पञ्चम्यर्थे न तु निर्धारणे । सर्वभूतस्थमात्मानमित्यादिश्लोकाभिहितेषु योगिषु वक्ष्यमाणस्य योगिनोऽनन्तर्गतत्वात् ॥४७॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीताया. श्रीमदानन्दभाष्ये अभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह) जहाँ से वाणी मन के साथ उस दिव्य स्वरूप के वर्णन में असमर्थ होकर निवृत्त हो जाती है अर्थात् जिस परम पुरुष की कमनीय विलक्षणमूर्ति वाणी से कथन के योग्य नहीं है। मन से मनन करने योग्य नहीं है इन्द्रिय विषयता से रहित है। अत एव भक्त शिरोमणि कविकुल श्रेष्ठ जगद्गुरु श्रीतुलसीदासजी ने कहा है—

"श्याम गौर किमि कहउं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी"

इससे भगवान् का स्वरूप वाङ् मनसातीतत्व प्रतिपादित होता है। तथा अशेष दोष से रहित जो स्वरूप तादृश स्वरूप विशिष्ट। अथ च नित्य अनवधिकातिशय अपरिमित कल्याण गुण के महोदधि तथा सर्वेश्वर साकेताधिपति मुझे मद्गत आत्मा से अर्थात् मदुन्मुख जो अन्तः करण मन है उस से और श्रद्धावान् मुझ में अत्यधिक प्रीति वाला अर्थात् मेरे प्राप्ति विषय में त्वरावान् हो करके पूर्वोक्त विशेषण से युक्त मेरा भजन करनेवाला है वही योगी है। वह योगी योगियों का अर्थात् वह पूर्वोक्त सभी योगियों के अपेक्षया युक्ततम है अर्थात् सर्व श्रेष्ठ है अतः वह मेरा निश्चय ही अतिप्रिय है। यहाँ योगिनाम् इस पद में जो षष्ठी विभक्ति है वह निर्धारण अर्थ में नहीं है पंचमी विभक्ति के अर्थ में है। क्योंकि "सर्वभूतस्थमात्मानम्" इस श्लोक से कथित योगियों में आगे भिन्न योगी का कथन करेंगे उनका अन्तर्भाव संभवित नहीं है यानी 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' इस श्लोक से प्रतिपादित योगियों के स्वरूप गुणधर्मों में इससे अनन्तर वर्णित योगियों का सामञ्जस्य नहीं हो पाता है अतः इस श्लोक के 'योगिनाम्' शब्द में जो षष्ठी विभक्ति है वह निर्धारणार्थक षष्ठी विभक्ति न होकर पृथक्करणार्थक पञ्चमी के अर्थ में है।४७।

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीते गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे षष्ठोऽध्यायः

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

श्रियः श्रियै नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ द्वितीयषट्कमारभ्यते

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ? योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।१।

श्रीमद्गीताशास्त्रस्य प्राधान्येन प्रतिपाद्यविषयः परमपुरुषार्थावाप्तिनिदानं महापुरुषस्वरूपं तदवाप्तिसाधनं परभक्त्यपरपर्यायोपासनमिति। एतद्द्वयमध्यनेन मध्यमषट्केन प्रतिपाद्यते। तत्रापीप्सिततमस्य भगवत्स्वरूपस्य साध्यतया तत्प्राप्तये साङ्गोपासनमेव प्राङ्निरूपणीयमिति फलति। एवं च प्रथमषट्केनास्यैवोपासनस्याङ्गभूते कर्मज्ञाने निरूपिते। अथाङ्गिनः प्राप्यस्वरूपोपायभूतस्य महापुरुषोपासनस्य निरूपणमवशिष्यते तदनेन सप्तमाऽध्यायेनारभ्यते। तत्र पूर्वमनितरसाधारणस्य जगदुदयविभवलयलीलस्य नित्यनिर्दोषदिव्यकल्याणगुणाकरस्य भगवत्स्वरूपस्य कार्त्स्न्येन परिज्ञा-

अशेषं जगतां नाथं सीतानाथं हृदास्मरन्। गीतामध्यमषट्कस्य व्याख्यानं विदधाम्यहम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र का प्रधानतः प्रतिपादनीय विषय है परम पुरुषार्थ (नित्यनिरतिशयानन्द स्वरूपात्मकमोक्ष) की प्राप्ति में साधनीभूत महापुरुष सर्वेश्वरसर्वनियन्ता का स्वरूप और इस प्रतिपाद्य महापुरुष के स्वरूप की प्राप्ति में कारण है परामक्ति जिस भक्ति का अपरनाम है उपासना ये दोनों पदार्थ परमपुरुषका स्वरूप तथा भक्ति इस मध्यमषट्क से सातवां अध्याय से लेकर द्वादश अध्यायान्त प्रकरण से प्रतिपादित होंगे। उसमें भी ईप्सिततम यानी अतिशयेन अभिलषणीय जो भगवान् परमपुरुष का स्वरूप यानी तादृश परमपुरुष के स्वरूप का साध्य होने से तत्स्वरूप की प्राप्ति के लिए अंग सहित उपासना का ही प्रथमतः निरूपण करना चाहिये यह फलित होता है। ऐसा होने से प्रथम षट्क से अर्थात् प्रथमाध्याय से लेकर छठा अध्यायान्त प्रकरण से यही जो उपासना जो कि भगवत्स्वरूप प्राप्ति में प्रधान कारण है उसका अंगभूत कर्मयोग तथा ज्ञानयोग इन दोनों का निरूपण किया गया है। अंगनिरूपण के बाद में अभी जो उपासना जो कि प्राप्य जो भगवत्स्वरूप उसका

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।२।

नोपपत्तयेऽर्जुनस्यावहितमनस्कतां चिकीर्षुः श्रीभगवानुवाच—मय्यासक्तेति । हे पार्थ ! इति पृथासम्बन्धद्योतनेन प्रीत्यतिशयः सूच्यते । मय्यासक्तमना मयि सर्वभूतशरण्ये जगदीश्वरे निबद्धं मनो यस्य स सर्वातिशायिनि मत्स्वरूपे निरतिशयप्रेमाबद्धहृदय इत्यर्थः । मदाश्रयोऽहमेवाश्रयो यस्य स मदेकजीवनाधार इत्यर्थः योगं मयि मनोयोगं युञ्जन्नसंशयं समग्रं गुणवैभवादिपरिपूर्णं मां यथा येन ज्ञानप्रकारेण ज्ञास्यसि तज्ज्ञानप्रकारं मयोदीर्यमाणमवहितमनास्त्वं शृणु ॥१॥

अहं ते मदेकचित्ताय तुभ्यं मत् स्वरूपगोचरमिदं प्रतिज्ञातं ज्ञानं सविज्ञानं मच्छरीरतया स्थितयोश्चिदचितोर्विवेकसहितमशेषतः कार्त्स्न्येन वक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा

उपाय कारणरूप महापुरुष के उपासना का स्वरूपनिरूपण अवशिष्ट रहगया है अतः उस उपासना का निरूपण इस सप्तम अध्याय से आरंभ होता है। उसमें भी प्रथमतः परमपुरुष व्यतिरिक्त पुरुष में नहीं रहनेवाला जो स्वरूप जगत के स्थावर जंगमात्मक चराचर की जो उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलयात्मक लीला से युक्त तथा नित्य निर्दोष दिव्य कल्याण गुण के आकर (समुद्र) भगवान् का जो स्वरूप उसस्वरूप के संपूर्ण रूप से ज्ञान की उपपत्ति के लिए अर्जुन को अपनी तरफ सावधान करने की इच्छा से भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"मय्यासक्तेत्यादि" हे पार्थ कुन्तीपुत्र ! पार्थ इस संबोधन से अर्जुन के ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण की अतिशय प्रीति सूचित होती है। मुझमें आसक्त मन हो करके मुझ सर्वप्राणी को शरण देनेवाले जगदीश्वर में निबद्ध है मन जिसका ऐसा अर्थात् सभी का अतिक्रमण करनेवाला जो मेरा (ईश्वर का) स्वरूप है मेरे स्वरूप में आबद्ध हृदय हो करके मदाश्रय मैं भगवान् ही हूं आश्रय जिसका ऐसा मदेकजीवनाधार हो करके यह अर्थ है योग अर्थात् मुझ श्रीकृष्ण में मनोयोग को करते हुए सन्देह रहित होकर समग्र गुण वैभव से परिपूर्ण मुझे जिस प्रकार से ज्ञानाकार से जानोगे उस ज्ञान प्रकार को मुझ से कथित यथोक्त ज्ञान प्रकार को सावधान मन होकर सुनो। जिस ज्ञान के द्वारा समग्र मेरे स्वरूप को असंदिग्धरूप से जानोगे मुझ से उस ज्ञान प्रकार को सावधान होकर सुनो ॥१॥

संशयविपर्ययमिथ्याज्ञान से रहित संपूर्णरूप से जिस प्रकार से जानोगे वह मुझ से सुनो, इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ में श्रोता की सावधान मनस्कता का व्युत्पादन करते हुए वक्ष्यमाण जो ज्ञान है उसमें अशेष विषय विषयत्व का कथन द्वारा ज्ञान के माहात्म्य को

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

यज्ज्ञानं सम्यगभ्यस्येह मत्स्वरूपविषये पुनरन्यत् किमपि श्रेयः साधनसमर्थं ज्ञे नावशिष्यते ॥२॥

प्रतिज्ञातस्य ज्ञानस्य दौर्लभ्यमभिधत्ते मनुष्याणामिति मनुष्याणां निःश्रेयसार्थिनां सहस्रेषु, असंख्यातेषु मध्ये सहस्रशब्दोऽत्रासंख्यातवाची कश्चिदेकः सुकृतशाली

बतलाते हुए कहते हैं "ज्ञानंतेहमित्यादि" हे अर्जुन मैं सर्वज्ञ सर्वेश्वर अनंतकल्याण गुणगण विशिष्ट कर्तुमकर्तुम तथा अन्य कारण में समर्थ हूं अतः मदेक चित्त मेरे अतिसयेन प्रिय तुम्हें ज्ञान अर्थात् मत्स्वरूप विषयक प्रतिज्ञात जो ज्ञान है उसको विज्ञान सहित अर्थात् मेरा शरीर रूपेण अवस्थित जो चित् तथा अचित् हैं इन दोनों के विवेक सहित ज्ञान को अशेषतः संपूर्णरूप से उपपत्तिपूर्वक कहता हूं, जिस ज्ञान के समीचीनरूप से अभ्यास करने से मदीय स्वरूप विषय में भूयः पुनः अन्य कुछ जो कि श्रेयस के साधन में समर्थ उपयोगी हो ऐसा ज्ञातव्यपदार्थ कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जायगा । अर्थात् विज्ञान सहित ज्ञान का उपदेश मैं तुम्हें देता हूं, जिस ज्ञान को सम्यक्रूप से जान लेने के बाद मेरे स्वरूप विषयक मोक्षोपयोगी अन्य कोई भी वस्तु ज्ञातव्य रूप में अवशिष्ट नहीं रह जायगा जिसके लिए तुम्हें पुनः प्रयत्न करने की आव श्यकता हो ।

भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन ! संसार में जो कोई भी पदार्थ है चाहे वह स्थूल हो कि सूक्ष्म हो चित हो अथवा अचित् हो उन सभी पदार्थों में मेरा ही शरीर है तो जब तुम मुझ विशेषण विशिष्ट को जान लोगे तब मद्विशेषेण रूप से सभी पदार्थ को तुम अच्छी तरह जान लोगे । जैसे स्वल्प विशिष्ट घट को जानने के बाद भी उस विशिष्ट घट को जानने की आवश्यकता रहती है परन्तु सर्व विशेषण से युक्त घट को जान लेने के बाद पुनः घट विषयक जिज्ञासा नहीं होती है इसी तरह सर्व विशेषण विशिष्ट मुझे जानने के बाद तुम्हें ज्ञातव्य पुनः कोई भी पदार्थ ज्ञातव्यरूप में अवशिष्ट नहीं रह जायगा जिसके विषय में ज्ञातव्य की जिज्ञासा हो । इसलिये श्रुति भी कहती है "एक परमात्मा को जानने के बाद सभी पदार्थ ज्ञात हो जाता है" "आत्मनि खलु विज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति" चिदचिद् विशिष्ट सर्वेश्वर परमात्माश्रीराम को जानलेने के बाद कोई भी पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता है जो ज्ञातव्य हो ॥२॥

पूर्व प्रतिज्ञात, जो चिदचिद् परमेश्वर के [illegible] है जैसे ज्ञान के दुर्लभ

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

सिद्धिर्मत्स्वरूपयाथात्म्यावगमसाधनरूपा तस्यै यतते मद्भजनादिरूपं यत्नमातनोति न हि सुकृतातिरेकमन्तरेण यस्य कस्यापि मत्स्वरूपगुणवैभवपरिज्ञानैकसाधने भगवद्भजने प्रवृत्तिरुपजायते इतिभावः। सिद्धानां तादृशसिद्धिभाजां यततां महापुरुषाराधनमनुतिष्ठतामपि सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेको मत्कृपाकटाक्षावेक्षितस्तत्त्वतो मां स्वरूपगुणविभूतिमहिमातिशयवैशिष्ट्येन विशिष्टस्वरूपं वेत्ति न हि प्रयतमानाः सर्वेपि यथावन्मां जानन्ति शनैरुपचितानुध्यानयोगास्तु जानन्त्यपीति भावः ॥३॥

होने पर भी ज्ञाननिष्ठ दुर्लभता का जानकार सुनने वालों को सुरुचि उत्पन्न कराने के लिये कहते हैं—मनुष्याणामित्यादि। हे अर्जुन! निःश्रेयस यानी सायुज्य मोक्ष को चाहनेवाले तथा उसके साधनों को चाहनेवाले हजारों देवमनुष्यादि में यहां पर सहस्र शब्द सहस्र संख्या का वाचक नहीं है किन्तु असंख्यताका वाचक है, स्वकीय अनेक जन्मान्तरों से अर्जित पाप पुण्य देहवाले जो असंख्य मनुष्यादि हैं उनमेंसे कोई एक अतिशय पुण्यशाली व्यक्ति ही सिद्धि के लिये अर्थात् मदीय स्वरूप लक्षण विषयक यथार्थ ज्ञानके कारण लक्षण सिद्धि के लिए यत्न करता है, यानी भगवत्स्वरूप प्रापक भगवद्भजनादि कर्म में प्रयत्नशील होता है। सुकृतकर्म के विना जिस किसी पुरुष की मेरा जो स्वरूप है उसके तथा मदीयगुणविपुलता का जो ज्ञान है वैसे ज्ञान के साधन जो भगवत् भजन-पूजनादि कर्म हैं उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है अर्थात् वे ही व्यक्ति भगवत् पूजन भजनादि में प्रवृत्त होते हैं जिनमें पूर्वभवोपार्जित सुकृत विशेष है, उसके अभाव में प्रवृत्ति अनुपपन्न है। जो सिद्धि है यानी भगवत्स्वरूप विषयक ज्ञान साधन से युक्त है अर्थात् यतनशील है सर्वेश्वर श्रीरामजी के आराधन में लीन है ऐसे अनेक पुरुषों में कोई एक ही व्यक्ति मुझ से विलोकित होता है यानी मेरे अहैतुकी कृपा का भाजन बनता है वह व्यक्ति तत्त्वतः—मेरे स्वरूपगुणविभूति महिमातिशय विशिष्ट रूप से युक्त स्वरूपको जानता है। ईश्वर स्वरूप जानने के लिये प्रयत्न करनेवाले सभी व्यक्ति यथावत् भगवत्स्वरूप को नहीं जान सकते हैं। धीरे धीरे ध्यानयोगादिसाधन से ईश्वराराधन करनेवाले साधक महापुरुष तो ईश्वर के तात्त्विक स्वरूप को जान सकते हैं। सारांश यह हुआ कि—एक तो हजारों में से कोई एक ऐसा व्यक्ति होता है जो भगवत्स्वरूप को जानने के लिये प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवालों में कोई एक ही ऐसा विशिष्ट व्यक्ति होता है जो साधन सम्पादन प्रवृत्त होता है, ऐसे हजारों में कोई एक ही महापुरुष होता है जो ईश्वर को तत्त्वतः जानपाता है ३॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

प्रतिज्ञातमर्थमाह-भूमिरिति । भूम्यादिशब्दानां स्थूलसूक्ष्मभूतपरत्वं मनसोन्तर्बाह्यकरणपरत्वं । बुद्धिशब्देन चाव्यक्तमहत्तत्त्वयोर्ग्रहणम् अहंकारश्च इतीयं मे ममाश्रया प्रकृतिरष्टधा भिन्ना मच्छरीरतयावस्थितेयमेकैवप्रकृतिश्चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका ह्यष्टभिर्भेदैरभिधीयते ॥४॥

एवं सविज्ञानपदार्थविचारे प्रस्तुते प्रागपरप्रकृतेर्भोग्यभूतायाः स्वरूपभेदौ निर्दिश्याथ भोक्तृत्वेन तदध्यक्षायाः परायाः स्वरूपमाह–अपरेति । इयमुपदिष्टाष्टविधा

पूर्वकथित श्लोकत्रय से अधिकारी की प्रवृत्ति का संपादन करके विज्ञान सहित ज्ञान का प्रतिपादन करुंगा ऐसी प्रतिज्ञा में जो विज्ञान आया है उस विज्ञान के स्वरूप कथन पूर्वक ज्ञान का कथन करने के लिए कहते हैं "भूमिरापः" इत्यादि । मूल श्लोक में भूम्यादि खान्त पर्यन्त जो शब्द है वह स्थूल सूक्ष्म परक है स्थूल सूक्ष्म पंचभूत के प्रतिपादन करने की इच्छा से उच्चारण किया गया है । अर्थात् भूमि शब्द से स्थूल पृथिवी तथा सूक्ष्म पृथिवी पृथिवी तन्मात्रा । जिसे नैयायिक पृथिवी परमाणु कहते हैं । आप शब्द स्थूल जल उपभोग योग्य जल तथा जलीय तन्मात्रा (परमाणु रूप) लक्षण । अनल शब्द स्थूल तेज उपभोग योग्य तथा तेजो मात्रा । परमाणु रूप लक्षण वायु शब्द स्थूलवायु तन्मात्रा बोधक है । एवं ख शब्द स्थूलाकाश अर्थात् महाभूताकाश तथा आकाश तन्मात्रा लक्षण ये हैं स्थूल सूक्ष्म पंचभूत इनका बोधक भूम्यादि पांच शब्द हैं उपर्युक्त प्रकार से । और मूल श्लोक में जो मन शब्द है वह आन्तर तथा बाह्य करण के बोधनेच्छया प्रयुक्त है अर्थात् चक्षु त्वक् श्रोत्र रसन घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय एवं मन इस प्रकार से ग्यारह प्रकार के बाह्य तथा आभ्यन्तर करण का बोधक है और बुद्धि शब्द जो मूलस्थ है उससे अव्यक्त तथा महत्तत्व का ग्रहण होता है तथा अहंकार जो अभिमान लक्षण है, इस प्रकार मेरे आश्रय में रहनेवाली प्रकृति आठ भेद से भिन्न भिन्न है जो कि मेरे शरीर रूप से अवस्थित हो कर के एक ही प्रकृति चौबीस तत्त्व स्वरूपा है तथापि आठ भेद से कही गई है ॥४॥

उपर्युक्त प्रकार से प्रस्तुत विज्ञान सहित ज्ञान के विचार में प्रथमतः शरीराद्याकार से परिणत अत एव भोग्य लक्षण जो अपराप्रकृति पृथिवी जलादि स्वरूप है उसका स्वरूप तथा भेद का निर्वचन करके इसके बाद भोक्ता तथा तादृश प्रकृति के अध्यक्ष जीव लक्षण पुरा प्रकृति के स्वरूप के प्रतिपादन करने के अभिप्राय से कहते हैं–"अपरेयमित्यादि" पर

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

प्रकृतिरपरा भोग्यभूतत्वादनुत्कृष्टा। तुना ह्यस्या विजातीयत्वमुच्यते। इतोऽस्याः प्रकृतेः सकाशादन्यां जीवभूतां जीवरूपां मे सर्वेश्वरस्य मम परामुत्तमां प्रकृतिं विद्धि। ययेदं जगत् स्थावरजंगमात्मकं सर्वं धार्यते ॥५॥

अथ स्वस्य समस्तचिदचिज्जातजगत्कारणत्वमभिदधात्येतदित्यादिना सर्वाणि।

पूर्वश्लोक में प्रतिपादित अष्ट प्रकार से भिन्न चतुर्विंशति तत्त्वात्मिका जो प्रकृति कही गई है वह अपरा प्रकृति है भोग्य होने के कारण अनुत्कृष्ट है। श्लोक में जो "तु" यह शब्द है वह इस प्रकृति में वक्ष्यमाण जीवात्मक प्रकृति की अपेक्षा विजातीयत्व का प्रतिपादन करता है। यानी भूम्यादिक जो अष्टधाभिन्न प्रकृति है वह जड चेतन संघातरूप होने से भोग्य है जो संघातात्मक होता है स्व विजातीय अन्य से उपभुज्यमान होता है शयनासन प्रभृतिक पदार्थ यह जो पर्यंकादिक पदार्थ है वह पर्यंक के भोग्य के लिये नहीं है किन्तु पर्यंक पर सोनेवाला जो चेतन देवदत्तादिक उसके लिए है, इस शरीराद्याकार में परिणत जो प्रकृति है वह भी संघातरूप होने से स्व विजातीय चेतन असंहत जीवापेक्ष है असंघात रूप जीव उसका भोक्ता है समान जातीय में भोक्तृ भोग्यभाव नहीं देखने में आता है इसी बात को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने कहा तु शब्द विजातीयत्व का प्रतिपादक है।

यह जो अष्ट भेद भिन्न प्रकृति है उससे भिन्न जीवात्म लक्षण प्रकृति है वह जीव लक्षणा प्रकृति सर्वेश्वर जो सर्व जगदाधार ईश्वर है उसकी यह परा उत्तमा प्रकृति है ऐसा हे अर्जुन ! तुम जानो। जिस जीव लक्षण परा प्रकृति से यह स्थावर जंगमात्मक सकल जगत् धार्यमाण है। श्रुति कहती है "अनेन जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि" स्व स्वरूप विशेषणीभूत इस जीव के द्वारा अन्तः प्रविष्ट हो करके संपूर्ण स्थावर जंगमात्मक जगत् के नामरूप को स्पष्टीकृत करता हूं इस श्रुति कथित प्रकार से सर्वेश्वर श्रीरामजी जीवान्तर्यामीतया सर्वान्तः प्रविष्ट हो करके सकल जगत् का धारक बनते हैं और यह जीव भगवान् का चेतन रूपांश विशेषण होने से पर शब्द से व्यवहृत होता है। यद्यपि भगवदंशरूपता उभय में समान है तथापि चेतनाचेतनरूप से वैशिष्ट्य है ॥५॥

इसके बाद प्रकृतिद्वय के निरूपण करने के अनन्तर क्षण में भगवान् स्व में चिदचिदात्मक जो जगत् समुदाय है उसका कारण अपने को बतलाते हैं अर्थात् परमेश्वर के नियंत्रण में नियंत्रित जो भगवान् के शरीर लक्षण चिदचित् प्रमुख जगत् समुदाय है

स्तम्बपर्यन्तानि चतुर्मुखप्रभृतीन्यखिलानि भूतान्येतत् परापरात्मकप्रकृतिद्वयं योन्युपादानं येषां तान्येतद्योनीनीत्यनेन प्रकारेणोपधारय विद्धि। "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्याद् कृत्स्नस्य समस्तस्य मदीयपरापरात्मकप्रकृतिद्वयकारणकस्य

उस के स्वरूप का वर्णन करके उन दोनों प्रकृति में जगत्कारणता के प्रतिपादन द्वारा मुख्यतया तो स्व में ही जगत्कारणता का कथन करने के लिए प्रक्रम करते हैं "एतद्-त्यादि" हे अर्जुन ! स्तंम्पर्यन्त चतुर्मुख प्रभृतिक समस्त जो भूतवर्ग हैं उन सकल भूतो का निदान कारण परमात्मा का जो परापर लक्षण प्रकृति द्वय है वही है इस बात को यथोक्त प्रकार से तुम समझो "यतो वा इमानि" जिस परमात्मा से ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं तथा जिस परमात्मा में उत्पन्न हो कर के अवस्थित होते हैं और प्रलयके समय में जिस पर मात्मा में लीयमान हो जाते हैं" इत्यादि श्रुति तथा "जन्माद्यस्य यतः" इस जगत् का उत्पत्तिस्थिति तथा प्रलय होता है जिससे इस ब्रह्मसूत्र के प्रामाण्य से संपूर्ण जगत् का और मेरा जो पर तथा अपर प्रकृति द्वय है उस से पैदा होने वाला चराचर संसार का मैं सर्वेश्वर परमात्मा ही प्रभव हूं अर्थात् उत्पत्ति का कारण हूं। एवं प्रलीयमान हो जिस में ऐसा जो प्रलय का कारण है वह भी मैं ही हूं। उत्पत्तिरूप प्रथमावस्था और प्रलय लक्षण चरमावस्था का कथन करने से मध्यवर्तीस्थिति का कारण भी सर्वेश्वर श्रीरामजी ही हैं यह सिद्ध होता है, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलयके कारण सर्वेश्वर हैं यह कहने से जगत् के प्रति सर्वेश्वर को अभिन्न निमित्तोपादानता का प्रतिपादन किया जाता है। यद्यपि प्रकृति द्वय जगत् का कारण है और उस प्रकृतिद्वय के नियामक होने से ईश्वर में जगत् के प्रति कारणता होती है ऐसा मानने से तो ईश्वर जगत् कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध हो जाते हैं। जैसे कुलाल जन्य घट के प्रति कुलाल का पिता वृद्ध कुलाल अन्यथा सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में जगत् के प्रति परंपरित जनकता होने से ईश्वर भी चतुर्थ अन्यथा सिद्ध में प्रविष्ट हो जाते हैं तब ईश्वर को जगत् के प्रति कारणता कैसे होगी ? तथापि जगत् कार्य के प्रति चिदचिद् विशिष्ट परमेश्वर को कारण कहते हैं, यह जड तथा चेतन जीव लक्षण जो कारण है वह तो परमेश्वर का शरीर है, तो भगवदंशस्वरूप से संपादित जगत् के प्रति परमेश्वर में जो कारणता है उसका विघात नहीं होता है।

अथवा व्यापार से व्यापारी को अन्यथा सिद्धि नहीं होती है। जैसे घट के प्रति जो दण्ड कारण होता है वह चक्रभ्रमिरूप व्यापार को लेकरके है क्योंकी वह चक्रभ्रमिदण्ड से जन्य है और दण्डजन्य घट का जनक है अत यहाँ साक्षात् कारण घट के प्रति दण्ड व्यापार है [illegible] के व्यापार द्वारा [illegible] होने पर भी अन्यथासिद्ध नहीं माना जाता है क्योंकि

प्रलयो लयकारणं चास्मीति शेष । ६

व्यापार से व्यापारवान् की अन्यथा सिद्धि नहीं होती है अन्यथा यदि इस नियम को न मानें तब चिर विनष्ट जो यागादिक कर्म कलाप हैं वे स्वर्ग के प्रति कारण नहीं होंगे किन्तु कर्म जन्य जो अदृष्ट है वह अव्यवहित पूर्व वृत्ति स्वर्ग प्राप्ति के प्रति कारण होने से अपूर्व ही कारण होगा और अपूर्व जनकयाग अन्यथा सिद्ध हो जायगा । नहीं कहेंकि इष्टापत्ति है तो वह ठीक नहीं क्योंकि "स्वर्गकामो यजेत" स्वर्गकामनावान् पुरुष याग के द्वारा इष्ट जो स्वर्ग उसे सिद्ध करे" यह जो विधिवाक्य है उससे बोधित जो कारणता है उस का बाध हो जायगा तब कारणता प्रतिपादक वेद वाक्य में अप्रामाणिकत्व हो जायगा । इसलिये व्यापाररूप अपूर्व से व्यापारी जो याग उसे अन्यथा सिद्धि नहीं होती है । इसी प्रकार प्रकृत में परमेश्वर जगत् कार्य के प्रति प्रधान कारण है और परमेश्वर के अंश लक्षण परापर प्रकृति व्यापार रूप है इसलिये उभय विध प्रकृति जन्य जगत् कार्य के प्रति परमेश्वर के कारण होने से अन्यथा सिद्धि दोष नहीं होता है । अथवा जो यह दोषादि परिभाषा है वह सब प्रकृति जन्य है इसलिये प्राकृतिक कार्य के प्रति इन्हें प्रतिबन्धकता हो भी सकती है परन्तु भगवान् तो सर्व नियन्ता सर्वेश लोकोत्तर गुणालंकृत हैं प्रकृति तथा प्रकृति कार्य से परे हैं अतः परमेश्वर में अथवा परमेश्वर के विधान में लौकिक दोष वा गुण की गुंजाइश नहीं है । इसका विशेष विचार अन्यत्र मेरे प्रबन्धों में देखें । अनेक श्रुति स्मृति से यह सिद्ध होता है कि उभयविध यह प्रकृति परमेश्वर का शरीर है "यस्याव्यक्तं शरीरम्" "यस्य पृथिवी शरीरम् यस्यविज्ञानं शरीरम्" "जगत्सर्वं शरीरन्ते" "सरित् समुद्राश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः" अव्यक्त प्रकृति जिसका शरीर है । पृथिवी जिसका शरीर है । विज्ञान जीव जिसका शरीर है । हे देव ! यह संपूर्ण जगत् आपका शरीर है । सरित् समुद्र भगवान् का शरीर है जो कुछ यह भूतवर्ग है ये सभी के सभी भगवान् के शरीर हैं इसलिये अनन्यभक्त सभी को भगवद् बुद्धि से प्रणाम करें । इत्यादिक श्रुतिस्मृति से सिद्ध होता है कि प्रकृति पुरुष महापुरुष के शरीर हैं । एवम् "अस्मान्मायीसृजतेविश्वमेतत् यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते" "गताः कालाः पञ्चदशप्रतिष्ठाः यथोर्णनाभि सृजते" ये मायी परमेश्वर सर्वाविदेव जगत् को बनाते हैं । जिस परमेश्वर से आकाशादि समस्त जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता है । ये सब कलाएं जिसमें प्रतिष्ठित हो जाती है । जैसे ऊर्णनाभि जुता कीट तंतु को बनाता है तथा स्वयं उस तंतु का विकर्षण भी करता है ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ?।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

यस्मादेवं तस्माद् हे धनञ्जय ? परिदृश्यमानविश्वबीजयोश्चेतनाऽचेतनयोरपि कारणत्वेन तत्स्वामित्वेन चाहं स्वतंत्रःशेषी परतरस्तथा दिव्यकल्याणगुणगणाश्रयत्वेनाप्यहमेव परतरः । मत्तः परतरमन्यत्किञ्चिदपि नास्ति । इदं सर्वं कार्य. कारणरूपेणावस्थितं मच्छरीरभूतं जगत् सूत्र एकस्मिन्नेव तन्तौ मणिगणा इव निखि-

यथा वा पृथिवी से अनेक प्रकार के औषधियों की उत्पत्ति तथा प्रलय होता है उसी प्रकार से अनेक प्रकार के जड़ चेतन भाव पदार्थ उस अक्षर पुरुष से उत्पन्न होते हैं और प्रलय काल में उसी परमेश्वर में विलीयमान हो जाते हैं । इत्यादि अनेक श्रुति से प्रतिपादित होता है कि सर्वेश्वर श्रीसाकेताधिपति से यह जडचिदात्मक संपूर्णजगत् सृष्टयादि में उत्पन्न होता है और उसी में व्यवस्थित रहता है और सर्वशक्तिमान् उसी परमेश्वर में संहारकाल में प्रलीयमान् हो जाता है ॥६॥

इस श्लोक से पूर्व श्लोक में कहा कि परमेश्वर से संपूर्ण जगत् की उत्पत्तिस्थिति तथा प्रलय होता है उभयविध प्रकृति द्वारा तो यहां शंका होती है कि जैसे जडचेतनात्मक प्रकृति में कारणता होने पर भी उभयविध प्रकृति के नियामक परमात्मा हैं तो वैसे ही उस परमात्मा का भी अन्य कोई नियामक उससे बडा है वा नहीं, इस शंका का निराकरण करने के लिये कहते हैं "मत्तः परतरमित्यादि" हे अर्जुन ! जिसलिए परिदृश्यमान रूप के द्वारा व्याक्रियमाण जो संपूर्ण जगत् स्थावर जंगमात्मक है तादृश समस्त जगत् का कारण लक्षण जो चेतन तथा अचेतन प्रकृति इन दोनों के कारण तथा नियामक होने से मै ही स्वतंत्र तथा शेषी हूं अतः मैं ही परतर हूं एवं दिव्य अनेक प्रकारक कल्याण गुण के आश्रय होने से मैं ही सर्वोत्कृष्ट हूं । मुझ से परतर और मदन्य कोई भी नहीं है । श्रुति भी ऐसा ही कहती है "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिक कश्चदृश्यते । परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥" 'सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः' 'प्रधानक्षेत्रज्ञ पति गुणेशः' परमेश्वर का प्राकृतिक शरीर इन्द्रिय नहीं है परमेश्वर के समान दूसरा कोई नहीं है न वा परमेश्वर से कोई बड़ा है परमेश्वर में सर्वोत्कृष्ट अनेक प्रकार की शक्ति है । इत्यादि । वे ईश्वर सभी को अपने वश में रखनेवाले हैं । प्रधान के तथा जीवों के गुणों के वे मालिक हैं' इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर से ऊपर अर्थात् उस कारण यद्वा उस परमेश्वर का नियामक अन्य नहीं है । जैसे नैयायिक के मत में जगदुपादान परमाणु का

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।८।

लाधारे मयि प्रोतमुपनिबद्धम् । आत्मतयाऽहमाधारः शरीरतया च जगत्कार्यमिति भावः ॥७

एवं चिदचित्प्रपञ्चस्य शरीरभूतस्य सर्वस्य महापुरुषात्मकत्वमभिधाय सूत्रोपनिबद्धमणिगणवच्चिदचित्परिणामरूपं जगदेतत्कथं भगवदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकमित्येतत्प्रतिपादयितुं प्रधानस्थलान्यभिधत्ते रस इत्यादि चतुर्भिः । हे कौन्तेय ! मच्छरीरभूताद्द्रव्यप्रकारत्वेन मम च प्रकारित्वात्सामानाधिकरण्येन रसस्यापि प्रकारित्वविषया सत्वादप्सु रसोऽहमस्मि रसस्यैवाप्स्थितिप्रवृत्योर्नियामकत्वाद्रसशरीरकोऽहमेवेत्यर्थः । एवमग्रेतनेष्वपि योज्यम् । शशिसूर्ययोः प्रभाऽहमस्मि प्रभाद्वारैव च चन्द्रप्रभाकरयो-

कोई कारणान्तर नहीं है यथा वा बौद्धमत में अभाव का उपादानान्तर नहीं है सांख्यमत में प्रधान का पुनः उपादानान्तर नहीं है क्योंकि अनवस्था हो जायगी । एवं वेदान्त दर्शन में सर्वेश्वर श्रीरामजी से परतम अन्य कोई कारणान्तर संभवित नहीं है श्रुति विरोध होने से कार्य तथा कारण रूप से अवस्थित तथा परमेश्वर का शरीर लक्षण संपूर्ण स्थावर जंगम लक्षण सूत्र में एक तंतु में मणिसमुदाय ग्रथित रहता है उसी प्रकार निखिल वस्तु के आधारभूत मुझ में ही सर्व विश्व ओत प्रोत है ग्रथित है, आत्मरूप होने से, अर्थात् प्रधान होने से मैं सभी पदार्थों का आधार कारण हूं और शरीर के अंग होने से संपूर्ण जगत् कार्य है । परमात्मा सकल पदार्थों के शेषी अंगी प्रधान होने से आधार हैं और संपूर्ण जगत परमेश्वर का अंगभूत होने से कार्य है यह भाव प्रकृत श्लोक का है ॥७॥

परम पुरुष के शरीरभूत समस्त चित् अचित् स्वरूप जो जगत् वह सभी महापुरुष के तादात्म्यापन्न है अर्थात् भगवान् के अंश भूत हैं इस बात को कहकर सूत्र में आबद्ध मणिगण के समान सकल चिदचित् परिणामात्मक यह जगत् किस प्रकार महापुरुषाधीन स्थितिक है इसबात का प्रतिपादन करने के लिए प्रधान प्रधान स्थल का प्रतिपादन करते हैं चार श्लोक से "रसोहमि त्यादि" हे कौन्तेय ! मेरा शरीर रूप जो जल द्रव्य है उसके प्रकार होने से और मैं प्रकारी हूं अतः प्रकार प्रकारी में तादात्म्य होने से रस के भी प्रकारी रूप से सत्ता वाला होने से जल में मैं रस स्वरूप हूं रस ही जल की स्थिति और प्रवृत्ति में नियामक है इसलिये रस-शरीरक मैं ही हूं यह अर्थ होता है जल में मैं ही रस हूं इस वाक्य का । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये । चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा अर्थात् प्रकाश स्वरूप में मैं ही हूं

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।९।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ? सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।१०।

लोकोपयोगित्वाचस्याः प्राधान्यमिति तद्रूपेणाऽहमेवावस्थित इति भावः प्रणवमूलकत्व द्वेदानां सर्ववेदेषु प्रणवोऽहमेव शब्दोपबृंहकत्वाचदाश्रयत्वाच्चाकाशस्य शब्दोऽहमेः पुरुषेषु च पौरुषं सर्वारम्भसामर्थ्यमहमेवास्मि ॥८॥

पृथिव्यां सारभूतः पुण्यो गन्धः पवित्रकारी तुलसीचन्दनादिगन्धोऽहम् ; विभावसावग्नौ तद्धारिका दाहकत्वशक्तिरहं सर्वभूतेषु शरीरधारिषु ब्रह्मादिपिपीलिकान्तेष्वहमेव प्राणनशक्तिलक्षणजीवनाधारस्तपोऽनुष्ठातृषु व्रतोपवासादिरूपतपोधर्मोऽप्यहमेव ॥९॥

हे पार्थ ! सर्वभूतानां स्थावरजङ्गमानां सनातनं बीजमुपादानकारणं मां विजा-

प्रभा प्रकाश के द्वारा ही सूर्य और चन्द्रमा की लोक में उपयोगिता है इसलिए प्रभा को ही प्रधानता है अतः सूर्य चन्द्र में प्रभारूप से मै ही व्यवस्थित हूं यह अभिप्राय है । वेद जो ऋगादिक हैं वे सभी प्रणव ओंकार मूलक हैं अतः सभी वेदों में प्रणवरूप मैं ही हूं शब्द से युक्त तथा शब्द का आश्रय आकाश के होने से आकाश का शब्द मै ही हूं । और पुरुष में पौरुष सर्वारंभ सामर्थ्य लक्षण मैं ही हूं अर्थात् पौरुष इतर सकल कारक समुदाय के नियोजन करने का जो सामर्थ्य है वह मैं ही हूं पुरुष में जो प्रवर्तकता है वह मैं हूं जिस सामर्थ्य के प्रभाव से हेयोपादेय सकल कार्य में लोग प्रवृत्त हों वह सामर्थ्य विशेष मैं ही हूं ॥८॥

पृथिवी में अर्थात् पृथिवी रूप शरीर भूत द्रव्य विशेष में पुण्य गंध अर्थात् पवित्रता का संपादक चंपक चन्दन तुलसी प्रभृति में गन्ध रूप में मैं ही हूं । एवं विभावसु अग्नि में दहन प्रकाशन शक्ति मैं ही हूं । संपूर्ण शरीर को धारण करने वाले ब्रह्मा से लेकर पिपीलिकान्त सभी भूतों में प्राणन शक्ति लक्षण जीवन भी मैं ही हूं एवं तपस्वी तप के अनुष्ठाता पुरुष में तप मैं ही हूं व्रत उपवास पचाग्नि सेवन जपादि लक्षण तप प्रधान भूत भी मैं ही हूं ॥९॥

हे पार्थ ! हे अर्जुन ! स्थावर जंगम अर्थात् चर अचर जो कोई भूत है चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन हो सभी पदार्थों का बीज उपादान कारण मैं ही हूं ऐसा समझो उब

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ! ॥११॥

नीहि। बुद्धिमतां ज्ञानजुषामध्यवसायोऽहम्। तेजस्विनाम्प्रतापवतां तेजः पराभिभव-सामर्थ्यमहमेवास्मि ॥१०॥

हे भरतर्षभ ! बलवतां शक्त्युत्साहसमन्वितानां बलस्य प्रधान्याद् बलं देह-

सर्वो का कारण प्रधान नहीं है न वा परमाणु ही है न वा अभाव है। नहीं कहो कि घटादि पदार्थों का बीज कारण तो मृत्तिका प्रभृति द्रव्य है तब परमेश्वर को उपादान कारण कैसे कहते हैं ?

उत्तर—आपका कहना ठीक है। इसलिये बीज में सनातन विशेषण दिया गया है जैसे घट का कारण मृत्तिका तो है परन्तु वह तो स्वयमेव जल में प्रक्षीयमान होने से अनित्य है और परमेश्वर जो कारण हैं, वे तो नित्य कारण हैं।

शंका—यदि आप परमेश्वर को स्थावर जगत के प्रति उपादानकारण मानते हैं तब तो उपादानकारण का गुण स्वसमान जातीय गुणान्तर को उपादेय में उत्पन्न करता है ऐसा नियम है जैसे शुक्ल तंतु से जायमान पट शुक्ल ही होता है नीलपीत नहीं होता है ऐसा हुआ तब तो परमेश्वर में रहनेवाला जो चेतन गुण है वह उसका कार्य जो स्थावरजड कार्य है उसमें समान जातीयक चेतनान्तर को पैदा करायगा तब तो जड में भी चेतनत्वापत्ति हो जायगी। अतः परमेश्वरमात्र कुलालवत् निमित्तकारण हैं उपादान कारण नहीं किन्तु उपादान कारण तो परमाणु है तब जगत् के प्रति ईश्वर को उपादान कारण गीताचार्य ने कैसे कहा ?

उत्तर—जैसे नैयायिक के मतमें द्व्यणुक का उपादान कारण परमाणु है परन्तु परमाणुगत जो रूपरसादिक है वह द्व्यणुक में रूपरसान्तर का उत्पादक होता है किन्तु परमाणु का जो पारिमाण्डल्य परिमाण है वह द्व्यणुक में सजातीय परिमाण को पैदा नहीं करता है कदाचित् उत्पादक हो तो त्रसरेणु आदि कार्य का प्रत्यक्ष नहीं होगा इस लिये आप कहते हैं कि पारिमाण्डल्य कारणगत गुण होने पर भी कार्य में सजातीयगुण को पैदा नहीं करता है तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये। हमारे मत में कार्य कारणभाव तर्क सिद्ध नहीं है किन्तु आगम सिद्ध है इस लिये कोई दोष नहीं होता है। तथा बुद्धिमान् ज्ञानवान् जो पुरुष हैं उनमें अध्यवसाय लक्षण जो ज्ञान है तत्स्वरूप मुझे ही समझो। तेजस्वी पुरुषों में जो तेज है पराक्रम है अन्य को अभिभूत करने वाला सामर्थ्य विशेष मैं ही हूं क्योंकि तेजस्वी में तेज के प्रधान होने से तत्स्वरूप भी मैं ही हूं ॥१०॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

धारणसामर्थ्यं न तु परापकारजननहेतुकं बलमत्र ग्राह्यं तस्याधर्मजनकत्वेन निषिद्धत्वात्। अत एव काम्यरागविवर्जितमिति तद्विशेषणं संगच्छते। काम्येषु विषयेषु रागस्तद्रहितं स्वशरीररक्षणमात्रोपयोगिसामर्थ्यमहमस्मि। भूतेषु मनुष्येषु धर्माविरुद्धो मन्वादिधर्मशास्त्रानुमोदितो भोग्यभूतभार्याभृतिभवनादिषु कामोस्मि ॥११॥

प्रोक्तमर्थं सर्वभावेषु निर्दिशन् प्रकृतमुपसंहरति य इति। ये चोक्तादन्ये सात्त्विका भावा हर्षानन्दादयो राजसास्तृष्णालोभादयस्तामसाः शोकमोहादयो यद्वा सात्त्विका

हे भरतर्षभ भरत के वंश में प्रधान स्वरूप अर्जुन ! बलवान् अर्थात् शक्ति उत्साह से संपन्न जो बलशाली व्यक्ति हैं उन व्यक्तियों में बल की प्रधानता होने से उनमें बल में ही हूं अर्थात् देह धारण करने का जो सामर्थ्य है जिसके अनुवर्तन होने से शरीर धारित रहता है और जिसके अभाव में शरीर धारण रूप क्रिया संपादित नहीं होती है तादृश सामर्थ्य विशेष लक्षण बल मैं ही हूं। जिस बल से अन्य व्यक्ति को अपकार हो तादृश बल यहाँ विवक्षित नहीं है परोपकार का संपादक जो बल वह तो अधर्मजनक होने से अभिचारयज्ञ के समान शास्त्र से निषिद्ध है, इसलिये काम्यरागविवर्जित है एतादृश जो विशेषण बल में दिया गया है वह भी सार्थक होता है। कामना का विषयीभूत जो पदार्थ उसमें जो राग आसक्ति विशेष तादृशराग से रहित बल स्वकीय शरीर के रक्षणमात्र में उपयोगी जो बल वह मैं ही हूं। भूत में अर्थात् मनुष्य में पुरुषार्थ साधन के जो अधिकारी हैं उनमें धर्म से अविरुद्ध मनु बौधायन याज्ञवल्क्यादि स्मृति प्रभृति से अनुमोदित ननु निषिद्ध ऐसा बल मैं ही हूं, सभी में जो भोग्यभूत कलत्रविभव भवन परिवार गो पशु हिरण्य रजतादिक में भी धर्म से अविरुद्ध काम लक्षणतया मैं ही सर्वत्र विद्यमान हूं ॥११॥

पूर्व प्रतिपादित जो अर्थ है उसे सर्वभाव में निर्देश करते हुए प्रकृत प्रकरण का उपसंहार करते हैं। अर्थात् समस्त चित् तथा अचित् है शरीर जिनका ऐसे जो परमात्मा वे ही जलादि मात्र वस्तु में प्रधानलक्षण रसादि समानाधिकरण्यतया प्रकाररूप से अवस्थित हैं तथा सभी पदार्थों के वे परमपुरुष ही नियामक हैं तथा परमात्मा के अधीन ही स्थिति प्रवृत्तिक सभी वस्तु हैं, इन सब विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद सामान्यरूप से प्रत्येक पदार्थ में उन्हीं वस्तुओं की दृढता के लिये प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं, "ये चैवेत्यादि" पूर्वकथित जो जलादिक भाव हैं उसके अतिरिक्त जो कोई सात्त्विक सत्त्वगुणाधिक हर्ष आनन्ददायिकभाव पदार्थ हैं तथा राजस रजोगुण की अधिकता है जिसमें जैसे

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् १३

देवादयो राजसा मनुष्यादयस्तामसाः सरीसृपादयो भावास्तान्मत्त एव सम्भूतान् विद्धि विजानीहि । तेष्वहं न तदधीनतया वर्तेऽपि तु ते मयि मदधीनस्थितिप्रवृत्तिकाः सन्ति । अहन्तु सर्वथा स्वतन्त्रः स्वेच्छयैव यथा सुखमवतिष्ठे यथा मे तेषां नियामकस्तथा मन्नियामकोऽन्यः कश्चिदपि नास्तीति भावः ॥१२॥

एवं जगति सर्वभावेषु सर्वावस्थाऽवस्थितः परमात्मा स्वांशभूताखिलस्थावरजङ्गमस्य नियामकः सर्वशेषी स्वतन्त्रो वर्तत इत्युक्तमिदानीं गुणप्रभावमोहितो जीवनिकायः स्वपरस्वरूपज्ञानेन वञ्चितो भवतीत्युच्यते–त्रिभिरिति । एभिः पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्गुण-

तृष्णा प्रवृत्ति लोभादिक भाव हैं एवं जो तामस तमोगुण की बहुलता है जिसमें जैसे शोक मोह भय ईर्ष्यादिभाव हैं । अथवा सात्विक देवादिक इन्द्र वरुण यम प्राजापति प्रभृति । राजस चञ्चचित्त राक्षसादिक, तामसतमोगुणाधिक पशुपक्षि सरीसृपादिक पदार्थ हैं ये सभी के सभी मुझ परमेश्वर से ही जायमान समझो । तेषु इन भावो में सात्विकादिभावों मे नहीं हूं अर्थात् इन पूर्वोक्त सात्विकादिभावो के अधीन मैं नहीं हूं, किन्तु ये सभी भाव हममें हैं अर्थात् मदधीन प्रवृत्ति निमित्तक ये सभी भाव हैं । मैं तो सर्वथा स्वतन्त्र हूं, किसी के पराधीन नहीं हूं, स्वेच्छा से ही यथावत् रहता हूं, जैसे मै इन सभी भावों का नियामक हूं, उस प्रकार मेरा नियमक कोई अन्य व्यक्ति नहीं है । श्रुति कहती है "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" यह महापुरुष परमात्मा अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है पराधीन नहीं है ॥१२॥

एवं गत प्रकरण से सांसारिक सभी जड चेतनात्मक पदार्थ में सभी अवस्था में अवस्थित परमात्मा सर्वेश्वर परमपुरुष श्री रामजी स्वकीय अंशात्मक अखिल स्थावर जंगमात्मक पदार्थमात्र के नियामक है, सभी पदार्थ जगत के शेषी हैं स्वतन्त्र हो करके विद्यमान हैं ऐसा कहा है । अब इसके बाद सत्वगुण रजोगुण तमोगुण विकारात्मक माया से विमोहित जीव समुदाय स्वकीय तथा परमात्मा के स्वरूप ज्ञान से वंचित हो जाता है इस बातको बताने के लिए कहते हैं 'त्रिभिर्गुणमयैरित्यादि ।"

अथवा नित्य तथा अनन्त कल्याण गुण के आश्रय होनेसे तथा सभी सांसारिक जडचेतनात्मक सकल पदार्थ के आधार होने से तथा परमात्मा के शरीर रूप जो जडचेतनात्मक सकल पदार्थ है उसके नियामक होने के कारण सभी पदार्थों से परमात्मा परतर हैं इस बात का कथन किया गया–प्रकान्त प्रकरण मे । इसके बाद प्रसंगवश डेढ श्लोक मे परात्पर के

मयैः सुखदुःखमोहात्मना परिणतैः सात्त्विकराजसतामसाख्यैर्भावैः सर्वमिदं प्राणिसमूहात्मकं जगत् मोहितं स्वपरस्वरूपयाथात्म्यावगमात् प्रच्याव्य विपरीतार्थग्राहितां नीतमेभ्यो गुणमयेभ्यः सात्त्विकादिभावेभ्यः परमप्राकृतदिव्यकल्याणगुणैकनिलयं प्राकृतगुणाधिकारान्तः पातिब्रह्मरुद्रेन्द्रमरुद्गणादिसेव्यचरणमव्ययमपक्षयविनाशरहितं नित्यानन्दस्वरूपं मां सर्वेषां नियामकं निरतिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोराशिं 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तादित्यादि' श्रुतिशतप्रतिपाद्यं नाभिजानाति ॥१३॥

यह भगवान् का स्वरूप है उस स्वरूप के अनवबोध का कारण लक्षण जो प्रतिबन्धक तादृश प्रतिबन्धक का कथन करके उस प्रतिबन्धक का अपगम का निदान लक्षण भगवत्प्रपत्ति का प्रतिपादन करते हैं "त्रिभि" इत्यादि श्लोकद्वय से ।

ये जो पूर्वोक्त तीनगुण सत्व रजस तथा तमस इन गुणों का विकारात्मक सुख दु.ख मोहरूप से परिणत जो सात्त्विक राजस तामस भाव अर्थात् माया उस माया से सभी यह प्राणी समुदायात्मक जगत् (यद्यपि जगत् शब्द का शक्य अर्थ जड चेतनात्मक जगत् है तथापि प्रकृत में चेतनमात्र जगत् लक्षणा से बोधित होता है क्योंकि मोहित का जो पदार्थतावच्छेदक मोह है उसका अन्वय जडात्मक जगत् में बाधित है किन्तु मोह का अन्वय चेतनात्मक जगत् में ही संभवित है इसलिये जगत् शब्द मुख्य वृत्ति को छोड करके जघन्य वृत्ति लक्षणा के द्वारा केवल चेतनात्मक जगत् का बोध कराता है इसलिये भाष्यकार ने 'सर्वमिदं जगत्' इस श्लोकस्थ जगत् पद का प्राणी समूहात्मक जगत् ऐसे अर्थ का कथन किया बाध को देख करके ।) तो प्राणी समूहात्मक जो जगत् है वह माया से मोहित है अर्थात् देव तिर्यक् मनुष्य स्थावरात्मक चेतन जगत् माया से मोहित है तो भगवान की माया से मोहित चेतनात्मक जगत् स्व तथा परमात्मा के स्वरूप विषयक जो यथार्थ ज्ञान उससे विमुखता का संपादन करके विपरीतार्थ ग्राहितार्थ ग्राहिता को प्राप्त कर जाता है । अर्थात् सभी प्राणीसमूह विवेक विकल हो जाते हैं । माया को स्वरूपाच्छादन पूर्वक विपरीतार्थ ग्राहकता का कथन विष्णुपुराणादिक में देखने में आता है तथाहि

"ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा । विष्णुमाया महावर्तमोहान्धतमसावृताः ॥"

अन्यत्र भी कहा है "प्रजापतिश्च रुद्रश्च सृजामि च वहामि च । तेपि माया न जानन्ति मम माया विमोहिताः ॥" ब्रह्मा प्रभृति सकल देवता मनुष्य पशु ये सभी जीव समुदाय विष्णु की महामाया रूपी महान् तमस से आच्छादित हैं । प्रजापति रूप प्रभृति देवताओं को भी मैं उत्पन्न करता हूं यद्यपि यह प्रजापति प्रभृतिक देवगण अन्य जीवापेक्षया महाबल पराक्रमशाली होते हुए भी मेरी माया से विमोहित होने के कारण मेरी माया को बराबर नहीं समझ करके माया के मोहावर्तों में भ्रमण कर रहे हैं । यह जो गुण विकार सात्त्विक राजस तामसभाव इन से

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।

ननूक्तभगवदाश्रयप्रतिभटाज्ञानजनकमोहापगमोपायः क इत्याशङ्कायामाह- दैवीति । दैवी लीलाप्रवृत्तेन देवेन मया निर्मितैषा मम माया विचित्रकार्यकारिणी

पर अनि उत्कृष्टदिव्य अनेक कल्याण गुणगण के आकर तथा प्रकृति जनित गुण के अविकार के अन्तर्गत ब्रह्मा महेश सर्वसंहारक मरुद्गण प्रभृति से सेवित है चरण कमल जिनका तथा अपक्षय विनाश रहित नित्यानन्द स्वरूप सभी जड चेतन के नियामक निरतिशय ज्ञान शक्ति बल वीर्य तेज के राशि एवम् आदित्य के समान भासमान माया से परे वर्तमान मेरे स्वरूप को माया मोहित जीव नहीं जान सकता है । अर्थात् मदीय माया के वशीभूत ब्रह्मादिक जीव मेरा जो वास्तविक स्वरूप हैं उसे नहीं जान सकते हैं । इसलिये ये सकल जीव समुदाय कर्माधीन हो करके संसारचक्र के अतिक्रमण करने में असमर्थ होते है । अत यथावत् मेरे स्वरूप के परिज्ञान के लिए तुम प्रयत्न करो ।।१३।।

परमपुरुष भगवदाश्रय का विरोधी जो अज्ञान तादृश अज्ञान का जनक जो मोह है उस मोह का विनाशक उपाय क्या है एतादृश मोह विनाशक उपाय के प्राप्त्यर्थ जिज्ञासाशील व्यक्तियों के लिए कहते हैं 'दैवी' इत्यादि ।

यहाँ प्रकारान्तर से अवतरण प्रकार यह है, प्रत्येक प्राणी त्रिगुण से जायमान हैं और बुद्धि इन्द्रिय देह प्रभृतिक त्रैगुण्य का कार्य मायिक हर्ष क्लेश मोहादि से मलिन होने के कारण और गुण मयी जो माया है वह अनादि अनन्त है तो इस माया का पर्यवसान तो कभी भी नहीं होगा क्योंकि स्वभाव से नियोजन अशक्य है इस शंका को दूर करने के लिये कहते हैं 'दैवी इत्यादि' ,

लोक लीला में प्रवृत्त मुझ से बनाई गई जो मेरी माया जो कि विलक्षण अनेक प्रकारक कार्य करने वाली प्रकृतिपद वाच्य है । यहाँ 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' माया को प्रकृति पद वाच्य मानो और तादृश मायावान् को महेश्वर समझो' इस श्रुति में प्रतिपादित माया शब्द को प्रकृति वाचक समझना चाहिये सदसद् से विलक्षण ज्ञान विरोधी ज्ञान विनाश्य भावाभाव विलक्षण अनिर्वचनीय को माया पद वाच्यता यद्वा प्रकृतिपद वाच्यतया ग्रहण नहीं है । एतादृश प्रकृत्यपरपर्याया जो यह माया है वह दुरत्यय है अर्थात् दुःखेन नाश करने के लायक है जिसने मेरी शरणागति को प्राप्त नहीं किया है उससे जीतने में अशक्य है । (अर्थात् सर्वेश्वर जो मैं हूं । उसकी सम्बन्धी उपदर्शित स्वरूप वाली सत्वादि गुणत्रय से जायमान लीला-

न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।१५।

प्रकृतिर्हि दुरत्यया दुरतिक्रमणीया । ये पुरुषा मां सर्वेश्वरमेव प्रपद्यन्ते शरणमवाप्नुवन्ति त एवैतां मत्सम्बन्धिनीं मायां तरन्ति ॥१४॥

एवमुपासनाङ्गभूतप्रपत्तेर्मायानिवर्तकत्वं प्रतिपाद्य दुरात्मनां तद्दौर्लभ्यमुच्यते—नेति।

विकार स्थित मुझ से बनाई गई विचित्रानेक कार्य संपादिका है इस लिये यह माया दुरत्यय है अर्थात् जो मेरे शरणागत नहीं हुआ है वह इसका कभी भी अति क्रमण नहीं कर सकता है।) इस प्रकार इस देव माया की प्रबलता तथा उसकी दुस्तरता का कथन करके उस माया का स्वाभिमत संतरण के उपाय को बतलाने के लिए कहते हैं "मामेव ये' इत्यादि । जो श्रद्धाशील पुरुष मेरी प्राप्ति के उपाय में अनन्य भावना से मुझ सर्वेश्वर शरणागत वत्सल सर्व दुःख निवारक परम पुरुष को ही प्रसन्न करता है मेरी शरणागति को प्राप्त करता है। यहाँ प्रपन्न शब्द का शरणागति ही भगवदभिप्रेत अर्थ है क्योंकि भगवत् शरणागति जो है वही एकमात्र माया के सन्तरण में उपाय है । पाञ्चरात्र में कहा है "प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोप्यकिञ्चनः। श्रद्धयापरया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेदिति। अकिंचन सभी व्यक्ति परा सिद्धि यानी मोक्ष की इच्छा करता हुआ परम श्रद्धा से युक्त हो करके करुणा वरुणालय श्रीरामजी का आश्रय लें । पुनः कहा है कि 'अनन्य साध्ये स्वाभीष्टे महा विश्वास पूर्वकम् । तदेकोपायतायाञ्चाप्रपत्तिः शरणागतिरिति ॥ अनन्य साध्य स्वकीय अभीष्ट मोक्ष में महाविश्वास पूर्वक तदेकोपाय विषयक याचना ही प्रपत्ति यानी शरणागति है । हे देव ! मैं हजारों अपराध का आलय हूं मैं अकिंचन हूं अगतिक हूं आप ही केवल उपाय बनें ! इस प्रकार की जो प्रार्थना है उसी को प्रपत्ति यानी शरणागति कहते हैं । एतादृश मेरी शरणागति में आया हुआ जो व्यक्ति विशेष है वही मेरी माया को पार कर जाता है । जब तक मनुष्य साधक भगवत् भक्ति का अवलंबन नहीं करता है तब तक चाहे कितना भी वैराग्यादि साधन से संपन्न हो तो भी स्वभावतः अबला रूप से ख्याता इस माया को पार नहीं कर सकता है और जब भगवद्भक्ति का अवलंबन करता है तब सरलतया माया को पार कर जाता है ॥१४॥

इस प्रकार भगवदुपासनाके अंगभूत जो प्रपत्ति है वही माया के विनाश करने में समर्थ है इसका प्रतिपादन करके अब जो दुरात्मा भगवत्सेवा पराङ्मुख है उसके लिये यह प्रपत्ति अति दुर्लभ है इस बात को बतलाते हैं । यहां यह अभिप्राय है कि इस उपासना

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ?।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ?॥१६॥

दुष्कृतिनः पापाचारपरायणा अत्र चतुर्विधा भवन्ति। तत्र मूढा मद्विभूतिं स्वविभूतित्वेनोपयुञ्जाना अयथावद्ग्राहिण आद्या नराधमाश्च द्वितीया आपाततो ज्ञातमत्प्रभावा अपि मत्प्रतिकूलमाचरन्तः मायया ऽपहृतज्ञाना अनादिकर्मवासनया स्वपरस्वरूपयाथात्म्यज्ञानवञ्चितास्तृतीयास्तथाऽऽसुरंभावमाश्रिताः शास्त्रीयज्ञानवन्तोऽपि प्राक्तनकर्मपरवशद्वेषवशादासुरभावाविष्टास्तुरीयाः। इमे सर्वेऽपिस्वकीयस्वाभाविकदौष्कर्म्यान्मांनैव प्रपद्यन्ते ।१५॥

एवञ्चेत्तर्हि के त्वाम्भजन्तीत्याकांक्षायामाहचतुर्विधा इति। हे अर्जुन! चतुर्विधास्तत्तत्सुकृतस्याल्पानल्पत्वप्रभेदेन चतुर्विधा एव सुकृतिनो जनाः स्वस्वेष्टसिद्धये

के प्रकरण में प्रपन्न उपयोगी उपासना के अंगभूत माया के विनाश करने में समर्थ प्रपत्ति तथा प्रपत्ति के अधिकारी कौन है इस बात को कह करके प्रसंग संगति से हेतु के समान हेत्वाभास निरूपण के समान भगवद् विमुख अनधिकारी के स्वरूपतः तथा कार्य के द्वारा प्रदर्शन करने के लिए कहते हैं 'नमामीत्यादि' हे अर्जुन! जो पापाचार में परायण दुष्कृती है वे चार प्रकार के होते हैं। उनमें जो मूढ है अर्थात् जो मेरी विभूति को अपनी विभूति के समान उपयोग करनेवाला अयथावत् ग्राही है वह प्रपत्ति का प्रथम अनधिकारी है। और आपाततः मेरे प्रभाव को जान करके भी मेरे प्रतिकूल कार्य को करनेवाला अत एव नराधम जो है वह मेरी प्रपत्ति का द्वितीय अनधिकारी है। माया से अर्थात् अनादि कर्म वासना से स्वरूप तथा परम पुरुष विषयक यथार्थ ज्ञान से जो वंचित है वह तृतीय है जो प्रपत्ति का अनधिकारी है। तथा आसुरभाव को प्राप्त किया हुआ शास्त्रीय ज्ञानवान् होते हुए भी पूर्व जन्म में उपार्जित अशुभ कर्म के बल से मुझ सर्वेश्वर में द्वेष करने के कारण आसुरभाव से आविष्ट जो है वह चतुर्थ श्रेणी का अनधिकारी है। ये पूर्वकथित चार प्रकार के व्यक्ति स्वकीय स्वाभाविक जो दुष्कर्म उसके कारण मेरी सेवा पूजा से बहिर्भूत हो करके मुझे नहीं प्राप्त करते हैं अर्थात् मेरी प्रपत्ति का जो लाभ है उससे ये भी वंचित रह जाते हैं इसलिये प्रपत्ति के हेतु यत्न करो ॥१५॥

यदि यह स्थिति है तब तो आपकी उपासना का अधिकारी कौन होगा क्योंकि प्रायः सभी व्यक्ति सांसारिक स्वार्थ कामना से ही प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं इस शंका के उत्तर में कहते हैं "चतुर्विधा" इत्यादि। हे भरतर्षभ अर्जुन! चार प्रकार के जो भक्त हैं पुण्य कर्म की अल्पता बहुलता के भेद से चार प्रकार के सुकृतशाली व्यक्ति अपनी अपनी इष्ट सिद्धि

तेषु चतुर्विधेष्वाद्यास्त्रयः सकामा अन्तिमस्त्वेको ज्ञानिभक्तो निष्कामः । आदिमेष्वपि द्वावार्तार्थिनौ बाह्यैश्वर्यादिपुरुषार्थलिप्सू तृतीयो जिज्ञासुरध्यात्मज्ञानलिप्सुरिति विवेकः सर्वेऽपीमे मदीयां प्रपत्तिमाश्रयाणा मां भजन्त्यत्र । तत्रार्त ऐहिकदुःखनिवृत्त्येऽर्थार्थी प्रनष्टैहिकद्रव्यलाभाय जिज्ञासुर्विशुद्धस्वपरस्वरूपविवेकप्रबोधाय ज्ञानी च

करने के लिये मेरी प्रपत्ति में परायण होते हैं। इन चारों प्रकार के भक्तों में से प्राथमिक जो तीन हैं आर्त अर्थार्थी जिज्ञासु ये तीनों सकाम हैं। अपनी कामना सिद्धि के लिये भगवद् भजन परायण होते हैं। और अन्तिम जो एक ज्ञानी भक्त है वह निष्काम है। उसने कामना तंतु को भगवान् में अर्पण कर दिया है। प्राथमिक जो तीन हैं उनमें से आर्त और अर्थार्थी ये दोनों बाह्य ऐश्वर्यादि लक्षण जो पुरुषार्थ है उसकी लिप्सावाले है और तीसरा जो जिज्ञासु भक्त होता है वह अध्यात्म ज्ञान विषयक इच्छा वाला होता है। सभी प्रकार के चारों भक्त मेरी प्रपत्ति का आश्रय ले करके मेरी सेवा पूजा तो करते ही हैं। उनमें सर्वप्रथम जो आर्त भक्त है वह लौकिक दुःख की निवृत्ति के लिए मेरे भजन में तत्पर रहता है जब तक वह दुःख उच्छिन्न नहीं होता है। जैसे ग्राह से गृहीत गजराज, ऐसा सुनने में आता है कि कदाचित् नैदाघिक तृषा से अभिभूत एक गजराज जल पीने की इच्छा से कमल वन सुशोभित महाह्रद में प्रविष्ट हुआ और अमृतोपम जल को पान करके तृषा को शान्त करके जब तक कमल नाल की खोज में अस्त व्यस्त था तभी उस ह्रद में रहने वाला एक महा-भयंकर ग्राह से पकड लिया गया तब अपने प्राण की रक्षा के लिए यथा शक्ति प्रयास करने पर भी जलचर उस ग्राह से जल के मध्य में खींचकर जाने लगा तब प्राणरक्षा में अन्य किसी को सहायक न देखकर अकस्मात् पूर्वभवोपार्जित सुकृत प्रभाव से परम पुरुष भगवान् की शरणागति को स्वीकार करने पर परमदयालु अकृत्रिम मित्र भगवान् ने लौकिक दुःख से उसकी रक्षा की। इस प्रकार की गाथा पुराण में है। यह प्रथम भक्त का उदाहरण है।

कोई कोई विद्वान् द्रौपदी इन्द्र प्रभृति को भी इसी प्रथम भक्त की कोटी में परिगणना करते है। यद्यपि द्वितीय भक्त के स्थान में श्लोक में जिज्ञासु का पाठ है तथापि पाठ क्रम के अपेक्षया अर्थक्रम बलवान् होता है।

यानी 'अग्नि होत्रं जुहोति, यवागूं पचति' ऐसा पाठक्रम है। परन्तु यहाँ यदि पाठक्रम को ही मानें तब तो अग्नि होत्र यज्ञ करने के बाद में अग्नि होत्र का द्रव्यरूप से साधन जो यवागू पाक है वह निरर्थक हो जायगा क्योंकि कार्य संपन्न होने के बाद में साधन की क्या आवश्यकता रहेगी तब यवागू पाक का एक अदृष्ट फलान्तर की कल्पना का दोष होगा अतः यहाँ स्थल में पाठापेक्षया उत्तरकालिक भी यवागू को अर्थ क्रम को ले करके प्राथमिकता दी

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

भगवच्छेषैतैकस्वभावं स्वरूपं मन्वानः स्वकर्तव्यतया सततमुपास्ते । स्वार्थबुद्ध्या भजन्त एवाद्यास्त्रयो मत्कृपयाऽवाप्तकामा उपासनसारभूतां ध्रुवां स्मृतिमन्ततः ममाश्रयन्त्येव ॥१६॥

निर्दिष्टेषु भक्तेषु ज्ञानिभक्तस्य श्रैष्ठ्यं दर्शयति तेषामिति नित्ययुक्तो नान्यव्यक्तिवत् स्वेष्टप्राप्तिपर्यन्तमेव मया योगवानपि तु मया नित्ययोगवान् । एवं नान्य-
ज्ञानी है ऐसा करने पर कोई दोष की संभावना नहीं होती है । इसी प्रकार प्रकृत में पाठादेशया प्रथमोपात्त भी जिज्ञासु को अर्थक्रमानुरोधेन तृतीय स्थान में और अर्थक्रमानुरोध से अर्थार्थी को द्वितीय में भाष्यकार ने समाविष्ट किया है, तात्पर्य यह कि उक्त न्याय को स्मृति पथ में रख करके भाष्यकार ने द्वितीय भक्त में समावेश किया है अर्थार्थी को । यह अर्थार्थी भक्त प्रनष्ट ऐहिक ऐश्वर्य के लाभार्थ भगवान् की शरणागती स्वीकार करता है । जैसे बालक ध्रुव । विमाता के षड्यंत्र से राज्यभ्रष्ट ध्रुव पुनः राज्य प्राप्ति के लिये भगवान् के शरणागत बने । जो व्यक्ति विशुद्ध पर स्वरूप का जो विवेक है उसके प्रबोध के लिये मेरी सेवा करते हैं वे तृतीय कोटिके जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं। जैसे जनक, भीष्मपितामह प्रभृतिक राजर्षि लोग । चतुर्थ भक्त है ज्ञानी जो कि स्वकीय स्वरूप को भगवान् के शेष लक्षण मान करके अपनी कर्तव्यता समझ करके हमेशा भगवान् की सेवा में ही लीन रहते हैं जैसे भक्तशिरोमणि वायुपुत्र श्रीहनुमानजी एवं श्री शुकदेवजी गोपी उद्धव प्रभृति का भी ज्ञानी भक्त में ही अन्तर्भाव होता है अर्थात् जो व्यक्ति विशेष अनेक जन्म से उपार्जित पुण्य समूह से मेरी कृपापात्रता का अवलंबन करके निष्काम भावना से मदीय सायुज्य की अभिलाषा से मेरे ही अनुध्यान में संलग्न रहता है वह ज्ञानी चतुर्थ कोटिका भक्त कहलाता है । यद्यपि प्राथमिक जो तीन भक्त हैं वे स्वार्थ के उद्देश्य से ही मेरे भजन में रहते हैं तथापि वे लोग अभिलषित स्वकीय स्वार्थ को मेरी कृपा से प्राप्त कर उपासना के सारभूत जो ध्रुवानुस्मृतिरूप प्रपत्ति है उसे अन्ततः अवश्य ही प्राप्त करते हैं और कारण की प्राप्ति होने से कार्यरूप सायुज्य को प्राप्त कर जाते हैं ॥१६॥

पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट कथित जो चार प्रकार, के भक्त हैं उसमें निष्काम भक्त जो ज्ञानी हैं वे सर्वापेक्षया श्रेष्ठ हैं इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "तेषां ज्ञानीत्यादि" हे अर्जुन ! उन चारों प्रकार के भक्तों में से जो ज्ञानी भक्त हैं वे श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे नित्ययुक्त हैं अर्थात् अन्य व्यक्ति के समान स्वकीय इष्ट प्राप्ति पर्यन्त ही मैं योगवाला हूँ

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हियुक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

वत् स्वेप्सितपदार्थे तत्साधनात्मके मयि च भक्तिमानपि त्वेकभक्तिरेकस्मिन् सर्वेश्वरे मय्येव भक्तिमान्। ज्ञानी तेषामुक्तानां चतुर्विधानां मद्भजनशीलानां मध्ये विशिष्यत अतिशयमवाप्नोति। अहं च ज्ञानिनो हि निश्चयेनात्यर्थमर्थमतिक्रान्तं यथा भवति तथा प्रियोऽनिर्वचनीयप्रीतिविषयोऽस्मीतिशेषः। स ज्ञानी च ममात्यर्थं प्रियोऽस्तीति शेषः ॥१७॥

ज्ञानिनः प्रियत्वातिशयं प्रतिपादयत्युदारा इति। एते पूर्वोक्ता आर्त्तादयश्चत्वार उदारा मम सर्वास्वदातार एव। तु परन्तु ज्ञानी ममात्मैव। शरीरस्येव ममधारणं ऐसा नहीं अपितु मैं नित्य योगवान हूं एवं अन्य योगी की तरह स्वकीय इष्ट की प्राप्ति में तथा स्वेष्ट प्राप्ति के साधन मुझ में भक्तिमान् ज्ञानी नहीं है किन्तु ज्ञानी एक भक्ति है अर्थात् एक सर्वेश्वर सर्वनियन्ता मुझ में ही भक्तिमान् है नतु देवान्तर में भक्तिमान् हैं। यह जो ज्ञानीभक्त है वह उक्त जो चार प्रकार के भक्त है भजनशील व्यक्ति हैं उनमें विशिष्ट है सर्व विलक्षणता को प्राप्त किये हुए हैं। मैं सर्वेश्वर भगवान् उन ज्ञानी को अतिशयेन प्रीतिमान् हूं, अर्थात् वे लोग मुझ पर अतिशयेन प्रीति रखते हैं और मैं भी उनके ऊपर प्रीति रखता हूं, परस्पर अतिशय प्रीतिमान् है तथा मैं भी उनके प्रीतिपात्र हूं। वे ज्ञानी मेरे अत्यर्थ प्रिय हैं। यह भाव है श्लोक का ॥१७॥

ज्ञानी भक्त में अतिशय प्रियत्व का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं अर्थात् "तेषां ज्ञानी विशिष्यते" इस ग्रन्थ से ज्ञानी भक्त में श्रेष्ठत्व का कथन करने से ज्ञात होता है कि तदितर जो भक्त हैं वे अधम हैं क्योंकि ज्ञानी भिन्न सभी स्वार्थी हैं परन्तु भगवद् भक्त में स्वार्थ मूलत्वेन अधमता का प्रतिपादन करना तो उचित नहीं है इसके लिए कहते हैं "उदाराः" इत्यादि। हे अर्जुन ! ये सभी पूर्वकथित जो आर्त अर्थार्थी जिज्ञासु तथा ज्ञानी भक्त हैं वे चारों ही उदार हैं अर्थात् ये सभी मुझे अपना अपना सर्वस्व समर्पण करनेवाले होने से उदार है परन्तु इन भक्तों में से जो ज्ञानी भक्त हैं वे तो मेरी आत्मा ही हैं शरीर के समान मेरा धारण स्वरूप यानी तदधीन है। हि शब्द जो श्लोक में है वह हेत्वर्थक है जिसलिये कि युक्त है मुझ में आत्मा जिनकी ऐसे वे युक्तात्मा है मदधीन स्थितिक जो ज्ञानी अनुत्तम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट गति अर्थात् प्राप्य मेरे में ही आश्रित हैं। ये आर्तादिक उदार हैं क्योंकि मेरे उपासक हैं। अनेक भव परम्परा से उपार्जित जो शुभ कर्म का समुदाय उसके बल से इन्होंने मेरी शरणागति को प्राप्त किया है ऐसा कहा है। "जन्मान्तर सहस्रेषु तपोदान

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मासुदुर्लभः ॥१९॥

तदायत्तमेवेति भावः । हि यस्माद्धिरोर्युक्त आत्मा यस्य स युक्तात्मामदेकायत्तस्थिति-स्वरूपः स ज्ञान्यनुत्तमां सर्वोत्कृष्टां गतिं प्राप्य मामेवास्थित आश्रितोऽस्तीतिशेषः ॥१८॥

सुदुर्लभज्ञानिमहिमानमभिदधाति बहूनां जन्मनां पुण्यशालिनां जन्मनामन्तेऽव-साने निखिलब्रह्माण्डनायकोनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरोऽतिरमणीयदिव्य-विग्रहवान् सर्वशेषी भगवान श्रीराम एव परात्परं ब्रह्माहं च तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्ति-कस्तच्छेष इति ज्ञानवान् सन् सर्वं परमप्राप्यप्रापकादिकं वासुदेव एव समस्तचिद-चिन्मिश्रं जगद् वासुदेव एव भगवदात्मकमेव वेति यो मां प्रपद्यत उपासते स

समाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥" हजारों जन्म परम्परा से उपा-र्जित तपदान समाधि लक्षण से जब अन्तःकरण का मल प्रध्वस्त हो जाता है तभी प्राणी के हृदय में भगवद्भक्ति का उदय होता है ।

शंका—जो स्वार्थी भक्त हैं वे तो स्वार्थ सिद्धि हो जाने के बाद आपको छोड देंगे । जैसे जलाशय के संतरण करने वाले आदमी नौका का शरण लेते हैं और जब संतरण रूप फल की प्राप्ति हो जाती है तब वे नौका को छोड देते हैं निमित्त के विनाश हो जाने के बाद नैमित्तिक का भी विनाश हो जाता है इस न्याय से । तब यह स्वार्थी भक्त कैसे उदार कहला सकता है ?

समाधान——स्वार्थ सिद्धि के लिये जिस भक्ति का उसने आश्रय लिया वह मेरी भक्ति उत्तरोत्तर सत्वगुण की विशुद्धि से स्वकीय आनन्त्यफल को देती है अतः इतर भक्तगण भी श्रेष्ठ ही है हेय नहीं ॥१८॥

पुनः सुदुर्लभ ज्ञानी की महिमा का ही कथन करते हैं 'बहूनामित्यादि' जो ज्ञानी भक्त हैं अनेक पुण्यशाली जन्म के बाद निखिल-समस्त ब्रह्माण्ड के नायक सर्वेश्वर परमपुरुष जो अनवधिक अतिशय असंख्येय कल्याणगुण के आकर-समुद्र हैं अत्यन्त रमणीय (अतिमनोरम) दिव्याप्राकृतिक शरीर को धारण करनेवाले हैं सभी जड तथाचित् पदार्थ के शेषी भगवान् साकेत-नाधिपति श्रीरामजी ही परात्पर परब्रह्म हैं मैं तो उन्हीं परम कृपालु करुणासागर के अधीन स्थितिवाला उन भगवान् का शेष हूं इत्याकारक ज्ञानवान् होता हुआ सभी परमप्राप्य पदार्थ वासुदेव रूप ही हैं अथवा वासुदेव में ही समस्त चिदचिद् मिश्रित जगत् विद्यमान है । इस प्रकार के मुझको जो प्राप्त करता है अर्थात् इस पूर्वोक्त रीति से जो मेरी उपासना करता

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

महात्मा महाध्यवसायवान् सुदुर्लभः सुतरां दुर्लभः महद्भाग्येनैव लभ्यत इत्यर्थः॥१९॥

ज्ञानिश्रेष्ठत्वाभिधानप्रकरणेऽन्यदेवताराधकानामन्तवत्फलमुपलभ्यत इत्येतत्प्रदर्शन मुखेन पुनर्ज्ञानिन एव श्रैष्ठ्यमुच्यते कामैरित्यध्यायान्तम् । तैस्तैः प्राग्भवीयवासनावशात् कामैरापातरमणीयार्थविषयकाभिलाषैर्हृतज्ञानाः सर्वजीवोपास्योऽक्षय्यफलप्रद एक एव सर्वेश्वरोऽहमित्येतज्ज्ञानरहिताः स्वया प्रकृत्या नियता अनेकजन्माभ्यस्तसंस्कार-

है एतादृश महात्मा महाअध्यवसायवान् सुदुर्लभ है-सुतरां दुर्लभ है । अर्थात् पूर्वानेक भवोपार्जित सुकृत कर्म पुंज के प्रभाव से उनकी बुद्धि मेरे आश्रय में लगती है । एतादृश भक्त महाभाग्य से ही लब्ध होते हैं पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य विशेष से ही ज्ञानी भक्त का दर्शन लोगों को प्राप्त होता है । एतावता ज्ञानी भक्त की दुर्लभता का अभिव्यंजन होता है ॥१९॥

ज्ञानी भक्त के श्रेष्ठता प्रतिपादक प्रकरण में अन्य देवता की आराधना करनेवाले उपासक को जो फल मिलता है वह फल अन्तवान् विनाशी है इस बात के प्रदर्शन द्वारा पुन ज्ञानी भक्त की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन करते हैं ।

यानी पूर्वकथित निष्काम ज्ञानी भक्त को भक्तान्तरों से वैशिष्ट्य अर्थात् श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करके स्वकीय प्रिय जो सकाम आर्तादि भक्त हैं उन तीनों भक्तों को स्वार्थ की सिद्धि हो गई तो इस निष्ठा से जिन्हें भगवान् श्रीकृष्ण अतिशय अनुराग वाले हो जाने से उपासना करने के बाद क्रमिक उन आर्तादि भक्तों को भी मोक्ष फल की प्राप्ति हो जाती है इस बात का स्पष्टीकरण करके पुनः प्रियतम जो ज्ञानीभक्त उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिये जो देवतान्तर की उपासना करते हैं उन उपासकों को अत्यल्प विनाशी फल की प्राप्ति होती है तथा तादृश फलोपभोग के पश्चात् पुनः संसार में आगमन होता है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "कामैरित्यादि" ।

पूर्व भवोपार्जित कर्म वासना के बल से तत्तत् काम से अर्थात् आपातरमणीय पदार्थ विषयक अभिलाषा से अपहृत है ज्ञान जिसका अत एव अक्षय फल देनेवाला मैं सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ही प्रत्येक प्राणी से उपासनीय हूं इत्याकारक ज्ञान से रहित वे उपासक स्वकीय नियत जो प्रकृति है उससे अर्थात् अनेक जन्म से अभ्यस्त जो संस्कार उस संस्कार से जायमान स्वभाव के अधीन हो करके मदतिरिक्त तत्तत् इन्द्रादि देवता की प्रीति को उत्पन्न करनेवाले जो मंत्र व्रत उपवास के साधक जो नियम विशेष उस नियम विशेष का आश्रय करके अन्य देव अर्थात् मदतिरिक्त

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जनितस्वभावपरवशास्तं तं तत्तद्देवतातुष्टिकरं मन्त्रव्रतोपवासमात्रकं नियममाश्रित्या- न्यदेवता मनुष्यतिरिक्ता इन्द्रादित्यकुबेरादिरूपाः प्रपद्यन्ते । न चेदं सात्त्विकजनानुगुणं कार्यमितिभावः ॥२०॥

यो यो भक्तस्तदाराध्यदेवतास्वपि सर्वान्तर्यामिणो ममैवावस्थितिरस्तीत्येवं मदीयं

इन्द्र आदित्य कुबेर वरुणप्रभृति अन्य देव की उपासना करते हैं । परन्तु जो व्यक्ति सात्त्विक गुणोपपन्न हैं उनके अनुकूल यह कार्य नहीं है । भगवान् अक्षय फल यानी मोक्ष को देने- वाले कल्पवृक्ष के समान हैं इन्हें छोडकर अर्क वृक्ष के तुल्य देवान्तर को जो कि क्षुद्र फल को देनेवाले है उनकी उपासना राजस तामस व्यक्ति ही करते है, यह तो ऐसा समझो कि पिपासित व्यक्ति तृषा अपनयन करने के लिये सुस्वादु मिष्ठ जलवाली गंगा नदी के किनारे कूप खोदे उसके समान है । ऐसा कहा भी है—

'वासुदेवं परित्यज्य योन्यं देवमुपासते । तृषितो जाह्नवी तीरे कूपं खनति दुर्मतिरिति ॥'

भगवान् वासुदेव की उपासना को छोड करके जो तदन्य की उपासना करता है वह तृषित व्यक्ति तृषा को हटाने के लिए गंगा नदी के तट पर कूआ खोदनेवाला मनुष्य के समान दुर्मति है अर्थात् महामूर्ख है । इससे यह सिद्ध होता है कि देवतान्तर की उपासना मोक्षफल को देनेवाली नहीं है किन्तु सर्व शेषी सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम की उपासना से ही मोक्ष फल की प्राप्ति होती है । अतः मुमुक्षु व्यक्ति को चाहिये कि जो वह सभी अन्यदेव की शरण को छोड करके निष्पन्न वैराग्य तथा निष्काम भाव से सर्वेश्वर श्रीसाकेतविहारीजी की शरण में अकिंचनरूप से उपस्थित हो जाय । श्रुति कहती है 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' भगवान् की उपासना को छोड करके अन्य दूसरा कोई भी उपाय मार्ग मोक्ष के लिए नहीं है । 'तरति शोकमात्मवित्' सर्व शेषी सर्वेश्वर श्रीराम विषयक ज्ञान से व्यक्ति शोक शब्द लक्षित संसार को पार करके नित्य ज्ञानानन्दात्मक भगवद्धाम श्रीसाकेत को प्राप्त कर जाता है । यहाँ विशेष विचारणीय विषय को जगद् गुरु श्रीगंगाधराचार्य प्रणीत अनन्यता निवेदन आदि पूर्वाचार्यों के दिव्य प्रबन्धों के मेरे व्याख्यानों में देखें विस्तार भय से विरत हो रहे हैं ॥२०॥

हे भगवन् ! आपने जो कहा कि मुमुक्षु को मेरा ही भजन पूजन करना आव- श्यक है देवान्तर का भजन पूजन तो तृषित व्यक्ति को तृषाशमन करने के लिए गंगातट

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥

सर्वव्यापकभावं प्राधान्यञ्चानवगच्छन् स्वाराध्यदेवताया एव च प्राधान्यं मन्वानः श्रद्धया यां यां मच्छरीरतयावस्थितां तत्तद्देवतारूपां तनुमर्चितुमिच्छति तस्य तस्य पराग्दर्शिनो भक्तस्याहं तामेव श्रद्धामचलां तस्यामेव देवतायां स्थिरां विदधामि । यस्य भक्तस्य यस्मिन्देवे स्वार्थप्रयुक्ता श्रद्धा प्रादुरभूत् तस्य तस्य तस्मिन्नेव देवे तामेव सुस्थिरां करोमि । देवतान्तरभजनेऽपि मदीयसाहाय्यमावश्यकमित्याशयः ॥२१॥

स फलविशेषेच्छुर्भक्तस्तया विलक्षणया श्रद्धया युक्त स्तस्याः स्वाभिलषित-फलप्रदानसामर्थ्येनाङ्गीकृतायाराधनं तद्देवतानुगुणविधिना पूजनादिकं सादरमनु-

में कूप खननोद्योगवत् निष्फल है तो मैं आपसे पूछता हूं कि यदि ऐसी स्थिति है तो ''स्वर्गकामो यजेत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' "आदित्यो ब्रह्म" 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादिक जो कर्म तथा उपासना प्रतिपादक वेद वाक्य है उसकी क्या गति होगी ? सभी वेद अपने प्रामाण्य को छोड देंगे तब तो सभी वर्णाश्रमादि व्यवस्था का विलोप हो जायगा । आपने ही कहा है 'न बुद्धि भेदं जनयेत्' इत्यादि वाक्यों का निर्वाह कैसे होगा । एता-दृस अर्जुन की जो शंका है उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं 'यो यो' इत्यादि ।

जो जो भक्त विशेष स्वाराध्य देवता में भी सर्वेश्वर सर्वान्त र्यामी मेरी ही अवस्थिति है इस प्रकार सभी स्थल में मेरी प्रधानता और मेरी व्यापकता को नहीं समझता हुआ अपने अपने देवता के प्राधान्य को मानता हुआ श्रद्धापूर्वक जिस जिस मेरे शरीररूप से अवस्थित तत्तत् देवता लक्षण शरीरक देवता के अर्चन पूजन की इच्छा करता है तत्तत पराग्दर्शी (बाह्य वस्तु विषयक दर्शन शील) उन भक्तों को स्वकीयाभिलषित देवता में ही मैं उनकी अचल श्रद्धा को स्थिररूप से स्थापित कर देता हूं जिससे वह भक्त उसी देवता का आराधन करता है । जिस जिस भक्त को जिस जिस देव विशेष में स्वार्थ प्रयुक्त श्रद्धा पैदा होती है उन उन भक्तों को उसी देव में उस श्रद्धा को सुस्थिर कर देता हूं । अन्य देवता के भजन पूजन में भी मेरी सहायता आवश्यक है यह प्रकृत प्रसंग का आशय है ॥२१॥

इससे अव्यवहित पूर्व श्लोक में श्रद्धा में अचलत्व का कथन किया तो श्रद्धानिष्ठ अचलत्व क्या है तो यह यही एक अमुक देवता मेरे अभिलषित धन पुत्रादिफल को देने में सर्वथा समर्थ अतः मैं जिस किसी रूप से इसी का भजन पूजन करूं इत्याकारक निश्चय का ही नाम

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजोयान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

तिष्ठति। ततस्तदाराधनान्मयैव यथाकर्मफलप्रदात्रा विहितांस्तान् कामान् समाराधन-फलभूतान् लभते। अज्ञानान्मदङ्गमेव प्राधान्येनाराध्य मत्प्रहितफलमपि लब्ध्वा सर्वेश्वरं सर्वकारणकरणं मां नैव भजते। तावतैव कृतकृत्यः सन् विहरतीति खेद इति भगवदभिप्रायः ॥२२॥

इतरदेवभक्तभगवद्भक्तयोः फलवैचित्र्यमभिदधात्यन्तवदिति। तेषां पूर्वोक्ताना-मिन्द्रादियाजिनामल्पमतीनां तदिन्द्राद्याराधनजनितं फलमन्तवद् विनाशी भवति।

अचलत्व है एतादृश निश्चित श्रद्धाशील भक्त को जिस प्रकार से देवतान्तर की आराधना करने से फल की प्राप्ति होती है उस वस्तु को कहने के लिये प्रक्रम करते हैं "स तयेत्यादि" फल विशेष की इच्छा रखनेवाला वह भक्त विशेष उस विलक्षण श्रद्धा से युक्त हो करके उस स्वकीय अभिलषित जो पशुधनादिरूप फल एतादृश फल देने में सामर्थ्य विशिष्ट उस देवता विशेष का आराधन अर्थात् तादृश देवता के अनुकूल जो विधिविधान उस विधान से (यक्षानु-रूपोबलिः" जैसा देवता तादृशपूजन विधि इस न्याय से) मदीय पूजनादि कर्म का अनुष्टान आदर पूर्वक संपादित करता है देवतोपासक भक्त विशेष तब उस देवता के आराधन करने से कर्म के अनुकूल फल को देनेवाले मेरे द्वारा विहित जो तत्तत् काम अर्थात् देवता के आराधन का फलभूत पशुधनादि को वह भक्त प्राप्त करता है। वह अन्य देवता के आराधक भक्त अज्ञान के वश हो करके मेरा अंगभूत जो तत्तत् देव उसी को प्रधानरूप से आराधन पूजनादि करके मेरे द्वारा दिया हुआ स्वाभिलषित फल को प्राप्त करके सर्वेश्वर सर्वनियन्ता सभी कारणों के निदान कारणी भूत जो मैं सर्वेश्वर हूं, उस सर्वेश्वर की सेवा नहीं करता है। वस्तुतः मुझ से ही दिये हुए फल को प्राप्त करके अपने को तादृश फल का पात्र समझ करके तथा अपने को कृतकृत्य समझ करके स्वेच्छया विहार करता है! यह बहुत बड़ा दुःख है यह भगवान् श्रीकृष्णका अभिप्राय है। मैं निरंकुश परमैश्वर्य शक्तिशाली हूं, मेरे प्रभाव से ही उन देवताओं ने अल्प फल को दिया है क्योंकि वे सब देवता मदीय परतन्त्रता से आबद्ध हैं अतः खेद प्रकटन यथार्थ है ॥२२॥

परम पुरुष से भिन्न जो देव कुबेर सूर्य प्रभृति हैं उनका जो भक्त है और सर्वेश्वर सर्वनियन्ता भगवान् का जो भक्त है इन दोनों को स्वेष्टदेव के आराधन से जायमान जो फल है उन फलों में परस्पर वैलक्षण्य के प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "अन्तवत्तु"

कुत इत्याशंकायामाह—देवान् भगवदितरेन्द्रादीन् सुरान् यजन्ति पूजयन्तीति देवयजः। इतरदेवपूजका इत्यर्थः। देवान् स्वपूजितानमरान् यान्ति। चतुर्मुखलोकपर्यन्तलोकसम्बन्धिभोगानामनित्यत्वादनित्यं स्वोपासितदेवसायुज्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। मद्भक्तास्तु मामपि मामेव। एवार्थकोऽत्रापि। यान्ति। नित्यं मत्सायुज्यमवाप्नुवन्तीत्यर्थः वक्ष्यते च भगवतैव "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गी० ८।१६) इति ॥२३॥

इत्यादि। हे अर्जुन ! वह पूर्वोक्त इन्द्रादि देव के पूजन भजन करनेवाले जो अल्पमनिक साधक हैं उन्हें इन्द्रादि देव की आराधना से जायमान जो स्वर्गादि फल मिलता है वह फल अन्तवान् अर्थात् विनाशीफल है क्योंकि श्रुति कहती है "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" जिस प्रकार इस लोक में कृष्यादि कर्म के द्वारा इकट्ठा किया हुआ द्रव्य उपभोग करने से विनष्ट हो जाता है। इसी यागादिपुण्य के द्वारा सपादित जो परलोक है वह भी उपभोग से विनष्ट होजाता है। इसी गीता में भगवान् भी कहेंगे "क्षीणेपुण्येमर्त्यलोकं विशन्ति" पुण्यकर्म के विनाश होजाने पर स्वर्ग से उतर कर मर्त्यलोक को प्राप्त कर जाता है इत्यादि प्रमाण से सिद्ध होता है कि इतर देव पूजक को जो फल प्राप्त होता है वह विनाशी अनित्य है। "स्वर्गः क्षयी सत्त्वे सति कार्यत्वात्" स्वर्ग विनाशी है सत्त्वविशिष्टकार्य होने से इस अनुमान से भी सिद्ध होता है कि स्वर्गादि फल जो कि इतर देवता आराधना का फल है वह विनाशी है। देवताराधन से जायमान जो पशु धन प्रभृतिक फल है उसमें अनित्यत्व विनाशित्व तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। हे भगवन् ! इतर देव के भजन करने से होनेवाला जो फल है वह क्यों विनाशी है इस शंका के उत्तर में कहते हैं "देवान् देवयज" इत्यादि। सर्वेश्वर परमपुरुष से भिन्न इन्द्रादिदेव का पूजन भजन करे उसे कहते हैं–देवयज अर्थात् इतरदेव पूजक। एतादृश जो देवपूजक हैं वे स्वपूजित इन्द्रादि अमरदेव को प्राप्त करते हैं। चतुर्मुखलोक पर्यन्त जो लोक है तत्सम्बन्धी भोगों के अनित्य होने से अनित्य जो स्वसे उपासित देव हैं उनके सायुज्य को प्राप्त करते हैं यह अर्थ है और हे अर्जुन ! मेरा जो भक्त है वह तो मुझे प्राप्त करता है। यहां मामपि में जो अपि शब्द है वह एवकार के अर्थ में है अर्थात् मेरे भक्त तो मेरे ही सायुज्य को प्राप्त करते है। इसी वस्तु को भगवान् स्वयमेव कहते हैं "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" हे कौन्तेय ! मुझे प्राप्त करके पुनः जन्म नहीं होता है अर्थात् जिस व्यक्ति ने परा भक्ति के द्वारा मेरे सायुज्य को प्राप्तकर लिया उसे दुःख का आलय इस संसार में पुनः जन्म नहीं होता है और जो देवतान्तर के पूजक हैं उन्हें संसार का जो आवागमन चक्र है उससे छुटकारा नहीं है ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

यदि त्वद्भक्तानां त्वत्प्राप्तिरूपमनन्तं फलमुपलभ्यते तर्हि कुतस्त्वदुपासनविमुखा भवन्तीत्यत आह अव्यक्तमिति । मम सर्वेश्वरस्याव्ययमनाद्यनन्तमनुत्तमं सर्वातिशायि परं सर्वकारणकारणं "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" 'ततस्तत्परमं ब्रह्म परमात्मा जगन्मयः । सर्वगः सर्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः' (वि० पु० १।२।२८) इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपादितं सर्वश्रेष्ठं भावं स्वरूपमजानन्तोऽत एवाबुद्धयः सदसद्विवेकबुद्धिविधुरा अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नमितः प्राक् नासीदिदानीमेवास्मदादिवत् कर्मकृतप्राकृतशरीरधारिणमिति मन्यन्ते । अतो मदाराधनपराङ्मुखा भवन्तीत्याशयः ॥२४॥

स्वविषयकाज्ञाने हेतुमाह—नेति अहं सर्वेश्वरः सर्वस्य लोकस्य स्वासाधारणस्व-

हे भगवन् ! यदि आपके भक्त को भवदीय सायुज्य रूप अनन्त (अविनाशी) फल की प्राप्ति होती है तब यह सारी दुनिया आपकी उपासना क्यों नहीं करती है ? मैं तो देखता हूं कि अनेकों व्यक्ति आपकी उपासना से विमुख हैं इस प्रकार की जो जिज्ञासा है उसके उत्तर में कहते हैं "अव्यक्तमित्यादि । सर्वेश्वर सर्व नियन्ता जो मैं हूं उसका जो अव्यय अनादि अनन्त उत्पत्ति वृद्धि अपक्षय विनाश रहित तथा अनुत्तम सभी को अति क्रमण करनेवाला अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जो परभाव सर्वकारण सर्व संपूज्य, "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" जिसके अधीन सब है सभी के ऊपर नियंत्रण रखनेवाला" वह जो परब्रह्म परमात्मा हैं जिनका सर्व जगत् अंशभूत है जो सर्वव्यापक है सर्वभूतों का मालिक है जो सर्वस्वरूप है परम-ऐश्वर्यशाली है । इत्यादि श्रुति स्मृति प्रतिपादित सर्वश्रेष्ठ मेराभाव अर्थात् स्वरूप है उसे नहीं जानते हुए अतएव अबुद्धिक अर्थात् सत् असत् विवेक बुद्धि से वंचित ये लोग अव्यक्त व्यक्ति को प्राप्त किए हुए के समान अर्थात् ये कृष्णचन्द्र इसके पहले नहीं थे अभी देवकी के गर्भ से वसुदेव के पुत्र के रूप में हम लोगों के समान ही शुभाशुभ कर्म संपादित प्राकृत शरीर को धारण किये हैं ऐसा मुझे मानते हैं । इस लिए ये लोग मुझ से पराङ्मुख हो रहे हैं । अर्थात् मेरी विलक्षण विभूति को नहीं जान करके प्राकृत मनुष्य के समान वसुदेव गृह में समुत्पन्न जान करके हमसे विमुख हैं ॥२४॥

इस श्लोक से पूर्वश्लोक में कहा कि सर्वोत्कृष्ट मेरे भाव को नहीं जान करके रूप से

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ?।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।२६

रूपेण प्रकाशस्तत्तल्लोकज्ञानविषयतां गतो नैव भवामि । स्वाप्रकाशे हेतुमाह—योगमायासमावृतः सर्वविलक्षणसामर्थ्याख्ययोगरूपमायया समावृतोऽस्मि । तस्मादयं मूढो मन्मायया मोहितो लोकः मां पारमेश्वरसामर्थ्यैश्वर्यतेजोदधानमध्ययमजन्माऽव्ययो वृद्धिक्षयादिरहित इत्येवं नाभिजानाति ॥२५॥

मदाश्रितेयं माया मदीयं ज्ञानं लोकवन्नावृणोतीत्यतोऽहं सर्वदा सर्वज्ञस्तिष्ठा·

विमुख हो रहे है तो भवद्विषयक अज्ञान में क्या कारण है वह तो नहीं बताया अतः स्वाज्ञान विषयक कारण का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं "नाह मित्यादि" मैं सर्वेश्वर सर्वनियन्ता परमात्मा सभी लोगों के स्वकीय भक्तसम्बन्धी जो असाधारण स्वरूप है उससे प्रकाश तत्तत् लोक का जो ज्ञान उस ज्ञान का विषय नहीं होता हूं । आपके स्वरूप का प्रकाश क्यों नहीं होता हैं उसमें कारण बतलाते हैं "योगमायेत्यादि" जिसलिये कि मैं योगमायासे आवृत हूं ! अर्थात् सर्वापेक्षया विलक्षण विभिन्न जो सामर्थ्य विशेष तल्लक्षण जो योगरूपी माया है उस माया से मेरा स्वरूप आच्छादित है इस कारण से ये जो मूढ लोग हैं अर्थात् मेरी माया के द्वारा विमोहित जो लोग हैं वे मेरें परमेश्वर के सामर्थ्य ऐश्वर्य तेज को धारण करते हुए भी यह श्रीकृष्ण अजन्मा हैं अक्षय वृद्धि क्षयादि से रहित है इस प्रकार ये लोग नहीं जानते हैं । योगमाया से समावृत होने के कारण । यानी माया मोहित लोग मुझे परमेश्वररूप से नहीं जानते हैं किन्तु सर्वसाधारण मनुष्य मानते हैं ॥२५॥

हे भगवन् ! 'यह दुनियां माया से आवृत है इसलिये ये यथार्थ रूप से आपको नहीं जानती है आप भी तो योगमाया से आवृत हैं तब इतर लोगों के अपेक्षया आप में क्या विलक्षणता है इसके उत्तर में कहते हैं कि मेरे आश्रय में रहनेवाली यह माया मेरे ज्ञान को अन्य लोगों के ज्ञान की तरह आवृत नहीं करती है इसलिए मैं सर्वदा सर्वज्ञ रूप से ही रहता हूं, इसी विषय को बतलाते हैं "वेदाहमित्यादि" हे अर्जुन ! अविलुप्त ज्ञानवान् मैं समतीत जो पदार्थ हो गया है वर्तमान जो पदार्थ इस समय में अवस्थित और भविष्य कालिक जो पदार्थ अनागतकाल में आनेवाला है इस प्रकार तीनों काल में अवस्थित जो चरअचर जंगम स्थावर चेतनाचेतन भगवान् के अंशात्मक पदार्थ हैं इन सभी पदार्थों को मैं जानता हूं क्योंकि कर्म के अधीन नहीं होने के कारण नित्य अनावृत ज्ञान स्वरूप होने से ("नहि द्रष्टु-

र्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" सर्वद्रष्टा जो परमात्मा उसकी जो दृष्टि ज्ञान उसका विलोप

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ?।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ? ।२७।

मीत्युच्यते—वेदेति। हे अर्जुन ! अहं समतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि चेति कालत्रयावस्थानि चराचरात्मकानि वेदाऽकर्मवश्यत्वेन नित्याऽनावृतज्ञानत्वात्। मां सर्वेषां योगक्षेमनिर्वाहाय परमसुलभमनुष्यावतारमाश्रितवन्तमपि न कश्चन वेद कर्मवश्यत्वेन मायाऽऽवृतज्ञानत्वात् ॥२६॥

सर्वभूतानां मद्विषयकज्ञानाभावे संमोहमपि कारणमस्तीत्याह—इच्छेति। हे भारत ! इच्छाद्वेषसमुत्थेनेष्टविषये प्रीतिरिच्छा तथाऽनिष्टविषयेऽप्रीतिर्द्वेषः प्राचीना-
नहीं होता है अविनाशी होने से इत्यादि श्रुतिस्मृति से सिद्ध होता है कि सर्वेश्वर परमात्मा का जो ज्ञान है वह नित्य है इसलिए सर्वदा अविलुप्त दृक्स्वभावक जो परमात्मा हूं वह सर्वदा कालत्रय में व्यवस्थित सभी पदार्थों को करामलकवत् जानता हूं। जीव जो मेरा अंगभूत है वह तो कर्मपराधीन है माया से मोहित स्वभाववाला है अतः सभी पदार्थ को सर्वदा नहीं समझता है।)

प्रत्येक प्राणी के तत्तत शुभाशुभकर्म के अनुकूल योगक्षेम के निर्वाह करने के लिये परमसुलभ मनुष्यावतार को धारण किये हुए मुझ परमेश्वर को प्रत्यक्षतः उपलब्ध करके भी यह लीला विग्रहधारी सर्वलोक कल्याण के लिये गृहीत मनुष्य शरीरक सर्वेश्वर सर्वनियन्ता परमात्मा हैं इस रूप से हमें कोई नहीं समझना है क्योंकि ये सभी जीव राशि कर्म साम्राज्य के अधीन हैं माया से इन सभी व्यक्तियों का ज्ञान आवृत है। इसलिए यथावत् ये लोग हमें नहीं समझ रहे हैं ॥२६॥

सभी प्राणी को मद्विषयक ज्ञान नहीं होता है इसमें कारण है संमोह तो उस संमोह को बतलाने के लिए भगवान् कहते हैं। यानी हे भगवन् ! आप सर्वज्ञ तथा नित्य ज्ञानवान् होने से सभी पदार्थ को सर्वदा करामलकवत् समझते हैं जीव नहीं समझता है इसका क्या कारण है। जब कि ये सभी जीव आपके अंशरूप ही हैं और आप सर्वशेषी हैं तो अंशांशी में तो तादात्म्य होता है अतएव "मृद्घटः शुक्लो घटः" एतादृश समानाधिकरण्य व्यवहार होता है यदि कदाचित् अंशांसी में भेद मानें तब तो 'गोरश्वः' इस व्यवहार के समान 'मृद्घटः' यह व्यवहार भी बाधित विषय हो जायगा। तब जब आपका अंशस्वरूप जीव को क्यों नहीं यथावत् सर्वविषयक ज्ञान होता है इस प्रकार की अर्जुन की जो शंका है उसे लक्षितकर के जीव को सर्वविषयक ज्ञानाभाव में कारण संमोह है उस ज्ञानाभाव का कारणीभूत संमोह को बतलाने के लिये कहते हैं "इच्छेत्यादि"

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

नन्तजन्मानुभूतेच्छाद्वेषाभ्यां समुत्थेन शीतोष्णादिद्वन्द्वविषयकमोहेन सुखदुःखानुराग-विरागव्यापृतचित्तवैकल्येन सर्वभूतानि सर्गे स्थूलदेहधारणसमय एव संमोहं स्वप-रस्वरूपविवेकवैधुर्यात् स्वदेहाभिमानमाप्नुवन्ति । ततः सर्वान्तर्यामिणं मां सर्वशेषि-णमविज्ञाय न प्रपद्यन्त इति भावः । भारतपरन्तपेति सम्बोधनाभ्यां क्षत्रियश्रेष्ठभरत-वंशोद्भवत्वात् स्वयं च शत्रुतापकत्वात्त्वयैतत्सम्मोहो न भवितुमर्हतीति सूच्यते ॥२७॥

सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति चेन्न केऽपि त्वां भजेरन्नित्यत आह—येषामिति । येषां

हे भारत भरतवंश में समुद्भुत अर्जुन ! भारत इस प्रकार के सम्बोधन से भगवान् यह व्यक्त करते हैं कि प्रश्न के अनुकूल जो मेरा जीव के ज्ञानाभाव का कारण विषयक सूक्ष्म बुध जन गम्य उत्तर होगा उसे समझने की क्षमता आपमें है तो आप स्वकीय प्रश्न के अनुकूल उत्तर सुनें। क्या वह सूक्ष्म उत्तर है तो उसका कथन भगवान करते हैं "इच्छा" इत्यादि ग्रन्थ से । इच्छा तथा द्वेष से समुत्पन्न उसमें इष्ट अर्थात् अभिलषित वस्तु विशेष विषयक जो प्रीति उसे इच्छा कहते हैं और अनिष्ट अनभिलषित वस्तु विशेष विषयक अप्रीति को द्वेष कहते हैं। प्राचीन जो अनंतजन्म उस अनंत जन्म में अनुभूत जो इच्छा तथा द्वेष उस इच्छा द्वेष से समुत्पन्न जायमान जो शीत उष्णादि पदार्थ विषयक मोह विशेष अर्थात् सुख में राग दुःख में विराग उस राग विराग से व्यापृत संसक्त चित्त की विकलता उस विकलता के कारण सभी प्राणी सर्ग में स्थूल षाट्कौशिक शरीर के धारण समय में ही संमोह को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् स्वकीय तथा परकीय स्वरूप का जो विवेक यथावत् ज्ञान उस की विकलता से जायमान स्वकीय देहेन्द्रिय के साथ जो तादात्म्याभिमान (मैं मनुष्य हूं मेरी इन्द्रियाँ हैं इस देह इन्द्रिय के रक्षण से मेरा रक्षण होगा इसकी विकलता में मै विकल होऊंगा इत्यादि स्वरूप) को प्राप्त कर जाते हैं। एतादृश देहाद्यभिमान के कारण सर्वान्तर्यामी मुझे मैं ही सभी का शेषी अंगी हूं इस बात को नहीं जान करके मेरी शरणा गति को नहीं स्वीकारते हैं। अर्थात् मेरे स्वरूप को यथावत् नहीं समझना ही सर्वानर्थ का कारण होता है। भारत तथा परन्तप इन संबोधन के द्वारा क्षत्रियों में श्रेष्ठ भरत वंश में उत्पत्ति होने से तथा आप स्वयं भी शत्रु के तापक हैं अतः आप को एतादृश संमोह उचित नहीं है इस विषय का सूचन भगवान् अर्जुन के प्रति करते हैं, अर्थात् आपको यह संमोह उचित नहीं है ॥२७॥

हे भारत ! सर्ग के आदि काल से ही देहाभिमान लक्षण संमोह ग्रस्त प्राणी हो जाता

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।२९।

प्राक्तनपुण्यकर्मणां जनानां मत्प्रपत्तिप्रतिबन्धकं पापमन्तगतमस्तं यातं ते सुकृताचारपरायणा द्वन्द्वमोहान्निर्मुक्ताः शीतोष्णादिविषयकमोहादिनिर्मुक्ताः सन्तोमां सर्वाभीष्टदातारं प्रणतकल्पपादपं सर्वापन्निवृत्तयेऽपरिमितसम्पत् प्राप्तये च दृढनिश्चयाः सन्तोऽनन्यभावेन भजन्ते ॥२८॥

अथैनेषां भक्तानां कर्तव्यफलमुपदिशतिजरामरणमोक्षायेति द्वाभ्याम् । ये मद्भक्ता जरामरणत्रासविनाशाय स्वकीयविशुद्धस्वरूपावाप्तय इति यावत् । मां प्रपद्य यतन्ति है तब तो आपका भजन सेवन कोई भी नहीं करेगा तब जो आपने कहा है कि चार प्रकार के मेरे भक्त होते हैं उनमें से कोई सकाम होते है और कोई निष्काम होते हैं तो आपके कथन में परस्पर व्याघात जैसा प्रतात होता है और भगवान् के वचन में तो व्याघात नहीं होना चाहिये क्योंकि अनृतादि वदन का कारण जो अज्ञानादिक है उससे भगवान् परे होते है एतादृश अर्जुन की शंका को लक्षित करके कहते हैं "येषामित्यादि" हे अर्जुन ! जो महापुरुष पूर्वनिक जन्म में संचित पुण्य कर्मवाले है उनको मेरी प्रपत्ति में प्रतिबन्धक जो अशुभ पापकर्म हैं उसका विनाश हो गया है (पूर्व संचित पुण्य कर्म से "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" पाप कर्म के क्षय हो जाने से पुरुष के अन्तः करण में ज्ञानोत्पत्ति होती है-इत्यादि वचन से सिद्ध होता है कि जहाँ तक पाप कर्म है तब तक शुभ कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती है ।) एतादृश व्यक्ति इस जन्म में सुकृताचार में परायण होते हुए द्वन्द्व मोह से विनिर्मुक्त हो करके अर्थात् शीतोष्णादि विषयक मोह आसक्ति से रहित होकर वे लोग सभी अभीष्ट फल के दाता एवं शरणागत व्यक्ति के लिए कल्पवृक्ष के समान फल प्रद मुझे सभी प्रकार की विपत्ति को हटाने के लिए तथा अपरिमित संपत्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए दृढव्रत अर्थात् दृढ निश्चय वाले हो करके मुझ परमेश्वर की अनन्यभाव से अर्चन पूजनादि प्रकार से सेवा करते हैं । तात्पर्य यह कि पूर्वजन्म संचित पुण्य कर्मों के बल से जिन महापुरुषों का पाप विनष्ट हो गया है वे व्यक्ति विशेष अनन्यभाव से सर्वेश्वर सर्व शरण्य सर्वफल प्रद मुझ को भजते हैं तथा सभी पाप नाश तथा शुभप्राप्ति के लिए अनन्यभाव से मेरी सेवा करते हैं ॥२८॥

इसके बाद इन आर्तादि भक्तों को कर्तव्यकर्मों का क्या फल है उसका उपदेश करते हैं "जरामरणमोक्षाय" इत्यादि दो श्लोकों से । हे अर्जुन [illegible] जो मेरे भक्त जरा वृद्धावस्था मरण उपात्त शरीर का त्याग [illegible] जो [illegible] भय का विनाश करने के लि

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

मदाराधनात्मकेषु फलकामनारहितेष्वेव कर्मसु प्रयत्नं विदधते । ते हि भक्तास्तत्परिज्ञेयं ब्रह्म कात्स्न्येंनाध्यात्ममखिलं कर्म च विदुः । त एव हेयोपादेयवस्तुज्ञानसमन्विता इत्यर्थः ॥२९॥

ये च पुनरधिभूताधिदैवाधियज्ञैः सह मामेवावगच्छन्ति ते सर्वेऽपि च शरीरावसाने मामेव ध्यायन्तोऽवगच्छन्तश्च मद्भक्ता मयि संलग्नमनसः स्वेष्टफलसिद्धये स्वरूपगुणविभूतिसमन्वितं मां विदुः । अत्र संक्षेपेणोद्दिष्टानां सप्तानामपि विवेचनमुत्तराध्यायेऽर्जुनप्रश्नानन्तरमुत्तरतया स्वयमेव विधास्यति भगवान् श्रीकृष्णः ॥३०॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताया श्रीमदानन्दभाष्ये विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ७ ॥

तथा विशुद्ध कर्मात्मक उपाधि वर्जित स्वकीय जो स्वाभाविक नित्य ज्ञानानन्दात्मक स्वरूप एतादृश स्वरूप की प्राप्ति के लिए मुझे आश्रित करके अर्थात् मेरी शरणागति में आकरके (मेरी प्रपत्ति को स्वीकार करके) प्रयत्न करते हैं अर्थात् मेरी जो आराधना तत्स्वरूप फल की जो कामना उससे रहित होकर कर्म मात्र में प्रयत्न करते हैं वही भक्त विशेष परिज्ञेय जानने के योग्य जो ब्रह्म है उसे संपूर्ण रूप से यथावत जानते हैं तथा अध्यात्मादि भेद भिन्न निखिल कर्म को भी जानते हैं अर्थात् वही भक्त विशेष हेय तथा उपादेय पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान से समन्वित होते हैं । अन्य कोई नहीं होता है ॥२९॥

उन भक्तों को ज्ञातव्यान्तर विषय को बतलाते हैं "साधीत्यादि" हे अर्जुन ! जो भक्तशिरोमणि अधिभूत अधिदैवयज्ञ के साथ साथ मुझ सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा को जानते हैं वे सभी भक्त अपने अपने शरीर के अवसान मरण के समय में मेरा ही ध्यान करते हुए मुझे यथार्थरूप से जानते हैं । मेरे भक्त जो हैं वे मुझ में ही संलग्न मनवाले होते हैं, अतः स्वकीय इष्ट फल की सिद्धि के लिए स्वरूप गुणविभूतियों से युक्त मुझ परमेश्वर को जानते हैं । यहाँ संक्षेपरूप से कथित सातों विषयों का विवेचन आठवें अध्याय में अर्जुन के प्रश्न के उत्तर रूप में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयमेव प्रतिपादन करेंगे ॥३०॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे सप्तमोऽध्यायः

श्रीरामः शरणं मम

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

卐 अथाष्टमोऽध्यायः 卐

卐 अर्जुन उवाच 卐

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ?।
अधिभूतं च किम्प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ?।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।२।

एवं परमात्मोपासनस्य साक्षात्परमपुरुषार्थसाधनत्वं तदनुष्ठातुश्च सर्वेभ्य उत्कृष्टत्वमभिधाय तत्फलस्यानन्त्यं प्रसङ्गाद् देवतान्तराराधनस्यान्तवत्फलप्रापकत्वञ्चोपदिश्योपादेयार्थः समग्राहि । अध्यायान्ते च जरामरणमोक्षायोपयोगिनो ज्ञेयत्वेनोद्दिष्टाः सप्तपदार्थास्तेषां ब्रह्मानुध्याने सहकारितयास्वरूपविज्ञानमावश्यकमिति भगवद्वचनमाकर्ण्य तत्त्वबुभुत्सुरर्जुन उवाच । स्वजिज्ञास्यमर्थं शब्दतः प्रकटीकरोति किमिति द्वाभ्याम् हे पुरुषोत्तम ! ब्रह्माध्यात्मादिकं ज्ञातव्यतया त्वयोक्तम् तत्परिज्ञातुकामोऽहं सानुनयं पृच्छामि तद्ब्रह्म किमुच्यते ? अध्यात्मशब्देन किमभिधीयते ? कर्मपदबोध्यं किम् ? भूताधिदैवशब्दाभ्यां किमुच्यते ? हे मधुसूदन ! अस्मिन् देहेऽधियज्ञपदार्थः

गत प्रकरण से परमात्मा सर्वेश्वर सर्व नियन्ता परमपुरुष की जो उपासना है वही साक्षात् पुरुषार्थ मोक्ष का साधन है तथा तादृश साधन का अनुष्ठाता जो साधक है वह उन सबों की अपेक्षा उत्कृष्ट है यह कह करके तादृश उपासना से जो फल मोक्ष प्राप्त होता है वह अनन्त फल है एवं प्रसंग से यह भी कहा गया कि देवतान्तर की जो आराधना है वह अन्तवत् फल की देने वाली है यह कह करके उपादेय पदार्थ का प्रतिपादन किया गया है । अध्याय के अन्त में जरामरण से विमुक्ति के लिए उपयोगी ज्ञेयरूप से सातपदार्थ का उपदेश दिया गया । उन सातों पदार्थों के भगवान् के अनुध्यान में सहकारी होने से इन सात पदार्थों का स्वरूप विज्ञान आवश्यक है इस प्रकार के भगवान् के वचन को सुन करके तत्त्व को जानने की इच्छावाले अर्जुन बोलते हैं—अर्जुन उवाच । अर्जुन से जिज्ञासित जो अर्थ विषय उसे शब्द के द्वारा प्रगट करते हैं "किं तद्ब्रह्मेत्यादि" श्लोक दूसरे । हे पुरुषोत्तम ! आपने ब्रह्म अध्यात्म प्रभृति पदार्थ को ज्ञातव्यरूप से कथन किया है उन वस्तुओं को जानने की इच्छावाला मैं अनुनयपूर्वक आपसे पूछता हूं कि वह ब्रह्म वस्तु क्या है ? और अध्यात्म शब्द से किस पदार्थ का

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

केन प्रकारेण कोऽवगन्तव्यः नियतचित्तैर्देहत्यागसमये च कथं केन प्रकारेण ज्ञातव्योऽसि ? ॥१॥२॥

सप्तानां प्रश्नानाम्मध्ये पूर्वपूर्वोपात्तानां त्रयाणां क्रमेणोत्तरं श्रीभगवानुवाच—अक्षरमिति । त्वया पृष्टं तद्ब्रह्म किमिति । तत्परमं प्रकृतेः परं ब्रह्माक्षरमेव न क्षरतीत्यक्षरं "अव्यक्तमक्षरे लीयते" इति श्रुतिबलात् प्राप्यतया ज्ञेयमविनाशि प्रत्यगात्मस्वरूपम् । एवं परमात्मसाधर्म्यादुपचारतया ब्रह्मशब्दवाच्यं प्रत्यगात्मस्वरूपमभि-

कथन होता है ! और कर्मपद से बोध्य क्या वस्तु है ? और अधिभूत अधिदैव शब्द से क्या कहा जाता है । (किस पदार्थ का कथन होता है ।) हे मधुसूदन ? इस देह में अधियज्ञ पदार्थ क्या है । तथा वह अधियज्ञ पदार्थ किस प्रकार से ज्ञात होता है । स्ववशीभूत चित्त है जिसका ऐसे जो योगी लोग उनसे देह त्याग के समय में किस प्रकार से आप जानेजाते हैं । इस प्रकार सात पदार्थ विषयक पृथक् पृथक् रूप से सात प्रश्न अर्जुन ने भगवान् से पूछा ॥१॥२॥

अर्जुन के द्वारा पूछे गये जो सात प्रश्न हैं उनमें से पूर्व पूर्व कथित (अर्थात् प्रथमतः तीन प्रश्नों का उत्तर देते हैं) जो तीन प्रश्न हैं उन तीन प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा "अक्षरमित्यादि" हे अर्जुन ! आपने पूछा कि वह ब्रह्म क्या है यह आप का प्रथम प्रश्न है इसका उत्तर यह है कि अक्षर ही परं ब्रह्म है । पर अर्थात् प्रकृति से पर ब्रह्म अक्षर है जो क्षरण विनाश क्रिया को न प्राप्त करे उसे अक्षर कहते हैं अर्थात् क्षेत्रज्ञ जीव के समुदाय रूप, श्रुति कहती है "अविनाशी वारेऽयमात्मा" यह आत्मा विनाश रहित है । "अव्यक्तमक्षरेविलीयते अक्षरं तमसि विलीयते" अव्यक्त अक्षर में विलीयमान होता है और अक्षरतम में विलीयमान होता है" भाष्यकार भगवान भी कहते है "अव्यक्तमक्षरे विलीयते" अव्यक्त अक्षर में विलीय मान हो जाता है इत्यादि श्रुति के बल से प्राप्य रूप से ज्ञेय अविनाशी प्रत्यगात्म स्वरूप अक्षर ही ब्रह्म पद बोध्य है । यद्यपि अक्षर पद का शक्य अर्थ तो प्रकृति अवस्था विशेष से विशिष्ट चेतन ही है तथापि परमम् इस विशेषण के बल से प्राकृतांश को छोड़ करके आत्मस्वरूप को ज्ञेय रूप से कहा गया है । यह प्रथम प्रश्न का उत्तर कहा गया । परमात्मा के साथ ज्ञानत्व रूप से साधर्म्य होने से उपचार गौण रूप से ब्रह्म शब्दबोध्य [illegible] का कथन कर के [illegible] बाद [illegible] हेयरूप से ज्ञेय जानने के लिए

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥४॥

थाय त्याज्यतया ज्ञेयमध्यात्मपदवाच्यमाह—स्वभावः प्रकृतिस्तद्वासनादिकं च कर्मप्रयुक्तात्मसम्बद्धत्वेनाध्यात्ममुच्यतेऽभिधीयते । अथोद्वेजनीयत्वेन परिहरणीयत्वेन च ज्ञेयं कर्मोच्यते—भूतानां भावो भूतभावस्योद्भवकरो मनुष्यादिदेहयोगोत्पत्तिकरो विसर्गः पञ्चाग्निविद्योक्तहोमयागादिः कर्मसंज्ञितः ।३।

अथैश्वर्यकामैः प्राप्यत्वेन ज्ञेयमधिभूतपदवाच्यमभिधीयतेऽधिभूतमिति । हे देहभृतां देहधारिणां मध्ये वर श्रेष्ठ अर्जुन ! क्षरन्तीति क्षरा विनाशशीलाः स्वाश्रयस-

अध्यात्म पद का जो वाच्य वस्तु है द्वितीय प्रश्न का विषय उसे बतलाने के लिये कहते हैं स्वभाव इत्यादि । स्वभाव को अध्यात्म कहते हैं । यहाँ स्वभाव शब्द का अर्थ है प्रकृति तथा वासनादिक वस्तु इसे कर्म प्रयुक्त जीवात्म संबन्ध होने से अध्यात्म शब्द से कथन किया जाता है । इसके बाद उद्वेजनीय दुःखप्रद होने से तथा परिहरणीय हेय होने से यह भी ज्ञेय है अर्थात् कर्मपद वाच्य को कहते हैं भूतभाव इत्यादि । भूत का जो भाव अर्थात् जड़ चेतनात्मक जो पदार्थ उसका भाव सत्व उसकी उत्पत्ति जो करें वह हुआ भूत भावोद्भवकर तथा विसर्ग पंचाग्नि विद्या प्रकरण पठित होम यागादि रूप है वह कर्म पद वाच्य है । छान्दोग्य श्रुति में कहा है पांचमी आहुति में यह जल पुरुषाकार हो जाता है उसी प्रकरण में योषित् रूप अग्नि में शुक्र का हवन किया जाता है उस आहुति से गर्भ होता है इस प्रकार से होम का विधान है एवं देवताओं को उद्देश करके हव्य चरु पुरोडासादिका जो त्याग उसे याग कहते हैं इस प्रकारक जो विसर्ग है इसका नाम कर्म है । एतादृश जो कर्म संज्ञक विसर्ग उसका ज्ञान होना भी आवश्यक है क्योंकि अज्ञात पदार्थ का ज्ञान त्याग असंभवित है क्योंकि अभाव ज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान कारणता रूप से रहता है विसर्ग भी त्याज्य कोटि में है अतः उसका ज्ञान आवश्यक है । विशेषरूप से छान्दोग्योपनिषदानन्दाभाष्य तथा मेरी टीका भाष्य प्रकाश में इस विषय को देखें । तात्पर्य यह कि होम यागात्मक विसर्ग बारं बार संसार जनक है अतः त्याज्य है यह उपदेश है ॥३॥

अब इसके बाद ऐश्वर्य की कामनावान् पुरुष से प्राप्य होने के कारण जानने के योग्य अधिभूत पद से वाच्य पदार्थ क्या है उसे बतलाते हैं "अधिभूतमित्यादि" अर्थात् चौथा जो प्रश्न था उसके उत्तर में कहते हैं देहधारण करने वालों में श्रेष्ठ हे अर्जुन ! क्षर जो भाव है उसका नाम है अधिभूत क्षरण जिसका हो [illegible] क्योंकि विनाशशील है [illegible]

हिताः शब्दादयः अत्राकाशादिभूतानां सम्बन्ध एव शब्दादीनामधिभूतशब्दनिर्देशे हेतुः । पुरुषश्चैश्वर्यकामैः प्राप्यत्वेन ज्ञेयां भोक्तृत्वावस्थामवाप्तो जीव एवाधिदैवतम्। इन्द्रादिदेवताभोग्यविलक्षणशब्दादिभोक्तृत्वेन हेतुनेन्द्रादिदेवतानामुपरिवर्त्तमानत्वमेव जीवस्याधिदैवतशब्दनिर्देशे हेतुः । अहं सर्वेश्वर एवात्रास्मिन् देहेऽधियज्ञः । यज्ञेशराध्यत्वेन वर्त्तमानत्वमेव भगवतोऽधियज्ञशब्दनिर्देशे हेतु आह च भगवती श्रुतिः "यज्ञो वै विष्णुः" इत्यादि ॥४॥

से युक्त जो शब्द स्पर्श रूप रस गन्धात्मक पदार्थ वही जो उत्पाद विनाशशील अधिकरण सहित शब्दादिक विषय है इसी का नाम है अधिभूत यहाँ आकाश वायु तेज जल पृथिवी लक्षण भूतों का जो सम्बन्ध है यही शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध के अधिभूत शब्द के निर्देश में कारण है । अब दैवम प्रश्न का उत्तर देते हैं "पुरुषश्चाधिदैवतम्" ऐश्वर्य की जो कामना तादृश कामना के द्वारा प्राप्यस्वरूप से जानने के योग्य भोक्तृत्वावस्था को प्राप्त किया हुआ जो जीवात्मा वही पुरुष अधिदैवत शब्द का वाच्य है । इन्द्रादि देवता भोग्य विलक्षण जो शब्दादि है उस के भोक्ता हैं इस हेतु से और इन्द्रादि देव के ऊपर विद्यमानता ही जीव के अधिदैवत शब्द के निर्देश में कारण है । अर्थात् देवताओं को अधिकृत करके जो रहे उसका नाम है अधिदैवत एतादृश अधिदैवत शब्द वाच्य यह पुरुष है यह पुरुष अक्ष्यादि स्थान नेत्रादिक में रहनेवाला जो आदित्यादिक देव विशेष हैं उन देवों के अपेक्षया विलक्षण है तत् तत् भोग के अधिष्ठाता होने से स्वर्ग मोक्ष कामनावान् व्यक्तियों से ज्ञातव्य होता है और एतादृश भोग के अधिष्ठाता पुरुष के अधीन यह समस्त शरीर तथा इन्द्रिय समुदाय है इसलिए यह पुरुष जीव अधिदैवत शब्द से निर्दिश्यमान होता है । यह पञ्चम प्रश्न का उत्तर हुआ । इसके बाद छठे प्रश्न के उत्तर में कहते है "अधियज्ञोऽहमित्यादि" में जो सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी परमात्मा हूं वही अधिकारी के इस देह में वर्तमान होने से अधियज्ञ शब्द से बोधित होता हूं । यज्ञ के द्वारा आराध्यरूप में वर्तमानता ही सर्वेश्वर श्रीराम को अधियज्ञ शब्द से निर्देश करने में कारण है । श्रुति भगवती भी कहती है "यज्ञो वै विष्णुः" भगवान् विष्णु परमात्मा ही यज्ञ स्वरूप हैं । अर्थात् देह में अधियज्ञ शब्द से मैं सर्वेश्वर ही व्यपदिष्ट होता हूं, क्योंकि यज्ञ को अधिकृत करके अधिकारी के द्वारा देह में आराध्यमानतया तत् तत् देह इमें अन्तर्यामीरूप से रहने के कारण अधियज्ञ मैं भी सर्वेश्वर मैं हूं । यद्वा यज्ञ के द्वारा आराधित होते हैं इन्द्रादिक मन्त्र देव । उन देवों में जो फलप्रदान शक्ति है वह मदधीन है अतः सर्वान्तर्यामी होने से मैं ही सर्वत्र अधियज्ञ हूं । यह छठे प्रश्न का उत्तर भगवान् ने दिया है ॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।५।

क्रमप्राप्तमप्तमप्रश्नस्योत्तरमाह–अन्तकाल इति । यः पुमानन्तकाले प्रारब्धदेहावसाने मां सर्वेश्वरं सर्वस्यात्मानमनुध्यायन् निजकलेवरं हित्वा देवयानपथा प्रयाति

क्रम प्राप्त सप्तम प्रश्न का उत्तर कहने के लिये प्रक्रम करते हैं अर्थात् इसके पहले छ प्रश्नों का उत्तर अक्षर प्रभृतिक छ पदार्थ के जो स्वरूप है उसका विवेचन पूर्वक उन पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए कथन करके उन गत विचारों का प्रयोजन रूप परमोपादेय इस सप्तम प्रश्न का उत्तर कहते हैं "अन्त काले" इत्यादि, सर्व पुरुषार्थ में श्रेष्ठ जो मोक्ष उसकी अभिलाषा करनेवाला जो पुरुष अधिकारी विशेष वह अन्तकाल में यानी प्रारब्ध कर्मफल भोग के लिये उपात्त जो अंतिम शरीरेन्द्रिय संघातात्मक देह है उसके अवसानकाल में मुझ सर्वेश्वर यानी प्रत्येक प्राणी का आत्मभूत मुमुक्षु व्यक्ति के लिए कल्पवृक्ष के समान मनोभिलषित फल देनेवाले मुझ परमात्मा का स्मरन् अनुध्यान करता हुआ स्वकीय कलेवर शरीर को छोड करके जाता है अर्थात् विद्याभ्यास से लब्ध जो महापुरुष की प्रसन्नता उसके बल से देवयान मार्ग से अर्थात् मूर्धन्य नाडी से निकलकर अर्चिरादि मार्ग से श्रीसाकेतधाम के प्रति गमन करता है वह अधिकारी पुरुष मेरे भाव को यानी गुणाष्टक के आविर्भाव होने से मदीय सायुज्य का लाभ करता है ननु मेरे स्वरूप से एकता को प्राप्त करता है। मेरे भाव को प्राप्त करता है। अर्थात् वह मेरा चिन्तकपुरुष मेरे भाव को यानी प्राकृत नाम रूप विवर्जित ज्ञानरूप से मेरा जो नित्य निरवद्य दिव्य अनेक गुणार्णव स्वरूप है उसका साधर्म्य अर्थात् औपाधिकधर्म का परित्याग करके आविर्भूत गुणाष्टक यानी स्वकीय वास्तविक ज्ञान स्वरूपता को प्राप्त करता है न तु मेरे स्वरूप के साथ एकता को प्राप्त करता है।

इस विषय में गूढार्थदीपिकाकार ने यह विचार व्यक्त किया है कि वह उपासक शरीर त्याग के बाद भगवान् की सायुज्यता को नहीं प्राप्त करता है किन्तु भगवान् के साथ निर्गुण ब्रह्म मात्र तादात्म्य को प्राप्त कर जाता है— "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्म रूप हो करके ब्रह्म में अर्पित हो जाता है उसका प्राणोत्क्रमण नहीं होता है इत्यादि श्रुति को अनुसर करके ब्रह्म तादात्म्य को ही मद्भाव प्राप्ति का अर्थ बतलाया है। वह गीताचार्य के वचन विरुद्ध होने से त्याज्य है क्योंकि स्वयमेव भगवान् ने कहा है "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" इस

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥६॥

स मद्भावमाविर्भूतगुणाष्टकः सन् मत्सायुज्यं प्राप्नोति न तु मत्स्वरूपैक्यम् अत्रार्थे न कश्चिदपि संशयः निःसंशयं निःश्रेयसमवाप्नोतीति भावः, प्रपञ्चितश्चायमर्थोऽस्माभिर्ब्रह्ममीमांसाया दहराधिकरणीयभाष्ये–भगवद्भावापत्तावात्मनो यथास्वरूपावस्थितिरिति ॥५॥

अन्तकालिकस्मरणसमनन्तरजन्मनि साधारणनियमं दर्शयति–यमिति । हे कौन्तेय ! अन्तकाले यं यं वापि भावं देवमनुष्यादिस्वभावं स्मरन्ननुध्यायन् कलेवरं

प्रकरण में ब्रह्मज्ञानवान् को ब्रह्म के समान धर्मता का ही प्रतिपादन किया है नतु ब्रह्म तादात्म्य का प्रतिपादन किया है । नहीं कहो कि साधर्म्य धारण के बाद में तादात्म्य होता है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि साधर्म्य प्राप्त व्यक्ति को सर्ग प्रलय में उत्पत्ति विनाश के अभाव का जो श्लोक के 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' १४।२ इत्यादि उत्तरार्द्ध से निरूपण किया है वह व्यर्थ हो जायगा । और देखिये मोक्ष में जीव तथा ब्रह्म की एकता नहीं होती है "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" सर्व दुःख रहित होकर के आविर्भूतगुणाष्टकादि के द्वारा परम समता को ही ब्रह्मके साथ प्राप्त करता है, सादृश्य भेद घटित होता है तब तादात्म्य प्राप्ति करना यह एक प्रकार से अवैदिक मार्ग है । अतः उपेक्षणीय है । इस विषय में गीतातत्त्व मीमांसा विवरण प्रसंग में विपुलचर्चा की गई है अतः अधिक जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिए । आचार्य श्री कहते हैं जीव के श्रीराम सायुज्य प्राप्ति के विषय में कोई भी संशय नहीं है अर्थात् निःसंदिग्धरूप से निःश्रेयस लक्षण मोक्ष को प्राप्त करता है भाष्यकारजी कहते हैं इस विषय को मैंने विस्तारपूर्वक ब्रह्ममीमांसा के दहराधिकरण के भाष्य में विचार किया है—भगवद्भावापत्ति में यानी श्रीरामसायुज्य प्राप्त होने पर भी आत्मा का स्वस्वरूपावस्थित अर्थात् ईश्वर के अपेक्षा भिन्न रूप से जीव की स्थिति होती ही है इत्यादि रूप से । विस्तार के भय से यहाँ संक्षेप किया गया है । विशेषार्थि वहीं भाष्य भाष्यदीप तथा भाष्यप्रकाश में देखें ।५।

शरीर के अवसान समय में होनेवाला जो स्मरण तथा तदुत्तर कालिक होनेवाला जो जन्म है उसमें साधारण नियम को बतलाने के लिये कहते हैं ।

यानी शरीरावसानकाल में भगवान् का स्मरण होता हो उससे नियमतः यदि भगवद् मनुष्य आदि को नव तो शरीरावसान समय में जिसे गर्दभ का स्मरण हुआ तो उस

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

त्यजति यः प्राणी स सदा स्वजीवनकृत्स्नसमये प्राणवियोगसमयेऽपि च तद्भावभावितस्तस्य भावविशेषस्य भावेन भावनया भावितः स्वायत्तीकृतस्तं तं स्मर्यमाणं देवमनुष्यादिस्वभावमेवैत्यवश्यं प्राप्नोति ।६।

यस्मात् सार्वदिकभावनाभावितो विषय एवान्तकालेऽपि स्मृत्युपारूढो भवति तस्मात् सर्वेषु कालेषु यावदायुषमित्यर्थः । प्रत्यहं प्रतिक्षणं मामेवानुस्मर । एवम-

व्यक्ति को गर्दभलोक की प्राप्ति होनी चाहिये इस शंका का समाधन इष्टापत्ति से करते हुए जिस जिसके मरण के अनन्तर जिस जिस लोक या योनी की प्राप्ति होती है वह अन्तकालिक तद्विषयक स्मरणवान् नियमतः होता है एतादश सर्वसाधारण व्याप्ति को बतलाने के लिये कहते हैं "यं यमित्यादि" इस प्रकार से भी कोई विद्वान् स्फुट रूप से प्रकृतश्लोक का अवतरण बतलाते हैं

हे कौन्तेय अर्जुन ! अन्तकाल में शरीरावसान समय में जिस जिस भाव को अर्थात देव मनुष्य पशु तिर्यगादि स्वरूप का स्मरण अनुध्यान करता हुआ प्राणी कलेवर-शरीर को छोड़ता है। वह प्राणी सदा सर्वदा स्वजीवन के संपूर्णकाल में और प्राणवियोग समय में भी तद्भाव से तत् तत् भाव विशेष की भावना से भावित होने के कारण तदधीन चित्त होकर के तत् तत स्मरण विषयीभूत जो देव मनुष्य पशु तिर्यगादि स्वभाव है उसको अवश्यमेव प्राप्त करता है। अतः जड़भरत का मरण समय में मृग का स्मरण रहने के कारण मृगयोनि में जन्म हुआ ऐसा शास्त्र द्वारा अवगत होता है। इसलिए शास्त्र तथा लोकोक्ति भी है कि सदा भगवान् का स्मरण करते रहो यदि यह भगवत्स्मृति मरणकाल में भी रह जाय तो सद्गति अवश्यमेव होगी ॥६॥

शरीर के अवसान के समय में शरीर में असह्य क्लेश कालुष्य होने से अपरिपक्व जो संस्कार एवं तादृश संस्कार द्वारा होनेवाला जो स्मरण है ये दोनों विनष्ट हो जाते हैं। कहा भी है "प्राणप्रयाण समये कफवातपित्तैः कंठावरोधनविधौस्मरणं कुतस्ते" इस शरीर से प्राण के गमन समय में कफ वात पित्त लक्षण दोषत्रय से कण्ठ का अवरोधन हो जाने से आपका स्मरण दुर्लभ हो जाता है अतः हे भगवन् ! आज ही मेरा मन आपके पदपंकजरूप पिंजरा में प्रविष्ट हो जाय। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीरावसान समय में भगवत् स्मरण दुर्लभ है। तथापि अतिक्रान्त जो अनेक पूर्वजन्म उनमें चिराभ्यस्त जो

वश्यानुष्ठेयत्वेन विशेषधर्ममुपपाद्य सामान्यधर्ममप्युपदिशति–युध्य चेति । युध्यस्व च क्षत्रियस्यायोधनं वर्णधर्म इति सोऽप्यनुष्ठेयस्तेनवर्णाश्रमधर्ममपरित्यज्यैव भगवद्भजनमनुदिनं विधेयमिति फलति । एवं नित्यनैमित्तकादिकर्मसचिवा भगवदनुस्मृतिर्भगवन्मनस्कतामापादयतीत्युच्यते मय्यर्पितमनोबुद्धिः । मयिसर्वेश्वरं परमात्मन्यर्पिते मनश्च बुद्धिश्च येन तथाविधस्त्वं मामेवैष्यसि सर्वथाभीष्टं मत्सायुज्यमेव प्राप्स्यसि । अत्र संशयो नास्तीत्यर्थः ।७।

भावना उनके द्वारा अतिशयेन दृढीकृत भगवद् भावनाजनित संस्कार वह मरण समय में भी स्मरण को उत्पन्न कराता ही है इस वस्तु को मन में रख करके कहते हैं "तस्मादित्यादि ।

जिस लिए सर्वकालिक भावना से भावित जो पदार्थ देह के अवसानकाल में भी स्मरण का विषय होता है इस लिये सभी काल में अर्थात् जब तक आयु है तब तक प्रतिदिन प्रतिक्षण में हे अर्जुन ! मेरा ही स्मरण करो शास्त्र में भी कहा है "आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्त चिन्तयत्" सुषुप्तिकाल मरणकाल पर्यन्त आत्मचिन्तन करना चाहिए । "यः खलु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत:" स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते" जो व्यक्ति मरणपर्यन्त ओंकार का अनुचिन्तन करता है जो व्यक्ति आयुष पर्यन्त ओंकार का अनुचिन्तन करता है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है । इत्यादि स्थल में अनुक्षण में भगवान् के स्मरण में कर्तव्यका उपदेश किया है । इस प्रकार से भगवान् का उपासना सभी को सर्वदा करनी चाहिए इसका प्रतिपादन करके फलाभिसंधि रहित नित्यनैमित्तिक जो कर्म है वर्णाश्रमोचित उसका भी अनुष्ठान साथ में अवश्यमेव अनुष्ठेय है इस बात का प्रतिपादन करते हैं "युध्यचेति" इसी विषय को भाष्यकार स्वशब्द में प्रतिपादन करते हैं इस प्रकार अवश्य अनुष्ठेय रूप से विशेष जो नित्य नैमित्तिक कर्म है उसका प्रतिपादन करके सामान्यधर्म रूपेण उपस्थित जो क्षत्रिय के लिये वर्णाश्रमोचित धर्म है उसका भी प्रतिपादन करते हैं "युध्य च" युद्ध भी करो । क्षत्रिय के लिए आयोधन क्षत्रिय वर्ण का धर्म है इसलिए संग्राम भी अवश्य अनुष्ठेय है । इससे वर्णाश्रम धर्म का त्याग किये बिना ही भगवद् भजन प्रतिदिन करना चाहिये । यह फलित होता है । अर्थात् विशेष धर्म तथा सामान्य धर्म का अनुष्ठान के साथ ही सर्वदा मरणपर्यन्त भगवत् चिन्तन करना चाहिये । उपर्युक्त प्रकार से नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान से सहकृत जो भगवान् का अनुध्यान वह भगवान् के तरफ मन को लगा देता है इसी बात को बतलाते हैं "मय्यर्पित" इत्यादि । मुझ सर्वेश्वर परमात्मा में अर्पित है संलग्न है मन तथा बुद्धि जिसकी उसे कहते हैं मय्यर्पित मनोबुद्धि ! हे अर्जुन ! मुझ में

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसानन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

एवमर्जुनप्रश्नेषु षण्णामुत्तरं समासेन सप्तमस्य च व्यासेनाभिधायेदानीमुपासकविशेषानुगुणोपास्यस्वरूपमभिधत्ते–अभ्यासेति । हे पार्थ ! अभ्यासयोगयुक्तेन निरन्तरसंशीलनरूपाभ्यासेन ध्यानयोगेन च युक्तं मनस्तेन नान्यगामिनाऽन्यविषये गमनशीलचेष्टावर्जितेन चेतसाऽनुचिन्तयन् मरणात् प्रागवस्थायां मरणसमयेऽपि चानुक्षणं ध्यायन्नुपासको दिव्यमप्राकृताकारमितरविलक्षणं परमं पुरुषं परमात्मानं प्राप्नोति ।८।

अपने मन बुद्धि को समर्पित करदेने से तुम मुझे प्राप्त करोगे अर्थात् सर्वथा अभीष्ट जो मत्सायुज्य है उसे तुम प्राप्त कर लोगे इसमें कोई भी संशय नहीं है ॥७॥

इस प्रकार अर्जुन का जो सात प्रश्न था उनमें से छ प्रश्नों का उत्तर संक्षेपमें प्रतिपादन करके और सप्तम प्रश्न का उत्तर विस्तारपूर्वक कह करके उपासक विशेष को भी स्वकीय उपासना के अनुकूल उपास्य के स्वरूप को कहते हैं अर्थात् अन्य उपासक को भी उपासना के अनुकूल मेरी प्राप्ति अवश्यमेव होती है इस विषय को कहते हैं अभ्यासयोगेत्यादि" हे पार्थ पृथा के पुत्र ! (इस विशेषण युक्त संबोधन से भगवान् ने यह अभिव्यक्त किया कि तुम मेरे अतिशयित प्रेमपात्र हो इसलिये अनन्य प्राप्त वस्तु का भी मैं तुम्हें प्रतिपादन करता हूं, तुम इस वस्तु को जानो ।) अभ्यास तथा योगयुक्त चित्तमे निरन्तर संशील रूप अभ्यास अर्थात् स्व का उपास्यदेव उस देव का जो स्वरूप एवं गुण विभूति का बारंबार संशीलन का नाम है अभ्यास । चिन्तनीय जो देव विशेष में संयम उसका नाम है योग अर्थात् ध्यानयोग एतादृश अभ्यास तथा ध्यानयोग से युक्त अर्थात् वशीकृत स्वाधीन चित्त मन से अतएव नान्यगामिना उपास्य देव से अतिरिक्त विषय को नहीं जानने वाले मन से अर्थात् उपास्य से इतर विषय में गमनशील चेष्टा वर्जित चित्त से अनुचिन्तन करता हुआ अर्थात् मरण से पूर्वकालिक अवस्था में तथा शरीरावसान समय में भी अनुक्षण सभी समय में ध्यान करता हुआ उपासक दिव्य सकलेतर विसजातीय "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" आदित्य के समान देदीप्यमान तमस को अतिक्रमण करनेवाला" इत्यादि श्रुतिसमर्थित स्वरूपवाला अप्राकृतिक इतर विलक्षण स्वस्वरूपवाले परमपुरुष परमात्मा श्रीसाकेताधिपति को प्राप्त करता है । अर्थात् पूर्वोक्त उपासक यथोक्त चित्त से परमपुरुष को अनुक्षण ध्यान करता हुआ अप्राकृतिकतेजो धाम परमपुरुष को प्राप्त करता है ॥८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

अथैश्वर्यकामिनामन्तिमस्मृतिप्रकारमभिदधाति-कविमिति । भक्त्या सर्वाधिक-प्रेमस्वरूपया योगबलेन च युक्तो यः प्रयाणकाले भ्रुवोर्मध्ये प्राणं सम्यगावेश्य संस्थाप्य

इसके बाद ऐश्वर्य कामनावान् जो उपासक हैं उनके लिए शरीरावसानकालिक स्मरण प्रकार को बतलाते हैं "कविमित्यादि" कवि कालत्रयवर्ती सकल पदार्थ के ज्ञाता प्रभापुराण अनादि सभी पदार्थ का आदि अर्थात् सभी का कारणरूप इस विशेषण द्वय से "यो ब्रह्माणं विदधाति" जो परमेश्वर सृष्टि के आदि समय में ब्रह्मा को बनाते हैं तथा वे ही सर्वेश्वर ब्रह्माजी को वेदोपदेश देते हैं" इस श्रुत्यर्थ का संग्रह होता है। अनुशासिता समस्त जगत् जाल के ऊपर नियंत्रण करनेवाले। इस विशेषण से "एतस्यवा अक्षरस्य प्रशासने" हे गार्गी इसी अक्षररूप परब्रह्म के प्रशासन में सूर्य चन्द्रमा रहते हैं। इस श्रुत्यर्थ का संग्रह होता है। जो परमेश्वर अणु से भी अणु है अर्थात् अणु सूक्ष्म जो जीव उसके अपेक्षया अतिशयित सूक्ष्म हैं अर्थात् जीव तो स्वयं सूक्ष्म है किन्तु सूक्ष्मतम जीव के भी अन्तः अवस्थित होने से सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं। मानव स्मृति में भी कहा है "प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम् । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम्" वह परमात्मा सभी का प्रशासन करनेवाले हैं अणु से भी अणु है सुवर्ण सदृश दीप्तिमान् हैं स्वप्नवत् अस्पष्ट बोधगम्य परमपुरुष को जानना" इत्यादिवचन से सिद्ध होता है कि अणु से भी अणुतम है। समस्त संपूर्ण चराचरात्मक जगत् के धाता हैं निर्माण करनेवाले हैं। अचिन्त्यरूप हैं इतर सजातीयता रूप से चिन्ता करने के योग्य नहीं हैं अर्थात् मन वाणी के विषय नहीं हैं यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह मन वाणी जिससे निवृत्त हो जाते हैं तथा "प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्" प्रकृति से जो पर है वही अचिन्त्य का लक्षण है। तमः प्रकृति से पर अर्थात् अप्राकृत। आदित्य के वर्ण समान वर्ण है जिनका अर्थात् आदित्यादि ज्योति समूह के भी भासक "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥" उस ब्रह्म रूपतेज पुंज को सूर्य अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं कर सकता है तथा चन्द्रमा वा तारा गण उसे प्रकाशित करते हैं यह अग्नि तो कहाँ से उसे प्रकाशित कर सकती है उसी तेजपुंज के प्रकाशित होने पर ये सब प्रकाशित होते हैं उस ब्रह्म के प्रकाश से संपूर्ण जगत् प्रकाशित होता है इस श्रुति से सिद्ध होता है कि ब्रह्म तेज भी सर्व का प्रकाशक है। इस प्रकार के असाधारण दिव्य

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्, स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

तत्र कविमखिलावगन्तारं पुराणमनादिमनुशासितारं निखिलनियन्तारमणोः सूक्ष्माज्जीवादप्यणीयांसमतिसूक्ष्मस्वरूपं सर्वस्य समस्तस्य जगतो धातारं निर्मातारमचिन्त्यरूपमितरसजातीयतया चिन्तयितुमशक्यं तमसः प्रकृतेः परस्तात् परमप्राकृतमादित्यस्य वर्ण इव वर्णो यस्य स आदित्यवर्णस्तं दिव्यं परं पुरुषमनुस्मरेत् स तमेव पुरुषं भगवन्तमुपैति प्राप्नोति । तत्समानैश्वर्यो भवतीत्यर्थः ॥९॥१०॥

उपासकविशेषस्येष्टसिद्धये योगधारणयोपासनमुच्यते यदक्षरमित्यादित्रिभिः ।

स्वरूप भगवान का जो अनुस्मरण करता है वह उपासक उस दिव्य परमपुरुष को प्राप्त करता है इस प्रकार इसका दशम श्लोक के साथ सम्बन्ध है ॥९॥

इस प्रकार पूर्व श्लोकोक्त गुण विशेष से विशिष्ट अप्राकृतिक स्वकीय असाधारण दिव्य स्वरूपयुक्त परमरूप सर्वेश्वर श्रीराम का किस समय में किस प्रकार से अनुस्मरण करें इस शंका के उत्तर में कहते हैं "प्रयाण काले" इत्यादि । सर्वाधिक प्रेम स्वरूप भक्ति से तथा परमपुरुष में मन का समाधान लक्षण योग स्वरूप योगबल से युक्त साधक को प्रयाणकाल में अर्थात् देहावसान समय में दोनों भ्रु के बीच में प्राणवायु को सम्यक् व्यवस्थित करके उसमें अचल मन के द्वारा कविपुराणादि विशेष गुणगण युक्त आदित्य के समान दिव्य वर्णवाले दिव्य परमपुरुष का जो साधक अनुस्मरण करता है वह साधक पूर्वोक्त उसी परम पुरुष को प्राप्त करलेता है अर्थात् परम पुरुष के समान ऐश्वर्यादि गुण विशिष्ट हो जाता है "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" निरंजन सर्व दुःख रहित होकर जीव भगवान् की परमसमता को प्राप्त करलेता है ननु परमपुरुष के साथ तादात्म्यापन्न होता है क्योंकि सादृश्य भेद घटित ही होता है संपत्ति की अधिकता होने से जैसें यह पुरोहित राजा हो गया इत्यादिस्थल में जैसे पुरोहित में राजा की समानता होती है ननु राजा के साथ पुरोहित का तादात्म्य होता है तद्वत् प्रकृत में जीव की ज्ञानाकारादि रूप से परमेश्वर के साथ समानता हो जाती है ॥१०॥

उपासक विशेष को स्वेष्ट सिद्धि के लिए योगधारणा के द्वारा उपासना को बतलाने के लिए कहते हैं "यदक्षरमित्यादि" तीन श्लोकों के द्वारा । वेदविद् [illegible] को जाननेवाले मननशील महापुरुष जिस अक्षर परमात्मा [illegible]

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

वेदविदो ब्रह्मविद्यावेदिनो मुनयो यदक्षरं एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य-स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्, (बृ.) इति श्रुत्युपदर्शितरूपेण प्रतिपादयन्ति । वीतरागास्त्य-क्तैषणात्रया यतयो यत्नशीलाः सिद्धा यद्विशन्त्यनवरतोपासनेन निरस्तकर्मबन्धनाः प्रकृतिविनिर्मुक्तं मुक्तस्वरूपमवाप्य स्वोपास्यभूतपरमपुरुषसाम्यमनुभवन्ति । साधकाश्च यत्प्राप्तुमिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तदक्षराख्यं पदं प्राप्यभूतं तत्प्राप्त्युपायसहितं संक्षेपेण प्रवक्ष्यामीति प्रतिजानीते ॥११॥

प्रतिज्ञातमर्थं सोपपत्तिकमाह—सर्वेति । तत्तद्विषयोपलब्धौ द्वारभूतानीन्द्रियाणि संयम्य विषयवैतृष्ण्याभ्यासादिभि स्तेषां विषयप्रावण्यमुन्मूल्य मनश्च हृदि हृदय-पुण्डरीकोदरवर्तिपरमपुरुषे निरुध्य संस्थाप्यात्मनः प्राणं मूर्ध्नि सद्गुरूपदिष्टमार्गेणा-

पारंगत महापुरुष कहते हैं जो अक्षरतत्त्व स्थूल नहीं है अणु नहीं है ह्रस्व तथा दीर्घ भी नहीं है ।" इत्यादि श्रुति कथित प्रकार से कहते हैं तथा वीतराग जिन्होने पुत्रेषणा वित्तैषणा लोकै-षणा को छोड दिया है जो महापुरुष प्रयत्नशील सिद्धयोगी लोग जिस में प्रविष्ट होते हैं अर्थात् अनवरत सदा उपासना के द्वारा जिन्होने कर्मबन्धन को निरस्त कर दिया है एतादृश महात्मा लोग प्रकृति से मुक्त मुक्त स्वरूप को प्राप्त करके स्वकीय उपास्य जो परमपुरुष उसकी समता का अनुभव करते हैं । और साधकलोग जिस महापुरुष सर्वेश्वर की प्राप्ति की इच्छा करते हुए दीर्घकालिक ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते है वह अक्षरनाम तथा पद का जो कि प्राप्ति करने के योग्य है उसकी प्राप्ति के स्वरूप को उपाय सहित संक्षेप से मैं तुम्हें कहता हूं यह मेरी प्रतिज्ञा है । इससे "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" सभी वेद जिस पद का कथन करते हैं यह जो काठक श्रुति है उसके अर्थ का यहाँ निर्देश किया है एवं "एतद्वै तदक्षरम् गार्गि !" यही वह पद है जिसे ब्राह्मणलोग प्रतिपादन करते है यह जो बृहदारण्यक का कथन है उस श्रुति के अर्थ का भी कथन किया गया है ॥११॥

"संक्षेप से उस ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन करूंगा" इस प्रकार की प्रतिज्ञा से श्रोता जो अर्जुन है उसके वक्ष्यमाण अर्थ में अभिरुचि तथा सावधानता का उत्पादन करके उपपत्ति परिकर सहित उसी प्रतिज्ञात अर्थ का कथन करते हैं "सर्वद्वाराणि" इति । तत् तत् जो शब्द स्पर्शादिक विषय उनके ज्ञान होने से द्वार साधन रूप जो श्रोत्रादिक बाह्येन्द्रिय उनको संयत करके अर्थात् विषय की वितृष्णा और अभ्यास द्वारा बाह्येन्द्रिय की जो विषयोन्मुखता है उस का उन्मूलन करके तथा मन को हृदय में अर्थात् हृदय पुण्डरीक के मध्य में अवस्थित जो

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

यानगतिं प्राणे सन्निवेश्य प्राणञ्च सुषुम्नया भ्रुवोरन्तरालमार्गेण भ्रुवोरुपरि ब्रह्मरन्ध्रे समाधाय योगधारणां मयि समाधिमास्थितः । एकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मवाचकत्वात् प्रतिपादकत्वाद्वा ब्रह्म प्रणवात्मकम् ओ३मिति । अस्याक्षरस्य परमात्मरूपता चोक्तोपनिषत्सु 'तस्माद्रामाङ्गं प्रणवः कथित इति (रा.पू. ११७) 'य एतत्तारकं ब्रह्म ब्राह्मणो नित्यमधीते। स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति, (रा. ता. २) इति । व्याहरन् वाचा समुच्चारयन् एतदक्षरवाच्यभूतं मामेवानुस्मरन् मनसा चिन्तयन् देहञ्च त्यजन् अनेन कायमनोवचसामेकवृत्तिकत्वं विवक्षितम् एवमनुतिष्ठन् यः प्रयाति देवयान मार्गेण याति स उपासकः परमां गतिमपुनरावृत्तिलक्षणां मत्साम्यरूपां याति प्राप्नोति ॥१२॥१३॥

सर्वान्तर्यामी परमपुरुष है उस में निरुद्ध करके यानी संस्थापित करके स्वकीय प्राणादि वायु को मस्तक में अर्थात् सद्गुरु के उपदेश द्वारा अपान वायु की गति को प्राण में निहित करके और प्राण वायु को सुषुम्ना नाडी के द्वारा भ्रूमध्य के अन्तराल मार्ग से भ्रू के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करके योग धारणा को अर्थात् मुझ परम पुरुष में समाधि से आस्थित हो करके एकाक्षर जो ब्रह्म उस ब्रह्म का वाचक अथवा ब्रह्म का प्रतिपादक होने से ब्रह्म ओम् इत्याकारक प्रणवरूप है अतः यह जो प्रणव रूप अक्षर है वह परमात्म स्वरूप है । इस बात को उपनिषद् में प्रतिपादन किया गया है "तस्मादित्यादि" इस लिये भगवान् श्री रामजी का अंग प्रणव कहा गया है । ब्रह्म का जो यह ब्रह्म लक्षण तारक महामन्त्रराज है इसका जो नित्यअध्ययन करता है अर्थात् नियमतः जप करता है वह जप करनेवाला साधक पाप को तर जाता है मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है । उस प्रणवात्मक ब्रह्म का व्याहार अर्थात् वाणी के द्वारा उच्चारण करता हुआ और ओंकारात्मक अक्षर के वाच्यभूत मुझ परमात्मा का अनुस्मरण करता हुआ अर्थात् मन से मेरा चिन्तन करता हुआ और देह को छोड़ता हुआ । यहां इन तीन शतृ प्रत्ययान्त पद से शरीर मन वाणी में एक वृत्तिकत्व का प्रतिपादन किया है, अर्थात् समान काल में ही स्वकार्य में सब व्याप्त हैं । इस प्रकार से एककाल में अनुष्ठान करनेवाला जो साधक है वह देवयान (उत्तर) मार्ग से परमपद श्रीसाकेत में जाता है यानी वह उपासक अपुनरावृत्ति लक्षण परमा गति को प्राप्त करता है । अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा मैं हूं अतः मेरे सायुज्य यानी परम समता को प्राप्त हो जाता है । मोक्ष शब्द से भगवान् के परम समता लक्षण सायुज्य ही कहा जाता है ॥१२॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

अथ भगवदनन्यभक्तस्योपासनेन फलसिद्धेः सौलभ्यमुच्यते अनन्येति । हे पार्थ ! अन्यस्मिन् चेतो यस्य सोऽन्यचेता अन्यचेता न भवतीत्यनन्यचेता मत्स्मृतिं विनाऽऽत्मधारणासमर्थो यो नियमश उद्योगकालादारभ्य सततमविरतं मां सर्वेश्वरं स्मरति । अन्येषामत्यन्तं दुर्लभोऽप्यहं नित्ययुक्तस्य मम नित्ययोगार्थिनस्तस्य योगिनो मदनुध्यायिनः सुलभः सुखेनावाप्तुं शक्योऽस्मीति शेषः ॥१४॥

अधिकारो हि यथारुचि । यथाधिकारं हि फलं भवति स्थिरमस्थिरं च । तत्र भगवद्दर्शनकामानां ज्ञानिनां कैवल्यार्थिनां चापुनरावृत्तिरूपं स्थिरमैश्वर्यार्थिनां च पुन

इसके बाद भगवान् के जो अनन्य भक्त हैं उन्हें भगवान् की उपासना से फल सिद्धि सुलभ होती है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "अनन्येत्यादि" हे पार्थ पृथानन्दन ; प्रकृत वस्तु से भिन्न वस्तु में चित्त मन है जिसका वह अन्य चेता कहलाता है और जो अन्य चेता न हो उसका नाम होता है अनन्यचेता जो अनन्य चेता उपासक उपास्य सर्वेश्वर में ही संलग्न चित्त हो करके अर्थात् मेरा जो स्मरण है उस स्मरण के बिना स्वकीय आत्मधारण करने में असमर्थ जो भक्त विशेष वह नियमतः अर्थात् उद्योग काल से लेकर सतत अनुक्षण मुझ सर्वेश्वर का ही स्मरण करता रहता है ऐसे के लिये अन्य व्यक्तियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ मैं नित्ययुक्त मेरा नित्ययोगार्थी मेरा नियमतः अनुध्यान करनेवाले योगियों के लिए अत्यन्त सुलभ होता हूं । यानी तादृश अनन्ययोगियों से मैं प्राप्त करने में अत्यन्त सुलभ होता हूं । अन्यों से यद्यपि मैं प्राप्त होने में दुर्लभ हूं परन्तु जो अनन्य रूप से मेरा ध्यान करता है उसके लिए सदा मैं सुलभ ही रहता हूं । इससे यह सिद्ध होता है कि सतत अनुस्मरणरूप जो भक्ति है वह श्रीराम प्राप्ति के लिये सुलभ उपाय है और पूर्वोक्त जो अन्य उपाय हैं वे प्रयास बहुल साध्य हैं ॥१४॥

अपनी अपनी रुचि के अनुसार अधिकार होता है और अधिकारानुकूल फल होता है स्थिर अस्थिर लक्षण फल होता है । उसमें भगवान् की प्राप्ति की कामनावान् जो अधिकारी ज्ञानी हैं कैवल्य मोक्ष को चाहनेवाले हैं उन्हें अपुनरावृत्ति लक्षण स्थिर फल प्राप्त होता है और जो अणिमादि ऐश्वर्याभिलाषी हैं उन्हें पुनरावृत्ति लक्षण अनित्यफल प्राप्त होता

रावृत्तिरूपमस्थिरं हि फलं भवति । तत्र ज्ञानिनामपुनरावृत्तिमाह मामिति । मां सर्वेश्वरमुपेत्यावाप्य पुनर्भूयो दुःखानामालयो दुःखालयस्तं त्रिविधतापैकास्पदमशाश्वतमस्थिरं जन्म देवमनुष्यादिप्राकृतदेहसम्बन्धं नाप्नुवन्ति नोपयन्ति । कस्मादित्यपेक्षायां "यस्मात् ते" इति द्वयमध्याहार्यम् । यस्मात् कारणात् ते महानात्मा मनो येषां ते महात्मानो मय्येवासक्तचेतसः परमां संसिद्धिं समीचीनां सिद्धिं पुनरावृत्तिवर्जितां सायुज्यमुक्तिं गताः ॥१५॥

है । इस स्थिति में ज्ञानी अनन्य भक्त के लिए अपुनरावृत्ति लक्षण नित्यफल प्राप्ति को बतलाने के लिए कहते हैं "मामुपेत्येत्यादि"

अथवा जो पदार्थ सरलता से अर्थात् अल्पप्रयत्न से प्राप्त होता है उसका वियोग (नाश) भी बिल्कुल सरल होता है अर्थात् वह स्थायी नहीं होता है तब तो हे भगवन् ! यदि आपकी प्राप्ति अत्यन्त सरल हो तब तो हो सकता है भवत्स्थान प्राप्त पुरुष को उस स्थान से पुनः कालान्तर में पतन भी होगा तब सामान्य देवकी उपासना से प्राप्त जो स्वर्गादि फल तदपेक्षया इस पारिभाषिक् मोक्ष में क्या विशेषता हुई ? यदि कदाचित् दोनों को समान ही मान लें तब "न स पुनरावर्तते"

"सत्य सन्धः प्रतिश्रुत्य प्रपन्नायाभयं स्वयम् । निवर्तयेद् भये नैनं श्रीरामः श्रितवत्सलः ॥"

इत्यादि श्रुति स्मृतियों की क्या गति होगी ! इस शंका का निराकरण करने के लिये कहते हैं "मामित्यादि" ।

हे अर्जुन ! अनन्य भक्तिमान् साधक मुझ सर्वेश्वर परमात्मा को प्राप्त करके पुनः दुःख का आलय अशाश्वत आध्यात्मिक आधि भौतिक आधिदैविक इन दुःखत्रय का आस्पद अधिष्ठान एवं अस्थिर जो जन्म अर्थात् देव मनुष्य नारक तिर्यगादि भेद भिन्न प्राकृत शरीर लक्षण को नहीं प्राप्त करते हैं । हे भगवन् ! परमा संसिद्धि भवत्सायुज्य लक्षण को प्राप्त करनेवाले महापुरुषों का पुनरागमन क्यों नहीं होता है जिसलिये कि प्रायः सभी गमन लक्षण क्रिया आगमन क्रिया के सापेक्ष है जैसे घर से गया हुआ देवदत्त पुनः कालान्तर में लौट करके आता है स्वर्गगत व्यक्ति भी यथा पुनः फल भोग के अनन्तर स्वर्ग से लौट आता है इस शंका के उत्तर में कहते हैं "यस्मात ते" यहाँ यस्मात् इस पद का तथा ते इन दोनों पद का अध्याहार किया जाता है जिस कारण से वे महात्मा लोग महान् बहुत बड़ी है आत्मा जिनकी उसका नाम है महात्मा जिसलिए की ये महात्मालोग मुझ सर्वेश्वर परमात्मा में आसक्तचित्त हो करके समीचीन पुनरावृत्ति वर्जित सायुज्यात्मक सिद्धि को प्राप्त करगये हैं । इसलिये स्वर्गादि के समान अथवा

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ? ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिर्युगसहस्रान्ता तेहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

भगवत् प्राप्तिकामानामपुनरावृत्तिरुक्ता । तथा चैश्वर्य कामानां पुनरावृत्तिरर्थादायाता । अथोक्तयोः पुनरावृत्त्यपुनरावृत्त्योर्हेतुमभिधत्ते आब्रह्मेत्यादिना । हे अर्जुन! ब्रह्मणो भुवनं ब्रह्मभुवनं ब्रह्मभुवनात् इत्याब्रह्मभुवनं तस्मादाब्रह्मभुवनाच्चतुर्मुखलोकमभिव्याप्य लोकाः सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनो विनाशशीलाः । अतस्तत्तल्लोकप्राप्तानामैश्वर्यार्थिनां पुनरावृत्तिरवर्जनीयेतिभावः । हे कौन्तेय ! मामविनश्वरं सर्वेश्वरं करुणावरुणालयं मां तूपेत्य प्राप्य पुनर्जन्म पुनरावृत्तिर्न विद्यते ॥१६॥

गृह विनिर्गत देवदत्त के समान पुनरागमन नहीं होता है। यतः एतादृश संसिद्धि के लिये पुनरागमन का निषेध श्रुति करती है, "न स पुनरावर्तते" इत्यादि रूप से ॥१५॥

जो महात्मा भगवान् के सायुज्य प्राप्ति कामनावान् हैं उनका भगवद्धाम से पुनरावर्तन नहीं होता है इसका प्रतिपादन किया गया इससे ऐश्वर्य कामनावान् की पुनरावृत्ति होती है यह अर्थादेव सिद्ध हो जाता है। इसके बाद पुनरावृत्ति तथा अपुनरावृत्ति का कारण क्या है अर्थात् किस कारण के रहने से पुनरावृत्ति होती है और किस कारण के नहीं रहने से अपुनरावृत्ति होती है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "आब्रह्म" इत्यादि। हे अर्जुन ! ब्रह्मा का यानी चतुर्मुख कमलासन का जो सत्यलोक उसका नाम है ब्रह्मभुवन आ ब्रह्म भुवनात् में जो आङ् शब्द है उसका अर्थ होता है अभिव्याप्ति तब यह अर्थ निष्पन्न होता है कि चतुर्मुख लोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् विनाशशील हैं। ब्रह्म भुवनान्त सभी लोक पुण्य की उत्कर्षता होने से मिलते हैं तो कारण जो पुण्य उसके उपभोग से विनाश हो जाने से तत्प्रयुक्त जो कार्य है वह भी विनष्ट हो जाता है "ब्रह्मलोक विनाशी है सत्व विशिष्ट कार्य होने से घट की तरह" इस अनुमान से भी उसमें विनाशित्व की सिद्धि होती है। इसलिये ब्रह्म लोक प्राप्त जो ऐश्वर्याभिलाषी व्यक्ति हैं उनका पुनरावर्तन अवश्यंभावी है। हे कौन्तेय ! मुझ अविनश्वर सर्वेश्वर सर्वनियन्ता करुणा वरुणालय को प्राप्त करके पुनरावृत्ति नहीं होती है क्योंकि मैं सनातन हूं ऐसे सनातन मुझ में सायुज्य की प्राप्ति हो जानेपर मत्सायुज्य प्राप्त को पुनरावर्तन बिल्कुल असंभवित है ॥१६॥

इसके बाद पुनरावृत्ति के कारण रूप सर्वेश्वर श्रीराम के संकल्प से जायमान ब्रह्म

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ! प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

अथ पुनरावृत्तित्वहेतुभूतां भगवत्सङ्कल्पप्रयुक्तां ब्रह्मलोकाद्युत्पत्तिविनाशानुबन्धिकालव्यवस्थामुदीरयति सहस्रेत्यादिना। अहोरात्रविदोसरुसङ्कल्पायत्तब्रह्माहोरात्रादिकालव्यवस्थाभिज्ञा ये जनास्ते ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य यदहो दिनं तत् सहस्रयुगपर्यन्तं रात्रिं रजनीं च युगसहस्रान्तां विदुरवगच्छन्ति। अह्न आगमोऽहरागमस्तस्मिन्नहरागमे चतुर्मुखदिवसागमे सर्वा व्यज्यन्त इति व्यक्तयो देहेन्द्रियादयस्त्रैलोक्यवृत्तयो भोग्यभोगस्थानादिकार्यभूताः पदार्था अव्यक्ताच्चतुर्मुखशरीरात्मकप्रकृतेः प्रभवन्ति

लोकादि अखिल लोक की उत्पत्ति और विनाश में कारणीभूत जो काल की व्यवस्था है तादृश काल व्यवस्था को बतलाने के लिये कहते हैं "सहस्रेत्यादि श्लोकत्रय से। हे अर्जुन? अहोरात्र की व्यवस्था को जानने वाले विद्वान् अर्थात् परमेश्वर के संकल्प के अधीन ब्रह्मा की अहोरात्र काल व्यवस्था को जाननेवाले जो व्यक्ति विशेष हैं वे चतुर्मुख ब्रह्मा को अहः दिन को सहस्रयुगपर्यन्त तथा रात को भी युग सहस्रान्त कहते हैं दिन का जितना काल होता है रात्रिका काल भी उसी के समान ही होता है इसलिये सहस्रयुग का दिन तथा सहस्र युग की रात होती है ऐसा कालज्ञ गणक लोग कहते हैं। अहन् अर्थात् दिन उस दिन का जो आगम है उसे अहरागम कहते हैं यह जो ब्रह्मा जी का अहरागम है उसमें अभिव्यज्यमान सभी शरीर इन्द्रिय त्रैलोक्य में रहनेवाले भोग्य भोगस्थान प्रभृति जन्यमान पदार्थ समुदाय अव्यक्त से चतुर्मुख ब्रह्मा का शरीर रूप जो प्रकृति तादृश प्रकृति से प्रादुर्भूत होते हैं। जैसे रात-में सभी पक्षी अपने अपने नीड में रहते हैं और सूर्योदय होते ही उसमें से निकल पड़ते हैं उसी प्रकार प्रलयकाल में ब्रह्मा के शरीर रूप प्रकृति में लीन रहते हैं और ब्रह्माजी का जब प्रातःकाल हुआ तब ब्रह्माजी के शरीरभूत प्रकृति में से प्रादुर्भूत हो जाते हैं और "ब्रह्मणो रात्र्यागमे" जब ब्रह्माजी की रात्रि के आगमन काल में (दिवसावसान में) उसी में अर्थात् तत्तत् पदार्थों की उत्पत्ति का जो कारण है अव्यक्त उस में अर्थात् ब्रह्मा के देहरूप प्रकृति पदार्थ में से जो जो जाय मान पदार्थ समुत्पन्न हुए थे वे सभी के सभी पुनः उसी प्रकृति में लीयमान हो जाते हैं जैसे पक्षिगण आदित्य को अस्ताचलस्थ देख करके अपने अपने आवासवृक्षस्थित नीड में प्रविष्ट हो जाते हैं तद्वत् प्रकृत में भी समझना।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

जायन्ते । ब्रह्मणो राज्यागमे तत्रैव तस्मिन्नेवोत्पत्तिहेतुभूतेऽव्यक्तसंज्ञके ब्रह्मदेहावस्थ-प्रकृतिपदार्थे प्रलीयन्ते । हे पार्थ ! सः पूर्वं विद्यमान एवायमवशः कर्मपराधीनो भूतानां देवमनुष्यादीनां ग्रामः समुदायोऽहरागमे भूत्वा भूत्वा भूयो भूय उत्पद्य राज्यागमे पुनः पुनः प्रलीयते लयमाप्नोति। अहरागमे पुनः प्रभवति ॥१७।१८।१९॥

पूर्वं भगवन्तं प्राप्तानामपुनरावृत्तिरुक्ता तत ऐश्वर्यं प्राप्तानां पुनरावृत्तिरभिहिता सम्प्रति कैवल्यं प्राप्तानामपुनरावृत्तिमभिदधाति—पर इत्यादिना । तस्मादचेतनात्मकादव्यक्तात् पुरुषार्थतया पर उत्कृष्टोऽन्यो ज्ञानैकाकारोऽचेतनविजातीयः केनचित् प्रमाणेन ग्रहीतुमशक्यतयाऽव्यक्तः सनातन उत्पादविनाशशून्यो यो भावः पदार्थो-

हे पार्थ पृथानन्दन ! सः वह पूर्व में विद्यमान ही यह अवश कर्मपराधीन हो करके अह-रागम में ब्रह्मा के दिन के प्रारंभकाल में भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः समुत्पन्न हो करके पुनः रात के आगम अर्थात् रात्रि के प्रारंभ काल में पुनः उसी अव्यक्त पद वाच्य ब्रह्म शरीर रूप प्रकृति में लीयमान हो जाता हैं । इस प्रकार की सौवर्ष आयुवाले तदीय दिवस के आदि में प्रादुर्भाव तथा रात के प्रथम समय में पुनः प्रलय होता रहता हैं । इसलिए ऐश्वर्याभिलाषी का आवागमन होता रहता है और भगवान् के एकान्त भक्त का तो पुनरावर्तन नहीं होता है यही भेद अन्य देवोपासक तथा भगवदुपासक में है इस विषय को जगद्गुरु श्रीगंगाधराचार्यजी ने निम्न प्रकार से प्रतिपादन किया है—

"सत्यसन्धः प्रतिश्रुत्य प्रपन्नायाभयं स्वयम् । निवर्तयेद्भये नैनं श्रीरामः श्रितवत्सलः" ॥

यानी "अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम" के लोकोत्तर घोषणाकर शरणागत सभी जीवों को सर्वदा के लिये संसार भयसे मुक्त कर देने वाले श्रीरामप्रपन्नजन पुनः अधोगति कदापि प्राप्त नहीं करते हैं अतः अभय की इच्छा वाले जीवों को सर्वेश्वर श्रीरामजी की शरणागति स्वीकार करना चाहिये अन्य देवों की नहीं ॥१७।१८।१९॥

पूर्व में परमपुरुष को जिसने प्राप्त कर लिया उनकी अपुनरावृत्ति कही गई इसके बाद ऐश्वर्य को जिन्होंने प्राप्त किया है कालान्तर में उनकी पुनरावृत्ति हो जाती है ऐसा भी बतलाया । संप्रति कैवल्य मोक्ष प्राप्त पुरुष की पुनरावृत्ति नहीं होती है वह बतलाने के लिए कहते हैं "पर" इत्यादि दो श्लोकों से । अचेतनात्मक जो अव्यक्त प्रकृति शब्द के वाच्य हैं उन प्रकृति पद वाच्य अव्यक्त से पुरुषार्थरूप होने से पर अर्थात् उत्कृष्ट भिन्न ज्ञान मात्र आकार

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

ऽस्तीतिशेषः । सर्वेष्वाकाशादिषु भूतेषु नश्यत्सु सत्सु न विनश्यति विनाशं न प्राप्नोति । शास्त्रेष्वव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तोऽभिहितस्तमक्षरशब्दाभिहितं प्रकृतिसंसर्गविरहितात्मस्वरूपं तत्त्वज्ञाः परमां गतिं प्राप्यमाहुरुदीरयन्ति । यमात्मस्वरूपं प्राप्योपलभ्य न निवर्तन्ते न पुनरावर्तन्ते तदात्मस्वरूपं मम सर्वेश्वरस्य परमं धाम प्रकाशो ज्ञानमित्यर्थः । प्रकृतिसंसृष्टपरिच्छिन्नज्ञानात्मकादात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानत्वेन मुक्तात्मस्वरूपस्यपरत्वमस्तीति भावः ॥२०॥२१॥

वाला अचेतन से विजातीय विलक्षण आगम प्रमाणातिरिक्त प्रमाण चक्षुरादिक से ग्रहण करने में अशक्य होने से अव्यक्त और सनातन अर्थात् उत्पाद विनाशात्मक भावधर्म से रहित जो भाव पदार्थ है। (यदि वे भाव प्रमाण से वेद्य नहीं हैं तब तो जैसे सहम रसः वा वन्ध्यापुत्र प्रमाणावेद्य होने से उसकी अस्तिता नहीं है उसी प्रकार भवदभिमत भाव पदार्थ का भी प्रमाणावेद्य होने से असत् हो जायगा।

उत्तर तथापि ज्ञानाकार होने से असत् नहीं है अर्थात् पदार्थ मात्र की सत्ता ज्ञानाधीन है और ज्ञान तो स्वयं प्रकाशमान होने से अनवस्थाभय से स्वान्यवेद्य नहीं है किन्तु स्वसंवेद्य होने से असत्त्वापादन दोष नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि जो पदार्थरूप रसादिमान प्राकृतिक है वह स्वसत्ता में प्रमाणाधीन है आत्मा तो रूप रसादि प्राकृतिक धर्म विहीन होने से तथा प्रकृति सम्बन्ध रहित होने से स्वयं प्रकाशमान सद्रूप है। केवल चक्षुरादि लौकिक प्रमाणावेद्य होने से अव्यक्त पद बोध्य होता है न तु वन्ध्या पुत्र वत् असत् होने से अवेद्य तथा अज्ञेय है।) वह ज्ञानाकार जो भाव पदार्थ है वह प्राकृतिक आकाशादि भूत पद वाच्य पदार्थ के विनष्ट होने पर भी विनष्ट नहीं होता है। (जैसे सूत्र में आबद्ध विलक्षण संयोग विशिष्ट पुष्प समुदाय रूप माला में परस्पर कुसुम के व्यावर्तन होने पर भी सूत्र बुद्धि सर्वत्र अनुवर्तमान होने से कुसुम से भिन्न सूत्र है उसी प्रकार से प्राकृतिक पदार्थ के परस्पर व्यावर्तमान होने पर भी ज्ञानाकार सूत्र स्थानीय पदार्थ को सर्वत्र अनुवर्तमान होने के कारण कुसुम स्थानीय प्राकृतिक पदार्थ से व्यावृत्त है ज्ञानाकार पदार्थ तथा अविनाशी भी है) शास्त्र में भी कहा है "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः" यहाँ अक्षर शब्द से प्रतिपादित प्रकृति संसर्ग से रहित जो आत्मतत्त्व है उसे सत्त्व लोक परमा गति अर्थात् मुक्त पुरुष से प्राप्य कहते हैं। जिस प्रकृति सम्बन्ध रहित आत्मा स्वरूप को प्राप्त करके कामना मात्र पुनः संसार में नहीं आते

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

विशुद्धात्मनोऽपि क्षेत्रज्ञात् परमपुरुषः परः प्राप्यश्चेत्युच्यते-पुरुष इति । तु-शब्दः पक्षान्तरव्यावर्तकः । हे पार्थ ! परमगतिशब्देनोक्तक्षेत्रज्ञादपि पुरुषः 'सहस्रशीर्षा पुरुषः, 'पुरुष एवेदं सर्वम् ।, 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्, (श्वे.३।७) 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, (प्र. ५।५) इत्याद्यनेकश्रुतिसिद्धः परमात्मा है तादृश वह आत्म स्वरूप सर्वेश्वर परम तत्त्व जो मैं हूं उसका वह परमधाम है अर्थात् स्वप्रकाश स्वरूप ज्ञान है । प्रकृति से संबद्ध परिच्छिन्न ज्ञानरूप जो जीवात्मा उस जीवात्मा के अपेक्षया अपरिच्छिन्न प्रकृति संसर्ग विरहित ज्ञानत्व रूप से मुक्त आत्म स्वरूप में परत्व है यह भाव है ॥२०॥२१॥

प्रकृति सम्पर्क रहित अत एव विशुद्ध जो आत्मा मुक्त जीव एतादृश ज्ञान स्वभावक क्षेत्रज्ञ से भी परम पुरुष परमात्मा जो मुक्त पुरुष से प्राप्य है वह जीव से पर भिन्न है न तु जीव परम पुरुष में एकता है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "पुरुषः सः" इत्यादि । श्लोकस्थ तु शब्द जो है वह पक्षान्तर का निराकरण करनेवाला है । हे पार्थ अर्जुन ! परम गति शब्द से पूर्व कथित जो क्षेत्रज्ञ जीव है उस जीव से भी पुरुष परमात्मा जो कि "हजार मस्तक वाला हजार हस्त पादादि मान है" यह परि दृश्यमान जगत् पुरुषरूप ही है "उस पुरुष परमात्मा से यह जगत् पूर्ण है अर्थात् "वह उपासक यह जो जीव घन है उससे परात्पर पुरिश शरीर में अवस्थित पुरुष को देखता है" इत्यादि अनेक श्रुति से समर्थित परमात्मा है वह प्रकृत जो क्षेत्रज्ञ जीव है उस से पर हैं क्योंकि वह प्रकृत परमात्मा सर्वापेक्षया उत्कृष्ट है सभी जीवोंसे प्राप्ति के योग्य है और जड चिदात्मक सभी पदार्थ के अन्तः अवस्थित हो करके नियंत्रण करनेवाले हैं इसलिये जीव जो क्षेत्रज्ञ है उससे भिन्न ही परमात्मा हैं ऐसा सिद्ध होता है (जो जिसमें रहता है वह उससे भिन्न ही होता है जैसे घर में रहनेवाला देवदत्त गृह से भिन्न होता है । सभी जगह आधाराधेय भाव स्थल में आधाराधेय में भेद रहना ही है अन्यथा भेद न मानें तो आधाराधेयभाव नहीं होता है, कभी भी 'घटोघटः' इत्याकारक बोध नहीं होता है । प्रकृत में सर्व नियामक परमात्मा जब जीव के अन्तः में अवस्थित है तब अवश्यमेव जीव से भिन्न है प्रकृति के समान) प्रकृति तथा चेतन जीव से भिन्न जो परमपुरुष परमात्मा हैं वे अनन्याभक्ति से ही लभ्य होते हैं—प्राप्त होते हैं । भाष्यकारजी ने "भक्त्यैवलभ्यः" यहाँ पर एव शब्द का कथन किया है उसका अभिप्राय है कि भक्ति व्यतिरिक्त साधन से [illegible] प्राप्य नहीं हैं किन्तु भक्ति मात्रसे प्राप्य है एतावता मोक्ष [illegible] से होता है

यत्रकाले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ? ॥२३॥

परः प्रकृतक्षेत्रज्ञात् परः सर्वोत्कृष्टत्वेन प्राप्यत्वेन सर्वनियामकत्वेन च भिन्न एव । सचानन्यया भक्त्यैव लभ्यः प्राप्यः । यस्यान्तरवस्थितानि चराचरात्मकानि भूतानि तिष्ठन्ति । अनेन सर्वभूतानां परमकारणत्वमुक्तम् । येन चेदं सर्वं विश्वं ततं व्याप्तम् । अनेन च सर्वव्यापकत्वं सूचितम् ॥२२॥

एवं परमपुरुषोपासनया तद्धामप्राप्तिरिति स्थिरीकृतं परमपुरुषसायुज्यमुपेतानामिहलोके पुनरावृत्तिर्न भवतीत्यपि निश्चितम् । अथेदानीं केनाध्वना गतानामना-

ऐसा जिनका मत है उसका निराकरण हो जाता है। यद्यपि स्वसिद्धान्त में नित्य नैमित्तिक कर्माद्यनुष्ठानादि अनेक पदार्थ को भगवत् प्राप्ति में कारणता का कथन किया गया है तथापि वे सभी कारण बहिरंग हैं अन्तरंग कारणता तो अनन्याभक्ति में ही है अथवा अन्य सभी कारण अनन्याभक्ति के सहकार हैं मुख्य कारणता तो अनन्याभक्ति में ही है भगवत् प्राप्ति में। जिस सर्वज्ञ परमेश्वर के अभ्यन्तर में अवस्थित ये सभी चराचरात्मक भूत अवस्थित रहते हैं अर्थात् आकाशादिक सर्वभूत जिस परमेश्वर में अवस्थित हैं "अनेन" इस विशेषण से यह अभिव्यक्त होता है कि सर्वभूतों का परमकारण सर्वेश्वर परमात्मा ही हैं, जिस परमात्मा से यह संपूर्ण विश्व चराचरात्मक जगत् तत है अर्थात् व्याप्त है। इस विशेषण से परमात्मा में सर्वव्यापकत्व सूचित है। इन सब विशेषणों से "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा परमपुरुष से यह नामरूप के द्वारा व्याक्रियमाण स्थावर जंगमात्मक जगत् ईश्वर व्यतिरिक्त पुरुष महद् लोकपालादि से मन से भी अचिन्त्य रचना का विषयीभूत जगत् अप्रयत्नेन लीलाविलसित न्यायेन समुत्पन्न होता है और जिस पुरुष में उत्पन्न हो करके ब्रह्माजी के दिवसावसान पर्यन्त अवस्थित रहता है और ब्रह्माजी के दिवसावसान में प्रलयोन्मुख हो करके प्रलीयमान हो जाते हैं" यह जो श्रुति है उसका अनुस्मरण प्रकृत में कराया है ॥२२॥

यथोक्त प्रकार से जो परमपुरुष की उपासना करता है उस व्यक्ति को तादृश उपासना के द्वारा भगवत्धाम की प्राप्ति होती है इस बात को स्थिर किया जा चुका है। जो परम पुरुष के सायुज्य को प्राप्त कर गये हैं उन साधकों को इस इहलोक में पुनरागमन नहीं हो होता है इस बात का भी निरूपण किया गया है। अब इसके बाद किस मार्ग से इस

श्रुतिः केन चावृत्तिरिति निश्चेतुमनावर्तनपुनरावर्तनयोरध्वानौ वक्तुम्प्रतिजानीते—यत्रेति । हे भरतर्षभ ! देहात् प्राणोत्क्रमणानन्तरं यत्र कालेऽध्वनिर्देष्टृभिरातिवाहिकदेवैरभिमतेऽध्वनि प्रयाता योगिनो ब्रह्मोपासनान्यस्तकर्मवासना अनावृत्तिमर्चिरादिमार्गेणोर्ध्वपरमप्राप्यस्थानं सम्प्राप्य पुनरावृत्तिराहित्यं यान्ति । अन्ये चेष्टापूर्तादिकर्मानुष्ठानयोगिनः स्वानुष्ठितकर्मफलभोगायावृत्तिं धूममार्गेणचन्द्रलोकमासाद्य पुनरावृत्तिं यान्ति । एवशब्दस्यावृत्त्यनावृत्त्योरप्यन्वयः । तथा चानावृत्तिमेव यान्ति । न कदाचिदपि निवर्तन्तेऽर्चिरादिमार्गगामिनो धूममार्गगामिनस्त्वावृत्तिमेव यान्ति । चन्द्रलोकमासाद्य निवर्तन्त एवेत्यर्थः । तं कालं तत्तदातिवाहिकनीयमानध्वानं वक्ष्यामीति प्रतिजानीते ॥२३॥

रागमन होता है इस बात का निश्चय करने के लिए अपुनरावृत्ति तथा पुनरावृत्ति के मार्गद्वय को कहने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं "यत्रकाले" इत्यादि । हे भरतर्षभ ! भरत में सर्वश्रेष्ठ अर्जुन इस शरीर से उत्क्रमण निकलनेके बाद जिस काल में मार्ग का निर्देश करने वाले व्यक्तियों से आतिवाहिक देवों से अभिमत मार्ग में जाते हुए योगीलोग ब्रह्म की उपासना से परित्यक्त कर्मवासना वाले होकरके अनावृत्ति (अपुनरागमन) को अर्चिरादिमार्ग के द्वारा ऊपर परम प्राप्य स्थान ब्रह्मको संप्राप्त करके पुनरावृत्तिराहित्य अर्थात् अपुनरावृत्ति यानी जन्म मृत्यु से रहित हो जाते हैं और दूसरे जो इष्ट यानी अश्वमेध वाजपेय आदि क्रिया तथा पूर्त यानी धर्मशाला पाठशाला बगीचा आदि पारमार्थिक कर्म के अनुष्ठान करनेवाले योगी हैं वे लोग स्व से अनुष्ठित जो कर्म यानी अभिलाषापूर्वक निष्पादित कर्म उसका फलोपभोग करने के लिए आवृत्ति अर्थात् धूममार्ग यानी धूमयान मार्ग से चन्द्रमण्डल को प्राप्त करके (उस चन्द्रमण्डल में यावत् कर्म फलोपभोग करके भोगदायी कर्म के अवसानकाल में) पुनरावृत्ति को प्राप्त करते हैं अर्थात् चन्द्रमण्डल से उतर करके पुनः इस लोक में आते हैं जिनका जैसा अवशिष्ट कर्म रहता है उस कर्मशेष के अनुकूल व्याघ्रयोनि कीटपतंगादि योनियों में आते हैं । श्लोकस्थ जो एव शब्द है इसका अन्वय सम्बन्ध आवृत्ति अनावृत्ति इन दोनों के साथ होता है तो इसमें जो देवयान अर्चिरादिमार्ग से जाते हैं वे लोग तो अनावृत्ति को ही प्राप्त करते हैं कदाचिदपि इस लोक से निवृत्त नहीं होते हैं अर्चिरादिमार्ग से जानेवाले योगी लोग, और जो धूम मार्ग पितृयान से चन्द्रमण्डल पर जाते हैं वे लोग तो आवर्तन को ही प्राप्त करते हैं । चन्द्रलोक को प्राप्त करके जब तक पुण्य कर्म रहता है तब तक फलोपभोग करके कर्मावसानकाल में पुनः चन्द्रमण्डल से निवृत्त होते ही हैं । जिससे उपरोक्त दोनों बातें होती हैं उस काल को अर्थात् उन उन आतिवाहिक देवों से नीयमान मार्ग का कथन मैं करता हूं इस प्रकार की प्रतिज्ञा है २३

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

प्रतिज्ञातमर्थमभिधातुमादावपुनरावृत्तिलक्षणां शुक्लगतिमाह--अग्निरिति । अग्न्यादिशब्दास्तत्तदभिमानिदेवलक्षकास्तथा च तद्यथा इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति, इत्यादि श्रुतिदर्शितार्चिरादिक्रम एवात्राभिप्रेतः । अत्रास्मिन्नर्चिरादिमार्गे प्रयाता ब्रह्मविदो जना ब्रह्मपरमव्योम्नि परमपुरुषं प्राप्नुवन्ति । न चैते पुनरावर्त्तन्त इति भावः । तदोक्तं श्रीराम चिन्तनरत्ने--"निवार्य भवसम्बन्धमर्चिरादि पथेन हि । स्वधामानुभवौ दत्त्वा नित्यां सेवां ददाति च ॥२३॥" इति२४।

गत श्लोक में देवयान धूममार्ग रूप मार्गद्वय की प्रतिज्ञा की गई उन दोनों मार्ग रूप का स्वरूप कथन करने के लिए प्रशस्त होने के कारण अपुनरावृत्ति लक्षण शुक्ल गति अर्थात् देव यान मार्ग को बतलाने के लिये कहते हैं 'अग्निर्ज्योतिरित्यादि' यहाँ अग्नि प्रभृतिक जो शब्द है वह चेतन तत्तत् अग्न्यादि अभिमानी देव विशेषों का बोधक है न तु जडात्मक अग्न्यादि का बोधक है क्योंकि जड पदार्थ नेता नहीं होता है और विवरण ग्रन्थ से ऐसा मालूम होता है कि ले जानेवाले चेतन हैं । जब अग्न्यादि शब्द देवतोपलक्षक हैं ऐसा मान लिया जाय तब "जो ऐसा जानते हैं जो यह अरण्य में तप श्रद्धा का उपासना अनुष्ठान करते हैं वे अर्चिष में प्राप्त होते हैं" इत्यादि श्रुति से प्रदर्शित अर्चिरादि क्रम ही यहाँ अभिप्रेत है । इस अर्चिरादि मार्गसे जानेवाले ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ।

अर्थात् ब्रह्म शब्द परम व्योम परमात्मा का वाचक है अतः इस अर्चिरादिमार्गसे जानेवाले साधक परमपुरुष परमात्मा को प्राप्त करते हैं अर्थात् सायुज्य मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं । ये अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किये हुए योगी लोग पुनः इस मानव आवर्त में नहीं आते हैं । एतादृश महानुभाव को लक्षित करके ही "न स पुनरावर्त्तते" यह श्रुति पुनरावर्त्तन का निराकरण करती है । इस बात का स्पष्टीकरण श्रीरामचिन्तन रत्ननामक ग्रन्थमें किया है । "स्वकीय अनन्यभक्त को सर्वेश्वर श्रीराघवेन्द्र सरकार पहले संसार सम्बन्ध से हटा करके तदनन्तर शरीर पात के उत्तर काल यानी मृत्युके बाद में अर्चिरादि यानी देवयानमार्ग के द्वारा स्वकीय जो परमदिव्य साकेत धाम है उसकी प्राप्ति कराते हैं । तदनन्तर अनेकदिव्य गुण युक्त स्वका यानी सर्वेश श्रीराम का लोकोत्तर अनुभव उसे देकर के अपनी निरवद्य सर्व कल्याण देनेवाली जो स्वकीय सेवा है तादृश सेवा को भी प्रदान करते हैं" । उसमें देवयान मार्ग का क्रम इस प्रकार है साधक नाडी रश्मि प्रवेश के बाद अर्चिष में जाता है तदनन्तर अर्चिष

धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

इदानीमावृत्तिकारकं पितृयाणाख्यं धूममार्गमाह—धूम इति । अत्रापि धूमादिशब्दास्तत्तदभिमानशालिदेवविशेषानुपलक्षयन्ति । अयमप्यध्वा छान्दोग्ये श्रूयते—अथ य इमे ग्राम इष्टा पूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति, (छा ५।१०।३) इति । ये गृहस्था यागदानहोमादिपरास्ते धूमयानमार्गेण चन्द्रलोकमुपयान्ति । तत्र स्वानुष्ठितकर्मफलमुपभुज्य कर्मानुष्ठानयोगी पुनरप्यस्मिन् संसारे निवर्तते । अयं मार्गः कर्मिणां भूयो भूयः संसृतिप्रापकः । अतो मुमुक्षूणां वैराग्यसिद्ध्येऽत्र दर्शितः ॥२५॥

से दिन में दिन से आपूर्यमाण पक्ष में आपूर्यमाण पक्ष से उत्तरायण में तदनन्तर मासमें तदनन्तर मास से संवत्सर में संवत्सर से वायु में वायु से आदित्य में आदित्य से चन्द्रमा में चन्द्रमा से वद्युत् में विद्यु से वारुण में वारुण से ऐन्द्र में ऐन्द्र से धातृ लोक में धातृलोक से विरजा में जाते हैं उस विरजा नदी में स्नान करके दिव्य साकेत लोक द्वार में प्रविष्ट होता है । यह क्रम समस्त श्रुति स्मृति स्व सम्प्रदायादिक ग्रन्थ सम्मत है ॥२४॥

देवयानमार्ग का कथन करके पुनरावर्तन करनेवाला पितृयान नामक धूममार्ग को बतलाते हैं "धूम" इति । इस श्लोक में भी धूमादिक जो शब्द हैं वे धूमादि के अभिमान शाली तत्तत् देव विशेष के उपलक्षक हैं अर्थात् धूम शब्द से धूमाभिमानी देवता का बोध होता है एवं आगे भी इसी प्रकार से अभिमानी देवता का हो बोध होता है । यह भी धूमयान मार्ग छान्दोग्य श्रुति में आया है तथा हि जो व्यक्ति दत्तापूर्तादि कर्म को करता है वह धूम में अभिसम्बद्ध होता है' इत्यादि । जो गृहस्थ याग दान होम प्रभृति सत्कर्म करता है वह शरीरपात के अनन्तर काल में धूमयान दक्षिणमार्ग से चन्द्रलोक में जाता है । उस चन्द्रमण्डल में स्व से अनुष्ठित जो दान होम यागादिक कर्मकलाप हैं उनका अनुकूल फल भोग करके वह कर्मानुष्ठाता योगी पुनः कर्मफल भोगावसान में इस संसार में लौट करके आता है । यह जो धूमयान मार्ग है वह बारम्बार कर्म योगी को संसार गति का प्रापक है । इस प्रकरण में धूमयान का जो कथन किया गया है वह मुमुक्षु को वैराग्य संपादन करने के लिए कहा गया है । जिस लिए यह मार्ग संसार प्रापक है इसलिए मुमुक्षु साधक को चाहिए कि इसे छोड करके देवयान मार्ग का ही अवलम्बन करे ।२५

शुक्लकृष्णे गती अर्चिरादिधूमादिमार्गौ अनयोर्गत्योः शुक्लकृष्णशब्दाभ्यामभिधाने हेतस्तु शुक्लकृष्णपक्षघटितत्वादिरेव जगतो भक्तस्य पुण्यकर्मशीलस्य च। शाश्वते मते। हि पञ्चाग्निविद्यादौ प्रसिद्धम्। उभयोरेकया शुक्लया गत्या गत उपास्य कोऽनावृत्तिं याति। न स पुनरावर्त्तत इति श्रुतेः। अत एवोक्तं श्रीरामप्राप्तिपद्धतौ—"श्रीरामं समवाप्नोऽयं कर्मयोनिं न गच्छति॥४७॥ आनन्दीनाथ जीवोऽयं रामं प्राप्य रसात्मकम्। समिच्छति पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्॥४८॥ सत्यसन्धः प्रतिश्रुत्य प्रपन्नायाभयं स्वयम्। निवर्त्तयेद् भये नैनं श्रीरामः श्रितवत्सलः॥४९॥ इति। अन्यया कृष्णया। धूमादिगत्येत्यर्थः। गतः पुण्यकर्ता पुनरावर्तते। 'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इति श्रुतेः॥२६॥

पूर्वकथित जो देवयान मार्ग हैं इन दोनों मार्गों का जो फल है उस फल का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—'शुक्लेत्यादि' यह जो देवयान मार्ग तथा धूमयान मार्ग पूर्व श्लोक में कहा गया है वह शुक्लगति तथा कृष्णगति अर्थात् अर्चिरादि मार्ग तथा धूमादि मार्ग इन दोनों गतियों का शुक्ल शब्द से तथा कृष्ण शब्द से जो कथन है उस कथनमें कारण शुक्ल-पक्ष तथा कृष्ण पक्षादि घटितत्व ही है। अर्थात् शुक्ल पक्ष से घटित है और ज्ञान के प्रकाशक अग्न्यादि देव से अधिष्ठित है तथा इस मार्ग में प्रकाशात्मक जो लोक है उसकी बहुलता है यद्वा पुनरावृत्ति कार्य का संपादक नहीं है इसलिये अर्चिरादि गति को शुक्ल गति शब्द से व्यवहार होता है। एवं कृष्ण पक्ष घटित होने से और अनधिक प्रकाशात्मक धूमदेवता रात्रि देवता से अधिष्ठित है तथा अप्रकाशात्मक लोक की बहुलता है यद्वा बारंबार संसार गति के जनक होने से अपकृष्ट है इसलिए धूमयान मार्ग का कृष्णगति से कथन किया गया है। ये जो दोनों गति हैं शुक्ल तथा कृष्ण वे जगत् के भक्त के लिए तथा पुण्य कर्म शील व्यक्ति के लिए अर्थात् ज्ञानी तथा कर्मानुष्टान करनेवालों के लिए शाश्वत हैं प्रतिनियत है क्योंकि पंचाग्नि विद्या के प्रकरण में छान्दोग्यादि श्रुति में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन दोनों मार्गों के बीच में से एक या शुक्ल गति से गया हुआ उपासक ज्ञानी भक्त अनावृत्ति अपुनरागमन को प्राप्त करता है क्योंकि 'न स पुनरावर्तते' शुक्ल गति से गया हुआ ज्ञानी उपासक पुनः संसार में लौट करके नहीं आता है ऐसी श्रुति कहती है। अत एव जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने श्रीरामप्राप्ति पद्धति नामक निबन्ध में कहा है 'भगवान् श्रीरामचन्द्रजी यानी अनन्त गुण सागर परमात्मा श्रीरामजी को प्राप्त किया हुआ मानव पुनः कर्म फल भोग के अधिष्ठान भूत योनि में प्राप्त नहीं होता है अर्थात् पुनः कर्मफल का भोग करने के लिए जन्मग्रहण नहीं करता है। रसात्मक रससार स्वरूप भगवान् श्रीराम को प्राप्त करके पूर्ण से दुःख से कोसो दूर होता हुआ

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

एतद्गतिज्ञानवन्तं स्तुवन् प्रकृतमुपसंहरते—नैते इति । हे पार्थ ! परमधामप्राप्तयेऽर्चिरादिसृतिं संसृतिप्राप्तये च धूमसृतिं जानन् ग्राह्याग्राह्यतया निश्चिन्वन् योगी कश्चनापि नैव मुह्यति । हे अर्जुन ! तस्मात् संसारनिवृत्तये परमपुरुषावाप्तये च सर्वेषु कालेषु योगयुक्तोऽर्चिरादिमार्गप्रापकब्रह्मोपासनाख्ययोगयुक्तो भव ॥२७॥

भगवत् प्राप्त होने से नित्यनिरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है इसलिए पुनर्जन्म को नहीं चाहता है क्योंकि इस अशाश्वत दुःखरूप सागर में अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्र का दर्शन जिसलिये जीव को निरतिशय सुख देनेवाले होते हैं इसलिए दुःख का अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं चाहते हैं । सत्य संध सत्यप्रतिज्ञ भगवान् श्रीरामजी स्व शरणागत व्यक्ति को अभय देने के लिए अभयदान की स्वयमेव प्रतिज्ञा करके पुनः इस शरणागत व्यक्ति को भय से युक्त नहीं करते हैं । क्योंकि भगवान् श्रीरामजी शरणागत वत्सल हैं इत्यादि और दूसरी कृष्णा गति से अर्थात् धूमयानगति मार्ग से जानेवाले यानि सकाम पुण्य कर्म को करने वाले कर्म योगी लोग पुनः आवर्तित होते हैं । श्रुति भी कहती है 'सकाम कर्मयोगी उस चन्द्र लोक से पुनः इस लोक में आते हैं कर्म करने के लिए' इसलिये मुमुक्षु लोग कृष्णा गति को छोड करके शुक्लागति चाहने वाले ही हों क्योंकि शुक्ल मार्ग अपुनरावृत्ति जनक होता है कृष्णा नहीं ॥२६॥

दो प्रकार का मार्ग कहा गया एक तो देवयान मार्ग जिसे शुक्ला गति भी कहते हैं । द्वितीय धूमयान मार्ग जिसे कहते हैं कृष्णा गति यह उभय शुक्ल कृष्ण गति विषयक जो ज्ञान है तादृश ज्ञानवान् योगी की प्रशंसा करते हुए गति प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं 'नैते' इत्यादि । हे पार्थ अर्जुन ! विष्णु का जो परम धाम मोक्ष स्थान है उसके लिए अर्चिरादि देवयान गति को तथा संसार का प्रापक धूमयान गति मार्ग को जानता हुआ अर्थात् शुक्ल गति अपुनरावृत्ति जनक है, एवं संसार रूप समुद्र में गिराने वाला धूमयान कृष्णा गति है इसमें से शुक्ला ग्राह्य है कृष्णा गति ग्राह्य नहीं है इस प्रकार निश्चय करता हुआ योगी वर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठान पूर्वक भगवान् श्रीसाकेताधिपति के शुभ ध्यान में परायण अधिकारी कभी भी मोह को प्राप्त नहीं करता है क्योंकि दोनों मार्ग का वास्तविक स्वरूप को तथा उपादेयत्व और अनुपादेयता का यथार्थ रूप से विचार करके कथमपि वह मोह को प्राप्त नहीं करता है । हे अर्जुन ! इसलिए संसार निवृत्ति के लिए तथा परम पुरुष सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी भगवान् की प्राप्ति के लिए सभी काल में सभी अवस्था में तुम योग युक्त बनो अर्थात् अर्चिरादि मार्ग के प्रापक जो श्रीराम ब्रह्मोपासना [illegible] योग है उस से युक्त बनो। [illegible] संसार [illegible] कृष्णगति के प्रतिकूल [illegible] ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

उपदिष्टार्थस्य फलमुपदर्शयन्नुपसंहरते-वेदेष्विति सविधिवेदाध्ययनयज्ञतपोदाने-ष्वनुष्ठितेषु यत् पुण्यफलं शास्त्रेण प्रदिष्टं तत् सर्वमिदं भगवदुपासनं विदित्वाऽत्येति-स्वयञ्च योगी भगवदनुध्यानयोगनिष्ठो भूत्वा सर्वेषामाद्यं सनातनं सर्वोत्कृष्टं स्थानं "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इति श्रुतिनिर्दिष्टमुपैति ॥२८॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्येऽक्षर ब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ॥ ॥

यथोक्त प्रकार से समुपदिष्ट कथित जो सप्तम प्रश्न विषयी भूत अर्थ है उस का जो फल तादृश फल को बतलाते हुए अर्थात् भगवदुपासन सर्वोत्कृष्ट फल का जनक है इसलिये तादृश उपासन मोक्ष कामनावान् के लिए सर्वदा उपादेय हैं यह बतलाते हुए प्रकृत प्रकरण का उपसंहार करते हैं 'वेदेषु' इत्यादि' वेद में अर्थात् ब्रह्मचर्य गुरु शुश्रूषादि नियम विशेष पूर्वक यथाविधि अधीत सांगवेद में तथा स्व स्व अधिकार तथा कामना के अनुकूल यथा विधिमनुष्ठित यज्ञ अग्नि होत्रादि कर्म विशेष में तथा मन वाणी शरीर इन्द्रिय को योग शास्त्रानुकूलरूप से संयत करके सोत्साह पूर्वक संपादित चान्द्रायण प्रभृतिक तपस्या में एवं शास्त्र विधि प्रतिपादित देशकाल सत्पात्र के लिए यथाविभव यथोत्साह प्रदीयमान दान में जो पुण्य फल अर्थात् यथाविधि संपादन करनेवालों के लिए वेदादि शास्त्रों में जो पुण्य विशेष लक्षण फल बतलाया गया है उन सभी फलों को यह जो सप्तम प्रश्न के प्रतिवचन के रूप में उपदिष्ट भगवान् की उपासना है उसे जान करके तथा यथा विधि अनुष्ठान करके अतिक्रमण करता है तथा स्वयं वह योगी भगवदनुध्यान लक्षण योगनिष्ठ हो करके सभी के आदि कारण सनातन सर्वापेक्षया परमोत्कृष्ट जो स्थान 'वह विष्णु का परमपद है जिसे विद्वान् लोग सर्वदा देखते हैं । आदित्य वर्ण तमसे परे है' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित मोक्ष लक्षण स्थान को प्राप्त कर जाते हैं । अर्थात् यथा विधि वेदाध्ययन यज्ञ तपस्या दानादि कर्म करने से जो फल शास्त्र में प्रतिपादित है उन सभी फलों के अपेक्षया अति उत्कृष्ट फल को देने वाला भगवदुपासन है यह ज्ञात करके तथा सविधि उसका अनुष्ठान करके योगी लोग फलराज परमधाम को पाते हैं जो अपुनरावृत्ति जनक है ॥२८॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीतगीतानन्दभाष्यतत्त्वदीपेऽष्टमोऽध्यायः

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

आनन्दभाष्यकार श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यऽनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

एवमुपासकविशेषस्वरूपपरिचयपूर्वकं तत्तदुपासनप्रकारं सफलमुपवर्ण्यार्जुनप्रश्नाभिकांक्षितः सर्वोऽप्यर्थः प्रतिपादितः । अधुनोपासनोपासकयोः स्वरूपविज्ञानेनोपास्यस्वरूपजिज्ञासा हृद्यधिरोहति तामुपास्यस्वरूपमाहात्म्यकथनेनादौ समाधाय भूय उपासनस्वरूपमेव वक्ष्यत्यानवमाध्यायम् । तत्रादावुपासनात्मकज्ञानस्य माहात्म्यमभिधीयते—इदमिति । पूर्वं कर्मज्ञाने प्रतिपादिते । ते च गुह्यगुह्यतरे इदन्तु गुह्यतममति-

गत अध्याय प्रकरण से उपासक व्यक्ति विशेष का जो स्वरूप विशेष उसके परिचयपूर्वक तत्तत् उपासन के प्रकार का सफल रूप से वर्णन करके अर्जुन के प्रश्न से अपेक्षित जितना पदार्थ था उन सभी पदार्थ का प्रतिपादन किया गया । अब यहाँ उपासना तथा उपासक जो व्यक्ति है उसका स्वरूपविषयक ज्ञान होने के बाद स्वभावत एव उपास्य जो परमपुरुष है तादृश उपास्य का स्वरूप विषयक अर्थात् जिसकी यह उपासना है तथा जिसका मैं उपासक हूं तादृश उपास्य का स्वरूप क्या है किमाकारक स्वरूप विशिष्ट की मैं उपासना करूंगा इस प्रकार की जिज्ञासा हृदय में उत्पन्न होती है । उस जिज्ञासा को उपास्य व्यक्ति का जो स्वरूप है तद्विषयक माहात्म्य कथन पूर्वक समाधान करके पुनरपि उपासना स्वरूप का ही कथन करेंगे नवम अध्याय के समाप्तिपर्यन्त । इसमें प्रथमतः उपासनात्मक ज्ञान का माहात्म्य कथन करते हैं 'इदन्तु ते' इत्यादि श्लोक से ।

पूर्व में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया गया है । उसमें से कर्मयोग जो है वह गुह्य है अर्थात् सर्वसाधारण के कहने योग्य नहीं होने से गुह्य गोपनीय है और ज्ञानयोग जो है वह तो गुह्यतर है अति न गोपनीय है उस में भी यह जो हम से वक्ष्यमाण विलक्षण ज्ञान है वह तो गुह्यतम है अतिशयेन गोप्यतम है। वह गुह्यतम ज्ञान अनसूय असूया रहित तुम को अर्थात प्रतिपाद्य वस्तु में प्रेम आदर विशिष्ट तुम को (गुण में दोष का आरोप करने का नाम है असूया और असूया से जो विपरीत हो उसका नाम है अनसूया जो गुण में गुणत्व प्रकारक बुद्धि रूपा है अर्थात् जो गुण जिसमें हैं उसे दोष समझना वह असूया और गुण को गुण रूप से जानने का नाम है अनसूया इस अनसूयता के कहने से अर्जुन

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

श्रयगोप्यमप्यनसूयवेऽसूयारहितायोपदेशेऽर्थे प्रेमादरविशिष्टाय ते तुभ्यं तच्च विज्ञानसहितमुपास्यदेवस्वरूपगुणविभूतिविस्तारसहितमेव प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा झटित्येवाशुभात् संसारप्रापककर्मफलान्मोक्ष्यसे मुक्तिं प्राप्स्यसि ॥१॥

सर्वेभ्य उपायेभ्योऽस्य श्रैष्ठ्यमाह–राजविद्येति । विद्यानां राजा राजविद्यं गुह्यानां राजा राजगुह्यं सर्वविद्यासु सर्वगोप्येषु च परमश्रेष्ठमिदमुत्तमं पवित्रं सांसारिकक्लेश-

में विनय योग्यता का प्रदर्शन किया जाता है जो असूयावान् होता है वह प्रतिपादित वस्तु में उपादेय बुद्धि को नहीं करता है अतः जिसे उपदेशदिया जाता है उसे अवश्य असूया रहित होना चाहिये । इसलिए मनु ने भी कहा है–'असूकाय मां मादास्तथास्त्वां वीर्यवत्तमा' विद्या ब्राह्मण से कहती है कि असूयक जो पुरुष है उसे विद्या प्रदान मत करो किन्तु असूयारहित को ही विद्या दो इससे मैं वीर्यवती अधिक फल देनेवाली बनूंगी ।' भगवान् श्रीकृष्ण गीता में यही कहेंगे 'न चा शुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति' जो सुनने की इच्छावाला नहीं है अथवा जो मुझ पर असूया करनेवाला है उसे यह गीता शास्त्र मत सुनाओ' ।

वह विज्ञान सहित ज्ञान उपास्यदेव के स्वरूप गुणविभूति के विस्तार सहित ही ज्ञान का उपदेश दूंगा। जिसे जानकर बहुत जल्दी अशुभ से संसार को देनेवाला जो कर्मफल उससे मुक्ति को प्राप्त कर जाओगे ।

यहाँ भगवान् की प्राप्ति में प्रतिबन्धक जो पुण्य–पाप है उन दोनों पुण्य–पाप से विमोक्षण अभिमत है । नरक का साधक पाप जैसे भगवान् की प्राप्ति में प्रतिबन्धक है इसी प्रकार पुण्य कर्म स्वर्गादि प्रापक होने से भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक है लोह शृंखला स्वर्ण शृंखलाके समान जैसे लोह सुवर्ण में तारतम्य होने पर भी बन्धन जनकता दोनों में समान है उसी प्रकार स्वरूपतः पुण्य पाप में भेद होने पर भी संसारापादकत्व समान रूप से है ॥१॥

सभी उपायों की अपेक्षा पराभक्ति रूप जो यह ज्ञानलक्षण उपाय है वह श्रेष्ठ है । इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं राजविद्येत्यादि राजविद्या का जो राजा है उसे 'राजविद्या कहते हैं । मुझ से उच्यमान जो पराभक्ति लक्षण रूप ज्ञान है वह सभी विद्याओं में श्रेष्ठ होने से इसे राजविद्या विद्याओं का राजा कहते हैं । तथा यह राजगुह्य है गोपनीय

मुन्मूल्य मत्स्वरूपावेदकत्वादुत्तमं पुण्यार्जकत्वाच्च पवित्रमवगम्यत इत्यमात्रवगमोऽर्थः, प्रत्यक्षोऽवगमो यस्य तत्प्रत्यक्षावगमं स्वविषयीभूतमर्थं हस्तामलकवत् प्रकाशकमिदम्, उपासनात्मकेनानेन ज्ञानेन वशीभूतोऽहमुपासकं स्वात्मानमपिदर्शयामीति भावः । धर्म्यं धर्मादनपेतं यथा यागादिः स्वर्गसाधनत्वेन धर्म्यं तथाऽप्यपि मत्स्वरूपावाप्तिलक्षण मोक्षसाधनतया धर्म्यत्वमत एव सुसुखं कर्तुं सम्यगनुष्ठान आयासरहितमव्ययं मद्व्याप्तिं विधायापि स्वरूपेण न विनष्टं प्रत्युत स्वरूपेणाधिक्यमासाद्यावस्थितम् ॥२॥

वस्तुओं के बीच में यह प्रधान रूप से गोपनीय होने से राजगुह्य है। अर्थात् सर्व विद्या में तथा सर्वगुह्यों में परम श्रेष्ठ है। यह ज्ञान लक्षण उपाय उत्तम पवित्र है अर्थात् संसार सम्बन्धी जो क्लेश समुदाय है उस क्लेश को समूल विनाश करके मुझ सर्वेश्वर का जो स्वरूप है उस स्वरूप का बोधक होने से उत्तम है और पुण्य का अर्जक होने से पवित्र है। (मन वाणी शरीर से अर्जित जो अशेष पापराशि उसका विनाशक होने से सभी व्रत उपासनादि की अपेक्षा पवित्र है। अन्य जो व्रतोपवासादिक है वह तो क्रिया काल में ही पवित्र करता है यह जो ज्ञान है वह तो आजीवन पवित्र करके निःश्रेयस मोक्ष को देता है अतः पवित्रता में भी उत्तम है।) यह जो ज्ञान है वह प्रत्यक्षावगम है जो ज्ञान के द्वारा जाना जाय उसे अवगम कहते हैं अर्थात् विषय को अवगम कहते हैं और प्रत्यक्ष है अवगम विषय जिसका उसका नाम हुआ प्रत्यक्षावगम अर्थात् मैं जिस ज्ञान का प्रतिपादन कर रहा हूं वह ज्ञान स्वविषयीभूत पदार्थ का हाथ में रखे आंवला के सदृश प्रकाशक है। उपासनात्मक जो यह ज्ञान है उस ज्ञान के द्वारा वशीभूत हो करके मैं अपने स्वरूप को भी प्रदर्शित कर देता हूं यह भाव है। यह ज्ञान धर्म्य है धर्म से अनपेत है जैसे अग्निहोत्र प्रभृतिक याग स्वर्ग का साधक होने से धर्म्य है उसी प्रकार ज्ञान भी भगवत् स्वरूप के प्राप्तिलक्षण जो मोक्ष उस मोक्ष के प्रति साधक होने से धर्म्य है अतएव यह ज्ञान सब के संपादन करने में सुसुख है स्वकीयानुष्ठान में आयास रहित है अर्थात् और जो धर्म है उसके अनुष्ठान करने से शरीरादि के श्रम की बहुलता है इसके अनुष्ठान करने में किसी प्रकार की श्रमबहुलता नहीं है और यह ज्ञान अव्यय है अविनाशी है अर्थात् भगवत् प्राप्ति लक्षण फल के समुत्पादन करके बाद में भी स्वरूप से विनष्ट नहीं होता है अपितु स्वरूप से अधिकता को प्राप्त करके अवस्थित ही रहता है इसलिए यह ज्ञानरूप साधन अव्यय कहलाता है। हे अर्जुन! अन्य साधन के समान फल दे करके यह ज्ञानस्वरूप से विनष्ट नहीं होता है अतः यह महाफलदायक है इसमें तुम श्रद्धा करके उपादेय बुद्धि से इसका संग्रह करो ऐसा भगवान् का अभिप्राय अभिव्यक्त होता है ॥२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ?।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।३॥

एवमिदं ज्ञानं प्रशस्यात्राभिरुचिरहितान् निन्दति अश्रद्दधाना इति। हे परन्तप! अस्य मद्विषयकोपासनात्मकज्ञानस्य धर्मस्याश्रद्दधाना अस्मिन् धर्मे तत्फलेऽपि च श्रद्धारहिताः पुरुषा मां सर्वेश्वरमखिलहेयप्रत्यनीकदिव्यकल्याणगुणसागरमप्राप्यैव मृत्युप्रदसंसारवर्त्मनि पुनः पुनर्निवर्त्तन्ते संसारभयात् कदाचिदपि नोपरमन्ते। अतोऽत्र मदुपासनात्मकज्ञाने सर्वात्मना श्रद्धा विधेयेति तत्त्वम् ।३॥

यथोक्त प्रकार से इस विलक्षण ज्ञान की प्रशंसा करके जो व्यक्ति एतादृश साधनान्तर से विलक्षण भगवद्धाम प्रापक इस ज्ञान में अभिरुचि नहीं रखता है उस हतभाग्य पुरुषापसद की निन्दा करतेहुए कहते हैं "अश्रद्दधाना" इत्यादि ।

हे परन्तप अर्जुन ! यह जो मद्विषयक सर्वेश्वर की उपासना है तत्स्वरूपज्ञानात्मक धर्म के ऊपर अश्रद्दधान अर्थात् उपासनात्मक ज्ञानाख्य धर्म में तथा तादृशज्ञानजन्य जो नित्यनिरतिशय सुखात्मक मोक्षलक्षण फल है उसमें श्रद्धा रहित पुरुष है नित्यनिरतिशय सुखरूप मोक्षात्मक फल नहीं है, यदि कदाचित् कोई लोग मोक्षफल है ऐसा मानते हैं तथापि उस मोक्षफल के प्रति उपर्युक्त ज्ञान कारण नहीं है यद्यपि श्रुति स्मृति में एतादृश कारणका प्रतिपादन है भी तथापि वह केवल अर्थवाद है विधायक नहीं है, इत्यादि रूप से माननेवाले जो पुरुष हैं वे मुझ सर्वेश्वर अखिलहेयगुण के विरोधी दिव्यानेक कल्याणगुण के सागर स्वरूप परमात्मा को कदाचिदपि प्राप्त नहीं करके मृत्यु जन्म जरादि का प्रापक इस संसार लक्षण मार्ग में ही बारंबार निमज्जन होते रहते हैं । सांसारिक जो भय है उससे कभी भी उपरत नहीं होते हैं अर्थात् संसार से निवृत्त होने का कारण है भगवदुपासनात्मक ज्ञान उस ज्ञान का संग्रह नहीं किया प्रत्युत अश्रद्धावश होकरके तादृश संसार निराकरणपरक कारण को छोड करके संसार संपादक कारण का संचय किया तब उसे मोक्ष की आशा कहाँ होगी प्रत्युत उसका संसार में ही बारंबार पतन होता है । अतः एतादृश व्यक्ति "रोपे पेड बबूल का आम कहा ते खाय" यह जो लौकिक कथन है उसका अतिक्रमण नहीं करता है । इसलिये अर्जुन ! यह जो भगवदुपासनात्मक ज्ञान है उसमें सर्वात्मना श्रद्धा करनी चाहिये ॥३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

एवं परभक्तिरूपापन्नं प्रशस्य तत्स्वरूपं स्पष्टतया विवक्षुः सति कुड्ये चित्रमिति न्यायेन सत्युपेयपरिज्ञाने तदुपायः शक्योऽवगन्तुमित्यादावुपेयस्वरूपं प्रतिपादयति—मयेत्यादिना प्रकरणेन । इदं चराचरं सर्वं जगत् । अव्यक्ताऽप्रकाशिता मूर्तिः स्वरूपं यस्य सोऽव्यक्तमूर्तिस्तेन मया धारकेन नियामकेन । शेषिरूपेणेति यावत् ततं व्याप्तम् । अतः सर्वभूतानि मत्स्थानि मयिस्थितानि । अन्तर्यामिणो ममाधीनस्थितिनियमानि सन्तीत्यर्थः । अहञ्च तेषु नावस्थितः । ममस्थितिस्तु न तेषामायत्तेत्यर्थः ॥४॥

ननु यदि सर्वभूतानां त्वमेव धारकश्चेज्जलादिधारकघटादेरिव तत्राप्यस्वतन्त्र-

पूर्वोक्त प्रकार से पराभक्ति का स्वरूपात्मक जो भगवदुपासनात्मक ज्ञान है वह मोक्षप्रद है इत्यादिरूप से उस उपासनात्मक ज्ञान की प्रशंसा करके उस ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट रूपसे कथन करने की इच्छा से "यदि दिवाल हो तो उसके ऊपर चित्र बनाया जा सकता है" इस न्याय से उपेय प्राप्तव्य वस्तु उसका ज्ञान होने के बाद में ही उसके उपाय को जाना जा सकता है इसलिये प्रथमतः उपेय स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं "मया ततमिदम्" इत्यादि प्रकरण से । हे अर्जुन ! यह जो स्थावर जंगमात्मक सकल जगत् कार्यजात है वह अव्यक्त है इन्द्रियादि द्वारा अप्रकाशित मूर्तिस्वरूप है जिसका उसे कहते हैं अव्यक्तमूर्ति, उस अव्यक्त मूर्तिमान् मुझ परमात्मा से यह संपूर्ण स्थावर जंगम विश्व तत है व्याप्त है क्योंकि मैं इन सभी पदार्थों को धारण करने वाला हूं, नियामक हूं, सभी का अंगी हूं । "जो पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के अन्तर है जिसका पृथ्वी शरीर है जिसको पृथ्वी नहीं समझ सकती है वह अन्तर्यामी आत्मा है । एवं जो आत्मा में रहता है । जिसकी आत्माशरीर है" इत्यादि श्रुत्यर्थ का स्मरण भाष्यकार ने कराया है । इसलिये पृथिव्यादि का चर अचर स्वरूपभूत मुझ परमात्मा में अवस्थित है अर्थात् अन्तर्यामी जो मैं सर्वेश्वर हूं उस परमेश्वर के अधीन इन सभी पदार्थों का स्थिति तथा नियमनादिक है और मैं इन सब वस्तु . अवस्थित नहीं हूं, अर्थात् मेरी स्थिति इन सब पदार्थों के अधीन नहीं है मैं तो स्वकीय महिमा में व्यवस्थित रहता हूं यानी अन्याधीन स्थितिक नहीं हूं ॥४॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

धारकत्वं घटेतेत्यत आह न चेति । भूतानि घटादाविव न मत्स्थानि न मयि स्थितानि । यथा घटादिर्जलादिकं पतनप्रतिबन्धिना संयोगेन सम्बन्धेन धारयति नाहं तथा भूतानि धारयामीत्यर्थः । तर्हि प्रागुक्तयोस्तव धारकत्वनियामकत्वयोर्विरोधः स्यादित्यत आह–पश्येति । मे मम सर्वधारकस्य सर्वनियन्तुश्चैश्वरमीश्वरसम्बन्धिनमीश्वरस्यममसाधारणमितियावत् । योगं युक्तिमघटितघटनाचातुरीमित्यर्थः । पश्य । अहं भूतानि बिभर्तीति भूतभृद् भूतानां धारको न च भूतस्थो न च भूताधीनस्थितिकः । ननु न च मत्स्थानि भूतानीतित्वदुक्त्या त्वय्यनवस्थितानि चेद् भूतानि कथं त्वं भूतभृदित्यत आह–ममेति । ममात्मा संकल्पो भूतभावनो भूतानां भावनो धारको नियामकश्चातो न काचिदनुपपत्तिः ॥५॥

सर्वस्य स्थावरजंगमात्मकस्य जगतः सङ्कल्पायत्तस्थितिप्रवृत्तिकत्वे दृष्टान्तमाह–

हे भगवन् ! यदि आप सर्वभूतों का धारक हैं तब तो जलादि को धारण करनेवाले घटादि के समान आप में भी स्वतन्त्र धारकत्व नहीं होता है। जैसे जल का धारक घट है तो धारक भी तो पृथिव्यादिक अथवा पुरुष कोई है तो पुरुष धार्य घट में जल धारकता होने से स्वतन्त्र धारकता नहीं है किन्तु पराधीन धारकता है तद्वत् आप में भी स्वतन्त्र धारकता नहीं घटती है इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं 'न च मदित्यादि' हे अर्जुन घटादि के समान मुझ में स्थित भूत नहीं है । जैसे घटादिक पदार्थ पतन प्रतिबन्धकात्मक वृत्तिता नियामक संयोग संबन्ध से जलादिक आधेय को धारण करते हैं उस प्रकार मैं भूतों का धारक नहीं हूं। तब तो साहब आप में पूर्वोक्त जो धारकत्व और नियामकत्व है वह तो नहीं घटता है इसके उत्तर में कहते है 'पश्य मे' इत्यादि सर्व धारक सर्व नियन्ता मेरा ईश्वर सम्बन्धी योग ऐश्वर्य को देखो। अघटित घटना चातुरी लक्षण योग को देखो मैं भूतों को धारण करता हूं इसलिये भूत हूं परन्तु भूतस्थ भूताधीन स्थिति वाला नहीं हूं ।

शंका यदि मत्स्थानिभूतानि इस कथन से आप में भूत अनवस्थित हो तब तो आप भूत भृत् कैसे हुए। इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'ममेत्यादि' मेरी आत्मा संकल्प भूत भावन अर्थात् भूतों का धारक है तथा नियामक है इसलिये कोई भी अनुपपत्ति नहीं होती है। अथवा दृष्टान्तगत सर्व धर्म दार्ष्टान्तिक में नहीं माना जाता है अन्यथा दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव ही विलुप्त हो जायगा किन्तु यद किंचित साधर्म्यमात्रप्रयोजक होता है ॥५॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

यथेति । यथा येन प्रकारेण नित्यमाकाशस्थितो नभसि स्थितः सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः सर्वत्र गतिमान् महान् वायुर्मत्स्थो मदधीनस्थितिप्रवृत्तिकस्तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि मदधीनस्थितिप्रवृत्तिकानीत्युपधारय "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।" (तै. आन. ८ अनु) "भीषास्माद्वातः पवते" इत्यादिश्रुतेः ॥६॥

भूतानां भगवदधीनस्थितिप्रवृत्तिवदुत्पत्तिप्रलयावपि भगवदधीनावेवेत्याह—सर्वेति। हे कौन्तेय ! सर्वभूतानि द्विपरार्धकालरूपं ब्रह्मण आयुःकल्पस्तस्य क्षयेऽवसाने

स्थावर जंगमात्मक समस्त जगत् की स्थिति मदीय संकल्प के अधीन है इस बात को दृष्टान्त पूर्वक बतलाते हैं 'यथाकाश स्थितः' इत्यादि । हे अर्जुन ! यथा जिस प्रकार नित्य अर्थात् नियम से आकाश नभस में स्वभाव से गति निरोध रहित नभस में सर्वत्र जो चले उसका नाम है सर्वत्र सर्वत्र गतिमान् अत एव महान् वायु मुझ में रहनेवाला है अर्थात् मदधीन स्थितिक है आकाश निरालंब है अर्थात् किसी भी द्रव्य का अधिकरण नहीं है परन्तु संपूर्ण आकाश में वायु का गमन होता है तो यह वायु किसे अधिकरण बनाकर स्थित है तो वहाँ कहना पड़ता है कि वायु का आधार परमेश्वर है इसी प्रकार से सभी भूत पृथिव्यादिक पदार्थ मात्र मदधीन स्थितिक है ऐसा तुम निश्चित रूप से मानो । हे गार्गी ! यह जो अक्षर परमेश्वर है इसी के प्रशासन से सूर्य चन्द्रमा प्रभृतिक पदार्थ स्थिर रहते हैं' इस परमेश्वर के भय से वायु अपनी पवनक्रिया का नियमतः पालन करता है ईश्वर के भय से ही नियमित समय से सूर्य उदित तथा अस्तमित होते हैं और जिस परमेश्वर के भय से इन्द्र यम प्रभृतिक देवगण तत्तत् कार्य में अतन्द्रित हो करके प्रवृत्त रहते हैं" इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि सभी की प्रवृत्ति तथा स्थिति परमेश्वराधीन है ॥६॥

जिस तरह आकाशादि भूत पदार्थों का अवस्थान भगवदधीन है उसी प्रकार भूतों का उत्पत्ति प्रलय भी भगवदधीन ही है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "सर्व भूतानीत्यादि' हे कौन्तेय ! द्विपरार्ध काल लक्षण ब्रह्मा कमलासन लोकस्थ जो चतुर्मुख हैं उनका आयुकाल है उसी को कल्प कहते हैं उस कल्प के क्षय समाप्ति होनेपर अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्मा के अवसानकाल में

"द्विपरार्धेऽतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय हि ।"

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

मामिकां मच्छरीररूपाव्यक्तप्रकृतिमविभक्तनामरूपां तमःशब्दाभिधेयां यान्त्यवाप्नुवन्ति । मत्सङ्कल्पात् प्रकृतिमाविशन्तीत्यर्थः । कल्पस्यादावारम्भे तानि तत्सजातीयानि सर्वाणि भूतान्यहं सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पश्चाहं सर्वेश्वरः पुनर्विसृजाम्युत्पादयामि । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ......" "मनसेव जगत्सृष्टिं संहारं च करोति यः" इत्यादयः श्रुतयः स्मृतयश्च तथैवाहुः ॥७॥

अथ सृष्टिप्रकारमाह—प्रकृतिमिति । स्वां स्वीयां त्रिविधविकारोत्पादिकां तमःस्वरूपाव्यक्तप्रकृतिमवष्टभ्याश्रित्य भूमिरापोऽनलो वायुरित्युक्तप्रकारेणाष्टधा परिणम-

परमेष्ठी ब्रह्मा के द्विपरार्ध के अवसान में अतिक्रान्त हो जाने पर तब सात जो प्रकृति महत्तत्व अहंकार शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा गन्धतन्मात्रा ये सातों प्रलयोन्मुख हो जाते हैं तादृश कल्पावसान में सभी भूत आकाश वायु तेज जल पृथिवी लक्षण सभी भूत तथा चेतन मेरी जो प्रकृति परमात्मा के शरीर लक्षण प्रकृति है उस अव्यक्त में जिसे अविभक्त नामरूप वाली प्रकृति कहते है जो तम शब्द से वाच्य है उस भगवत्तनु भूत अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । यानी मुझ परमेश्वर के संकल्प से सभी स्थावर जंगम भूत प्रकृति में प्रविष्ट हो जाते हैं । 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । तेजस्यापः प्रलीयन्ते' हे देवर्षे ! जायमान सभी पदार्थ के आधार रूप पृथिवी जल में प्रलीयमान हो जाती है जल तेज में तेज वायु में वायु आकाश में आकाश तन्मात्रा में तन्मात्रा अहंकार में अहंकार महत्तत्व में महत्तत्व अक्षर में अक्षर तम में विलीयमान हो जाते हैं और तम जो है वह पर जो देव यानी साकेताधिपति हैं उसमें प्रलीयमान हो जाता है । इत्यादि स्थल में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि प्रलय काल में मेरे संकल्प से सभी भूतों का प्रलय होता है । पुनः कल्प के आदि में वे सभी के सभी स्थावर जंगम भूत तत्सजातीय सभी भूतों को सत्य संकल्प सर्वज्ञ सर्वेश्वर मैं पुनः विसृजित करता हूं, अर्थात् सभी भूतों को उत्पन्न करता हूं । इसमें 'यतो वा' इत्यादि श्रुति जिस परमेश्वर से सभी भूत स्थावर जंगम लक्षण उत्पन्न होते हैं जिसमें स्थिति काल में स्थित रहते हैं और प्रलय काल में प्रलीयमान हो जाते हैं 'मन से सत्य संकल्प से जो परमात्मा जगत् की सृष्टि तथा संहार करते हैं इत्यादि श्रुति तथा स्मृतियाँ इस बात का प्रतिपादन करती हैं अर्थात् भूतों का सृष्टि तथा प्रलय मदधीन है न तु तदन्य कर्तृत्व है ॥७॥

मैं कल्प के अन्त में सभी को सहत कर देता हूं और कल्प के आदि में सभी भूत

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ?।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

इत्यर्थः । महामोहोत्पादिकायाः प्रकृतेर्वशादायत्तत्वादवशं पराधीनमिमं देवमनुष्य-तिर्यक्स्थावरलक्षणभूतग्रामं भूतसमुदायं पुनः पुनर्विसृजामि विविधरूपेणोत्पादयामि ॥८॥

लोकोत्तरशक्तिसम्पन्नस्य मम जीववद् बन्धो न भवतीत्याह—नेति । हे धनञ्जय ? तानि नानाविधजगत्सर्जनादीनि कर्माणि मां सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पञ्च दिव्य-

होती है इस प्रकार की शिष्य जिज्ञासा को लक्षित करके उसके उत्तर रूप में सृष्टि प्रकार को बतलाने के लिये भगवान् कहते हैं 'प्रकृति मित्यादि' स्वसम्बन्धी विचित्र परस्पर विलक्षण स्वभाववाला अनेक प्रकारात्मक पदार्थ को उत्पन्न करने वाली तमः पदवाच्य जो प्रकृति उस प्रकृति का आश्रय सहायता लेकर भूमिजल तेज वायु इत्यादि आठ प्रकार से परिणत करके सभी भूतों को उत्पन्न करता हूं। महामोह को उत्पन्न करने वाली प्रकृति के बल से प्रकृत्याधीन इस देव मनुष्य तिर्यक् स्थावर लक्षण भूत ग्राम भूत समुदाय को पुनः पुनः अनेक रूप से बनाता हूं। अर्थात् कल्प के आदि काल में उसी सर्वभूत को जो पूर्वसर्ग में जैसाथा उसी प्रकार से मैं पुनः उन्हें बनाता हूं क्योंकि श्रुति ऐसा ही कह रही है 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' सृष्टि करने वाले परमेश्वर ने पूर्व सृष्टि में जो पदार्थ जैसा था उसी प्रकार इस सृष्टि में भी उसकी उत्पत्ति की नतु विपरीत प्रकार से सृष्टि की। यद्यपि इस कथन से यह सिद्ध होता है कि प्रकृति कर्तृक सर्ग प्रक्रिया है नतु परमात्मा में स्वतन्त्र कर्तृक है तथापि प्रकृति भी तो परमात्मा का ही अंग है इसलिये प्रकृति कर्तृक पदार्थ में भी परमात्मा कर्तृकता का व्याघात नहीं है। अथवा ईश्वर जगत् का स्वतन्त्र कारण है प्रकृति सहायक कारण है अंकुरोत्पादन में जलादि की तरह। यहाँ कोई कहेंगे कि ईश्वर में स्वातन्त्र्य की क्षति होती है वह ठीक नहीं है क्योंकि सहायकाधीन होनेपर भी कर्ताका कर्तृत्व नहीं जाता है, जैसे ओदन कार्य में तण्डुलादि सहायकापेक्ष होने पर भी पाचक का पाचकत्व में कर्तृत्व का अपगम नहीं होता है तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये ॥८॥

हे भगवन् ! जैसे जीव शुभ अशुभ कर्म को करता है तो वह तज्जनित कर्म फल का भोग—भागी होता है आप भी भूतों की सृष्टि तथा प्रलय करते हैं तब तो आप भी जीव के समान ही फल भोक्ता बनेंगे इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं यानी लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न होने के कारण मुझे जीव के समान बंधन नहीं होता है इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं 'न च मां तानि' इत्यादि। हे धनञ्जय ? धन जीतने का शौक है जिसे

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय? जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

गुणार्णवं न निबध्नन्ति मयि वैषम्यं नैर्घृण्यञ्च नापादयन्ति । कस्मादिति चेदुच्यते– तेषु विषमकर्मस्वसक्तमासक्तिरहितम् । प्राक्तनानाञ्जीवकर्मणामेव सृष्टिवैषम्यप्रयोजकत्वात् प्रयोजकत्वसम्बन्धशून्यमित्यर्थः । उदासीनवदासीनं स्थितं मां न बध्नन्ति ९

प्रकृतिरेव स्वातन्त्र्येण जगद्रूपेण परिणमते इति मतं व्यपाकरोति–मयेति । अध्यक्षेण मयेक्षिता भूता प्रकृतिर्मदीया प्रकृतिः प्राक्तनजीवकर्माण्यनुसृत्य तत्तज्जीव-

हुये धनञ्जय कहते हैं । इस संबोधन से यह अभिव्यक्त किया कि जब आप लौकिक नश्वर धन संचय करने में प्रयत्न शील हैं तो यह पारलौकिक अक्षय सुख देने वाला मदुपदिष्ट सदुपासनात्मक धन का संचय करें जो धन आपको सर्वदा के लिये सुखी बना देगा । वे नाना प्रकार के जगत्सर्जनादिक प्रलयादिक जो कार्य हैं वे सत्य संकल्प सर्वज्ञ सर्वेश्वर अनेक दिव्य गुण के अर्णव समुद्र सदृश मुझ परमेश्वर को निबन्ध नहीं करते हैं अर्थात् मुझ परमेश्वरमें वैषम्य नैर्घृण्य दोष के आपादक नहीं होते हैं । हे भगवन् ! जब आप हमलोगों के समान कर्म करते हैं तब हम लोगों के समान कर्म बद्ध नहीं है इसका क्या कारण है इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'नेव' इत्यादि । उन कर्मों को मैं अवश्य करता हूं परन्तु मैं उन कर्मों में आसक्त यानी आसक्ति अभिलाषा रहित हूं अर्थात् फलाभिसन्धि पूर्वक क्रियमाण कर्म ही बन्ध जनक होता हैं । पूर्व पूर्व अनेक जन्मोपार्जित जो जीव का अनेक प्रकार के कर्म समुदाय हैं उसी कर्म समुदाय को सृष्टि वैषम्य प्रयोजकत्व हैं और मैं तो वैषम्य प्रयोजकता का जो लक्षण है उस सम्बन्ध से शून्य हूं । उदासीन के समान अवस्थित मुझे वे कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं । इस विषय का स्पष्टीकरण 'वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' इस ब्रह्म सूत्र के प्रकरण में आनन्द-भाष्य व्याख्यान जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य जी योगीन्द्रप्रणीत भाष्यदीप तथा मेरी भाष्य प्रकाश टीका में किया गया है अतः विशेष जिज्ञासु व्यक्ति इस विषय को वहीं देखें ॥९॥

हे भगवन् ! यदि आप उदासीनवत् आसीन हैं तब तो आप से जगत्सर्ग की प्रक्रिया नहीं घटती है क्योंकि उदासीन शब्द का अर्थ ही है कि कार्यानुत्पादकता और जगत्सर्ग होता । इसलिये त्रिगुणात्मक जगत्कार्य को देखकर अतः गुण विशिष्ट प्रकृति का ही अनुमान किया जाता है जो स्वातन्त्र्येण प्रकृति रूप [illegible] से परिणमित होता है और वह सब

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

भोग्यभोगोपकरणादिरूपेण सचराचरं जगत् सूयते । अनेन हेतुना मदाध्यक्षेण हे कौन्तेय ! सर्वमिदं जगत् विपरिवर्तते । विलक्षणाकारप्रकारं धत्ते । अतो न कश्चिद्विरोध इति भावः ॥१०॥

एवं मदीयं सर्वाधिपत्यं जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्तृत्वं न सर्वेऽपि जानन्तीत्याह अवजानन्तीति । मम सर्वेश्वरस्य परं मदितरचेतनविलक्षणं भावमपारकारुण्यवात्सल्य-सौशील्यौदार्यादिकल्याणगुणगणप्रयुक्तमनुष्यभावमजानन्तो मूढाः कर्मकृतज्ञानसंको-चवन्तो जना महांश्चासावीश्वरो महेश्वरो भूतानां महेश्वरो भूतमहेश्वरो तं मानुषीं

कार्यमान जगत् रूप ही होगा परन्तु जगत् के तो सुख दुःख मोह गुणत्रय विशिष्ट होने से अनेकप्रकारक रचना है तो इससे ज्ञान होता है कि इसका अनुकूल गुणत्रय विशिष्ट समान जाती-यक कोई इस जगत् का कारण है परमेश्वर इसका कारण नहीं है इस शंका को खण्डित करने के लिये कहते हैं—"मयाध्यक्षेणेत्यादि" सभी के अध्यक्ष सर्वाधिनायक मुझ परमेश्वर से ईक्षित परिदृष्ट होती हुई मेरी प्रकृति त्रिगुणात्मिका तथा मेरे शरीर रूपा जो है वह पूर्वकालिक जीव का जो शुभाशुभ कर्म समुदाय है उस कर्म समुदाय का अनुसरण करके तत्तत् जीव का जो भोग्य तथा भोगोपकरण शरीरेन्द्रियादिरूप से चराचर सहित जगत् का उत्पादन करती है । हे कौन्तेय ! इसी अध्यक्षता रूप कारण से संपूर्ण जगत् उत्पन्न होता है अर्थात् विलक्षण आकार प्रकार को धारण करता है । इसलिये कोई भी पूर्वापर दोष नहीं होता है क्योंकि विचित्राकार रचना में जीवों का अदृष्ट कारण बनता है । अतः मुझ परमेश्वर में सर्वदा कर्म हेतुत्व ही व्यवस्थित है ॥१०॥

पूर्वकथित प्रकार से मदीय जो सर्वाधिपत्य है उसका तथा समस्त स्थावर जंगमात्मक का उत्पत्ति स्थिति लय कर्तृत्वादि गुण वैशिष्ट्य तथा निर्विकार रूप से सर्वदा अवस्थायित्व रूप गुण विशिष्ट तथा मुझे सभी लोग नहीं जानते हैं इसलिये ऐसे मूढ जो पुरुष हैं वे मोक्षेच्छा से मेरी उपासना में प्रवृत्त नहीं हो करके अनुक्षण संसार रूप महोदधि में पतन का जो कारण है उसी में लीन रहते हैं इस बात को बतलाते हुए कहते हैं 'अवजानन्तीत्यादि' हे अर्जुन ! सर्वेश्वर जो मैं हूँ उसका पर जो मुझ से भिन्न चेतनापेक्षया विलक्षण जो भाव है जो कि अपार करुणा सुशीलता उदारतादि कल्याण गुण समुदाय से युक्त है तत्प्रयुक्त मनुष्य भाव को नहीं जानता हुआ मूढ यानी कर्मकृत ज्ञान संकोच वाले जो पुरुष है वे लोग बड़ा जो ईश्वर उसे कहते हैं महेश्वर और भूतों का यानी स्थावर जंगम प्राणियों का जो महेश्वर है एतादृश मुझे मनुष्य

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मनुष्यसम्बन्धिनीं तनुमाश्रितं करुणया सर्वेषामाश्रयणाय गृहीतमनुष्यावतारं मां सर्वेश्वरमवजानन्ति तिरस्कुर्वन्ति ॥११॥

प्रागुक्तावज्ञाया हेतुं फलं चाभिधत्ते—मोघाशा इति । मामवजानन्तस्ते मूढा रक्षसामियं राक्षसी तां रजः प्रचुराम् । असुराणामियमासुरी तां तमःप्रचुराञ्च मोहिनीं मोहविधायिनीं प्रकृतिं स्वभावं श्रिता आश्रिता अत एव मोघाशा निष्फलाभिलाषा मोघकर्माणो निष्फलारम्भा मोघज्ञाना निष्फलज्ञाना विचेतसो विगतयथार्थबुद्धयश्च भवन्तीति शेषः ॥१२॥

सम्बन्धी शरीर को ग्रहण किये हुए को यानी करुणा से सभी प्राणियों के सुलभता के लिए मनुष्यावतार को धारण किये हुए मुझ सर्वेश्वर परमात्मा को अवमानित करता है अर्थात् तिरस्कार करता है । हे अर्जुन ! यद्यपि मैं परमात्मा करुणा से लोगों का उद्धार करने की इच्छा से मनुष्यावतार लेकर आया हूं तथापि ये अल्प ज्ञानी पुरुष मेरी वास्तविकता को नहीं जान करके ये वसुदेव के पुत्र हैं मेरे समान सभी क्रिया कलाप को करनेवाले मनुष्य ही हैं । इस प्रकार सर्वदा तिरस्कार करते हैं । वस्तुतः मेरे स्वरूप को नहीं जानते हैं ॥११॥

मूढ लोग मेरी अवज्ञा करते हैं ऐसा एतदव्यवहित पूर्वश्लोक में कहा है तो उस अवज्ञा का क्या कारण है तथा उस अवज्ञा का क्या कार्य है अर्थात् वे लोग अवज्ञा क्यों करते हैं और अवज्ञा करने से उन्हें क्या फल मिलता है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं 'मोघाशा' इति । हे अर्जुन ! सर्वेश्वर मेरी अवज्ञा करनेवाले वे लोग राक्षस सम्बन्धी रजोगुण प्रधानक तथा आसुरी असुर सम्बन्धी तमोगुण प्रधानक मोह को पैदा करनेवाली प्रकृति को प्राप्त करते हैं अर्थात् अनादि कर्म वासना से जायमान तादृश स्वभाव को संप्राप्त हुए हैं । इस प्रकार अवज्ञा का कारण बतला कर के अब उस अवज्ञा का क्या कार्य है इस प्रश्नके उत्तर में कार्यको बतलानेके लिए कहते हैं अतएव मोघाशा इति । मोघाशा मोघ निष्फल है आशा अभिलाषा जिनकी तथा मोघकर्मा मोघनिष्फल है कर्म कार्य जिनका मोघ ज्ञान वाले मिथ्या ज्ञान वाले अर्थात् विपरीत अर्थ को जान ने वाले वे होते हैं आत्मा में अनात्म बुद्धि अनात्मा देहादिक में आत्म बुद्धिवाले होते हैं । तथा विचेतस विगत यथार्थ बुद्धिक होते हैं । यद्यपि ये लोग भी सर्वथा बुद्धिरहित तो नहीं होते हैं तथापि पशु तिर्यगादि के समान केवल आहार विहारादि व्यवहारोपयोगी बुद्धिवाले ही होते हैं अत एव यथार्थ बुद्धि रहित हैं यह सिद्ध होता है ॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ? दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

भगवद्विमुखानुष्ठितस्य वैयर्थ्यमुक्त्वा भागवतानुष्ठानस्य सार्थक्यमाह—महात्मान इति । तु शब्दः पक्षव्यावर्तकः हे पार्थ ! पुण्यकर्माणो ये दैवीं शुद्धसत्त्वप्रचुरां सात्त्विकीं प्रकृतिमाश्रिताः शान्तवृत्तिप्रवाहोपचितनिर्मलस्वभावमापन्ना महात्मानो मदनुरक्तिरागरूषितचेतसो मां सर्वेश्वरं दीनजनैकशरणं निखिलजगदुपकाराय लीलावनाववतीर्णं भूतादिमखिलजगदादिरूपमव्ययमनादिनिधनं ज्ञात्वाऽनन्यमनसो मदेकनिष्ठया मनोवृत्त्या भजन्ति सततं मामेवाराधयन्ति ॥१३॥

अथ महात्मनां भजनप्रकारमाह—सततमिति । भक्त्या मद्विषयकनिरतिशयप्रीत्या

सर्वेश्वर लीला विग्रह भगवान् से विमुख जो नराधम उनकी विफलता को बतला करके भगवान् के सेवा परायण जो महापुरुष उनकी सफलता को बतलानेके लिये कहते हैं "महात्मन" इत्यादि । श्लोकस्थ जो तु अव्यय शब्द है प्रथम पक्ष का व्यावर्तक है । हे पार्थ पृथानन्दन ! महात्मा पुण्य कर्म के संपादन करनेवाले जो पुरुष धौरेय हैं वे तो दैवी शुद्धसत्व प्रधानक सात्त्विक प्रकृति का आश्रय किये हुए तथा शान्त हैं वृत्ति प्रवाह जिनका उस से उपचित संप्राप्त जो निर्मल स्वभाव है उस को प्राप्त करके मेरे अनुराग रूप राग से विशुद्धचित्त वाले होकर सर्वेश्वर मुझे तथा दीन संसारानल सन्तप्त व्यक्तियों के विलक्षण शरणभूत संपूर्ण जगत् का उपकार करने के लिए (साधु जन का त्राण और असाधु व्यक्ति का पराभव करने के लिए) लीलारूप से पृथिवी में अवतार को धारण किये हुये मुझ सर्वेश्वर को भूतों के आदि अर्थात् समस्त जनिमान् पदार्थ का आदि कारण तथा अव्यय उत्पाद विनाश रहित मुझे जान करके मदेकनिष्ठ मनोवृत्ति से सतत मेरी ही आराधना करते हैं अर्थात् पूर्वभव के संचित कर्म के बल से सात्त्विक प्रकृति प्राप्त महात्मा व्यक्ति साधु परित्राण दुष्ट निग्रह कार्य संपादन करने के लिये धृत मनुष्याकार सकल जनिमान् पदार्थ का निदान कारण मुझ सर्वेश्वर को जान करके सर्वदा मेरी आराधना में ही संलग्न रहते हैं क्षणभर के लिये भी अन्य की चिन्ता में आकुल नहीं होते हैं ॥१३॥

गत श्लोक में कहा है कि महात्मा सर्वदा मेरे भजन में ही संलग्न रहते हैं उसमें भजन प्रकार को बतलाते हैं "सततमित्यादि भक्ति से अर्थात् भगवद्विषयक निरतिशय प्रीति से

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥१५॥

सतत निरन्तरं मां सर्वेश्वरं रामकृष्णादिनामभिः कीर्तयन्तो मम कीर्तनं कुर्वन्तो दृढव्रता दृढसङ्कल्पवन्तश्च सन्तो यतन्तो मदर्चनादिषु तदुपकारिमत्कर्मसु च यतमाना नमस्यन्तो दण्डवत् प्रणमन्तो नित्ययुक्ता नित्यमत्सम्बन्धाभिलाषिणश्च सन्त उपासते ॥१४॥

अथ पूर्वोक्तेभ्योऽप्युत्कृष्टानुपासकानाह—ज्ञानयज्ञेनेति । अपिरिन्यस्य त्वन्य इत्यनेनान्वयस्तथात्व एव तत्सार्थक्यात्। अन्येऽपि प्रागभिहितेभ्यः इतरेऽपि ज्ञानं मत्स्वरूपादिविषयकं ज्ञानमेव यज्ञो ज्ञानयज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन चकारात् कीर्तनादिभिश्च यजन्तः प्रीणयन्तो विश्वतो विश्वानि स्थूलसूक्ष्मावस्थानि चिदचिद्वस्तूनि मुखं शरीरत्वेन प्रकारो यस्य स विश्वतोमुखस्तं मां बहुधा समष्टिव्यष्ट्यात्मकैर्बहुप्रकारैः पृथक्त्वेन नामरूपविभागरूपकार्यत्वरूपेणैकत्वेननामरूपाविभागरूपकारणत्वरूपेण चोपासते ॥१५॥

सतत निरन्तर-सर्वदा सर्वेश्वर मुझ सर्वेश्वर को श्रीराम श्रीकृष्ण इत्यादि नाम के द्वारा मेरा कीर्तन करते हुए दृढव्रत दृढ संकल्पवान् होते हुए मेरा अर्चन पूजन तथा अर्चनाद्युपकारी कर्म में प्रयत्नमान होते हुए तथा दण्डवत् प्रणाम करते हुए नित्य युक्त अर्थात् नित्य सर्वदा मत्सम्बन्ध विषयक अभिलाषावान् होते हुये मुझ सर्वेश्वर की उपासना करते हैं। यहाँ कीर्तन मननादिक पद से नव प्रकार की जो भक्ति है उसका संग्रह होता है श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य तथा आत्मनिवेदन इस प्रकार नवधा भक्ति होती है। एतदन्यतम से उपास्यमान भगवान् भक्त के कल्याण प्रद होते हैं ॥१४॥

पूर्वोक्त अनन्यमनस्क जो भक्त है उनमे भी उत्कृष्ट उपासक का कथन करने के लिए कहते है. "ज्ञान यज्ञेनेत्यादि" यहाँ श्लोक में जो अपि शब्द है उसका सम्बन्ध अन्ये के साथ में है. ऐसा अन्वय करने पर ही अपिशब्द सार्थक होता है। अन्य अर्थात् पूर्वकथित भक्त से भिन्न विलक्षण उपासक ज्ञान यज्ञ के द्वारा स्व परस्वरूप याथात्म्य ज्ञान रूप जो यज्ञ उस यज्ञ के द्वारा ज्ञान लक्षण जो यज्ञ हो उसे कहते है ज्ञानयज्ञ तादृश ज्ञानयज्ञ के द्वारा। च शब्द से यह अर्थ होता है कि कीर्तन स्मरणादि के द्वारा भी यजन करते हुए मुझे प्रसन्न करते हुए। "विश्वतो मुखम्" विश्व सकल स्थूल सूक्ष्मावस्थ चिदचिद्वस्तु मुख अर्थात् शरीर रूप से प्रकार हो जिसका उसे कहते है "विश्वतोमुख" तादृश विश्वतो मुख मुझ परमेश्वर को बहुधा अनेक प्रकार से समष्टि व्यष्टि रूप विविध प्रकार से पृथक्त्व रूप से नामरूप

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च ॥१७॥

अथोक्तं स्वस्य विश्वशरीरकत्वं स्पष्टतया दर्शयति–अहमिति । क्रतुर्ज्योतिष्टोमादिरहम् । यज्ञः पञ्चमहायज्ञा अहम् स्वधा पितृहविरहम् । औषधं हविरहम् । मन्त्रोऽहम् । आज्यमाज्यात्मकं होमद्रव्यमहमेव । अग्निराहवनीयादिरूपोऽग्निरहम् । हुतं होमश्चाहमेव ॥१६॥

अस्याखिलचिदचिदात्मकस्य जगतः पिता जनको माता जननीत्वेन वर्त्तमानश्चेतनो धाता पितामहः पितुः पिता पवित्रं पावनं वेद्यम् । ओंकारः प्रणवः । ऋक् पाद-

विभाग लक्षण कार्यरूप से एक रूप से नामरूप के अविभाग लक्षण कारणस्वरूप से मुझ परमेश्वर की उपासना करते है ॥१५॥

भगवान् ने अपने को विश्व शरीरक बतलाया अर्थात् संपूर्ण विश्व मेरा ही शरीर है ऐसा कहा अतः उसी वस्तु को स्पष्टरूप से बतलाने के लिये कहते है "अहं क्रतुरित्यादि" हे अर्जुन ! क्रतु ज्योतिष्टोम वाजपेय प्रभृतिक यज्ञ स्वरूप मैं ही परमात्मा हूं और यज्ञ लौकिक अग्नि में अनुष्ठीयमान ब्रह्म यज्ञ प्रभृतिक पंचमहायज्ञ भी मैं ही हूं और स्वधा पितर को उद्देश्य करके दीयमान अन्न भी मैं ही हूं एवं औषध व्रीहि यवादि लक्षण भी मैं ही हूं तथा मन्त्र हवि के प्रक्षेप समय में उच्चार्यमाण प्रयोग समवेत अर्थ का स्मारक लक्षण मन्त्र स्वरूप भी मैं ही हूं । आज्य घृत सोमादि लक्षण होम द्रव्य मैं ही हू और अग्नि आहवनीय अग्नि भी मैं ही हूं । एव हुत अर्थात् होम भी मैं ही हूं । इस प्रकार समस्त विश्व शरीरक मैं हूं । इस बात को इस श्लोक से स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया ॥१६॥

जो यह स्थावर जंगमात्मक जगत् है उसका निदान मैं ही हूं इसी बात को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं–"पिताहमस्येत्यादि" हे अर्जुन ! यह प्रत्यक्षत: सामने में उपस्थित समस्त चिदचिदात्मक स्थावर जंगमात्मक जो जगत है एतादृश जगत् का पिता जनक मैं ही हूं तथा माता जननी मैं हूं तथा इस जगत् का धाता माता पिता के सदृश हित चिन्तक भी मैं हूं। तथा इस जगत् का पितामह पिता का भी पिता मैं ही हूं । पवित्र पावन और वेद्य जानने के योग्य तत्त्व भी मैं हूं तथा ओंकार प्रणव भी मैं हूं तथा ऋक् पाद युक्त ऋच बद्ध मन्त्र मैं हूं

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवप्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

शालिवृत्तबद्धो मन्त्रः । सामगीत्यात्मको मन्त्रः । यजुश्च वृत्तगीतिविवर्जितो मन्त्रश्चाहमेव ॥१७॥

गम्यत इति गतिः स्वर्गपृथिव्यादिक गन्तव्यस्थानं भर्ता धारणकर्त्ता प्रभुः शासनकर्त्ता साक्षी साक्षादवलोकनकर्त्ता । निवासो गृहादिकं निवासस्थानं शरण रक्षकः सुहृन्मित्रं प्रभवश्च प्रलयश्च प्रभवप्रलयौ तयोः स्थानमुत्पत्तिलयस्थानं निधानमुत्पाद्यमुपसंहार्यं चाव्ययमविकारी बीजं कारणश्चाहमेव ॥१८॥

सकल स्थावर जंगमात्मक जगत् का पितादि सर्व स्वरूप मैं ही हूं मद् व्यतिरिक्त और कोई भी इसका अवस्थापक नहीं है ॥१७॥

हे अर्जुन ! इस स्थावर जंगमात्मक सकल जगत् की गति मैं हूं जो प्राप्त किया जाय उसे गति कहते है स्वर्ग पृथिव्यादिक गन्तव्य स्थान मैं हूं । इस जगत् का भर्ता धारण करने वाला मैं हूं तथा इस जगत् का प्रभु अर्थात् शासन कर्ता मैं हूं इससे "एतस्य प्रशासने गार्गी" इस अक्षर के प्रशासन में इत्यादि श्रुत्यर्थ का स्मरण कराते हैं तथा इस जगत् का साक्षी अर्थात् साक्षात् प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन करनेवाला मैं ही हूं । तथा इस जगत् का नियामक निवास स्थान गृह ग्रामादि रूप भी मैं हूं सम्यक् रूप से निवास करे जिसमें उसे निवास कहते है यथा गृह ग्राम प्रभृति स्थान विशेष तो इस जगत् के लिए निवास स्थाना गृहादिक मैं हूं तथा प्राकृतिक जगत् मात्र की शरण भी मैं हूं तथा इस जगत् का सुहृद् मित्र हित वस्तु का उपदेश दाता मैं हूं तथा इस जगत् का प्रभव उत्पत्ति प्रलय विनाश का स्थान अधिष्ठान आधार मैं हूं प्रभव प्रलय का मध्यवर्ती स्थिति का भी ग्रहण होता है अतः उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का स्थान मैं ही हूं । तथा इस जगत् का निधान पदार्थ रखा जाय जिसमे "निधीयते संस्थाप्यते यस्मिन् तत् निधानम्" पदार्थ जिसमें संस्थापित हो इस व्युत्पत्ति से निधान शब्द का अर्थ होता है निधान स्थान तो जगत् का निधान स्थान मैं हूं । और इस जगत् का अव्यय उत्पाद विनाश रहित अविकारी बीज निदान कारण मैं हूं । यद्यपि अंकुर घटादि का कारण बीजमृत्तिका प्रभृति प्रत्यक्षत उपलभ्यमान कारण है तथापि बीजमृत्तिकादि विकारी स्वयमुत्पाद विनाश शील प्रत्यक्षत एवं उपलब्ध होता है [illegible]

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

हे अर्जुन ! अहं तपाम्यनलादिरूपेण तापं विदधामि । अहं वर्षं नीरं निगृह्णामि स्वीकरोम्युत्सृजामि मुञ्चामि च । अहममृतं जीवनसाधकं पीयूषं मृत्युर्मरणसाधकं विषञ्चाहमेव । तथैव सद् वर्त्तमानमसदतीतमनागतञ्चा सर्वमहमेव ॥१९॥

अथ केवलं कर्मपराणामनुष्ठानं तत्फलञ्चाभिधत्ते त्रैविद्या इति । ऋग्यजुःसामाभिधेयास्तिस्रो विद्यास्त्रिविद्यं तदधीयते विदन्तीति त्रैविद्या ऋगादिवेदत्रयप्रतिपादितकर्ममात्रानुष्ठातारो यज्ञैरिन्द्रादिदेवताकैर्ज्योतिष्टोमादिभिर्माभिन्द्राद्यखिलदेवान्तर्यामिणं सर्वेश्वरमविदित्वा केवलं मच्छरीरभूतेन्द्रादिदेवस्वरूपेणैव मामिष्ट्वा तत्तत्फल

तत्तत् कार्य के प्रति तत्तद्रूप से कारणता का कथन करके तत्तत् कार्य कारित्व रूप से भी मैं ही अवस्थित हूं इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "तपामि" इत्यादि । हे अर्जुन ! सर्वेश्वर सर्व नियन्ता सर्वान्तर्यामी मैं तपाता हूं अर्थात् आदित्य अग्नि रूप से ताप को करता हूं और मैं ही वर्ष अर्थात् नीर जल को अपने में ले लेता हूं और स्व में स्वीकृत संचित जल को प्रावृट् समय में मेघ के द्वारा छोड़ता हूं अर्थात् ग्रीष्म समय में सूर्य किरण द्वारा जल का संचय करके वर्षा काल में उस जल को वर्षण रूप से पुनः पृथिवी पर गिरा देता हूं । एवम् अमृत अर्थात जो प्राणी यादृश पदार्थ से अपनी जीवन यात्रा को चलाता हुआ शरीरधारण करने में अनुकूल जो व्रीहि यवादि अन्न साधन है वह पीयूषतुल्य साधन मैं ही हूं तथा मृत्यु मरण का साधक जो विष वह भी मैं ही हूं, अर्थात् प्राणियों का जीवन साधक तथा मरण साधक साधन विशेष मैं ही हूं हे अर्जुन ! और बहुत मैं तुम्हें क्या बतलाऊं सत् वर्तमान असत् अतीत अनागत सभी मैं ही हूं । परिदृश्यमान वा अपरिदृश्यमान जो कोई भी प्राकृतिक पदार्थ है उन सभी पदार्थों का निदान सर्व तन्त्र स्वतन्त्र मूल भूत कारण मैं हूं ॥१९॥

पूर्वकथित प्रकार से जो भगवान् के भक्त हैं और जो भगवत् सेवा से बहिर्भूत हैं उनका कर्तव्यानुष्ठान तथा उस अनुष्ठान का क्या फल है इस वस्तु को बतलाकर के अब जो भगवान की उपासना से रहित हैं तथा भगवान् की अवज्ञा करने से भी रहित हैं किन्तु केवल कर्मानुष्ठान में आसक्त हैं उनका कर्तव्य क्या है उस वस्तु को बतलाने के लिए कहते हैं "त्रैविद्या" इत्यादि । ऋक् यजु साम नामक तीन विद्याएं हैं ये तीन जो विद्याएं हैं उन्हें त्रिविद्या कहते

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

कामनयाऽऽराध्य सोमं पिबन्तीति सोमपा यज्ञशिष्टसोमपानकर्त्तारोऽत एव पूतानि शेषं गतानि स्वर्गादिफलावरोधकानि पापानि येषान्ते पूतपापाः स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते याचन्ते । ते पुण्यं सुरेन्द्रलोकं दुःखमिश्रसुखरूपेन्द्रलोकमासाद्य दिवि स्वर्गे दिव्यान् दिवि भवान् पार्थिवभोगेतरान् देवानां भोगा देवभोगास्तानवरभोग्यान् विषयानश्नन्त्यनुभवन्ति ॥२०॥

ते इन्द्रादिलोकसुखानुभविलासास्तं विशालं स्वर्गलोकं स्वर्गलोकसुखं भुक्त्वोपभुज्य पुण्ये तादृशस्वर्गलोकसुखजनके सुखे क्षीणे नाशमुपगते सति मर्त्यलोकं मृत्युलोक

अर्थात् ऋक् यजु साम नामक जो वेदत्रय उन वेदत्रय से प्रतिपादित जो याग होम दानादि कर्म तादृश धर्ममात्र के अनुष्ठान करनेवाले अनुष्ठाता लोग यज्ञ से इन्द्रादि देवता सम्बन्धी तथा चरु पुरोडाशादि द्रव्य विशिष्ट से ज्योतिष्टोमादि क्रिया द्वारा सर्वेश्वर मुझ परमात्मा को इन्द्रादि निखिल देवता के अन्तर्यामी सर्वेश्वर को नहीं जान करके केवल मेरे शरीर स्वरूप इन्द्रादि देव स्वरूप से ही मुझ सर्वेश्वर का यजन करके अर्थात् तत्तत् फल की कामना से मेरी आराधना करके । सोमपा सोमनामक यज्ञ में अर्पण करने के योग्य रस विशेष का यज्ञ शेष रूप से जो पान करे उसे सोमपा कहते हैं अर्थात् यज्ञ शिष्ट सोमरस का पान कर्ता अतएव तादृश यज्ञ शिष्ट सोमपान करने से शेष हो गया है विनष्ट हो गया है स्वर्गादि फल प्रतिबन्धक पाप कर्म जिनका वे पूतपापयाजक विशेष लोग स्वर्गगति की प्रार्थना याचना मुझ से करते हैं । परन्तु परम प्राप्य अक्षय जो मेरा मात्र मोक्ष, उसकी प्रार्थना नहीं करते हैं वे सकाम पूर्वकथित प्रार्थना करनेवाले याजक लोग पुण्य कर्म से प्राप्त होने के योग्य जो सुरेन्द्र लोक स्वर्ग है उस दुखात्मक इन्द्रादि लोक प्राप्त करके दिव स्वर्ग में होनेवाला पार्थिव भोग से विलक्षण देवता सम्बन्धी देवताओं से उपभोग करने के योग्य विषय भोग को प्राप्त करते हैं । पार्थिव भोगापेक्षया विलक्षण देवभोगोपभोग्य दुःखावृत अनित्य सातिशय विषयभोग का ही अनुभव करते हैं न तु परम सुख को प्राप्त करते हैं ॥२०॥

फल की इच्छा से सकाम कर्म का संपादन करके तादृश कर्म के फल स्वरूप जो इन्द्रादि लोक सम्बन्धी सुख विशेष है उसका अनुभव [illegible] सुख विशेष की स्वर्गलोक

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

विशन्त्याप्नुवन्ति । एवमित्थं कामान् कामयन्त इति कामकामाः स्वर्गादिफलाभिलाषुकास्त्रयीधर्मं वेदत्रयप्रतिपादितकर्ममात्रमनुप्रपन्ना अनुगन्तारो गतागतं यातायातं लभन्तेऽवाप्नुवन्ति । पुनरावृत्तिमेवाप्नुवन्तीत्यर्थः ॥२१॥

एवं प्रसंगात् कामिनां पुनरावृत्तिमुक्त्वा स्वभक्तानां योगक्षेमवाहकत्वं स्वस्यैवास्तीत्युच्यते अनन्या इति । न विद्यतेऽन्यो चिन्तनीयो येषां तेऽनन्या मच्चिन्तनैकप्रयोजना मामेव चिन्तयन्तोऽनिशमनुस्मरन्तो ये जना महात्मानो मद्भक्ता पर्युपासते

करके पुण्य अर्थात् तादृश स्वर्गलोक सम्बन्धी सुख विशेष का जनक जो सुकृत कर्म विशेष है उसके विनाश हो जाने पर तादृश सकाम कर्म कर्ता व्यक्ति पुनरपि स्वर्ग लोक से च्युत हो करके मर्त्यलोक में ही आ जाते हैं ऐसे कर्म शेष वाले व्यक्ति चन्द्रमण्डल से धूमादि मार्ग द्वारा कर्मभूमि इस पृथिवी मण्डल के अमुक भाग में आकर के जन्म गर्भवास जरामरणादि अनेक प्रकारक दुःखमाला का अनुभव करते हुए समय यापन करते हैं। इस प्रकार कमनीय पदार्थ की कामना करनेवाले स्वर्गादि फल विषयक इच्छा वाले व्यक्ति वेदत्रय प्रतिपादित कर्म मात्र के अनुष्ठाता लोग गतागत अर्थात् गमनागमन का लाभ करते हैं यानी पुनरावृत्ति को ही बारंबार प्राप्त करते हैं। अपुनरावृत्ति की संभावना भी इसमें नहीं है। अर्थात् स्वर्ग फल की इच्छा से ज्योति ष्टोमादियाग करके संपादित शुभ कर्म के बल से स्वर्ग में यथाकाल सुखोपभोग करके संस्थापक सुकृत कर्म के विनाश हो जाने पर तादृश कर्म के शिष्टांश को लेकर चन्द्रमण्डल से प्रस्थान करके धूमादिमार्ग से पुनः इस लोक में आ करके पुण्य कर्मका संचय करके भाग्यवशात् स्वर्ग में जाते हैं पुनः पूर्ववत् मृत्युलोक में आते हैं इस प्रकार ये लोग कभी भी पुनरावर्तन से विमुक्त नहीं होते हैं ॥२१॥

पूर्वोक्त प्रकार से प्रसंगप्राप्त फलाभिलाषी व्यक्तियों को संसार में आवागमन लक्षण पुनरावृत्ति ही होती है इस बातको बतला करके सर्वेश्वर परमात्मा के जो अनन्य भक्त हैं उनकी योगक्षेम निर्वाहकता भगवान् श्रीसाकेताधिपति के ऊपर ही है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं—"अनन्या" इत्यादि । भगवान् से अन्य भिन्न चिन्तनीय नहीं है जिन्हें वे कहलाते हैं अनन्य अर्थात् मात्र भगवान् का चिन्तन करना ही प्रयोजन है जिनका तादृश भक्त विशेष मेरी ही चिन्ता करते हैं । अनुदिन मेरा ही स्मरण करनेवाले ऐसे जो महात्मा मेरे अनन्य भक्त मेरी उपासना मेरा स्वरूप तथा गुणविभूतियों का बराबर चिन्तन करके उपासना करते हैं। एतादृश नित्याभियुक्त अर्थात् मुझ परमेश्वर में निरतिशय

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

मत्स्वरूपगुणविभूतीः सम्यक् पर्यालोच्योपासते तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमेव मयि निरतिशयानुरक्तिमीहमानानां योगक्षेमं मत्स्वरूपावाप्तिरूपं योगं सर्वकालं तद्रक्षणरूपं क्षेमञ्चाहमेव वहामि तथाविधेभ्यो मद्भक्तेभ्यो मच्चिन्तने समागतान् सर्वप्रत्यूहव्यूहानपवार्यामोक्षमानन्दं प्रयच्छामि ॥२२॥

भगवदतिरिक्तदेवभक्तानां यजनादेरविधिपूर्वकत्वमाह य इति। तु शब्दः पक्षपरिवर्तनार्थः। ये तु फलकामनयाऽन्यासां देवतानां भक्तास्तत्तद्देवे मह्यमयमवश्यमिदं फलं दास्यतीति श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते। हे कौन्तेय! तेऽपि सकामा भक्ता मामेव सर्वशक्तिसमन्वितं सर्वेषामात्मभूतं यजन्ति किन्त्वविधिपूर्वकम्। फललोलुपतया तेषां सर्वात्मतया प्राधान्येन ममैव पूजनं जायत इति ते न जानन्त्यपि तु मच्छरीरभूताया देवताया एव प्राधान्यमङ्गीकृत्य तेषामिष्टदेवतापूजनमितीदमेवाविधिपूर्वकत्वम् ॥२३॥

अनुराग को चाहनेवाले हैं एतादृश महानुभाव भक्त पुरुषों का योगक्षेम अप्राप्त जो मेरा स्वरूप उसका प्राप्तिरूप योग और प्राप्त भगवत्स्वरूप का सर्वकाल में रक्षण लक्षण क्षेम का वहन मैं ही करता हूं तादृश अर्थात् ए जो मेरे भक्त हैं उनका मेरे चिन्तन करने में आनेवाला जो विघ्न समुदाय उस विघ्न समुदाय को हटा करके मोक्ष पर्यन्त निरतिशय आनन्द देता रहता हूं ॥२२॥

परमात्मा से अतिरिक्त देवताओं के जो भक्त हैं उन देव भक्तों का जो भजन पूजनादि कर्म है वह विधिपूर्वक नहीं है किन्तु अविधिपूर्वक है इस बात को बताने के लिए कहते हैं "ये त्वन्यदेवतेत्यादि" श्लोक में तु शब्द है प्रकृत पक्ष का परिवर्तनार्थक है जो देवतान्तरोपासक भक्त अमुक फल विशेष की कामना से सर्वेशातिरिक्त देवता के भक्त हैं वे तत्तत् देव में यह उपास्यमान देव मुझे अवश्य ही इस कर्म का फल देंगे इस प्रकार श्रद्धातिरेक से युक्त हो करके तत्तत् देव का यजन करते हैं। हे कौन्तेय! वे भी सकाम-भक्त सर्वशक्ति समन्वित सभी का आत्मभूत जो मैं हूं ऐसे मेरा ही वे भक्त लोग भी यजनपूजन करते हैं किन्तु यह जो यजन पूजन करते हैं वह अविधिपूर्वक उनका भजनपूजन है क्योंकि फललोलुपता के कारण सर्वात्मस्वरूप होने से प्रधानतया यह पूजन मेरा परमेश्वर का ही यह यजनपूजन है इस बात को वे देवतान्तर के पूजक लोग नहीं जानते हैं किन्तु मेरा

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

अविधिपूर्वकत्वमेव विवृणोति अहमिति । यतः सर्वयज्ञानां दर्शपूर्णमासादीनामहमेव तत्तद्देवशरीरकस्तत्तदात्मभूतः परमात्मा भोक्ता तत्तत्कर्मसमाराध्यः प्रभुश्च तत्तत्कर्मफलप्रदाताऽपि 'फलमत उपपत्ते,' रिति न्यायेनाहमेवेति तत्त्वेन त्रय्यन्तसमधिगतेनार्थेन वस्तुगत्या ते फलमात्रैकबुद्धयः कामिनो मां सर्वेश्वरं नाभिजानन्ति । अतश्च्यवन्ति, अत एव च्यवनधर्माणो भवन्तीत्यर्थः । मदाराध्यत्वबुद्ध्या कर्मानुष्ठाने मोक्षसिद्धिस्तद्विपरीतानुष्ठाने तु पुनरावृत्तिरिति भावः ॥२४॥

और अंगभूत जो देवता उनकी प्रधानता का जो अंगीकार स्वीकार करके उनलोगों का वह देवतापूजन होता है इसीको अविधिपूर्वक पूजन कहते हैं । सर्वापेक्षया मैं परमेश्वर प्रधान हूँ और इतर देवता मेरे अंग होने से गौण हैं परन्तु सकाम भक्त तत्तत् अन्य देवता को जो प्रधान समझ करके पूजन करते हैं वह उनके विपरीत ज्ञान होने से अविधिपूर्वकत्व है २३।

देवतान्तर का जो पूजन है वह भी मेरा पूजन है किन्तु वह अविधिपूर्वक है यह पूर्वश्लोक में कहा है उसी अविधिपूर्वकता का विवरण इस श्लोक में करते हैं—"अहं हि" इत्यादि । जिसलिए दर्शपूर्णमासादिक सभी यज्ञों का मैं परमेश्वर ही तत्तत् जो इन्द्रादि देव शरीरक तथा इन्द्रादि देवों का आत्मलक्षणपरमात्मा हूं इसलिये सभी कर्मों का भोक्ता अर्थात् तत्तत् दर्शपूर्णमासादि कर्म से आराध्य मैं ही हूं तथा तत्तत् कर्मों का प्रभु अर्थात् तत्तत् कर्मफल देनेवाला भी "फलमत उपपत्तेः" इस न्याय से मैं ही हूं ।

यह जो दर्शपूर्णमास कर्मका स्वर्ग फल है वह अतः इसी परमेश्वर से अर्थात् परमेश्वर ही फल प्रदाता हैं क्यों ? तो उत्तर में कहते हैं—"उपपत्तेः" परमात्मा सर्वाध्यक्ष हैं सृष्टि स्थिति संहार के कारण हैं देशकालादि सकल पदार्थ के ज्ञाता होने से कर्मी पुरुष के कर्मानुरूप फलदेने में समर्थ हैं । कर्म तो तत्काल में नष्ट हो गया तो वह कालान्तर में होनेवाले फल को देगा यह ठीक नहीं है क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है ।

तत्त्व से त्रय्यन्त समधिगत अर्थ से फलमात्रैक बुद्धिवाले वे कामी लोग मुझ सर्वेश्वर को नहीं जानते हैं अतएव च्युत हैं च्यवन धर्मा होते हैं । अर्थात् त्रय्यन्त सिद्धान्त को तत्त्वरूप से इन्द्रादि देव शरीर है जिसका ऐसा जो परमात्मा वही सर्व कर्म से आराध्य है और वही परमात्मा सर्वकर्म फल को देनेवाले हैं इस प्रकार यथार्थरूप से नहीं जानते हैं किन्तु तात्कालिक फलोपलब्धि से मुग्ध हो करके पूर्वोक्त सिद्धान्त का विस्मरण करके स्वेच्छया

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्यायान्तिमद्याजिनोऽपिमाम् ॥२५॥

नित्यकर्मणामपि बुद्धिभेदात् फलभेद इति स्पष्टयति यान्तीति । देवव्रता देवाराधने व्रतं नियता भक्तिर्येषान्ते देवभक्तयो देवान् यान्ति देवलोकं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । पितृव्रताः पितृभक्तयस्तु पितृलोकं प्राप्नुवन्ति । भूतप्रेत दियजनकर्तारश्च भूतलोकमेव प्राप्नुवन्ति मद्याजिनो मां सर्वेश्वरं यष्टुं पूजयितुं शीलमेषान्ते मदनन्यभक्ता मामेव प्राप्नुवन्ति । एतदुक्तम्भवति । 'एतत्कर्माराध्योऽयमेव देवोऽयमेव च फलं मद्यं

नुष्ठान करते हैं और इन्द्रादिदेव को ही आराध्य तथा फलदाता मानते हैं इस प्रकार भावना मात्र में विषमता के कारण च्यवनशील होते हैं और बारंबार संसारमहोदधि में उन्मज्जित होते हैं परमात्मा ही सभी के अध्यक्ष हैं फलप्रदाता हैं इस बुद्धि से यदि कर्मानुष्ठान किया जाय तो मोक्ष रूप फल मिलता है इसमें यदि विपरीत रूप से कर्मानुष्ठान किया जाय तो बारंबार पुनरावर्तन ही होता रहता है तो संसार से विमुक्त होना तो असंभवित है ॥२४॥

जो कर्म है वह तो अवश्यमेव फल देता ही है यह नियम है जैसे काम्यकर्म दर्शपूर्णादिक स्वर्गरूपफल देता है इसी प्रकार जो नित्य नैमित्तिक पूजा यागादिक कर्म है उसका भी कोई फल अवश्यमेव है तो इस नित्यादिक कर्म में भी बुद्धि भेद से फल का भेद होना चाहिये तो इसी बात को बतलाने के लिये अर्थात् बुद्धि भेद से नित्यकर्म में भी फल भेद होता है इसी को स्पष्टरूप से बतलाते हैं "यान्तिदेव व्रता" इत्यादि देवव्रत देवता इन्द्र आदित्य प्रभृतिक देव विशेष शास्त्र प्रतिपादित उन देवों के आराधन पूजन भजन में व्रत नियत भक्ति है जिनमें वे लोग देवव्रत हैं अर्थात् देवता विषयक भक्तिमान् आराधक पुरुष तत्तद् देवता के आराधनात्मक कर्म को यथावत् संपादन करके आराध्य देव के प्राप्ति रूप फल को प्राप्त करते हैं अर्थात् उन आराधक पुरुष को देवलोक की प्राप्ति प्रकृत देह के अवसानोत्तर काल में होती है जो सात्विक याजक हैं वे प्रधानतया सात्विक देव अनन्य भक्त हो करके तादृश देवके पूजनादिकर्म द्वारा सात्विक देव को प्रसन्न करके उस सात्विक देव के सायुज्य रूप फल को प्राप्त करते हैं एवं रजः प्रकृतिक जो मनुष्य वह प्रायः अग्निष्वात्ता प्रभृति पितर का एकोद्दिष्ट पार्वण प्रभृति श्राद्ध कर्म द्वारा पितर की आराधना करके इस शरीर के अवसानोत्तर काल में पितृलोक के प्राप्तिलक्षण फल को प्राप्त करते हैं । इस विषय को श्रुति भी कहती है "कर्मणा पितृलोको—विद्यया देवलोकः". श्राद्धादिक कर्म के करने से पितृलोक की प्राप्ति होती है और देवतोपासना से देवलोक की प्राप्ति होती है । और जो तामस प्रकृतिक आराधक हैं

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

दास्यति' इति बुद्ध्या कर्मानुष्ठाने परिमितफलस्य देवलोकस्यैवावाप्तिर्यतः पुनरावृत्तिः। एतत्कर्माराध्यैतद्देवशरीरकः परमात्मैवेति बुद्ध्याऽनुष्ठाने त्वनन्तस्य फलस्य भगवद्धामरूपस्यावाप्तिरिति बुद्धिभेदादेव फलभेद इति ॥२५॥

एवं भगवदाराधनामुपासनविधावध्यायासराहित्यमुच्यते पत्रमिति । पत्रं पुष्पं फलं

वह तामस प्रकृतिक जो भूतप्रेत पिशाच प्रभृतिकी आराधना करते हैं वे तमो बहुलभूतादि लोक के प्राप्तिरूपक फल को प्राप्त करते हैं और जिनका शुद्ध सत्वगुण विशिष्ट मुझ परमेश्वर का यजनपूजन करने का स्वभाव है ऐसे जो मेरे अनन्य भक्त हैं वे सर्वेश्वर परमात्मा का सर्वाधार सर्वनियामक को ही प्राप्त करते हैं अर्थात् भगवत्सायुज्य को प्राप्त करते हैं । देवतादि पूजन विषय में भगवान् भाष्यकार स्पष्टीकरण के लिए कहते हैं "एतदुक्तं भवति" इस प्रकृति विषय में स्पष्टरूप से कहा जाता है तथा हि अमुक प्रकारक जो यह यजनादिक कर्म है उस कर्मके द्वारा अमुक इन्द्रादिदेव ही आराध्य है तथा ये आराधित देव आराधना के सम्पन्न होने पर वे ही एतत्कर्म जन्य फल विशेष को देंगे इत्याकारक बुद्धि से जो कर्मानुष्ठान करते हैं उस कर्मानुष्ठान से परिमित अनित्य सातिशय फलवाला जो तत्तत् देवलोक है उसकी ही प्राप्ति होती है और यथाकाल तादृश फल का देवलोक में भोग करके कर्म समाप्ति के बाद उस लोक से पुनरावृत्ति होती है । और भले अन्यदेव का पूजन यजन हो परन्तु उसमें भी यदि अमुक कर्म से आराध्य एतद्देहपरक शरीरी परमात्मा श्रीराम ही आराधित होते हैं इत्याकारक बुद्धि से जो कर्मानुष्ठान किया जाता है तो उस कर्म से आराधित परमात्मा होते हैं अतः उसका फल नित्य निरतिशय भगवद्धाम श्रीसाकेत की प्राप्ति होती है इस प्रकार क्रियमाण कर्म में बुद्धि के भेद से फल में भी भेद होता है । इसलिये कोई भी कर्म हो वह यदि भगवान् के लिए ही करता हूं इस बुद्धि से किया जाय तब साधारण कर्म भी विशिष्टफल को ही देता है भावना की विशुद्धि होने से । इससे यह फलित होता है कि देवलोक को प्राप्त करनेवाले देवयाजादिक पुरुष का तत्तत् लोक के अनित्य होने से पुनरावृत्ति अवश्यंभावी और भगवान् का यजन करने वाले जो हैं उनकी नित्यादि कर्म में भी तत्तत् देव शरीर परमात्मा ही प्राधान्यरूप से आराधित होने से उत्तममार्ग के द्वारा जा करके नित्य सुखलक्षण भगवान् को प्राप्त करके शोकाकुल संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती है ॥२५॥

अन्यदेव की उपासना करने में तत्तत् उपासक को अनुष्ठान में अतिशय क्लेश होता

तेषु यथा नराकाङ्क्ष तथा फलादरपि। नराऽभ्यर्हितत्वेनापि पत्रपुष्पफलजलानां क्रमः किन्तु स्वभावोक्तिरियम् एवञ्च कदाचित् कस्यचित् पत्रेण प्रथितस्य तरोरेकमपि पत्रमेव, कदाचित् कस्यचित् पुष्पेण प्रथितस्य तरोरेकमपि पुष्पमेव, कदाचित् कस्यचित् फलेन प्रथितस्य तरोरेकमपि फलमेवैतेषामभावे प्राणिमात्रसुलभं तोयं जलमेव वा यो मदीयो

है यदि कदाचित् अंगोपांग में न्यूनता अविस्तादि त्रुटि हो तो कर्म ही निष्फल होजाता है उसी प्रकार भगवान् के पूजन में भी उसी प्रकार का क्लेश संभवित रहता है तब इन देवों के पूजन में तथा भगवान् के पूजन में क्या विशेषता हुई इस शंका के निराकरण प्रसंग में कहते हैं यानी अन्यदेव की उपासनाविधि में जो आयास बाहुल्य है उस प्रकार भगवान् की उपासना विधि में आयास बाहुल्य नहीं है अपितु आयास राहित्य है इस बात को बतलाते हैं "पत्रं पुष्पमित्यादि" पत्र सुगंधित तुलसी प्रभृतिक पुष्प सुगंधित चम्पकादिक पुष्प फल सुपक्व सरस आम्र कदली प्रभृतिक तथा पवित्र मनोरमजल इन चारों वस्तुओं का पृथक् पृथक् ही ग्रहण अपेक्षित है न तु पत्र पुष्प फल में कार्यकारणभाव होने से सम्मिलित का उपादान (ग्रहण) विवक्षित है। जैसे पूर्वोक्त पत्रादिक में जल निराकांक्ष है अर्थात् कार्यकारण से व्यवहित नहीं है तथा पत्रादिक में भी परस्पर कार्य कारण न होने के कारण पूर्वापरीभाव नहीं है तथा अभ्यर्हित प्रतिष्ठित होने के कारण भी पत्र पुष्प फल जल का पूर्वापर क्रम है किन्तु स्वाभाविक कथन मात्र है। ऐसा हुआ तो कदाचित् पत्र के द्वारा लोक में प्रसिद्ध जो वृक्ष विशेष उसका एक पत्र ही पूजा का अंग है एवं पुष्प द्वारा लोक में प्रसिद्ध जो वृक्ष वा गुल्मलतादिक उसका एक फूल भी हो एवं कदाचित फल द्वारा प्रसिद्ध जो वृक्ष उसका एक फल भी पूजोपकारक है और यदि पत्र पुष्प फल इनके अभाव में प्राणीमात्र के लिए सुलभ अथवा प्राणीमात्र के लिए सर्वदोपयोगी जल मात्र भी जो मेरा भक्तजन वह अपना परम प्रियशरणागतवत्सल मुझ परमेश्वर को भक्तिपूर्वक सर्वाधिक प्रेम से प्रयोजन–फलान्तर की अपेक्षा नहीं रखकरके समर्पण करता है। प्रयत विशुद्ध है आत्मा अर्थात् मन जिसका ऐसा जो प्रयतात्मा उस प्रयतात्मा का भक्ति द्वारा अर्थात् मद्विषयक अनन्य प्रेम से उपहृत अर्थात् उपहार उपायन रूप से समर्पित करता है उस अर्पित पत्र पुष्पादिक को मैं यद्यपि अवाप्त सर्वकाम हूं तथापि भक्त के द्वारा समर्पित पत्रपुष्प को ग्रहण करता हूं। यहां श्लोक में "अश्नामि" यह प्रयोग है अश् धातु का अर्थ होता है भोजन करना परन्तु भोजनरूप अर्थ यहां नहीं है। श्रुति कहती है "न ह वै देवा अश्नन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" देवलोग हमलोगों की तरह खाते नहीं हैं किन्तु अमृतस्वरूप वस्तु को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं अतएव भाष्यकार ने

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

जनो मे स्वस्य परमप्रियस्य श्रितवत्सलाय सर्वेश्वराय मह्यं भक्त्या सर्वाधिकप्रीत्या प्रयच्छत्यनभिसंहितान्यप्रयोजनः सन् समर्पयति। प्रयतो विशुद्ध आत्मा मनो यस्य स प्रयतात्मा तस्य प्रयतात्मनो भक्त्या मद्विषयकानन्यप्रेम्णोपहृतमुपहारतयाऽर्पितं तत् पत्रपुष्पादिकमहमवाप्तसमस्तकामत्वेऽप्यहमश्नामि। निरतिशयप्रीत्या तदहमवश्यमङ्गीकरोमीत्यर्थः ॥२६॥

एवमुक्तमुपासनं यावज्जीवमनुतिष्ठन् शरीरयात्रा निर्वाहाय लौकिकं वर्णाश्रमोचितं नित्यनैमित्तिकं कर्म तत्फलञ्च मामेवार्पयेत्युपदिशति यत्करोषीति। हे कौन्तेय!

अश्नामि का अर्थ किया है "निरतिशयप्रीत्या तदहमवश्यमङ्गीकरोमीत्यर्थः" (निरतिशय प्रीति से अवश्यमेव मैं उस वस्तु को जिसे भक्त ने भक्ति पूर्वक अर्पण किया है उसका मैं अंगीकार करता हूं।) पांचरात्र में भी कहा है "अण्व्युपहृतं भक्तैर्मम भोगाय जायते। भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे भोगाय जायते" इति। भक्त से भक्तिपूर्वक थोड़ा भी दिया हुआ अन्न जलादिक मेरे उपभोग के लिये होता है परन्तु अभक्त से दिया हुआ महान् राशि भी मेरे भोग के लिए कल्पित नहीं होता है भगवान् विष्णु के पूजा प्रकरण में सब से प्रधानता तुलसी पत्र की ही है इतर साधारण है—

"तुलसीं प्राप्य यो नित्यं न करोति ममार्चनम्। तस्याहं तु न गृह्णामि पूजां च शतवार्षिकीम्॥
न विप्रसदृशं पात्रं न दानं सुरभी समम्। न गङ्गा सदृशं तीर्थं न पत्रं तुलसी समम्॥"

तुलसी को प्राप्त करके भी जो व्यक्ति तुलसीपत्र से भी मेरी पूजा नहीं करता है उसकी शतवर्ष पर्यन्त की भी हो तो भी उस पूजा का ग्रहण नहीं करता हूं। ब्राह्मण के सदृश विलक्षण कोई दूसरा पात्र नहीं है और गोदान के सामने कोई दाननहीं है। गंगा के सदृश अन्य कोई तीर्थ नहीं है और तुलसी के समान अन्य कोई पत्र नहीं है। इत्यादि अनेक वचनों से सिद्ध होता है कि तुलसीपत्र से पूजन ही भगवान् के लिए अति प्रशस्त है। विष्णु पूजा में क्या आवश्यक है क्या प्रशस्त है इन सब वस्तुओं को मत्कृत पूजा प्रकाश में देखें ॥२६॥

इस प्रकार कथित जो उपासना (यजनपूजन प्रभृति) उसका यावत् जीवन अनुष्ठान करते हुए शरीर यात्रा निर्वाह के लिए लौकिक वर्ण आश्रम के उचित जो कर्म है उसका तथा उन नित्यनैमित्तिक वर्णाश्रमोचित कर्म का जो फल होगा इन सब का मुझ सर्वेश्वर परमात्मा में ही समर्पण करो इसका आदेश देते हुए कहते हैं " ' हे कौन्तेय

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

यत् करोषि विदधासि । एतच्च शरीरयात्रानिर्वाहकं लौकिकं कर्मवेदितव्यमन्यथाऽशनहोमदानतपोरूपाणां वक्ष्यमाणानां कर्मणामानर्थक्यमापद्येत । यदश्नासि शरीरं धारयितुं यदत्सि । यज्जुहोषि होमात्मकं यद्वैदिकं कर्म विदधासि यद्ददासियद्दानं करोषि यत्तपस्यसि यच्च तपः करोषि । हे कौन्तेय! तदखिलं मदर्पितं कुरुष्व । अत्रार्पणमिति कर्मणिल्युडन्तम् । तथा चोक्तं निखिलं कर्म मदर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्वेत्यर्थः सम्पद्यते । स्वानुष्ठीयमानस्य लौकिकस्य वैदिकस्य च निखिलस्य कर्मस्य कर्मणः कर्त्ता भोक्ताऽऽराध्यश्चाहं सर्वेश्वर एवेति त्वमनुसंदधीतेति तात्पर्यम् ॥२७॥

हे अर्जुन ! जो कुछ भी करते हो मन शरीर चेष्टा से शुभसंकल्प हेतुक जो कुछ कर्म करते हो । यत् करोषि का शरीरयात्रा निर्वाह के लिए जो कुछ लौकिक कर्म करते हो यह अर्थ है अन्यथा सर्वनाम यत् शब्द से सभी कर्म का संग्रह होजाने से अशन होम दान तपस्यारूप वक्ष्यमाण कर्म का पार्थक्य रूप से कथन निरर्थक हो जायगा अतः शरीरनिर्वाहक लौकिक कर्म का ही ग्रहण करना उचित है जिसे ऊपर कह दिया गया है और शरीर धारण करने के लिए जो कुछ अशन पानादिक करते हो जो हवन करते हो अर्थात् होम लक्षण जो वैदिक कर्म करते हो एवं सुपात्र में शास्त्र विहित देश काल में जो कुछ दान देते हो और शरीरादि शोधन करने के लिए जो कुछ व्रत उपवास चान्द्रायणादिक तपस्या करते हो हे कौन्तेय ! उन सभी कर्मों को मुझ सकलाधार सर्वभूतमय परमात्मा में समर्पित करो । यहाँ अर्पण में कर्मार्थक ल्युट् प्रत्यय करके अर्पणम् यह प्रयोग बना है इसलिये ऐसा कहा है कि सभी कर्म मुझ परमेश्वर में जिस प्रकार समर्पित हो ऐसा करो । स्व से अनुष्ठियमान जितना कोई लौकिक कर्म हो अथवा वेदोक्त कर्म हो उन सभी कर्मों को करनेवाला फल भोक्ता तथा उन कर्मों के द्वारा आराध्य मैं सर्वेश्वर परमात्मा सर्व नियन्ता ही हूँ इस प्रकार तुम अनुसंधान करो यह तात्पर्य है । मेरे परमाचार्य अनन्त श्री विभूषित महामहोपाध्याय श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के उनतालीसवें आचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्य वेदान्त केसरीजी ने "यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत् । यत्तपस्यामि भगवन् ! तत्करोमि त्वदर्पणम्" इत्यादि रूपसे इसश्लोक को समर्पण मन्त्र में भी स्वीकार किया है । इस मत को आचार्य साम्प्रदायिक महात्माओं से ही जानना चाहिये यहाँ तो हम गौरव भय से केवल दिग्दर्शन मात्र ही

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

पूर्वोक्तस्य फलमाह एवं मदुक्तप्रकारेण संन्यासयोगयुक्तात्मा कर्मकर्तृत्वादिकस्य मय्यर्पणमेव सन्न्यासस्तथानुसन्धानेन योगेन युक्तमनास्त्वं शुभाशुभफलैर्मदुपासनसमकाले ततः प्राक्काले चानुष्ठीयमानानुष्ठितकर्मणामिष्टानिष्टफलदैः कर्मबन्धनैर्मोक्ष्यसे। न त्वयि तानि कर्माणि बन्धनाय भवन्तीत्यर्थः। कर्मबन्धनैर्विमुक्तः सन्मामेव प्राप्स्यसि। प्रतिबन्धकस्य कर्मणोऽभावान्न संसारं प्राप्स्यसीति भावः।२८।

नन्वेवं स्वभक्तस्योद्धारेऽभक्तस्य च तिरस्कारे वैषम्यं स्यादिति तां शंकामपवारयति सम इति। जात्या स्वभावेन गुणैश्चात्यन्तोत्कृष्टतयाऽनुत्कृष्टतया च स्थितेषु

भगवान् की आज्ञा है कि शरीर यात्रा निर्वाह के लिये जो कुछ लौकिक वैदिक कर्म करते हो उसे सर्वाराध्य सर्व नियन्ता परमपुरुष में अर्पण करो परन्तु इसका समर्पण फल क्या है वह तो कुछ कहा नहीं। अतः तादृश सब कर्म समर्पण के फल कथन की इच्छा से कहते हैं "शुभाशुभेत्यादि" एवं मदुक्त प्रकार से संन्यास योग युक्तमनवाला हो करके सभी कर्मों का कर्तृत्व कर्मत्व को सर्वेश्वर परमात्मा मुझ में अर्पण कर देने का नाम ही सन्यास है एतादृश सन्यासलक्षण योग से युक्त है आत्मा मन जिस का तादृश तुम हो करके शुभाशुभफल से मेरी उपासना काल में तथा उपासना के पूर्वकाल में अनुष्ठीयमान अथवा अनुष्ठित कर्मों का जो इष्ट वा अनिष्ट फल उसे देनेवाला जो कर्म बन्धन उस कर्म बन्धन से विमुक्त हो जाओगे। तुम में वह कर्म बन्धन नहीं होगा। और कर्म बन्धन से विमुक्त हो करके मुझ सर्व शरीरी सर्वेश्वर परमात्मा को प्राप्त कर जाओगे। ईश्वर प्राप्ति में प्रतिबन्धक जो कर्म उसका अभाव होने से पुनः संसार को प्राप्त नहीं करोगे। कारण के अभाव होने से कार्य का अभाव अनायास से ही हो जाता है। कारण जो बीज है उसके अभाव होने से कार्य जो अंकुर है वह उत्पन्न ही नहीं होता है इसी प्रकार संसार का कारण जो जीवका पूर्व कर्म है उस कर्म का अभाव हो जाने से कार्य रूप जो संसार रूप अंकुर उसका भी अभाव हो जाता है इतनाही नहीं अपितु मदुपासना से मदीय सायुज्य को प्राप्त हो करके नित्य निरतिशय मोक्ष सुख को ही अनुभव करोगे इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥२८॥

हे भगवन्! यदि आप अपनी भक्तमण्डली का उद्धार करते हैं अर्थात् अशेष दोष को हटा करके स्वकीय जो नित्य निरति शय सुखात्मक मोक्ष है उसे देते हैं और जो आपका अभक्त है अर्थात् आसुर राक्षस स्वभावापन्न है उसका तिरस्कार करते हैं आसुरी राक्षसी योनि में

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

सर्वेषु ब्रह्मादितरुगुल्मान्तेषु भूतेषु समाश्रयणेऽहं समस्तुल्योऽस्मि। जात्यादिभिरनुत्कृष्टत्वेन कश्चिन्मे द्वेष्यो द्वेषार्हस्तैरुत्कृष्टत्वेन कश्चिन्मे प्रियः प्रेमार्होऽपि नास्ति। कस्यचिन्मत्कृतसंग्रहासंग्रहयोर्न जात्यादेरुत्कर्षापकर्षौ कारणतां भजेतामित्यर्थः। तु शब्दः शंकापरिहारकः। ये जात्यादिभिरुत्कृष्टा अनुत्कृष्टा वा जना भक्त्या निरतिशयप्रीत्या मां भजन्त्याराधयन्ति। ते मयि वर्त्तन्ते मदेकाश्रिततया वर्त्तन्ते तेष्वहमपि वर्त्ते इति शेषः ।२९।

किञ्च मद्भजनस्यापरमपि प्रभावमाकर्णयेत्याह अपीति। यद्यपि सत्संगादनन्तरं सद्गुरुमुपसद्य भजनारम्भात् प्राक् सुदुराचारः कुलेन वृत्तेन हीनोऽपि मामाश्रितार्तिहरं छाड देते हैं तब तो आप भी अस्मदादि प्राकृत पुरुष के समान ही पक्षपाती सिद्ध होते हैं सकल साधारण पुरुषापेक्षया आप में विलक्षणता क्या रही इस आशंका के उत्तर में कहते हैं "समोऽहमित्यादि" हे अर्जुन ! जाति ब्राह्मत्वादि स्वभाव सात्विक गुणादि से अत्यन्त उत्कृष्ट अथवा अनुत्कृष्ट तया स्थित सभी ब्रह्मा से लेकर स्थावरान्त तरु गुल्म लतादिक भूत प्राणीमात्र में समान तुल्य हूं। जाति स्वभावगुण से अनुत्कृष्टता हीनता के कारण मेरा कोई द्वेष किसी के साथ नहीं है न वा जाति स्वभाव से उत्कृष्टता अधिकता के कारण ब्रह्मादि से लेकर स्थावरान्त प्राणी में मेरा कोई प्रिय ही है। किसी को भी मत्कृत संग्रह अथवा असंग्रह में जाति स्वभावगुणकृत उत्कर्ष कारण नहीं है। यहाँ तु शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण परक है। परन्तु जो जाति स्वभाव गुण से उत्कृष्ट हो अथवा अपकृष्ट हो पर भक्ति से निरतिशय प्रीति से मेरा भजन आराधन करता है वह आराधक भक्त मुझ परमेश्वर सर्वात्मा में मदेकाश्रित हो करके रहता है और तादृश अपने अनन्य भक्त में मैं रहता हूं। अर्थात् मत्कृत अपेक्षणीयत्व उपेक्षणीयत्व में जाति स्वभाव गुण का उत्कृष्टापकृष्टत्व कारण नहीं है जिससे कि मुझ में किसी प्रकार की आपत्ति आवे। किन्तु उसमें तो भक्ति और तदभाव में अपेक्षा उपेक्षा में कारणता है। अतः मैं सर्वतो भाव से दोष मुक्त हूं परिणामतः आराधक के पक्ष में ही दोषावायकत्व है ॥२९॥

अनन्यभाव से जो सर्वेश्वर परम पुरुष का भजन करता है तथा सर्वेश्वर का अनन्य भजन है उसका यह और भी उसकी विलक्षणता को देखिये इस वस्तु को कहने के लिये प्रक्रम करते हैं "अपि चेदित्यादि" हे अर्जुन ! यद्यपि सत्संग करने के बाद सद्गुरु को प्राप्त करके

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय? प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

सर्वेश्वरमनन्यभागनन्यानुरागेण मत्सेवैकप्रयोजनो भजते चेत्स साधुरेव मन्तव्यो ममानन्यभक्त एव मन्तव्यो यतः स भजनानन्दः सम्यग् व्यवसितो नैरन्तर्येण मद्भजनमात्रैकव्यवसाययुक्तोऽतः परमभागवत एवेति तात्पर्यम् ॥३०॥

ननु दुराचारिणो दुराचारात्मकस्य भजनप्रतिबन्धकस्य विद्यमानतायां त्वद्भजनोपपत्तिरेव कथं स्यादित्याशङ्कायामाह क्षिप्रमिति । स दुराचारी यतः सम्यग् व्यव-

भजन के आरंभ करने से पहले पूर्वकाल में सुदुराचार भी था कुल से कुलोचित आचारादि से हीन अपकृष्ट भी था तथापि शरणागत के क्लेश को हरण करनेवाले जो सर्वेश्वर परम पुरुष मैं हूं उसे अनन्य भाक् अनन्य असाधारण अनुराग से भगवान् की सेवा ही परम प्रयोजन हैं जिसे ऐसा हो करके सर्वेश्वर का भजन करता है तब उसे साधु ही समझना चाहिए अर्थात् मेरा सर्वेश्वर का अनन्य भक्त उसे समझना चाहिये जिसलिए वह भजनानन्दी पुरुष सम्यक् व्यवस्थित है निरन्तर रूप से मुझ सर्वेश्वर के भजन मात्र व्यवसाय में संलग्न है इसलिये वह भजनानन्दी पुरुष महाभागवत है । अन्यत्र भी मोक्ष प्राप्ति में व्यवसाय की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है "ज्ञानं च व्यवसायश्च द्वौ पर प्रतिपादकौ । व्यवसायादृते ब्रह्म नासादयति तत्परम् ॥" परं ब्रह्म के प्रापक दो वस्तुएं हैं एक तो ज्ञान और दूसरा व्यवसाय । उसमें व्यवसाय के बिना ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता है । भगवान् विश्व के अध्यक्ष हैं वे ही महापुरुष मेरे प्राण से भी अधिक प्रिय मेरे हृदय के मालिक हैं इस प्रकार की जो सार्वकालिक भावना उसी को व्यवसाय कहते हैं एतादृश व्यवसाययुक्त व्यक्ति पहले चाहे सामान्य धर्म से ईषत् पतित भी था परन्तु उत्तरकाल में उसे महाभागवत ही समझना चाहिये ॥३०॥

हे भगवन् ! दुराचार भगवद् भजन के प्रति प्रतिबन्धक हैं तो जब भगवद् भजन प्रतिबन्धक दुराचाररूप दुराचारी में विद्यमान है तब दुराचारी व्यक्ति भगवद् भजन द्वारा सम्यग् व्यवसित कैसे हुआ अपितु दुराचार का कार्य जो पापकर्म उसी में वह प्रवृत्त होगा क्या कभी भी बबूल बीज से आम्र का अंकुर आम्र वृक्ष भी उत्पन्न होता है ! कभी नहीं शास्त्र में भी कहा हैं पाप प्रज्ञा का विनाश करता है प्रज्ञा के नष्ट हो जाने पर मनुष्य पाप कर्म को ही नियमतः करता है । कठोप निषद् में भी कहा है पापी व्यक्ति संसार को प्राप्त करता है परम पद को कभी भी नहीं प्राप्त करता है इस आशंका का निराकरण करने के लिये भगवान् अर्जुन को कहते हैं "क्षिप्रं भवतीत्यादि" हे अर्जुन ! गुरुपदेश के पूर्वकाल में दुराचारी ही वह व्यक्ति है जिसलिये सम्यग् व्यवसित नहीं है तथापि पश्चात् भगवान् में अनन्य भाव को रखनेवाला हो गया है इसलिये क्षिप्र अर्थात् बहुत जल्दी हो धर्म में मदीय अनन्य

मां हि पार्थ ? व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्॥३२॥

सितोऽतः क्षिप्रमाशु धर्मे मदनन्यभजनलक्षणे धर्मे आत्मा मनो यस्य स धर्मात्मा भवति । तस्य मदनन्यभजनोद्देश्यकव्यवसायेन प्रतिबन्धकीभूतस्य पापस्य निवृत्ताव-चिरादेव स मदनन्यभजनैकमनस्को भवतीत्यर्थः । शश्वत् पुनरावर्त्तनरहितां शान्तिम् क्तदुराचारनिवृत्तिं च निगच्छत्यवाप्नोति । हे कौन्तेय ! प्रतिजानीहि त्वं प्रतिज्ञां विधेहि । मे मम भक्तो भक्तिविषयकोपक्रमवान् न प्रणश्यति किन्तु भक्त्युपक्रमप्रभा-वान्निर्धूतदुराचारः सन् मम पूर्णां भक्तिमेव समवाप्नोतीति भावः ॥३१॥

एवमागन्तुकपापाचाराणां भगवद्भक्तिः संशुद्धिं विधाय भगवदाभिमुख्यं प्रापय-

भजन लक्षण धर्म में मन संलग्न हो गया है जिसका ऐसा वह धर्मात्मा हो जाता है। एतादृश व्यक्ति का मेरा जो अनन्य भजन उसे उद्देश्य करके जो व्यवसाय है उस व्यवसाय से भजन में प्रतिबन्धक जो पाप कर्म उसकी निवृत्ति विनाश हो जाने से बहुत जल्दी वह पूर्व दुराचारी था तो भी वह व्यक्ति सम्प्रति मदनन्य भजन में संलग्न मन वाला हो जाता है यह इस का अर्थ है, और शश्वत अर्थात् पुनरावर्त्तन रहित शांति परमपद को तथा दुराचार निवृत्ति लक्षण फल को प्राप्त कर लेता है। हे कौन्तेय ! तुम भी इस विषय में प्रतिज्ञा करो कि जो मुझ सर्वेश्वर परमात्मा का जो भक्त है अर्थात् मेरी जो भक्ति उसका उपक्रम तैयारी करने वाला है वह कभी भी प्रणष्ट नहीं होता है किन्तु भक्ति का जो उपक्रम उस उपक्रम के प्रभाव से ही उस का सभी दुराचार नष्ट हो जाता है तब निर्धूत दुराचार होने से मेरी पूर्ण अनन्य भक्ति को ही प्राप्त कर लेता है। दुराचार प्रति बन्धक था उसका भजन का जो उप-क्रम है उससे नाश हो जाने पर निर्विघ्नतया अनन्य भक्ति को प्राप्त कर लेता है। यानी प्रतिबन्धक जैसे कार्य को रोकता है उसी प्रकार प्रतिबन्धकाभाव कार्य का जनक होता है जैसे दाह कार्य में प्रतिबन्धक जो चन्द्रकान्त मणि उसका अभाव दाहात्मक कार्य का जनक होता है । यथा दण्डादि भाव कारण में कारणता अन्वय व्यतिरेक के अधीन है उसी प्रकार दुराचाराभाव रूप प्रतिबन्धकाभाव में कारणता भी अन्वय व्यतिरेक से गृहीत होती है ॥३१॥

जो स्वभावतः दुराचारी नहीं है किन्तु आगन्तुक पापाचारी है अर्थात् पापी व्यक्ति के सम्बन्ध से अथवा कारणान्तर के सम्बन्ध से दुराचारी हो गया है तादृश व्यक्ति को भगवद् भक्ति निष्पाप बना करके भगवान् की अभिमुखता करके परमपद की प्राप्ति कराती है। यह पूर्वोक्त प्रकरण से प्रतिपादन करके संप्रति जो जन्म से ही अपवित्र है पापाचरण में संलग्न हैं उन व्यक्तियों को भी भगवती भागवती भक्ति भागीरथी प्रवाह के समान पवित्र बना करके सद्गति को प्राप्त कराती है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "मां हि पार्थ" इत्यादि ।

तीत्युक्तमिदानीं जन्मदुष्टानामपि भगवद्भजनादेव सद्गतिमाह मामिति । हे पार्थ ! येऽपि पापयोनयः पापहेतुका योनिर्जन्म येषान्ते पापकर्मारब्धजन्मशालिनः स्युः स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः । तत्र स्त्रीशूद्राणां जन्माशुभकर्मवासनोपचिततमः प्राधान्याद् भवति । अत एव तेषां वेदाध्ययनादिष्वनधिकारोऽपशूद्राधिकरणेऽभिहितः संगच्छत उत्तरमीमांसायाम् । अतस्तेषां पापयोनित्वम् । वैश्यस्य तमः प्राधान्यादुत्पत्तेः कृष्यादिवृत्तेश्च पापयोनित्वमिति शास्त्रेणावगन्तव्यम् । तेऽपि मां व्यपाश्रित्य मद्भजनेन मदाश्रयं सम्प्राप्य क्रमेणोपचितसत्त्वाः परामुत्कृष्टां गतिं प्राप्नुवन्ति ॥३२॥

हे पार्थ अर्जुन ! जो व्यक्ति पाप योनिक हैं पापमूलक योनि जन्म है जिनका यानी पापकर्म से निर्मित जन्म को धारण करने वाले हैं, जैसे कि स्त्रीत्व जाति विशिष्ट स्त्रियाँ वैश्य तृतीय परिगणित जातीयक तथा शूद्र त्रैवर्णि योंकी सेवा परायण व्यक्ति विशेष ये सभी लोग । इनमें से स्त्री तथा शूद्र का जो जन्म है वह अशुभ कर्म वासना से सम्मिलित तमोगुण की प्रधानता से होता है । अत एव स्त्री तथा शूद्र जातीयक व्यक्ति को वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है ऐसा उत्तर मीमांसा के अपशूद्राधिकरण में आचार्य ने प्रतिपादन किया है वह भी संगत होता है इसलिये स्त्री तथा शूद्र को पापयोनित्व सिद्ध होता है । वैश्य को जो पापयोनिक कहा गया है वह वैश्य में तमोगुण की प्रधानता है तथा हिंसादि बहुल कृषि कर्म में सदा प्रवृत्त रहने के कारण पाप योनित्व है ऐसा कहा गया है इस विषय को मन्वादि शास्त्र के द्वारा विशेष रूप से जानना चाहिये । एतादृश पाप योनिक व्यक्ति भी मुझ सर्वेश्वर परम पुरुष का आश्रय लेकर मेरे भजन से मेरी शरणागति को प्राप्त करके क्रम परम्परा से सत्व गुण की अधिकता होने से परम उत्कृष्ट मोक्ष गति को प्राप्त कर जाते हैं यानी मेरे भजन के प्रभाव से सद्गति को प्राप्त करते है ।

यद्यपि ब्राह्मण क्षत्रिय के समान वैश्य को भी उपनयन संस्कार तथा वेदाध्ययन में समानाधिकार होने से वैश्य का पापयोनि में परिगणन करना तो समीचीन नहीं मालूम होता है । एवम् "यत्कर्तव्यं तदनया सह स्त्री दम्पत्योः सहाधिकारात्" इस नियम से वेदोक्त यागादिक कर्म में जब स्त्री को अधिकार है तब स्त्री का भी पापयोनि में परिगणन करना समुचित नहीं मालूम होता तथापि सभी प्राणी स्वाभाविक रूप से गुणत्रय वशीकृत हैं ऐसा शास्त्र में कहा है उसमें सत्वप्रधानक ब्राह्मण होते हैं रजोगुण प्रधानक क्षत्रिय होते है और वैश्य शूद्र में तमोगुण प्रधानता है तत्रापि सत्वरजोगुण को अभिभूत करके तमः प्रधानता वैश्य में और सत्व रजो गुण का अभिभव करके उत्कट तमः प्रधानता शूद्र में है इस लिये तमो बहुलता के कारण वैश्य का परिगणन गीताचार्य ने पापयोनि में किया है । स्त्री का जो पापयोनि में परिगणन है वह इनका स्वभाव तथा औपाधिक विचार तथा कार्य पर निर्भर है । इस विषय पर अधिक विचार गीतातत्त्वमीमांसा आदि ग्रन्थों में देखें विस्तार भयसे लेखनी व्यापार से विरत होते हैं ॥३२॥

किम्पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

ब्राह्मणाद्युत्तमजन्मवत्सु कैमुत्यन्यायेन फलं दर्शयति—किमिति । यदि च पापयोनिश्रिताः स्त्रीवैश्यशूद्रा अपि मदाश्रयात् परां गतिं प्राप्नुवन्ति तर्हि पुण्या जन्मना वेदाध्ययनादिवृत्तेन च पवित्रितस्वान्ता ब्राह्मणास्तथा राजर्षयो राजानश्च ते ऋषयो जनकजैवलिगाधिप्रभृतयो ममभक्ता परां गतिं प्राप्नुयुस्तत्र किमु वक्तव्यमत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपीति तात्पर्यम् । तस्मादनित्यं जन्ममरणाद्युपप्लवयुक्तत्वादसुखं क्षणिकमपि सुखं यत्र नास्त्येतादृशमिमं मनुष्याख्यं लोकं प्राप्य सर्वमन्यद् भगवदनुक्तिविपरीतं मत्वा मामखिलहेयप्रत्यनीकदिव्यकल्याणगुणगणार्णवमेव भजस्व । यतस्त्वं राजर्षिरसि तव त्वनायासेनैव परमगतिर्हस्तमोदकायिताऽतः प्राप्तमवसरं मा यापयेति भावः ॥३३॥

पूर्वोक्त श्लोक में कहा है कि जो पापयोनिक हैं वे भी मेरी शक्ति के महात्म्य से मदीय भजन अर्चनादि का सपादन करके उत्तमगति को प्राप्त करलेते हैं तब जो स्वभाव से कर्म से उत्तम ब्राह्मण क्षत्रिय हैं उत्तम जन्मवान् हैं उनके लिये कहना ही क्या है इस प्रकार कैमुतिक न्याय से विशिष्ट फल को बतलाते हैं "किं पुनर्ब्राह्मणाः" इत्यादि । हे अर्जुण ! जब कि पापयोनि में स्थित स्त्री वैश्य शूद्र लोग भी मेरे आश्रय से परागति यानी सद्गति-मोक्ष को प्राप्त कर जाते हैं तव जो पुण्य है अत्युत्तम कुल में जन्म से और षडङ्ग सहित वेदाध्ययनाध्यापन यजन—याजन दान प्रतिग्रहादि यथा योग्य सदाचार से पवित्र है जिनका अन्तकरण ऐसे जात्या कर्मणा ब्राह्मण हैं तथा राजर्षि राजा और ऋषिकल्प जनक विदेहाधिपति त्रैलोक्य बन्दनीय श्रीसीताजी से पिता रूप में सम्मानित एवं जैवालि विश्वामित्र प्रभृतिक जो मेरे भक्त और अंबरीषादिक राजगण पर गति अर्थात् मेरे भजनादि के द्वारा नित्य निरतिशय सुख लक्षण परमगति को प्राप्त कर गये तो इसमें कहना ही क्या है । अर्थात् इसमें कोई भी सन्देह नहीं है यह तात्पर्य है । जिस लिये कि ब्राह्मण राजर्षि लोग मेरी शरणागति में आकर, सफल होगये । इसलिये हे अर्जुन ! अनित्य उत्पाद विनाश शील जन्म मरण जरारोगादि अनेक प्रकारक उपद्रव से युक्त असुख अर्थात् क्षणिक भी सुखलेश नहीं है जिसमें ऐसा जो यह मनुष्याख्यलोक मृत्यु लोक है तादृश मृत्युलोकको प्राप्त करके सभी भगवत् व्यतिरिक्त पुत्र कलत्रादि परिवार का भगवान के प्रति जो राग है उसके विपरीत विरोधी समझ करके मुझे अखिल हेय पदार्थ के विरोधी दिव्यानेक गुणगण के समुद्र समान मेरा भजन करो । इस लिए कि तुम राजर्षि राजओं में ऋषि के समान सम्मानित को तुमको तो अनायास श्रम के बिना ही यह परमगति निरतिशय सुखलक्षण मोक्ष हस्तमोदक के समान है (हाथ में प्राप्त मिष्टान्न का भोजन जैसे अनायास से प्राप्य है इसी तरह मोक्ष

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नामनवमोध्यायः ॥९॥

'भजस्व माम्' इति पूर्वश्लोकोक्तां भक्तिं निरूपयति—मन्मना इति। मद्भक्तो निरतिशयमत्प्रेमविशिष्टो भूत्वा मन्मना ईश्वराणामपि महेश्वरेऽखिलहेयप्रतिभटेऽनतिशयानन्तकल्याणगुणनिधानेऽखिलजगत्कारणेऽखिलचिदचिच्छरीरिणि लावण्यार्णवे दिव्यविग्रहवति परमब्रह्मसञ्ज्ञकेऽखिलजनशरणभूते महापुरुषे मयि मनोवृत्तिर्यस्य स तादृशो मद्याजी स्रक्चन्दनधूपदीपनीराजनाद्यात्मकमद्यजनस्वरूपमत्कैङ्कर्यपरश्च भव। मां सर्वज्ञं सर्वशक्तिमन्तं सर्वस्वामिनं च मां नमस्कुरु वन्दस्व। एवमात्मानं युक्त्वोपलभ्याहमेव परमयनमाश्रयो यस्य स मत्परायणो मदेकाश्रितो मामेवोभयविभूतिनायकमेष्यस्यवाप्स्यसि ॥३४॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

भी तुम्हारे लिये अति सरल है) अतः प्राप्त हुए अवसर को छोडो मत। कहावत है कि "पंगत का चुका साधु और डाल से चुका हुआ बन्दर कहीं का नहीं रहता है" इसी प्रकार अवसर से चुका हुआ मनुष्य कहीं का नहीं रहता है अतः इस सुयोगको हाथ से मत जाने दो ऐसा भगवान् का अभिप्राय है ॥३३॥

मुझ सर्वेश्वर परमात्मा का भजन करो इस प्रकार पूर्व श्लोक कथित जो भक्ति है उसका निरूपण करते हैं "मन्मना" इत्यादि। मेरा भक्त हो करके अर्थात् मद् विषयक निरतिशय प्रेम विशिष्ट हो करके मन्मना=सर्व प्रकारक ऐश्वर्य विशिष्ट पुरुष का भी महेश्वर समस्त हेय के विरोधी अतिशय रहित अनन्त कल्याणगुण के निधान समुद्र सदृश संपूर्ण स्थावर जंगम जगत् के निदान कारण समस्त चित् अचित् पदार्थ के शरीरी सुन्दरता के समुद्र दिव्य लोकोत्तर शरीर विशिष्ट परम ब्रह्म नाम वाला समस्त प्राणी के शरण्य महापुरुष मुझ सर्वेश्वर में मनो वृत्ति है जिसकी ऐसा हो करके मेरा यजन माला चन्दन धूप दीप आरती लक्षणात्मक तथा मदीय किंकरता में संलग्न बनो। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्व स्वामी मुझे नमस्कार वन्दन करो। इस प्रकार आत्मा अर्थात् मन को युक्त्वा अधिगम्य अर्थात् उपलभ्य यानी लाभ करके मैं ही हूं परम आश्रय जिसका ऐसा मत्परायण मदेकाश्रित हो करके उभय प्रकारक विभूति के नायक मुझे प्राप्त करोगे ॥३४॥

इतिपरिचितसाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्द भाष्य तत्त्वदीपे नवमोऽध्यायः

卐 श्रीरामः शरणं मम 卐

भगवते श्रीआनन्दभाष्यकाराय नमः

##卐 दशमोऽध्यायः 卐

ॐ श्रीभगवानुवाच ॐ

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

नवमाध्याये "मन्मना भव मद्भक्तः" इत्यन्तेन भक्तियोगोऽभिहितः । इदानीं तत्परिवर्द्धनोपायानभिधातुकाम आदौ सर्वस्वतन्त्रस्य परमकारुणिकस्य करणाधिपाधिपस्य जगच्छरीरकस्य महापुरुषस्य स्वरूपगुणविभूत्यादिकं ज्ञापयितुकामः श्रीभगवानुवाच—भूय इति । महाबाहो ! महान्तौ बाहू यस्य स तत्सम्बोधनं हे आजानुबाहो ! अर्जुन ! मे मम परममुत्कृष्टं वचो भूयः एवकारोऽप्यर्थकः । पुनरपि शृणु । वचस्यौत्कृष्ट्यञ्च शरीरात्मभावेन जगन्मयत्वकथनम् । यद्वचोऽहंप्रीयमाणः श्रावं श्रावं मद्वचाननिचायमभिनवप्रीतिविशिष्टस्त्वं तस्मै ते तुभ्यं हितकाम्याय हितमत्र परमपुरुषानुभवसमानकालिकभगवत्कैङ्कर्यमेव तत्सम्पादनेच्छया वक्ष्यामि ॥१॥

नवम अध्याय में मन्मनाभव मद्भक्त इत्यन्त प्रकरण से सर्व साधन में श्रेष्ठ भक्तियोग का ही प्रधानरूप से कथन किया गया है। अभी उसी भक्ति योग के परिवर्धन के उपाय को कहने के इच्छावाले (कारणवश भगवद्विषयक उत्पन्न जो भक्ति है उस का अंकुर किस प्रकार बढेगा पुष्पित तथा फलित होगा तादृश उपाय के प्रदर्शनेच्छावान्) यानी आदि में प्रथमतः सर्वस्वतन्त्र परम करुणा शील इन्द्रियाधिपति जीव के भी अधिपत्ति सर्वनियामक जगद् शरीरक महापुरुष का स्वरूप क्या है उन महापुरुष का गुण कैसा है विभूतियाँ कैसी हैं इन सब विषयों को समझाने के इच्छावाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र वोलते हैं "भूयः" इत्यादि । हे महाबाहो ! बहुत बडे बडे हैं हाथ जिसके उसे कहते हैं महाबाहु । हे आजानुबाहो अर्जुन ! तुम पुनः परम उत्कृष्ट मेरे वचन को सुनो। यहाँ एव शब्द का अर्थ है अपि अर्थात् पहले भीनो मैंने सुनाया ही है पुनरपि परमोत्कृष्ट मेरे वचन को सावधान मन से सुनो। वक्ष्यमाण भगवद् वचन में परमत्व क्या है ! तो अभी समस्त चिदचित् पदार्थ को शरीरात्मभाव से जगन्मयता का प्रतिपादन करना ही उक्त वचन में परमत्व है। जिस वचन को मैं प्रीयमाण अर्थात् सुन सुन कर मदीय वचन समुदाय को अभिनव नवीन प्रीति विशिष्ट जो तुम हो तादृश तुम को हित की कामना से यहाँ हित क्या है तो सर्वदुःखनिवृत्ति पूर्वक परम पुरुष का जो दिव्यधाम साकेत उसका अनुभव ही है उस अनुभव के समान काल में ही भगवान् के कैंकर्य का लाभ करना अत भगवत् कैंकर्य की संपादनेच्छा से कहता हूं। १।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥२॥

नन्वनन्यथासिद्धमेवार्थं श्रावय साधारणहितावहं तु महर्षिभ्योऽपि श्रोतुं शक्यमित्यतआह–नेति । सुरगणा इन्द्रादयो देवगणा महर्षयो दिव्यज्ञानवन्तोऽपि मे मम प्रभवं प्रभावं जगदुत्पत्त्यवनादनादिसामर्थ्यं न विदुर्नैव जानन्ति । मदुपदेशमंतरेण नैव ज्ञातुं शक्नुवन्ति । कुतो मनुष्या । अवेदने हेतुं निर्दिशति–अहमिति । हि यतोऽहं देवानां महर्षीणाञ्चादिकारणम् । सर्वप्रकारेणोत्पादकत्वेन प्रवर्तकत्वेनाहमेव कारणमतो मदुपदेशं विना मत्स्वरूपप्रभावं देवर्षिमनुष्याः केऽपि नैवावबुध्यन्त इत्यर्थः।२।

हे भगवन् ! जो वस्तु आनन्यथा सिद्ध हो वही सुनाइये अर्थात् जो पदार्थ अत्यन्त हित प्रद हो वह सुनाइये साधारण हितप्रद पदार्थ का श्रवण व्यासादि महर्षि से सुन सकता हूं । इस आशंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं–"न मे विदुरित्यादि" हे अर्जुन ! सुर गण इन्द्रादिक देव समुदाय तथा महर्षि भृगु प्रभृतिक ब्राह्मण लोग यद्यपि दिव्य ज्ञानवान् हैं तथापि ये लोग इन्द्रादिक अथवा भृगु प्रभृतिक महर्षिलोग सर्वेश्वर सर्वनियन्ता जो मैं हूं उस सर्वेश्वर का जो प्रभाव है जगत् के उत्पत्तिस्थिति प्रलय लक्षण सामर्थ्य उस को नहीं जान सकते हैं । अर्थात् मेरे उपदेश के विना कथमपि परमेश्वर के प्रभावातिशय को नहीं जान सकते हैं यानी अत्यन्त माहात्म्यशील देवगण तथा महर्षिगण मेरे प्रभाव को नहीं जान सकते हैं तब यह मनुष्य जो कि परिमित ज्ञान शक्ति वाला है वह मेरे प्रभाव को क्या जान सकेगा । हे भगवन् ! देवगणादिक आपके प्रभाव को नहीं जानते हैं इसमें क्या कारण है इस आशंका के उत्तर में कहते हैं "अहमादिर्हीत्यादि" जिसलिये कि मैं सर्वेश्वर देवता तथा सभी महर्षियों का आदि कारण हूं सभी प्रकार से इन सभी के उत्पादक होने से तथा प्रवर्तक होने से मैं ही इन सभी का कारण हूं इसलिए ये लोग देव महर्षि गण मेरे उपदेश के विना मदीय स्वरूप के प्रभाव को कथमपि नहीं जान सकते हैं । अर्थात् जिसलिए मैं सभी की सृष्टि करनेवाला हूं इसलिए मेरे कार्यरूप देवगणादिक मेरे उपदेश के विना मुझे नहीं जान सकते हैं "यन्न देवा न मुनयो न चाहं न च शंकरः । जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम् ॥" देवता मुनि मैं अथवा शंकर कोई भी परमेश्वर विष्णु के स्वरूप को नहीं जानते हैं । लौकिक वृत्त भी ऐसा ही है कि कार्य के स्वरूप को कारण जान सकता है परन्तु कारण का स्वरूप को कार्य के उपदेश के विना नहीं जाना जाता है । जैसे पुत्र के स्वरूप को माता पिता जानते हैं परन्तु माता पिता के स्वरूप को पुत्र अन्योपदेश के विना नहीं जानता है तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये ॥२॥

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च ॥४॥

अथ स्वविषयकज्ञानवतःपापनिर्मोकपुरस्सरं फलानन्त्यमाह—य इति । यः कश्चिदुपासको मामजं जन्मरहितं नित्यमिति यावत् । अनादिसर्वकारणत्वान्न विद्यत आदिः कारणं यस्य तमनादिम् । अनितेः पचाद्यचि अनस्य प्राणस्य करणस्य चादिमः कारणरूपस्तमिति वा लोकमहेश्वरं भूरादिलोकानां महास्वामिनं च वेत्ति स मर्त्येषु मनुष्येष्वसम्मूढस्सम्मोहरहितस्सन् सर्वपापैर्भगवदनुध्यानविरोधिभिः संसारप्रापकैः पापैः प्रमुच्यते मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥३॥

प्रकृतान् भक्तिवन्धकानुपायानेव निर्दिशन् सर्वत्र भगवद्भावानभिधत्ते—बुद्धिरिति । बुद्धिर्मनसो निश्चयात्मिकावृत्तिर्ज्ञानं परजीवजगत्पदार्थविवेकोऽसम्मोहः सद्वस्तुतत्वावधारणं क्षमासहिष्णुता सत्यं यथावगतभाषित्वं दमो बाह्येन्द्रियनियमनं शमोऽन्त-

इसके बाद सर्वेश्वर भगवान् विषयक वास्तविक ज्ञानवान् जो साधक हैं उन्हें सर्व पापनिवृत्ति पूर्वक अनन्त फल जो भगवद्धाम प्राप्ति रूप है उसकी प्राप्ति होती है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं—"यो मामजमित्यादि" हे अर्जुन ! जो कोई साधक विशेष मुझ परमेश्वर को अज जन्म विनाश रहित अर्थात् नित्य समझता है तथा अनादि सभी का मैं कारण हूं इसलिए नहीं विद्यमान है आदि अर्थात् कारण जिसका उसे अनादि कहते हैं अथवा अन धातु के पचादि गण पठित होने से अच प्रत्यय करके अन अर्थात् प्राण का तथा करण इन्द्रिय प्रभृति का जो आदिम कारण स्वरूप है तादृश मुझे जानता है तथा लोक भूरादि चतुर्दश लोक का महा स्वामी जानता है वह मर्त्य मनुष्यों के बीच में असंमूढ सर्वप्रकार के मोह से रहित हो करके सर्वपाप से अर्थात् भगवान् का जो अनुध्यान उसमें विरोधी संसार को देने वाला जो पाप- विशेष है उनसे प्रमुक्त हो जाता है ॥३॥

पूर्व से प्रक्रान्त जो भक्तिवर्द्धक उपाय है उस का निर्देश करते हुए सर्वत्र भगवद्भाव को बतलाते हैं "बुद्धिरित्यादि" श्लोक द्वय से । हे अर्जुन ! बुद्धि निश्चयात्मिका अन्तः करण का वृत्ति विशेष ज्ञान परमेश्वर जीव तथा जगत्पदार्थ विषयक विवेक असंमोह सद्वस्तु तत्व का अवधारण क्षमासहिष्णुता अर्थात् सहन शीलता सत्य यथार्थ वस्तु कहना दम बाह्य चक्षुरादि

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

रिन्द्रियनियमनं सुखमिष्टप्रत्ययो दुःखं द्विष्टप्रत्ययो भवश्चित्तैकाग्र्यमभावोऽस्थैर्यं भयं त्रासोऽभयं त्रासनिवृत्तिः । अहिंसा सर्वथा प्राणिवधनिवृत्तिः समता रागद्वेषवैधुर्यं तुष्टिर्यथागमसन्तोषस्तपः मनोवाक्कायक्लेशः दानं स्वार्जितधनस्य सुपात्रमुद्दिश्य त्यागो यशः कीर्तिरयशोऽपकीर्तिरित्यादयो भूतानां पृथग्विधा भावास्तत्तत्प्राणिकर्मानुसारेण मत्तो मत्संकल्पादेव भवन्ति ॥४॥५॥

लोकेशा अपि मदाज्ञावशवर्तिन इत्युच्यते—महर्षय इति । पूर्वे सप्तमहर्षयो मरीच्यादयस्तथा पूर्वे प्राचीनाः स्वायम्भुवस्वारोचिषरैवतोत्तमसंज्ञकाश्चत्वारो मनवो येषां लोके इमाः परिदृश्यमानाः प्रजाः सन्ति ते मानसा ब्रह्मणः परमात्मनो मनस्सम्भवा मद्भावा मत्संकल्पवशवर्तिनो जाताः ॥६॥

इन्द्रिय को स्वविषय से नियमन शम आन्तर इन्द्रिय मन का नियमन सुख इष्ट वस्तु विषयक ज्ञान दुःख द्वेषज्ञान भव चित्त की एकाग्रता अभाव अस्थिरता भय त्रास अभय त्रासाभाव अहिंसा सर्व प्रकार से प्राणिवध से निवृत्ति समता रागद्वेष राहित्य तुष्टि जितना ही मिले उससे सन्तोष करना तप शरीर वाणी मन का क्लेश यथा चान्द्रायणादिक दान स्वोपार्जित धन का देश काल पात्र को उद्देश्य करके त्याग करना यश कीर्ति अयश अपकीर्ति इत्यादि अनेक प्रकारक भूतों का पृथक् पृथक् भाव स्वस्वकर्म के अनुसार मुझ से ही अर्थात् मेरे संकल्प से ही होते हैं अर्थात् बुद्ध्यादिक भाव की उत्पत्ति प्राणी कर्मानुसारेण परमेश्वर संकल्प से ही जायमान होते हैं न तु अन्य कर्तृकत्व इन सब भावों में है ॥४॥५॥

लोक में सामर्थ्य विशेष युक्त होने के कारण जो ईश्वर कहलाते हैं वे लोग भी मेरी आज्ञा के वशवर्ती हैं इस विषय को समझाने के लिये भगवान् कहते हैं "महर्षयः" इत्यादि। हे अर्जुन ! पूर्वकालिक सात महर्षि मरीचि अत्रि अङ्गिरा पुलस्त्य पुलह क्रतु वशिष्ठ तथा पूर्वकालिक स्वायंभुव स्वारोचिष रैवत उत्तम ये चार मनु जिनका इस लोक में परिदृश्यमान सभी प्रजाएं विद्यमान हैं। वे सप्तर्षि तथा मनु ब्रह्म शरीरक परमात्मा के मन से जायमान मेरे संकल्प के वशवर्ती हो करके समुत्पन्न हुए । इसलिये ये सब इन सबों का कारण मैं ही हूं अन्य कोई नहीं है ६

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

बुद्धिर्ज्ञानमित्याद्युक्तानाम्फलमाह—एतामिति । य उपासक एतां बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह इत्याद्युक्तां मम विभूतिमैश्वर्यं योगं तदर्थोपादानादिसाक्षात्करणसामर्थ्यं च तत्वतो याथार्थ्येन वेत्ति सोऽविकम्पेन योगेन निश्चलभक्तियोगेन युज्यतेऽत्र विषये कश्चिदपि संशयो नास्ति ॥७॥

अहं स्वतन्त्रेश्वरः सर्वस्य चराचरात्मकस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिकारणं मत्त एवेदं सर्वं प्रवर्तते सर्वेषां प्रवृत्तिर्मत्संकल्पायत्तेत्यर्थः । इति सर्वज्ञसर्वशक्तिसर्वान्तर्यामिसर्वप्रवर्तकत्वादिगुणगणैर्नित्ययुक्तं मां मत्वा सम्यक् परिज्ञाय भावसमन्विता अहरहरुपचीयमानप्रेमातिशयेन संयुक्ता बुधा भजनीयविषयविशेषे निश्चतज्ञानवन्तो भजन्तेऽनिशं ध्यायन्तीत्यर्थः ॥८॥

बुद्धिज्ञानादिक जो भाव है उसके ज्ञान होने से क्या होगा ? इसलिए तादृश भाव ज्ञान के फल को बतलाते हुए कहते हैं "एता मित्यादि" हे अर्जुन ! जो उपासक यह बुद्धि ज्ञानादि पूर्वप्रतिपादित मेरी विभूति ऐश्वर्य योग को जानता है तत्तत् पदार्थ का ग्रहण तथा साक्षात्करण सामर्थ्य को यथार्थ रूप से जानता है वह उपासक अविकंप योग से अर्थात् निश्चल भक्ति योग से युक्त होता है। इस विषय में किसी भी प्रकार के संदेह का अवकाश नहीं है ॥७॥

हे अर्जुन ! मैं सर्वेश्वर परमात्मा सभी जड चेतन लक्षण जगत् का जायमान पदार्थों का प्रभव उत्पत्ति स्थिति लय का कारण हूं क्योंकि "यतो वै त्यादि" श्रुति भी इसी का समर्थन करती है और मुझ से ही यह समस्त जगत् प्रवृत्त होता है अर्थात् मेरे संकल्प के अधीन इन सब पदार्थों की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् सर्वान्तर्यामी सर्वप्रवर्तकत्वादि लक्षण गुण विशेष से नित्य युक्त मुझ परमेश्वर को सम्यक् रूप से जान करके भाव समन्वित अनुक्षण में उपचीयमान प्रेमातिशय से संयुक्त हो कर विद्वान् अर्थात् भजन करने के योग्य विषय विशेष में निश्चयात्मक ज्ञानवान् उपासक पुरुष अहर्निश मेरा ध्यान करते हैं ॥८॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

भजनप्रकारमाह–मच्चित्ता इति । मयि सर्वात्मके चित्तं येषान्ते मयि न्यस्तमनसो मयि गता दत्ताः प्राणाश्चक्षुरादीनि करणानि यैस्ते मयि समर्पितजीवनाः परस्परं स्वस्वाचार्यमुखात् श्रुतं मां बोधयन्तो ज्ञापयन्तो मद्गुणकर्माणी वर्णनपूर्वकं मां परस्परं कथयन्तस्तुष्यन्ति वक्तारः प्रेम्णा पृष्टस्यास्वादनेनोत्तरदानेन च तुष्यन्ति श्रोतारश्च वक्तुः प्रेमसंवलितं सरहस्यमुत्तरमाकर्ण्य रमन्ति च हर्षं प्राप्नुवन्ति॥९॥

तेषां पूर्वोदितोपचितभक्तिमतां सार्वदिकयोगाकांक्षावतां भजतां भजनमेवैकक्रियावतां तमतिप्रसिद्धं ज्ञानयोगं प्रीतिपूर्वकं ददामि येन ज्ञानयोगेन ते मदनन्यभक्ता मां मत्समीपमनायासेनोपयान्ति ॥१०॥

तेषामनन्यभक्तानामेवानुकम्पार्थमनुग्रहार्थमेव नान्यस्मै प्रयोजनायाहं सर्वेषां

किस प्रकार वे उपासक मेरा भजन करते हैं इस जिज्ञासा के उत्तर में भजन प्रकार को बतलाते हैं–"मच्चित्ताः" इत्यादि । मुझ सर्वात्मा परमेश्वर में चित्त है जिनका अर्थात् मुझ में ही समर्पित है मन जिनका एतादृश हो कर तथा मद्गत प्राण मुझ परमेश्वर में दे दिया है प्राण चक्षुरादि करण समुदाय को जिन्होंने अर्थात् मुझ सर्वाराध्य में जीवन को समर्पण करनेवाले परस्पर अपने अपने आचार्य के मुख से श्रुत मुझ परमेश्वर को ज्ञापित करते हुए और मदीय गुण कर्म को वर्णन पूर्वक मुझे परस्पर कहते हुए वक्तालोग प्रेम से पूछे गये वस्तु का आस्वादन तथा उत्तर देकर खुश होते हैं और सुनने वाले वक्ता से प्रेमयुत सरहस्य मय उत्तर को सुन करके विलक्षण आनन्द को प्राप्त करते हैं ॥९॥

जो उपासक पूर्वोक्त भजन प्रकार से भगवान् की सेवा में परायण हो जाते हैं उन्हें क्या फल मिलता है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "तेषामित्यादि" पूर्वकथित प्रकार से प्रवृद्ध भक्तिमान् साधक को जो सार्वकालिक योग के आकांक्षावान् हैं तथा भगवान् का भजनमात्र एक क्रियावान् हैं उन साधक विशेष को वह अत्यन्त प्रसिद्ध जो ज्ञानयोग है उस ज्ञानयोग को प्रीतिपूर्वक प्रदान करता हूं जिस ज्ञानयोग को प्राप्त करके वे मेरे अनन्य उपासक भक्त मुझ परमेश्वर परमात्मा के समीप आ जाते हैं अर्थात् ज्ञान योग के प्रभाव से मेरे सायुज्य को प्राप्त होते हैं यह मत्सायुज्य फल की प्राप्ति मेरे अनन्य भक्त को होती है इतर को नहीं १०

ॐ अर्जुन उवाच ॐ

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासस्स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

शास्ताऽऽत्मभावस्थस्तदीयान्तःकरणवृत्तिविषयीभूतः सन् भास्वता ज्ञानदीपेन मत्स्वरूपपरिज्ञानमयेन दीपेनाज्ञानजं कर्मरूपाविद्याप्रभवं तमोऽज्ञानकार्यमहितमज्ञानमपि नाशयामि ॥११॥

एवं संक्षेपतो भक्तिवर्धकगुणविभूतिमाहात्म्यमवगम्य विस्तरेण शुश्रूषुरर्जुन उवाच–परमिति । परं ब्रह्म परमुत्कृष्टं धाम ज्योतिः स्वरूपं परमं पवित्रं पावनकरं भवानेव । शाश्वतं नित्यं पुरुषं दिव्यमादिदेवमजं जन्मरहितं विभुं सर्वव्यापकं त्वां सर्वे वाल्मीकिपराशरादय ऋषय आहुस्तथा देवर्षिर्नारदोऽसितो देवलो व्यासश्चाहुः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै.) 'राम एव परं ब्रह्म' (रा.र. १।६) 'यत्परं ब्रह्म' (रामोत्तरता,) 'यः परमपुरुषः' (रामोत्तरता.) 'अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघवः । लोकानां त्वं परो धर्मो विश्वक्सेनश्चतुर्भुजः (वा.यु. ११९।१४) 'शार्ङ्ग

उन अनन्य भक्तों के ऊपर अनुकंपा अनुग्रह करने के लिए ही न तु अन्य किसी प्रयोजन के लिए सभी चर अचर प्राणी का शासन करनेवाला मैं आत्मभावस्थ आराधक का जो अन्तः करण उस अन्तः करण का विषय हो करके देदीप्यमान ज्ञानरूप प्रदीप से अर्थात् मदीय स्वरूप परिज्ञान लक्षण प्रदीप से अज्ञान से कर्म रूप अविद्या समुत्पद्यमान जो तम है उसको– अज्ञान के कार्य सहित अज्ञान को भी नाश कर देता हूं ॥११॥

एवं यथोक्त प्रकार से संक्षेप रूप से भगवान् की भक्ति बढानेवाला जो परमपुरुष का गुणविभूति माहात्म्य है उसको जान करके विशेष रूप से भगवद् गुण विभूति माहात्म्य को जानने की इच्छा से अर्जुन बोलते हैं "परं ब्रह्मेत्यादि" हे भगवन् ! परम अत्युत्कृष्ट ब्रह्म परं धाम अतिशयेन उत्कृष्ट धाम ज्योतिः स्वरूप पवित्र सर्वापेक्षया पावन करनेवाले आप ही हैं । शाश्वत नित्य पुरुष सर्वप्राणी के अन्तः अवस्थित दिव्य प्रकाश स्वरूप आदि देव सर्वापेक्षया प्रथम अज उत्पाद विनाश रहित सर्वव्यापक लक्षण विभु अथवा मनुष्य देवादि अनेक रूप से होनेवाले आप को सभी ऋषि वाल्मीकि पराशर प्रभृति ऋषि तथा देवर्षि नारद असित देवल व्यास प्रभृति सभी आप को ही कहते हैं । क्या कहते हैं तो "जिस महारूप पर-

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ?।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम !।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ? ॥१५॥

धन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः। अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः (वा०यु० ११९।१५) 'ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः। ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ (भा० आरण्यप०) इत्येवंरूपेण। तथा स्वयञ्चापि मे मह्यं ब्रवीषि ॥१२॥ १३॥ हे केशव ! त्वं माम्प्रति यद्वदसि यच्च प्राचीनैर्महर्षिभिरुक्तमेतत्सर्वमहमृतं सत्यमेव मन्ये। हे भगवन् ! समग्रैश्वर्यादिशालिन् हि यतस्ते लोकोत्तरचमत्कारजननीं व्यक्तिं देवा ब्रह्मेशानादयो दानवाश्च न विदुः ॥१४॥

एवं देवादीनां विलक्षणशक्तेः स्वरूपस्यावेदनमुक्त्वेदानीं स्वस्य वेदनविषयतां

मात्मा से आकाशादि सभी भूत उत्पन्न होते हैं तथा उसी परमेश्वर में स्थित हैं तथा उसी परमात्मा में प्रलय काल में लीयमान हो जाते हैं। "श्रीरामचन्द्रजी ही परब्रह्म हैं" जो श्रीरामजी हैं वेही परब्रह्म हैं" जो श्रीरामजी हैं वे ही परम पुरुष हैं " हे राघव सत्य अक्षर ब्रह्म आपही हैं लोक के आदि मध्य तथा अन्त्य में आप ही रहने वाले हैं आप ही परम धर्म है आप ही चतुर्भुज हैं" शार्ङ्ग धनुष को धारण करने वाले आप ही हैं इन्द्रियो के अधीश पुरुषोत्तम आप हैं आप अजित हैं अर्थात् आपको जातने वाला कोई नहीं है आप ही खड्ग धारण करने वाले विष्णुरूप हैं तथा कृष्ण रूप हैं महान् बलशाली हैं और जो कर्मकाण्ड वेद को जानने वाले विप्र है और जो अध्यात्मवित् व्यक्ति हैं वे लोग सनातन धर्मरूप कृष्ण ही है इस रूप से आप को कहते हैं तथा आप स्वयं भी हम से कह रहे है ॥१२।१३।

हे केशव ! जो विषय आप मुझ से कह रहे हैं तथा प्राचीन ऋषि महर्षियों ने जो आपके विषय में कहा है उन सबों को मैं बिल्कुल सत्य ही मानता हूं। हे भगवन् ! समग्र ऐश्वर्य शालिन् ! जिसलिये आपके लोकोत्तर चमत्कार को उत्पादन करनेवाला जो स्वरूप है उस अप्राकृतिक विलक्षण आश्चर्यमय स्वरूप को न ब्रह्मा ईशान प्रभृतिक देव गण न वा दानव गण ही जानते है। यहाँ केशव इस सम्बोधन से यह अभि व्यक्त होता है कि आप ब्रह्मा तथा शंकर के भी नियामक होने से सभी के आदि कारण हैं।१४।

इस प्रकार परमेश्वर विलक्षण शक्ति विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान देवता प्रभृति को नहीं होता है [illegible] करके स्वयं भगवान् का जो ज्ञान है उस ज्ञान का विषय [illegible] में

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥
कथं विद्यामहं योगं त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन ! ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

प्रकटयति स्वयमिति । हे पुरुषोत्तम भूतभावन ! सर्वभूतोत्पादक ! भूतेश ! सर्वभूतनियन्तो देवदेव देवानामपि प्रकाशक जगत्पते सर्वजगत्पालक ! त्वं स्वयमेवात्मनाऽऽत्मधर्मेण ज्ञानेनाऽऽत्मानं विलक्षणसामर्थ्यविशिष्टं स्वरूपं वेत्थ जानासि 'त्वमेव त्वां वेत्थ योऽसि सोऽसि (य० का० १।३।१) इति श्रुतेः ।१५।

याभिर्विभूतिभिस्त्वमिमान् सर्वान् लोकान् व्याप्यतिष्ठसि ताह्यात्मविभूतयस्त्वदीया असाधारण्यो विभूतयो हि दिव्या अतस्त्वमेवाशेषेण ता वक्तुमर्हसि । अत्राशेषेणेतिकथनाद्विभूतीनामानन्त्यं ज्ञापितम् । तासां कार्त्स्न्येन ज्ञापनं त्वदृते नान्यस्य कार्यमतस्त्वमेव वक्तुमर्हसीति प्रार्थना ॥१६॥

हे भगवन् ? सदा त्वां दिव्यगुणनिधिं परिचिन्तयन् परितश्चिन्तयितुं प्रवृत्तः सन्नहं योगं तव विलक्षणसामर्थ्ययोगं केषु केषु भावेषु प्रोक्तेषु तद्व्यतिरिक्तेष्वपि

है इस बात को बतलाने के लिये कहते है "स्वयमेवेत्यादि" हे पुरुषोत्तम ! सर्वपुरुषों में श्रेष्ठ भूतभावन भूतमात्र को पवित्र करनेवाले । सर्वभूत के उत्पादक हे भूतेश सर्वभूत के नियन्त्रण करने वाले देव देव ? देवताओं को भी प्रकाशित करनेवाले जगत्पते सर्व जगत् के पालन कर्त्ता आप स्वयमेव आत्म धर्मज्ञान से विलक्षण सामर्थ्य विशिष्ट स्वकीय स्वरूप को जानते हैं । श्रुति भी यही कहती है "जैसा तुम्हारा स्वरूप है उस स्वरूप को तुम स्वयं समझते हो अर्थात् अन्यदीय सामान्य जन के ज्ञान का विषय आपका स्वरूप नहीं है ॥१५॥

जिन जिन विभूयियों के द्वारा आप इन सर्व लोक को व्याप्त करके अवस्थित होते हैं जो आपकी अनेक प्रकार की विभूतियाँ हैं आपकी असाधारण विभूति है उन सभी विभूतियों को आप स्वयमेव कहने के योग्य हैं । यहां अशेषेण इस कथन से भगवान् की विभूति अनन्त है ऐसा प्रतिपादित होता है उन अनन्त विभूति का प्रातिस्विक रूप से कथन आपके बिना अन्य से नहीं हो सकता है इसलिये आप ही उन विभूतियों का कथन करें । अर्जुन की ऐसी प्रार्थना है ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

वा मया चिन्त्योऽसीति च कथं विद्याम् जानीयाम् ॥१७॥

हे जनार्दन ? आत्मनस्तव योगं विलक्षणापरिमितसामर्थ्ययोगं विभूतिश्च भूयो विस्तरेण कथय। पूर्वं 'अहं सर्वस्य प्रभवः' (गी० १०।८) इत्यादिना संक्षेपेणोक्तोऽपीदानीं विस्तरेण शुश्रूषुरहं हि यतस्त्वया स्वयं श्रीमुखेनोदीर्यमाणं वाक्यामृतं शृण्वतो मे तृप्तिर्नास्ति १८॥

एवमर्जुनस्य श्रद्धातिशयं दृष्ट्वा श्रीभगवानुवाच—हन्तेति। हे कुरुश्रेष्ठ अनेनानुकम्पातिशयो व्यज्यते। हन्तेति हर्षे। ते तुभ्यं मदीया दिव्या विभूतयः प्रधान्यत औत्कृष्टयेन मुख्या एव कथयिष्यामि। हि यतो मद्विभूतीनां विस्तरस्यान्तो नास्ति॥१९॥

हे भगवन ! सर्वदा दिव्यगुण के निधान आपका चिन्तन करने के लिए प्रवृत्त होते हुए आपका जो विलक्षण सामर्थ्य योग है उसे किस किस भाव में जो कथित है अथवा हम से अतिरिक्त है उस में हमसे चिन्ता करने के योग्य है इस बात को मैं कैसे जानू ॥१७॥

हे जनार्दन ! स्वकीय आपका जो योग है वह विलक्षण अपरिमित सामर्थ्य योग है तथा आपकी जो विभूति है उसका विस्तार रूप से पुनः कथन कीजिए। यद्यपि आपने स्व विभूतियों का कथन किया है तथापि वह अति संक्षिप्त है अतः विस्तार पूर्वक कहने की कृपा करें। पूर्व में "अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादि प्रकरण से मैंने सुना भी है अभी मुझे विस्तृत रूप से सुनने की इच्छा है अतः स्वयं श्रीमुख से उच्चारित जो वाक्यामृत है उसे सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥१८॥

इस प्रकार अर्जुन के श्रद्धातिशय को देख करके भगवान् श्रीकृष्ण कहते है "हन्त" इत्यादि। हे कुरुश्रेष्ठ कुरुवंश में प्रधान अर्जुन ! कुरु श्रेष्ठ इस संबोधन से अनुकंपा की अविकला व्यक्त होती है। हन्त शब्द हर्ष अर्थ में है। दिव्य जो मेरी अनेक प्रकार की विभूति है उन विभूतियों में से प्राधान्यतः उत्कृष्ट मुख्य जो विभूति है उसी का कथन मैं तुम्हें करुंगा क्योंकि मेरी विभूति की जो इयत्ता है उसका अन्त नहीं है जैसे मैं अनाद्यनन्त हूं तथा मेरी विभूति भी आद्यन्त रहित है। इसलिए प्रातिस्विक रूप से मर्यादित समय में कथन अशक्य प्राय है अतः प्राधान प्रधान को ही कहता हूं उसे सावधानतया सुनो ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥२०॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

हे गुडाकेश ? जितेन्द्रियत्वेन त्वयावगन्तुं शक्यत एवेति सूचयितुं सम्बोधनम् । अहं सर्वभूताशयस्थितः शरीरत्वेन स्थितानां सर्वभूतानामन्तर्हृदयेऽवस्थितोऽहमात्मा शरीरी नियामकः 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामिति' श्रुतेः । एवम्भूतोऽहमेव भूतानामादिरुत्पत्तिहेतुर्मध्यमवस्थितिहेतुरन्तः प्रलयहेतुश्च ॥२०॥

इदानीं प्रधानभूता विभूतीराह—आदित्यानामिति । आदित्यानां द्वादशानामादित्यानाम्मध्ये विष्णुनामकः सर्वोत्कृष्ट आदित्योऽहमेव ज्योतिषां प्रकाशकर्तॄणां

प्रश्न के प्रारंभ में परमेश्वर का विलक्षण गुण योग तथा विभूति विषयक जिज्ञासा की थी उनमें से योग के स्वरूप का कथन करते हैं "अहमित्यादि" हे गुडाकेश अर्जुन ! गुडाका नाम है निद्रा उस निद्रा का जो ईश अर्थात् निद्रा के ऊपर विजय प्राप्त करने वाले अर्जुन गुडाकेश कहलाते हैं । इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि निद्राजित हो इसलिये मदुक्त पदार्थ के अवधारण करने में आपकी क्षमता है स्वभाव है कि विषम पदार्थ के दुर्गम होने के कारण तद् श्रवण में निद्राभिभूत हो जाने से यथावत् श्रुतपदार्थ का अवधारण नहीं हो सकता है आप जित निद्रा हैं तो यथावत् अवधारण कर सकते हैं । मैं सभी भूतों के आशय अन्तः करण में अवस्थित हूं शरीर रूप से स्थित सर्वभूतों के हृदय में स्थित आत्मा शरीरी नियामक हूं । "प्राणिमात्र के अन्तः प्रविष्ट हो करके शासन करने वाला हूं ।" ईश्वर सभी भूतों के हृदय में प्रविष्ट हैं । 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते" से परमात्मा सभी भूतों में अन्तः प्रविष्ट होने से प्रकाशित नहीं होते हैं ऐसा शास्त्रों में सभी भूतों का आदि अर्थात् उत्पत्ति स्थिति विनाश का कारण हूं उत्पत्ति का हेतु हूं मध्य अवस्थिति का हेतु हूं तथा अन्त प्रलय विनाश का हेतु भी हूं एतावता परमात्मा में जगत् के प्रति अभिन्न निमित्तोपादानता का कथन किया गया ॥२०॥

गत प्रकरण से परमेश्वर के योग का उपदेश दे करके इसके बाद स्वकीय प्रधानभूत विभूति का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं "आदित्यानामित्यादि" हे अर्जुन ! आपने हमारी विभूतियों को जानने की इच्छा से जो प्रश्न किया है उन विभूतियों के बीच से प्रधान स्वरू

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

मध्येतिग्मगभस्तिमानुत्कृष्टतमो रविरहमेव मरुतामेकोनपञ्चाशत्संख्यासमन्वितानां मध्ये उत्कृष्टो मरीचिरहमेव नक्षत्राणां मध्ये सर्वोत्कृष्टः शशी चन्द्रश्चाहमेव ॥२१॥

वेदानां मध्ये सामवेदोऽहमस्मि । देवानां मध्ये वासवो वज्रभृदिन्द्रोहमस्मि । इन्द्रियाणां मध्येऽन्तरिन्द्रियं मनश्चास्मि । भूतानां प्राणिनाम्मध्ये चेतनाशक्तिरहमेव २२

भियो के स्वरूप को जानिये । जैसे द्वादश प्रकार के जो आदित्य हैं उनमें से मैं विष्णु नामक आदित्य हूं अर्थात् वर्ष का अवयवभूत बारह मास मेष वृष मिथुन इत्यादि बारह राशि होने से बारह आदित्य है उनमें से विष्णु नामक सर्वोत्कृष्ट आदित्य मैं हूं । वस्तुतस्तु आदित्य शब्द का अर्थ है अदिति का जो अपत्य है उसका नाम है आदित्य । कश्यप ऋषि की दो पत्नियां थीं । एक अदिति तथा दूसरी दिति । दिति के अपत्य में हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु प्रभृति दैत्य थे, तथा अदिति के अपत्य का नाम हुआ आदित्य उन आदित्यों के बीच में सर्वोत्कृष्ट आदित्य मैं विष्णु अर्थात् वामन रूप मैं हूं । यदि कदाचित् आदित्य शब्द का अर्थबारह राशि स्थित सूर्य को ले लिया जाय तब तो रविरंशुमान् इस पद से पुनरुक्ति हो जायगी इन विभूतियों में एक विभूति में से एक श्रेष्ठ के कथन करने से एक में दोष का कथन प्रकरण विरुद्ध जैसा हो जायगा ज्योतिष प्रकाश कर्त्ताओं के बीच में से मैं तीक्ष्ण किरण वाला रवि सूर्य हूं। मरुत् उनचास मरुद्गण के बीच में सर्वश्रेष्ठ मरीचि नामक मरुत मैं ही हूं और नक्षत्रों के मध्य में नक्षत्र अश्विनी भरणी प्रभृतिक सत्ताईस तथा शीतल प्रकाशवान् के मध्य में मैं शशी कलानिधी लक्ष्मी सहजन्मा मैं हूं । यहा "नक्षत्राणाम्" इससे नभोवस्थिता नाम् यानी आकाश में रहनेवालों के मध्य में मैं कलानिधी शशी हूं इस प्रकार से आकाश स्थित सूर्य वायु नक्षत्र अनेक विभूतियों में से चन्द्रमा का श्रेष्ठत्वावधारण करना मात्र है यानी शीत किरणवान् में चन्द्रमा की श्रेष्ठता है यह तात्पर्य है ॥२१॥

ऋक् यजु सामाथर्व वेदों के मध्य में मै सामवेद हूं । इसमें गीति की प्रधानता है और इतर वेदापेक्षया सामवेद का आकार प्रकार बडा है सामवेद की हजार शाखाएं थीं ऐसा सुनने मे आता है । देवों के मध्य में मैं वासव आयुध श्रेष्ठ वज्र धारण करने से देवराज होने से इन्द्र मै ही हूं । और इन्द्रिय जीव के सुख दुख के उपलब्धि करने वाले के मध्य में मैं मन हूं । मन दशों इन्द्रियों का अध्यक्ष है तथा इतर इन्द्रियों के विषय ग्रहण करने में सहायक होने से प्रधानता होने से मैं मन रूप हूं । भूत अर्थात् प्राणीवर्ग जो है उसके मध्य में मै चेतना शक्ति हूं । क्योंकि चेतना के सर्वप्रधान होने से चेतना शक्ति मै ही हूं २२ ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुःशिखरिणामहम् ॥२३॥
पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ? बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दस्सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

रुद्राणामेकादशरुद्राणां मध्ये शंकरश्चास्मि यक्षाणां रक्षसाञ्च मध्ये रत्नसुवर्णरजतादिवित्तानामाधिपत्येनोत्कृष्ट कुबेरोऽहम् । अष्टवसूनांमध्ये पावकः शिखरिणामुच्चैःशिखरवतां पर्वतानां च मध्ये मेरुरहम् ॥२३॥

हे पार्थ ! पुरोधसां पुरोहितानाञ्च मध्ये मुख्यं मां साक्षात्कृतकर्मस्वरूपत्वान्मुख्यं मां बृहस्पतिसंज्ञकं देवगुरुं जानीहि । सेनानीनां मध्ये देवसेनापतित्वेनोत्कृष्टः स्कन्दः कुमारोहम् । सरसां स्थिरजलाशयानां मध्येऽगाधत्वेन सागरोऽस्मि ॥२४॥

महर्षीणां मरीचिप्रभृतीनामहं भृगुः । गिरामखिलवाचां मध्ये अहमेकमक्षरं प्रण-

एकादश प्रकार के रुद्र के मध्य में मैं शंकर नामक रुद्र हूं क्योंकि यह शंकर रुद्र ध्यान मुद्रा को प्राप्त करके नारदादि देवर्षि प्रभृति को ज्ञानोपदेशक होने से श्रेष्ठ है । पुराण में भी कहा है कि आरोग्य कामनावान् सूर्य की उपासना करे मुक्ति कामनावान् विष्णु की उपासना करे और ज्ञान कामनावान् शंकर की उपासना करे । साक्षात् परम्परया वा ज्ञान का उपदेश देने वाले भगवान् शंकर हैं इसलिये भगवान् कहते हैं जो एकादश रुद्र के मध्य में शकर नामक रुद्र हैं वे मैं हूं । यक्ष राक्षसों के मध्य में मैं वित्तेश अर्थात् कुबेर हूं । और आठ वसु के मध्य में मै पावक नामक वसु हूं । उच्च शिला समुदाय का नाम है शिखर तादृश शिखरवाले पर्वतों के बीच में सर्वोत्तम शिखर वाला सुमेरु पर्वत मैं हूं ॥२३॥

हे पार्थ ! पुरोधस अर्थात् पुरोहित पौरोहित्य कर्म करने वालों के मध्य में मैं देव गुरु तथा साक्षात् कृत कर्म स्वरूप होने से बृहती के पति यह आख्या धारण करनेवाले श्रेष्ठ बृहस्पति नामक मैं ही हूं । अर्थात् पुरोहित में मुख्य बृहस्पति नामक देवगुरु मुझे जानो । सेनापतियो के बीच में देव सेनापति होने से उत्कृष्ट स्कन्द शंकरात्मज कार्तिकेय भी मुझे समझो सरस अर्थात् स्थिर जलाशयों के बीच में अति अगाध होने के कारण समुद्र महासमुद्र मुझे जानो २४॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथस्सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम् ॥२७॥

णोऽस्मि । यज्ञानां वेदविहितानां ज्योतिष्टोमादियज्ञानामहं जपयज्ञोऽस्मि । स्थावराणां पर्वतानां हिमालयोऽहमेव ॥२५॥

सर्ववृक्षाणां पूज्यत्वेन रोगापहारकत्वेन मुख्योहमश्वत्थो देवर्षीणां नारदः गन्धर्वाणां देवजातिविशेषाणां मध्ये चित्ररथ एतन्नामकोहं सिद्धानां स्वतस्तपःप्रभावाद्वा प्राप्ताणिमादिसिद्धिमतां मध्ये कपिलो मुनिरहम् ॥२६॥

अश्वानां वाजिनां मध्येऽब्धिसम्भवत्वेनोत्कृष्टमुच्चैः श्रवसं मां विद्धि ।

महर्षि मरीचि अंगिरापुलह प्रभृतिक महर्षियों में मैं भृगु महर्षि हूं और जितने वर्ण समुदाय हैं उनमें से एक अक्षरात्मक प्रणव हूं। यह प्रणव परमात्मा का वाचक तथा समस्त जगदात्मक है इसलिए सर्व वाणी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यज्ञ वेद प्रतिपादित इहलोक परलोक के साधन ज्योतिष्टोम वाजपेयादि यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूं। मन्त्रराज षडक्षर श्रीराम महामन्त्र जप करने वालों को मुक्ति भुक्ति अपेक्षानुसार दोनों ही देता है अथवा 'रामनाम्नः समुत्पन्नः प्रणवो मोक्षदायकः' इस श्रुति के अनुसार श्रीराम नाम से समुद्भूत प्रणव जप भी भगवद्धाम प्रापक होने से जप यज्ञमें श्रेष्ठता है। और स्थावर गमनागमन क्रिया रहित पर्वतों के मध्य में मैं हिमालय पर्वतराज हूं ॥२५॥

वृक्षों के बीच में मैं सर्वरोग यक्ष्मादि प्रभृतिक रोग के अनुपान भेद से विनाशक तथा सर्वाधिक आयुष एवं भगवान् विष्णु के प्रतीक सर्वतः पवित्रतम होने से मुख्य अश्वत्थ पिपल नामक वृक्ष हूं। और देवर्षियोंमें मैं नारद हूं सर्वदा भगवद्भजन परायणहोने से तथा इनमें मुख्यता होने से। गन्धर्व जाति विशेष में मैं चित्ररथ नामक गन्धर्व हूं और अणिमा लघिमा प्रभृतिक ऐश्वर्य शाली व्यक्तियों के बीच में मैं कपिलमुनि हूं "ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति" जो जन्म के पहले से ही ज्ञानादि को धारण किया तादृश ऋषि कपिल को" इत्यादि श्रुति से कपिल में श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है अत सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूं ॥२६॥

घोड़ाओं में अमृत से जायमान उच्चैः श्रवा नामक अश्व मुझे समझो। एवम् हाथियों में अमृत मन्थन वेलामें समुद्र से समुत्पन्न ऐरावत नामक हाथी जानो और मनुष्यों के बीच

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

गजेन्द्राणामैरावतममृताब्धिमम्भूतं मां विद्धि नराणां मध्ये दिग्पालांशत्वादुत्कृष्टं नराधिपंच मां विद्धि ॥२७॥

आयुधानां वज्रं धेनूनां दोग्ध्रीणां कामधुग्दिव्यसुरभिरहमस्मि प्रजनः प्रजोत्पादकानां कन्दर्पश्चास्मि सर्पाणां वासुकिश्चास्मि ॥२८॥

नागानां बहुमुखानां मध्येऽनन्तोहं यादसां जलचराणांवरुणोऽहं पितॄणां चन्द्रलोकाधिवासिनामर्यमा संयमतां च यमोऽहमस्मि ॥२९॥

मैं दिक्पाल के अंश से जायमान होने से अधिक ऐश्वर्यशाली नराधिप राजा मुझे समझो । "अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः" आठ दिकपालों के अंश को धारण करनेवाले राजा होते हैं ऐसा स्मृति कहती है । अतः नरों में मैं नृप हूं ॥२७॥

आयुध शस्त्र के बीच में मैं वज्र हूं । दधीचि की अस्थि से जायमान होने से अतिदृढता को धारण करनेवाला है अतः वह मैं हूं भगवान् जगत् के शासन करनेवाले जो परमपुरुष श्रीराम हैं उनके शार्ङ्गधनुष प्रभृतिक अस्त्रों से व्यतिरिक्त अस्त्रों में वज्र की प्रधानता जानना चाहिये क्योंकि भगवान् के जो अस्त्र हैं वे लोकोत्तर हैं तथा दिव्य है अतः इस प्रकरण में उनका परिगणन नहीं है और गायों के बीच में मुझे कामधेनु समझो । प्रजनन प्रजा के उत्पादन करने वालों के बीच में श्रेष्ठतम मुझे कन्दर्प जानो । एक मस्तक धारण करनेवाले सर्पों के बीच में मुझे वासुकी नामक सर्पराज समझो ॥२८॥

शरीर एक हो और मुख अनेक हो ऐसा जो सर्प उसे नाग कहते हैं । हे अर्जुन! नागों के बीच में मै अनन्त अर्थात शेषनाग हूं । अनवरत पृथिवी को अपने मस्तक पर धारण करने से तथा शेषशायी के प्रियतम भक्त होने से इनकी श्रेष्ठता है । यादस—जलचर जीवों के बीच में मैं वरुण जलाभिमानी प्रधान देव हूं । पितर—चन्द्रमण्डल (लोक) में पितृयान मार्ग से जाकर निवास करनेवालों के बीच में मैं अर्यमा नामक पितर हूं । नियमन करने वालों के बीच में मै यमराज कृतान्त यमुना भ्राता हूं । ये कर्मानुसार जीव के फलोपभोग में नियामक होते हैं ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामश्शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

दैत्यानां प्रह्लादः कलयतां संख्यां कुर्वतां कालोऽहं मृगाणाँ मृगेन्द्रः सिंहः पक्षिणाँ खेचराणाँ च गरुडोऽहमस्मि ॥३०॥

पवतां पावनंकर्तृणां मध्ये पवनः शस्त्रभृतां शस्त्रास्त्रधारिणां मध्ये रामो जामदग्न्योहं तत्समये तस्य सर्वशस्त्रभृतामाचार्यत्वादहं झषाणां मत्स्यादीनां मकरो ग्राहविशेषोऽस्मि स्रोतसां प्रवाहशीलानां मध्ये जाह्नवी गङ्गाहमेवास्मि ॥३१॥

हे अर्जुन ! सर्गाणां सृज्यमानानामादिरन्तो मध्यञ्चोत्पत्तिस्थितिलयहेतुर-

दैत्य अर्थात् कश्यप संबन्ध से दिति से पैदा होनेवाले को तथा उनकी वंश परम्परा में समुत्पद्यमान को दैत्य कहते हैं । दैत्यों के मध्य में मैं प्रह्लाद नामक दैत्य हूं । भगवान् के परम कृपापात्र होने से ये उत्कृष्ट माने जाते हैं और जो गणना करनेवाले हैं उनमें मै काल हूं और वनचर चतुःपद प्राणियों में मैं मृगेन्द्र केशरी हूं और आकाशचर पक्षियों में मैं विनता अपत्य वैनतेय गरुड हूं भगवान् के प्रिय भक्त होने से इनमें श्रेष्ठत्व है ॥३०॥

पवित्र करनेवालों के मध्य में मैं पवन स्वभावतः पवित्र तथा स्वसंपर्क से अपवित्र वस्तु को भी पवित्र करनेवाले वायुरूप मैं हूं । तथा शस्त्रधारियों में राम जमदग्नि का अपत्य सत्ययुग में समस्त क्षत्रिय परिवार का विनाशक जामदग्न्य राम हूं, उस समय में जामदग्न्य राम शस्त्रधारियों के साक्षात्परम्परया आचार्य थे । अतः इस विभूति गणना प्रसंग में श्रीराम, चन्द्रजी के आवेशावतार स्वरूप जमदग्निराम का ही ग्रहण उचित है "सर्वेषामवताराणा-मवतारीरघूत्तमः" इस प्रकार आगमशास्त्रनिरूपित सर्वेश्वर श्रीरामजी का नहीं । झषः—मत्स्य-प्रभृतिक जलचर जीव के मध्य में मैं मकर अर्थात् ग्राह हूं । एवं स्त्रोतस प्रवहनशीलों के मध्य में जाह्नवी गंगा नदी हूं भगवान् के चरण से जायमान है तथा सगरपुत्र को एवं जीवमात्र के तारक होने से गंगा में श्रेष्ठत्व है ॥३१॥

हे अर्जुन ! सर्गों का उत्पद्यमान चिदचित् सकल पदार्थों का आदि अन्त तथा मध्य अर्थात् उत्पत्ति स्थिति विनाश का मूल कारण मैं सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् ही हूं । चौदह

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

हमेव चतुर्दशविद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्याजीवतदन्तर्यामिवास्तविकरूपप्रतिपादिका विद्याहमेव प्रवदतां वादजल्पवितण्डादिभिः प्रवदतां वादोऽहमेव। अक्षराणामक्षरसमाम्नायस्थानां वर्णानां मध्येहमकारोऽस्मि सर्ववर्णप्राथम्यात् 'अकारो वै सर्वावाक्' इति श्रुतेश्च। समासानां समूहः सामासिकस्तस्यमध्ये द्वन्द्वोहं तस्योभयपदार्थप्राधान्येन प्राधान्यात्। अक्षयः प्रवाहरूपेणाक्षयिष्णुः कालोऽहमेव। विश्वतोमुखः सर्वफलप्रदाता धाताहमेव। ॥३२॥ ।३३॥

प्रकार की जो विद्याएं हैं उन विद्याओं के मध्य में अध्यात्मविद्या जीव तथा जीव के अन्तर्यामी का जो वास्तविक स्वरूप है तादृश स्वरूप का प्रतिपादक विद्यारूप मैं ही हूं। वाद—जल्प वितण्डा के द्वारा बोलने वालों के मध्य में वाद मैं ही हू।

तत्वबोध की इच्छा से गुरु शिष्य की जो कथा उसे वाद कहते हैं और उभय विजिगीषु की कथा को जल्प कहते हैं एवं स्व पक्ष स्थापना रहित परपक्ष का खण्डमात्र परक जो कथा है उसे वितण्डा कहते हैं।

अक्षर समाम्नाय में रहनेवाले जो अकारादि हकारान्त वर्णसमुदाय है उसमें मैं अकार हू, क्योकि सभी वर्णों में अकार प्रधान है। श्रुति भी कहती है अकार ही सर्ववाणी स्वरूप है। इसमें कोई तो अकारात्मक वर्ण का विवर्त अन्य सभी को कहते हैं और कोई तत्परिणामात्मक मानते हैं। सर्वशास्त्रसम्मतपक्ष भी यही परिणामवाद ही है। समास के समूह में मैं द्वन्द्व समास हूं। द्वन्द्व समास में उभयपदार्थ की प्रधानता रहने से इतर समासापेक्षया द्वन्द्व समास प्रधान कहलाता है। यहाँ अभिप्राय यह है कि 'राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः' इस तत्पुरुष समासस्थल में पूर्वपद जो राजपद है उसकी राजसम्बन्धी में लक्षणा करना पड़ता है क्योंकि समासोत्तर काल में सम्बन्धित का बोधक कोई पद नहीं है तदनन्तर राज सम्बन्धी को अभेद सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय होने से राज सम्बन्ध से अभिन्न यह पुरुष है ऐसा शब्द बोध होता है तो तत्पुरुष समास में पूर्वपद की लक्षणा की जाती है। और लक्षणा गौरव का कारण है।

'चित्रगुः' चित्रगाय है जिसकी ऐसा जो व्यक्ति उसमें उत्तर पदार्थ गौ का गोस्वामी में लक्षणा होती है तो बहुव्रीहि में उत्तरपदार्थ प्रधान होता है पूर्वपदार्थ गौण होता है इसी प्रकार अन्य समास में भी लक्षणा होती है। द्वन्द्व समास में उभयपदार्थ प्रधान रहता है जैसे

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सर्वसंहर्तॄणां मध्ये सर्वहरः प्राणादिहरणकर्ता मृत्युरहं भविष्यतामुत्पत्स्यमानानामुद्भवोऽहमेव नारीणां मध्ये कीर्त्यादयः सप्त मद्विभूतयो यत्सम्बन्धलेशेनाऽपि जनः कृतकृत्यो भवतीत्यत उत्कृष्टत्वम् । साम्नां पावमान्यादीनाम्भगवत्स्तावकस्तुक्तानाम्मध्ये बृहत्साम 'त्वामिद्धि हवामहे इत्यस्यामृचि गीयमानं बृहत्सामाहमेव । छन्दसां गायत्र्युष्णिगनुष्टुबादीनां मध्ये चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री तन्नामकं छन्दोऽह-

'सीता रामौ" श्रुति कहती है "सीतारामौ तन्मयावत्रपूज्यौ" अतः दोनों अभिन्नस्वरूप होने से दोनों ही प्रधान हैं तो लक्षणा नहीं करनी पडती है अतः लाघव होता है । इसका विशेष विवरण मत्कृत समास मयूख नामक ग्रन्थ में देखिये । अक्षय प्रवाह रूपेण विनष्ट नहीं होनेवाला मुझे काल समझो । विश्व तो मुख कर्मानुरूप सर्वफल देनेवाले धाता मुझे ही समझो ॥३२॥ ॥३३॥

सर्वसंहर्ता के मध्य में सर्वहरप्राणादि हरणकर्ता मृत्यु मुझे जानो । उत्पन्न होनेवालो का उद्भव मैं हूं अर्थात् भविष्यत् आगामीकाल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों की उत्पत्ति रूप में ही हूं। स्त्रियों के मध्य में कीर्त्यादिक सात मैं हूं । ये सात मेरी विभूतियाँ हैं जिनके सम्बन्ध लेशमात्र को भी प्राप्त करके मनुष्य कृतकृत्य होजाता है अतः ये सात उत्कृष्ट गिने जाते हैं । तथा श्रीमें वाणी स्मृति में मेधा और धृति में क्षमा भी मैं ही हूं । साम के मध्य में अर्थात् भगवान् की स्तुतिकरने वाले पवमानादिक सूक्तों में बृहत्साम "त्वामिद्धि-हवामहे" इन ऋचाओंसे गायन करने लायक बृहत्साम मैं हूं । छन्दगायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् प्रभृतिक छन्दों के मध्य में चौवीस अक्षरवाली षट्पदागायत्री अर्थात् गायत्री नामक छन्द मैं ही हूं । मेष वृष से लेकर मीनान्त बारह मासों के मध्य में मार्गशीर्षमास मैं ही हूं । वसन्तादिक छ ऋतुओं के मध्य में कुसुमाकर वसन्त ऋतु मै ही हूं । पुष्पफल पत्ते प्रवालादि का जो परिणाम है उसके कारण ये ऋतुएं उत्कृष्टहैं । यद्यपि "वैद्यानां शारदी माता पिता च कुसुमाकरः" वैद्यों के लिए माता के समान शरदऋतु है और पिता के समान हित नियोजन में वसन्तऋतु है । इस आयुर्वेद के नियम से तो वैद्य का प्रोत्साहक अर्थात् रोग का उत्पाद वसन्त है तब यह उत्कृष्ट कैसे हुआ तथापि अनियमित आहारविहारसील मनुष्यों के लिए

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

मेव द्वादशमासानाँ मार्गशीर्षोऽहम् । षड्ऋतूनां मध्येऽहं कुसुमाकरो वसन्तर्तुः पुष्पफलादीनां परिणतिहेतुत्वादुत्कृष्टः ॥३४॥३५॥

छलयतां मायया परवञ्चनं कुर्वतां द्यूतमक्षदेवनमहं तेजस्विनां प्रकाशविशिष्टानां तेज एवाहमेवं जयिष्णूनां जयः व्यवसायिनां व्यवसायो निश्चयोहम् । सत्त्ववतां सात्त्विकानां सत्त्वं प्रकाशज्ञानादिकमहम् ॥३६॥

वृष्णीनां वृष्णिवंश्यानां मध्ये साक्षादहं वासुदेवो वसुदेवनन्दनोऽस्मि विभूतिमध्ये पाठस्तूपासनार्थः पाण्डवानां धनञ्जयस्त्वमेव मे विभूतिः मुनीनां मननशीलानां मध्येऽहं व्यासोऽस्मि कवीनां काव्यवतामहमुशना कविः शुक्राचार्योऽहमस्मि ॥३७॥

रोगोत्पादक होने पर भी नियमित आहार विहारादिशील के लिये हितप्रद ही है । अतएव वसन्त में प्रातःकालिक वास न्तिक वायु से वीभ्रमण करनेवाले मितभोजी अग्नि सेवन करने वालों के लिये वसन्त का अधिक महात्म्य माना गया है ॥३४॥३५॥

छल करनेवाले अर्थात् माया के द्वारा परवंचन में रात्रि दिवा ओतप्रोत जो व्यक्ति है उनके मध्य में द्यूत दुरोदर (जूआ) मैं ही हूं । तेजस्वी प्रकाश विशिष्ट व्यक्तियों के मध्य में तेजरूप मैं ही हूं । जीतने की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों में मैं जयस्वरूप हूं । व्यवसाय निश्चयवान् का व्यवसाय निश्चयरूप मैं ही हूं । सत्त्ववान् सात्विक व्यक्तियों का सत्व–प्रकाश एवं ज्ञानादिक भी मैं ही हूं ॥३६॥

वृष्णी अर्थात् वृष्णी कुल में जो उत्पन्न हुए हैं उनके मध्य में साक्षात् मैं वासुदेव वसुदेवनन्दन हूं । विभूति के मध्य में जो अपना परिगणन किया है वह भक्तों की उपासना के लिये है । पाँडवों के मध्य में जो आप धनंजय हैं वह मेरी ही विभूति है । मुनि अर्थात् मननशील व्यक्तियों के मध्य में मैं व्यास कृष्ण द्वैपायन हूं । कवि अतिक्रान्त अर्थ को देखने वालों के मध्य में मैं उशना कवि शुक्राचार्य हूं ३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

दमयतां दमनकर्तॄणां दण्डोहं जिगीषतां नीतिस्सामाद्युपायात्मिकाऽहमस्मि गुह्यानां गोपनसम्बन्धिषु मौनमेव चास्मि । ज्ञानवतां परमपुरुषार्थविषयकज्ञानवतां ज्ञानमेवाहम् ॥३८॥

हे अर्जुन! सर्वभूतानामस्तितापादकं यद्बीजं यद्धेतुतयाव स्थितं तदहमेव यन्मयाऽऽत्मभूतेन विना भूतं स्याच्चचराचरं नास्त्येव ॥३९॥

हे परन्तप ! मम दिव्यानां कल्याणगुणेनोत्कृष्टानां विभूतीनामन्तो नास्ति । एष विभूतेर्विस्तरो मयोद्देशतः संक्षेपत एव प्रोक्तो विभूतीनामानन्त्यात् ॥४०॥

अथानुक्तप्रधानविभूतिसंग्रहार्थमभिधत्ते यद्यदिति । विभूतिमद् भुतैश्वर्ययुक्तं

दमन करनेवाले अर्थात् कुपथ से चलनेवाले को सन्मार्ग में व्यवस्थित करने कि इच्छा वाले जो हैं उनका दण्डविधान रूप मैं हूं. जितने के ईच्छावाले जो हैं उनमें जयके कारण रूप सामदामादिलक्षण नीति मैं हूं । गोपनीयवस्तु में गोपन का कारणरूप मौन मैं हूं । ज्ञानवान् परमपुरुषार्थ विषयक ज्ञानवान का ज्ञान लक्षण भी मैं ही हूं ॥३८॥

हे अर्जुन ! सभी भूतों का अस्तित्व संपादक जो बीज है जिसे कारण बनाकर अवस्थित है वह बीजकारण मैं ही हूं । समस्त चराचर में आत्मस्वरूप से अवस्थित मेरे विना कोई भी पदार्थ हो ऐसा तो कोई भी पदार्थ नहीं है जो मेरी सत्ता के बिना हो ॥३९॥

हे परन्तप अर्जुन ! मेरे दिव्य कल्याण गुण से उत्कृष्ट विभूतियों का अन्त अवसान नहीं है । यह जो विभूतियों का विस्तार है वह तो मैंने उपदेश से संक्षेप से ही कहा है क्योंकि मेरी विभूति तो अनन्त है, इसका अन्त नहीं है अतः तत्तत् रूप से कथन नहीं होता है ॥४०॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

श्रीमद्धनधान्ययुक्तमूर्जितं बलान्वितम् । अत्र वा शब्दश्चार्थे प्रयुक्तः । यद् यत् सत्त्वम् । सर्वं प्राणि जातमित्यर्थः । तत्तदखिलं मम सर्वेश्वरस्य तेजसोंऽशस्तेजोंऽशस्तेजोंऽशः संभवो यस्य तत् तेजोंऽशसंभवम् । मन्नियमन सामर्थ्यांश कार्यकमित्यर्थः । त्वं त्वमवगच्छ जानीहि ॥४१॥

हे अर्जुन ! स्थूलसूक्ष्मविभूत्युपसंग्रहार्थमथवेति । एतेनोक्तविभूतिविषयकज्ञानेन बहुना तव किं फलम् ? एतावन्मात्र ज्ञानमात्रेणैव विशिष्ट फलं नास्ति किन्तु इदमपि बोध्यम् । इदं चिदचिन्मिश्रं कृत्स्नं जगत् स्वीयैकांशेन स्वातिशयाकारस्या युतायुतांशेन विष्टभ्याहमवस्थित इत्येतदेव निश्चेयमिति भावः ॥४२॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये दशमोऽध्यायः ॥१०॥

इसके बाद अनुक्त जो विभूति है जिसका कथन नहीं हुआ है उन विभूतियों के सग्रह के लिये कहते हैं "यद् यदित्यादि" जो जो विभूतिमत् है ऐश्वर्यादियुक्त है । श्रीमत् धन धान्यादि से युक्त है जो अर्जित बल सम्पन्न है । यहाँ वा शब्द च शब्द के अर्थ में प्रयोग किया गया है जो जो सत्व है प्राणीसमुदाय हैं वे सभी के सभी सर्वेश्वर मुझ परमेश्वर का जो तेजो अंश है उससे उत्पन्न हैं अर्थात् मेरी जो नियमन शक्ति है उसके एक अंश से उत्पन्न हैं ऐसा तुम समझो ॥४१॥

स्थूल सूक्ष्म सभी विभूतियों के संग्रह करने के लिये कहते हैं "अथवा" इति । हे अर्जुन ! कथित विभूति विषयक बहुत विज्ञान से तुम्हें क्या फल है अर्थात् प्रयोजन है एतावद् परिज्ञानमात्र से ही विशिष्टफल नहीं है किन्तु यह भी एतदतिरिक्त एक और फल है । यह चिद-चिद् मिलित संपूर्ण जगत् स्वकीय एक अंश से जो मेरी अतिशयित शक्ति रूप है उसके एक आकार के अयुतायुत अंश से ग्रहण करके मैं अवस्थित हूं, इसी वस्तु का आप निश्चय करें । यानी मेरे अंशांशरूप से ही यह समस्त विश्वसमवस्थित है ऐसा जानकर मेरे विभूति रूप में सभी का समादर करके स्वकार्य सम्पादन में स्थित हो जाओ ॥४२॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश्वर

स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे दशमोऽध्यायः

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

卐 अथैकादशोऽध्यायः 卐

卐 अर्जुन उवाच 卐

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

पूर्वं सपरिकरभक्तियोगमुपदिश्य गतेनाध्यायेन भक्ति सिद्धये स्वात्मगुणयोगो विभूतयश्चोपदिष्टास्तदन्ते विष्टभ्याहमिदमित्यनेन सर्वत्र स्वांशेन स्थितत्वाद्विश्वरूपताऽपि ख्यापितेमाश्च विश्वरूपतां साक्षात्कर्तुकामोऽर्जुन उवाच–मदनुग्रहायेति चतुर्भिः श्लोकैः । मदनुग्रहाय स्वसुखसाधन कर्मणि स्वतन्त्रोहमित्यज्ञानान्धतमसे मुह्यमानस्य ममानुग्रहार्थं परममुत्कृष्टं गुह्यं सर्वदुःखध्वंसपूर्वकभगवदनुभवात्म कसुखजनकत्वाद् गोप्यमध्यात्मसंज्ञितमात्मपरमात्मस्वरूपविवेचकं वचः 'अशोच्यानन्वशोचस्त्व' मित्यादिरूपं यत्त्वयोक्तं तेनायं मम मोहो 'ऽहमेव हन्ता ममैते बन्धव हन्यन्त' इत्यादिरूपो विगतो दूरोत्सारितः ॥१॥

गत प्रकरण में अंग सहित भक्तियोग का उपदेश करके दशम अध्याय से भक्ति की सिद्धि के लिए स्वकीय गुणयोग का तथा स्वकीय विभूतियों का उपदेश दिया तथा दशमें अध्याय के अन्तमें "विष्टभ्याहमिदम्" इससे सभी जगह स्वकीय अंश से अवस्थित होने के कारण अपनी विश्वरूपता का भी प्रतिपादन भगवान्ने किया । इस भगवत्सम्बन्धी विश्वरूपता को प्रत्यक्ष रूप से जानने के इच्छावाले अर्जुन बोलते हैं–"मदनुग्रहाय" इत्यादि' चार श्लोक से । हे भगवन् ! मैं अपने सुख दुःख का साधन लक्षण कर्ममें स्वतन्त्र हूं" इत्याकारक अज्ञानरूप गाढ अन्धकार में डूब कर मोहसे व्याकुलित चित जो मै हूं । उस कृपापात्र मुझ पर अनुग्रह दया करने के लिए परम अति उत्कृष्ट गुह्य आध्यात्मिकादि निखिल दुःख विनाशपूर्वक परमेश्वर का जो अनुभव तदात्मक सुख विशेष के जनक होने से अतिगुयोग्य अध्यात्म संज्ञित–आत्मा तथा परमात्मा का जो वास्तविक स्वरूप है उस विलक्षण स्वरूप का विवेचन करने वाला जो आपका वचन है "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् अशोच्य भीष्मप्रभृति के लिए तुम शोक करते हो इत्याकारक वचन जो आपने कहा है उस अमृतोपम वचन से मेरा मोह मैं इनको मारता हू मेरे ये बन्धुबान्धव इस लडाई में मारे जायेंगे" इत्यादि रूप जो मोह उसे आपने दूर हटा दिया । जैसे अन्धकारावृत जगत् में प्रकाशक सूर्य के आने से अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मोह रूप गाढान्धकार जो मेरे हृदय को व्याप्त किया था वह आपके वचन द्वारा ज्ञानरूप सूर्य से विनष्ट हो गया ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे कमलपत्राक्ष ! कमलपत्रे इव विशाले अक्षिणी यस्य स हे पुण्डरीकनयन ! 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' गी० इति त्वदादेशानुसारेणैव त्वत्तः परमपुरुषा देवा भूतानां भवाप्यया उदयविलयौ हि विस्तरशो मया श्रुतौ, एवमव्ययं माहात्म्यं सर्वशरीरत्वेऽप्यदोषभाक्त्वं सर्वाधारत्वेऽपि दिव्यगुणवत्त्वमित्यादिरूपमपि च श्रुतम् ॥२॥

हे परमेश्वर ! अनेन जगदीश्वरे भगवति श्रद्धातिशयो दर्शितः । आत्मानं स्वस्वरूपं यथा त्वं सर्वनियामक आत्थ कथयसि–एवमेतत् तत्तथैवाहमङ्गीकरोमि । त्वमेव सर्वकारणकारणः सन् सर्वान्तर्यामी सर्वशेषी सर्वज्ञः सर्वशक्तिरसि हे पुरुषोत्तम ! ते तवैश्वरं सर्वसामर्थ्यविशिष्टं रूपं द्रष्टु मिच्छामि ॥३॥

हे कमलपत्राक्ष कमलपत्र सहस्र दल के सदृश विशाल स्निग्ध है नयन जिनके उनका नाम होता है कमलपत्राक्ष अर्थात् हे पुण्डरीक नयन श्रीकृष्ण ! मैं संपूर्ण जगत् का प्रभव उत्पादक मुझ से ही संपूर्ण जड चेतनात्मक जगत् प्रवृत्त होता है'' यह जो आप त्र्यैलोक्यनायक का आदेश आज्ञा तदनुसार परमपुरुष सर्वेश्वर आपसे ही भूत समस्तप्राणियों के भवाप्यय उत्पाद विलय यानी उत्पत्ति स्थिति विनाश को मैंने विस्तार पूर्वक श्रवण किया । इसी प्रकार अव्यय अति विलक्षण जो आपका महात्म्य है अर्थात् आप शरीरी हैं तथापि सर्व दोषाभाक् यानी सर्वदोष रहित हैं तथा सभी के आधार होते हुए भी दिव्य विलक्षण नित्यनिरवधिक अतिशय अनन्त कल्याण गुणवत्व लक्षणादिरूप माहात्म्य को भी मैंने सुना ॥२॥

हे परमेश्वर ! इस संबोधन के देने से जगदीश्वर–त्रैलोक्य नायक भगवान् श्रीकृष्ण में अर्जुन ने श्रद्धाविषय विलक्षण भक्ति अर्थात् अनन्या पराभक्ति का भगवान में प्रदर्शन किया । स्वकीय आत्मा का स्वरूप को जिस प्रकार से सर्वनियामक आप कहते हैं वह वस्तुतः ऐसा ही है इस बात को मैं स्वीकार करता हूं । आप ही सर्वपदार्थ के कारण प्रकृति कर्म प्रभृति का भी कारण हो करके सभी के अन्तर्यामी सर्व जड चेतन के शेषी अंगीसर्वज्ञ सर्वपदार्थ विषयक ज्ञानवान् सर्वलोकोत्तरशाली विलक्षण शक्तिमान् हैं । हे पुरुषोत्तम ! आपका जो ऐश्वर्य सर्वसामर्थ्य विशिष्ट वह रूप है उसे आपका ——— मैं देखना चाहता हूं ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

हे प्रभो! सर्वेश्वर ! तदपरिमिताश्चर्यशालि त्वद्रूपं मया द्रष्टुं शक्यमिति यदि त्वं मन्यसे चेत्ततो हे योगेश्वर दिव्यकल्याणगुणनिधे ! मे मह्यमनुरक्ताय त्वं स्वमात्मानं सर्वाश्चर्यनिधानमव्ययमविनाशिनं स्वरूपं दर्शय ॥४॥

एवं भगवतोऽद्भुतविश्वरूपदर्शने श्रद्धातिशयाज्जातकुतूहलेनार्जुनेन प्रार्थितः श्रीभगवानुवाचेत्याह संजयः। किमित्यनुवदति पश्येति चतुर्भिः । हे पार्थ ! मे मम शत शोथ सहस्रशो नानाविधानि विविधप्रकाराणि नानावर्णाकृतीनि नीलपीतरक्तश्वेतवर्णानि तथा परव्यूहविभवादि स्वरूपाकारभेदेनानेकाकृतियुक्तानि दिव्यानि अप्राकृतानि स्वेच्छयाविर्भावितानि रूपाणि 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि श्रुतिसम्मतानि पश्यावलोकय ॥५॥

हे प्रभो सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण ! वह सर्व विलक्षण अपरिमित सर्वाश्चर्ययुक्त आपका रूप मुझ अर्जुन से देखने के योग्य है। ऐसा यदि आप मानते हों तो हे योगेश्वर दिव्य अनन्त कल्याणगुण के निधान भगवान्? शरणागत अनुरक्त आपका जो शिष्य मैं अर्जुन हूं उस प्रियतम शिष्यको स्वकीय जो सर्व आश्चर्य का निधान अव्यय अविनाशी स्वरुप है उसे बतावें। आपका जो भवदुक्त विलक्षण स्वरूप है उसका मैं दर्शन करना चाहता हूं। दर्शन योग्य वह भवदीय रूप बताने की कृपा करें ॥४॥

इस प्रकार भगवत्सम्बन्धी विश्वरूप दर्शनमें जो श्रद्धातिशय यानी श्रद्धा की अधिकताके कारण समुत्पन्न है कुतूहल जिसे ऐसे अर्जुनसे प्रार्थित श्रीभगवान् सर्वेश्वर धृतलीलाविग्रह श्रीकृष्ण बोलते हैं, यह संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं। भगवान् अर्जुन क्या बोले उसका अनुवाद चार श्लोकों से करते हैं। हे पार्थ से कुन्तीपुत्र ? मेरा सैकडों हजारों अनेक प्रकार के नील पीतादिवर्ण विशिष्ट तथा परव्यूह विभव अन्तर्यामी अर्चावतार रूप से अनेक प्रकारक आकारक आकृति से युक्त तथा दिव्य अप्राकृतिक स्वेच्छा से निर्मित अनेक प्रकार रूप को जो कि रूप रूप के प्रति अनेक रूप होते हैं। एवम् अग्निमूर्धा चक्षुष चन्द्रसूर्यौ" जिस महापुरुष का अग्नि मस्तक है चन्द्रसूर्यनेत्र हैं दिशा ही श्रोत्र है वेद जिसका वचन है वायु प्राण है पृथिवी

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

हे भारत ? मय्येकस्मिन्नेव द्वादशादित्यान् अष्टौ वसून् एकादशरुद्रान् तथा एकोनपञ्चाशन्मरुतः पश्य । अदृष्ट पूर्वाण्यश्रुतपूर्वाणि च बहून्याश्चर्याणि पश्य ॥६॥

भो गुडाकेश ? ममेह देहे तत्राप्येकस्मिन्नपि भागे सचराचरं कृत्स्नं जगदवस्थितम्पश्य यदप्यन्यत्त्वं द्रष्टुमिच्छसि तदपि तत्रैव पश्य ॥७॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मयाद्रष्टुमिति यदुक्तं तस्योत्त रमाह नेति । अनेनैव स्वचक्षुषा प्राकृतपदार्थग्रहणसमर्थेन चर्मचक्षुषा मामप्राकृताद्भुतरूपविशिष्टं द्रष्टुं न तु

पैर है यह परमपुरुष सभी भूतों के अन्तरात्मा हैं" इत्यादि अनेक श्रुति स्मृति से समर्थित मेरे स्वरूप को आप देखने के योग्य हैं, देखिये ॥५॥

हे भारत भरत वंश समुद्भव ? मुझ एक ही परमेश्वर में द्वादश आदित्य को आठ वसुगण को एकादश रुद्र को, दो अश्विन को एवम् उनचास प्रकार के जो मरुद्गण हैं उन सबों को देखो । जिन वस्तुओं को आपने पहले कभी नहीं देखा है और मेरे कथन के पूर्व में आपने कहीं भी किसी से नहीं सुना है ऐसे अनेक आश्चर्यरूप को सावधान हो करके देखो ॥६॥

हे गुडाकेश ? गुडा का नाम है निद्रा का उस निद्राके आप ईश जीतनेवाले हैं। एतावता अर्जुन के आलस्यादि रहित होने से दर्शन योग्यता सूचित होती है। मुझ परमेश्वर के इस देह में जो कि आपके आगे विद्यमान है उसी में उस देह के एक भाग में ही सचराचर जडचेतनात्मक सपूर्ण जगत् को अवस्थित विद्यमान को देखो और जो भी अन्य वस्तु को देखने की इच्छा हो उन वस्तुओं को भी इस देहैकभाग में अवस्थित देखो ॥७॥

भवदीय जो ऐश्वर्यस्वरूप है उसे मैं देखने के लायक हूं ऐसा यदि आप समझें तो मुझे उस विश्वरूप का दर्शन करायें यह जो अर्जुन का प्रश्न था उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं "न तु मामित्यादि" हे अर्जुन ? यह जो तुम्हारा चक्षु है जो कि प्राकृतिक रूपादिमान बाह्य वस्तु के ग्रहण करने में समर्थ है उस चर्मचक्षु से अप्राकृत अलौकिक पदार्थको

卐 संजय उवाच 卐

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद् भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

शक्ष्यसे । अतस्ते तुभ्यं दिव्यमप्राकृतं चक्षुर्महत्यपि तेजसि सुप्रसन्नं निर्निमेषं नयनं ददामि तेन चक्षुषा म ऐश्वर विश्वरूपयोगं पश्य ॥८॥

दिव्यचक्षुः प्रदानानन्तरं भगवता किं विहितमितिधृत राष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच एवमिति षड्भिः । हे राजन् । ततो महायोगेश्वरो महतां दिव्यकल्याणगुणानां यो योगस्सामस्त्यं तत्रेश्वरः समर्थो हरिर्दुर्मेधसां विनाशकः परमपुरुष एवमुक्तप्रकारेणोक्त्वा पार्थाय पृथातनयाय भक्तायपरममुत्कृष्टमैश्वरं इवेतर सर्वविलक्षणं रूपं दर्शयामास ॥९॥

तदेवैश्वरं रूपं विशिनष्टि अनेकानि वक्त्राणि नयनानि यस्मिंस्तद् अनेकाद् भूतानां दर्शनं यस्मिंस्तद् अनेकानिदिव्यान्याभरणानि भूषणानि यस्मिस्तद् दिव्या-

यानी अद्‌भुत रूप विशिष्ट मदीय स्वरूप को देखने में समर्थ नहीं सकते हो । इस लिये तुम्हें दिव्य अप्राकृतक चक्षु जो महान् तेज में भी खुशी से निमेष उनमेष रहित होकर वस्तु को देख सके ऐसी दिव्य दृष्टि को देता हूं । उस विलक्षण लोकातीत चक्षु के द्वारा इश्वर सम्बन्धी जो विश्वरूप योग है उसे निर्विघ्नता से देख सकोगे ॥८॥

अर्जुन को दिव्यचक्षु प्रदान किया । उसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने क्या किया धृतराष्ट्र की इस आकांक्षा के बाद संजय कहते हैं "एवमुक्त्वा" इत्यादि चार श्लोकों से । संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं हे राजन् ! इसके बाद महायोगेस्वर बहाबडा जो दिव्य कल्याणगुण तादश कल्याणगुणों का जो योग संपूर्णता उसमें ईश्वर समर्थ जो हरि दुर्बुद्धिक व्यक्ति के विनाश करने बाले परमपुरुष परमात्मा उन्होंने एवम् इस प्रकार कह करके पार्थ पृथातनय परमभक्त के लिए परम उत्कृष्ट ईश्वर सम्बन्धी स्वेतर सर्वविलक्षण जो रूप-विश्वरूप है तादश विश्वरूप को बतलाया अर्थात् दिखा दिया ॥९॥

पूर्व कथित ऐश्वर विश्वरूप का विश्लेषण करते हैं "अनेक" इत्यादि दो श्लोकों से जिसमें अनेक मुख तथा अनेक नयन नेत्र हैं तथा जिस में अनेक अद्‌भूत् आश्चर्यकारी पदार्थ का दर्शन है तथा जिसमें अनेक प्रकारक दिव्य आभरण अर्थात् भूषण है एतादस अपना

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो मुखम् ॥११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

न्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि यस्मिंस्तद् दिव्यमाल्याम्बर गन्धानुलेपनयुक्तं सर्वाश्चर्यमयं देवं दिव्यकान्तिधरमनन्तं देशकालपरिच्छेदशून्यं विश्वतो मुखं सुखप्रदेशे सर्वतो मुखम् ॥१०।११॥

देवशब्देन दिव्यकान्तिविशिष्टतोक्ता तामेव निर्वक्ति दिव्याकाशे सूर्यसहस्रस्यैकदैवोदितस्य युगपदुत्थिता यदि भाः प्रभा भवेत्तदा तस्य महात्मनो दिव्यमङ्गलविग्रहतो दिव्य भासः सदृशी सा स्यात् परन्त्वेतन्न कदाचिदपि सम्भवात्यतो निरुपमानन्तकान्तियुक्तं तद्रूपमासीदिति भावः ।१२।

स्वरूप बतलाया । एवम् जिसमें अनेक प्रकारके उद्यत उठाया हुआ है आयुध शस्त्र जिसमें तथा दिव्य लोकोत्तर मालादि वस्त्र दिव्यगंधानुलेपन से युक्त सर्व प्रकार से आश्चर्य मय देव: दिव्य कान्ति को धारण करनेवाले अनन्त देशकाल के परिच्छेद से रहित विश्वतोमुख अर्थात् सर्व दिशा में मुख से विशिष्ट एतादृश सर्वाश्चर्यजनक विश्वरूप का प्रदर्शन किया ॥१० ११॥

इससे अव्यवहित पूर्व श्लोक में देव शब्द से दिव्यकान्ति विशिष्टता को बतलाया है उसी विशिष्टता का निर्वचन करते हैं "दिवीत्यादि" दिव अर्थात् आकाश में एक ही समय में उदित उदय को प्राप्त किया हुआ हजारों सूर्य से एक काल में उत्पन्न यदि भा—प्रभा हो तो उस महात्मा दिव्य मंगल विग्रह शरीर वाले का आकाश में दिव्य आभास के सदृश प्रभा होती परन्तु ऐसा अर्थात् आकाश में एक काल में हजार सूर्य की प्रभा तो कदापि नहीं होती है । इस लिए उपमा रहित अनंत कान्तियुक्त भगवान् का वह विश्वरूप था । जैसे आकाश का कोई सदृश नहीं है जिसकी उपमा आकाश में दी जाय यथा वा सागर का सदृश पदार्थान्तर नहीं है जिससे कि समुद्र में उपमा दी जाय तद्वत् प्रकृत में भी भगवान् के विराट्रूप के सदृश कोई नहीं है जिसकी उपमा दी जाती इसलिए भाष्यकार ने कहा "निरुपंतदासीद्" इति । "गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः । रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव । गगन गगन के समान है समुद्र समुद्र के समान है तथा श्रीराम रावण का जो युद्ध हुआ वह भी श्रीराम रावण के समान ही है । यहाँ जैसे अनन्वयालंकार है तद्वत् प्रकृत में भी अनन्वय को ही समझना चाहिये १२।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः सविस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे–सर्वांस्तथा भूतविशेष संघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।१५

तत्र देवदेवस्य सर्वदेवेश्वरस्य दिव्ये विराड्देह एकस्थ एकत्र स्थितमनेकधा प्रविभक्तं सुरासुरनरतिर्यक्स्थावरादिरूपं तथा चतुर्दशभुवनसंस्थानं चराचरं कृत्स्नं जगत् तदा पाण्डवो देवदेवदयाप्तदिव्यदृष्टिरर्जुनोऽपश्यद् दृष्टवान् ॥१३॥

ततो भगवतो विराड्रूपदर्शनानन्तरं विस्मयाविष्टो विस्मयेनात्यद्भुतदर्शन-जनितालौकिकमनश्चमत्कारेण विशिष्टो हृष्टरोमा प्रफुल्लरोमराजिर्धनञ्जयोऽर्जुनो देवं दिव्यगुणधामानं विश्वमूर्तिं शिरसा प्रणम्य मूर्ध्ना वन्दनं विधाय कृताञ्जलिर्हृदयाग्रे सम्पुटितोभयहस्तोऽभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच । हे देव ! तव देहे सर्वानेव स्वर्गस्थान् देवान् पश्यामि

पहले भगवान् ने अर्जुन से कहा था कि मेरे देह के एक भाग में ही संपूर्ण जगत् देखो ! तो जिस प्रकार भगवान् ने कहा था उसी प्रकार सभी चीज को अर्जुन ने देखा उसी बात को कहते हैं "तत्रैकस्थमित्यादि" उस समय देवाधिदेव सर्व देवेश्वर के दिव्य विराट् देह में एक जगह में अवस्थित अनेक प्रकार से प्रविभक्त देव असुर मनुष्य तिर्यक् तथा स्थावरादि रूप एवं चतुर्दश भुवन में व्यवस्थित जड जंगम संपूर्ण जगत् को उस समय अर्जुन ने देवाधिदेव की दया से प्राप्त दिव्य दृष्टिक हो करके पूर्वकथित विस्मयजनक विश्वरूप को देखा ।१३॥

उसके बाद भगवान् के विराट् रूप के दर्शन करनेके बाद विस्मय से युक्त हो करके अर्थात् अति अद्भुत रूप के दर्शन से जायमान जो अलौकिक मन को चमत्कार उस से विशिष्ट हो कर के हृष्टरोम अर्थात् प्रफुल्लित है रोमावली जिनकी ऐसा अर्जुन दिव्य गुण के निधान् विश्वमूर्ति को मस्तक से प्रणाम करके कृताञ्जलि अर्थात् हृदय के आगे में संपुटित उभयहस्त वाला हो कर के बोलते हुए खुशमन हो करके मस्तक को अवनत करके दोनों हाथ जोड करके बोले ।१४॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

तथा सर्वान् भूतलस्थानां भूतविशेषाणां संघान् पश्यामि । सर्वानृषींश्च मरीच्यादीनन्तरिक्षचारिणो दिव्यान् शेषवासुकयादींश्चोरगान् पश्यामि तथा ब्रह्माणश्चतुर्मुखं कमलासने ब्रह्माणि स्थितमीशं रुद्रञ्च । तदुक्तं पाद्मे–'विष्णुं समाश्रितो ब्रह्मा ब्रह्मणोऽङ्कगतो हरः । हरस्याङ्गविशेषेषु देवाः सर्वेऽपि संस्थिताः ॥ पश्यामीत्यन्वयः ॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रमनेकशब्दोऽत्रानन्तवाची । त्वां जगन्नियन्तारमनन्तरूपं सर्वतः पश्यामि । पुनः हे विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! तवादिं मध्यमन्तञ्च न पश्यामि ॥१६॥

किरीटिनं शिरसि ध्रियमाणभूषणविशेषवन्तं गदिनं चक्रिणञ्च चक्रगदाधारिणं

भगवान् ने जैसा कहा था तादृश ही विलक्षण रूप को देख करके भगवान् से अर्जुन निवेदन करते है "पश्यामीत्यादि, हे देव श्रीकृष्ण ! आपके शरीर में सभी स्वर्ग में रहनेवाले देवो को देख रहा हूं । पृथिवी पर अवस्थित सभी भूत विशेष मनुष्य प्रभृति को देख रहा हूं, तथा मरीचि क्रतु प्रभृति सभी ऋषियों को आपके देहावयव में देखता हूं, तथा सभी शेष वासुकी तक्षक प्रभृति सर्पों को एवं दिव्य आकाश में संचरण करनेवाले पक्षी समुदाय को देख रहा हूं एवं चतुर्मुख ब्रह्माजी को देख रहा हूं, एवं कमलासन ब्रह्माजी के अंक में स्थित रुद्र शंकरजी को भी अवस्थित देख रहा हूं अथवा वैकुण्ठ नायक जो विष्णु भगवान् हैं उन्हें भी देख रहा हूं। पद्मपुराणमें भी ऐसा कहा है "वैकुण्ठाधिपति श्रीविष्णु भगवान् के आश्रित ब्रह्माजी हैं और ब्रह्माजी के अंक (क्रोड में आश्रित महादेव है और महादेव के अंग विशेष में सभी देवगण विराजमान हैं इसलिये सर्वेश्वर भगवान् कारण के भी कारण हैं ॥१५॥

अनेक बाहूदर वक्त्रनेत्रम्" यहां अनेक शब्द अनन्त शब्द का जो अर्थ है उसे कहनेवाले हैं अर्थात् अनन्तबाहु अनन्तवक्त्र अनन्तनेत्रविशिष्ट भवदीय रूप को देखता हूं। जगत् के नियन्त्रण करनेवाले आपके अनन्त रूप को देखता हूं । पुनः हे विश्वेश्वर विश्व के अधिपति हे विश्वरूप अनेकरूप वाले देव ! आपके आदि मध्य तथा अन्त को तो नहीं देखता हूं ॥१६॥

किरीटी यानी मस्तक के ऊपर धारण करने के योग्य जो आभूषण विशेष उस किरीट को धारण करनेवाले अर्थात् मुकुट वाले तथा गदावाले चक्रवाले आपको देख करके तथा तेज

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यंत्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्तासनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।१८।

त्वद्भयार्मीत्यनेनैवान्वयः । तेजोराशिं दिव्यतेजसां निधानं 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः । पुनश्च दीप्तानलार्कद्युतिमत एव समन्ताद् दुर्निरीक्ष्यं परिच्छिन्नत्वव्यावृत्तयेऽप्रमेयमितिविशेषणम् ।।१७।।

त्वं परमं वेदितव्यमक्षरं मुण्डकादिषु 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' मु १।१।३ इत्यारभ्य 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' मु १।१।५ इत्यक्षरवेदनमुक्तं तद्वेदनविषयस्त्वमेव । अस्य विश्वस्य परं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानमाधारस्त्व मेव त्वमव्ययोऽविनाशी शाश्वतधर्मस्य गोप्ता त्वं सनातनः पुरुषो मे मतो ज्ञातः । अद्यैव मया दृष्टिगोचरीकृत इत्यर्थः ।।१८।।

के राशि समूह रूप उसके निधान स्थान, अत एव श्रुति कहती है "जिसे सूर्य चन्द्रमा प्रकाशित नही कर सकते हैं ये विद्युत् भी जिसके प्रकाशन करने में असमर्थ हैं यह जो भौम अग्नि की तो कथा ही क्या" उस प्रकाश के निधान जो परमपुरुष है उसके भासित होने पर ही ये लोग सूर्यादिक प्रकाशित होते है और परम पुरुष के प्रकाश से यह संपूर्ण जगत् भासित होता है । पुनरपि दीप्त जोअग्नि और सूर्य को प्रकाश का तादृश प्रकाशशील है परमात्मा अत एव दुर्निरीक्ष्य हैं यदा सूर्यप्रकाश का सादृश्य दिया है वह "इषुरिव सविताधावति" बाणके समान सूर्य चलते हैं एतत्तुल्य समझना चाहिये । अत एव सर्वतः दुर्निरीक्ष्य है दुःख से देखने के योग्य तथा अप्रमेय प्रमा के विषय नहीं है यह विशेषण परमेश्वर में परिच्छिन्नत्व का निराकरण करने के लिए है । अर्थात् सर्वेश्वर भगवान् देशकालादि से परिच्छिन्न नहीं हैं ।।१७।

आप ही परम वेदितव्य हैं अर्थात् वेदनीय ज्ञातव्य वस्तु में सर्वतः उत्कृष्ट आप ही हैं । अक्षर हैं "द्वे विद्ये" दो विद्या जानने के योग्य हैं यहां से ले करके "अथ परा" इत्यन्त मुण्डक में अक्षर का वेदन कहा गया है तादृश परा विद्या से ज्ञातव्य जो अक्षर ब्रह्म है वह आप ही हैं । इस संपूर्ण विश्व जगत् का पदार्थ रखा जाय जिसमें उसे कहते हैं निधान अर्थात् आधार वह आप ही है आप अव्यय अविनाशी हैं शाश्वत जो धर्म उसके गोप्ता रक्षण करनेवाले आप ही है आप सनातन पुरुष हैं इसे मैंने जाना अर्थात् आज ही मैंने आप को दृष्टि गोचर किया आपके स्वरूप को इसके पूर्वमें कभी भी नहीं जाना था ।१८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रंस्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदंलोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

अनादिमध्यान्तं तव देहमहमादिमध्यान्तरहितं पश्यामि अनन्तवीर्यं निरतिशयपराक्रमशालिनमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रं दीप्तहुताशवक्त्रं 'दीप्तानलार्कद्युतिमि'त्यत्र तु द्युतेर्दीप्ता नलार्कद्युतिसादृश्यमुक्तमत्र पुनः सर्वोपसंहारकर्तृतासामर्थ्यं दीप्तहुताशशब्दस्वारस्यादुच्यत इति न पौनरुक्त्यम् । इदमखिलं विश्वं स्वतेजसा प्रकाशन्तं त्वां पश्यामि ।१९॥

द्यावापृथिव्योर्द्युलोकभूलोकयोरिदमन्तरमवकाशो यत्रा खिलं जगद्राजते त्वयैकेन हि व्याप्तम् । एवं सर्वा दिशश्च व्याप्ताः । हे महात्मन् ! विश्वात्मन् ! तवेदमद्भुत-

हे भगवन् ! आपके जो दिव्य देह है उसको अनादि मध्यान्त यानी आदिमध्य अन्त रहित मैं देख रहा हूं और अनन्त वीर्य निरतिशय पराक्रम से विशिष्ट देख रहा हूं एवमनन्त बाहूसे युक्त एवं चन्द्रमा तथा सूर्यनेत्ररूप से आपके देह मे भासित होते हैं ऐसा मै देख रहा हूं और आपका जो मुख है वह अतिशयेन प्रदीप्त जो हुताशन वह्नि उसके समान तेजस्वीतारूप से भास रहा है। पहले "दीप्तानलार्कद्युतिम्" कहा यहाँ द्युति तेज में प्रदीप्त अनल और सूर्य के सादृश्य को बतलायो गया है और "दीप्त हुताशवक्त्रम्" इससे सर्व पदार्थ के उपसंहार विनाशकर्ता सामर्थ्य को बतलाया गया है दीप्त हुताशन शब्द के स्वारस्य से अत एव भगवद् वचन में पुनरूक्ति दोष होता यह जो किसी का आक्षेप था वह भी परास्त हो जाता है और यह जो जड चेतन रूपसे परिदृश्यमान संपूर्ण जगत है उस को आप स्वकीय प्रकाश के तेज से भासित प्रकाशमान् करते हुए आपको देखता हूं ।१९।

सभी को महदाश्चर्य देनेवाला एतादृश विश्वरूप भगवान् के रूप को देखकर अत्यन्त भयसे डरे हुए अर्जुन स्वकीय भय भाव को अभिव्यक्त करते हुए बोलते हैं– 'द्यावापृथिव्यो रित्यादि' हे भक्त जनभय विनाशकदेव ! द्यावा पृथिवी द्युलोक तथा भूलोक का जो अन्तर अवकाश स्थान जिस अवकाश स्थान में सपूर्ण चराचरात्मक सुखरूप से सन्निविष्ट है उन सबोंको आपने अपने विराट् शरीर से व्याप्त कर लिया है एव प्राची प्रतीची प्रभृति जो दिशाएं हैं उन्हें अपने अपने देह से व्याप्त कर लिया है । हे महात्मन् अर्थात् हे विश्वरूप ! आपका अद्भुत आश्चय देनेवाला तथा प्रचण्ड तेज से विशिष्ट मत्दीय स्वरूप को देख करके लोकत्रय

मुग्रञ्चातिप्रचण्डतेजोविशिष्टं रूपञ्च दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं त्रैलोक्यप्राणिनः प्रकर्षेण भयजन्यव्यथां प्राप्तवन्तः । अत्र सर्व शक्तेः परेशस्य वैज्ञानिकमेव लोकत्रयं भयकम्पादियुक्तमर्जुनेन दृष्टम् । तदपि च दिव्यचक्षुषो माहात्म्यादेकेनैवार्जुनेन साक्षात् कृतम् । नान्येनान्यथा दिव्यचक्षुः प्रदानस्य वैफल्यमेव स्यादिति तत्त्वम् ॥२०॥

तीनों लोक प्रव्यथित हो गये हैं अर्थात् लोकत्रय में रहने वाले सभी प्राणीसमुदाय भयजनित व्यथा को प्राप्त कर गये हैं । यहाँ सर्व शक्तिमान् जो परेश परमात्मा है उनका वैज्ञानिक विज्ञान मात्र से निर्मित तीनों लोक भय कंपादि से युक्त हुये को अर्जुन ने देखा । वह भी दिव्य चक्षु के प्रभाव से अकेले अर्जुन ने साक्षात्कार किया । दूसरे व्यक्तियों ने उस दिव्य शरीर का साक्षात्कार नहीं किया । अगर सारी दुनिया उस दिव्य शरीर को देख लेती तब तो भगवान् ने उस दिव्य शरीर को देखने के लिए अर्जुन को जो दिव्य चक्षु प्रदान किया वह निरर्थक हो जायगा अर्थात् दिव्य चक्षु के बिना ही दुनिया को विश्वरूप का प्रत्यक्ष हुआ तो उसी प्रकार से अर्जुन को भी हो ही जाता तब भगवान् ने जो दिव्यरूप देखने के लिए दिव्य नेत्र प्रदान किया वह सर्वथा निरर्थक हो जाता ।

इस प्रसंग में कितने ही लोग "लोकत्रयं प्रव्यथितं' के विषय में शंका किया करते हैं कि दर्शन के समय में तो लोकत्रय उपस्थित नहीं था न वा अर्जुनेतर को दिव्य दृष्टि मिली थी जो पूर्वोक्त जैसे विलक्षण स्वरूप को देखकर सभी भय भीत हुये यह कथन कैसे संगत हो सकता है । इसमें समाधानयों समझे कि भगवान् मायावी हैं उनकी माया में अघटना घटित करने की अनन्त शक्ति है अतः उसके द्वारा प्रदर्शित तादृशदृश्य को लेकर जैसा कथन है। यदि कहें कि उक्तसमाधानानुसार तो अर्जुन को भ्रमज्ञान हुआ ? यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अघटितघटनाघटी इस माया श्रयसे निर्वाह हो जाता है । इस उक्ति में केवलाद्वैतमत गन्धाघ्रात करने लगजाना भी उचित नही है क्योंकि यह अशास्त्रीय हो जायगा श्रुति प्रदर्शितत्रिवृत् करण तथा—

'प्रत्येकस्य च भूतस्य रामेणार्धद्वयं कृतम् । एकैकार्धचतुर्थांशः स्वेतरार्धेषु योजिताः ।
पञ्चीकृतेषु भूतेषु यदर्धंतस्यनाम तत् । पञ्चीकृतैश्च भूतैश्चराचराण्डं स सर्जहि ॥''

इत्यादिरूप से श्रौतप्रमेयचन्द्रिका के प्रामाण्य से समस्त जगद् पञ्चीकृत है अतः स्वतन्त्रमायिकत्व का होना सम्भव नहीं है ।

अथवा हे भगवन् ! एतादृश आप के रूपको आप के दिये दिव्य चक्षु के माहात्म्य देखकर लोकत्रयान्तर्गत मैं आपके सान्निध्य में होने पर भी प्रव्यथित हूं ऐसा अर्थ है नकि

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षाऽसुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

अमी हि सुरसंघास्त्वत्प्रभावज्ञदेववर्यास्त्वां शरणागत वत्सलं विदित्वा विशन्ति समीपमायान्ति । केचित्त्वत्स्वरूपमवलोक्य भीताः प्राञ्जलयो बद्धाञ्जलयः सन्तः गृणन्ति स्तुतिं कुर्वन्ति । महर्षिसिद्धसंघाः भृगुवसिष्ठनारदादयस्तु स्वस्तीत्युक्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिः स्तोत्रैस्त्वामेव स्तुवन्ति ॥२१॥

रुद्रादित्यादयो देवाः गन्धर्वयक्षाः सुरसिद्धसंघाश्च सर्वे विस्मिताः सन्तस्त्वामेव वीक्षन्ते ॥२२॥

सारी दुनिया प्रव्यथित है क्योंकि अप्रसक्त का प्रतिबन्ध नहीं होता है । प्रकृत प्रसंग में अनेक विद्वानो के अनेक मत है ग्रन्थकाय वृद्धि भयसे यहां उल्लेख नही करते हैं । विशेष तात्विक चर्चा मेरे परम गुरु महामहो पाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्यजी वेदान्त केसरी ने श्रीरघुवरी टीका (अर्थचन्द्रिका) में की है मैने भी उसके विवरण प्रसंग में यथा बुद्धि वैभव वहीं चर्चा की है अतः विशेषार्थी वहीं देखे ।

अतः 'अत्र सर्वशक्तेः परेशस्य वैज्ञानिक मेव लोकत्रयं भयक स्यादि युक्त मर्जुनेन साक्षात्कृतम्, नान्येनान्यथा दिव्य चक्षुः प्रदा- नस्य वैफल्य मेव स्यादिति तत्त्वम्' इत्यादि भगवान् भाष्यकार की दिव्य उक्ति ही प्रकरण तथा शास्त्रानुकूल है ॥२०॥

यह अपने समक्ष में अवस्थित जिन्हें मै देख रहा हूं ऐसा आपके महाप्रभाव को जाननेवाले श्रेष्ठतम देवता लोग आपको शरणागत वत्सल समझ करके विशन्ति अर्थात् आप भक्तवत्सल के समीपमें आ रहे हैं कोई कोई तो आपके आश्चर्यजनक स्वरूप को देख करके भय से डर करके प्राञ्जलि अंजलि हाथ को जोड करके अनेक प्रकारके स्तुति स्तोत्र का उच्चारण करते हैं आपकी प्रसन्नता संपादन करने के लिए । महर्षि सिद्धसंघ भृगुवसिष्ठ नारद प्रभृति महात्मागण जगत की रक्षा में विहित है मन जिनका एतादृश उपरोक्त महात्मालोग अनेक प्रकारके स्तुति वाक्य द्वारा आपकी ही स्तुति करते हैं । सभी लोग आपके प्रसादन करनेमें सर्वदा सलग्न हो करके स्तुति करते हैं ॥२१॥

हे भगवन ! केवल मैं ही आश्चर्यजनक स्वरूप को देख करके भयभीत हो गया हूं ऐसी बात नहीं है किन्तु मनुष्यापेक्षया बलवीर्यादि से विशिष्ट ये रुद्रादिक देवलोग भी विस्मयापन्न

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

देवादीनां सविस्मयावलोकने बीजमाह रूपमिति । हे महाबाहो ! ते तव बहुवक्त्रनेत्रं बहुबाहुरुपादं बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं महदतिशयदैर्घ्यविशिष्टं दृष्ट्वा सर्वे लोका भयेन प्रव्यथितास्तथाहमपि प्रव्यथितो भयव्याकुलोऽभूवम् ॥२३॥

प्रव्यथाया कारणं वक्ति नभस्स्पृशमिति । हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! नभस्स्पृशं नभः शब्दोऽत्र सर्वपरलोके वर्तते । तथा च परात्परलोकव्याप्तं दीप्तमतिप्रज्वलितमनेकवर्णमनेकैर्वर्णैर्युक्तम् । व्यात्ताननं विवृतास्यं दीप्तविशालनेत्रं निरतिशयतेजोविशिष्टा-

हो गये हैं इस अभिप्राय से कहते हैं—"रुद्रादित्याः" इत्यादि । रुद्रआदित्यक अर्थात् एकादशरुद्र द्वादशादित्य आठवसु साध्यगण विश्वेदेव आश्विन उनचास मरुत् उष्मपापितर, गन्धर्वचित्ररथप्रभृति यक्षकुबेरप्रभृति सिद्धकपिलप्रभृति इनका समुदाय सभी के सभी विस्मित आश्चर्यचकित हो करके आपको देख रहे हैं ॥२२॥

यथोक्त रूपसे रुद्रादिदेवों के द्वारा विस्मितविलक्षण का कथन करके सर्वलोक भयानक आपके रूपको देख करके भगवान् मैं तो बहुत डर गया हूं इस बात को बतलाते हैं रूपमित्यादि" हे ! महाबाहो ! आपका अनेक मुख अनेक नेत्रवाला तथा अनेक बाहू अनेक ऊरु अनेक पैरवाला एवम् अनेकानेक उदर (पेट) वाला एवम् अनेक दाँतों से कराल भय जनक महान् अतिशयित दीर्घता से विशिष्ट अतएव भयानक आपके स्वरूप को देख करके ये सभी लोग तथा मैं भय से प्रव्यथित अर्थात् भयाकुल हो रहे हैं ॥२३॥

जगत् के अकारणमित्र जो भगवान् हैं उनका दर्शन प्राप्त करके भी प्रव्यथित अर्जुन हो गये इसका क्या कारण है इस जिज्ञासा के उत्तर में व्यथा होनेका कारण बतलाते हुए कहते हैं "नभस्पृ शमित्यादि" हे विष्णो हे जगत् रक्षक सर्वव्यापक भगवन् ! यहाँ नभः स्पृशम् में नभ शब्द प्राकृतिक भूताकाय का बोधक नहीं है किन्तु प्रकृति तथा जीवका आश्रयी भूत जो परम व्योमन् परमात्मा है उनका बोधक है । प्राकृतिक भूताकाश का कथन तो "द्यावापृथिव्यौः इस प्रकरण में हो गया है, ऐसा होने से परात्पर जो लोक उसे व्याप्त करनेवाला दीप्त अत्यन्त प्रज्वलित तथा अनेक प्रकारक नील पीतादिवर्ण से युक्त एवं व्यात्त विवृतमुख प्रज्वलित तथा विशाल बहुत बड़ा नेत्र निरतिशय तेजोविशिष्ट विशालनेत्र है जिनके एतादृश सभी

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वैः सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

निविशालानि नेत्राणि यस्य, एवं भूतं त्वांसर्वेभ्योऽद्भुतं विलक्षणञ्च दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं धैर्यं शमञ्च न विन्दामि नोपलभे ॥२४॥

ते तव दंष्ट्राकरालानि दंष्ट्राभिः करालानि भयङ्कराणि च कालानलसन्निभानि प्रलयकालिकदहनसदृशानि मुखानि दृष्ट्वैव दिशो न जाने दिङ्मूढो जातः शर्म सुखञ्च न प्राप्नोमि। अतो हे देवेश ? सर्वदेवस्वामिन् ? सर्वजगतां निवासभूत ! हे भगवन् प्रसीद मय्यनुरागदृष्टिं विधेहि ।२५।

एवं सर्वव्यापकत्वं सर्वस्वातन्त्र्यञ्च स्वकीयविश्वरूप दर्शनेनार्जुनाय विज्ञाप्येदानीं भाविनि युद्धेऽपि मयैव त्वद्धि जयोनिर्वाह्य इत्याशयमपि तस्मै ग्राहयितुं तथा

से अद्भूत तथा विलक्षण आपको देख करके दुःखी है मन जिसका ऐसा जो मैं अर्जुन वह धैर्य तथा संतोष को प्राप्त नहीं कर रहा हूं। प्रकृत श्लोक में विष्णो! यह संबोधनसाभिप्रायक है अर्थात् भगवान् विष्णु का विग्रह सत्वगुण प्रधानक है, ब्रह्माजी का विग्रह रजोगुणप्रधानक है तो शंकर का विग्रह तम प्रधानक है। अतएव सत्वानुकूलकार्य रक्षण विष्णु में है, रजोनुकूल जगदुत्पादनकार्य ब्रह्मा में तो तमोनुकूल भयप्रयुक्त कार्य शंकर में है। प्रकृत में अर्जुन कहते हैं आपतो सत्व प्रधानक हैं तो इसमें भयादि कार्य कैसे हुआ ? यदि हुआ तो इससे अतिरिक्त हमारी तथा संपूर्ण जगत् के रक्षा करके सबकी रक्षा कीजिये ; ऐसा प्रार्थनारूप अभिप्राय से विष्णो ऐसा सम्बोधन का प्रयोग किया है ॥२४॥

हे देव! आपका दांतों से कराल अर्थात् भय को देनेवाला तथा कालानल के सदृश प्रलय कालिक अतिशय प्रज्वलित अग्नि के समान मुख को देख करके ही दिशा को नहीं जान रहा हूं, अर्थात् दिङ्मूढ हो रहा हूं। और शर्म सुख को भी प्राप्त नहीं कर रहा हूं अतः हे देवेश हे सर्वदेव के नायक संपूर्ण जगत् के निवास स्थान हे भगवान् ! प्रसन्न होवें मुझ पर अनुराग दृष्टि करें ॥२५॥

पूर्वोक्त प्रकार के अपनी सर्वव्यापकता तथा स्व में सभी प्रकार की स्वतन्त्रता का स्वकीय विश्वरूप दर्शन द्वारा अर्जुन को बतला करके इसके बाद भविष्यभावी युद्धमें भी मुझ

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥
यथा नदीनाम्बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

स्वरूपं दर्शयत्यर्जुनश्च यथादर्शनमुपवर्णयति अमीत्यादिभिः । अमी मन्नयनसन्निकृष्टे वर्तमानाः सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनप्रभृतयः सर्वैस्तत्पक्षीयैर्भूपसङ्घैस्सहैव तथा भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्ण एवमस्मदीयैरस्मत्पक्षीयैरपि योधमुख्यैर्द्रुपदकाशिराजधृष्टद्युम्नादिभिस्सह त्वरमाणा अतिवेगात् त्वरयन्तस्ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति प्रबलशक्त्या प्रेर्यमाणा हठादिव त्वन्मुखेषु प्रविशन्तीत्यर्थः । केचिच्च दशनान्तरालभागे चूर्णितैरुत्तमाङ्गैर्विलग्ना बहिर्भागे लम्बायमाना स्पष्टमेव संदृश्यन्ते ॥२६॥२७॥

भगवदास्यप्रवेशे दृष्टान्तमुदीरयति यथेति । यथा येन प्रकारेण नदीनां सरिता-

सर्वेश्वर के द्वारा ही तुम्हें विजय प्राप्त होगी इस आशय को भी अर्जुन को बतलाते हुए उस प्रकार के वैज्ञानिक स्वकीय स्वरूप को बतलाते हैं और अर्जुन ने जिस प्रकार उस विलक्षण आगे होनेवाले वस्तु विषयक ज्ञान का अनुभव किया उसका वर्णन स्वतः करते हैं। अमी सर्वे" इत्यादि ! अर्जुन ने जिस स्थिति को देखा उसका वर्णन करते है–हे देव यह मेरी आंख के समीप में वर्तमान सभी धृतराष्ट्र राजा के पुत्र समूह दुर्योधन दुःशासन प्रभृतिक स्वपक्ष में व्यवस्थित राजाओं के साथ ही तथा भीष्मपितामह द्रोणाचार्य सूतपुत्रकर्ण एवं मेरे पाण्डव पक्षके जो मुख्य मुख्य राजा सब हैं जैसे द्रुपद काशिराज धृष्टद्युम्न प्रभृतिक के साथ बहुत जल्दी से दंष्ट्रा से कराल अतएव भयानक आपके मुख में प्रवेश कर रहे है अर्थात् किसी प्रबल शक्ति के द्वारा जबर्दस्ती खींचाते हुए के समान आपके मुख में प्रविष्ट हो रहे हैं। कोई कोई तो दशनदांत के अन्तराल मध्यभागमें माथा फट गया है जिनका ऐसा होकरके विलग्न है अर्थात् मुखके बाहर भाग में लटकते हुए स्पष्ट रूप से देखनेमें आ रहे हैं ॥२६॥२७॥

ये राजा लोग भगवान् विराट् पुरुषके मुखमें किस प्रकार प्रविष्ट होते हैं इसमें दृष्टान्त बतलाते हुए कहते हैं "यथा नदीनामित्यादि" हे विश्वरूप ! यथा जिस प्रकार नदी का गंगा सिन्धु का बेरी का जो अनेक जल प्रवाह है वह समुद्र जो सभी जलके आधार भूत है का तरफ जल्दी वेग पूर्वक जाते हैं अर्थात् सभी नदी का जल अति त्वरित गति से जल निधान समुद्र में प्रविष्ट होते हैं इसी प्रकार ये नरलोक भी भीष्मादिक सभी के सभी

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

म्बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रं सर्वजलानामाश्रयमभिमुखा एव द्रवन्ति झटिति वेगाद्यान्ति तथैवामी नरलोकवीरा बलशालिनोऽपि राजानोऽभिविज्वलन्ति वक्त्राणि वेगाद्विशन्ति॥२८॥

तत्रैव द्वितीयदृष्टान्तमाह यथेति । यथा पतङ्गा सूक्ष्माः शलभाः समृद्धवेगाः पूर्णवेगा नाशाय प्रदीप्तज्वलनमुद्गतार्चिषि समिद्धाग्नौ विशन्ति तथैव इमे लोका अपि समृद्धवेगाः स्वनाशाय तव वक्त्राणि विशन्ति । शलभस्य यथा स्वनाशध्रौव्यं तथैषामपि । राजलोकानामपीतिभावः ॥२९॥

हे विष्णो ! समग्रान् लोकान् ज्वलद्भिरग्निज्वालाकुलैर्वदनैर्विवृतास्यैः समन्ताद्

बलशाली लोग तथा ये राजा लोग चारों तरफ से जाज्वल्यमान आप के मुख में प्रविष्ट हो रहे हैं ।ज्वलित आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं इस कथन से "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योप सेचनं क इत्था वेद यत्र सः" प्रलय काल में जिस महा पुरुष जगदुत्पत्ति-स्थिति प्रलय कारक सर्वनियन्ता के ब्राह्मणक्षत्रियोप लक्षित समस्त उत्पन्न पदार्थ ओदन स्थानापन्न होते हैं और जिसका उपसेचन शाक सूपस्थानीय मृत्यु देव होते हैं एतादृश महा पुरुष को अनन्य भक्त के सिवाय और कौन जान सकता है अर्थात् कोई नहीं जान सकता है इस श्रुत्यर्थका स्मरण कराया गया ॥२८॥

भगवान् विराट् पुरुष के मुखमें ये राजा लोग किस प्रकार प्रविष्ट हो रहे हैं इसमें नदी समुद्र का प्रथम उदाहरण बतलाकर के उसी विषय में दूसरा भी उदाहरण बतलाते हुए कहते हैं "यथा प्रदीप्तमित्यादि" यथा जिस प्रकार से पतंग सूक्ष्म शलभ अत्यन्त वेगवान् हो करके स्वकीय नाश के लिये प्रदीप्त ज्वलन में अर्थात् ऊपर उठी हुई है शिखा जिसमें एतादृश प्रज्वलित अग्निमें गिरते हैं इसी प्रकार यह उपस्थित मृत्यु भेंट को बजाते हुए ये लोग वेग पूर्वक स्वविनाश के लिए आपके मुखमें प्रविष्ट हो रहे हैं । जैसे पतंग का स्वविनाश अवश्य भावी होता है उसी प्रकार इन राजा ओं का नाश अवश्यभावी है ॥२९॥

इस प्रकार नदी समुद्र तथा अग्निशलभरूप दृष्टान्त बतला कर पतंगायमान राजाओं को वह्नि जैसे पतंगको नाश कर देता है उसी प्रकार इन राजाओं का विनाश भगवान् से होगा इस बात को बतलाते हुए कहते हैं "लेलिह्यसे" इत्यादि, हे भगवन् विष्णो ! समग्र

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।३१।

ग्रसमानः शर्कराक्षोदमिव गलबिलाधः संयोगं कुर्वंल्लेलिह्यस आस्वादातिशयमनुभवसि । तथा तवोग्राः भासो रश्मयः स्वतेजोभिर्निरतिशयप्रकाशेन समग्रं जगदापूर्य प्रकर्षेणो तपन्ति । निखिलं विश्वमुत्तापयन्तीत्यर्थः ॥३०॥

यस्मादद्भुतमदृष्टचरं रूपं दृष्ट्वा सभयमर्जुनः पृच्छति आख्याहीति । उग्ररूपोऽतिघोररूपो भवान् कः किं चिकीर्षसीति मे मह्यमनुकम्पया सत्वरमाख्याहि । ते तुभ्यं नमोऽस्तु हे देववर ? देवदेव ! प्रसीद त्वरया प्रसन्नो भव । सर्वेषामाद्यं संपूर्ण जगत् को अग्नि की ज्वाला से युक्त तथा विवृत (फाडे हुए) मुख से सभी प्रकार से ग्रसित करते हुए अर्थात पहले तो अखंड समुत को ही दांत से खण्ड प्रखण्ड करके शर्करा खण्ड के समान गले के नीचे उतारने के लिए (गलबिलाधः संयोग की इच्छा से) आस्वादित करते हैं अर्थात् आस्वाद विशेष का अनुभव करते हैं । तथा आपका उग्र रश्मि स्वतेज से निरतिशय प्रकाश से संपूर्ण स्थावर जंगम जगत् को प्रपूरित करके प्रतप्तकर रही है संपूर्ण जगत् को उत्तापित कर रही है यानी आपका जो प्रचंड ताप है वह प्रकाश द्वारा प्रकाशित करके संपूर्ण जगत् को उत्तप्त कर रहा है ॥३०॥

परम अद्भुत आश्चर्य जनक तथा इससे पूर्व में कभी भी नहीं देखा हुआ ऐसे भगवान के स्वरूप को देखकर के भयभीत अर्जुन प्रार्थना करते हुए के समान पूछते हैं "आख्याहि" इत्यादि उग्ररूप अत्यन्त घोरतर रूपवाले आप कौन हैं तथा आप क्या करना चाहते हैं अर्थात यमराज के रूप से भी अतिविलक्षण यह स्वरूप है, यमराज तो कर्म पराधीन होकर एक दो को मारता है नतु एक समय में अनेक प्राणीका संहार करता है आप तो एक ही क्षण में अनन्त तथा अति समर्थ को भी संहार करने में प्रवृत्त हुए हैं अतः आप यमराज से भी अधिक प्रभावशाली मालूम पडते हैं अतः मैं आपसे पूछता हूं कि आप कौन हैं ? मुझे कहिये ! आप क्या करना चाहते हैं वह अनुकंपा पूर्वक शीघ्र मुझ अनन्य शरण उपासक को कहने की कृपा करें । आप को मै नमस्कार करता हूं । हे देववर ! प्रशस्त प्रकाश अत्य धिक पराक्रमशाली देवों के भी देव नियामक जगदाधार ! आप शीघ्र मुझ पर कृपा करके प्रसन्न होवें । सभी के आदिभूत आप को मैं विशेषरूप से जानना चाहता हूं !

शंका अरे भाई ! तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करने के लिये ही तो मैं ने तुम्हारी प्रार्थना से यह दिव्य अतिविलक्षण सर्वाश्चर्यजनक अन्यों से अननुभूत तथा अश्रुत इस रूप को बत-

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।३२।

भवन्तं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि । ननु त्वदनुग्रहायैव मयेदं दिव्यं रूपं त्वत्प्रार्थनयैवादर्शि स एवाहं त्वत्सखेति कुतः को भवानिति पृच्छसीत्याशङ्कायामाह न हीति । एव मिदानीं जगत्संहरतो भवतः प्रवृत्तिं न हि प्रज नामि । मय्यनुजिघृक्षया स्वरूपदर्शनं चेत्तदा तु सर्वैश्वर्यशालिनी सौम्या कृतिरेव दर्शिता स्यान्न तु विकरालाकृतिरिति भावः ॥३१॥

एवं पर्यनुयुक्तः श्रीभगवानुवाच । लोकक्षयकृत् कालः सर्व प्राणिनां कलनां कुर्वन्नहं कालस्यापि प्रवृद्धः कालोऽस्मि । इह लोकानशेषाँल्लोकस्थप्राणिनः समाहर्तुं प्रवृत्तः । फलितमाह ऋत इति त्वामृतेऽपि विनापि न भविष्यन्ति विनाशमुपयास्यन्ति । ये च

लाया तब तुम पुनः ऐसा प्रश्न क्यों करते हो, इस शंका के उत्तर में कहते हैं "नहीं त्यादि" अभी इस प्रकार संपूर्ण जगत् के संहार करने में आप जो प्रवृत्त हैं उस प्रवृत्ति को खास करके मैं नहीं जान रहा हूं अर्थात् हे भगवन् ! इस समय आपका जो रंग ढंग है वह अति विलक्षण है वह खास मुझ से कहिये । यदि कहो कि मुझ पर अनुग्रह करने की इच्छा से मैं ने तुम्हे इस विलक्षण स्वरूप का दर्शन दिया है तब तो हे भगवन् ! सर्वैश्वर्यशाली नयनाभिराम कमनीय सौम्य आकार ही बतलाये, यह काल से भी विकराल भय जनक महान् धैर्य बल पराक्रम शाली व्यक्ति की भी हिंमत छूट जाय ऐसा स्वरूप क्यों बतलाते हैं ॥३१॥

उपर्युक्त प्रकारेण शरणागत विनयावनत भयभीत अर्जुन से पूछे गये भगवान् अदृष्ट अश्रुत विकराल करालवत् भय जनक रूप के विषय मे कहते हैं "कालोस्मीत्यादि" हे अर्जुन ! लोक का क्षय विनाश करनेवाला मैं काल हूं अर्थात् सर्वप्राणी का कलना करता हुआ मैं काल यमराज का भी प्रवृद्ध काल हूं अर्थात् 'अह न्यहन्य भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्" प्रत्येक दिन भूत समुदाय यम कृतान्त के मन्दिर में जाते हैं" इस स्मृति के बलसे सिद्ध होता है कि यमराज इतर सकल प्राणी के विनाशमें कारण हैं । हे अर्जुन ! मै तो सर्वभक्षी उस काल का भी प्रचण्डतर काल हूं उस काल को भी अपने कवल के अन्तर्गत मै करने वाला हूं । यहाँ इस ब्रह्माण्ड में जितने भूरादिक लोक हैं तथा तादृश लोक में जितने प्राणीमात्र हैं उन सबों का समाहरण विनाशन की इच्छा से प्रवृत्त हुआ हूं ऐसा तुम जानो । इसके बाद स्वकीय प्रवृत्ति के फलितार्थ को समझाने के लिए कहते है "ऋतेपीत्यादि" तुम्हारे बिना भी ये सभी लोग न होंगे अर्थात् तुम्हारे युद्ध न करने पर भी समुपस्थित सभी व्यक्ति विनाश को प्राप्त करेंगे ही।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहिताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।३३।

प्रत्यनीकेषु योधा भीष्मद्रोणकर्णप्रभृतयोऽवस्थितास्ते सर्वे आत्मानन्तु केवलं निमि· त्तमात्रमवेहीति भावः ॥३२॥

एवमुक्त्वा फलितमाह–तस्मादिति । यतः सर्वकालकालोऽहमेव सर्वान् हनिष्यामि तव न क्वापि श्रमस्तस्माच्छ्रममन्तरेणापि परमदुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽर्जुनेन विनिर्जिता इति यशो लभस्व । युद्धायोत्तिष्ठ । त्वयि युद्धे सन्नद्धे तवैव विजयोऽतोऽप्रयासेनैव शत्रून् जित्वा समृद्धं महर्द्धिव्याप्तं निः सपत्न राज्यं भुंक्ष्व । एते त्वदरयस्त्वत्प्रयत्नात् पूर्वमेव मयैव निहतास्तच्छौर्यमपहृत्य हतप्रायाः कृता अतो हे सव्यसाचिन् सव्येन वामहस्तेनापि शरान् सचितुं शीलमस्येति सव्यसाची करद्वय प्रहारकुशलस्तत्सम्बुद्धौ हे सव्यसाचिन् त्वं निमित्त मात्रं भव ॥३३॥

जैसे अग्नि में पडे पतंग का नाश होता है उस के समान सभी विनष्ट हो जायेंगे और प्रत्यनीक इस रणस्थल में समुपस्थित जितने योद्धागण भीष्मपितामह द्रोणाचार्य कर्ण जयद्रथ प्रभृतिक जितने हैं ये सभी के सभी विनष्ट हो जायेंगे । हे अर्जुन ! अब इनके मरने में तुम अपने आपको निमित्त मात्र ही समझो उसी मार्ग के ये सभी राजा गण पथिक हैं मरनेवाले हैं ही तुम इन्हें क्या मारोगे परन्तु इनके मरण में तुम निमित्त हो ऐसा समझो ॥३२॥

इस प्रकार से कह करके फलितार्थ को भगवान् कहते हैं अर्थात् हे भगवन् ! आप जगत् के उत्पत्ति स्थिति जनक हैं उसी प्रकार संहार करनेवाले भी आप ही हैं तब मुझे संहारफलक युद्ध में प्रवृत्त क्यों कराते हैं इस प्रकार कदाचित् अर्जुन की शंका हो तो उस शंका के निराकरण करने के लिए कहते है "तस्मात्त्वमित्यादि" जिसलिये सर्वकाल के काल कालसहित सभी पदार्थों का संहरण करनेवाला मैं ही हूं इसलिये मैं ही इन भीष्म प्रभृति सभीको मारुंगा तुम्हें कहीं भी कुछ भी श्रम नहीं होगा इसलिये श्रम के बिना भी परम दुर्जय ये भीष्म प्रभृति राजालोग अर्जुनसे परास्त हो गये इस प्रकार लोक में यश लाभ करो और युद्ध के लिये खडे हो जाओ । जब तुम युद्ध में लग जाओगे तब तुम्हें ही युद्ध में विजय प्राप्त होगी अतः श्रम के बिना ही शत्रु को जीत करके समृद्ध बहुत बडी ऋद्धि से युक्त तथा शत्रु रहित राज्य का उपभोग करो । ये जो तुम्हारे दुश्मन हैं वे तुम्हारे प्रयत्न करने के पहले ही मुझ से मारे जा चुके हैं । उनकी शुरता है उसका विनाश कर के वे लोग हतप्राय कर दिये गये है । इसलिये हे सव्यसाचिन् सव्य अर्थात् बाये हाथ से भी शर चलाने का शील स्वभाव है जिस का उसे

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

अत्रार्जुनस्य स्वपराजयशंकायाः सम्भवस्तान्विशिष्टान् परसैनिकमुख्यान् नामतो निर्दिश्यैते हता एवेति वदन् तदीयशङ्कामपाकरोति द्रोणमिति । द्रोणं ब्राह्मणत्वाद्धनुर्वेदाचार्यत्वाद् दिव्यास्त्रसम्पन्नत्वाच्च तज्जये सन्देहसम्भवात्तदुपादानम् । एवं भीष्म-जयद्रथकर्णेषु स्वाच्छन्द्यमरणापितृवरग्रहणेन्द्र दत्तशक्तिशालित्वेन सन्देहसम्भवात्तन्नामो-पादानम् । तथाऽन्यानपि योधवीरान् कृपशल्याश्वत्थामादीन् यांस्त्वं दुर्जयान् मन्यसे तान् मयैव कालकालेन हतांस्त्वं जहि । कथमेतान् हनिष्यामीति मा व्यथिष्ठा व्यथां मा कार्षीः सुखेन युध्यस्वानायासे नैव सपत्नान् रणे जेतासि ॥३४॥

सव्य साची कहते है । दोनों हाथ से प्रहार करने में जो समर्थ हो एतादृश के संबोधन में कहा गया है सव्य साचिन् ! तुम केवल इस लडाई के मैदान में निमित्त मात्र बनो ॥३३॥

द्रोणाचार्य विद्यागुरु है तथा अनेक प्रकारक दिव्य अस्त्र से सज्जित है भीष्मपितामह स्वेच्छा मरणवाले है कर्ण जयद्रथ प्रभृति योद्धाओ से संग्राम करने मे अर्जुन को बहुत बडी शंका थी प्रत्युत इन महावीरो से लडने पर मेरी पराजय अवश्य होगी ऐसी शंका की संभावना थी उन विशिष्ट पर सेना मे मुख्यमुख्य व्यक्ति है उनका नाम निर्देश करके ये लोग हमसे हतप्राय कर दिये गये है इस प्रकार कहते हुए भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन की शका निर्मूल करने के लिए कहते है "द्रोणञ्चेत्यादि" हे अर्जुन ! द्रोण को यहाँ एक तो आचार्य ब्राह्मण थे धनुर्वेद के आचार्य थे अनेक प्रकारक दिव्यास्त्र से सम्पन्न थे अतः द्रोणाचार्य के साथ लडाई करने पर उस लडाई में विजय प्राप्त करने में संदेह था इसलिये मुख्य रूप से उनका नामोपादान विशेष रूप से सर्वप्रथम किया गया है एवं भीष्म को स्वेच्छा-मरण का वर प्राप्त था इसलिये उनके साथ लडाई में जय प्राप्ति का संदेह था इसलिये इनका भी नाम ग्रहण किया गया । एवं जयद्रथ कर्णमे भी पितृवर ग्रहण तथा इन्द्र प्रदत्त शक्तियुक्त होने से उनलोगों की लडाई में विजय संदिग्ध थी अतः इन दोनों का भी नाम ग्रहण किया गया है तथा अन्यान्य भी वीरयोद्धा लोग है जैसे कृपाचार्य शल्य अश्वत्थामा प्रभृतिक है जिन्हें तुम दुर्जेय जिनके ऊपर जय प्राप्त करने में अपने को अशक्य समझते हो उनलोगों को काल का भी कालरूप जो मै हूं उससे अर्थात् काल का कालरूप मुझ से मारे हुए समझकर उन सबो को तुम मारो मै किस तरह इन्हें मारूंगा इस प्रकार मन में व्यथा दुःख मत करो । सुखपूर्वक युद्ध करो क्योंकि तुम बिनाश्रम से ही अपने शत्रुको संग्राम में जीतने वाले हो अत अवश्य ही तुम्हारी विजय होगा ॥३४॥

卐 सञ्जय उवाच 卐

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

卐 अर्जुन उवाच 卐

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।३६।

ततः किं वृत्तमिति धृतराष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच एतदिति । केशवस्य ब्रह्मेशानेश्वरस्य भक्तजनमनोरथपूरकस्य भगवत एतत्पूर्वोक्तं वचनं श्रुत्वा वेपमानः कम्पमानः किरीटीधनञ्जयकृताञ्जलिः कृष्णं नमस्कृत्वा भीतभीतः सगद्गदं प्रणम्य भूय एवेदं वक्ष्यमाणं वचनमाह ॥३५॥

हे हृषीकेश ! सर्वेन्द्रियप्रेरक ! सर्वेश्वरत्वेनात्यद्भुतप्रभावशाली त्वमसीत्यतस्तव प्रकीर्त्या सर्वं जगत्प्रहर्षमाप्नोति तव निरतिशयदिव्यकल्याणगुणविशिष्टस्वरूपमवगत्यानुरक्तिमाप्नोतीत्येतत्स्थाने युक्तमेव तवैतादृशप्रभावः स्वरूपश्च । एवं रक्षांसि

उसके बाद क्या हुआ अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण का वचन सुन करके अर्जुन ने क्या किया इस प्रकार धृतराष्ट्र की जिज्ञासा होने पर संजय कहते हैं "एतदित्यादि" हे राजन् ! केशव का ब्रह्मा तथा महेश का भी परमेश्वर तथा अनन्य भक्त के मनोरथ को पूर्ण करनेवाले जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं उनके वचनको सुनकरके वेपमान कांपते हुए किरीटी धनञ्जय कृताञ्जलि दोनों हाथों को जोडे हुए भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करके भीत पुनः पुनः भय मे युक्त होते हुए तथा सगद्गद विलक्षण प्रकारक वाणी से युक्त होते हुए भगवान् को प्रणाम करके यह वक्ष्यमाण आगे कहे जाने वाले वचन बोले ॥३५॥

हे हृषीकेश ! चक्षुरादि इन्द्रिय गण के प्रेरक भगवान् श्रीकृष्ण ! आप सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर होने के कारण अति अद्भुत प्रभावशाली हैं इसलिये आपकी प्रकीर्ति अर्थात कीर्तन श्रवण से संपूर्ण जगत् हर्ष विलक्षण आनन्द प्राप्त करते हैं। आपका विलक्षण अप्राकृतिक लोकोत्तर निरतिशय दिव्य कल्याण गुण विशिष्ट स्वरूप को जानकर एक प्रकार के विलक्षण अनुराग को प्राप्त करते हैं यह वस्तु युक्त ही है क्योंकि आपका एतादृश प्रभाव तथा स्वरूप भी है यह आपका प्रशंसा वाक्य नहीं है अपितु वास्तविक स्वरूप का कथन है। एवं जगत् में विघ्न करनेवाले जो राक्षस गण है वे लोग आपके भय से डर करके दिशाओं में भागते हैं

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् ? गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ? ।
अनन्तदेवेश ? जगन्निवास ? त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

जगदनिष्टकारीणि सत्त्वानि भीतानि भयोपेतानि भूत्वा दिशो द्रवन्ति दिक्षु धावन्ति । एतदपि स्थाने युक्तमेव । तथा सर्वे सिद्धानां कपिलपिप्पलादादीनां संघा नमस्यन्ति यत्तदपि युक्तमेव । अनन्ताद्भुतवतस्तवैतादृशमेव सामर्थ्यमिति भावः ॥३६॥

युक्तत्वमेवोपपादयति कस्मादिति। हे महात्मन् ? ते तुभ्यं पूर्वोक्ता देवर्षिसिद्धाः कस्माच्च न नमेरन् ! ब्रह्मणश्चतुर्मुखादेरपि गरीयसे सर्वप्रकारेण श्रेयोगुणेन गुरुतमाय तथादिकर्त्रे हिरण्यगर्भादेरपिजनकाय । हे अनन्त ? हे देवेश ? हे जगन्निवास ! यत-स्त्वमेवाक्षरं न क्षरतीत्यक्षरं क्षेत्रज्ञपदवाच्यं वस्तु त्वमेव । सदसन्नामरूपविभागार्हा-नर्हरूपदशाद्वयमापन्नमचित्पदवाच्यं वस्त्वपि त्वमेवासि । तथैवाक्षरसदसत्पदाभि-धेयजीव प्रकृतिभ्यां विलक्षणस्ताभ्यां यत्परं तत्त्वं तयोरन्तर्नियमनकर्त्ता यतोरपि कारणं त्वमेव ॥३७॥

अर्थात् स्वकीय प्राण के लिए मानो दूर दूर तर दिशा में जा रहे हैं यह भी स्थाने अर्थात् युक्त ही है यतः आपका स्वरूप भक्त के पालन करने में जितने ही कोमल हैं उतना ही आप का शासन दुष्ट निग्रह करने के लिये कठोर भी हैं । श्रुति भी कहती है "भीषा अस्मा द्वात. पवते" इसकी आज्ञा के भय से वायु नियमित कार्य करता है इत्यादि । तथा सभी सिद्ध कपिल पिप्पलाद आसुरि प्रभृति का जो संघ समुदाय है वे आपको नमस्कार करते हैं यह युक्त ही है । क्योंकि अनन्त अद्भुत विलक्षण शक्तिमान आपका एतादृश सामर्थ्य है ॥३६॥

भगवान् में सर्वदेव की नमस्कार योग्यता है इस बात का उपपादन करते हैं "कस्मा-दित्यादि" हे महात्मन् ? आपको सारी दुनिया ये सभी देवर्षि सिद्ध प्रभृति नमन क्यों न करें क्योंकि आप ब्रह्मा चतुर्मुख प्रभृति के भी गरीयसे यानी सभी प्रकार के श्रेयो गुण से गुरुतम हैं तो आप के लिये नमन योग्य है तथा आप आदि कर्ता हैं हिरण्यगर्भ प्रभृति महा-महिम देवो के भी आप जनक हैं । हे अनन्त हे देवेश, नहीं है अन्त विनाश जिनका ऐसे आप है तथा सकल देव समुदाय के ईश और सभी के नियमन में समर्थ, हे जगन्निवास ! स्थावर जंगमात्मक जायमान पदार्थ के निवास स्थान । आप ही अक्षर रूप हैं जो विनष्ट न हो उसका नाम हैं अक्षर अर्थात् क्षेत्रज्ञपद वाच्य वस्तु आप ही हैं । सत् असत् नामरूप का जो विभाग है उस के योग्य तथा नाम रूप विभाग के अयोग्यता रूप जो विभागद्वय

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।३८।

त्वमेवादिदेवोऽसि त्वत्तोऽन्ये ब्रह्मरुद्रेन्द्रादयो देवास्त्वच्छरीरभूतास्त्वदुपादानकाः पुराणः पुरुषस्त्वमेव । ततस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानमाधारभूतम् । वेत्ता वेद्यश्च त्वमेव परमधाम 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यमपि त्वमेव । किम्बहुना हे अनन्तरूप ! त्वयेदं विश्वं ततं व्याप्तमतस्त्वमेव सर्वव्यापकोऽसि । 'जगत् सर्वं शरीरं ते' इत्यादिप्रामाण्यात् ॥३८॥

तादृश विभागद्वय को प्राप्त किया हुआ अचित् पद वाच्य वस्तु भी आप ही हैं तथा उसी प्रकार से आप अक्षर सदसत् पद से अभिधेय यानी वाच्य जो जीव तथा प्रकृति उन दोनों से विलक्षण हैं अर्थात् उन दोनों से जो परतत्व है वह आप है तथा उन दोनो के नियमन करने वाले यानी उन दोनों के भी कारण आप ही हैं ॥३७॥

हे भगवन् ! आप ही आदि देव हैं क्योंकि हिरण्य गर्भादिक जो देव हैं उनके भी आप जनक हैं (जायमान जो स्थावर जंगम जगत् है उसके प्रति जनकता हिरण्य गर्भ में हैं पर "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" जिसने सर्वप्रथम ब्रह्माजी को बनाया उन्हें बना करके उन्हें वेदोपदेश दिया" इस श्रुति से सिद्ध होता है कि परमेश्वर जनक के भी जनक हैं इसलिये अर्जुन ने कहा आप ही आदि देव हैं। ब्रह्माजी स्वयं सर्वेश्वर श्रीरामजी से सविनय कह रहे हैं—

"पद्मदिव्येऽर्क संकाशे नाभ्यामुत्पाद्यमामपि । प्राजापत्यं त्वया कर्ममयि सर्वं निवेशितम् ॥"

(श्रीवा, रामायण ७।१०४।७) अर्थात् सृष्टिके आदि काल में आपके नाभी के दिव्य कमल में मुझे उत्पन्नकर हे सर्वेश श्रीराम जी ! आप ने ही मुझे प्रजापति सम्बन्धी समस्त कार्य भार सौंपा। इससे व्यक्त है कि सर्वेश सर्वकारण श्रीरामजी है अतः अर्जुन की उक्ति संगत है आप से अन्य जो ब्रह्माजी शंकर इन्द्र कुबेर प्रभृति देवगण हैं वे सभी आपके शरीर रूप है आप ही उन सबों के उपादान हैं। आप ही पुराण पुरुष हैं पुराण अर्थात् चिरन्तन सर्वापेक्षया प्राचीन तम आप ही हैं। पुरे शरीर में रहने के कारण पुरुष पद वाच्य भी आप ही हैं। आप इस संपूर्ण जगत् के निधान आधारभूत हैं आप वेत्ता हैं सर्व विषयक ज्ञानवान् हैं "यः सर्वज्ञः" जो सर्व विषयक ज्ञानवान् है ऐसा श्रुति कहती है। वेद्य भी आप ही है सर्वदा सावधान मन के द्वारा वेदनीय आप हैं और परमधाम जो विष्णु का परमपद है वह भी आप ही हैं। और अधिक क्या कहा जाय हे अनन्तरूप ! आप से ही यह

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।३९।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ! ।
अनन्त वीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।४०।

वाय्वादिरूपस्त्वमेवेत्याह वायुरिति । वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कश्चन्द्रस्त्वमेव । प्रजानां पतयः कर्दमदक्षादयस्त्वमेव प्रपितामहश्च पितामहस्य ब्रह्मणोऽपि पिताऽतः प्रपितामहस्त्वमेव यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादि श्रुतेः । अतस्ते सहस्रकृत्वः सहस्रवारं नमो नमोऽस्तु पुनश्च भूयोऽपि ते तुभ्यं नमो नमोऽस्तु ॥३९॥

सर्वतो विलक्षणं सर्वस्वरूपञ्च परमात्मानं दिव्यचक्षुषा पश्यन् भक्त्युद्रेकाज्जातहर्षो विशिष्टरूपेण सर्वेति सम्बोध्य सर्वतो नमस्करोति नम इति । पूर्वार्धे सर्व इति सम्बोधनं कृतं तत्समर्थयति सर्वं समाप्नोषीति । सर्वपदशब्द्येषु शरीरेषु शरीरतयाऽऽत्मतया व्याप्नोषीत्यतः सर्वस्त्वमसीत्यर्थः ॥४०॥

सकल जगत् व्याप्त है इसलिये सर्वव्यापक आप ही हैं सर्वेश श्रीरामचन्द्रजी के लिये कहा है "जगत्सर्वं शरीरं ते" यानी सर्वेश्वर श्रीरामजी ! संपूर्ण जगत् आपका शरीर है" ऐसा महर्षि वचन से सिद्ध होता है आप में सर्व व्यापकत्व है ।।३८।।

गत श्लोक में भगवान् का अनन्त रूप कहा गया है उसी अनन्तता का प्रतिपादन करने के लिये वायु प्रभृति परकत्व का कथन करते है "वायुरित्यादि" । हे देव ! वायु पवन स्वरूप आप ही हैं तथा यमराज सर्व संहारक का स्वरूप भी आप ही हैं एवं वरुण पद बोध्य आप हैं एवं शशांक क्षपानाथ चन्द्रमा स्वरूप भी आप ही है । प्रजापति प्रजा के स्वामी कर्दम दक्ष प्रभृति आप ही हैं और प्रपितामह सभी के पितामह हैं ब्रह्माजी आप ब्रह्माजी के भी पिता होने से प्रपितामह भी आप ही हैं "जिसने ब्रह्मा को बनाया" इत्यादि श्रुति है इसलिये एतादृश माहात्म्य विशिष्ट आपके लिये हजारों बार नमो नमः हो । पुनः फिर भी बारंबार आपके लिए नमस्कार हो ॥३९॥

सर्वापेक्षया विलक्षण तथा सर्व स्वरूप परमात्मा को दिव्य चक्षु से देखकर के भक्ति का उद्रेक आधिक्य से समुत्पन्न है आनन्द जिनका एतादृश अर्जुन विशिष्ट रूप से 'सर्व' इत्याकारक संबोधन करके सभी प्रकार से भगवान् को नमस्कार करते है "नमः पुरस्तादित्यादि" हे सर्व ! सर्व है शरीर जिसका अर्थात् स्थावर जंगम शरीरवाले देव तथा सभी के अन्तर्यामी आपको अग्रभाग से नमस्कार हो पृष्ठभाग से आपको नमस्कार हो सभी तरफ से

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण ? हे यादव ? हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ।४१।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत ? तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।४२।

प्रणतिगर्भितस्तुतिं विधायेदानीं स्वापराधं क्षमापयति सखेति । सखेति मत्वा मम वयस्य इति मत्वा मया प्रसभमविनयेन धार्ष्ट्येन वा कथितम् । प्रमादात् प्रणयेन स्नेहेन वा सत्कारहीनमिति यावत् । हे कृष्ण ? हे यादव ? हे सखे ! इत्येवं प्रकारेण यदुक्तं सम्बोधनं कृतम् । सखेति सन्धिस्त्वार्षत्वात् तत्तवेमं महिमानमजानतैव । किञ्च विहारशय्यासनभोजनेषु कार्येष्ववहासार्थं परिहासायैवासत्कृतोऽसि । एकान्तेऽथवा तेषां सखीनां समक्षमुक्तप्रकारेण किमप्यविनीतवदनुष्ठितं स्यात्तदहं त्वामप्रमेयं क्षामये क्षमापयामि ॥४१॥४२॥

आपको नमस्कार हो पूर्वार्धे में सर्व इस पद से संबोधन किया है उसी का समर्थन करते है "सर्वं समाप्नोषि" इति। सर्व पद के वाच्य शरीर में शरीरीरूप से तथा आत्मरूप से व्याप्त होने से सर्व स्वरूप आप हैं। तथा अनन्त वीर्य और अमित विक्रमयानी पराक्रम वाले आप हैं अतः सर्व स्वरूप आप को सर्व तो भाव से अनन्तवार नमस्कार हो ॥४०॥

पूर्वोक्त प्रकार से नमस्कार सहित भगवान् का स्तवन करके इसके बाद पूर्वकालिक प्रमादादि जनित जो अपराध है उसका क्षमापन करने के लिये कहते है "सखेतीत्यादि" सखा मित्र समझ करके अर्थात् मेरे समान वय के आप हैं यह समझ करके मैंने अविनय अथवा धृष्टतापूर्वक जो कुछ कहा प्रमाद से प्रणय से वा स्नेह से अर्थात् सत्कार रहित हो करके जो कुछ कहा हे कृष्ण ? हे यादव ? हे सखे ? इत्यादि प्रकार से जो मैंने कहा अर्थात् संबोधन किया। सखेति यहाँ जो गुण संधि की गई है वह आर्ष है ऐसा समझे। व्याकरण शास्त्र से यद्यपि ठीक नहीं है तथापि ऋषि प्रणीत होने से दोषावायक नहीं है। यह सब जो कुछ मैंने किया वह आपकी एतादृश महिमा को जाने बिना ही किया और भी विहार शय्या भोजन आसनादिक कार्य में अवहास परिहास मजाकरूप में आपका मैंने असत्कार किया। एकान्त में अथवा अन्यमित्रों के समक्ष में पूर्वोक्त प्रकार से जो कुछ मैंने अविनीत के समान मजाक किया तो उन सभी अपराधों को अप्रमेय स्वरूप आप से क्षमापित करता हूं अर्थात् हे भगवन् ! उन सभी अपराधों को आप क्षमा करें ॥४१॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥४३॥
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव ? सोढुम् ।४४।

हे अप्रतिमप्रभाव ! त्वमेवास्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकोऽसि पूज्यश्चासि गरीयान् परमपूज्यो गुरुरसि सर्वलोकस्य सर्वविधनिरुपाधिकाराध्योऽसि लोकत्रयेऽपि त्वत्समोऽन्यो नास्त्यभ्यधिकस्तु कुत एव ! ॥४३॥

इदानीं स्वात्मसमर्पणरूपां प्रपत्तिमाश्रित्य स्वापराधान् क्षमापयति तस्मादिति । यस्मात्त्वमस्य चराचरात्मकस्य लोकस्य पितासि तस्मात्त्वां सर्वेश्वरमीशमीड्यमहं कायं

हे अप्रतिम प्रभाव ! नहीं है सादृश्य जिसका एतादृश प्रभाव विशिष्ट वाले देव ! आप ही इस चराचर स्थावर जंगम लोक के पिता जनक हैं अर्थात् संपूर्ण जगत् के स्वतन्त्र उत्पादक आप ही हैं । संपूर्ण जगत् के लिए आप ही पूज्य हैं पूजा करने के योग्य हैं और गरीयस परम पूज्य गुरु भी आप ही इस संपूर्ण जगत् के हैं अर्थात् सभी जगत् के सर्व प्रकार से निरुपाधिक स्वभाव से आप ही आराध्य हैं । इन तीनो लोक में आपके सदृश और कोई नहीं तो आप से अधिक तो और दूसरा कौन होगा ।

"न तस्य कार्यं करणञ्चविद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबल क्रियाच" उस परमात्मा का कार्य शरीर नहीं है करण इन्द्रिय भी नहीं है उस परमात्मा के सदृश कोई नहीं है अधिक तो अन्य दूसरा कौन हो सकता है इसकी शक्ति बहुत बडी है और ज्ञान शक्ति बल क्रिया सब कुछ विलक्षण ही है इन श्रुतियों से सिद्ध होता है कि परमात्मा के सदृश अथवा बडा कोई दूसरा नहीं है एवं निरतिशय ज्ञानादिक कल्याण गुण भी परमात्मा में ही हैं अन्यत्र जो देखने में आता है वह अतिशय है इसलिये हे भगवन् ! आप ही हमारे आश्रयणीय शरण्य हैं तथा संपूर्ण लोक के भी आपही शरणागत रक्षक हैं तथा आराधनीय हैं ॥४३॥

इसके बाद स्वात्म समर्पण रूप जो प्रपत्ति—शरणागति है उस को स्वीकार करके स्वकीय अपराध समुदाय को क्षमापित (माफी मांगते हुए) करने के लिये कहते हैं "तस्मादित्यादि" हे त्रैलोक्य नायक जिसलिये आप चराचरात्मक स्थावर जंगम लक्षण संपूर्ण इस प्राकृतिक जगत् के पिता पालन रक्षण करने वाले हैं इसलिये सर्वेश्वर सर्व नियन्ता सर्व ऐश्वर्य युक्त तथा स्तवन करने के योग्य आपको मैं काय शरीर अर्थात् स्वकीय शरीर को भूमि में स्थापित करके प्रणाम

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव? रूपं प्रसीद देवेश? जगन्निवास? ॥४५॥

प्रणिधाय प्रणम्य प्रसादये । मनोवचः कर्मभिः प्रपत्तिरत्राद्दता । हे देव ? पुत्रस्यापराधयुक्तस्यापि स्वतनयस्य यथा तज्जनको यथा वा सख्युः प्रियवयस्यस्यापराधयुक्तस्यापि तत्प्रियसखा सोढुमर्हति तथैव त्वं प्रियोऽसि । अतः मह्यं प्रियाय सर्वमपराधजातं सोढुमर्हसि ॥४४॥

एवं क्षमां सम्प्रार्थ्य स्वाभिलषितस्य प्रियरूपस्य दिदृक्षामुद्भावयति अदृष्टपूर्वमिति करके (दण्डवत् प्रणाम करके) प्रसादित करता हूं । एतादृश प्रणाम से मन वचन शरीर कर्म से प्रपत्ति का प्रदर्शन किया जाना है । हे देव जगत् पिता ? जैसे लौकिक देह जनक पिता लोक में शतापराध युक्त भी पुत्र का यथा वा एक मित्र शतापराध युक्त भी मित्र के सभी अपराध को भूल करके तादृश अपराध की क्षमा करता है उसी प्रकार से आप मेरे प्रिय हैं इसलियेप्रिय जो मै हूं उस मित्र रूप मेरा सभी अपराध क्षमा करने के योग्य हैं अर्थात् मेरे सभी अपराध को आप क्षमा करें । हे देव ? क्या कोई भी पिता नवजात अपने पुत्र को जो कि पिता की गोद में बैठा हुआ पिता के देह पर प्रमाद से स्वभाव से वा टट्टी पेशाव करदेता है तो पिता उस लडके के उस अपराध की गणना करता है ? उस अपराध के कारण पुत्र को छोड देता है ? नहीं । तद्वत् हे भगवन् ? मेरे सभी अपराध को कृपया आप क्षमा करें जिस अपराध को मैंने प्रमाद वा कारणान्तर से किया है । यद्यपि अन्य टीकाकारों ने "प्रियः प्रियायार्हसि" इस वाक्य का भी दृष्टान्त रूप में ही संग्रह किया है तथापि अत्यन्त लोक प्रसिद्धि के कारण भाष्य कार ने प्रकारान्तर से उसका व्याख्यान किया है विशेष विस्तार इस विषय का स्थानान्तर में देखें ।

"निधाय दण्डवद्देहं प्रसार्य चरणौ करौ । बध्वामुकुलवत् पाणी प्रणामो दण्डसंज्ञितः ॥"

पृथिवी के ऊपर दण्ड के समान शरीर को स्थापित करके और हाथ तथा पैर को लंबायमान करके पुनः कमल मुकुल के समान दोनों हाथों को बना करके जो प्रणाम किया जाता है उसे दण्डप्रणाम कहा जाता है । इस स्मृति के कथनानुसार साष्टांग पात प्रणाम प्रपत्ति सूचक कहलाता है, तो यहाँ "प्रणिधायकायम्" इस कथन से दण्डवत् पूर्वोक्त प्रणाम अभि मत है ॥४४॥

पूर्वोक्त क्रम से भगवान् से क्षमा की प्रार्थना करके स्वाभिलषित अति सौम्य प्रिय जो पूर्वपरिचित भगवान् के लीला विग्रह में स्वाभाविक जो रूप था उस रूप को देखने के

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो ? भव विश्वमूर्ते ? ॥४६॥

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

द्वाभ्याम् । हे देव ? पूर्वं कदाप्यदृष्टं विश्वरूपं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि । अदृष्टपूर्वत्वादेव मे मनो भयेन प्रव्यथितम् । अतस्तदेव यत्रेदं विराड्रूपं त्वया प्रदर्शितं तदेव प्रधानरूपं मे दर्शय । देवानामीश ? हे जगन्निवास ? मे मह्यं प्रसीद ॥४५॥

तदेवरूपमित्यस्य स्पष्टीकरणमाह किरीटिनमिति । किरीटिनं किरीटयुक्तं गदिनं गदावन्तं तथा चक्रहस्तं चक्रधारिणं त्वामहं तथैव द्रष्टुमिच्छामि । अतो हे विश्वमूर्ते ? हे सहस्रबाहो ? वर्तमानकालिकरूपविशिष्टस्य सम्बोधने एते । तेनैव पूर्वपरिचितेन चतुर्भुजेन रूपेण भव वासुदेवरूपेण तथैव पूर्वदृष्टवत् स्वरूपं प्रकटयेत्यर्थः ॥४६॥

लिये अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहते हैं "अदृष्टपूर्व मित्यादि दो श्लोकों से । हे देव ! इससे पूर्व कभी भी दृष्ट नहीं ऐसा जो आपका विश्वरूप (विराट् रूप) उस विलक्षण विश्वरूप को देख करके हृषित यानी मैंने हर्ष को प्राप्त किया है क्योंकि ऐसी चमत्कार जनक वस्तु मैंने कभी नहीं देखी थी इसलिये तो आनन्द हुआ । और पहले ऐसा भय जनक वह पदार्थ नहीं देखा था इसलिए भय से मन प्रमथित—भयभीत भी हो गया है । इसलिये हे भगवन् ! उसी रूप को जिसमें आपने विराटरूप का प्रदर्शन कराया है जो कि आपका स्वभाविक प्रधानरूप है उसीका मुझे पुनः दर्शन करावे ऐसी मेरी प्रार्थना है । हे देवगण के भी अधीश हे संपूर्ण जगत् के निवास स्थान ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥४५॥

"तदेवरूपं दर्शय" उसी रूप का मुझे दर्शन करावें ऐसा अर्जुन ने कहा सो कौन वह रूप है जिसकी दर्शनेच्छा अर्जुन को है इस जिज्ञासा के उत्तरस्वरूप रूपका स्पष्टीकरण करते हैं "किरीटिनमित्यादि" हे देव किरीट मुकुटयुक्त तथा गदा से युक्त तथा हाथ में चक्र को धारण किए हुए जो आपका स्वाभाविकरूप है उसी प्रकार से उस सौम्यरूप को मैं पुनः देखना चाहता हूं । इसलिये हे विश्वमूर्ति को धारण करनेवाले हे सहस्रबाहुवाले विश्वमूर्ते तथा सहस्रबाहो ये दोनो संबोधन वर्तमान कालिक हैं ऐसा समझना चाहिये । उस पूर्वपरिचित जो रूप है उसी चतुर्भुज रूप मे आप हों अर्थात् पूर्व दृष्ट वासुदेव स्वरूप को ही पुनः प्रकट करके मुझे बताने की कृपा करें ॥४६॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ? ॥४८॥

एवमर्जुनेन प्रार्थितः श्रीभगवानुवाच मयेति । हे अर्जुन ? माभैषीर्यतः प्रसन्नेन मयाऽत्मयोगात् स्वकीयदिव्यसामर्थ्यादिदं परमुत्कृष्टं रूपं दर्शितम् । रूपे च परत्वं यादृशमासीत्तदपि स्वयमेव कथयति । तेजोमयं तेजसां राशिं विश्वं सर्वविश्वस्याधारभूतमाद्यन्तरहितमप्याद्यं सर्वेषामादिभूतं यद्रूपं मम त्वदन्येन केनापि पूर्वं न दृष्टम् ।४७।

हे कुरुप्रवीर ! एवंरूपो यथा त्वयाधुना दृग्गोचरीकृतोऽहं तथाऽस्मिन् नृलोके जगतीतले त्वदन्येन मद्भक्तेन मय्यात्मनिवेदनभक्तिरहितेन केनापि वेदयज्ञाध्ययनैर्वेदाक्षरराशिग्रहणैर्यज्ञकर्मप्रतिपादकाध्वरमीमांसाद्यध्ययनैर्दानैर्गोभूमिहिरण्यादीनां सुपात्रे त्यागैः क्रियाभिरश्वमेधान्तकर्मभिरुग्रैस्तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिश्च द्रष्टुं न शक्यः । सन्ध्यभावस्त्वार्षः ॥४८॥

पूर्वोक्त प्रकार से अर्जुन के अनुनय विनय से प्रार्थित भगवान् प्रसन्न हो करके बोलते हैं "मया प्रसन्नेनेत्यादि" हे अर्जुन ! तुम डरो मत क्योंकि तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो करके मैंने तुम्हें आत्मयोग से—स्वकीय दिव्य लोकोत्तर सामर्थ्य के सम्बन्ध से यह प्रत्यक्षत उपस्थित अति उत्कृष्टरूप को मैंने बतलाया है। रूप में क्या परमोत्कृष्टता है, जैसी है उस चीज को स्वयमेव भगवान् कहते हैं । वह मेरा रूप कैसा है तेजोमय है अर्थात् तेज का राशि रूप है । विश्वं है अर्थात् संपूर्ण चराचर जगत् का आधारभूत है और स्वयम् आदि अन्त से रहित होने पर भी आदि है अर्थात् सभी का आदि कारण है जिस रूप को आप मे भिन्न किसी व्यक्ति ने पहले नहीं देखा । अर्थात् जिस भगवदीयरूप को आजतक किसी ने नहीं देखा था उस रूप का दर्शन तुम्हारी भक्ति से त्वदधीन हो करके तुम्हें प्रेम से मैंने बतलाया है ॥४७॥

हे भगवन् ! यह जो आपका रूप है वह अदृष्टपूर्व है तथापि मदन्य कोई आपका भक्त ने तो अवश्य कभी दर्शन किया होगा इस आशंका को दूर करने के लिए कहते हैं "न वेदेत्यादि" हे कुरुवंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस विलक्षण मेरे रूप को आपने अपनी आँखों से साक्षात्कार किया है तादृश रूप को इस मनुष्य लोक में आपसे भिन्न मुझ में निवेदितात्म भक्ति सहित भक्तों ने भी नहीं देखा है । अर्थात् जिसे मद्विषयक पराभक्ति नहीं है उसने नहीं देखा है क्योंकि परा भक्ति को ही आत्मनिवेदन भक्ति कहते हैं । उसीसे मेरा साक्षात्कार होता है जिस किसीके विधिवत् गुरुमुख से अधीन अक्षरराशि ग्रहणरूप वेदाध्ययन से अथवा यज्ञकर्म प्रतिपादक अध्वर मीमांसाध्ययन से सुपात्र में हिरण्य गो भूमि

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदम्प्रपश्य ॥४९॥

卐 संजय उवाच 卐

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

प्राङ् मम विश्वरूपदर्शनेन तव व्यथा भयञ्चाभूतां तयोरधुनाऽपगमो भवत्विस्याह मेति । ममेदमीदृग्घोररूप दृष्ट्वा ते व्यथा पीडा तथा चविमूढभावो वैचित्त्वं माऽभूत् इदानीं त्वं व्यपेतभीर्भयरहितः प्रीतमनाः सन्निदं तदेव पूर्वमसकृदनुभूतं मे रूपं पुनर्भूयोऽपि प्रपश्य ॥४९॥

पुनरेतद्वृत्तं धृतराष्ट्रम्प्रति सञ्जय उवाच इतीति । वासुदेवो भगवानर्जुनमिति कथितप्रकारेणोक्त्वा तथा यथार्जुनेन प्रागभ्यस्तं तथा स्वकं रूपं चतुर्भुजं शंखचक्रगदापद्मायुधं किरीटकुंडलवनमालालंकृतं श्रीवत्साङ्ककौस्तुभमण्डितं भूयोदर्शया-

प्रभृति वस्तु के दानसे अश्वमेधान्त कर्मसे कृच्छ्रचान्द्रायणादिक अत्युग्रतपस्यासे भी देखनेके योग्य मेरा यह विलक्षण स्वरूप नहीं है। 'अशक्यः अहम्' इस स्थल में व्याकरणके नियम से गुणसंधि आवश्यक है परन्तु आर्ष प्रयोग होने के कारण सन्धि का अभाव है ऐसा समझना चाहिये ॥४८॥

हे अर्जुन ! मेरा जो विश्वरूप है उसके दर्शन से पहले तुम्हें व्यथा तथा भय भी हुआ परन्तु अभी उनका अभाव हो जायगा इस अभिप्राय से भगवान् कहते हैं "मातेव्यथेत्यादि" हे अर्जुन ! मेरे इस प्रकार के घोररूप को देखकर तुम्हें व्यथा पीडा तथा विमूढभाव चित्त की विकलता न हो अब तो तुम भय रहित होजाओ और प्रसन्न मन हो करके पूर्व में बारंबार देखा हुआ जो मेरा सोम्य सकल जनमोहक स्वभाविक स्वरूप है उसीको तुम पुनः देखो ॥४९॥

प्रक्रान्त जो यह समाचार है वह धृतराष्ट्र के प्रति संजय कहते हैं—"इत्यर्जुनमित्यादि" वासुदेव भगवान् अर्जुन को इति अर्थात् इस प्रकार से यानी पूर्व कथित प्रकार से कह करके जैसा भगवान् सम्बन्धी रूप को बारंबार अर्जुन ने देखा था उसी प्रकार स्वकीयरूप चार हाथ वाला शंख चक्र गदा पद्म आयुध से सुशोभित एवं किरीट मुकुट कुंडल तथा वनमाला तथा (तुलसीपत्र एवं फूल के द्वारा बनाई गई माला को वनमाला कहते हैं अथवा कंठ से ले करके पैर तक लटकने वाली माला को वनमाला कहते हैं अथवा वन नामहै जंगल का उसमें होनेवाला जो चंपकादि पुष्प उन पुष्पों से बनी हुई जो माला उसे वनमाला कहते हैं अथवा वन नाम है जल का उस जल में उत्पन्न जो कमलपुष्प उस कमलफूल से बनी माला

卐 अर्जुन उवाच 卐

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।५२।

मास पुनश्च सौम्यवपुर्भूत्वाऽसौ महात्मा दिव्यगुणगणार्णवो भीतमेनमर्जुनमतिवात्सल्येनाश्वासयामास ॥५०॥

सौम्यरूपं दृष्ट्वा स्वस्थोऽर्जुन उवाच दृष्ट्वेति । हे जनार्दन ! समस्तसुषमानिधानं सर्वजनमनोहरं दर्शनीयसर्वावयवपूर्णं तव मनुष्यावयवाकृतिवदतिरमणीयमिदमप्राकृतं मानुषं सौम्यं रूपं दृष्ट्वेदानीं सचेताः संवृत्तः परां निर्वृत्तिमापन्नः प्रकृतिं गतश्चास्मि५१

मम सर्वेशितुरिदं सर्वजगदाश्रयभूतं रूपं यत्त्वं दृष्टवानसि तद्रूपं सुदुर्दर्शं सुतरां दुःखेनान्येन द्रष्टुमशक्यम् । को लाभस्तर्ह्यस्य दर्शनेनेत्यत आह—अस्य रूपस्य देवा अपि नित्यं सर्वदा दर्शनमाकांक्षन्ते दर्शनाकांक्षावन्तः सन्ति न तु द्रष्टुं शक्नुवन्ति।५२।

का नाम है वनमाला) से अलंकृत एवं श्रीवत्स कौस्तुभ मण्डित जो रूप उस विलक्षण मनोरमरूप का पुनरपि दर्शन कराया पुनः अतिशयेन सौम्यशरीरक हो करके दिव्यानेक कल्याणगुण के समुद्र उस महात्माने भयभीत इस अर्जुन को अतिवत्सलतापूर्वक आश्वासित किया ॥५०॥

आश्वासन के अनन्तर भगवान् का सौम्यरूप देख करके स्वस्थ अर्जुन बोलते हैं "दृष्ट्वेदमित्यादि" हे जनार्दन समस्त सुन्दरता के निधान सभी मनुष्य जीवमात्र के लिये मनोहर अति कमनीय सभी हस्तपादादि से परिपूर्ण मनुष्य के अवयव आकार से युक्त अत्यन्त रमणीय प्रतिक्षण में नवीनता का संपादक अप्राकृत लोकोत्तर मनुष्य सम्बन्धी आप सर्वेश्वर के रूप को देख करके अब मैं सचित्त हो गया हूं अर्थात् विलक्षण आनन्द का अनुभव कर रहा हूं तथा प्रकृति अपने स्वरूप में व्यवस्थित हो गया हूं ॥५१॥

जिस विश्वरूप का दर्शन भगवान् ने अर्जुन को कराया जिस रूप के दर्शन से डर करके पुनः सौम्य दर्शन की इच्छा प्रकट की उस विश्वरूप का दर्शन सकल साधारण अशक्य है इस बात को बतलाने के लिए भगवान् अर्जुन से कहते हैं—सुदुर्दर्शमित्यादि" मुझ सर्वेश्वर सर्वजगत् के आश्रय निखिल ब्रह्माण्डनायक के जिस लोकोत्तर रूप को भाग्य वश आपने देखा है वह रूप सुदुर्दर्शरूप है यानी पराभक्ति रहित व्यक्ति से देखने के योग्य नहीं है । जब वह आपका रूप ऐसा है तो उससे क्या लाभ है उसके उत्तर में कहते हैं "अप्यस्येत्यादि" हे अर्जुन ! आपने जिस विलक्षण मेरे विश्वरूप को देखा है उस रूपको देखने के

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।५३।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन !।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ? ॥५४॥

यथा येन प्रकारेण मां मत्स्वरूपं त्वं दृष्टवान् साक्षात्कृतवानसि। एवं विधोऽहं वेदैर्वेदाध्ययनादिभिस्तपसोपवासादिना दानेन गोभूमिहिरण्यदानादिनेज्यया यज्ञहोमादिलक्षणेन द्रष्टुं न शक्यः। उत्तरश्लोकार्थान्वयितयाऽस्यश्लोकार्थस्य केवलैर्वेदाध्ययनतपोदानयज्ञैर्द्रष्टुमशक्य इत्यर्थो निष्पद्यत इति फलितम् ॥५३॥

यथा शक्यस्तथोच्यते भक्त्येति। हे अर्जुन ! हे परन्तप ! एवं विधो यथाविधस्त्वयेदानीं साक्षात्कृतस्तथाविधोऽहमनन्यया मदेकचिन्तनरूपया भक्त्यैतत्साक्षात्साधनसहकृतैर्वेदाध्ययनादिभिरपीत्यपि बोध्यम्। अनन्यभक्त्यपेतानां तेषामसाधनत्वमिति भावः। तत्त्वेन परमार्थतो ज्ञातुं द्रष्टुञ्च शक्यस्तत्त्वेन प्रवेष्टुं स्वरूपसाक्षात्कारानन्तरं यथासुखमनुभवितुञ्चशक्यः ॥५४॥

लिये देवतालोग भी सर्वदा दर्शन करने के अभिलाषा वाले होते हैं परन्तु देख नहीं सकते हैं। वह एतादृश विलक्षण रूप है जिसके लिए देवता लोग भी सदा लालायित रहते हैं ॥५२॥

स्वकीय दर्शन की अशक्यता का उपपादन करते हैं "नाहमित्यादि" हे अर्जुन ! जिस प्रकार मुझे अर्थात् मदीय विराट् स्वरूप को आपने देखा है साक्षात्कार किया है एतादृश स्वरूपवाला मैं वेदाध्ययन प्रभृति से यानी विधिवत् गुरुमुख से अक्षरराशि ग्रहण लक्षण वेदाध्ययन के द्वारा तथा दानसुपात्र देशकाल में जो भू हिरण्य त्यागात्मक दान से तथा इज्या यज्ञ अश्वमेधादि लक्षण याग से स्मार्त संस्कृत आहवनीयादि अग्नि में देवता को उद्देश्य करके चरुपुरोडाशादि द्रव्य त्याग लक्षण होम से देखने में शक्य नहीं हूं। इस श्लोक का उत्तर श्लोक के साथ सम्बन्ध होने से इस श्लोक का केवल यज्ञ दान वेदाध्ययन उग्र तपस्या से देखने में मैं अशक्य हूं यह अर्थ निष्पन्न होता है ॥५३॥

हे भगवन् ! यदि आप यज्ञ दानादि साधन के द्वारा देखने के योग्य नहीं हैं तब आपके दर्शन का क्या उपाय है क्योंकि कारण के बिना तो कार्य हो नहीं सकता है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "भक्त्येत्यादि" हे अर्जुन हे परंतप ! एतादृश अर्थात् यादृश स्वरूप यानी विराट् लक्षण स्वरूप का आपने अभी प्रदर्शन किया है तादृश स्वरूप विशिष्ट मैं अनन्याभक्ति से अर्थात् मदेकाचिन्तन लक्षण जो परा भक्ति है वह मेरे दर्शनका साक्षात साधन है उसके द्वारा तथा परम्परया यज्ञवेदाध्ययनादिलक्षण भक्ति के साक्षात् साधन से भी मदीय स्वरूप लब्ध होता है। अनन्या भक्ति से युक्त यज्ञदानादि कारण में भी मेरे साक्षात्कार

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यस्स मामेति पाण्डव ? ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

एवं भक्तियोगादेव स्वप्राप्तिं द्रढयति मत्कर्मकृदिति । हे पाण्डव ? यः पुरुषो मत्कर्मकृत् सर्वेषां कर्मणां मत्प्रसत्तिरूपं फलं मन्वानः कर्म करोतीति मत्कर्मकृत् । मत्परमोऽहमेव परं मप्राप्यतयोद्देश्यो यस्य स मद्भक्तः श्रवणकीर्तनादिरूपमद्भक्तियुक्तः सङ्गवर्जितो मद्भक्तिविरोधिसङ्गरहितः सर्वभूतेषु निर्वैरो भगवदायत्तेषु सर्वभूतेषु द्वेषरहितः स मदनन्यभक्तो मां सर्वभूताश्रयं सर्वनियन्तारं परमात्मानमवैति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्य एकादशोऽध्यायः ॥११॥

की कारणता है अनन्य भक्ति रहित क्रियाकलाप में नहीं। अनन्य भक्तिनिष्ठ व्यक्ति के द्वारा ही तत्त्व से यानी परमार्थरूप से जानने में देखने में शक्य हूं तथैव तत्त्व से प्रवेश करने में यानी स्वरूप साक्षात्कार करने के अनन्तर यथासुख अनुभव करने में भी शक्य हूं ॥५४॥

पूर्वोक्त प्रकार से भगवान् में जो अनन्याभक्ति है उसका स्वरूप एवं तादृश भक्ति का सामर्थ्य बतला करके अनन्या भक्ति के सहायक तदंगभूत कारणान्तर को भी स्वरूप साक्षात्कार में आवश्यकता है इस बात को कहते हुए सपरिकर भक्ति योग से भगवान् का दिव्य साक्षात्कार होता है इस बात को बतलाने के लिए तथा त्याग वैराग्यादि के कथन के साथ भक्ति योग से ही भगवत्प्राप्ति होती है इस शास्त्रीय तथ्य को बतलाने के लिये कहते हैं "मत्कर्मकृदिति" हे पाण्डव पाण्डु पुत्र ! जो साधक विशेष संसारासारता को कारणोपपत्ति से जान करके मत्कर्मकृत् है अर्थात् जो कोई वेदविहित कर्म है उसका फल परमेश्वर की प्रसन्नता है ऐसा जानता हुआ अग्निहोत्रादि कर्म का तथा नियम यथाकाल में संपादन करता है । तथा मत् परम है अर्थात् सर्वेश्वर सर्वनियन्ता परमेश्वर ही परम प्राप्यरूप से उद्देश्य है जिसका ऐसा जो मेरा भक्त है अर्थात् जो साधक श्रवण भजनादि लक्षण भक्ति सम्पन्न है तथा संगवर्जित भगवद्भजन में प्रतिबन्धकरूप जो सम्बन्ध उससे रहित तथा निर्वैर यानि भगवान् के अधीन में जो सर्वप्राणी हैं उनमें द्वेश रहित हो ऐसा जो मेरा अनन्यभक्त वह सर्वभूतों के आश्रय तथा सर्वनियन्ता परमात्मा के रूप में मुझे जानता है वही भक्त सर्वभूताश्रय सर्वेश्वर परमात्मा को प्राप्त करके सर्वसंसार क्लेशों से रहित होकर मत्सायुज्य को प्राप्त करता है ॥५५॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश्वर

स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीते गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे एकादशोऽध्यायः

卐 श्रीराम शरणं मम 卐

आनन्दभाष्यकार श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

卐 अथ द्वादशोऽध्यायः प्रारभ्यते 卐

卐 अर्जुन उवाच 卐

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

मध्यमषट्केनोपास्योपासनादिवर्णनपुरःसरं भक्तियोगः प्रतिपाद्यतया प्रस्तुतः स च भगवत्स्वरूपगुणविभूतिज्ञानमन्तरेण न सद्योऽधिकारिणो हृदयंगमः स्यादिति त्यादशमं तत्सर्वमुपपाद्यैकादशे स्वासाधारणं देवतिर्यङ्मनुष्यादिदुर्विभाव्यं स्वस्वरूपमप्यदर्शयत्परमेश्वरः श्रीकृष्णः। एवं भक्तियोगोपकारकं सर्वमप्यङ्गजातं विवेकेन सम्पादितमितः परं परब्रह्मश्रीरामप्राप्तिप्रधानोपायो भक्तियोग एव विशिष्यावशिष्यते जिज्ञासितुं प्रतिपादयितुञ्चेति तमेव जिज्ञासुरर्जुन उवाच—एवमिति। एवं मत्कर्मकृन्म-

मध्यमषट्क से अर्थात् सप्तमाध्याय से लेकर एतावत् प्रकरणपर्यन्त प्रकरण से उपास्य जो परमपुरुष तथा उस परम पुरुष सर्वेश्वर की जो उपासना है इन दोनों वस्तुओं के स्वरूप का वर्णन पूर्वक प्रतिपाद्यरूप से भक्तियोग का प्रस्ताव किया गया है वह जो भक्तियोग है वह भगवान् का जो स्वरूप है वह तथा भगवान् का अलौकिकगुण एवं विलक्षण विभूतियां हैं उनके यथावत् ज्ञान के बिना अधिकारी पुरुष के हृदयगत नहीं हो सकता है अर्थात् उपासना उपास्यउपासक तथा उपासनात्मक क्रिया लक्षण त्रितय साध्य होता है उसमें जबतक विशेषण विशिष्ट उपास्य परमपुरुष का ज्ञान नहीं रहेगा तब तक उपासना यथावत् नहीं होगी इसलिए दशमाध्यायान्त प्रकरण में उन सभी वस्तुओ का जो किउपासना में अवश्यापेक्ष है उन सभी का यथावत् उपपादन करके एकादशवें अध्याय में देव मनुष्य तिर्यगादि जीवों से दुर्विभाव्य यानी देखने के लिये अक्षय प्राय जो स्वकीय असाधारण अनन्त कल्याणगुण विशिष्ट स्वकीय स्वरूप है उसको भगवान् श्रीकृष्ण ने बतला दिया। इस प्रकार से भक्ति योग में सहकारक (उपयोगी) सकल अंग समुदाय का परस्पर पृथक् पृथक् रूप से प्रतिपादन किया इसके बाद समस्त सांसारिक क्लेश के निवृत्ति पूर्वक निरतिशयानन्दलक्षण जो ब्रह्म प्राप्ति लक्षण कार्य है उसमें सर्वप्रधान जो भक्तियोगरूप साधन है वही विशेष करके जिज्ञासित तथा प्रतिपादनीयरूप से अवशिष्ट रहता है अतः तादृश प्रधान भक्ति योग के विषयमें जिज्ञासु अर्जुन बोलते हैं—"एवमित्यादि" हे भगवन्! जो साधक प्राप्य स्वरूप परमेश्वर के प्राप्ति के लिए कर्म करनेवाला है भगवान् ही परम प्राप्य हैं एतादृस भवदुक्त प्रकार से भगवद् भजन में

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

त्परम इति त्वदुक्तप्रकारेण संगवर्जिताः सततयुक्ताः सातत्येन भवद्योगं कांक्षमाणा ये भक्ता भक्तिमन्तस्त्वां सर्वेश्वरं देवदेवं पर्युपासते ये चाव्यक्तमक्षरमात्मस्वरूपमेवोपासते सर्वदानुसन्दधते तेषां मध्ये योगवित्तमाः स्वसाधनफलं के शैघ्र्येण प्राप्नुवन्तीति प्रश्नार्थः ॥१॥

एवं परब्रह्माक्षरपदवाच्याव्यक्तात्मनोरुपासकयोर्मध्ये भवन्मते कः श्रेष्ठ इत्यर्जुनजिज्ञासायां स्वमतमाविष्कर्तुं श्रीभगवानुवाच—मयीति । ये भक्ताः सर्वेश्वरे नित्यानवद्यदिव्यकल्याणगुणगणार्णवे भक्तवत्सले मयि स्वकीयं मन इदमेव तत्त्वमानन्दनिधानं नान्यदिति प्रेमपरीवाहपूर्णं सवृत्तिकं चेत आवेश्य संस्थाप्य नित्ययुक्ताः—सततं मदनुध्यायिनः मद्योगमीहमानाः परया शुद्धसत्त्वोद्रिक्तया श्रद्धया सम्पन्नाः सन्तो मां जगदेककारणं सर्वदेवाराध्यमुपासते श्रद्धार्द्रचेतसा मद्भजनमेव विदधते ते मे मम युक्ततमा मता अभिप्रेता इत्यर्थः ॥२॥

अन्तरायलक्षण सभी अंग से रहित हो करके सतत युक्त अर्थात् अनवरत भवदीय योग की ही आकांक्षा रखनेवाले जो भक्तिमान् साधक विशेष हैं जो कि देवाधिदेव सर्वेश्वर आपकी उपासना में लगे हुए हैं अर्थात् आपकी उपासना करते हैं और जो साधक विशेष अक्षर आत्मस्वरूप की उपासना यानी सतत आपका अनुसंधान करते हैं इन दोनों साधकों में से कौन साधक योग वित्तम हैं अर्थात् इन दोनों में से किसको शीघ्रता से फल प्राप्ति होती है, यह प्रश्न का अभिप्राय है ॥१॥

इस प्रकार परमब्रह्म तथा अक्षरपद वाच्य अव्यक्तात्मा के जो उपासक हैं इन दोनों के बीच में आपके मत से कौन श्रेष्ठ है इस प्रकार की जो अर्जुन की जिज्ञासा है उसमें स्वकीय मत को बतलाने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं "मय्यावेश्येत्यादि" हे अर्जुन ! जो साधक सर्वेश्वर परमेश्वर नित्य अनवद्यिक दिव्य अनेक कल्याण गुणगण महार्णव स्वरूप भक्तवत्सल मुझ परमात्मामें अपने मनको यही पर तत्व है जो कि परमानन्द के निधान के समान निधान हैं इस परमेश्वर से भिन्न कोई भी वस्तु मुझ से उपादेय नहीं है इस प्रकार प्रेम प्रवाह से परिपूर्ण सवृत्तिक चित्त मन को आवेशित यानी संस्थापित करके नित्ययुक्त अर्थात् सतत मेरा अनुध्यान करता हुआ अर्थात् मुझ परमेश्वर के योग को ही चाहनेवाला परम शुद्र



ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

अक्षरात्मोपासकानामपकर्ष इति स्वमतं प्रकटयन्ति-य इति त्रिभिः । तुना प्रथमोक्तपक्षादस्याऽनुत्कृष्टत्वं द्योत्यते । ये त्वक्षरं प्रकृतिवियुक्तक्षेत्रज्ञस्वरूपमनिर्देश्यं देवमनुष्यादिशरीरेभ्यः पृथक् वर्तमानतया तत्तच्छरीरैर्निर्देशानर्हत्वेनानिर्देश्यमव्यक्तमिन्द्रियैरग्राह्यं सर्वत्रगं देवमनुष्यादिशरीरेष्ववस्थितमप्यचिन्त्यञ्च तत्तच्छरीरवैलक्षण्येन चिन्तयितुमशक्यं तथा कूटस्थं देवाद्याकारेष्वपरिणितं स्वासाधारणाकारेणैव सर्वदा स्थितमिति यावत् । अचलं स्वरूपस्वभावचौपल्यरहितं ध्रुवं सर्वदैकरसं नित्यमिन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकरणसमूहं सम्यग्वशीकृत्य सर्वत्र देवमनुष्यादिशरीरावस्थितेष्वात्मसु

सत्व गुण के उद्रेक आधिक्य से बनती हुई श्रद्धा से संपन्न होता हुआ जगदेक कारण सभी देवों से आराध्यमान मुझ परमेश्वर की उपासना करता है यानी श्रद्धा से आर्द्रचित्त हो करके अनुक्षण मेरा ही भजन श्रवण कीर्तनादिक करता है एतादृश उपासक युक्तम है यानी ऐसा उपासक मेरा सर्वेश्वर सर्वनियन्ता का अभिमत है । अर्थात् मै उपरोक्त साधक को युक्ततम कहता हूं ॥२॥

जो साधक भगवद्भक्तियोगनिष्ठ है और जो अक्षरात्मा का उपासक है उन में से जो भक्त साधक है वह श्रेष्ठ है उन्हे झटिति फल की सिद्धि होती है और अक्षरात्मा के जो उपासक हैं वे पूर्वसाधकापेक्षया कनिष्ठ हैं एतादृश स्वकीय मत को अभिव्यक्त करने के लिये कहते हैं "येत्वक्षरमित्यादि तीन श्लोकों से । श्लोक में 'ये तु" यहाँ जो तु शब्द है वह प्रथम पक्ष की अपेक्षा इस द्वितीय पक्ष की अनुत्कृष्टता हीनता का सूचक है । जो साधक अक्षर को प्रकृति सम्बन्ध से रहित क्षेत्रज्ञ स्वरूप को तथा अनिर्देश्य देव मनुष्यादि शरीर से पृथक् रूपेण वर्तमान होने से तत्तत् शरीर सेअर्थात् देव मनुष्यादि वाचक शब्द से भी अनिर्देश्य निर्देश करने के अयोग्य तथा अव्यक्त अर्थात् चक्षुरादि बहिरिन्द्रिय से ग्रहण होने में अयोग्य (रूप शब्द स्पर्शादि के न रहने से इन्द्रियाग्राह्य) तथा सर्वत्रग देव मनुष्यादि सभी शरीर में अवस्थित वर्तमान तथा अचिन्त्य तत्तत् देवादिशरीर से विलक्षण होने से तत्तत् शरीररूप से चिन्तित नहीं होने के योग्य, कूटस्थ अर्थात् देवमनुष्याद्याकार से अपरिणत स्वकीय असाधारण आकार से ही सर्वदा व्यवस्थित सर्वथा परिणाम रहित तथा अचल स्वरूप तथा स्वभाव

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

ज्ञानाकारतयैकरूपत्वबुद्धिमाश्रिता अतएव सर्वभूतहिते रताः सर्वत्र समबुद्धित्वात्सर्वेषामपि भूतानां हितमेव विदधते । रागद्वेषौ हि विषमबुद्धिनिबन्धनौ भवतः । सा च देवमनुष्यादिदेहेषु देहाभिमाननिमित्तैवेति प्रत्यक्षं नः सर्वेषाम् । तत्रानुरक्तेषु रागाधिक्याद्धितसाधनरतिर्द्विष्टेषुद्वेषाधिक्यादहितसाधनमतिर्भवतः । मतिवैषम्यजनितानुरक्तिविरक्ती मदनन्यभक्तानां नैव सम्भवति । पर्युपासते । ते तथाविधा अक्षरब्रह्मोपासका अपि मां प्राकृतभावविनिर्मुक्तस्वभावतया मदाकारमुपेतमव्यक्तपदवाच्यं प्रत्यगात्मानं प्राप्नुवन्ति । एवकारोप्यर्थकः । इयञ्चाक्षरब्रह्मप्राप्तिः पुरुषोत्तमप्राप्तेरपकृष्टैव स्थितिरिति भावः । एवञ्चाव्यक्तासक्तचेतसां तेषां क्लेशोऽधिकतरः ।

की विषमता से सर्वदा रहित तथा ध्रुवसर्व समय में एक रस एक रूप से ही रहने वाला नित्य सर्वदा इन्द्रिय ग्राम चक्षुरादि करण समुदाय को समीचीन रूप से वशीकृत करके सर्वत्र देव मनुष्य तिर्यगादि शरीरावस्थित आत्मा में ज्ञानाकार से एक रूपता विषयक बुद्धि को आश्रित करके व्यवस्थित अतएव सभी प्राणी का कल्याण करनेके लिए तत्पर क्योंकि समबुद्धिवाले होने से सभी भूत प्राणियों का हित कार्य को ही करते हैं ननु किसी के भी अकल्याण करने वाले हैं जिस लिये कि विषमता बुद्धि का कारण रागद्वेष ही है । रागद्वेष के रहने से विषमता होती है किन्तु यह विषमता जो होती है वह देव मनुष्यादि शरीर में देहाभिमानमूलक ही है और समबुद्धिवालेका देहाभिमान निवृत्त हो गया है यह अपने सभी को प्रत्यक्ष है । उसमें भी जो अनुरक्तविषयक है उसमें उनुराग की अधिकता होनेसे उसमें हित साधन ज्ञान होता है और द्विष्ट सर्पादिक पदार्थ में द्वेष की अधिकता विषयक ज्ञान होता है तो मात्र ज्ञान की विषमता के कारण ही अनुराग विराग होता है परन्तु एतादृश ज्ञान विषमता से जायमान अनुराग वा विराग मुझसर्वेश्वर के जो अनन्यभक्त हैं उन्हें नहीं होता है । पर्युपासते —तादृश अक्षर ब्रह्म की उपासना करने वाले साधक भी मुझे ही प्राकृतभाव से विनिर्मुक्त स्वभाव होने से मेरे आकार को प्राप्त अव्यक्तपद से वाच्य जो प्रत्यगात्मा उसे प्राप्त करते हैं । मामेव में जो एव शब्द है वह अपि शब्द के अर्थ में है । यह जो अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति तदुपासक को होती है वह पुरुषोत्तम सर्वेश्वर की प्राप्ति की अपेक्षा अपकृष्ट हीन स्थितिक ही है ऐसा यहाँ भाव है । इस स्थिति में अव्यक्त में आसक्तचित्तवाले उपासक को अधिक क्लेश है क्योंकि अव्यक्त अक्षरोपासना भगवत् प्राप्ति में साक्षात् कारण नहीं है परमपुरुष

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ ? मय्यावेशित चेतसाम् ।७॥

मत्प्राप्तेस्तस्य साक्षात्साधनत्वाभावात् । स्वचेतसः साक्षान्मय्यनर्पितत्वादक्षरप्राप्त्यनन्तरमपि साक्षात्तत्प्राप्तौ प्रयत्नान्तराश्रयणमवशिष्यत एवेत्यर्थः। अव्यक्ता हि गतिरिन्द्रियमनोबुद्धीस्तदतिरिक्तविषयेषु विरतिः । सा च देहवद्भिर्दुःखेन प्राप्यते । तच्चदेहात्माभिमानवैयग्र्यान्न तत्र स्थैर्यं क्षणमपि भजत इत्यर्थः ॥३॥४॥५॥

ये तु मदेकशरणाः सर्वाणि वैदिकलौकिकानि कर्माणि मयि सर्वात्मभूते सन्न्यस्य परमपुरुषशेषभूतोऽहं न प्राधान्येन किमपि कर्मानुतिष्ठामि, अपि तु स एव सर्वशेषी मन्नियामकः स्वातन्त्र्येण स्वयमेवाऽखिलानि कर्माणि विधत्त इति मत्पारतन्त्र्यधिया मदेककर्तृतामनुसन्धाय मत्परा मामेव परमोपेयं स्वीकुर्वन्तः सन्तोनन्येनैव मदेकध्या-

प्राप्ति में तो अनन्याभक्ति मात्र की ही कारणता है वही गीताचार्य से संमत है । इसी बात का भाष्यकार स्पष्टीकरण करते हैं "स्वचेतस" इत्यादि संदर्भ से । अक्षर ब्रह्मोपासक का चित्त साक्षात् मुझ परमेश्वर में समर्पित नहीं होने से अक्षर प्राप्ति के बाद भी साक्षात् पुरुषोत्तमप्राप्ति में प्रयत्नान्तर का आश्रयण करना तो बाकी रहता ही है । देह इन्द्रिय की अव्यक्त गति क्या है तो देहाद्यतिरिक्त विषय में विरति है उस गति को देहवान् व्यक्ति दुःख से प्राप्त करते हैं । तत्तत् जो देहाभिमान से व्यग्रता के कारण उसमें क्षणभर भी स्थिरता को प्राप्त नहीं कर सकते हैं अतः यह मार्ग—साधना पूर्वापेक्षया कष्टकारक है ॥३॥४॥५॥

यहाँ जो तु शब्द है वह प्रकृत जो अक्षर ब्रह्मोपासना से व्यतिरिक्त परमपुरुष का भक्तिपक्ष है उसका समर्थक अक्षरोपासनापक्ष का व्यावर्तक है । जो मेरे अनन्यभक्त हैं वे सभी जो लौकिक आहारविहारादि कर्म हैं तथा अग्निहोत्रादिक वेदविहित कर्म हैं तथा वर्णाश्रमोचित सफल वा निष्फल कर्म हैं उन सभी कर्मों को शास्त्र दृष्टि को ले करके सभी प्राणी के आत्मस्वरूप मुझ परमेश्वर में संन्यस्य समर्पण करके अर्थात् मैं तो परमपुरुष परमात्मा का शेष अंश मात्र हूं, मैं स्वतन्त्र नहीं हूं इस लिये प्रधानपुरुष से मैं किसी भी कर्म का अनुष्ठान नहीं करता हूं किन्तु सर्वव्यापी का शेषी अंगीभूत परमात्मा जो मेरे नियामक हैं वे ही स्वतन्त्रतारूप से स्वयमेव इतरानपेक्ष हो करके कर्ममात्र का अनुष्ठान करते हैं वे तो उन

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।८।

नभजनादिरूपप्रयोजनेन योगेन मामेव ध्यायन्त उपासते। हे पार्थ ! तेषां मय्यावेशितचेतसां सर्वात्मके मयि निवेशितान्तःकरणानां मदनन्यभक्तानामिति यावत्। अहं सर्वेश्वरो मृत्युसंसारसागरादचिरेणैवकालेन समुद्धर्त्ता भवामि ।।६।।७।।

एवं स्थिते सर्वोपायेभ्योऽस्योपायस्य श्रेष्ठ्यात् क्षिप्रफलपर्यवसायित्वान्मत्सम्मतत्वादनुष्ठानसौकार्याच्च मय्येवमन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय मदुक्तोपायैर्मनो मयि संस्थाप्य सर्वसमाश्रयणाय मय्येवाध्यवसायं विधेहि। अत ऊर्ध्वं निश्चयपुरस्सरं मयि मनःसमाधानानन्तरं मय्येव सर्वसमाश्रयणीये निवत्स्यसि, अक्षय्यं मोक्षसुखमिव सुखं जीवन्नपि भुञ्जानः शाश्वतं स्थास्यसि नात्र संशयलेशोऽपि ।।८।।

दास हूं, उनकी आज्ञा मात्र का परिपालन करनेवाला हूं मुझे स्वकर्मानुसार अच्छे अथवा बुरे जिस कर्म में "उर प्रेरक रघुवंशविभूषण" इस सिद्धान्तानुसार सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी प्रेरणा करते हैं उस प्रकार अपनी ड्यूटी का पालन करता हूं "इस प्रकार मदीय पारतन्त्र बुद्धि से मदीय कर्तृता का अनुसन्धान करके मत्पर यानी मैं परमात्मा ही हूं परम उपेय प्राप्य जिनको ऐसा माननेवाले अनन्ययोग से अर्थात् मेरा ध्यान भजनादि प्रयोजन लक्षणयोग से मेरा ही ध्यान करते हुए मुझ सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा की उपासना करते हैं। हे पार्थ ! मुझ सर्वात्मक परमात्मा में आवेशित निवेशित है अन्तःकरण मन जिनका अर्थात् मेरे जो अनन्य भक्त हैं उनका मैं सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी परमात्मा मृत्युजन्म जरारोगादि को देनेवाला जो संसार-सागर है उस संसार सागर से बहुत जल्दी उद्धार करनेवाला होता हूं पुनः तादृशभक्त को संसार-गति नहीं होती है ।।६।।७।।

यथोक्त प्रकार से सकल साधारण भक्तों के लिये कथित जो भक्तियोगरूप साधन उस साधन के फल को संसार से झटिति विमोक्षण लक्षण फल का कथन करके अर्जुन के लिये भी यही साधन साधनीय है इस बात को कहने के लिये कहते हैं "मय्येवेत्यादि" हे अर्जुन ! यह जो भक्तियोग नामका साधन है वह सभी उपाय (साधन) से श्रेष्ठ है तथा झटिति श्रीरामपद प्राप्ति लक्षण फल को देनेवाला है एवं मुझ सर्वेश्वर का संमत है और यह साधन अनुष्ठान संपादन प्रक्रिया भी अति सरल है इसलिये तुम भी मुझ सर्वेश्वर में ही अपने मन को लगाओ तथा मुझ परमेश्वर में ही अपनी बुद्धि का निवेशन करो मुझ परमेश्वर से कथित जो उपाय है उस उपाय के द्वारा मन को मुझ में संस्थापित करके सर्वप्राणियों से आश्रयणीय मुझ में ही अध्यवसाय निश्चयात्मक बुद्धि करो। इसके आगे निश्चयपूर्वक मुझ परमेश्वर में मन का समाधान करने

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ? ।९।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।१०।

प्रोक्तोपायेऽर्जुनस्य दुष्करत्वमनुमाय सुकरोपायमुपदिशति—अथेति । हे धनञ्जय ! अथ यदि मयि दोषप्रतिभटेऽनन्तकल्याणगुणसागरे सर्वेश्वरे चित्तं चेतः स्थिरं यथा स्यात् तथा समाधातुं समाहितंकर्तुं न शक्नोषि शक्तो न भवसि चेत् ततोऽभ्यासयोगेनानवच्छिन्नेन प्रेमपूर्वकस्मरणेन मामाप्तुमवाप्तुमिच्छ ॥९॥

सुकरोपायप्रदर्शनप्रकरणे प्रोक्ताभ्यासादपि सुकरमुपायान्तरमाह—अभ्यास इति अनुपदमभिहिते स्मरणाभ्यासेऽप्यसमर्थश्चेदसि तर्हि मत्कर्मपरमो भव । उद्रिक्तसत्त्वगुणेनानुष्ठीयमानानि मदर्चनवन्दनैकादश्युपवासादीनि मत्प्रीतिजनकानि कर्माणि

के बाद सभी प्राणियों से समाश्रयणीय मुझ परमेश्वर में ही निवास करोगे तथा क्षय नहीं होनेवाला मोक्ष सुख के समान सुख को इसीजीवन में भोग करते हुए अनवरत स्थिर होगे इसमें थोडा भी संदेह नहीं है ॥८॥

भगवान् में मन लगा है जिसका ऐसा जो भगवद्भक्त उस भक्त की जो उपासना है वह साक्षात् फल जनता यानी उत्पन्न करता है परन्तु प्राकृत वासना मे जिसका मन अनुरक्त है तादृश पुरुष का मन भगवान् के तरफ नहीं जा सकता है तब तादृश उपासना असंभवित है इस प्रकार अर्जुन के भाव को समझकर कृपानिधान भगवान् अर्जुन को पूर्व उपायापेक्षया सरल उपाय बतलाने के लिए कहते हैं "अथचित्तमित्यादि" हे धनञ्जय ! (यदि तुम सर्वेश्वर में अनन्यमनस्कता रूप साधन को दुष्कर समझते हो तो उससे सरल उपाय का अनुसरण करो) यदि तुम मुझ दोष के विरोधी अनन्त कल्याण गुण के सागरोपम मुझ सर्वेश्वर में चित्त मन को स्थिर रूप से जिस प्रकार से रह सके उस प्रकार यदि समाहित नहीं कर सकते हो तो अभ्यास योग यानी तैल धारावत् अनवच्छिन्न निरन्तर प्रेम पूर्वक स्मरण से मुझ सर्वेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा करो ॥९॥

सरल उपाय के प्रकरण अभ्यासात्मक उपाय कथन किया गया है उस अभ्यास के अपेक्षा से भी सरल उपायान्तर कहते हैं—"अभ्यासे"त्यादि । भगवान् का अनन्य भाव से स्मरण करना तथा अभ्यास ये दोनों भगवत् प्राप्ति में उपाय है यह अभी ऊपर के प्रकरण में कहा गया है । हे अर्जुन ! यदि तुम इन दोनों उपायों में भी असमर्थ हो अर्थात् स्मरण तथा अभ्यास में भी तुम्हें दुष्करत्व प्रतीत होता हो तब मेरे लिये कार्य परक

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

निरतिशयप्रेम्णा परिपालय । मत्कृतेऽपिकर्माणि मत्सम्बन्धीनि कुर्वन् स्वल्पेनैव कालेनाभ्यासवसान्मयि मनःस्थैर्ये मत्प्राप्तिलक्षणां सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

इतोऽपि सुकरोपायमाह—अथेति । निरतिशयं मत्प्रियं भक्तियोगमाश्रित्य भक्तियोगे जाताभिरूचिस्तदनुष्ठातुकाम इतियावत् । एतन्मत्सम्बन्धिकर्माणि कर्तुं नशक्नोषि चेत्ततो यतात्मवान् क्रियायोग एव निश्चलमानसः सन् सर्वकर्मफलत्यागं कुरु, वर्णाश्रमधर्मोचितानि नित्यनैमित्तिकादीनि कर्माण्यनुतिष्ठतः कस्यचिन्मत्कृपापात्रस्य प्राक्तनपुण्यवशात् मदेकप्राप्यताधीरुदेति । ततश्चानुष्ठीयमानकर्मसु फलाभिरुचिम्परित्यज्य भगवदाज्ञापालनमेव केवलमिति बुद्ध्या कर्म कुर्वतः प्रत्यगात्मनः साक्षात्कारः सम्पद्यते । सचायमक्षरसाक्षात्कारो मयि मे ध्रुवानुस्मृतिमुत्पाद्य तद्द्वारा मत्प्राप्तिमर्पयति । उक्तञ्चैतत् स्वेनैव 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य०' इति ॥११॥

बनो अर्थात् उद्गत जो सत्वगुण उससे अनुष्ठीयमान मेरा पूजन वन्दन श्रीरामनवमी एकादशी प्रभृति तिथि में उप वास प्रभृतिक मुझ सर्वेश्वर की प्रीति जनक कर्म का प्रेमपूर्वक पालन करो । मुझ परमेश्वर परमात्मा के लिए मत्सम्बन्धी कर्म को करने से थोडे ही काल में अभ्यास के बल से मुझ परमात्मा में मन की स्थिरता हो जाने पर भगवत् प्राप्तिलक्षण सिद्धि को प्राप्त कर जाओगे ॥१०॥

भगवत्सम्बन्धी कर्मानुष्ठानापेक्षया भी सुकर अतिसरल उपायान्तर को बतलाने के लिये कहते हैं "अथैतदित्यादि" हे अर्जुन ! निरतिशय मुझ परमेश्वर का जो प्रिय भक्तियोग है उस भक्ति योग का आश्रय करके अर्थात् भक्तियोग में अभिरुचि की उत्पत्ति होने पर भक्तियोग का अनुष्ठान करने के कामनावान्, यह जो भगवत्सम्बन्धी कर्म है तादृश कर्म के करने में भी यदि तुम समर्थ नहीं हो सकते हो तब यतात्मवान् यानि क्रियायोग में ही निश्चल मन हो करके सभी कर्म का जो फल है उसकर्म फलका त्याग करो । वर्णाश्रम के उचित जो कर्म है नित्य नैमित्तिक उसका अनुष्ठान करते हुए किसी किसी भगवत् कृपा प्राप्तपुरुष को पूर्व भवोपार्जित पुण्य कर्म के बल से जीवमात्र के लिये भगवान् ही प्राप्य हैं एतादृश बुद्धि उत्पन्न होती है । उसके बाद अनुष्ठीयमान वर्णाश्रमोचित नित्य नैमित्तिक कर्म में फलेच्छा को छोड करके यह मैं केवल सर्वेश्वर की आज्ञा का ही पालन करता हूं, इत्याकारक बुद्धि से कर्म करने वाले पुरुष को प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार उत्पन्न होता है वह यह अक्षर का साक्षात्कार मुझ परमेश्वर में ध्रुवास्मृति रूप अनन्य भक्ति को उत्पन्न करके तादृशभक्ति द्वारा

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।१२।
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।१३।

हि यतोऽभ्यासान्निरुक्तादभ्यासाज्ज्ञानमात्मसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानं श्रेयो हितकरं भवति। ज्ञानादात्मसाक्षात्कारलक्षणाज्ज्ञानाद् ध्यानमात्मस्वरूपेध्यानं विशिष्यते। ध्यानादात्मस्वरूपविषयकाद् ध्यानात् कर्मफलत्यागो विशिष्यते। त्यागात् कर्मफलत्यागादनन्तरं शान्ती रागद्वेषादीनां निवृत्तिर्भवतीति शेषः ॥१२॥

एवं परभक्त्युत्पादकमक्षरयाथात्म्यज्ञानमधिकारितारतम्यादुपपाद्येदानीं तस्यैवाधिकारिणोनुष्ठेयप्रकारविशेषानभिदधत् स्वरूपं निर्दिशति—अद्वेष्टेति सप्तभिः। सर्वभूतानां मनोवाक्कायैर्द्वेषापकारकर्तृणामद्वेष्टा मत्कर्माधीनं द्वेषमपकारञ्चैते भगवत्संकल्पायत्ता मयि विदधतेऽतो नैते मद्द्वेषविषया इति विजानन् मैत्रः करुण एव च तथाविधेषु भूतेषु मैत्रीं करुणाञ्च कुर्वन् निर्ममो ममतया स्वीकृतेषु ममताशून्यो निरहंकारोदेहा-

भगवत् प्राप्ति लक्षण फल को देता है। इस विषय को भगवान् ने स्वयं भी कहा है "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" इस प्रकरण में ॥११॥

जिसलिये कि पूर्वकथित अभ्यास की अपेक्षा से आत्मसाक्षात्कारात्मक जो ज्ञान है वह उत्कृष्ट है। अधिक हितकारक है और आत्म साक्षात्कार लक्षण जो ज्ञान है तदपेक्षया आत्मस्वरूप विषयक जो ध्यान है अर्थात् आत्मचिन्तन वह विशिष्ट है पूर्वज्ञानापेक्षया अधिक हितकर है और आत्म स्वरूप विषयक जो ध्यान है तदपेक्षया वर्णाश्रमोचित नित्य नैमित्तिक कर्म का जो फल उस फल का त्याग करना वह ध्यानापेक्षया भी अधिक हितकर है और एतादृश कर्मफल त्यागके अनन्तर उत्तरकाल में शान्ति रागद्वेष लक्षण प्रतिबन्धक पदार्थों की निवृत्ति होती है॥१२॥

पूर्वोक्त प्रकार से ध्रुवा स्मृति लक्षण जो परमभक्ति है उस परम भक्ति के उत्पादक अक्षरविषयक यथार्थ ज्ञान के अधिकारी के तारतम्य से उपपादन करके अब उसी अधिकारी के लिये अनुष्ठेय पदार्थ का अनुष्ठान प्रकार विशेष को कहते हुए स्वरूप का निर्देश करते हैं—"अद्वेष्टा" इत्यादि सात श्लोकों से। मन वाणी शरीर के द्वारा द्वेष अपकार करनेवाले सभी भूतों के प्रति अद्वेष्टा हो अर्थात् यह जो मेरा अपकार मन वाणी अथवा शरीर द्वारा किया है वह मेरे कर्माधीन है। ये लोग मुझ अपकारी को भगवान् के संकल्प के अधीन हो करके मेरा अपकार किया है इस लिये मेरे द्वेष के यह योग्य नहीं है। इन्होंने जो मेरा

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।१४।
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।१५।

स्वबुद्धिशून्यः समदुःखसुखः क्षमी । सुखदुःखयोः साम्यात् सहनाशीलः सन्तुष्टो यदृच्छया प्राप्तेन सन्तोषयुक्तः सततं योगी निरन्तरमक्षरचिन्तनात्मकयोगमाश्रितो यतात्मा नियतेन्द्रियमनोव्यापारो दृढनिश्चयो मत्प्राप्त्युपायेषु गुरुशास्त्रोपदिष्टेषु निश्चलचित्तो मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यः कर्मयोगमनुतिष्ठन् मद्भक्तस्साक्षात्परम्परया वा मामाराधयन् वर्तते सः कर्मयोगी मे प्रियः ॥१३॥१४॥

यस्मात् कर्मयोगिनो लोकः कश्चिदेकोऽपि जनो नोद्विजत उद्वेगं नाप्नोति । लोकोद्वेगजनककर्मरहित इति भावः तथा यः स्वयमपि लोकान्नोद्विजते क्षोभं न प्राप्नोति । अन्यलोकनिमित्तकोद्वेगस्पर्शरहित इति भावः । अत एव यो हर्षेण प्रीत्याऽमर्षेणासहिष्णुतया भयेन त्रासेनोद्वेगेन क्षोभेण च मुक्तः स च भक्तो मे प्रियः ॥१५॥

अपकार किया वह यह भी तो भगवान् के संकल्पाधीन हैं मेरे दुष्कर्म के बदौलत मेरी बुराई की इनका कोई दोष नहीं है । इसप्रकार जानने वाला साधक तथा मैत्र करुण अर्थात् तथाविध स्वापकारी व्यक्ति के ऊपर भी मित्रता तथा करुणा दया करनेवाला तथा निर्मम स्वीकृत वस्तु में भी ममतासे रहित निरहंकार अहंकार से रहित अर्थात् शरीरेन्द्रियादिक में आत्म बुद्धि रहित । दुःख सुख में समानक्षमाशील सुख दुःख को एक समान समझ करके सहन शील । और सन्तुष्ट अर्थात् भाग्य के बल से जितना पदार्थ प्राप्त हुआ तावन्मात्र से सन्तोष करनेवाला न तु तदतिरिक्त वस्तु विषयक स्पृहा वालाहो । सततयोगी अर्थात् अनवरत अक्षर ब्रह्म के चिन्तनात्मक योग से सर्वदा युक्त । तथा यतात्मा इन्द्रिय चक्षुरादिक बाह्येन्द्रिय तथा मन के व्यापार को नियन्त्रण करने वाला एवं दृढ निश्चय अर्थात् गुरु तथा शास्त्र के द्वारा उपदिश्यमान भगवत् प्राप्ति के उपाय यानी साधन में निश्चल चित्तवृत्तिवाला गुरु देवसे कथित भगवत् प्राप्ति के उपाय में संशय अनवव्यवसाय रहित और मुझ परमेश्वर सर्वनियन्ता में अपने मनबुद्धि को जिसने अर्पण कर दिया है ऐसा साधक कर्मयोग का अनुष्ठान करता हुआ मेरा भक्त साक्षात् अथवा परम्परया मेरा ही आराधन करने वाला होता है अतः वह कर्मयोगी मेरा अतिप्रिय है ॥१३।१४॥

कर्मयोगी के विषय में प्रकारान्तर कहते हैं "यस्मादित्यादि" हे अर्जुन ? जिस कर्मयोगी से लोक एक भी जन उद्विग्न अर्थात् उद्वेग को प्राप्त न करे अर्थात् जो लोक के उद्वेजन कर्म

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

अनपेक्षः स्वात्मव्यतिरिक्ते पदार्थेऽपेक्षारहितः शुचिर्बाह्यान्तरशौचसम्पन्नो दक्षः स्वधर्मपालने कुशल उदासीनआत्मचिन्तनातिरिक्ते निष्प्रयत्नो गतव्यथः शीतोष्णादि द्वन्द्वतितिक्षायां व्यथारहितः सर्वारम्भपरित्यागी वैदिकलौकिककाम्यकर्मसु निश्चेष्ट एवं विधविशेषणयुक्तो यो मद् भक्तः स मे प्रियः। साध्वाचारसम्पन्नः कर्मयोगमनुतिष्ठन् मद्भक्तो मम प्रियो भवतीत्यर्थः ।।१६।।

यो न हृष्यति हर्षनिमित्तमिष्टं वस्तूपलभ्यापि हर्षं नाप्नोति न वाऽप्रियं प्राप्य द्वेषमाचरति, न शोचति शोककारणमासाद्यापि शोकं न करोति, न कांक्षति स्वोप-
से रहित हो और जो स्वयं भी लोक से अन्य व्यक्ति से उद्वेजित न हो क्षोभ को प्राप्त न करे। अर्थात् स्वेतर लोक से होनेवाला उद्वेग स्पर्श से रहित हो अतएव जो व्यक्ति विशेष हर्ष प्रीति से अमर्ष असहिष्णुता से भयत्रास से उद्वेग क्षोभ से मुक्त है यानी परिवर्जित है एतादृश जो भक्त हैं वह मेरा सर्वेश्वर सर्वनियन्ता का अत्यन्त प्रियपात्र है ।।१५।।

स्वकीय जो आत्मा उससे अतिरिक्त पदार्थ में अनपेक्ष सर्वथा अपेक्षा उपादेयता रहित तथा शुचि पवित्र बाह्य तथा आभ्यन्तर उभय प्रकारक शौच से सम्पन्न एवं दक्ष स्वधर्म के परिपालन करने में कुशल सर्वथा दक्ष। एवम् उदासीन आत्मचिन्तन से अतिरिक्त पदार्थ मात्र में किसी भी प्रकार के प्रयत्न से रहित एवं गतव्यथः शीतोष्णादि द्वन्द्व की तितिक्षा में सर्वथा व्यथा क्लेश रहित। सर्वारम्भ परित्यागी सभी आरंभ को छोडने वाला अर्थात् लौकिक यद्वा शास्त्र प्रतिपादित सकाम कर्म में सर्वथा चेष्टा रहित एतादृश विशेष विशेषण से युक्त जो भक्त वह मेरा प्रिय है अर्थात् साधु आचार से संपन्न कर्मयोग का अनुष्ठाता मेरा भक्त मुझे अति प्रिय है ।।१६।।

सर्व कर्मफल का त्याग करने वाला साधक महापुरुष इष्ट वस्तु को प्राप्त करके भी खुश नहीं होता है यानी भाग्य के बल से प्राप्त हर्ष को देने वाला इष्ट मनोभिलषित वस्तु के प्राप्त होने पर भी मन में हर्ष आनन्द को नहीं प्राप्त करता है तथा दुःख को देनेवाला भाग्योपनत अप्रिय पदार्थ को प्राप्त करके जिसके मन में द्वेष द्विष्ट पदार्थ विषयक बुद्धि नहीं होती है तथा शोक का कारण धन पुत्र मित्रादि के वियोग उपस्थित

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

योगायावश्यकमपि वस्तु नैवेच्छति, शुभाशुभपरित्यागी मत्प्राप्ति विरोधिकर्मपुण्या-पुण्यात्मकमपि परित्यजते य एवंभूतो मद्भक्तः स कर्मानुष्ठाता मम प्रियोऽस्ति ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च प्रसङ्गेन मित्राऽमित्रयोरुपस्थितयोः सतोरपि समानमानसस्तथा मानापमानयोरपि शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः सर्वथासक्तिरहितो निन्दा स्तुत्योस्तुल्यो द्वेषादिवर्जितत्वादत एव मौनी निन्दास्तुती समाचरत्सु स्वयं मौनमाश्रितो येन केनचिदल्पेनापि सन्तुष्टोऽनिकेतो निकेतासक्तिरहितः कर्मयोगमनु-

होने पर भी शोक नहीं करता है एवं अपने उपयोग के लिए आवश्यक भी पदार्थ के लिये जो आकांक्षा=अभिलाषा नहीं करता है और जो शुभाशुभ कर्म का त्याग करने वाला है अर्थात् सर्वेश्वर की प्राप्ति होने में चाहे पुण्यात्मक कर्म हो अथवा अशुभ पाप कर्म हो इन दोनों प्रकार के कर्म का जो परित्याग करने वाला साधक विशेष है। (यद्यपि शास्त्र विहित कर्म द्वारा जाय मान पुण्य कर्म में प्रतिबन्धकर्ता भगवत् प्राप्ति में किस प्रकार हो सकता है पापकर्म तो शास्त्र प्रतिषिद्ध है अतः भले प्रति बन्धक हो इस स्थिति में शुभफलक कर्म का त्याग उचित नहीं है तथापि "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुत" इत्यादि श्रुति से दुष्कृत कर्म त्यागवत् सुकृत कर्मत्याग भी शास्त्र तथा शास्त्राभ्यासी से संमत है। युक्ति से भी सिद्ध होता है 'जैसे अशुभ कर्म स्वफलोपभोग द्वारा भगवत् भजन में विघातक है तथा शुभ कर्म भी स्व-फलोप भोग द्वारा भगवद् भजन में प्रतिबन्धक ही है बन्ध कर्तृत्व दोनों में समान है इसलिये भगवान् ने कहा "शुभाशुभ परित्यागीति) इस प्रकार का कर्म योग को करनेवाला जो मेरा भक्त है वह मुझ परमेश्वर सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी का अतिशयेन प्रीति पात्र है ॥१७॥

उपर्युक्त प्रकार से कर्म योगियों के अनेक धर्म का कथन करके विषमता रूप से उपस्थित पदार्थ के होने पर भी कर्मयोगि यों की समता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं "सम" इत्यादि। प्रसंगवशमित्र अमित्र दोनों के उपस्थित होने पर भी समता, समानता समान-रूप से मानसिक व्यापार रहे विषमता नहीं हो इसी प्रकार से प्रसंगवश मान अपमान की प्राप्ति होने पर भी मानसिक समता व्यवहार रहे तथा सुखदुःख के जनक शीतोष्ण द्वन्द्व सम्बन्ध में भी समता रहे तथा सगविवर्जित हो सर्वथा आसक्ति परिवर्जित रहे निन्दा स्तुति में भी समानता द्वेषादि वर्जित होने से अतएव मौनी निन्दा अथवा स्तुति करने वालों के होने हुए भी स्वयं मौन को अवलंबन करके रहे। जिस किसी अल्प वस्तु की प्राप्ति होने से भी सन्तुष्ट रहे। अनिकेत घर बगीचा प्रभृति में सर्वथा आसक्ति रहित ऐसा साधक कर्म योग

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।१९।
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।२०

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेभक्तियोगोनाम द्वादशोऽध्यायः।

तिष्ठन्नध्यात्मस्वरूपानुसन्धाने स्थिरमतिर्यो भक्तिमान् पुरुषः स मे प्रियः ।।१८।१९।।

अथोपक्रान्तभक्तियोगनिष्ठस्योत्तमत्वमभिदधदुपक्रान्तं प्राकरणिकमुपसंहरति य इति । तु शब्दोऽत्राधिकार्यान्तरपरस्तथा च ये भक्ता धर्मादनपेतं धर्म्यं चामृतञ्चेदं यथोक्तं 'मय्यावेश्य मनो ये मां, इत्यादिनोक्तेन प्रकारेण श्रद्दधानाः श्रद्धां कुर्वन्तो मत्परमा अहमेव परमो येषान्ते मत्परमा मयि मनोऽध्यवसायपूर्वकं परभक्तिं कुर्वन्तस्ते भक्ता ममातीव प्रिया अत्यन्तमेव प्रिया इत्यर्थः । अत्रोपक्रान्तस्यैवोपसंहार दर्शनादयमेवार्थः समुपादेय इति निर्श्चीयते ।।२०।।

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ।१२।

का अनुष्ठान करता हुआ और आत्म स्वरूप के अनुसन्धान करने में स्थिर बुद्धि वाला भक्तिमान् जो पुरुष है वह मेरा परम पुरुष सर्वेश्वर का अति प्रिय है ।।१८।।१९।।

उपक्रान्त पूर्व प्रकरण से आगत जो भक्तियोग तादृश भक्तियोगनिष्ठ भक्त की उत्तमता का प्रतिपादन करते हुए पूर्व प्रतिपादित प्रकरण मध्य गत समी वस्तुओं का उपसंहार करते हुए कहते हैं "ये तु" इत्यादि । श्लोकस्थ जो तु पद है वह प्रकृत अधिकारी से भिन्न अधिकारी का बोधक है । जो भक्त विशेष धर्म से रहित नहीं जो उसे धर्म्य कहते हैं ऐसे धर्म्य एवं अमृत स्वरूप "मय्यावेश्यमनो ये माम्" मुझ परमेश्वर में मन को लगा करके इत्यादि कथित प्रकार से श्रद्धा करता हुआ मैं परमेश्वर ही परम प्राप्य हूं जिनके एतादृश मुझ परमेश्वर में ही मन के अध्यवसाय पूर्वक पराभक्ति को संपादन करने वाले जो भक्त हैं वे मेरे अतिशयित प्रिय हैं । यहाँ उपक्रान्त पूर्वकथित वस्तु का ही उपसंहार देखने में आता है इसलिये यही प्रकृत श्लोकार्थ समुपादेय है अन्य नहीं ऐसा निश्चय होता है ।।२०।।

इतिपश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्दभाष्यतत्त्वदीपे

द्वादशोऽध्यायः

श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये

नमः परब्रह्मणे श्रीरामाय

आनन्दभाष्यकार श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ तृतीयषट्कमारभ्यते

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयञ्च केशव ? ॥१॥

अथ परमकारुणिको भगवान् देवकीनन्दनो निजभक्तजनोद्धारायाऽध्यात्मविद्याप्रधानं षट्कत्रयात्मकं गीताशास्त्रमर्जुनोपदेशव्याजेनाविर्भावयाम्बभूव । तत्र प्रथमषट्केन परभक्तेरुपायभूताक्षरयाथात्म्यज्ञानाय ज्ञानगर्भितकर्मयोगमभ्यधात् । द्वितीयेन च परमपुरुषानुभवलक्षणमोक्षसाधनसमर्थं सपरिकरभक्तियोगं प्रत्यपीपदत् । एवं षट्कद्वयेन निखिलमप्यध्यात्मशास्त्रं सम्पाद्य तत्र निर्दिष्टानामेव पदार्थानां संशोधनपरमिदं तृतीयषट्कमारभते । तत्रास्मिंस्त्रयोदशाध्याये प्रकृतिपरिणामस्वरूपस्य शरीरस्य तदध्यक्षस्य जीवस्य स्वरूपस्वभावयोर्विवेकज्ञानमुपपादयति । तत्रादौ प्रकृतिपुरुषक्षेत्रक्षेत्र

परम कारुणिक दयासागर, भगवान् श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णने स्वकीयानन्य भक्त को त्रिविध तापत्रय का निदान कारण संसारलक्षण सागर से उद्धार करने के लिये अध्यात्म विद्या आत्मज्ञान प्रधानवाला तीन षट्क लक्षण इस गीता शास्त्र का अर्जुन को उपदेश देने के व्याज (बहाना) से आविर्भूत किया प्रकट किया स्वोपदिष्ट उस गीता शास्त्र में प्रथम षट्क से (प्रथमाध्याय से लेकर छठे अध्याय तक के प्रकरण से) परम भक्ति का उपाय रूप जो अक्षर विषयक यथार्थ ज्ञान तादृश याथात्म्यावगाही ज्ञान के लिए ज्ञान घटित कर्मयोग का कथन किया और द्वितीय जो षट्क है अर्थात् सप्तम अध्याय से लेकर बारहवां अध्याय पर्यन्त प्रकरण से प्रथम पुरुष परमेश्वरानुभवलक्षण जो मोक्ष है उसका साधन भक्तियोग का समर्थनसपरिकर सांगोपांग निर्वचन किया । इस प्रकार दोनों षट्क के द्वारा संपूर्ण अध्यात्म शास्त्र का संपादन करके षट्क द्वय में कथित पदार्थों का संशोधन परक इस तृतीय षट्क का आरंभ करते हैं । उस तृतीय षट्क का जो यह प्रथम अध्याय एवं स्वभावतः तेरहवां अध्याय है उस में प्रकृति का परिणाम कार्य स्वरूप जो यह षाट्कौशिक शरीर है उसका

इदं शरीरं कौन्तेय ? क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥२॥

ज्ञानं ज्ञानज्ञेययोश्च स्वरूपं लक्षणञ्च विज्ञातुकामोऽर्जुन उवाच–प्रकृतिमिति । हे केशव? पूर्वमुद्दिष्टां प्रकृतिं पुरुषं क्षेत्रं तथा क्षेत्रज्ञं क्षेत्रज्ञपदवाच्यमेवमेतेषां ज्ञानमितोऽन्यज्ज्ञेयं यदि भवेत्तदेतदपि वेदितुमिच्छामि । सामान्येनोक्तानामप्येतेषां विस्तरेण लक्षणानि ज्ञातुमिच्छामीत्यर्थः ॥१॥

एवमर्जुनजिज्ञासितस्यार्थस्यानुपेक्षणीयत्वेन प्रकृतिपुरुषपदाभिधित्सितक्षेत्रक्षेत्रज्ञादिस्वरूपविवेकपरिज्ञानाय श्रीभगवानुवाच इदमिति। हे कौन्तेय ! इदं जातिगुणक्रियादिभेदैर्भिन्नं भोक्तुर्जीवस्य भोगायतनतया पार्थक्येनावस्थितं शीर्यत इति शरीरं क्षेत्रं कर्मबीजप्रयोजनोत्पादकतया क्षेत्रमिव क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतदाश्रित्य जीवः कृषीव-

और इस शरीर का अध्यक्ष अधिष्ठाता भगवदवयव शेषलक्षण यह जीव है उस जीव का स्वरूप तथा स्वभाव के विवेक ज्ञान का उपपादन करते हैं। इस त्रयोदशाध्याय में प्रथमतः प्रकृति पुरुष क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ इन सबों का तथा ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप और लक्षण को जानने की इच्छावाले अर्जुन पूछते हैं "प्रकृतिमित्यादि" ! केशव ब्रह्मा तथा शंकर के भी नियामक ! प्रकृति जिसका कथन आपने पूर्व में किया है भूमि जल अग्नि प्रभृतिक उसी को प्रकृति कहते हैं कि तदन्य भी कोई प्रकृति है पुरुष–पुरुषपदवाच्य क्षेत्र क्षेत्रज्ञ पद बोध्य तथा क्षेत्रज्ञ क्षेत्रज्ञ पद से वाच्य यानी क्षेत्र विषयक ज्ञानवाणी एवं इसी प्रकार प्रकृत्यादि का जो ज्ञान है इससे अन्य ज्ञेय यदि कोई हो तो उसका भी स्वरूप मैं जानना चाहता हूं ! अर्थात् सामान्य रूपसे आपने यद्यपि इन सभी पदार्थों का स्वरूप तथा लक्षण का प्रतिपादन कर दिया है तथापि विस्तारपूर्वक इनका स्वरूप तथा लक्षण जानना चाहता हूं तो आप कृपापूर्वक इन सभी पदार्थों का स्वरूप तथा लक्षण कहें ॥१॥

पूर्वोक्त प्रकार से अर्जुन से जिज्ञासित जो प्रकृति पुरुषादि पदार्थ हैं उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है अतः प्रकृति तथा पुरुष पद से प्रतिपादन करने के लिए अभिलाषा विषयीभूत क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का जो स्वरूप है उसका विवेक विज्ञान के लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं "इदं शरीर मित्यादि । हे कौन्तेय ! अर्जुन ? यह जाति गोत्वादिक गुणशील पीतादिक, क्रिया गमनागमनादिक तत्प्रभेद से भिन्न भोक्ता जो जीव उसका भोगाधिष्ठानरूप से पृथक् रूप से व्यवस्थित जो शीर्यमाण हो अर्थात् विनष्ट होनेवाला हो यानी जो कालक्रम से विनष्ट हो जाय

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥३॥

लवत् कर्मफलमुत्पाद्य भुंक्त इति भावः । एवञ्चात्र क्षतात् त्रायत इत्याद्यर्थः प्रकृतानुपयुक्तत्वाद्धेयः तद्विदुभिरिति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । एतदुक्तस्वरूपं क्षेत्रं यः पुमान् वेत्ति विवेकेनावगच्छति नाहं क्षेत्रमात्रं किंत्वस्माद्विलक्षणः । ननु मनुष्योऽहमित्यादिसमानाधिकरण्यप्रतीतिरहमर्थेदमर्थदेहयोरभेदमाचष्ट इति साम्प्रतम्' 'मम देह' इत्यादिप्रबलप्रामाणिकप्रत्ययेन तद्बाधात् । तं तथाविधं देहात्मविवेकशालिनं तद्विदो देहिदेहविवेकाचारचणाः क्षेत्रज्ञ इति प्राहुर्भोगायतनात् क्षेत्रात्तदधिष्ठातृतया तत्रोपलभ्यमानो जीवोऽत्यन्तविलक्षण एवेत्याशयः ।२।

इदानीं क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानमेवोपादेयज्ञानमिति स्वमतमाहक्षेत्रज्ञमिति । हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु देवमनुष्यादिशरीररूपक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं तत्तच्छरीराभिमानविशिष्टं जीवं मां

कहा जाता है । इस शरीर का आश्रय लेकरके जीव कृषीवल के समान कर्मफल को उत्पादन करके फल का उपभोक्ता बनता है ऐसा होने से क्षत त्राण करे उसका नाम है क्षेत्र इत्यादि जो अर्थ करते हैं वह प्रकृत में अनुपयोगी होने से हेय है। 'तद्विद्भिः' इस प्रकार से यहाँ तृतीया विभक्ति का विपरिणाम करके अन्वय करना चाहिये तब प्रकृतार्थ में सामंजस्य होता है। एतत् यह उक्त स्वरूप वाला क्षेत्र को जो पुरुष जानता है विवेकपूर्वक बराबर जानता है मैं केवल क्षेत्रमात्र नहीं हूं, किन्तु क्षेत्र से विलक्षण हूं । यानी भिन्न हूं इस प्रकार अनुभव करता है ।

शंका—मैं मनुष्य हूं ऐसा जो समानाधिकरण्य ज्ञान है वह तो अहमर्थ आत्म तथा इदमर्थ देह के साथ अभेद का बोध करता है तब तो देह तथा आत्मा दोनों एक है ऐसा सिद्ध होता है ।

समाधान—यह मेरा देह है ऐसा प्रबल बाधक प्रमाण होने से पूर्व के अभेद प्रत्यय का बाध हो जाता है । तथाविध देहात्मभेद ज्ञानवान् व्यक्ति को तद्विद देह देही का भेद जाननेवाले विद्वान् लोक उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं । भोग का आयतन जो क्षेत्र है उससे अधिष्ठाता रूप से उपलभ्य मान जो जीव है वह उससे अत्यन्त विलक्षण है यह आशय है ॥२॥

सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी परमपुरुष का अवयव शेष लक्षण जो प्रकृति है उसका परिणाम-क्षेत्र पदवाच्य तथा क्षेत्र विपरीत भगवदवयव—शेष लक्षण चेतन जीव क्षेत्रज्ञपद वाच्य हैं इन क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान वही उपादेय ज्ञान है यह जो भगवदभिमत वस्तु है उसे बतलाने के लिये कहते हैं "क्षेत्रज्ञमित्यादि ।" हे भारत भरतवंशान्वयजात अर्जुन ! सभी क्षेत्र में देव मनुष्यादि

विद्धि मदात्मकमवगच्छ । अपिना सन्निधानात् क्षेत्रमुच्यते । क्षेत्र मपि मां मदात्मकं जानीहीति तदर्थः । यथा क्षेत्रज्ञविशेषणतैकस्वभावतया क्षेत्रं साक्षादवगम्यते क्षेत्र पदवाच्यशरीरस्यक्षेत्रज्ञापृथक्त्वेन क्षेत्रज्ञसामानाधिकरण्येनैव व्यपदेशस्तथा क्षेत्रक्षेत्रज्ञावुभावपि भगवद्विशेषणतैकस्वभावतया भगवदपृथक्त्वेन भगवत्सामानाधिकरण्येनैव निर्देष्टुं शक्यौ नेतरथेति जानीहीति भावः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः शरीरत्वं परमात्मनश्च तदात्मत्व मिति नियमाद् भगवच्छरीरतैकस्वभावयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोस्तदात्मतयावस्थितस्य परमपुरुषस्य च स्वरूपं यथावच्छ्रुतिषूपदिष्टम् । ताश्च श्रुतयः 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या

शरीर लक्षण क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ अर्थात् तत्तत् देव मनुष्यादि शरीराभिमान विशिष्ट रूपसे जीव-पदवाच्य मुझे जानो अर्थात् मदात्मक मुझ स्वरूपक जीव को जानो । यहां अपि शब्द से समीपवर्ती होने से क्षेत्र का कथन होता है । इसका यह अर्थ होता है कि क्षेत्र पदवाच्य शरीर को भी मदात्मक सर्वेश्वर के शेष रूप ही समझो । जैसे क्षेत्रज्ञ जीव का विशेषण स्वभावक होने से क्षेत्र साक्षात् रूप जाना जाता है और क्षेत्र वाच्य शरीर को क्षेत्रज्ञ के साथ अपृथकत्व होने से क्षेत्रज्ञ जीव के साथ सामानाधिकरण्य रूप से ही व्यपदेश होता है उसी प्रकार से क्षेत्र शरीर तथा क्षेत्रज्ञ जीव ये दोनों भी परमात्मा के विशेषणैक स्वभाव रूप होने से भगवान् से अपृथक्त्वरूप होने से भगवान् के सामानाधिकरण्य रूप से ही निर्देश करने के योग्य हैं अन्य रूप से नहीं ऐसा तुम जानो यह इस प्रकरण का अभिप्राय है । क्षेत्र शरीर और क्षेत्रज्ञ जीव इन दोनों में शरीरत्व का निर्वचन तथा परमात्मा में तदात्मत्व यानी शरीर तथा जीव स्वरूपत्व का निर्वचन है इस नियम से परमपुरुष के शरीरैक स्वभावक क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को तथा क्षेत्र–क्षेत्रज्ञतया अवस्थित परमपुरुष के स्वरूप का यथावत् श्रुति में कथन किया गया है । वे श्रुतियां इस प्रकार हैं—"जो परमेश्वर पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अन्तर है जिस सर्वनियन्ता को पृथिवी नहीं समझती है जिस परमात्मा का पृथिवी शरीर है (शेषरूपेण अवयव है) जो पृथवी को नियन्त्रित करता है वह परमात्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप है । एवं "जो परमात्मा आत्मा विज्ञानमय जीव के अन्तः रहता हुआ जीव के अन्दर में है जिसे यह जीवात्मा नहीं समझता है जिसका जीवात्मा शरीर है । "जीवादि वस्तुओं में अन्तः प्रविष्ट हो करके सबों का शासन करनेवाला है'' इत्यादि श्रुति से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के साथ परमात्मा का शरीर शरीरी शेष–शेषी भाव सिद्ध होता है अर्थात् जड चेतन सभी इदम् तथा निर्दिश्यमान पदार्थ परमात्मा का शरीर-शेष है और परमात्मा सभी के शरीर-शेषी है । अत एव "शेतेऽनन्तासने सर्वमात्मसात्कृत्य चाखिलम्" प्रलय के समय में सकल जड चेतन पदार्थ को स्वाधीन करके अनन्तासन पर सो जाते हैं इत्यादि वचन भी सार्थक तथा इस मत का पोषक होता है ।

अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृ) य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्माशरीरम्, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इत्याद्याः । अभिहितं चैतत् सिद्धान्तविजयेऽपि–'घटकश्रुतिभिर्देहौ चेतनाचेतनौ मतौ । मतं चात्मतया ब्रह्म ताभिश्चिदचितोरथ ॥९॥ सम्बद्धे त्वपृथक् सिद्धया रामे चिदचिती यतः । ततो ब्रह्मशरीरत्वाद् विशेषणे मते च ते ॥१०॥ व्यावृत्तिः स्वीकृता यस्माच्चिदचित्त्वयोर्मिथः । तयोर्विशेषणत्वं तद् व्यावर्त्तकतयाऽक्षतम् ॥११॥" एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः शरीर-

केवलाद्वैतवादी के समान जीव परमात्मा सर्वथाभेदाघटित तादात्म्य नहीं है क्योंकि सर्वथा तादात्म्य मानें तब आधाराधेयभाव नहीं होगा, गृहावस्थित देवदत्त का गृह के साथ आधाराधेयभाव है तो भी विद्यमान ही है। "देवदत्तोदेवदत्तः" अथवा "गृहं देवदत्तः" यह प्रतीति नहीं होती है। आधाराधेय स्थल में तथा विशेषण विशेष्य स्थल में विभिन्न विभक्ति पदोपस्थाप्यत्व भी नियत ही है क्योंकि श्रुति में 'आत्मनि तिष्ठन्' पृथिव्यां तिष्ठन्' ऐसा प्रयोग देखने में आता है, इसलिए सर्वथा तादात्म्य की तो चर्चा भी नहीं हो सकती है तथा जीव परमात्मा में सर्वथा गवाश्ववत् भेद ही है क्योंकि सर्वथा भेद हो तो सामानाधिकरण्य प्रयोग नहीं होगा 'गौरश्वः' ऐसा प्रयोग नहीं होता है क्योंकि ज्ञानाकार से जीव पर में समानता भी है। जो कोई भी व्यक्ति 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति के बल से अत्यन्ताभेद कहते हैं वह भी ठीक नहीं है यतः "एष" ते आत्मातत्त्वमसि" इस छान्दोग्य श्रुति में आत्मपद के आगे एक 'नञ्' पद का पाठ है अर्थात् 'एष ते आत्मा अतत्त्वमसि' ऐसा अर्थ सर्व श्रुति स्मृति संमततया किया जाता है इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर के साथ जीव तथा जड पदार्थमात्र का शरीर-शरीरी शेष-शेषी भाव ही मनोरम तथा निस्कंटक मार्ग है। इसका विवेचन महावाक्यार्थ प्रस्ताव प्रकरण में होगा अतः वहीं इस विषय को विस्तृतरूप से अवगत करें।

जगद्गुरु श्रीश्रियानन्दाचार्यजीने सिद्धान्त विजय नामक प्रकरण में इस विषय का स्पष्टीकरण किया है "घटक श्रुति" इत्यादि से "पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादि स्थल में यह सिद्ध होता है कि चेतन जीवराशि तथा जडराशि ये दोनों परमात्मा के देह शरीर अवयव हैं और इन दोनों चित् तथा जड की आत्मा पर ब्रह्म श्रीराम हैं। ये दोनों चिदचिद् सर्वेश्वर श्रीराम में अपृथक् सिद्धि से सम्बद्ध हैं इसलिए ब्रह्म के शरीर होने से ये दोनों विशेषण हैं जिस लिये कि विशेषण से पदार्थों की व्यावृत्ति होती है इसलिए व्यावर्तक होने से चिदचिद् विशेषण हैं। इस प्रकार शरीर तथा शरीराध्यक्षरूप से अवस्थित क्षेत्र क्षेत्रज्ञ में स्वरूपतः

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥४॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥५॥

तदध्यक्षरूपेणावस्थितयोः स्वरूपेण परस्परविलक्षणयोर्भगवदात्मकत्वेनैकज्ञानविषययोरुभयोरपि ज्ञानं यत्तदेवोपादेयज्ञानमिति मम सम्मतम् ॥३॥

एवं संक्षेपेणोक्तं प्रपञ्चयिष्यन् प्रतिजानीते तदिति । तच्छरीरतया व्यपदिष्टं क्षेत्रं यच्च यद्द्रव्यं यादृक्च यदाश्रयभूतं यद्विकारि ये चास्यविकाराः परिणामा जायन्ते, तादृशं यत्परिणामकमितियावत् । यतो हेतोरिदमुत्पन्नं यदर्थमुत्पन्नमित्यर्थः । यद्रूपञ्चेदं स च क्षेत्रज्ञो यो यत्प्रभावश्च यादृशस्वरूपस्वभावकश्च तत्सर्वं संक्षेपेण मे मत्प्रकाशाच्छृणु सावधानमाकर्णय ॥४॥

चेतनत्व जडत्वरूप से परस्पर विलक्षणतया भिन्न होने पर भी सर्वेश्वर श्रीरामजी के आत्मरूप से एक ज्ञान विषयता रूप इन दोनों का जो ज्ञान है वही उपादेयतया भगवदभिमत है।

जड तथा चेतन ये दोनों पदार्थ परमेश्वर के विशेषण हैं और जो व्यावर्तक हो उसका नाम विशेषण होता है और विशेषण विशेष्य में एकता प्रायः रहती है, तो विशेषणीभूत जड चेतनों के परस्पर विभिन्न होने पर भी भगवद् विशेषणता रूप से एक कहलाते हैं। एक नियम है कि "तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्" जड से अभिन्न परमेश्वर हैं और ज्ञानाकारेण अभिन्न चेतन है तो जड चेतन में भी विशेषत्वरूप से एकता हैं। यथा घटीय रूप से अभिन्न घट है और घट से अभिन्न तदीयरस है तो घटीय रूप रस को भी घटाधिकरणता रूप से एकता तथा घटीय रूपाभाव प्रतियोगिता तदीय रस को भी नैयायिक विशेषों ने मान लिया है तद्वद् प्रकृत में भी समझें ॥३॥

संक्षेप से कथित जो क्षेत्रादिकपदार्थ है उसके स्वरूप स्वभावादि विवेचन पूर्वक बतलाने के लिए कहते हैं 'तत्क्षेत्रमित्यादि' तत् शरीर रूप से व्यपदिश्यमान जो क्षेत्र है वह यादृश द्रव्य स्वरूप है यादृक् जिस आश्रय में रहनेवाला है यथा यद्विकारि—जो इसका विकार परिणाम होता है अर्थात् विकारात्मक स्वरूप से संयुक्त घटित है। जिस हेतु कारण से यह क्षेत्र उत्पन्न स्वयं हुआ है अर्थात् जिस कार्य को संपादन करने के लिये हुआ है और जो इस क्षेत्र का स्वरूप है और वह क्षेत्रज्ञ शरीराध्यक्ष जीव जिस प्रभाव जिस स्वरूप वाला है इन सभी बातों को मैं संक्षेप पूर्वक कह रहा हूं उसे हे अर्जुन ! आप सावधान होकर सुनें ॥४॥

समासोक्तेर्हेतुमाह—ऋषिभिरिति । ऋषिभिर्वाल्मीकिपराशरव्यासादिमहर्षिभिः 'जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यन्ते वसुधातलम्' (वा. यु.) 'पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरः पाण्यादिलक्षणः । ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम् ॥' इत्यादि प्रकरणेषु तत्तदृषिभिः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं गीतमुपवर्णितम् । तयोश्च भगवदात्मकत्वमुक्तमनुशासनपर्वणि भारते—'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रक्षेत्रज्ञमेव च, इति । छन्दोभिर्विविधैः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' । 'एष सम्प्र-

क्षेत्रादिक पदार्थ के विषय में संक्षेपाभिधान का हेतु बतलाते हुए कहते हैं 'ऋषिभिरित्यादि" ऋषियों के द्वारा अर्थात् वाल्मीकि पराशर व्यास प्रभृति महर्षियों के द्वारा "हे परमात्मन् संपूर्ण चराचरात्मक जगत् आपका शरीर शेष व अवयव है और संपूर्ण वसुधातल आप में ही अवस्थित है, या आपकी स्थिरता ही वसुधातल है श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में ऐसा कहा है। एवम् हे राजन् यह शिरपाणि पादात्मक जो पुरुष है उसका पिण्ड अर्थात् देह उससे पृथक्भूत है तब मैं 'अहं' मैं हूं एतादश संज्ञा मै किस में करु" इत्यादि प्रकणों से तत्तत् ऋषियों ने क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ शरीर एवं जीव के स्वरूप को गाया है अर्थात् जड चेतन के स्वरूप का विस्तार रूप से वर्णन किया है और जड चेतन पदार्थ परमेश्वर का स्वरूप ही है इस बात का भी स्पष्टीकरण महाभारत के अनुशासन प्रकरण में किया है तथाहि "इन्द्रिय चक्षुरादिक पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक् पाणिपादादिक पांच कर्मेन्द्रिय तथा आन्तर मन बुद्धि सत्व तेज बल धैर्य तथा क्षेत्र शरीर और क्षेत्रज्ञ जीव ये सभी पदार्थ भगवान् वासुदेव के स्वरूप ही हैं, इस प्रकार से ऋषि लोगों ने बहुत से प्रकरण में जीव से भिन्न शरीरादि बाह्य वस्तु को जीव के स्वरूप रूप से कहा है तथा बहुत प्रकरण में अभेद रूप से भी प्रतिपादन किया है और अनेक प्रकरणों में परमात्मा के ये सभी के सभी जड चेतन अंशरूप से वर्णित हैं तो इससे यह सारांश आता है कि जड चेतन स्वरूप से परस्पर विभिन्न होते हुए भी भगवत् शरीर शेष रूप से सभी तत्त्व एक हैं ।

उपरोक्त विषय का पोषण अनेक प्रकारक छन्दः प्रभृति प्रकरणों से भी होता है तथाहि 'द्वा सुपर्णा इत्यादि । फलोपभोग का अधिकरण रूप वृक्ष के समानता के कारण वृक्षवत् वृक्षलक्षण शरीर में चेतनता रूप से समान स्वभाववाले अत एव परस्पर मित्रता को प्राप्त किये हुए दो शोभनपर्णवाले जीव और परमेश्वर लक्षण पक्षी संसक्त हो करके अवस्थित हैं इन दोनों के बीच में पुण्य पाप का संचय करने वाला जीव लक्षणपक्षी शरीर लक्षण वृक्ष का फल जो सुखदुःख स्वरूप है उस फल का आस्वादन पूर्वक बडी खुशी से उपभोग करता है

सादोऽस्मच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, (छा. ८।१३।३) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, (श्वे-६।१६) "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः। क्षरात्मानावीशते देव एकः ।। (श्वे० १।११) इत्यादिविविधैर्वेदैः पृथग्रूपेण गीतम्। तथा हेतुमद्भिः स्वमतार्थोपपादकयुक्तिमद्भिर्विशेषेण निश्चितं येषां तानि विनिश्चितानि तैर्विनिश्चितैः पद्यते क्षेत्रक्षेत्रज्ञपदार्थ एभिस्तानि पदानि ब्रह्मसूत्राणि च तानि पदानि ब्रह्मसूत्रपदानि तैर्ब्रह्मसूत्रपदैः 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू. २।३।१) नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः (ब्र. सू.२।३।१८) 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र- सू. २।३।४०) इत्यादिशारीरकसूत्रैश्च गीतमभिहितम्। तत्समासेन शृणु, इति पूर्वेणान्वयः। एवं विस्तरेणोदीरितं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं मया संक्षेपेणाभिधीयमानमाकर्णयेत्यर्थः ।।५।।

अर्थात् स्वकृत कर्म का फलोपभोग करता है और ईश्वर रूप जो पक्षी है वह इस देह लक्षण वृक्ष पर अवस्थित होने पर भी पुण्य पाप का फलोपभोग न करते हुए सदा निरतिशय सुखानुभव में ओत प्रोत रहते हैं। 'एष संप्रसाद इत्यादि'' यह संप्रसाद जीव इस शरीर से उठ करके अर्थात् शरीर के साथ तादात्म्य का जो अभिमान था मैं देह रूप हूं इत्याकारक ऐसे देहाभिमान को छोड करके परंज्योति परमात्मा सर्वशेषी को प्राप्त करके स्वकीय जो ज्ञानाकार स्वरूप है उसे प्राप्त कर जाता है, 'प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ के स्वामी और गुणों के ईश हैं 'क्षर पद वाच्य प्रधान जड है तथा अक्षर पद वाच्य है जीव वह सर्वशेषी परमात्मा क्षर तथा अक्षर यानी जड चेतन सभी के ऊपर नियंत्रण करने वाले हैं इत्यादि अनेक वेद वाक्य से परमेश्वर से पृथक् रूप से कथन किया गया है। हेतुमान् वाक्य से स्वसंमत जो अर्थ उसका उपपादक कथन करनेवाली युक्ति से उपपन्न यानी विशेषरूप से निश्चित। यहाँ निश्चय बिषयीभूत अर्थ ऐसा अर्थ संमत नहीं है किन्तु भाव अर्थ में निपूर्वक चिञ् धातु से क्त प्रत्यय हुआ है कर्म अर्थ में नहीं तब निश्चित शब्द का अर्थ है निश्चय एतादृश निश्चय है जिनका उसका नाम विनिश्चित है उस विनिश्चित पद से प्राप्त ज्ञात हो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ पदार्थ जिसके द्वारा तादृश पद से तथा ब्रह्म सूत्र से अर्थात् ब्रह्म सूत्रों में वर्णित पदों से यानी इस श्लोक में 'न वियदश्रुतेः'' 'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः'' 'परात्तु तच्छ्रुतेः'' इत्यादि शारीरिक सूत्रों के द्वारा प्रोक्त अर्थ का कथन किया गया है। (आकाश उत्पन्न होता है अथवा नहीं होता हैं ऐसा संशय करके पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष के द्वारा क्षरपद वाच्य आकाशादि का स्वरूप तथा स्वभाव का निर्णय 'न वियत्' इत्यादि सूत्र से किया गया है एवम् 'नात्मा श्रुते'' इत्यादि सूत्र प्रकरण से जीव का स्वरूप तथा स्वभाव

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥६॥

प्रतिज्ञातमर्थमभिधत्ते—महाभूतानीति । महाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि, अहंकारस्त्रिविधः सात्त्विकादिभेदभिन्न आकाशादेः कारणभूतः, बुद्धिरहंकारकारणं महत्तत्त्वम् , अव्यक्तं प्रकृतिर्महतः कारणम्, इन्द्रियाणि दशैकञ्च श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा-घ्राणाख्यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकं मन उभयेन्द्रियानुग्राहकत्वादित्येकादशेन्द्रियाणि, इन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्शरूप-

का निर्णय किया गया है । इस प्रकार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का स्वरूप स्वभाव का विस्तार रूप से निरूपण करके 'परात्तु तच्छ्रुतेः" इत्यादि सूत्र से परमात्मा के अधीन ही क्षेत्रज्ञ का कर्तृत्व है तथा परम पुरुष स्वरूपता भी है इन सब बातों का स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया है ।) इस प्रकार ऋषिछन्द वेद वाक्य ब्रह्म सूत्र पदादि से विस्तार पूर्वक क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का याथात्म्य का प्रकाशन किया गया है परन्तु उन चीजों को मैं तुम से यहाँ संक्षेप रूप से कह रहा हूं तुम सावधानी से सुनो ॥५॥

चतुर्थ श्लोक में तत्क्षेत्रम् इत्यादि रूपेण क्षेत्र का स्वरूप तथा प्रकार के विषय में जैसी प्रतिज्ञा की गई थी उस पदार्थ का तद्रूप से कथन करने के लिये प्रक्रम करते हैं 'महाभूतानी त्यादि' हे अर्जुन ! महाभूत स्थूलभूत जो आकाश वायु अनल जल पृथिव्यात्म पांच तथा आकाशादि पञ्च महाभूत का उपादान कारण लक्षण सात्विक राजस तामस अहंकार एवम् अध्यवसाय लक्षणक अहंकार का उपादान कारण महत्तत्व अपर पर्याय है जिसका ऐसी बुद्धि तथा अव्यक्त सत्त्व गुण रजो गुण तमो गुण के साम्यावस्था लक्षण महत्तत्व का उपादान कारण एवम् इन्द्रिय दश तथा एक यानी पञ्च श्रोत्र त्वक् चक्षु रसना घ्राणात्मक ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ लक्षण पांच कर्मेन्द्रिय तथा एक उभयात्मकमन यह मन ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय उभय का अनुग्राहक होने से उभयात्मक है इस प्रकार एकादश इन्द्रि-यगण और पांचों ज्ञाने न्द्रिय से ग्राह्य शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध नामक पांच विषय काम है अपर नाम जिसका ऐसी इच्छा द्वेष क्रोध सुख अनुकूल वेदनीयं इतर इच्छा के अनधीनेच्छा विषय अथवा जो ज्ञात होने के बाद स्ववृत्तिता रूप से इष्यमाण हो उसे सुख कहते है अथवा सुकृत कारण से जायमान अनुकूल विषयानुभव रूप जो हो वह सुख है । दुःख प्रतिकूल वेदनीय अथवा अशुभ कर्म मूलक प्रतिकूलात्मक अन्तः करण का वृत्ति विशेष रूप जो हो वह दुःख है यद्यपि इच्छा से लेकर दुःखान्त जो पदार्थ है वह तो क्षेत्रज्ञ जीव का धर्म है न तु

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥७॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥८॥

रसगन्धाख्याः पञ्च विषयाः, इच्छा कामः द्वेषः, क्रोधः सुखमनुकूलवेदनीयम्, दुःखं प्रतिकूलवेदनीयम् संघातः शरीरम् चेतनाधृतिर्भोगाधारता, एतत्सविकारं सर्वं संक्षेपेण क्षेत्रमुदाहृतम् । एतदव्यक्ताद्यारब्धमिन्द्रियाश्रयभूतमिच्छादिविकारधर्मकं भूतसंघातरूपं सुखाद्यनुभवाय सम्मिलितं शरीरमेव क्षेत्रपदव्यपदेश्यमित्यर्थः ॥६॥७॥

क्षेत्र पद वाच्य शरीर के ये सब धर्म हैं इच्छादि की प्रतीति ज्ञान सामानाधिकरण्य रूप से होता है ज्ञान तो शरीर धर्म नहीं है किन्तु आत्म धर्म है तब ज्ञानवत् इच्छादिक भी आत्मा का ही धर्म है शरीर का नहीं तब शरीर धर्म रूप से इच्छादि का परिगणन किस प्रकार किया । तथापि शरीर रहित केवल आत्मा में इच्छादिक पदार्थों का अनुभव नहीं होता है किन्तु शरीर सम्बन्ध से ही ये पदार्थ अनुभव विषयता को प्राप्त करते हैं इसलिये क्षेत्र धर्म रूप से इच्छादि पदार्थ का कथन है ऐसा समझना । अथवा जैसे "हिमालये वनौषधय उत्पद्यन्ते" हिमालय पर्वत में वनौषधियाँ उत्पन्न होती हैं इस स्थल में वनौषधि की उत्पत्ति तो समवाय सम्बन्ध से जैसे कपाल रूप स्वावयव में घट उत्पन्न होता है उसी प्रकार औषधि की उत्पत्ति तो स्वावयव में होती है तब हिमालय में उत्पत्ति कथन असंगत है इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं समवाय सम्बन्ध से स्वावयव में ही उत्पन्न होता है सब पदार्थ किन्तु अवच्छेदकता से उत्पत्ति के प्रतितादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छेदक को भी कारणता होती है तो औषधि का अवच्छेदक है हिमालय अवच्छेदकता सम्बन्ध से औषधि की उत्पत्ति का अवच्छेदक हिमालय में कारणता होने से तादृश प्रयोग अनुपपन्न नहीं है । उसी प्रकार केवल आत्मा में समवाय से सुखादिक उत्पन्न होता है तो भी आत्म विशेषणीभूत जो शरीर है वह भी सुखादि की उत्पत्ति में अवच्छेदक रूप से कारण है इस नैयायिक के नियम को मन में रख करके क्षेत्र का धर्म सुखादिक कहा गया है । यह उत्तर भाष्यानुयायियों का है ।

एवं संघात अर्थात् षाट्कौशिक शरीर एवं चेतनाकृति भोग का आधार ये विकार सहित सभी पदार्थ संक्षेप से क्षेत्र का कथन किया जाता है । अव्यक्तादि से आयमान इन्द्रिय के आश्रयभूत इच्छादि विकार धर्म वाला भूतों का समुदाय लक्षण सुखादि के अनुभव करने के लिये संमिलित शरीर ही क्षेत्रपद का वाच्य है यह भावार्थ परिष्कृत होता है ॥६॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥९॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१०॥

एवमर्जुनप्रश्नानुसारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपमुपवर्ण्य क्षेत्रकार्याणामिच्छादिवदात्मज्ञानसाधनोपयोगिनां गुणानां कथनेनज्ञानस्वरूपं विशोध्यते—अमानित्वमित्यादिपञ्चभिः । अमानित्वमल्पेनापि गुणेन जननिचये महत्त्वरुचिर्मानस्तद् रहितत्वममानित्वं दम्भराहित्यमदम्भित्वमहिंसा परोपकारचिकीर्षा क्षान्तिः सहनशीलताऽऽर्जवं कौटिल्यरहितत्वमाचार्योपासनं सद्गुरुपरिचर्या 'आचार्यदेवो भव' इति श्रुतेः शौचं मनोवाक्कायशुद्धिः स्थैर्यमात्मोपास्तौ दृढताऽऽत्मविनिग्रहो बाह्यपदार्थेभ्यो मनो निरोधः। इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु वैराग्यमनहंकारोऽनात्मवस्तुष्वात्मीयाभिमानरहितत्वं जन्ममृत्युजराव्याधिरूपेषु दुःखेषु दोषानुदर्शनम् । अनेनभगवदुपासनायां दृढाभिरुचिरु-

अर्जुन के प्रश्न के अनुसार क्षेत्र शरीर तथा क्षेत्रज्ञ जीव इन दोनों पदार्थों का स्वरूप तथा स्वभाव का वर्णन करके क्षेत्र जो शरीर उस कार्य को इच्छादि के समान आत्म ज्ञान साधन में उपयोगी जो गुण तादृश गुण के कथन द्वारा ज्ञान स्वरूप का विशोधन करते हैं 'अमानित्वादि पांच श्लोकों से । अमानित्व थोडा भी गुण होने से उन गुणों के द्वारा लोग समुदाय में जो महत्त्वाकांक्षा होती है उसे कहते हैं मान एतादृश मान के अभाव को अमानित्व कहते हैं तथा अदंभित्व लोक में कीर्ति प्राप्ति की इच्छा से धार्मिक कार्य करना अथवा लोगों से धर्म करवाने का नाम है दंभ तादृश दंभ रहितत्व का नाम है अदंभमित्व तथा अहिंसा मन वाणी शरीर से अन्य व्यक्ति को दुःखोत्पादन करना यद्वा प्राण व्यरोपण का नाम है हिंसा तादृश हिंसा रहितत्व रूप से परोपकार करने की इच्छा क्षान्ति सहन शीलता आर्जव ऋजुता अर्थात् कौटिल्य राहित्य, आचार्योपासन सद्गुरु की परिचर्या श्रुति कहती है 'आचार्य देव बनो'' मन वाणी शरीर की विशुद्धि का ही नाम शुचिता है । स्थैर्य आत्मा की उपासना में दृढता, आत्म विनिग्रह आत्म व्यतिरिक्त बाह्यविषय से मन को निगृहीत करना । इन्द्रिय चक्षुरादिक उनका जो विषय शब्दादिक है उन में वैराग्य रागाभाव अनहंकार अनात्म शरीरादिक में आत्मीयाभिमानराहित्य जन्म मृत्यु जरा व्याधि रूप दुःख में दोष का दर्शन करना इससे भगवान् की उपासना में दृढ अभिरुचि पैदा होती है । ममत्व बुद्धि विषय में संग रहितत्व का नाम है असक्ति । पुत्र दारा गृहादि पदार्थ में तादात्म्य के अभिमान का नाम है अभिष्वग एतादृश

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१२॥

त्यद्यते । असक्तिर्ममत्वबुद्धिविषयेषु सङ्गरहितत्वमनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु पुत्रादिषु तादात्म्याभिमानलक्षणोऽभिष्वङ्गस्तद्राहित्यमिष्टानिष्टयोरुपपत्तिषु नित्यमेव समचित्तत्वं रागद्वेषराहित्यमित्यर्थः ॥८॥९॥१०॥

मयि सर्वाधिनायकेऽनन्ययोगेनान्ययोगराहित्येनाव्यभिचारिण्यचञ्चला भक्तिर्भगवद्विरोधिजनसंसर्गरहितदेशसेवनशीलत्वं जनसंसदि विरुद्धाशयजनगोष्ठयामप्रीतिः। अध्यात्मज्ञाननित्यत्वमात्मानमधिकृत्यवर्तमाने ज्ञाने नित्यत्वं तादृशज्ञानविषयकस्थिर-

अभिष्वंग से राहित्य और इष्ट वस्तु में तथा अनिष्ट अप्रिय पदार्थ में नियमतः समान चित्तता अर्थात् रागद्वेष राहितत्व रूप से समवस्थित रहना इस प्रकरण में पुत्र कलत्र गृहादिक में आसक्ति अभिष्वंग रहितत्व कथन से यह सिद्ध होता है कि विरक्त गृहस्थ भिन्न व्यक्ति को ही आत्मज्ञान साधन में अधिकार है और विरक्त को ही साक्षात् मोक्ष में अधिकार है विरक्त भिन्न को आत्मज्ञान साधन में तथा साक्षात् मोक्ष में अधिकार नहीं है ऐसा गीताचार्य का आशय व्यक्त होता है तभी इस प्रकरण में पठित गुणों का समन्वय भी सम्भव है अन्यथा नहीं।८।९।१०

ऊपर कथित प्रकार से अन्तरंग साधन का कथन करके संप्रति मोक्ष में जो परम अन्तरंग साधन है उसका कथन करते हैं 'मयि चेत्यादि' दो श्लोकों से। मुझ सर्वेश्वर सर्वनायक परमेश्वर में अनन्य योग से परम पुरुष से अतिरिक्त जो देव उसमें जो योग अर्थात् सम्बन्ध उसका नाम होता है अन्ययोग और अन्ययोग का जो अभाव उसका नाम है अनन्ययोग तादृश अनन्ययोग से केवल परम पुरुष में ही चित्त के सम्बन्ध वाला परम पुरुष का जो अनन्य भक्त है उनको अन्य देव के साथ जो चित्तयोग है वह उस भक्त का व्रत विनाशक है ऐसा कहा गया है 'अन्यतांत्रिकदेवानां संसर्गप्रतिपत्तिषु । प्रवृत्तिरच्युतैकान्त्यनियमव्रतनाशिनी ॥' अन्य देव के सम्बन्ध में जो प्रपत्ति है वह केशव भक्त का जो व्रत है उसका विनाशक है इत्यादि। अतएव अव्यभिचारिणी निश्चला भक्ति जो भक्ति व्यभिचरणशील न हो तादृशी भक्ति तथा विविक्त देस सेवित्व भगवान् के विरोधी जो जन सम्बन्ध रहित देश की सेवन शीलता और जन संसद में अरति मगवद् विरुद्ध जन समुदाय में अप्रीति अर्थात् संसार में रुचि नहीं रखना

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३॥

रुचिमत्त्वं तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनं तत्त्वज्ञानप्रयोजनं प्रयोजनंनिःश्रेयसप्राप्तिस्तत्कृते मुहुर्मुहुरालोचनम् । एतन्निर्दिष्टं साधनत्वेनाभिमतं ज्ञानमात्मज्ञानसाधनमित्येवं प्रकारेण प्रोक्तं यदेभ्यः साधनेभ्योऽन्यथा विपरीतं मानित्वदम्भित्वादिरूपं तदज्ञानं क्षेत्रकार्यरूपमप्यात्मोपायविरोधित्वादज्ञानम् ॥११॥१२॥

एवं क्षेत्रकार्यभूतानात्मज्ञानसाधनानुपादेयगुणान् प्रतिपाद्योपेयत्वेनाभिमतं क्षेत्रज्ञस्य विशुद्धं स्वरूपमेवेदानीं सफलमुपदिशति ज्ञेयमित्यादिषड्भिः । प्रोक्तैरमानित्वादिभिरुपायैर्ज्ञेयं यदात्मस्वरूपं तत् प्रवक्ष्यामि । तुभ्यमिति शेषः । ज्ञेयस्वरूपविज्ञानस्य

आत्मज्ञान में नियमतः रुचि रखना । और तत्वज्ञानार्थ चिन्तन अर्थात् तत्व ज्ञान का प्रयोजन है कार्य हैं मोक्ष प्राप्ति तादृश मोक्ष निश्रेयस प्राप्ति के लिये बारंबार अनुचिन्तन । यह जो पूर्व कथित साधन कारण रूप से अभिमत जो ज्ञान हैं वही आत्मज्ञान का साधन हैं और कथित साधन से अतिरिक्त जो एतद्विपरीत हैं जो मानित्व दंभित्वादि लक्षण हैं वे सभी के सभी अज्ञात हैं। यद्यपि मानित्वादिक क्षेत्र का कार्य रूप है तथापि आत्मप्राप्ति के जो उपाय अमानित्वादिक उसका विरोधी होने से अज्ञान हैं अर्थात् अमानित्वादि से लेकर तत्वार्थ चिन्तनपर्यन्त जो ज्ञान है वह आत्मज्ञान का अन्तरंग साधन हैं और इससे अतिरिक्त हैं मानित्वादिक वह आत्मज्ञान का विरोधी हैं इसलिये मोक्ष कामना वान् पुरुष से सर्वथा ही मानित्वादिक परित्याज्य हैं ॥११।१२॥

पूर्व प्रकरण से क्षेत्रपदवाच्य शरीर के कार्यलक्षण तथा आत्मज्ञान में साधनीभूत अतएव उपादेय अमानित्वादि गुण का प्रतिपादन करके प्रतिपाद्य होने से तथा उपादेयता अभिमत क्षेत्रज्ञ जीव का विशुद्धप्रकृति सम्बन्ध रहित जो स्वरूप है उस स्वरूप को फल के सहित उपदेश करने के लिए भगवान् कहते हैं "ज्ञेयमित्यादि" छ श्लोकों से पूर्व कथित जो अमानित्व अदंभित्वादिक उपाय हैं उसके द्वारा उपेय-प्राप्ति करने के योग्य ज्ञेय जो आत्मस्वरूप है उसका प्रतिपादन मैं सर्वेश्वर आपको कर रहा हूं ।

यहाँ ज्ञेय स्वरूप से परब्रह्म का ग्रहण किया है जीव का नहीं है क्योंकि परब्रह्म के ज्ञान से ही अमृतफल का लाभ होता है ऐसा श्रीमधुसूदन प्रभृति कितने ही विद्वानों ने अर्थ किया है वह प्रकरण विरुद्ध होने से उपेक्ष्य है । क्योंकि यह प्रकरण तो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये प्रक्रान्त है तब अकस्मात् बीच में परब्रह्म, का प्रतिपादन कैसे हो सकेगा ? एवं मध्यभाग में "प्रकृति पुरुष को अनादि समझो" और अन्त में भी इस प्रकार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के अन्तरभेद को जो जानता है ऐसा उप-

विशिष्टं फलमाह—यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । यदात्मस्वरूपं यथावद्विज्ञाय जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखस्वरूपसांसारिकक्लेशानपहायाऽमृतमात्मानं नित्यमाप्नोति । अनादिज्ञेयमिति क्लीबनिर्देशादनादीत्यपि क्लीबनिर्देशः । अनादिमदित्येवं पदन्तु नास्ति बहुव्रीहीणापि तदर्थनिष्पत्तेः । आदिरुद्भवो यस्य नास्तीत्यतोऽनादिः अत एव नान्तोऽप्यस्य विद्यते । अस्य ज्ञेयस्वरूपस्यात्मन आद्यन्तयोरभावः श्रुतिस्मृतिषूपलभ्यते । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्, (कठः) 'नात्मा जजान न मरिष्यति नैवनेऽसौ,

संहार भी किया है किसी भी पदार्थ का निश्चय उपक्रम परामर्श उपसंहार से किया जाता है । प्रकृत में उपक्रम परामर्श उपसंहार तो प्रकृति पुरुष विषयक है तब ज्ञेयपद से मध्य में निरवच्छिन्न परब्रह्म का स्वरूप बोधनपरकत्व नहीं हो सकता है किन्तु प्रकृति समभिव्याहृत पुरुष का ही यह प्रकरण है इसलिये पुरुष का ही उपेय ज्ञातव्यरूप से ग्रहण करना ही उचित है जैसा कि पूज्यपाद मदीय भाष्यकार ने किया है ।

ज्ञेयस्वरूप विषयक ज्ञान का क्या फल है इस जिज्ञासा के उत्तर में विशिष्ट फल का निर्देश करते हैं—"यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते" इत्यादि । जिस आत्मस्वरूप को जान करके शरीरेन्द्रिय समन्वित तत्व के साथ जो प्राथमिक संयोग लक्षण जन्म देवदत्तो जातः इत्यादि प्रतीति सिद्ध है तथा तादृश शरीर सम्बन्ध का वियोगात्मक-मृतो देवदत्त, इत्यादि प्रतीति सिद्ध जो मरण जरा शरीर की जीर्णता वलीपलित केशादियुक्त अवस्था विशेष लक्षण एवं वातपित्त कफ विकार जनित व्याधि एवम् अप्रीतिकर पदार्थानुभव लक्षण दुःख एतादृश स्वरूपक जो सांसारिक क्लेश इन क्लेशों का परित्याग करके अमृतनिधान आत्मा को नियमतः प्राप्त करना ही आत्मज्ञान का फल है क्षेत्र के स्वरूप ज्ञान से अमृतत्व प्राप्ति किस तरह होता है इस बात का अनुकथन भाष्यकार अनुपद में करेंगे । अनादि ज्ञेयम् यहाँ नपुंसक का निर्देश होनेसे अनादि में भी नपुंसक का ही निर्देश है यहां अनादिमत् ऐसा पद नहीं है किन्तु अनादि एतावत् ही एकपद है और मत्परम् यह अलग पद है क्योंकि नहीं है आदि जिसका ऐसा बहुव्रीहि समास करने पर आदिमत् शब्द का जो अर्थ है उसका लाभ हो जाता है तब अनादि पद के साथ मतुप् प्रत्यय निरर्थक हो जाता है अर्थात् मतुप् प्रत्ययान्त से जो अर्थ उपलब्ध होता है वह बहुव्रीहि समाससे ही लब्ध हो जाता है ।

जो लोग अनादिमत एकपद रखने का प्रयत्न करते हैं उन्हें "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः" यहां कर्मधारय शब्द का अर्थ है बहुव्रीहि इतर समास तथा च बहुव्रीहि से इतर समास करने के बाद मत्वर्थीय मतुप् प्रभृति प्रत्यय नहीं लगता है यदि बहुव्रीहि समास करने पर मतुवर्थ का लाभ होता हो इस व्याकरण नियम से विरोध होता है

न क्षीयते सवनाविदुव्यभिचारिणां हि । सर्वत्र शश्वदनापाय्युपलब्धिमात्रं प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥ (भा०११।३।३८) मत्परमहमेव परोऽन्तर्यामितया नियामको यस्य तन्मत्परं भगवन्नियाम्यभूतस्य जीवस्यान्तर्यामिरूपेणाध्यात्ममवस्थाय भगवानेवेममात्मानं नियमयतीत्यर्थः । तथैवोक्तमन्तर्यामिब्राह्मणे 'य आत्मनि तिष्ठन् नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः, (बृहदारण्यक) ब्रह्म बृहत्त्वगुणयोगेनात्मनोऽपि ब्रह्मपदवाच्यता श्रुतिषु प्रसिद्धैव–'स चानन्त्याय कल्पते' श्वे. ५। ७। कर्मरूपाविद्याबन्धोयावद्विद्यते

क्योंकि अनादि में बहुब्रीहि नहीं है नहीं है आदि जिसका ऐसा करने से मतुबर्थ तो प्राप्त हो ही जाता है तब न आदिः अनादिः यह समास करके तदुत्तर में पुनः-मतुप् प्रत्यय कोई विशेष अर्थ का बोध नहीं करता है इसलिये अनादि एक पद है और मत्परं यह पदान्तर है जैसा कि भाष्यकार ने कहा है । आदि अर्थात् उद्भव उत्पत्ति नहीं है जिसका उसे अनादि कहते हैं तो यह क्षेत्रज्ञ अनादि है इसे उत्पन्न करने वाला कोई कारण नहीं है । जिसलिये यह क्षेत्रज्ञ भावरूप होकर अनादि है इसलिये इसका अन्त अर्थात् विनाश भी नहीं होता है । केवल अनादि जो होता है उसका विनाश नहीं होता है यह नियम ठीक नहीं है क्योंकि प्रागभाव अनादि है परन्तु उसका विनाश हो जाता है अतः जो अनादि भाव है उसका विनाश नहीं होता है । इस ज्ञेय स्वरूप आत्मा क्षेत्रज्ञ का उत्पाद विनाश अर्थात् आद्यन्त का अभाव श्रुति स्मृति में भी प्रतिपादन किया गया है "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" यह जीवात्मा न तो उत्पन्न होता है न वा देहादि के मरने के बाद यह मरता ही है यह किसी कारण से नहीं होता है नवा इससे कोई होता है यह अज है नित्य है शाश्वत सर्वकाल में भी अवस्थित रहता है यह पहले भी नया हीं था अब भी यह पुराण हीं है शरीर के नष्ट होने पर भी यह विनष्ट नहीं होता है नित्यत्वेन अभिमत पदार्थों के बीच में नित्य है चेतन में भी चेतन है" इत्यादि श्रुति से तथा "नात्मा श्रुते-र्नित्यत्वाच्चताभ्यः" जैसे परमात्मासे आकाशादि प्रपंच उत्पन्न होता है तथा यह जीव उत्पन्न नहीं होता है प्रत्युत श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा नित्य है" इत्यादि ब्रह्म सूत्र से एवम् "नात्मा जनान" आत्मा न उत्पन्न होती है न वा मरती है न वा किसी कारण के बल से बढती है न वा घटती है" इत्यादि भागवत् प्रभृति पुराण वचन से क्षेत्रज्ञ के आद्यन्ताभावलक्षण नित्यता की सिद्धि होती है । "मत्परमित्यादि" मत्पर मैं ही पर अन्तर्यामी रूप से नियामक नियंत्रण करने वाला हूं, जिसे उसे कहते हैं मत्पर अर्थात् क्षेत्रज्ञ का नियामक मैं वासुदेव ही हूं भगवान् के नियाम्यरूप जो जीव है उस जीव के अन्तर्यामी

तावदेवास्य ज्ञानरूपस्य क्षेत्रज्ञस्याणुत्वं विगलितबन्धस्य त्वानन्त्यमेव । तथा च देहाद् विविक्ते विशुद्धात्मनि ब्रह्मशब्दस्य प्रयोगः श्रुतिषु गीताशास्त्रे च बहुत्रोपलभ्यते 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, मुण्डक. 'स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते (गी. १४।२६) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, (गी. १८।५४) इति । न सत्तन्नासदुच्यते, तदेतदात्मस्वरूपं सच्छब्देनासच्छब्देन च नोच्यते-देवमनुष्यादि

रूप से जीव के अन्तर में अवस्थित होकरके परमपुरुष परमात्मा ही इस जीवात्मा को नियमित करते हैं । इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी प्रकरण ब्राह्मण में कहा है तथैव "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि । (जो परमेश्वर आत्मा में रहता हुआ आत्मा से भी अन्तर है जिस परमेश्वर को यह आत्मा क्षेत्रज्ञ नहीं जानता है जिस परमात्मा का यह जीवात्मा शरीर है जो परमेश्वर इस आत्मा को नियंत्रित करता है वह अन्तर्यामी परमात्मा तुम्हारी आत्म है अमृत स्वरूप है) इत्यादि प्रकरण में जीव का नियामक परमेश्वर है ऐसा कहा गया है । यह जो क्षेत्रज्ञ है वह ब्रह्म है यानी बडा होने के कारण परमात्मा को ब्रह्म कहते हैं उसके गुण योग के कारण जीव भी ब्रह्म कहलाता है । अर्थात बृहत्वादि गुण के सम्बन्ध से जीवात्मा में भी ब्रह्मपदवाच्यता श्रुति में प्रसिद्ध है श्रुति कहती है "स चानन्त्याय कल्पते" वह जीव आनन्त्य स्वरूपेण कल्पित यानी बोधित होता है ।

शंका--यदि जीव में व्यापकता को मान लें तब तो जीव का जो अणुत्ववाद है शास्त्र तथा स्वसम्प्रदाय सिद्ध उसका विलोप हो जाता है "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" "आराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्टः" यह सर्वानुभूत अणु जो आत्मा है वह केवल मन से जानी जाती है, वह आरा के अग्रभाग के परिमाण वाली है" इत्यादि अणुत्व प्रतिपादक श्रुति का विरोध होता है तो आपने तो 'वरघात के लिये कन्या का उद्वाह' न्याय को लगा दिया इस शंका के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं "कर्मरूपाविद्याबन्धोयावादित्यादि" जब तक कर्म शुभाशुभलक्षण अविद्यात्मक बन्ध का सम्बन्ध जीव में रहता है तभी तक ज्ञान स्वरूप इस क्षेत्रज्ञ में अणुत्व व्यवहार रहता है और जब कर्म लक्षण अविद्यात्मक बन्ध के सम्बन्ध से वियुक्त हो जाता है तब तो ब्रह्मवत् जीव में भी आनन्त्य अर्थात् धर्मभूत ज्ञान सम्बन्धवेन व्यापकत्व ही हो जाता है । ऐसा होने से देह सम्बन्ध से विविक्त पृथक् कृत विशुद्ध कर्म मल रहित क्षेत्रज्ञ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है ऐसा श्रुति में तथा गीताशास्त्र में भी अनेक स्थल में उपलब्ध होता है "सचानन्त्याय कल्पते" वह जीव तब आनन्त्य के लिए कल्पित होता है ब्रह्मवद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला [illegible] हो जाता है इत्यादि

शरीरावस्थितत्वादचित्सम्बन्धान्नामरूपभागित्वेनाऽस्य कार्यावस्थामुपेतस्य सत्पदवाच्यत्वम्। ततः पूर्वकारणावस्थायां नामरूपायोग्यत्वादसदित्युच्यते। तदिदमुक्तं 'असद्वा इदमग्र आसीत्' ततो वै सदजायत (तै,आ, ७।१) तद्ध्येदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यांव्याक्रियत, एतच्चावस्था द्वयमस्यात्मनः स्वतो न सम्भवति किन्त्वनादिकर्मरूपाविद्ययैव तत्। स्वरूपेण त्वयं सत्तयाऽसत्तयावा व्यपदेशानर्ह एव। यद्यपि

श्रुति में गीता शास्त्र में भी "सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" "ब्रह्म भूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति" वह जीव उपासना करने से प्राकृतिक अदृष्टादि गुण को अतिक्रमण करके ब्रह्मभूय ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जाता है, ब्रह्मभाव को प्राप्त करके न किसी वस्तु के लिये शोक करता है न वा रमणीय किसी वस्तु के लिये अभिलाषा ही करता है शोक अभिलाषाका जो कारण था प्राकृतिक कर्मादि गुण का योग वह अब निरस्त हो गया है। जैसे तब तक ही अन्धकार का साम्राज्य रहता है जब तक सूर्योदय न हो जब सूर्योदय हो जाता है तब अन्धकार का निर्गमन हो जाता है। इसी प्रकार तभी तक जीव के अन्तः करण में सकारण शोक मोहादिक रहता है जब तक परमपुरुष का साक्षात्कार नहीं हुआ है भगवत् साक्षात्कार के बाद सब निवृत्त हो जाता है श्रुति भी कहती है "तस्मिन् दृष्टे परावरे" भगवान् के दर्शन होजाने पर संशय कर्म सब नष्ट हो जाता है।

"न सत्तन्नासदुच्यते" यह जो आत्मस्वरूप है वह सत् इत्याकारक शब्द से तथा असत् इत्याकारक शब्द से प्रतिपादित नहीं होता है देव मनुष्यादि शरीरों में अवस्थित होने से तथा अचित्पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने से उनके साथ इसके नाम रूपात्मक सम्बन्ध होने के कारण से ही इसके कार्यावस्थारूप प्रयुक्त सम्बन्ध होने के कारण सत्पद से वाच्यजीव होता है और कार्यावस्था के पूर्व में यानी कारणावस्था में नाम रूप के साथ सम्बन्ध नहीं होने से नामरूपों के असत् पद वाच्यता होने के कारण असत् कहलाता है। जीव स्वतः न सत् है न वा असत् है। इसी वस्तु को श्रुति में कहा है "असद्वा इदमग्रे आसीत्" "ततो वै सदजायत" यह परिदृश्यमान जड चेतनात्मक जगद् अग्रे उत्पत्ति के पूर्वकाल में असत् था उसके बाद सत् रूप से उत्पन्न हुआ अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व में नाम रूप विभागानर्ह होने से असत् शब्द से बोधित होता है पश्चात् नाम रूपात्मकपदार्थ सम्बन्ध होने पर सद्रूप हो जाता है। तत् यह जगद् उत्पत्ति के पूर्व में अव्याकृत था उसी की नामरूप के द्वारा व्याक्रियमाणता होती है। यह जो दो प्रकार की अवस्था है व्याकृतावस्था तथा अव्याकृतावस्था वह इस आत्मा को स्वतः संभवित नहीं है किन्तु अनादि कालिक जो कर्म रूपा अविद्या उसके बल से ही इसकी दो अवस्था होती है। स्वस्वरूप से तो यह जीव सत्तारूप से अथवा असत्तारूप से व्यवहार

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।१४।

'असद्वे' ति श्रुतिः स्थूलचिदचिद् विशिष्टं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं च ब्रह्म सदसच्छब्दाभ्यामभिधत्ते । तत्राऽपृथक्सिद्धिविशेषणतयोपस्थितौ क्षेत्रक्षेत्रज्ञावपि तथा व्यपदेश्यौ परन्तु तदानीमविद्यावशगत्वात्तत्तत्सम्बन्धादि विशिष्टस्यैवास्य सदसच्छब्दनिर्देश्यता, विशुद्धस्यत्वस्य तच्छब्दाऽनभिधेयत्वमेवेति तत्त्वम् ॥१३॥

परिशुद्धात्मनो ब्रह्मभावमुपपादयति सर्वत इति । तदक्षरपदवाच्यं विशुद्धात्मस्वरूपं सर्वतः पाणिपादकार्यसमर्थं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वतोनेत्रमूर्धाननयुक्तं सर्वतः

के योग्य नहीं है । यद्यपि "असद्वा इदमग्र आसीत्" यह श्रुति स्थूल जो चित् तथा अचित् उससे विशिष्ट तथा सूक्ष्म जो चित् तथा अचित् उससे विशिष्ट ब्रह्म परमपुरुष का ही सत् असत् शब्द से कथन करती है । उस ब्रह्म में अपृथक् सिद्ध विशेषणता रूप से उपस्थित जो चित् तथा अचित् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ हैं ये दोनों ही सत् तथा असत् व्यवहार के योग्य होते हैं तथापि उस समय में अविद्या के अधीन होने से अविद्यादि के सम्बन्ध से विशिष्ट होने से इस जीव का भी सदसदादि शब्द निर्देश्यत्व होता है । विशुद्ध जो यह क्षेत्रज्ञ है वह तो सदादि शब्द का वाच्य नहीं ही है । यहाँ यह अभिप्राय है कि न सत्तन्नासत् इससे सत्वाभाव असत्वाभाव का प्रतिपादन नहीं होता है क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसमें स्वत्व धर्म का तथा अस्वत्व धर्म का अभाव रहे । जिसमें सत्व नहीं रहेगा उसमें असत्व रहेगा और जिसमें असत्व का अभाव रहेगा उसमें सत्व रहेगा नवा एक ही समय में दोनों धर्म एक में आ सकते हैं सत्वासत्व का परस्पर विरोध है । न वा कहें कि ब्रह्म में सत्व है और प्रकृति में असत्व है क्योंकि ऐसा कहने में तो सिद्ध साधन दोष होता है तथा 'तमसः परमुच्यते' इस ग्रन्थ से पुनरुक्ति भी हो जाती है । अतः यहाँ सत् असत् शब्द से कार्यावस्था कारणावस्था का ही कथन होता है । पदार्थ मात्र कार्यावस्था में देवमनुष्यादि नाम रूप योग्य होने से सत् कहलाता है और कारणावस्था में नाम रूप के अभाव होने से असत् पद से बोधित होता है । प्रकृत विषय का विशेषविचार मेरे गीतातत्त्वमीमांसा प्रकाश में तथा अन्यत्र भी देखें ॥१३॥

अविद्यात्मक से रहित होने के कारण विशुद्धस्वभावक जो जीव है उसे ब्रह्मभाव ब्रह्म समानता का प्रतिपादन करते हैं 'सर्वत इत्यादि । तत् अक्षर पद वाच्य जो विशुद्धात्म स्वरूप है वह सर्वतः कर चरणादि कार्यानुकूल सामर्थ्य विशिष्ट है यद्यपि हाथ और पैर अनेक नहीं हैं तथापि अनेक हस्त पादादि से होने वाला जो कार्य है तादृश कार्य के करने के सामर्थ्य

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१५॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरञ्चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१६॥

श्रुतिमच् श्रोत्रेन्द्रियसमन्वितं लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति विगलितकर्म बन्धत्वेनास्यात्मनो ब्रह्मसाम्याद् ब्रह्मवदनन्तसामर्थ्ययोगो न विरुद्ध इति भावः ॥१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेषामिन्द्रियाणां वृत्तिभिरपि विषयावभासकमित्यर्थः । स्वरूपतस्तु सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं निजशुद्धस्वरूपेण सर्वत्र सङ्गरहितं सर्वभृच्चैव सर्वदेहभरणसमर्थनिर्गुणं स्वरूपतः सत्वादिगुणरहितं तथा सत्वादिगुणसम्बन्धाज्जायमानानुभवशक्तम् ॥१५॥

भूतानि परिहायाशरीरं सद्बहिरपि वर्तते तथान्तश्च स्वेच्छाधीनत्वादीश्वर-

से युक्त विशुद्ध आत्मस्वरूप होता है । सर्वतः अशिशिर तथा मुखादि से युक्त है अर्थात् अनेक नेत्रादि संपाद्य कार्योत्पादन में विशिष्ट सामर्थ्य वाला हो जाता है । तथा सर्वतः श्रुतिमान् यानी सर्व ग्रहण समर्थ श्रोत्रेन्द्रिय से युक्त होता है । और लोक में वह विशुद्धात्म तत्व सभी पदार्थ को व्याप्तकरके अवस्थित रहता है । सकल कर्म बन्धन से वियुक्त हो जाने से इस आत्मा की ब्रह्म के साथ समता हो जाती है अतः ब्रह्म परमेश्वर श्रीराम के समान अनेक सामर्थ्ययोग होने में कोई भी विरोध नहीं होता है ॥१४॥

वह विशुद्ध जो आत्मा है वह सर्वेन्द्रिय गुणाभास है अर्थात पाच जो ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय वागादिक तथा उभयात्मक मन इन इन्द्रियों की जो वृत्ति उन वृत्तियों के द्वारा सर्व विषय का अवभासक है इन्द्रिय के असमवधानकाल में भी इन्द्रिय समवधानवत् तत्तत् इन्द्रिय के जो विषय हैं उसे ग्रहण करने के सामर्थ्य से युक्त हैं और वह विशुद्ध आत्मा स्वरूपतः सर्व इन्द्रियों से विवर्जित है तथा स्वरूपतः शरीर रहित भी हैं । वह विशुद्ध आत्मा स्वरूपतः असक्त है स्वकीय शुद्ध स्वरूप से सर्वत्र संग रहित है देवमनुष्यादि शरीर सम्बन्ध से रहित है तथा सर्वभृत् सर्व देह करणादि के भरण करने के सामर्थ्य से युक्त है तथा वह विशुद्ध आत्मा स्वरूपतः सत्वरजस्तमोगुण से रहित है तथा गुण भोक्ता भी है अर्थात् सत्वादि गुण के सम्बन्ध से जायमान अनुभव करने में समर्थ भी है ॥१५॥

भूतों को छोड करके अर्थात् जो आत्मा युक्त है उसे स्वेच्छामय शरीर होने से जब अशरीर रहता है उस समय भूतों के बाहर भी रहता है तथा भूतों के अन्दर भी रहता है

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१८॥

सङ्कल्पानुगुणसंकल्पवत्त्वाच्च 'जक्षन् क्रीडन्' छा० ८।१२। इत्यादिस्वसंकल्पावाप्तभोगाननुभवितुं तेषामन्तरपि वर्तते । मुक्तात्मन उभयथाऽपि स्थितेर्दर्शनात् अचरं चरमेव च, स्वभावतोऽचरमचरमचञ्चलमपि । कर्मायत्तदेहसम्बन्धाच्चलमपि सूक्ष्मतया हेतोः शास्त्रदृष्टिमन्तरेणाविज्ञेयं सर्वेषामन्तिकेऽवस्थितमप्यनवाप्तविद्यानां दूरस्थमदृश्यमानमित्यर्थः ॥१६॥

भूतेषु देवमनुष्यतिर्यगादिशरीरेषु तदात्मस्वरूपमविभक्तं समानाकारतया विभागशून्यं विभक्तमिव च स्थितमध्यात्मज्ञानविधुराणां विभक्तमिव प्रतिभातं भूतभर्तृ च भूतानां भरणकर्तृशक्तियुक्तं ग्रसिष्णु आहारग्रसनशीलं प्रभविष्णु च प्रभवहेतुः । तदात्मस्वरूपं देहाद्विविक्ततया ज्ञेयम् ॥१७॥

स्वेच्छाधीन होने से और परमेश्वर के संकल्प के अनुगुण संकल्पवान् होने से । 'जक्षन् क्रीडन्' इत्यादि श्रुत्यनुमोदित स्वकीय संकल्प के बल से प्राप्त जो भोग तादृश भोग का अनुभव करने के लिये भूतों के अन्दर भी रहते हैं । मुक्त जो आत्मा है उसकी उभयथा दोनों प्रकार की स्थिति देखने में आती है । वह मुक्तात्मा चर भी है और अचर भी है अर्थात् स्वभावतः अचर अचंचल है तो कर्माधीन देह सम्बन्ध के कारण चंचल भी है और सूक्ष्मता के कारण शास्त्र दृष्टि के बिना अविज्ञेय है । सभी के समीप अवस्थित विद्यमान होने पर भी अनवाप्त विद्यावालों के लिये दूरस्थ है अर्थात् अदृश्यमान है ॥१६॥

भूतों में देव मनुष्यतिर्यगादि शरीरों में भी वर्तमान आत्म स्वरूप अविभक्त विभाग रहित के समान अवभासित होता हुआ वह आत्मा ज्ञान रूप से समानाकारतया विभाग रहित है तो भी विभक्त के समान स्थित है आत्मज्ञान रहित व्यक्तियों के लिये यानी ज्ञानाकारतया अविभक्त होते हुए भी विभक्त के समान प्रतिभासित होता है । वह भूतों का भर्ता है अर्थात् भूतशरीरों का भरण शील यानी भरण करने की शक्ति से युक्त है और ग्रसिष्णु आहार ग्रहण शील है तथा प्रभविष्णु है प्रभव करण शील है यानी भक्षित पदार्थों को रसादि रूप से परिणमन शील है तादृश आत्म स्वरूप देह से देहाकार परिणत आकाशादि भूतों से पार्थक्येन जानने के योग्य है ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१९॥

ज्योतिषां विद्युद्द्युमणिदीपादिप्रकाशकर्तृणामपि तदात्मतत्त्वं ज्योतिः प्रकाशकं विद्युदादीनां तु वस्तु स्वरूपप्रकाशने साहाय्यमात्रं वास्तविकप्रकाशकत्वन्त्वात्मनो ज्ञानस्यैवेति नियमः। तमसः परमुच्यते। तमः शब्दवाच्यप्रकृतेरपि परमिदमात्मस्वरूपमुच्यते। इदञ्चात्मस्वरूपभूतं ज्ञानममानित्वाद्युपायभूतज्ञानैर्गम्यं साध्यमत एव ज्ञेयमपि सर्वस्य प्राणिनो हृदि विष्ठितं विशिष्टरूपेणावस्थितं वर्तत इतिशेषः ॥१८॥

इत्येवं प्रकारेणोद्दिष्टानां क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानज्ञेयप्रकृतिपुरुषाणां च मध्ये 'महाभूतान्यहं

ज्योतिष प्रकाशशील सूर्यचन्द्र विद्युत् मणिप्रदीपादिक जो जो वस्तु हैं जो कि प्रकाशन क्रिया करने में स्वयमेव इतरानपेक्ष हो करके समर्थ हैं तादृश ज्योति का भी वह आत्मतत्व आत्मस्वरूप ज्योति है अर्थात् प्रकाशक है। विद्युत् प्रभृति जो प्रकाशात्मक पदार्थ है वह तो घट पटादि वस्तु के प्रकाशन में सहायकमात्र है वास्तविक प्रकाशकता तो आत्मरूप ज्ञान में ही है "तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा जगदिदं विभाति" आत्म प्रकाश के प्रकाशित होने के बाद में ही सूर्यादिक भी प्रकाशित होते हैं आत्मा के प्रकाश से ही यह संपूर्ण जगत् प्रकाशित होता है इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि जो वास्तविक प्रकाशकता तो आत्म ज्ञान में ही है सूर्यादि प्रकाश तो केवल चाक्षुष वृत्ति में सहकारी मात्र है किन्तु स्वातन्त्र्येण इन सूर्यादिक में प्रकाशकता नहीं है इसलिये गीताचार्य ने कहा है ज्योति का भी ज्योति आत्म स्वरूप है अर्थात् घटादिक पदार्थ के प्रकाशन में चाक्षुष वृत्ति में सहकारी अतएव प्रकाशकत्व रूप से अभिमत जो प्रकाश प्रदीपादि प्रकाश है उसका भी प्रकाशक ज्ञान स्वरूप आत्मा ही है। वह आत्मस्वरूप तम अन्धकार चाक्षुष वृत्ति का निरोधक अज्ञान से पर है। यहाँ तम शब्द का वाच्य अर्थ है प्रकृति सत्व रज तम की साम्यावस्था अव्यक्त प्रधान पद वाच्य एतादृश प्रकृति से भी पर हैं आत्म स्वरूप। यह जो आत्मस्वरूप भूत जो ज्ञान है जो कि अमानित्वादि विषयकोपाय भूत जो ज्ञान उस से गम्य है अर्थात् अमानित्वादि ज्ञान से साध्य है अत एव यह ज्ञान ज्ञेय भी है सभी प्राणियों के हृदय अन्तः करण में विशिष्ट रूप से अवस्थित हो करके रहता है ॥१८॥

इस प्रकार अध्यात्मविचार प्रवाह में अर्जुन से जिज्ञासित पदार्थों में से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान ज्ञेय चारों पदार्थ का स्वरूप तथा लक्षण बतला करके इन चारों पदार्थों के ज्ञान से होने वाले जो कुछ तादृश फल के कथन पूर्वक प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं "इति क्षेत्रमित्यादि"

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥२०॥

कार' इत्यारभ्य 'संघातश्चेतनाधृति' रित्यन्तेन ग्रन्थेन समासतः संक्षेपेण क्षेत्रस्वरूपम-भिहितममानित्वमदम्भित्वमित्यारभ्य 'तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनमि' त्यन्तेनात्मज्ञानसाधन-भूतं ज्ञानमुक्तमनादिमत्परमित्यारभ्य 'हृदि सर्वस्य विष्ठितमि' त्यन्तेन च ज्ञेयं क्षेत्र-ज्ञमेव संक्षेपेणोक्तम् । मद्भक्तो मद्भक्तिमान्नर एतत् क्षेत्रादियाथात्म्यञ्च विज्ञाय मद्भा-वायोपपद्यते मम सर्वेश्वरस्य नित्यनिरवद्यकल्याणगुणाकरस्य परमात्मनो यो भावः बन्धराहित्यरूपस्तस्मायुपपद्यते ॥१९॥

एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपलक्षणे अभिधायार्जुनजिज्ञासामनुसृत्य प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपपरिचयपूर्वकं लक्षणमभिधत्ते प्रकृतिमिति । प्रकृतिमपरप्रकृतिपदबोध्यां क्षेत्ररूपां

इति एवं पूर्वोक्त कथित प्रकार से उद्दिष्ट कथित क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान ज्ञेय प्रकृति पुरुषों के मध्य से 'महाभूतान्यहंकारः । यहाँ से लेकर संघातश्चेतनाधृतिः" एतदन्त प्रकरण से क्षेत्र शरीरादि के स्वरूप का प्रतिपादन किया तथा 'अमानित्व मदंभित्व" यहाँ से आरम्भ करके "तत्त्वज्ञाना-र्थचिन्तनम्" एतावत् प्रकरण से आत्मज्ञान के साधनभूत ज्ञान का कथन किया गया है और "अनादि मत्परम्" यहाँ से आरंभ करके "हृदि सर्वस्य विष्ठितम्" एतदन्त प्रकरण से ज्ञेय अर्थात् क्षेत्रज्ञ स्वरूप का ही संक्षेप से कथन किया गया है इन सब विषयों को मद्भक्त मेरा चिदचिद् शरीरक जगत नियन्ता परमेश्वर का जो भक्त अनन्यभक्तिमान् मनुष्य है वह यह जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञादि का याथार्थ्य यानी वास्तविकता को विज्ञाय जान करके अर्थात् क्षेत्र शरीरादि का स्व-रूप एवं क्षेत्र से विलक्षण अत्यन्तभिन्न ज्ञेय क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को तथा क्षेत्रज्ञ के उपायभूत ज्ञान को सम्यक् रूप से अवधारित करके मम मेरा सर्वेश्वर सर्वनियन्ता परमात्मा का जो भाव कर्म बन्धन रहितत्व लक्षण स्वरूप है उस के लिये उपपन्न होता है अर्थात् साधन सम्पन्न अधिकारी संसार बन्धन से छूट करके नित्य निरतिशय सुखानुभव लक्षण मोक्ष को प्राप्त कर लेता है वह संसार में पुनः नहीं आता है ॥१९॥

पूर्वोक्त प्रकार से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का स्वरूप तथा लक्षण का कथन करके ततः पर अर्जुन की जिज्ञासा का अनुसरण करके प्रकृति तथा पुरुष के स्वरूप का परिचय कराने के लिये कहते हैं प्रकृतिमित्यादि ।

अर्थात् सर्वप्रथम परा प्रकृति तथा अपरा प्रकृति का स्वरूप लक्षण कथन पूर्वक क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का विवेचन करते हुए प्रकरण प्रतिपाद्य पदार्थ का निर्देश किया और इस

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२१॥

पुरुषं प्रकृतेरत्यन्तविलक्षणं परप्रकृतिपदवाच्यमिह क्षेत्रज्ञतयोपदिष्टमिमावुभावप्यनादी एव विद्धि 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' 'अजोह्येकः' 'न जायतेम्रियते वा विपश्चित्' इत्यादिश्रुतिभ्यः विकारानिच्छाद्वेषसुखदुःखादीन् धर्मान् गुणानमानित्वादश्भित्वादिधर्मांश्च प्रकृतिसम्भवान् प्रकृतितः समुद्भूतान् विद्धि कर्मसंसर्गमाश्रित्यक्षेत्रज्ञशरीरादिरूपेण परिणतेयं प्रकृतिरिच्छाद्यनिष्टधर्मैः क्षेत्रज्ञं संसारं नयति । अमानित्वादिधर्मैश्च मुक्तिमित्यर्थः ॥२०॥

एवं प्रकृतिपुरुषस्वरूपं प्रकृतिधर्मांश्चोक्त्वेदानीं संसृष्टयोस्तयोः कार्यभेदमुप-

तेरहवें अध्याय के प्रथम श्लोक में प्रकृतिपुरुषादि छ पदार्थ विषयक जिज्ञासा के उत्तर में चार पदार्थ का स्वरूप लक्षण द्वारा निर्वचन करके अब प्रकृति पुरुषात्मक पदार्थ का कथन करके अब उन्ही दोनों पदार्थों का विशेष धर्म सहित कथन करने का प्रक्रम करते हैं 'प्रकृतिमित्यादि" प्रकृति=अपर प्रकृति पद से वाच्या क्षेत्र स्वरूपा को तथा परपुरुष प्रकृत्यपेक्षया सर्वथा विलक्षण प्रराप्रकृतिपद से वाच्य क्षेत्रज्ञ नाम से उपदिश्यमान पुरुष ये दोनों ही प्रकृति तथा पुरुष प्रकृत प्रकरण में अनादिसिद्ध हैं ऐसा तुम जानों अर्थात् ये दोनों ही पदार्थ किसी कारण से जायमान नहीं हैं ऐसा तुम जानों क्योंकि "अजामेकाम्" उत्पन्न नहीं होनेवाल एक सत्वगुण तथा तमोगुण संघातलक्षण स्वरूप अनेक प्रकारक कार्य को उत्पाद करनेवाली प्रकृति है" इस श्रुति से प्रकृति में अनादित्व की सिद्धि होती है एवम् "न जायते म्रियते" यह जीव न पैदा होता है नवा मरण जरादि अवस्था को प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुति से पुरुष में अनादिता की सिद्धि होती है । और विकार कार्य जो इच्छा द्वेप सुख दुःख प्रभृतिक धर्म हैं एवं गुण जो अनादित्व अदंभित्वादिक धर्म जो कि कार्यभूत है इन सभी को प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं हे अर्जुन ! ऐसा तुम समझो । ये सब आत्मधर्म नहीं है । शुभाशुभ कर्म सम्बन्ध के आश्रय को लेकरके क्षेत्रज्ञ जीव के शरीराकार से परिणत यह प्रकृति इच्छा द्वेषादिक अनिष्ट धर्म के बल से क्षेत्रज्ञजीव को संसाररूप महासागर बहाती है तथा अमानित्वादि शुभधर्म के सहकार से वही प्रकृति क्षेत्रज्ञ को मोक्ष मार्ग में लेजाती है अर्थात् प्रकृति के सम्बन्ध से ही पुरुष को बन्धमोक्ष होना है उसमें अशुभधर्म विशिष्ट प्रकृति जो है वह संसार प्राप्त करनेवाली होती है और वही जब अमानित्वादि शुभधर्म विशिष्ट होती है तो पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है २०

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२२॥

दिशति कार्यकारणकर्तृत्व इति। कार्यं शरीरं कारणानि मनः सहितानि ज्ञानकर्मेन्द्रिय-विधानीन्द्रियाणि तेषां ज्ञानेच्छापूर्वकानेकयत्नकर्तृत्वे पुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिर्हेतुः सर्वोऽपि प्रकृतितद्विकृतिरूपक्षेत्रजन्यक्रिया पुरुषाधिष्ठितप्रकृतिमेव कारणतयोपादत्ते। पुरुषः प्रकृतिसंसर्गविशिष्टः क्षेत्रज्ञः सुखदुःखानां भोक्तृत्वं न तु प्राकृतसम्बन्ध रहितस्येति भावः ॥२१॥

पुरुषस्य सुखदुःखादिभोक्तृत्वमुपपादयति पुरुष इति स्वरूपतः क्लेशादिरहि

इस प्रकार प्रकृति तथा पुरुष का स्वरूप तथा प्रकृति का जो इच्छादिक धर्म है उनका कथन करके सम्मिलित जो प्रकृति तथा पुरुष हैं उन दोनों के कार्यभेद को बतलाने के लिये कहते हैं "कार्य कारणकर्तृत्वे" इत्यादि। कार्य उत्पद्यमान भूतसमुदायात्मक शरीर तथा कारण पांचज्ञानेन्द्रिय पांचकर्मेन्द्रिय वागादिक तथा उभयात्मक मन रूप इन्द्रिय समुदाय इन सब का ज्ञान पूर्वक अनेक प्रयत्न कर्तृत्व में जीव से अधिष्ठित प्रकृति कारण है प्रकृति तथा प्रकृति का विकार रूप जो क्षेत्र शरीर तादृश शरीर जनित सभी क्रिया के उत्पादन करने में पुरुष से अधिष्ठित जो प्रकृति है वही कारण स्वरूपता को प्राप्त करती है अर्थात् पुरुषाधिष्ठित प्रकृति से ही शरीरादि की क्रियाएं होती हैं तथा पुरुष प्रकृति के सम्बन्धयुक्त जो क्षेत्रज्ञ है वह सुखदुःखादिक पदार्थ के उपभोग में हेतु है ऐसा तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं। अर्थात् प्रकृति के सम्बन्ध से ही निर्मल निष्कलंक लोग में भोक्तृ है न तु प्राकृतिक संसर्ग रहित पुरुष में भोक्तृत्व है स्वभावतः प्रकृति विधुर पुरुष में कर्ता भोक्ता पना नहीं है।

यानी पुरुष उदासीन है पंकज पत्रवत् निर्लेप है किन्तु चेतन स्वरूप है और प्रकृति गुणवती है प्रकृति में क्रियाशक्ति होने से कर्तृ है इन दोनों का जब संयोग होता है तब प्रकृति सम्बन्ध से पुरुष भी कर्ता के समान भासित होता है तथा प्रकृति चेतना के समान भासित होती है और परस्पर संयोग होने से पङ्गु तथा अन्ध के समान संसार प्रक्रियाएं चलती हैं और जब दोनों का कारण वश से वियोग हो जाता है तब मोक्ष और बन्ध व्यवहार होता है वस्तुतः बन्धमोक्ष प्रकृति में या पुरुष में नहीं उपचारात् पुरुष में व्यवहार होता है। इसका विशेष विवेचन सांख्यशास्त्र में देखें ॥२१॥

"सत्यं ज्ञानमानन्दम्" इत्यादि श्रुति के बल से जब जीव स्वयं सुखस्वरूप है तब

तोऽपि पुरुषः, प्रकृतिपदं प्रकृतितत्कार्यपरं करणकलेवरादिकार्यरूपेण परिणतायां प्रकृतौतिष्ठतीति प्रकृतिस्थः प्रकृतिसंसृष्टः सन्नेव प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते प्राकृतसत्वादिगुणपरिणामभूतान् सुखदुःखमोहात्मकान् यावद्गुणाधिकारमनुभवति । प्राकृतसंसर्गहेतुमप्युपपादयति कारणमिति । अस्य पुरुषस्य सदसद्योनिजन्मसुकारणं गुणसङ्ग एव। पूर्वकर्मानुसारात् सत्वादिगुणकारणकं देवमनुष्यादिदेहमवाप्य पुनर्गुणकार्यभूतसुखादिलिप्सया प्रवर्तते, ततश्च तद्देहानुष्ठितकर्मानुसारात् सदसद्योनिषु जायते । एवं सत्वादिगुणसंसर्ग एवाऽस्य संसरणे हेतुर्नान्यत् ॥२२॥

उसमें सुखादि भोक्तृत्व किस प्रकार से संभव होता है इसके उत्तर में कहते हैं पुरुष को जिसप्रकार सुखादि के प्रति भोक्तृत्व उपपन्न होता है उसका उपपादन करते हैं "प्रकृतिस्थः" इत्यादि । स्वरूपतः स्वरूप से सर्वप्रकारक क्लेश रहित होने पर भी प्रकृतिस्थः प्रकृति में रहता हुआ यह आत्मा यहाँ प्रकृतिपद प्रकृति तथा प्रकृति से जायमान जो तदबोधनेच्छासे उच्चरित है अर्थात् करण इन्द्रियादिक तथा कलेवर शरीरादि लक्षण कार्यरूप से परिणत जो प्रकृति उस प्रकृति में रहने के कारण प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति के सम्बन्ध से युक्त हो करके ही प्रकृति से जायमान गुण का भोग करता है प्राकृत जो सत्वादिक गुण तादृश गुण का परिणाम कार्य भूत जो सुखदुःख मोहात्मक गुण हैं उन सभी गुणों को यावत् प्रकृति सम्बन्ध है तब तक सुखादि का अनुभव करता है । स्वभावतः स्फटिकवत् अतिविशुद्ध जो आत्मा है उसे प्राकृत संसर्ग होने में क्या कारण है उस कारण का उपपादन करते हुए कहतेहैं—"कारणमित्यादि" अति विशुद्ध स्वरूप पुरुष को सद्योनि ब्राह्मणादिक योनि तथा असद्योनि श्वशूकरादिक की योनि उन योनियों में जो जन्म होता है उसमें कारण गुण प्रकृति का सम्बन्ध ही है । पूर्व पूर्वतर भव में उपार्जित जो शुभाशुभ कर्म तादृश कर्म के बल से सत्वादि गुण कारणक जो देवमनुष्यादि का शरीर है उसे प्राप्त करके पुनः सत्वादि गुण के कार्य लक्षण जो सुखादिक है उस सुखादि की लिप्सा से विहितादि क्रिया में प्रवृत्त होता है, प्रवृत्ति करने के बाद तत्तत् मनुष्यादि देह से अनुष्ठित जो शुभाशुभ कर्म है उस कर्मोपासना के बल से सदसद्योनि में समुत्पन्न होता है । ऐसा हुआ तब इस पुरुष को सत्वादि गुण का जो संसर्ग उस से जायमान जो कर्म है वही जन्मान्तर में कारण है एतदतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं है । श्रुति भी कहती है "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्ये तु सञ्जन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम् ।।" पूर्वभवोपार्जित कर्म तथा उपासना के बल से शरीर प्राप्ति के लिये कोई कोई तो ब्राह्मणादि योनि को प्राप्त करते है और एतदतिरिक्त अन्य कोई तो स्थाणु वृक्षादि भाव को प्राप्त करते हैं ।२२

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।२३।
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।२४।

अथ सदसद्योनिषु जन्मग्रहणानन्तरं जायमानान् पुरुषस्वभावानाह उपद्रष्टेति । अस्मिन् देहे स्थितः पुरुषोऽनवच्छिन्नज्ञानशक्तिरप्युपद्रष्टा देहविशिष्टत्वेन देहप्रवृत्त्यनुकूलसङ्कल्पात्मकदर्शनविशिष्टः । साक्षात्कर्तेत्यर्थः । अनुमन्ता प्रेरणकर्ता भर्ता देहस्य धारणकर्त्ता भोक्ता देहव्यापारजनितसुखाद्युपभोक्ता च भवति । अत एव महेश्वरो नियमनभरणादिभिर्देहेन्द्रियमनसामधीश्वरः परमात्माऽऽत्मशब्दवाच्यदेहेन्द्रियमनांसि प्रति परमात्मा चाप्युक्तोऽभिहितः ॥२३॥

प्रकृतिपुरुषविवेकिनं स्तौति य इति । यो मुमुक्षुरेवं प्रोक्तस्वभावकं पुरुषं

सत् असत् योनि में जन्म ग्रहण करने के बाद उत्पन्न होने वाला जो पुरुष का स्वभाव है उस स्वभाव का कथन करते हैं "उपद्रष्टेत्यादि" प्रकृति जनित इस देह में स्थित वर्तमान जो पुरुष है वह स्वभावतः अनवच्छिन्न ज्ञान शक्तिमान् होने पर भी उपद्रष्टा कहलाता है देह विशिष्ट होने के कारण देह प्रवृत्ति के अनुकूल संकल्पात्मक जो दर्शन है तद्विशिष्ट होता है । अर्थात् तादृश दर्शनादि ज्ञान का साक्षात् कर्ता कहलाता है । और अनुमन्ता प्रेरक कर्त्ता कहलाता है एवं भर्ता देह को धारण करने वाला भी होता है तथा भोक्ता देह व्यापार से जायमान जो सुखादिक फल उस फल का उपभोक्ता भी होता है अत एव महेश्वर देह इन्द्रिय के नियमन भरण पोषणादि करने के कारण शरीरेन्द्रिय का अधीश्वर भी पुरुष कहलाता है देहादि के प्रति परमात्मा भी कहलाता है नियन्त्रणादि करने के कारण से ही । जीवात्मा को जो परमात्मारूप से कथन किया है वह स्वकीय शरीरेन्द्रियादि के प्रति भरण पोषण नियन्त्रण करने से इस देहादि से पर होने के कारण से है अर्थात् सापेक्षिक परमात्मत्व है न तु निरपेक्षिक परमात्मत्व है । अन्यथा "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इत्यादि वक्ष्यमाण भगवद् वाक्य से विरुद्धप्राय हो जायगा ॥२३॥

पूर्वकथित प्रकार से प्रकृति तथा पुरुष के स्वरूप तथा स्वभाव का प्रतिपादन करके एतादृश प्रकृति पुरुष विषयक ज्ञानवान् जो साधक है उसे क्या फल मिलता है सो सादृश इस कथन द्वारा विवेकी पुरुष की स्तुति प्रशंसा करते हुए कहते हैं "य एवमित्यादि" जो मुमुक्षु व्यक्ति उपर्युक्त पूर्वकथित स्वभावक पुरुष परप्रकृति को तथा सत्त्वादि गुणों से युक्त अपरा क्षेत्र-

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।२५।

परप्रकृतिरूपं गुणैस्सहप्रकृतिं सत्वादिगुणैर्युक्तामपराख्यां प्रकृतिश्च वेत्ति लक्षणस्वभावाभ्यां तयोः स्वरूपं विवेकेनावगच्छति स विवेकी कस्मिंश्चिदपि शरीरे वर्तमानोऽपि तत्प्रारब्धावसाने भूयो नाभिजायते प्राकृतशरीरनिर्मोकानन्तरमाविर्भूतगुणाष्टकं विशुद्धमात्मस्वरूपमाप्नोति । न पुनर्जगज्जाले जायत इति भावः ।।२४।।

स्वाभिप्रायं स्पष्टयति–ध्यानेनेति द्वाभ्याम् । केचिदात्मानुध्यायिनो भक्ता आत्मनि स्वदेहे वर्तमानमात्मानं विशुद्धमात्मनः स्वरूपमात्माना सद्गुरुशास्त्रनियन्त्रितेन मनसा ध्यानेन योगयुक्तोपासनया पश्यन्ति स्वानुभवविषयी कुर्वन्ति, अन्ये आत्मज्ञानविमर्शशीलाः सांख्येन योगेन ज्ञानाख्येन योगेनात्मस्वरूपंपश्यन्ति, अपरे च

पदवाच्य प्रकृति को जानता है अर्थात् लक्षण स्वरूप के द्वारा विवेक पूर्वक समीचीन रूप से जानता है वह विवेकी पुरुष किसी भी देव मनुष्यादि शरीर में वर्तमान भी तत्शरीरसम्बन्धी प्रारब्ध कर्म के अवसान समाप्त होने के वाद उस शरीर के पात हो जाने पर पुनः समुत्पन्न शरीरान्तर को धारण नहीं करता है अर्थात् शरीर समाप्ति के वाद आविर्भूत है आठ कल्याण गुण जिस में ऐसा विशुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त कर जाता है अतः पुनः इस संसार रूप महाजाल यानी दुःख महोदधि में उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ।।२४।।

प्रकृत विषय में स्वकीय अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हैं अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष के ज्ञान का क्या फल है उसे बतला करके विशुद्ध आत्म दर्शन का उपाय बतलाने के लिये कहते हैं 'ध्यानेनात्मनि' इत्यादि दो श्लोकों से कोई आत्मा का अनुध्यान करने वाला मेरा अनन्यभक्त आत्मा में अर्थात् स्वकीय देह में वर्तमान विशुद्ध आत्मा के स्वरूप को आत्मा से अर्थात् सद्गुरु तथा सास्त्र के द्वारा नियन्त्रित मन से तथा ध्यान से योग युक्त उपासना के द्वारा देखते हैं अर्थात् स्वकीय अनुभवात्मक ज्ञान का विषय करते हैं और इससे अन्य कोई उपासक आत्मज्ञान के विचारविमर्शन शील पुरुष सांख्य से योग से यानी ज्ञान लक्षण योग से आत्म स्वरूप को देखते हैं । इसकी अपेक्षा से भी जो मन्द अधिकारी हैं सरल साधन के अन्वेषण करनेवाले हैं वे कर्म योग से अर्थात् फलाभिसन्धि रहित परिणाम में ज्ञान लक्षण से मन से आत्मा को देखते हैं अर्थात् जिसने बरावर निदिध्यासन नहीं किया वह व्यक्ति वर्णाश्रमोचित निष्काम कर्म के अनुष्ठान से मन में निर्मलता का संपादन करके ज्ञानध्यान योग्यता को उत्पादन क्रम से आत्म स्वरूप को देखता है ।२५

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२६॥
यावत्संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥२७॥

ततो मन्दाधिकारिणः सरलसाधनधियः कर्मयोगेन फलाभिसन्धिशून्येन परिणतो ज्ञानभूतेनेति यावत् । मनसा पश्यन्ति ॥२५॥

अधिकार्यन्तरमाह—अन्य इति । अन्ये तु मन्दाधिकारिणो ध्यानज्ञानकर्मयोगयोग्यतामनवाप्यैवमुक्तेभ्यः साधनेभ्य आत्मस्वरूपमजानन्तोऽन्येभ्य आत्मविद्भ्यो गुरुभ्यस्तदात्मस्वरूपं श्रद्धाभक्तिभ्यां श्रुत्वा स्वाधिकारोचितकर्मभिरात्मानमुपासते । कर्मारम्भमनुद्योगा इति भावः । तेऽपि च श्रुतिपरायणाः श्रवणभक्त्यभ्यासतत्पराः सन्तो निर्धूताऽखिलान्तराया मृत्युं संसारमतितरन्त्येव । एवकारोऽवधारणार्थः । न ह्यत्र विषये सन्देहलेश इति भावः ॥२६॥

इदानीं प्रकृतिपुरुषयोः सम्यक् परिज्ञानाय सर्वत्र साम्य दर्शनमभिधीयते याव-

प्रोक्त अधिकारियों से अतिरिक्त अधिकारी का कथन करते हैं "अन्ये तु" इत्यादि । अन्य कोई मन्द अधिकारी ध्यान ज्ञान कर्म योग की योग्यता को नहीं प्राप्त किया हुआ पूर्वकथित साधनों से आत्म स्वरूप को नहीं जाननेवाला अन्य कोई आत्म ज्ञानी गुरु से परमात्म स्वरूप को श्रद्धा भक्ति द्वारा श्रवण करके स्वकीय अधिकार के उचित योग्य कर्म के द्वारा आत्मा की उपासना करते हैं । यद्यपि वह कर्म के अनुष्ठान करने में परिनिष्ठित नहीं है तथापि उत्साह विशेष से कर्म के आरम्भ करने में समुद्यत होनेवाला ऐसा भी श्रुति परायण श्रवण भक्ति के अभ्यास करने में तत्पर होने वा अर्थात् सद्गुरु के मुख से वेदान्त वाक्य के श्रवण करने में अनुरागवान् हो करके अभ्यास को अर्जित करके निष्काम कर्म करके सभी अन्तराय कर्म को विनष्ट करके ज्ञानध्यान की प्राप्ति के अनन्तर मृत्युरूप चाक्र संसार को अतिक्रमण कर जाते हैं । यहाँ एव शब्द अवधारण निश्चय अर्थ में है इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । एवम् क्रम परम्परा से मंदाधिकारी भी निश्चयतः संसार को अतिक्रमण कर ही जाता है इसमें थोड़ा भी सदेह करने का अवकाश नहीं है ॥२६॥

इसके बाद प्रकृति पुरुष का समीचीन रूप से ज्ञान हो इसलिए सर्व प्राणी में साम्यदर्शन का प्रतिपादन करते हैं 'यावदि त्यादि' हे भरतर्षभ ! भरतवंश में श्रेष्ठ हे अर्जुन ! जो कुछ भी स्थावर जङ्गम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्राणी मात्र समुत्पन्न होता है व सभी

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।२८।
समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् २९

दिति । हे भरतर्षभ ! यावत् किञ्चिदपि स्थावरात्मकं जङ्गमात्मकं च सत्त्वं भूतजातं सञ्जायते तावत् सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पारस्परिकसंयोगादेवोत्पद्यते संयुक्तयोरेव तयोः कार्यसम्पादकत्वं न तु विविक्तायाः प्रकृतेर्न वा पुरुषस्येति विद्धि ॥२७॥

सर्वेषु पूर्वोक्तेषु स्थावरजङ्गमेषु भूतेषु समं देवमनुष्याद्याकारप्रकारं विहाय ज्ञातृत्वैकाकारतयैव करणकलेवराध्यक्षतया परमेश्वरं तिष्ठन्तं देवाद्याकारेषु क्षेत्रेषु विनश्यत्स्वप्यविनश्यन्तं विनाशानर्हतया सर्वदैकरूपेण स्थितमेव यः कश्चित् पश्यति स एवात्मयाथात्म्यं पश्यति । स एव परमार्थदर्शीत्यर्थः । तदितरे जगद्व्यवहारदर्शिनोऽप्यन्धा एवेति भावः ॥२८॥

समदर्शनस्य फलमाह सममिति । सर्वत्र प्राकृतेषु तत्तद्देहेषु तत्तद्देहं धारयन्तं निया-

के सभी क्षेत्र प्रकृति क्षेत्रज्ञ जीवात्मा इन दोनों के पारस्परिक विलक्षण संयोग से ही सभी पदार्थ की उत्पत्ति होती है । संयुक्त प्रकृति पुरुष को ही कार्य संपादकता है न तु विविक्त केवल प्रकृति से कार्य होता है न वा केवल पुरुष से कोई कार्य होता है ऐसा तुम जानो ॥२७॥

प्रकृति पुरुष के विलक्षण संयोग से संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है उस जगत् में समतारूप से अवस्थित पुरुष को विवेक पूर्वक प्रदर्शन करने के लिये कहते हैं 'समं सर्वेषु' इति । पूर्वोक्त सभी स्थावर जंगमात्मक भूतों में समान देव मनुष्यादि आकार प्रकार को छोड करके ज्ञातृत्व रूप एकाकार से करण इन्द्रिय समुदाय कलेवर शरीर के अध्यक्ष अधिष्ठाता रूप से निवास करते हुए परमेश्वर क्षेत्रज्ञ को देव मनुष्याकार क्षेत्र के विनष्ट होने पर भी विनाश को नहीं प्राप्त करते हुए विनाश के योग्य नहीं होने से सर्व समय में एकरूप से विद्यमान ही क्षेत्रज्ञ को जो अधिकारी जानता है वही अधिकारी आत्म याथातथ्य को आत्मा की यथार्थता को देखता है अर्थात् वही समदर्शी है । इससे इतर जो है अर्थात् देवादि देह भेद से भिन्न आत्मा को देखते हैं वे जगत् व्यवहार को केवल देखनेवाले हैं वास्तविकता रूप से विचार करेंगे तो वे लोग अन्धे ही हैं ॥२८॥

समदर्शन का फल क्या है इस जिज्ञासा के उत्तर में समदर्शन के फल को बतलाते हुए कहते हैं "सम " सर्वत्र सभी जगह अर्थात् प्रकृति से जायमान तत्तत् देव

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥३०॥

मकत्वेन समवस्थितमीश्वरमात्मानं तत्तदाकाररहितं तदीयज्ञातृत्वैकाकारत्वेन समं पश्यन् तत्वदर्श्यात्मना स्वकीयमनसाऽऽत्मानं स्वकीयमात्मानं न हिनस्ति- क्लिष्टे संसारबन्धनेनैव प्राक्षिपति । आत्महिंसकानां दुर्गतिरीशावास्ये श्रुतय 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' ईशा० ३ इति । ततो ज्ञातृत्वैकाकाररूपेण सर्वत्र साम्यदर्शनात् परामुत्तमां गतिं विशुद्धरूपमात्मानं यात्यवाप्नोति ॥२९॥

पूर्वोक्तमेवोपपादयति—प्रकृत्येति । सर्वशः सर्वाणि कर्माणि करणकलेवरादिरूपेण परिणतया प्रकृत्यैव क्रियमाणानि यः साधकः पश्यति तथाऽऽत्मानं प्रकृतिवियुक्तत्वात्

मनुष्यादि शरीर में तत्तत् देव मनुष्य तिर्यगादि देह को धारण करनेवाले नियामक रूप से समवस्थित ईश्वर आत्मा को तत्तत् देव मनुष्यादि आकार से सर्वथा रहित परन्तु तदीय ज्ञातृत्वाकार से समान देखता हुआ तत्वदर्शी आत्मा से अर्थात् स्वकीय मन से आत्मा को अर्थात् स्वकीय आत्मा को हिंसन नहीं करता है मारता नहीं है अर्थात् क्लेश युक्त संसार बन्धन में प्रक्षेप नहीं करता है अर्थात् अपनी आत्मा को संसार सागर में नहीं डुबाता है । जो आत्म हिंसक है उसकी दुर्गति होती है यह बात ईशावास्योपनिषद् में सुनाई गई है "असुर्यानामित्यादि" असुर्या नाम के लोक हैं जो कि गाढान्धकार से आच्छादित हैं उस असुर्यानामक लोक को वह आदमी प्राप्त करता है जो लोग आत्मघाती हैं अपनी आत्मा की हिंसा करनेवाले व्यक्ति इस प्रकृत शरीर को छोडने के बाद गाढान्धकार युक्त असुर्यानामक लोक में जाते हैं इसलिये ज्ञातृत्वमात्र आकार से सर्वत्र देव मनुष्यादि शरीर में साम्य दर्शन से परा उत्तमा गति को विशुद्ध आत्म स्वरूप को समदर्शी साधक प्राप्त करते हैं ॥२९॥

पूर्वकथित पदार्थ का ही पुनः उपपादन करते हैं "प्रकृत्यैव चेत्यादि" । सभी प्रकार के कर्म को करण बाह्याभ्यन्तर रूप इन्द्रिय तथा कलेवररूपसे परिणत प्रकृति से क्रियमाण को जो साधक देखता है तथा आत्मा को प्रकृति वियुक्त होने से कर्तृत्वादि धर्मरहित स्वरूप को जो साधक देखता है यथावत् देखनेवाला वही है जो क्रियमाण सभी कर्म को आत्मकर्तृक नहीं समझता है किन्तु प्रकृति से क्रियमाण सभी कर्म है ऐसा जानने वाला है वही साधक वास्तविक समदर्शी—तत्वदर्शी है । इससे भिन्न जो मत है अर्थात् आत्मकर्तृक कर्म को

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३१॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ३२

कर्तृत्वादिधर्मरहितं च यः पश्यति स एव पश्यति यथावद्दर्शनकर्त्तेत्यर्थः । इतोऽन्ये तु सत्यपि चक्षुषि तात्त्विकदर्शनाभावबलादन्धा एवेति भावः ॥३०॥

एवं समत्वमुक्त्वा विकारित्वनिर्विकारित्वादिधर्मैर्वैषम्यमुच्यते—यदेति । भूतपृथग्भावं क्षेत्रक्षेत्रज्ञोभयतत्त्वसमन्वितेषु देवमनुष्यादिसमस्तभूतेषु पृथग्भावं तत्तद्भूतानां देवत्वमनुष्यत्वरूपेण ह्रस्वत्वदीर्घत्वरूपेण शौक्ल्यकार्ष्ण्यादिरूपेण च पृथक्त्वमेकस्यां प्रकृतौ स्थितं यदाऽनुपश्यति ज्ञानदृष्ट्या निश्चिनोति तत एव च विस्तारं तदेकतत्त्वतः प्रकृतित एवाखिलजगद्विस्तारञ्च यदा पश्यति तदा तथा दर्शनकाल एव ब्रह्म सम्पद्यते । ज्ञानाकारेण ज्ञानगुणेन च ब्रह्मसम्प्राप्नोतीत्यर्थः ॥३१॥

पूर्व कथित प्रकार से ज्ञानैकाकारता रूप से समदर्शन का प्रदर्शन करके आत्मा में निर्विकारित्व तथा प्राकृतिक देहादिक में सविकारित्वादि लक्षण धर्म द्वारा विषमता का कथन करने के लिये प्रक्रम कहते हैं "यदाभूत पृथगित्यादि" । हे अर्जुन ! भूत पृथक्भाव को अर्थात् क्षेत्रशरीरादिक तथा क्षेत्रज्ञ जीव एतादृश उभयतत्व समन्वित देव मनुष्य तिर्यक् प्रभृति समस्त भूत में पृथक्भाव अनेककारता देव में देवत्व मनुष्य में मनुष्यत्व इत्यादिरूप से तथा यह लंबा है यह छोटा है इस प्रकार ह्रस्वत्व दीर्घत्व रूप से एवं यह गौर है यह काला है इत्यादि गौरत्व कृष्णत्व रूप से पृथक्त्व परस्परभेद को एक में एक ही प्रकृति में स्थित इस भेद को जब साधक देखता है अर्थात् ज्ञान दृष्टि से न तु चर्मचक्षु से बराबर निश्चित करता है और तत एव उसी एकतत्व प्रकृति से ही अखिल समस्त जगत विस्तार को ज्ञानदृष्टि से देखता है जब तब उसी तादृश दर्शन काल में ब्रह्म संपन्न हो जाता है अर्थात् ज्ञानाकार से और ज्ञानगुण से ब्रह्म की समता को प्राप्त कर जाता है । जीवों में देवमनुष्यादि प्रकार से जो भेद है वह प्रकृति सम्पादित है एवं गौर कृष्णादिरूप परस्पर विभेद भी प्रकृति बल से ही होता है ऐसा जब जो साधक समझता है तभी वह ब्रह्म समानता को प्राप्त कर लेता है ॥३१॥

प्रकृति से वैधर्म्य आत्मा में है इस विषय का प्रतिपादन करके अब प्रकृति संसर्गरहित आत्मा में कर्तृत्व नहीं है किन्तु मैं करता हूं इत्याकारक जो आत्मा में कर्तृत्व का अभि-

प्रोक्तमात्मनो वैधर्म्यं प्रकृतित इदानीमकर्तृत्वादिकमात्मनि संगमयति अना-दित्वादिति । अयं क्षेत्रज्ञः करणकलेवराधिष्ठातृतया परमात्माऽनादित्वाच्छरीरादिवदा-द्यन्तरहितत्वान्निर्गुणत्वात् प्राकृतगुणरहितत्वादव्ययः सर्वथा विकाररहितः शरीरस्थि-तोऽपि प्राक्तनकर्मसम्बन्धाच्छरीरे वर्तमानोऽपि हे कौन्तेय ! स्वरूपेण न करोति कर्तृत्वाभिमानं न धत्ते न लिप्यते देहधर्मैर्न सम्बद्ध्यते । परैः परमात्मपदेन परम पुरुषोऽत्र गृहीतः स चायुक्तः, क्षेत्रक्षेत्रज्ञनिरूपणायैवाध्यायस्यारम्भात् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-योरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा, (गी १३।३४) इति तन्निरूपण एव च समाप्तेः ॥३२॥

मान लोक सिद्ध है वह भी प्रकृति संसर्ग विशिष्ट आत्मा में ही है नतु प्रकृति सम्बन्ध रहित आत्मा में शुद्धात्मा में तो स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है इस प्रकार से आत्मा में अकर्तृत्वादि का संगमन करने के लिए गीताचार्य कहते हैं"अनादित्वादित्यादि" । हे अर्जुन ! यह क्षेत्रज्ञ जीव करण चक्षुरादिक तथा कलेवर इन्द्रियाश्रय शरीर का अधिष्ठाता है इस कारण परमात्मा है और अनादि शरीरेन्द्रियादिक भौतिक पदार्थ के समान आद्यन्त उत्पादविनाश रहित होने से तथा निर्गुण प्रकृति जनित सत्वादि गुण रहित होने से अव्यय है सर्वथा जन्मादि षड्विकार रहित है यह क्षेत्रज्ञ शरीर में रहता हुआ भी अर्थात् पूर्वभवोपार्जित शुभाशुभ कर्म के वश से इस शरीर में वर्तमान रहता हुआ भी हे कौन्तेय ! स्वरूप स्वकीय स्वाभाविक ज्ञानाकाररूप से कुछ नहीं करता है अर्थात् मैं करता हूं इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान को कभी भी धारण नहीं करता है। शरीर सम्बन्ध से तत्तत् कर्म को करता हुआ भी स्वाभाविक स्वकीय ज्ञानाकार रूप से नहीं करता है स्वरूपतः तो वह आत्मा अकर्ता ही है और कर्म से लिप्त नहीं होती है अर्थात् देह का जो स्थूलत्व कृशत्व धर्म है उससे सम्बद्ध नहीं होता है जैसे सर्वदा पानी के अन्दर ही रहने वाला कमल पत्र जल धर्म से तथा जल से लिप्त नहीं होता है इसी प्रकार प्रकृति में रहता हुआ भी जीव प्रकृति धर्म से कभी भी सम्बन्ध नहीं होता है वस्तुतः क्षेत्रज्ञ में अकर्तृत्व ही है। अन्य कतिपय टीकाकारों ने इस श्लोकस्थ परमात्मपद से सर्वेश्वर परमपुरुष का ग्रहण किया है क्षेत्रज्ञ का नहीं वह ठीक नहीं है क्योंकि यह अध्याय क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का निरूपण करने के लिये प्रवृत्त हुआ है और "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञान चक्षुषा" इत्यादि ग्रन्थ से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ही अध्यायान्त तक निर्वचन किया गया है तब अकस्मात् मध्य में श्लोक विशेष में परमात्मा परमपुरुष का ग्रहण कैसे हो सकता है ॥३२॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।३३।

निर्लेपत्वं दृष्टान्तेन विशदयति यथेति । यथाऽऽकाशं सर्वगतं सर्वैः स्थूल-दीर्घवक्रत्वादिधर्मकैः पदार्थैः संयुक्तमपि स्वकीयसौक्ष्म्यान्निरन्वयत्वादिस्वाभाव्यान्नोपलिप्यते तदीयधर्म्मैर्व्यपदिष्टं न भवति तथात्मापि सर्वेषु देहेष्ववस्थितोऽपि तत्तद्देहधर्म्मैर्नोपलिप्यते । असंस्पृष्ट एव तिष्ठति देहगतगुणदोषैर्न सम्बद्ध्यत इत्यर्थः ॥३३॥

शरीरावस्थित भी आत्मा कर्ता नहीं है क्योंकि अनादि तथा निर्गुण होते तो अनादित्व निर्गुणत्व हेतुद्वय कर्तृत्वाभाव का साधक था परन्तु शरीर में रहने पर भी शरीरधर्म से सम्बद्ध नहीं होना रूप निर्लेपत्व तो असंभवित है क्या केशर के सम्बन्ध में पडा हुआ कुसुम का फूल केशर धर्म विलक्षण गंध से वंचित रहता है इसी प्रकार देहावस्थित आत्मा कभी भी देहधर्म से असम्बद्धता रूप निर्लेप रहेगा यह युक्त नहीं है इस शंका का उत्तर दृष्टान्त द्वारा निराकरण के अभिप्राय से दृष्टान्त बतलाते हुये निर्लेपता का प्रतिपादन करते हैं "यथा सर्वगतमित्यादि" हे अर्जुन ! आपका कहना ठीक है कि शरीरमें रहकर आत्मा निर्लेप कैसे कहला सकती है परन्तु जैसे सर्वगत अर्थात् सर्व विकार में व्यापक होने के कारण सभी प्रकार का जो स्थूलत्व दीर्घत्व वक्रत्व स्निग्धतादि धर्मविशिष्ट पदार्थ घटपटादि के साथ सर्वदा संबद्ध होते हुए भी स्वकीय आकाश स्थित सूक्ष्मता निरन्वयित्वादि स्वभाव के कारण उभय पदार्थ धर्मों से उपलिप्यमान नहीं होता है अर्थात् घटादि धर्मस्थूलता दीर्घतादि के द्वारा आकाश स्थूल दीर्घ समल निर्मल है इत्यादि व्यवहार का विषय नहीं होता है इसीप्रकार आत्मा भी सभी देह में अवस्थित रहती हुई भी सूक्ष्मता असंगतता के कारण तत् तत् देह धर्म से उपलिप्त नहीं होती है असंस्पृष्ट होकर ही रहती है अर्थात् देह के गुणदोष से कभी भी सम्बद्ध नहीं होती है। श्रुति कहती है "असंगोह्ययं पुरुषः" यह आत्मा स्वभावतः असंग है। अतएव कहा है कि "वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्तितयोःफलम्" वर्षा तथा आतप से आकाश में क्या फलहै चर्म में फल है" अर्थात कितनी भी वर्षा होतो आकाश भींगता नहीं है अथवा चाहे कितनी भी धूप पडे तो आकाश सूखता नहीं है तद्वत् आत्मा में भी समझें। यह भी कोई नियम नहीं है कि जो जिसमें हो आधार के गुण दोष से संपृक्त होता है जैसे केशर में पडा हुआ भी लशून केशर की सुगंधिता से सुगंधित कभी नहीं होता है। इसी प्रकार से शरीर में रहती हुई भी आत्मा शरीर धर्म से कभी सम्बद्ध नहीं होती है असंगता के कारण ३३

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ? ।३४।

यथाकाशवदत्यन्ताऽसङ्ग एवायमात्मा स्याचदा शरीरेऽपि कथमस्य ज्ञानसुखो-पलब्धिरित्यतो दृष्टान्तान्तरमाह यथेति । हे भारत ! यथा प्रभाकर एक एव इममखिलं लोकं स्वेनालोकेन प्रकाशयति तथा क्षेत्र्यपि स्वकीयं कृत्स्नं सर्वा वयवविशिष्टं क्षेत्रं स्वधर्मभूतेन ज्ञानेन प्रकाशयति । तथा च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्रकाश्यप्रकाशकाभावात् परस्परवैलक्षण्यमित्यपि सूचितम्भवति ॥३४॥

यदि "असंगोह्ययं पुरुषः" यह आत्मा असंग है इस श्रुति से तथा आकाश दृष्टान्त से यदि इस क्षेत्रज्ञ को अत्यन्त असंग मानें तब तो स्वकीय देह में सर्वलोकानुभवसिद्ध जो सुख दुखादि का साक्षात्कार होता है वह कैसे उपपन्न होगा इसके उत्तर में अन्य दृष्टान्त दे करके तादृश अनुभव की उपपत्ति के लिये कहते हैं—"यथा प्रकाशयतीत्यादि" हे भारत ! यथा जिस प्रकार रवि प्रभाकर सूर्य एक एव अकेला ही यह जो संपूर्णजगत है उसे स्वकीय आलोक प्रकाश से प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ जीवात्मा भी स्वकीय सर्वावयव विशिष्ट क्षेत्र शरीर को स्व के जीव के धर्मभूत ज्ञान से प्रकाशित करता है। जैसे सूर्य आकाश के एक देश में अवस्थित होते हुए भी स्वकीय प्रदीप्त किरण के द्वारा समस्त भूरादिमण्डल को अवभासित करता है इसी प्रकार ज्ञानाकार यह क्षेत्रज्ञ धर्मभूत प्रकाशात्मक ज्ञान से पादतल से लेकर शिरोभाग तक सर्वावयव विशिष्ट शरीर को शरीर के एक देश हृदय में अवस्थित हो करके प्रकाशित करता है अर्थात् अनेकावयव विशिष्ट स्वकीय शरीर यह एक ही आत्मा स्वकीय ज्ञानप्रभा से बाह्य आभ्यन्तर प्रत्येक अवयव को व्याप्त करके तत्तदवयवावच्छेदेन जायमान सुख:दु:खादि के पर्याय से अनुभव करता है। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि क्षेत्रज्ञ प्रकाश्य प्रकाशक भाव होने से तथा कर्तृकर्म भाव होने से परस्पर भेद प्रदर्शित होता है अर्थात् जैसे देवदत्त ग्राम जाता है यहां देवदत्तजन्य जो क्रिया ग्राम गमन रूपा है तादृश क्रियाजन्य जो फल उत्तरकालिक संयोगात्मकफल है तदाश्रय रूप ग्रामकर्म है और देवदत्त कर्ता होने से देवदत्त तथा ग्राम दोनों एक नहीं कहलाता है अपितु परस्पर भिन्न है इसी प्रकार प्रकृत में प्रकाश रूप क्रिया से प्रकाश्य देह कर्म है और देहावच्छिन्न चेतन कर्ता है अतः दोनों परस्पर एकान्ततः भिन्न है इस से यह सिद्ध हुआ। चार्वाक जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं उनका मत अशास्त्रीय होने से उसके खण्डन की तरफ भाष्यकार ने इशारा किया है ॥३४॥

पूर्व कथित प्रकार से त्रयोदशाध्याय प्रतिपाद्य जो प्रकृति तथा पुरुष—क्षेत्रज्ञ इन दोनों

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।१३।

एवमध्यायप्रतिपाद्यप्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपपरिज्ञानस्य तद्विषयकज्ञानस्य च फलं प्रतिपादयन् प्राकरणिकार्थमुपसंहरति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । एवं प्रोदीरित प्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं परस्परवैलक्षण्यं परिणामित्वापरिणामित्वाज्ञत्वज्ञातृत्वादिप्रकारेण ज्ञानचक्षुषा ये विदुर्भूतप्रकृतिमोक्षं भूतानां जन्तूनां या प्रकृतिः कर्माख्याविद्या तस्याः मोक्षं मुक्तेरुपायश्च ये विदुस्ते विमुक्तकर्मबन्धाः परं प्रकृतिवियुक्तं शुद्धमात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥३५॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः।१३।

का स्वरूपविषयक ज्ञान का तथा तत्तद्विषयक ज्ञान का जो फल उसका प्रतिपादन करते हुए प्राकरणिक पदार्थों का उपसंहार करते हुए कहते हैं "क्षेत्रक्षेत्रज्ञ योरित्यादि" पूर्वकथित प्रकार से क्षेत्र-शरीरादिक तथा क्षेत्रज्ञशरीराधिष्ठाता आत्मा इन दोनों का अन्तर अर्थात् परस्पर वैलक्षण्य भेद को तथा प्रकृति में परिणामित्व पुरुष में अपरिणामित्व एवं प्रकृति में अज्ञत्व जडत्व और पुरुष में ज्ञातृत्व ज्ञान स्वभावता इत्यादि प्रकारक ज्ञान लक्षण चक्षु साधन से जो साधक जानता है और भूत प्रकृति का मोक्ष अर्थात् भूतों की जो प्रकृति जनक कर्माख्य अविद्या उस अविद्या का मोक्ष अर्थात् मोक्षोपायत्व को जो साधक जानता है वह साधक पूर्वानेकभवोपार्जित कर्मबन्धन से विमुक्त होकर पर अर्थात् प्रकृति से रहित अति विशुद्ध स्वभावतः सर्वथा निर्मल आत्माको प्राप्त कर जाते हैं क्योंकि श्रुति कहती है "तरतिशोकमात्मवित्" आत्मज्ञानी शोक पदवाच्य कर्मबन्धन को पार करके निर्मल आत्मा स्वरूप को मोक्ष को प्राप्त करजाता है ॥३५॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रियः श्रियै नमः

परब्रह्मणे श्रीरामाय नमः

आनन्दभाष्यकार श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यविभूषिता

ॐ श्रीमद्भगवद्गीता ॐ

ॐ चतुर्दशोऽध्यायः ॐ

ॐ श्रीभगवानुवाच ॐ

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।१।

पूर्वाध्याये प्रकृतिपुरुषस्वरूपं प्रकृतेः संसर्गात् पुरुषक्षेत्रज्ञपदोदितस्यात्मनः संसारः 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इत्यादि गी० १३ वाक्यैरवधारितम् । उपसंहारवाक्ये च 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा । भूत प्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्, गी० १३।३५ इति भूतप्रकृतिमोक्षवेदनस्य परगतिप्रापकत्वादयमात्मा गुणसङ्गप्रयुक्तः संसरति तन्निवृत्तौ संसारान्निवर्त्तत इत्येवायातम् । अतोऽत्राध्यायेऽस्य क्षेत्रज्ञस्य गुणासक्तेर्हेतुताप्रकारस्तन्निर्वर्तनप्रकारश्च विचिन्त्यते ।

एतदव्यवहित पूर्वाध्याय त्रयोदशाध्याय में प्रकृति तथा पुरुष के स्वरूप का कथन किया गया है । एवं प्रकृति के सम्बन्ध से क्षेत्रज्ञपद तथा पुरुषपद से कथित जो आत्मा उसको संसार होता है "आत्मा का सदसद् योनि में जन्म कारण है गुणसङ्ग अर्थात् प्रकृति के सम्बन्ध से आत्मा को जन्म की प्राप्ति होती है" इत्यादि वाक्य के द्वारा निश्चित किया गया है । एवम् उपसंहार वाक्य में भी "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो रित्यादि" क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का जो अन्तर भेद है उसको ज्ञानचक्षु से तथा भूत प्रकृति मोक्ष को जो जानते हैं वे अधिकारी प्रकृति सम्बन्ध रहित अतएव विशुद्ध आत्मपद को प्राप्त कर जाते हैं इस भूत प्रकृति के मोक्षज्ञान को परमगति प्रापकत्व का कथन होने से यह आत्मा गुण प्रकृति के सम्बन्ध से युक्त होने पर संसरित होती है और प्रकृति सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाने पर संसार बन्धन से विमुक्त हो जाती है ऐसा फलितार्थ ज्ञात होता है । इसलिये इस चतुर्दशाध्याय में क्षेत्रज्ञ पुरुष को गुण सम्बन्ध की कारणता का प्रकार तथा गुण सम्बन्ध के निवृत्ति प्रकार की चिन्ता की जाती है अर्थात् गुण सम्बन्ध का कारण तथा गुण निवृत्ति के कारण प्रकार को कहेंगे । वक्ष्यमाण विषय में श्रोता की रुचि उत्पादन करने के लिये अर्जुन आभिमुख्य फल को

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।२।

तत्र वक्ष्यमाणार्थे श्रोतृणामभिरुच्युत्पत्तयेऽभीप्सितफलप्रदायित्वेनैतज्ज्ञानं द्वाभ्यां स्तुवन् श्रीभगवानुवाच परमिति । पूर्वोक्तप्रकृतिपुरुषज्ञानाद्विलक्षणं प्रकृतिपुरुषसम्बन्ध्येव त्रिगुणविषयकं ज्ञानं भूयः पुनरपि प्रवक्ष्यामि । तच्च ज्ञानानां प्रोक्तानां प्रकृति पुरुषविषयाणां ज्ञानानां मध्य उत्तमं यज्ज्ञानं ज्ञात्वा सर्वे मुनयस्तन्मननशीला महात्मान इतस्तज्ज्ञानप्राप्तदेहात् तत्परित्यज्यात्मसाक्षात्काररूपां परामुत्कृष्टां सिद्धिं गताः समधिगतवन्तः ॥१॥

पूर्वं सम्यग् ज्ञानेन परसिद्धिरभिहिताऽधुना सम्यगनुष्ठानेन विशिष्टं फलमभिधत्ते इदमिति । इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानं साधनसहितमुपाश्रित्यानुष्ठाय मम साधर्म्यमा-

देने वाला होने से इस ज्ञान का अर्थवाद-प्रशंसा दो श्लोकों से करते हुए श्रीभगवान् बोलते हैं—"परं भूयः" इत्यादि । पूर्वकथित जो प्रकृति पुरुष विषयक ज्ञान है उस ज्ञान से विलक्षण भिन्न तथापि प्रकृति पुरुष सम्बन्धी ज्ञान का जो कि त्रिगुणविषयक है उसी ज्ञान को भूयः पुनरपि उसीज्ञान के विषय में कहता हूं अर्थात् त्रयोदशाध्याय में प्रकृति पुरुष के स्वरूप को कहा गया है और उसी अध्याय में प्रकृति पुरुष के स्वरूप को भी कहा गया है और उसी अध्याय में प्राकृतधर्म के निरूपण में लगजाने के कारण सत्वादिगुण का निरूपण अत्यन्त संक्षेप से किया किन्तु विशेष रूप से सत्वादि गुणों का निर्वचन नहीं हुआ अतः इस चौदहवें अध्याय में विशेष रूप से सत्वादि गुण का परिचय कराने के लिए कहते हैं । भूयः इस पद का प्रयोग किया है यह वक्ष्यमाण जो ज्ञान है वह पूर्व कथित प्रकृति पुरुष विषयक जो ज्ञान है उस के मध्य में यह उत्तम है जिस ज्ञान को जान करके सभी मुनि लोगों ने ज्ञान के मननशील महात्मा लोगों ने इस ज्ञान प्राप्त देह से उस देह को छोडकरके आत्मसाक्षात्कार लक्षण उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त किया ॥१॥

पूर्व में सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होने से परासिद्धि होती है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होता है ऐसा कहा है । अभी इस ज्ञान के तथा तत्साधन के अनुष्ठान करने से अनिष्ट निवृत्तिरूप विशिष्टफल को बतलाने के लिए कहते हैं "इदं ज्ञानमित्यादि" यह वक्ष्यमाण जो ज्ञान है साधन (कारण) सहित उस ज्ञान का आश्रय ले करके अर्थात् ससाधन ज्ञान का अनुष्ठान करके मेरे साधर्म्य को निरञ्जन सर्वदुःख रहित जीव परमेश्वर की परमसमता को" प्राप्त कर जाता है एतत् श्रुति कथित समता को प्राप्त किये हुए साधक लोग सर्ग में जगत्

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ।३।

गताः 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुत्युक्तं साम्यमवाप्ताः सर्गेजगत्सर्गे ते नोत्पद्यन्ते प्रलयेऽपि च न व्यथन्ति जन्ममरणादिक्लेशान् कदापि नानुभवन्ती-त्युत्तरार्थः ॥२॥

प्रतिज्ञातं वक्तुमुपक्रमते ममेति । योनिश्चराचरात्मकस्याखिलविश्वस्योद्भवस्थानं यन्महद्ब्रह्मास्ति । अत्र महद्ब्रह्मशब्देन भगवच्छरीरतया पूर्वमुपदिष्टामहत्तत्त्वादि-परिणामजननी सर्वचराचरवस्तूनां मूलकारणरूपाऽचिच्छब्दवाच्याऽपराप्रकृतिरेवोच्यते । ब्रह्मपदप्रयोगस्तु परब्रह्मणो भगवतो विशेषणभूतायामस्यामप्रकृतावपि दृश्यते 'तस्मादेत-द्ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते' इत्यादिषु, तस्मिन् महति ब्रह्मणि गर्भं दधाम्यहम् अनाद्यविद्याकर्मपरिबद्धांपरप्रकृतिपदोदितां मच्छेषत्वैकस्वभावां चेतनप्रकृतिं यथावत्

की उत्पत्ति के समय में वे लोग उत्पन्न नहीं होते हैं एवं प्रलय में जगत् के संहारकाल में व्यथित नहीं होते हैं अर्थात् जन्ममरण जनित क्लेशदुःख को कभी भी अनुभव नहीं करते हैं अर्थात् ससाधन यथोक्त ज्ञान के अनुष्ठान करनेवाले व्यक्ति जन्ममरण रहित हो जाते हैं ॥२॥

प्रतिज्ञात जो वस्तु है उसीका उपक्रम करते हैं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञान की प्रशंसा करके परमेश्वराधीन प्रकृति से ही सर्ग प्रलय होता है नतु सांख्यमत के समान ईश्वरानपेक्ष केवल प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध से सर्ग प्रलय होता है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "ममेत्यादि श्लोकद्वय से " योनि-चर अचर लक्षण जो समस्त जगत् एतादृश जगत् का उद्भव स्थान जो महद् ब्रह्म है । यहाँ महद् ब्रह्म शब्द से परमपुरुष के शरीररूप से पूर्व सप्तम अध्याय में कथित महत्तत्त्व अहंकारादि को उत्पादन करनेवाली सर्व चराचर जड चेतन पदार्थों का मूल कारण अचित् शब्द से प्रतिपाद्य अपरा प्रकृति का ही कथन होता है ब्रह्मपद के संनिधान से परमपुरुष का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि ऐसा अर्थ करने से प्रकरणविरोध होगा । यद्यपि ब्रह्मपद का प्रयोग परमेश्वर में ही देखने में आता है तथापि ब्रह्मपद का प्रयोग पर ब्रह्म के विशेषणीभूत इस प्रकृति में भी देखने में आता है । "उस परम पुरुष से यह प्रकृतिरूप ब्रह्मनामरूप अन्न ये सब उत्पन्न होते हैं" इत्यादि स्थल में । उस महत् ब्रह्म प्रकृति में मैं परमपुरुष गर्भ को धारण करता हूँ अनादि अविद्या कर्म से परिबद्ध सम्बद्ध परम प्रकृति पद से कथित मच्छेषैक स्वभावक पर चेतन प्रकृति

सर्वयोनिषु कौन्तेय ? मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।४ ।

संयोजयामि । हे भारत ? ततस्तस्मात् पराऽपरप्रकृतिसंयोगरूपगर्भात् सर्वभूतानां चराचराणां जगत्पदार्थानां सम्भवः समुत्पत्तिर्भवति । मदाश्रयमनवाप्य न केवलं प्रकृतिपुरुषौ किमपि कर्तुमर्हत इति भावः ॥३॥

सर्वास्ववस्थासु मत्कृत एव प्रकृतिपुरुषसंसर्ग इत्याह सर्वयोनिष्विति ? हे कौन्तेय ? सर्वयोनिषु देवमनुष्यपश्वादिषु या मूर्तयो विचित्रसंस्थानवत्यस्तनवः सम्भवन्ति समुद्भवन्ति तासां मूर्तीनां महद् ब्रह्म योनिश्चित्संसृष्टा महदादिविशेषान्ता प्रकृतिरेव कारणमहं बीजप्रदः पिता सर्वकारणकारणमहं बीजाधानस्य कर्ता जनकस्थानीयोऽस्मि कर्मानुगुणचेतनवर्गस्य तत्र संयोजको भवाम्यतो मदायत्तमदुत्पादकमेवेदं चराचरं जगत् ॥४॥

जीव को यथावत् संयोजित करता हूं अर्थात् अपरा पराप्रकृति को तथा प्रकृति चेतना को परस्पर सम्बद्धकर देता हूं इनदोनों प्रकृतियों के परस्पर संयोग का ही नाम है गर्भ धारण नतु प्राकृत लौकिक गर्भधारण के समान यहाँ गर्भ धारण है । हे भारत अर्जुन ! उसके बाद उस परापर प्रकृति द्वय का संयोगरूप जो गर्भ है तादृश गर्भ से सर्वभूतों का अर्थात् चराचर जागतिक पदार्थों का संभव होता है अर्थात् पदार्थ मात्र की उत्पत्ति महदादिक्रम से होती है मुझ परमपुरुष के आश्रय को लेकरके ही उत्पत्ति होती है नतु केवल प्रकृति तथा पुरुष कुछ भी काम करने में समर्थ हैं क्योंकि ये सभी पदार्थ मेरे अंग होने से पराधीन हैं ॥३॥

सभी अवस्थाओं में मत्कृत परमेश्वर से ही संपादित प्रकृति पुरुष का विलक्षण संयोगजनित सर्ग से प्रजाओं की उत्पत्ति होती है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "सर्वयोनिषु" इत्यादि । हे कौन्तेय ! देव मनुष्य पशु तिर्यक् प्रभृतिक सभी योनियों में जो मूर्ति विचित्र विलक्षण संस्थान आकारप्रकारवान् शरीर समुदाय समुत्पन्न होता है उन सभी मूर्तियों की महद्, ब्रह्मयोनि है चेतन से सम्बद्ध महत्तत्व से लेकर महाभूतान्त प्रकृति ही कारण है मैं परमेश्वर तो बीज देनेवाला पिता स्थानापन्न हूं अर्थात् सर्वकारण का कारणमैं बीजाधान का कर्ता हूं जनक लौकिक पिता के स्थानापन्न हूं पूर्वभवोपार्जित कर्म के अनुकूल चेतनवर्ग का संयोजक होता हूं इसलिये मेरे अधीन उत्पादक से उत्पादित यह

 सम्पूर्ण जगत् है नतु अन्य से उत्पादित है ।४

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।५।
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ! ।६।

एवं परमपुरुषायत्तप्रकृतिपुरुषाभ्याञ्जगत्सर्गमुपपाद्य सर्वस्य पुनः पुनः संसृतिर्गुणकृतेति निरूपयति सत्त्वमिति । हे महाबाहो ! सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणाः प्रकृतिसम्भवाः प्रकृतेरवस्थाविशेषरूपेणैकीभूयावस्थिताः प्रकाशप्रवृत्तिमोहकार्याः सर्वदा प्रवृत्तिमन्तो देहे महत्तत्त्वादिभिरारब्धेऽस्मिञ्छरीरे देहिनं देहाद्यभिमानवन्तं स्वरूपेणाव्ययमपि निबध्नन्ति जगद्बन्धं प्रापयन्तीत्यर्थः ॥५॥

अथ गुणानां स्वरूपं लक्षणञ्चाह—तत्रेति त्रिभिः । हे अनघ ! तत्र तेषु त्रिषु

परमपुरुष के अधीन होकर प्रकृतिपुरुष के संसर्ग से जगत् का सर्ग होता है न कि स्वतंत्र पुरुष प्रकृति से सर्ग होता है इस विषय का प्रतिपादन सर्वपदार्थ का पुनः पुनः संसरण जो होता है वह प्राकृत सत्त्व रजस्तम गुणमय के सम्बन्ध से होता है तो इसलिए गुण का परिचय कराने के लिये कहते हैं "सत्वं रजः" इत्यादि । हे महाबाहो ! महाबाहो इस सम्बोधन से यह बतलाते हैं कि जैसे सामुद्रिक शास्त्रोक्त बाहुवाला पुरुष अपने शत्रु को बन्धन में डाल देता है उसी प्रकार ये जो सत्वादिक गुण हैं वे भी स्वभाव से अव्यय नित्य भगवदवयवीभूत जीव को भी बन्धन करने में समर्थ होजाता है ।

सत्व गुण रजोगुण तमो गुण ये तीन गुण हैं जो कि मूल- भूत प्रकृति से जायमान हैं । प्रकृति के अवस्था विशेष रूप से एक रूप से अवस्थित हैं प्रकाश प्रवृत्ति तथा मोह को सत्यरूप से करनेवाले हैं और कभी भी बैठनेवाले नहीं परन्तु सर्वदैव प्रवृत्तिमान् हैं ये गुणत्रय इस देह में अर्थात् महत्तत्व से लेकर महाभूतान्त तत्व से समुत्पन्न इस शरीर में स्वभाव से ज्ञानाकार से अव्यय सर्वविकार रहित भी जीव को जिन्हें देह के साथ तादात्म्य का अभिमान् है तादृश पुरुष को जगत् बंधन में डालते हैं ॥५॥

सामान्यरूप से गुणत्रय के स्वरूप को कथन करके अब विशेषरूप से सत्वादिगुण के स्वरूपलक्षण और उनका क्या कार्य है, इन सब वस्तुओं को बतलाने के लिये कहते हैं "तत्रेत्यादि तीन श्लोकों से ।" हे अनघ ! मेरे दर्शनमात्र से विधूत हो गया है अघ जिसका ऐसे हे अर्जुन ! तत्र—निरूप्यमाण गुणत्रय के मध्य में प्रथम जो सत्वगुण है वह निर्मल होने के कारण

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ? कर्मसंगेन देहिनम् ।७।

गुणेषु मध्ये सत्त्वं सत्त्वगुणस्वरूपं निर्मलत्वान्मण्यादिवत् प्रकाशकं ज्ञानसुखाद्यावृत्तिराहित्यमत्रनैर्मल्यं तेन सर्वत्र ज्ञेयवस्तुषु तात्त्विकज्ञानजनकत्वमस्य सिद्धमनामयमामयोरोगादिजनकत्वं तदस्य नास्तीत्यनामयम् सुखजनकमित्यर्थः । तदिदं सत्त्वं देहिनं सुखसङ्गेनज्ञानसङ्गेन च बध्नाति सुखसङ्गं ज्ञानसङ्गञ्च जनयति । क्षेत्रज्ञः सुखं ज्ञानञ्च सत्त्वगुणादनुभवतीति भावः ॥६॥

रजसो लक्षणं कार्यञ्चोच्यते रज इति । हे कौन्तेय ! रजोगुणो रागात्मकमिति स्वरूपनिर्देशो रागोऽभिलाषैवात्मा स्वरूपं यस्य स रजोगुणः कामनात्मक

मणि प्रदीपादि तैजस पदार्थ के समान प्रकाशक है प्रकाशात्मक गुणविशिष्ट है जिस प्रकार पार्थिव मल रहित मण्यादिक अन्धकारावृत प्रदेश में अवस्थित स्वभावतः जड घटादिक को स्वप्रभा से अवभासित कराता हुआ प्रकाशक कहलाता है उस प्रकार तमोगुणात्मक मल रहित सत्वगुण पदार्थ का विस्पष्टावभासक होने से प्रकाशक है । यहाँ सत्वगुण में जो निर्मलत्व कहा है वह ज्ञान सुखादि लक्षण आवरण रहितत्व रूप ही है अतः सभी ज्ञेयवस्तु घटपटादिक में यथार्थज्ञान जनकत्व सत्वगुण में सिद्ध होता है और यह सत्व गुण अनामय है आमय नाम है संग का तो तादृश रोगादि जनकत्व सत्वगुण में नहीं है अर्थात् सुख मात्र का जनक है । यथोक्त गुण विशिष्ट सत्वगुण देही देहाभिमान क्षेत्रज्ञ को सुखसंग तथा ज्ञान संग से बांधता है सुखासक्ति ज्ञानासक्ति को उत्पन्न कराती है अर्थात् देहाभिमानी जीव सत्वगुण के द्वारा ज्ञान तथा सुख का अनुभव करता है अर्थात् जब अन्तःकरण में सत्वगुण का प्रादुर्भाव होता है रजोगुण तमोगुण अभिभूत रहता है तब सुखाद्यनुभव होता है ॥६॥

सत्वगुण का स्वरूप लक्षण तथा कार्य का प्रतिपादन करके तदनन्तर रजोगुण का स्वरूप लक्षण तथा कार्य को बतलाने के लिये कहते हैं "रजोरागात्मकमित्यादि" हे कौन्तेय ! यह जो रजोगुण है वह रसात्मक रागस्वरूप है । रागस्वरूपता इसका स्वरूप निर्देश है राग का अर्थ है अभिलाषा वही अभिलाषा है आत्मा—स्वरूप जिसका एतादृश रजोगुण है अर्थात् कामना स्वरूप रजोगुण है यह फलित होता है तृष्णासंग से रजोगुण जायमान है उसमें इष्ट वस्तु विषयक अभिलाषा तृष्णा है जो पदार्थलब्ध होगया तद्विषयक आसक्ति का नाम है असंग यथोक्त तृष्णा तथा असंग इन दोनों वस्तुओं का उद्भव उत्पत्ति हो जिस गुण

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ।८।
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ? ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।९।

इत्यर्थः । तृष्णासङ्ग समुद्भवमिष्टवस्त्वभिलाषस्तृष्णा लब्धार्थे समासक्तिरासङ्गस्तयोः समुद्भवो यस्मात्तद्रजो विद्धि । तदिदं रजो देहिनं कर्मसंगेन फलविशेषस्तृष्णया कर्मसु सज्जत इति नियमात् पुण्यापुण्यरूपफलभोगाय चिराय तत्र बध्नाति ॥७॥

तमसो लक्षणं कार्यञ्चाह—तम इति । हे भारत ? तमस्तु वस्तुविपर्ययप्रत्ययोऽत्राज्ञानं तज्जन्यं तमः सर्वदेहिनां मोहनं मोहजनकं विद्धि । तच्च प्रमादो हीष्टस्याकरणमालस्यमिष्टार्थसमुद्योगराहित्यं निद्रेष्टकार्यस्यारब्धस्यापि वृन्युप ... ... न्यागः प्रमादालस्यनिद्राभिस्तत्तमो निबध्नाति ॥८॥

कस्य गुणस्य कस्मिन् कार्ये प्राधान्यमित्याह सत्त्वमिति । हे भारत ! सत्त्वं

विशेष से उस गुण का नाम होता है रजोगुण ऐसा तुम समझो । एतादृश यह रजोगुण देहाभिमानी पुरुष को कर्म संग से अर्थात् फल विशेष विषयक तृष्णा—अभिलाषा में कर्म में संसक्त होता है इस नियम से पुण्य अपुण्य लक्षण जो फल तादृश फल के उपभोग के लिये पुरुष चिरकाल तक के लिये बद्ध होता है ॥७॥

सत्त्वगुण रजोगुण का स्वरूपलक्षण तथा कार्य का प्रदर्शन करा करके अब प्राप्त तमोगुण का स्वरूप लक्षण तथा कार्य को बतलाने के लिए कहते हैं "तमस्त्वज्ञानजमित्यादि" हे भारत ! तम क्या है ! पदार्थ विषयक विपर्यय प्रत्यय अज्ञान तादृश विपर्ययात्मक अज्ञान से जायमान यह तम है एतादृश जो तम वह सभी देहाभिमानी का मोहक मोहजनक है. ऐसा तुम जानो । वह तम प्रमाद इष्ट का अकरण लक्षण है एवम् आलस्य इष्ट वस्तु विषयक उद्योग राहित्य लक्षण है तथा निद्रा जो इष्ट कार्य है उसका आरंभ तो किया परन्तु मध्य में ही तद्विषयक प्रयत्न का त्याग कर दिया जो प्रमाद आलस्य निद्रा इनके द्वारा तमोगुण पुरुष के बन्धन का संपादक होता है ८।

गुणत्रय का स्वरूप लक्षण तथा कार्य इन-स्वामी का यथावत् वर्णन करके अब किस गुण की किस कार्य में प्रधानता है एवं कौन गुण किस कार्य में कौन होता है

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ?।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।१०।

सत्त्वगुणः सुखेऽन्तः करणस्य सुखवृत्तौ संयोजयति । रजो गुणः प्रवर्तकस्वभावत्वात् कर्मणि चित्तस्थैर्येऽपि कर्मप्रवृत्तावेव संयोजयति । तमोगुणस्तु स्वच्छान्तरात्मन्युत्पद्यमानं सत्त्वकार्यभूतं ज्ञानप्रकाशादिकमावृत्य तदाच्छाद्य प्रमादेऽनवधाने । उताप्यर्थकः । निद्रालस्ययोरपि संयोजयति । सम्बोधनतात्पर्यन्तु स्वतोऽवसेयम् ॥९॥

तदेवोपपादयति रज इति । हे भारत ! गुणप्रवृत्तिसाम्येऽतिप्राक्तनकर्मवशात् कदाचिद्रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वमुद्रिक्तम्भवति । कर्हिचिद्रजस्सत्त्वञ्चाभिभूय तम

सुख में अन्तः करण की सुखका आवृत्ति में संयोजित करता है तथा रजो गुण जो है वह प्रवृत्तिजनक स्वभाववाला होने के कारण कर्म क्रिया में जोडता है अर्थात् चित्त की स्थिरता रहने पर भी कर्म की प्रवृति में ही संयोजित करता है चालक होने से सर्वदा प्रयत्नशील ही पुरुष को बनाता रहता है निवृत्ति का थोडा भी अनुभव नहीं होने देता है और तमोगुण जो है वह स्वच्छ अन्तर में उत्पद्यमान जो सत्वगुण है उसका कार्य स्वरूप ज्ञान प्रकाशादिक को आवृत आच्छादित करके प्रमाद अनवधानता में संयोजित करता है । श्लोक में जो "उत" शब्द है वह अपि के अर्थ में है प्रमाद में जोडता है तथा निद्रा आलस्य में भी संयोजित करता है । इस श्लोक में भारत यह जो सम्बोधन है उसका क्या तात्पर्य है वह पाठक लोग स्वयं विचार लें ॥९॥

कौन गुण किन किन गुणों को अभिभूत करके अपनी अपनी वृत्ति को प्राप्त करते हैं इस वस्तु का उपपादन करते हैं "रजस्तमश्चेत्यादि" हे भारत हे अर्जुन ! गुण प्रवृत्ति की समता होने पर भी अत्यन्त प्राचीन कर्म के बल से कदाचित् रजोगुण को अभिभूत करके सत्वगुण उद्रिक्त अतिशयेन ऊर्ध्वगामी होता है और कदाचित् अतिप्राचीन कर्म के बल से सत्वगुण रजोगुण को दबा करके तमोगुण अधिक प्रबल होकर ऊर्ध्वमुख होता है और कदाचित् अति प्राचीन कर्म के बल से सत्वगुण तमोगुण को दबा करके रजोगुण अतिशयेन ऊर्ध्वमुख होता है । अर्थात् जहाँ जिस समय रजोगुण उद्रिक्त होता है वहाँ वह रजोगुण तमोगुण तथा सत्वगुण को अभिभूत करके रजोगुण के अनुकूल क्रियाशीलता रूप कार्य होता है तथापि तादृश स्थान में सत्वगुण तमोगुण तो रहता ही है परन्तु वह गौण होकर के रहता है इसलिये उन दोनों की गणना नहीं जैसी रहती है और

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥१२॥

उद्रिक्तं भवति । कदाचिच्च सत्त्वं तमश्चाभिभूय रज उद्रिक्तम्भवति । एवमङ्गाङ्गिभावमवाप्य वैषम्ये जातेऽखिलकार्यगुणैः सम्पद्यत इति भावः ॥१०॥

गुणोपचयापचयौ कार्यानुमेयावित्युपपादयति सर्वद्वारेष्विति । सर्वेषु मन आदिषु ज्ञानेन्द्रियेषु यदा सुखादिग्रहणात्मकः प्रकाशः प्रकाशाख्यज्ञानमुपजायते तदा देहेऽस्मिन् सत्त्वं विवृद्धमिति विद्यादुत मनः प्रसन्नत्वादीन्यपि लिङ्गानि योज्यानि ॥११॥

हे भरतर्षभ ! लोभ आवश्यकेऽपि कार्ये धनव्ययेऽनुत्साहः प्रवृत्तिश्चेतश्चेष्टा-

रजोगुण प्रधान रूप से रहता है इसलिये कार्य रजोगुण का कहलाता है । इसी प्रकार से कहीं सत्वगुण की अधिकता रही और रजोगुण तमोगुण अभिभूत रहे वहाँ का कार्य सात्विक कहलाताहै । इसी प्रकार तमोगुण स्थल में देखना चाहिए : इसी वस्तु को गीताचार्य स्वयं विवरणपूर्वक बतलायेंगे । इस प्रकार अंगांगिभाव को प्राप्त करके गुण द्वारा जागतिक सकल पदार्थ की उत्पत्ति होती है ॥१०॥

स्वभाव से सत्वादिक जो गुण हैं वे अतीन्द्रिय हैं तब कैसे जानेंगे कि अब अभी सत्वगुण उद्रिक्त है अथवा रजोगुण अथवा तमोगुण उद्रिक्त है इस शिष्य जिज्ञासा को लक्षित करके भगवान् कहते हैं हे अर्जुन ! जब सत्वगुण का कार्य सुखादिक देखने में आये तब उस कार्य के कारणीभूत सत्व की विवृद्धि जानना इसी विषय को स्पष्टकार बतलाते हैं गुण का जो उपचय और अपचय है वह कार्य के द्वारा अनुमेय होता है इस बात का उपपादन करते हैं "सर्वद्वारेषु" इत्यादि । हे अर्जुन ! सभी मन आदि ज्ञानेन्द्रिय में जब सुखादि ग्रहण स्वरूप प्रकाश प्रकाशाख्य ज्ञान उत्पन्न हो उस समय इस देह में सत्वगुण बढ़ा हुआ है ऐसा जानना । यहाँ भी उत शब्द अपि के अर्थ में है इससे केवल ज्ञान की वृद्धि से ही सत्व का अनुमान ही नहीं अपितु मन की प्रसन्नतादिक हेतु से भी सत्व विवृद्धि को जानना ॥११॥

हे भरतर्षभ अर्जुन ! लोभ आवश्यक कार्य में कार्यानुकूल समुचित धन के व्यय

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ? ॥१३॥
यदा सत्त्वे विवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥

विशिष्टकरणचरणादिव्यापार आरम्भः कर्मोपक्रमोऽशमोऽशान्तिः स्पृहा तृष्णा एतानि रजसि रजोगुणे विवृद्धे सति जायन्ते । एतैर्लिङ्गैः सदा रजोगुणवृद्धिं जानीयादित्यर्थः ॥१२॥

हे कुरुनन्दन ! अप्रकाशो ज्ञानमान्द्यमप्रवृत्तिश्चावश्यकर्तव्येऽप्यनुद्योगः प्रमाद इष्टेऽप्यर्थे वैपरीत्येनानुष्ठानं मोहो मौढ्यमेव चैतानि तमसि विवृद्धे जायन्ते । यदाऽप्रकाशादीनि मनसि स्युस्तदा तमो विवृद्धं विद्यादित्यर्थः ॥१३॥

गुणवृद्धौ मरणे फलविशेषं दर्शयति—यदेति द्वाभ्याम् । यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे

करणादि का व्यापार आरम्भ कार्य को करना अशम अशांति किसी कार्य में लगा हुआ मन का उपराम नहीं होना स्पृहा तृष्णा ये सब वस्तु रजोगुण के विवृद्ध होने से जायमान होते हैं अर्थात् जब लोभ स्पृहादिक कार्य देखने में आये तब समझना कि अन्तः करण में अभी रजोगुण का प्रवाह बह रहा है । लोभादि हेतु के द्वारा रजोगुण की वृद्धि को जानना चाहिये । जैसे अप्रत्यक्ष भी परमाणु घटादि कार्य द्वारा अनुमीयमान होता है उसी प्रकार गुणकार्य को देख करके उस कार्य के द्वारा तत्तत् गुणविवृद्धि को अनुमान द्वारा जानना । उसी अनुमान को कार्यक अनुमान कहते हैं ॥१२॥

हे कुरुनन्दन ! अप्रकाश अर्थात् ज्ञान की मन्दता तथा अप्रवृत्ति अवश्य कर्तव्य वस्तु में भी उद्योग का अभाव प्रमाद इष्ट अभिमत वस्तु में भी विपरीत रूप से उस कार्य का संपादन करना । मोह मूढता तमोगुण के विवृद्ध होनेपर अप्रकाशादिक पूर्व कथित कार्यसमुत्पन्न होता है जिस समय में अप्रकाशादि मान में हों तब बढे हुए तमोगुण को जानना ॥१३॥

जब जो गुण विवृद्ध रहता है उस समय यदि प्राणीमरण को प्राप्त कर जाय तब उसे क्या फल मिलता है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं "यदा सत्त्वे" इत्यादि । जिस समय अन्तः करण में सत्व गुण प्रवृद्ध रहता है उस समय देहभृत देह को धारण करने वाला प्राणी यदि मृत्यु को प्राप्त कर जाय तब उत्तमवित् उत्तम तत्वज्ञानियों का अर्थात्

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सति देहभृत् प्राणी प्रलयं मृत्युं याति चेत्तदोत्तमविदाममलत्वज्ञानाम् । कृतात्मतत्त्वसाक्षात्काराणामित्यर्थः । अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते । विद्याचारविशुद्धे ब्रह्मवित्कुले भूयो जन्म प्राप्यात्मसाधनप्रज्ञावान् भवतीत्यर्थः ॥१४॥

रजसि प्रवृद्धरजोगुणाधिकारे प्रलयं मृत्युं गत्वा कर्मसङ्गिषु फलाभिलाषया कर्मानुष्ठायिनां कुलेषु पुनर्जायते । तथा विवृद्धतमसि प्रलीनः प्रमृतो मूढयोनिषु पश्वादियोनिषु जायते । प्रवृद्धरजोधिकारे मृतः स्वर्गादिफलके कर्मण्यधिकृतो भवति । प्रवृद्धतमोऽधिकारे मृतस्य तु मूढयोनिषु जातत्वादैहिकपारलौकिकसाधनासामर्थ्यान्नैष्फल्यमेव तज्जन्मन इति भावः ॥१५॥

जिन्होने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है उनका जो लोक है अमल विशुद्ध जो लोक तादृश लोक को प्राप्त करते हैं अर्थात् विद्या तथा विचार से विशुद्ध ब्रह्मज्ञानी का जो कुलवंश है उस वंश में पुनः जन्म प्राप्त करके आत्मज्ञान के जो साधन तद्विषयक ज्ञानवान् होते हैं ॥१४॥

जब कि रजोगुण में रजोगुणाधिकार प्रवृद्ध है उस समय यदि देहधारी मृत्यु को प्राप्त कर जाय तब कर्मसङ्गी में फलेच्छा पूर्वक कर्म जो यागादिक के अनुष्ठाता पुरुष है इस के कुल में समुत्पन्न होता है उस वंश में आकर के पुनः नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान करने में अनुरक्त होता है और यदि जिस समय तमोगुण विवृद्ध रहता है उस समय तम में प्रलीन अर्थात् उस समय मरने वाला पुरुष मूढयोनि में पशु प्रभृतिक योनि में उत्पन्न होता है सभी प्रकार के पुरुषार्थ साधन में असमर्थ होता है । प्रवृद्ध रजोविकार में मरा हुआ पुरुष जन्म लेकर स्वर्गादिफल को देने वाला जो शास्त्रविहित यागादिक कर्म है उसमें अधिकृत होता है अर्थात् पुनः यागादि कर्म का यथावत् अनुष्ठान करता है और प्रवृद्ध तमोविकार में मृत जो पुरुष है वह मूढयोनि में पैदा होकर पश्वादि योनि में जाकर ऐहिक अथवा पारलौकिक कर्म के साधन में असमर्थ होने से उसका जो जन्म है वह बिलकुल ही निरर्थक होता है । सत्त्व में सर्वथा उत्तम फल होता है रजोगुण में दुःख सम्मिश्रित परम्परा से स्वर्गादिक फल होता है तमोगुण तो सर्वथा निरर्थक ही रहता है ॥१५॥

सत्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वादिगुणानां फलवैचित्र्यं जायत इति पुनर्भङ्ग्यन्तरेणोच्यते कर्मण इति। सुकृतस्य सत्त्वविवृद्ध्यानुष्ठितस्य सात्त्विकस्य कर्मणः निर्मलं रजस्तमोऽसंस्पृष्टं सात्त्विकमेव फलञ्जायत इत्याहुर्गुणतत्त्वविदः। एवं रजसो राजसस्य फलाभिसन्धियुक्तस्य कर्मणो राजसं फलं दुःखादिरूपमाहु स्तमसस्तामसकर्मणः फलमज्ञानादि रूपमाहुः। अनेनापि राजसतामसकर्मणोः फले दुःखाज्ञानेऽवगम्य सात्त्विकस्य निर्मलस्य फले यत्नो विधेय इति तात्पर्यं गम्यते ॥१६॥

सत्वरजस्तमोभ्यः क्रमेणज्ञानलोभप्रमादमोहादयः समुत्पद्यन्ते ॥१७॥

इदानीं विवृद्धगुणस्थानां गतिविशेषज्ञापनेन भूयोऽपि फलभेदमुपपादयति

हैं "कर्मणः" इत्यादि सुकृत का सत्वगुण के विवृद्ध होने से अनुष्ठीयमान सात्विक कर्मफलाभिसंधिवर्जित यागादि का निर्मल रजोगुण तथा तमोगुण से असंबद्ध सात्विक ही फल उत्पन्न होता है ऐसा गुणतत्व को जाननेवाले व्यक्तियों का कथन है। इसी प्रकार राजस फलेच्छा से क्रियमाण जो यागादि वेद विहित कर्म है उसका राजस फल दुःख होता है। तथा तामस जो कर्म है वह निषिद्ध हिंसादि कर्म उसका तामस अज्ञानादि लक्षण फल होता है ऐसा गुणतत्व को जाननेवाले व्यक्तियों का कथन है। इस प्रकार राजस तामस कर्म का दुःख अज्ञानादिक फल को जान करके सात्विक निर्मल कर्म का जो फल है सुखादिक तादृश फल प्राप्ति के लिये विवेकी पुरुषों को सर्वदा प्रयत्न करना चाहिये ऐसा तात्पर्य ज्ञात होता है ॥१६॥

पूर्व कथित प्रवृद्ध गुण का फल है उसी को पुनः स्वभावकी विचित्रता से स्पष्ट करने के लिये कहते हैं "सत्वादित्यादि" सत्वगुण से अर्थात् रजोगुण तमोगुण से अस्पृष्टप्रवृद्ध सत्वगुण से चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वाराविमल ज्ञान पैदा होता है। सत्वगुण तमोगुण को अभिभूत करके प्रवृद्ध रजोगुण से लोभात्मक कार्य उत्पन्न होता है एवं सत्वगुण रजोगुण को अभिभूत करके प्रवृद्ध तमोगुण से प्रमाद मोह अज्ञान पैदा होता है ॥१७॥

बढ़ा हुआ जो गुण है उस गुण में अवस्थित जो पुरुष उनके गति विशेष के कथन से पुनः फल विशेष की प्राप्ति बतलाते हुए कहते हैं—"ऊर्ध्वमित्यादि" जो व्यक्ति

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदाद्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१९।
गुणानेताननतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

ऊर्ध्वमिति । सत्त्वस्थाः सत्त्वगुणनिष्ठाः । पुरुषाः । ऊर्ध्वमूर्ध्वस्थं पदम् । मुक्तिपदमित्यर्थः । गच्छन्त्यवाप्नुवन्ति । राजसा रजोगुणनिष्ठा लोकाः । मध्य ऊर्ध्वाधो लोकयोरन्तरालप्रदेश एव तिष्ठन्ति । तामसास्तमोगुणनिष्ठाश्च जनाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था नीचगुणवृत्तिषु वर्त्तमानाः । अधो निकृष्टं पदं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ।।१८।

यदाऽयं द्रष्टा जीव उद्रिक्ततमसत्वाविकारसमये सत्त्वेनात्यन्तं मन्दीकृतयो रजस्तमसोः सतोगुणेभ्योऽन्यमतिरिक्तं कमपि कर्तारं नानुपश्यति किञ्च गुणेभ्यः परं भिन्नमात्मानमकर्तारमेव वेत्ति याथातथ्येन पश्यति तदा स मद्भावं मदीयो यो भावो जन्ममृत्युराहित्यरूपस्तमधिगच्छति ।।१९।।

सत्वस्थ है वह सात्विक भगवदुपासनादिकर्म का यथावत् संपादन करके उर्ध्व सभी के ऊपर भाग में अवस्थित जो सर्वेश्वर सर्वनियन्ता श्रीरामचन्द्रजी का दिव्यधाम साकेत नाम का पद मोक्षपद जो प्राकृतिक सकल दोष विवर्जित नित्य निरतिशय सुखात्मक पद है उसे अनायास से ही प्राप्त करते हैं और जो राजस रजोगुण निष्ठ पुरुष हैं वे मध्य में ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक के अन्तराल बीच में ही रहते हैं अर्थात् राजस व्यक्ति सकाम कर्म करके तदनुकूल फल को प्राप्त करते हैं और तामस तमोगुणनिष्ठ जो व्यक्ति हैं वे नीच गुणवृत्ति में वर्तमान होकर के नीचे जाते हैं अर्थात् निकृष्ट जो पद है पशुपक्षी सरीसृपादि योनि उसको प्राप्त करते हैं ।।१८।।

जब यह विविक्त द्रष्टा जीव उद्रिक्त ऊर्ध्वगत तमोगुणाविकार समय में सत्व गुण से अत्यन्त मन्दीकृत जो रजोगुण तथा तमोगुण उनके विद्यमान रहते हुए भी गुण से भिन्न किसी अतिरिक्त को कर्त्तारूप से नहीं देखता है और गुण से पर भिन्न आत्मा को अकर्त्तारूप से जानता है यथार्थ रूप से देखता है तब वह पुरुष मुझ परमेश्वर का भाव है जन्म मृत्युराहित्य लक्षण उसे प्राप्त कर जाता है अर्थात् जन्म मरण संसार बन्धन से छूट करके मोक्ष पद को प्राप्त कर जाता है ।।१९।।

गुणत्रय के अतिक्रमण में बन्धन को ... है ... की प्राप्ति किस

卐 अर्जुन उवाच 卐

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ?।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते २१।

भगवद्भावं स्वयमेव निर्दिशति गुणानिति । देहाश्रितोऽयं देही क्षेत्रज्ञो देहसमुद्भवान् क्षेत्राकारेण परिणतायाः प्रकृतेः समुद्भवानेतान् निरुक्तांस्त्रीन् त्रिसंख्याकान् सत्त्वादिगुणानतीत्यातिक्रम्य जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः सन्नमृतमात्मानमश्नुतेऽनुभवति । अयमेव पूर्वश्लोक उक्तो मद्भावपदवाच्यो भगवद्भावः ॥२०॥

प्रोक्तस्य गुणातीतस्य लक्षणमाचारं गुणातितक्रमोपायञ्च जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति कैरिति। हे प्रभो ! एतान् त्रिन्गुणानतीतः कैर्लक्षणैर्भवति किमाचारः कीदृशाचारपरायणः शास्त्रीयेष्वशास्त्रीयेषु मध्ये कमाचारमनुतिष्ठतीतिसमुदितार्थः। कथं केनोपायेन त्रिगुणातिवर्त्तनं करोतीति च ब्रूहीत्यर्थः ॥२१॥

प्रकार होती है इस शंका का निराकरण करते हुए भगवद्भावापत्ति का स्वयमेव निर्देश करते हैं गुणानेतानित्यादि ।" हे अर्जुन ! देहाश्रित देह में रहनेवाला यह देही पुरुष क्षेत्रज्ञ देह समुद्भुत क्षेत्राकार से परिणत जो प्रकृति तादश प्रकृति से जायमान पूर्वोक्त तीन संख्यावाला सत्वगुण रजोगुण तमोगुण इन तीनोंगुणों को अतिक्रमण करके जन्म मृत्यु जरा सम्बन्धी दुःखों से विमुक्त हो करके अमृतमरणादिधर्म रहित आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं । पूर्वश्लोक में कथित मद्भाव पदवाच्य भगवद्भाव यही है एतादश जो भगवद्भाव है उसका संपादन प्रयत्नपूर्वक संपादनीय है श्रेय मोक्षार्थीजनों से ॥२०॥

इस श्लोक के पूर्वश्लोक में कथित जो गुणातीत जो कि भगवद्भाव को प्राप्त कर जाता है तादश गुणातीत का क्या लक्षण है तथा गुणत्रय को अतिक्रमण करने का उपाय क्या है इस बात की जिज्ञासा करनेवाले अर्जुन भगवान् से पूछते हैं "कैर्लिङ्गैरित्यादि" हे प्रभो ! ये जो तीन सत्वगुण रजोगुण तमोगुण है उसे किस लक्षण से अतिक्रमण करता है और वह गुणातीत किमाचार कीदृश आचार में परायण रहता है अर्थात् शास्त्रीय वेद स्मृतिप्रतिपादित अथवा अशास्त्रीय वेद स्मृति प्रतिषिद्ध कर्म के मध्य में किस प्रकार के आचार का अनुष्ठान करता है शास्त्र विहित कर्म में हीं प्रवृत्त रहता है अथवा स्वेच्छाचार में प्रवृत्त रहता है और वह गुणातीत किस प्रकार सत्वरज तम लक्षण गुण कार्य को अतिक्रमण करके गुणातीत होता है इस प्रश्न का यथावत् उत्तर देने की कृपा करें। प्रभो ! इस संबोधन से आप सर्व समर्थ हैं आप सभी का समाधान करेंगे यह अर्जुन का अभिप्राय व्यक्त होता है । अतीन्द्रियार्थ का निर्णय सर्वज्ञेतर से असंभावित है ॥२१॥

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव ? ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

एवं पृष्टे श्रीभगवानुवाच प्रकाशमिति । कैर्लिङ्गैरिति प्रश्नस्योत्तरमुच्यते हे पाण्डव ! सत्त्वरजस्तमसां कार्याणि क्रमेण प्रकाशप्रवृत्तिमोहाख्यान्यन्यान्यपि त्रिगुणकार्याण्येभिर्ज्ञेयानि तानि च सत्यवसरे यस्मिन् कस्मिन्नपि वस्त्वनुभवे सम्प्रवृत्तानि दुःखप्रदान्यपि यो न द्वेष्टि प्रतिकूलानीमानीति धिया न तिरस्करोति तथा तद्विनाशसामग्रीमवाप्यतान्येव निवृत्तानि न कांक्षति नैवाभिलषते । एतादृशो द्वेषाभिलाष-रहितो यः साधकः स गुणातीतोऽभिधीयते ॥२२॥

अथ किमाचार इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह उदासीनवदिति त्रिभिः । रागद्वेष-

एवं पूर्वोक्तक्रम से अर्जुन के जो तीन प्रश्न हैं उन प्रश्नों के अनुसार गुणातीत का लक्षण आचार तथा गुणत्रयातिक्रमण प्रकार को क्रमशः उत्तर के लिये पूछेगये भगवान् सबका यथावत् उत्तर देने के लिये कहते हैं "प्रकाशमित्यादि" उन प्रश्नत्रय के बीच में "कैर्लिङ्गैः" यह जो प्रथम प्रश्न है उस प्रथम प्रश्न का उत्तर इस श्लोक से कहते हैं—हे पाण्डव ! सत्वगुण रजोगुण तथा तमोगुण का जो कार्य है वह प्रकाश प्रवृत्ति और मोह है तथा इससे अतिरिक्त भी इन गुणत्रय का कार्य है ऐसा मानना ये कार्य अवसर प्राप्त होने पर जिस किसी वस्तु के अनुभव में संप्रवृत्त हों चाहे दुःख देनेवाले हों तथापि उसका द्वेष न करें अर्थात् यह पदार्थ मेरे लिये प्रतिकूल है इस प्रकार की बुद्धि से उन प्रतिकूल विषयों को तिरस्कृत न करें और अपनी सामग्री को प्राप्त वह दुःखप्रद पदार्थ विनष्ट हो जाय तो तद्विषयक अभिलाषा न करें । एतादृश द्वेष तथा अभिलाषा से रहित जो साधक हैं वे गुणातीत कहलाते हैं अर्थात् दुःखप्रद वस्तु के उपस्थित होने पर उसमें द्वेष बुद्धि न करें और द्वेषजनक पदार्थ की विनाश विषयक अभिलाषा न करें वे गुणातीत हैं । इस प्रकार तीन प्रश्नों के मध्य में जो प्रथम प्रश्न लक्षणविषयक था यह उसका समाधान हुआ ॥२२॥

प्रथम प्रश्न जो लक्षण विषयक था गुणातीत का उसका समाधान करके "अथ किमाचार" इत्याकारक गुणातीत का आचार विषयक जो द्वितीय प्रश्न है उस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं "उदासीन वदासीन" इत्यादि तीन श्लोकों से रागद्वेष रहित होने के कारण भिन्न हुए लोष्ठा चन्दन

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः २४।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।२५।।

राहित्याद्धिताहितवस्तुषूदासीनो गुणैर्गुणकार्यैः सुखप्रवृत्तिमोहादिभिर्यो न विचाल्यते स्वात्मावलोकनैककार्यान्न प्रच्याव्यतेऽपि तु गुणाः स्वस्वकार्यं कुर्वाणा वर्तन्त इत्येवमवगम्य योऽवतिष्ठति स्वस्थोऽवतिष्ठते हर्षामर्षविवर्जितो नेङ्गते गुणानुबन्धि-कार्येषु चेष्टां न कुरुत इत्येवमाचारवान् यः स गुणातीत इति समुदितोर्थः ।।२३।।

समदुःखसुखः दुःखे सुखे च विरागानुरागयोरभावात् समः चित्तोऽत एव स्वस्वरूपानुसन्धानपरोऽत एव समलोष्टाश्मकाञ्चनः संश्लिष्टावयवको मृत्पिण्डो लोष्टः । स चाश्मा च काञ्चनञ्च लोष्टाश्मकाञ्चनानि समानि तानि यस्य सः समलोष्टाश्मकाञ्चनोऽत एव तुल्य प्रियाप्रियः प्रियाऽप्रियविषयेषु तुल्यबुद्धिर्धीरः प्रकृतिपुरुष परिज्ञानसम्पन्नस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः स्वस्य निन्दायां स्तुतौ च तुल्य-

वस्तु में तथा अहित कारक उरगादि अनिष्ट वस्तुओं में उदासीन हेयोपादेय ज्ञानरहित गुण जो सत्वरजस्तमस उनका जो कार्य सुख प्रवृत्ति मोहों से जो साधक विचलित नहीं होते हैं अर्थात् स्वकीय आत्मा का जो अवलंबन मात्र कार्य से प्रच्यावित--पतित नहीं होते हैं अपितु ये सत्वादिक गुण अपना अपना कार्य करते हुए अवस्थित हैं ऐसा समझकरके स्वस्थ निर्विकार करके अवस्थित रहते हैं। हर्ष तथा आमर्ष से विवर्जित हो करके गुणानुबन्धी कार्य में किसी प्रकारक (कायिक वाचिक मानसिक) चेष्टा नहीं करते हैं एतादृश आचारवान् जो पुरुष हैं वे गुणातीत कहलाते हैं यह आचार विषयक द्वितीय प्रश्न का उत्तर हुआ ।।२३।।

समदुःख सुख अर्थात् अनुराग अथवा विराग के अभाव होने से भाग्यवश प्राप्त सुख तथा दुःख में समानचित्तवाला अतएव स्वस्थ्य अर्थात् स्वकीय स्वरूप के अनुसंधान करने में सदा तत्पर तथा समलोष्टाश्म काञ्चन सम्मिलित अवयववाला जो मृत्तिका पिण्ड है उसे कहते हैं लोष्ट प्रस्तरखण्ड अश्मा काञ्चन सुवर्ण ये तीनों जिसके लिए समान हैं अतएव प्रिय अप्रिय वस्तु में समान बुद्धि वाला धीरपुरुष अर्थात् प्रकृति पुरुष आत्मा एतत् विषयक यथार्थ ज्ञान सम्पन्न और स्वकीय स्तुति वा स्वकीय निन्दा में तुल्य समानभाववाला अतएव मान सम्मान तथा अपमान तिरस्कार में तुल्य समान तथा मित्र शत्रुपक्ष में समान जैसे मित्रपक्ष में रुचि नहीं तथा शत्रुपक्ष में भी अरुचि एतावता उभय पक्ष में समान मनवाला तथा सभी आरम

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च २७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः १४।

भाव: अत एव मानापमानयोस्तुल्यस्तथा तुल्यो मित्रारिपक्षयोर्मित्रपक्षे यथाऽऽकांक्षित्त-थारिपक्षेऽप्यरुचि स्तेनोभयपक्षयोः समसनस्कतैव फलति । सर्वारम्भपरित्यागी गुण-निबन्धनेष्वारम्भेष्वनासक्तत्त्वात्तत्परित्यागशील इत्यर्थः स एवमाचारविशिष्टः साध-को गुणातीत इत्युच्यते २४।२५

एतान् त्रिन्गुणान् कथमतिवर्तत इत्यस्योत्तरमाह—मामिति योऽधिकारी जगदीश्वरं प्रणतकल्पपादपमप्राकृतदिव्यकल्याणगुणसागरं चेनोक्तगुणसंग्रहोऽप्यत्र बोध्यः, अव्य-भिचारेण भक्तियोगेनानन्यगामिमनोऽवधूतभक्तियोगेन च सेवते मामेवोपास्ते स एतान् सत्वादिगुणान् तत्तत्कार्यसहितान् समतीत्य सम्यगतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते । ब्रह्मसाम्यमापद्यत इत्यर्थः ॥२६॥

एवं गुणातीतस्य लक्षणाचारौ गुणात्ययहेतुंश्च सम्यगभिधाय भगवदनन्यभक्ति

कार्य को छोडने वाला अर्थात् गुण जो सत्वादिक उससे होनेवाले कार्य में अनासक्त होने के कारण तादृश कार्य के परित्यागशील एतादृश आचार विशिष्ट साधक गुणातीत कहलाते हैं ॥२४॥२५॥

ये जो सत्व रज तम लक्षण गुणत्रय हैं उनका अतिक्रमण किस प्रकार होता है यह जो अंतिम प्रश्न था उसके उत्तर में कहते हैं "माञ्च य" इत्यादि । जो अधिकारी साधक मुझ जगदीश्वर के शरणागत भक्त के लिये कल्प वृक्ष समान मनोभिलषित फल को देनेवाले और अप्राकृतिक लोकोत्तर दिव्य जो कल्याण गुण उसके सागर के समान यहां च शब्द से इन सब गुणों का संग्रह समझना चाहिये । एतादृश मुझ परमेश्वर को जो साधक अव्यभिचारित भक्तियोग से अन्यगामी नहीं एतादृश भक्तियोग से जो मेरी ही सेवा करता है वह साधक विशेष कार्य सहित जो सत्व रज तमस लक्षण गुणत्रय हैं उनका समीचीन रूप से अतिक्रमण करके ब्रह्मभूय के लिये कल्पित होता है अर्थात् ब्रह्म की समता को प्राप्त करता है संसार निवृत्ति सहित परमानन्द की प्राप्ति इत्यादि कर जाता है ॥२६॥

सिद्धये तस्यास्तत्फलस्यापि परमपुरुष एवाश्रय इत्याह ब्रह्मण-इति । हि यस्माद्धेतोरहं सर्वात्मा दिव्यज्ञानानन्दनिलयोऽमृतस्याव्ययस्य विकाररहितस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठाऽश्रय-भूतस्तथा शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य चैकान्तिकस्य सुखस्य परमैकान्तिप्राप्यस्य परमानन्दस्य चाश्रयोऽक्षय्यं परं निधानमित्यतो मत्कृपया मद्भक्तैः सर्वमिदं सुलभतया प्राप्यमित्यर्थः ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोध्यायः ॥१४॥

पूर्वोक्त प्रकार से गुणातीत का लक्षण तथा आचार को कह करके एवं गुणत्रय का निवर्तक कारण बतला करके भगवान् की अनन्य भक्ति की सिद्धि के लिये भक्ति का तथा भक्ति का जो फल है वे दोनों को भी परमपुरुष भगवान् ही हैं इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं—"ब्रह्मणः" इत्यादि । यहां हि शब्द हेत्वर्थक है । जिस लिये मैं सर्वात्मा सर्वनियन्ता परमपुरुष दिव्यज्ञान तथा आनन्द का आधारभूत हूं इसलिये विकार रहित इस अव्यय ब्रह्म की प्रतिष्ठा आश्रय लक्षण हूं शाश्वत नित्य जो धर्म तथा ऐकान्तिक सुख का तथा ऐकान्तिक प्राप्ति जो परमानन्द है उसका आश्रय क्षयरहित परनिधान हूं इसलिए मेरी कृपा से मेरे अनन्य भक्त को ये सभी वस्तुएं सुलभता से प्राप्य हैं अन्यथा अन्य को प्राप्त नहीं है ॥२७॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीरामः शरणं मम





श्रीरामो विजयतेतराम्

आनन्दभाष्यकारश्रीरामानन्दाचार्याय नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यविभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

卐 श्रीभगवानुवाच 卐

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

एवं क्षेत्रगुणाध्याययोः प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं प्रकृतिसंसृष्टस्य क्षेत्रज्ञस्य प्राकृतैर्गुणैर्बन्धो भगवदनन्यभक्तया च तदुच्छेद इत्येतेऽर्थाः सम्यङ्निरूपिताः । अथास्मिन् पञ्चदशाध्याये बन्धोच्छेदोपायभूतभगवत्स्वरूपपरिज्ञानाय भगवच्छरीरभूतयोः क्षराक्षरयोस्तच्छरीरिणः परमात्मनः पुरुषोत्तमस्य च स्वरूपाणि विवेचयिष्यन्नादौ प्राकृतगुणमूलं कर्मबन्धमश्वत्थवृक्षाकारेण निरूपयन् श्रीभगवानुवाच ऊर्ध्वमूलमिति । **ऊर्ध्वमूलमूर्ध्वं चतुर्दशभुवनजनकमव्यक्तपदवाच्यं भगवच्छरीरभूतमचित्तत्त्वमेव मूलं**

पूर्वोक्त प्रकार से क्षेत्र तथा गुणाध्याय में प्रकृति तथा पुरुष का जो स्वरूप है उसका निरूपण किया गया एवं प्रकृति से सम्बद्ध पुरुष को प्रकृति सम्बन्धी जो गुणत्रय है तादृश गुण द्वारा पुरुष को बन्ध हो जाता है तथा सर्वेश्वर सर्वनियन्ता परमात्मा की जो अनन्याभक्ति है उसके द्वारा ही संसार लक्षण बन्ध का विनाश होता है इन सभी पदार्थों का यथावत् निरूपण इससे पूर्व प्रकरण में किया गया । इसके वाद इस पञ्चदश अध्याय में बन्ध का जो विनाश उसका कारणीभूत जो भगवत् स्वरूप है उसका परिज्ञान तथा तादृश ज्ञान के संपादन के लिये भगवान् का शरीर लक्षण जो क्षर अक्षर जड चेतन हैं इन दोनों क्षराक्षर के शरीरी जो परमात्मा परमपुरुष पुरुषोत्तम उसके स्वरूप का विवेचन करते हुए प्रथमतः प्रकृति सम्बन्धी जो सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण हैं ये गुणत्रय ही कारण हैं जिसके ऐसा जो कर्मबन्धन उस कर्मबन्धन का वृक्षाकार से निरूपण करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं— "ऊर्ध्वमूलमित्यादि" । ऊर्ध्वमूलम् ऊपर है मूल जिसका ऐसा वृक्ष है अर्थात् ऊर्ध्व तथा अधोभागमें चतुर्दश यानी सात नीचे तथा सात ऊपर यानी इस लोक से लेकर पातालान्त सात लोक नीचे तथा इससे लेकर सत्यलोकान्त सात ऊपर जो चतुर्दशभुवन है तादृश चतुर्दशभुवन का जनक उत्पादक जो अव्यक्त पदवाच्य परमपुरुष का शरीर लक्षण अचित्तत्व जो जडात्मक भगवत् शरीरभूत पदार्थ है वही अव्यक्त पदार्थ है मूल निदान कारण (परिणामी कारण) जिसका वही यह संसार नामक अश्वत्थवृक्ष है ।

यस्य स संसाराख्योऽश्वत्थः । वृक्षतयास्य रूपन्तु शीघ्रतयोच्छेद्यतापरिज्ञानाय । अधः शाखमधश्चतुर्दशलोकरूपाः शाखा यस्य सोऽधः शाखस्तमश्वत्थमव्ययमनादिवासना-जनितकर्मबन्धोच्छेदमन्तरेण संसारनाशाऽसम्भवादव्ययस्तम्प्राहुः श्रुतयः 'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' (का०) यस्य वृक्षस्य छन्दांसि ऋग्यजुः सामानि पर्णानि फललिप्सया वेदप्रतिपादितकाम्यकर्माण्यनुष्ठाय तत्फलभोगाय प्रवर्त्तते ततश्च भूयोऽपि संसरत्येवं संसरतोऽस्य वृद्धिः पर्णैर्वृक्षोऽपि वृद्धिं गच्छतीत्येवं प्रकारेण छन्दसां पर्णत्वप्रतिपादनम् । यो मनीषी तं संसाराख्यमश्वत्थ वेद हेतुहेतुमद्रूपेण

अश्वत्थ शब्द का अर्थ होता है 'नश्वः स्थास्यति, इति, अश्वत्थः' जो कल सुबह तक न रहे उसका नाम है अश्वत्थ, संसार का यह विशेषण देने से विदित होता है कि यह कारण के बल से उच्छेदन करने में सुकर है । यद्यपि पदार्थमात्र भगवदवयव होने से मूलतः उच्छेद किसी का भी नहीं होता है तथापि कार्यों का कारणाकारेण तिरोभाव होने का नाम ही विनाश है और भगवत्कृपा के बिना झटिति यह संसार जानेवाला नहीं है यह भी अवेदित होता है जैसे अश्वत्थ वृक्ष सभी वृक्षापेक्षया अधिक आयुवाला है उसी प्रकार अनात्मवित् के लिए संसार भी परमायुवाला है भगवत्तत्व स्वरूप ज्ञान के बिना अनाश्य है भगवत्तत्व ज्ञान से तो विनष्ट होता है ।

यह संसार का वृक्षाकार से जो निर्वचन किया गया है वह शीघ्रतया उच्छेद्यता को ज्ञापित करने के लिये जैसे वृक्ष विनष्ट हो जाता है कालक्रम से इसी प्रकार यह संसार भी उच्छिन्न हो जायगा नतु यह संसार आत्मा के समान अजरामर है । अधः शाखम्—नीचे है शाखा जिसकी अधः नीचे चतुर्दश लोकरूप शाखा अवयव है जिसे उसे अधः शाखा कहते हैं । एतादृश अश्वत्थरूप संसारवृक्ष है तथा यह संसार वृक्ष अव्यय विनाश रहित है अर्थात् अनादि वासना से जायमान जो कर्मलक्षणबन्ध तादृश कर्मबन्धन के उच्छेद विनाश के बिना संसार का विनाश असंभवित है क्योंकि कारणनाश के बिना कार्य का नाश असंभवित प्राय ही रहता है इसलिये इस संसार को अव्यय कहते हैं श्रुति भी कहती है "जिसका मूल ऊपर है और जिसकी शाखाएं नीचे की तरफ व्याप्त हैं ऐसा यह संसाररूप अश्वत्थ सनातन है अनादि प्रवाह से आनेवाला है भगवत् कृपा के बिना समुच्छेद अशक्य है जिस समारवृक्ष का छंदऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद पर्णस्थानापन्न हैं फल की इच्छा से वेद प्रतिपादित अग्निहोत्रादिकाम्य कर्म का अनुष्ठान करके उस कर्म से जायमान जो फल उस फल के भोग के लिये प्रवृत्त होता है तब भूयः पुनः पुनः संसरित होता है । इस प्रकार वारंवार संसरण होने से संसारवृक्ष की वृद्धि होती है जैसे पत्र के द्वारा वृक्ष वृद्धिगत होता है इसी

सम्यग्विजानाति स वेदवित् स एव वेदविज्ञाननिपुणः। एतदुक्तम्भवति। सर्ववेदा-द्वाप्यत इति नियमात् पूर्वभागोदितकर्मणां फलकामनयाऽनुष्ठानात् संसारो वर्धते कर्मबन्धश्च दृढ़ीभवति। उत्तरभागात्मकवेदान्तेन वृजिनहेतुभूतस्य बन्धस्याशु विनाशाय परमपुरुषोपासना कर्तव्येत्युपायज्ञानमुत्पद्यत इत्यतः सम्यगुक्तं स वेदविदिति ॥१॥

एवं मूलशाखोपशाखादिभिरिमं संसाराश्वत्थं रूपयित्वाऽवान्तरभेदमपि निरू-

प्रकार वृक्ष वेद के द्वारा दिनानुदिन बढता है इस लिये वेद को पर्ण की उपमा दी गई है। अथवा जैसे पर्ण के द्वारा वृक्ष की रक्षा होती है इसी प्रकार वेद के द्वारा नवीन कर्म करने से संसार की रक्षा होती है इसलिये रक्षकत्व की समता होने से उपमानोपमेयभाव वेदपर्ण में बतलाया गया है जो मनीषी विद्वान् तम् उस संसार नामक अश्वत्थ वृक्षरूप को जानता है हेतु हेतुमान् रूप से कार्यकारणरूप से जानता है अर्थात् संसार क्या वस्तु है इस संसार का लक्षण क्या है कारण क्या है किस कारण से यह उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर जो अवस्थित रहता है इस अवस्थान में कौन नियामक है कौन सहकारी है किससे विनष्ट होता है क्यों विनष्ट हो जाता है कहाँ तकचलता है इस संसार का कार्य क्या है इत्यादि रूप से जो विद्वान् इस संसार को जानते हैं वे ही वेद ज्ञान में निपुण मतिक हैं। "एतदुक्तं भवति" इससे यह कहा जाता हैं कि "सर्वम्" सभी वस्तु वेद से जानी जाती है" इस नियम से पूर्वभाग वेद का जो कर्मकाण्ड विभाग है जिसमें कर्मका निरूपण किया गया है तो तादृश पूर्वभाग कथित जो कर्म है उसका कर्म फलेच्छया अनुष्ठीयमान है उससे संसार नित्यप्रति बढता रहता है तथा कर्म भी दृढीभूत होता जाता है और वेद का उत्तमभाग जो वेदान्त उस वेदान्त से संसार लक्षण समुद्र का कारणीभूत जो बन्ध उस बन्ध का झटिति विनाश करने के लिए परमपुरुष सर्वनियन्ता की उपासना करनी चाहिये इस प्रकार उपाय ज्ञान समुत्पन्न होता है इसलिए ठीक ही कहा है कि "वह वेदवित्" है ॥१॥

एवं पूर्वोक्त कथित प्रकार से मूलशाखा उपशाखा के द्वारा इस संसार वृक्ष का निरूपण करके अवान्तर भेद का भी निरूपण करते हुए कहते हैं "अधश्चेत्यादि" ऊर्ध्वमूल अर्थात् अव्यक्त है मूल जिसका और चौदह भूरादिक लोक हैं शाखा जिसकी ऐसा जो यह

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥

पयति अध इति। ऊर्ध्वमूलस्याव्यक्तमूलकस्य चतुर्दशभुवनशाखस्य तस्य वृक्षस्य अन्या अनन्ता अधश्च शाखा मनुष्यपशुपक्षिकृमिकीटादिरूपेण सर्वतः प्रसृता विस्तारमापन्ना भवन्ति। उर्ध्वञ्च देवगन्धर्वादिरूपेण सर्वतः प्रसृता भवन्ति। पुनस्ता गुणप्रवृद्धा गुणैः सत्वादिभिः प्रवृद्धाः विषयप्रवाला विषयाः शब्दादयः प्रवाला इव यासां ताः शाखाः सन्तीत्यर्थः। यथाऽस्य वृक्षस्योर्ध्वमूलमस्ति तथाऽधश्चापि मूलमस्ति, यथा काचिल्लता पर्वतशिखरादधस्तादवरुह्य भूमिमवाप्य भूयोऽपि दृढमूलतामुपगच्छति यथा वा न्यग्रोधादीनां प्रत्यक्षत एव प्रधानमूलादतिरिक्तान्यनेकानि मूलानि प्ररूढानि भवन्ति तद्वत् मनुष्यलोके मूलान्यनुसन्ततानि कर्माण्येवानुबन्धीनि मनुष्यलोके भवन्ति। मनुष्यलोके क्रियमाणैः कर्मभिरूर्ध्वं देवादयोऽधोऽधः पशुपक्षिकृम्यादयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः ॥२॥

संसाराश्वत्थस्य परिज्ञाने काठिन्यमुक्त्वा तदुच्छेदस्योपायं फलञ्चाभिधत्ते—नेति

संसाररूप वृक्ष उसका इससे भिन्न और अनन्त नीचे की तरफ शाखा मनुष्य पशुपक्षी कृमि कीटादिरूपसे चारों तरफ प्रसृत विस्तार को प्राप्त की हुई शाखाएं हैं और ऊपर भी देवता गन्धर्वादिरूप से सब तरफ शाखाएं व्याप्त हैं। पुनः वे सभी शाखाएं गुण के सत्वादिगुण के द्वारा प्रवृद्ध बढी हुई हैं। विषय शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ही प्रवाल के समान प्रवाल हैं जिन शाखाओं में एतादृशी शाखाएं हैं। जिस तरह इस संसार वृक्ष का मूल ऊपर है उसी तरह इस संसार वृक्ष के नीचे भी मूल है। जैसे कोई लता पर्वत के शिखर से नीचे उतर कर पृथिवी को प्राप्त करके पुनः दृढमूलता को प्राप्त कर जाती है अथवा न्यग्रोध वटवृक्ष प्रभृति वृक्ष को प्रत्यक्ष ही प्रधान मूल से अतिरिक्त अनेक मूल प्ररूढ होते हैं इसी तरह मनुष्य लोक में अनेकमूल व्याप्त हैं। इस मनुष्य लोक में शुभाशुभ कर्म ही जनक होते हैं। मनुष्य लोक में क्रियमाण कर्म के द्वारा ऊपर देवादि लोक और नीचे पशुपक्षी कीटपतंगादिक प्राणी वर्ग उत्पन्न होते हैं शुभ कर्म से देवादिक की उत्पत्ति होती है तथा अशुभ कर्म से कीटादि स्थावरान्त की उत्पत्ति होती है ॥२॥

पूर्वोक्त प्रकार से संसाररूप अश्वत्थवृक्ष के परिज्ञान में कठिनता का कथन करके तादृश संसार के अवच्छेदक-विनाशक उपाय तथा उसके फल का कथन करते हैं "न रूप-मस्येत्यादि" इस संसारवृक्ष का वास्तविक स्वरूप इस लोक में स्थित रहनेवाले सर्वसाधारण

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्य यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

द्वाभ्याम् । अस्य संसारवृक्षस्य रूपमिह लोके स्थितैस्सर्वसाधारणैर्जनैर्यथोपपादितं तथा नोपलभ्यते तथास्यान्तोऽपि गुणासक्तिनिवृत्तिजनित इति प्रकारेण नोपलभ्यते तथाऽस्यादिरितोऽयं प्रवृत्तो गुणस्नेहात् प्रवृत्त इत्येवं प्रकारेण कारणं नोपलभ्यते तथा सम्प्रतिष्ठाऽज्ञानेऽस्य स्थितिरस्तीत्यपि नोपलभ्यते । इत्येवमयं विलक्षणः संसार वृक्षो दुरधिगमो दुर्निवार्य इत्युपदिश्य तन्निवृत्त्युपायं फलञ्च वक्ति—अश्वत्थमित्यादिना। एवमश्वत्थं प्राङ्निर्दिष्टं सुविरूढमूलं सुदृढमूलं तेन दुरुच्छेद्यत्वमुक्तम्भवति । दृढेना-सङ्गशस्त्रेण छित्वा यथा कालायसनिर्मितेन निशितेन शस्त्रेण कठोरतरोऽपि तरुखण्डः

लोगों से संसार के रूप को जिस प्रकार वर्णन किया गया है उस प्रकार से उपलब्ध नहीं होता है अर्थात् यथा वर्णित संसार का स्वरूप अज्ञात शास्त्र हृदय व्यक्ति के द्वारा समझने में नहीं आता है तथा इस संसार का अवसान गुण सत्वादिक की जो आसक्ति तादृश गुणा-शक्ति की निवृत्ति जनित है इस प्रकार उपलब्ध नहीं होता है सकल साधारणपुरुष को । एवम् इस संसार के आदि अर्थात् अमुक कारण से यह संसारवृक्ष प्रवृत्त है गुण विषयक स्नेह से उत्पन्न हुआ है इस प्रकार इस संसारवृक्ष के कारण का भी ज्ञान नहीं होना है तथा इस सम्प्रतिष्ठा अर्थात् अज्ञान में इस संसारवृक्ष का अवस्थान है यह भी सकल साधारण व्यक्ति को ज्ञात नहीं होता है अर्थात् इस ससार का यथावत वर्णित स्वरूप कारण तथा इसकी निवृत्ति प्रभृतिक किस तरह से है इस विषय को अज्ञात शास्त्र हृदय सकल साधारण व्यक्ति से सरलता से विदित नहीं होना है इसलिए यह संसार वृक्ष विलक्षण आश्चर्य प्राय मालूम पड़ना है ॥३॥

यह संसारवृक्ष अतिविलक्षण है दुरधिगम इसका ज्ञान यथावत् होने में बड़ी दिक्कत है और यह संसार दुर्निवार्य है अर्थात इसे कोई सुखेन छोड दे ऐसा नहीं है इन सब विषयों का उपदेश दे करके इसके बाद संसारवृक्ष की निवृत्ति के उपाय तथा उसके फल का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "अश्वत्थमेनमित्यादि" यह पूर्व निर्दिष्ट सुदृढमूलवाला है इसलिये इसका छेदन करना अशक्य है ऐसा कहा जाता है । दृढ मजबूत असंगरूप शस्त्र से वैराग्यलक्षण शस्त्र से छेदन करके जैसे काला आयस लोहा से बना हुआ अत्यन्त तीक्ष्ण कुठारादि शस्त्र से अति कठोर भी वृक्षखण्ड सुखपूर्व काटने के योग्य होता है उसी प्रकार यह संसार रूप वृक्ष विवेक तथा वैराग्य को सहकारी बना करके विषय का निराशारूप

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदु खसंज्ञै गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ५

सुखच्छेद्यस्तथाऽय ममारो विवेकवैराग्ये सहकारिणी सम्पाद्य विषयनैराश्यशस्त्रेण समुन्मूल्य ततो यस्मिन् परमपदे गताः पुरुषा भूयोऽस्मिन् प्रकृतिमण्डले न निवर्तन्ते तत्पदं गुरुशास्त्रसाहाय्येन तेन भव्यपुरुषेण परिमार्गितव्यमन्वेषणीयम् । कथं पुनरावृत्तिविवर्जितं पदमन्वेषणीयमित्यत आह–तमिति । तमखिलजगत्कारणमाद्यं 'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च' (गी.) इत्यादि मिर्निश्चितं पुरुषं प्रपद्येत् । व्यत्य-येन परस्मैपदम् । प्रपत्तिं कुर्यात् । यतः पुराणी पुरातनी प्रवृत्तिर्ममाश्रिता माया प्रसृता सर्वजगदुत्पादयितुम्प्रवृत्ता तदुक्तं स्वयमेव 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माये' त्यादि ॥३॥४॥

के पुनस्तत्पदं गच्छन्ति तान्विशिनष्टि–निर्मानमोहा इति । निर्मानमोहा-मत्प्रपत्तिमासाद्यमानोऽहंकारो मोहोऽविवेकस्ताभ्यां रहिता जितसङ्गदोषा गुणासङ्ग-

शास्त्र से सम्यक् प्रकार से उन्मूलन-छेदन करके उसके बाद जिस परमपद में गये हुए पुरुष पुनः इस प्रकृति मंडल में नहीं आते हैं उस पद का गुरु शास्त्र की सहायता से वह महापुरुष अन्वेषण करे वह पद उपरोक्त साहाय्य विशिष्ट पुरुष से अन्वेषण करने के योग्य है। किस प्रकार से पुनरावृत्ति वर्जित पद का अन्वेषण करें इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "तमेव चाद्य मित्यादि" उस अखिल जगत् के कारण परमात्मा को तथा "मैं सभी देवों का महर्षियों का आदि हूँ" इत्यादि शास्त्र से निश्चित जो परमपुरुष है उसे प्राप्त करे अर्थात् तादृश सभी पदार्थ के आदि कारण परमपुरुष सर्वेश्वर की प्रवृत्ति करें भजन पूजन वन्दनादि प्रकार से उसकी उपासना करें। प्रपद्येत् यहाँ आत्मनेपद का प्रयोग होना चाहिये किन्तु व्यत्यय से परस्मैपद का प्रयोग किया गया है। यतः जिस परम पुरुष से पुराणी पुरातनी प्रवृत्ति भगवदाश्रित भगवदवयवभूत शरीर रूपेण विशेषणीभूत माया प्रसुत है अर्थात् सर्वस्थावरजंगमात्मक संसार उत्पादन के लिये प्रवृत्त हुई है इस बात का स्वयमेव गीताचार्य ने कथन किया है "दैवीह्येषागुणमयी मम माया" दैवी द्योतनशीलगुण सत्व रजतमोमयी मेरी पारमेश्वरी माया है" इत्यादि ग्रन्थ से ॥३॥४॥

जिस पद की प्राप्ति हो जाने पर साधक संसार के आवागमन से रहित हो जाता है तादृश लोकोत्तर उस पद को कौन ऐसा विशिष्ट साधक है जो प्राप्त करता है इस जिज्ञासा के उत्तर में उन साधकों का विशेषण सहित प्रदर्शन करते हुए कहते हैं "निर्मानमोहा" इत्यादि। निर्मानमोहा जो साधक मेरी प्रपत्ति को प्राप्त करके मान शब्दका अर्थ है अहंकार

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धामपरमं मम ॥६॥

दोषा गुणासङ्गदोषहीना अध्यात्मनित्या अध्यात्मज्ञानपरायणा विनिवृत्तकामाः सुख दुःखसंज्ञैर्द्वन्द्वैः शीतोष्णादिरूपैर्विमुक्तास्तत्पूर्वोक्तमव्ययं पदं गच्छन्ति विशुद्धमात्मानमेव प्राप्नुवन्ति 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (गी.) इत्युक्तरीत्या जन्मजरामरणादिविकाररहितं पुनरावृत्तिरहितञ्च तत् स्थानमात्मस्वरूपं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ॥५॥

तत्पूर्वप्रकृतं प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं सूर्यो न भासयते न शशाङ्को न पावकः सूर्यादीनामात्मज्ञानेन वस्तुप्रकाशजननीये विरोधितमोनिरसनद्वारोपकारकत्वमेव प्रकाशकत्वन्त्वात्मभूतज्ञानस्यैवेति सिद्धान्तः । यद्गत्वा भूयो न निवर्तन्ते तन्मम शेषभूतः परमं धाम परमं ज्योतिरित्यर्थः ॥६॥

मोह शब्द का अर्थ है अविवेक इन मान मोह से जो रहित हो गये हैं ऐसा जो साधक तथा जो जितसंग दोष हैं सत्वादि गुण विषय जो आसक्ति तद्रूप दोष से विवर्जित हैं । एवं जो अध्यात्म नित्य हैं अर्थात् जो साधक आत्मज्ञान में परायण हैं और जिनकी सकल प्रकार की कामनाएं निवृत्त हो गई हैं और जो सुखदु.खरूप द्वन्द्व से रहित हैं अर्थात् शीतोष्णादि द्वन्द्व से परिवर्जित हैं एतादृश विशेषण युक्त साधक लोग पूर्वकथित अव्यय निर्विकार भगवत्पद को प्राप्त करते हैं—विशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त कर जाते हैं ।

"मामेव" अखिल कारण दिव्यानेक गुणविशिष्ट परमपुरुष की प्रपत्ति को संप्राप्त पुरुष इस विषय माया को जो मदाश्रित मदवयव भूत हैं उसे पारकर जाते हैं । इस पूर्वकथित रीति से जन्म जरा मरण विकार रहित पुनरावृत्ति विवर्जित आत्मस्वरूप विलक्षण स्थान को भक्तगम्य स्वरूप को भगवत्कृपा से अनायासेन प्राप्त कर जाते हैं ॥५॥

अव्यय उस पद को प्राप्त करता है इस प्रकार से पूर्वश्लोक में कथित प्रकृति सम्बन्ध से विवर्जित विशुद्ध जो आत्म स्वरूप है उस प्रकाश स्वरूप परमपद को लौकिक प्रकाश के आधारभूत सूर्यदेव भी प्रकाशित नहीं कर सकते हैं । श्रुति कहती है—"न तत्र चन्द्र सूर्यो भाति" उस पद में सूर्य तथा चन्द्रमा भासित नहीं होते हैं अर्थात् सूर्य तथा चन्द्रमा उसे प्रकाशित नहीं कर सकते हैं यह बिजली तो कहाँ से प्रकाशित कर सकेगी । इत्यादि न वा तारागण उस परमपद को प्रकाशित कर सकते हैं और जो पावक भौम अग्नि है वह तो उस पद को कैसे प्रकाशित कर सकती है । सूर्यादिको में से आत्मज्ञान द्वारा वस्तु पदार्थ विषयक

मनैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

एवं भगवदंशत्वेऽपि बद्धमुक्तव्यवस्था सम्भवतीत्याह—ममेति । सनातनः सदैकरूपेण वर्तमानोऽयमात्मा ममैवांशो मदंशभूत एव जीवभूतः सन् प्राक्तनकर्मरूपाविद्यया स्वयं बन्धनमवाप्य विपच्यमानकर्मफलोपभोगाय जीवलोके वर्तमानः प्रकृतिस्थानि प्रकृतिपरिणामशरीरस्थानि मनः षष्ठानीन्द्रियाणि मनः सहितानि षट्ज्ञानेन्द्रियाणि कर्षति । तैस्संयुक्तः सर्वत्र भ्राम्यतीत्यर्थः ॥७॥

ज्ञानोत्पादन करने में प्रतिबन्धकीभूत जो तम है उस तमस के निरसन द्वारा उपकारकता मात्र है सूर्यादि प्रकाश में पदार्थ की प्रकाशकता तो आत्मज्ञान में ही है ऐसा सिद्धान्त है अर्थात पदार्थमात्र का आत्मप्रकाश ही अवभासक है सूर्यादि प्रकाश तो तम निवर्तन द्वारा केवल सहकारी है । जिस स्थान में जाकरके भक्त शरणापन्नसाधक पुनः निवृत्त नहीं होता है वह मुझ सर्वेश्वर का शेषभूत परमधाम साकेत नामक परमज्योति है । यह संक्षिप्त अर्थ है इस श्लोक का है ॥६॥

यद्यपि यह जीवात्मा भगवान् का अंश है तब भगवत्स्वरूप होने से उस जीव को बन्धन नहीं है और जब बन्धन नहीं है तब बन्धन विश्लेषण रूपमोक्ष कहाँ से होगा क्योंकि भगवान् के समान जीव भी तो नित्य स्वभाववाला ही है । इस स्थिति में शास्त्र में जो बन्ध मोक्ष की व्यवस्था की गई है सभी के सभी निरर्थक हो जाते हैं तथापि भगवदंश जीव के होने पर भी बद्ध मुक्त व्यवस्था होसकती है इस बात को बतलाने के लिए गीताचार्य कहते हैं "ममैवांश" इत्यादि । सनातन सदा ज्ञानकारतारूप से वर्तमान अवस्थित यह जीवात्मा गण मेरा सर्वनियन्ता परम पुरुष का ही अंश शरीर तथा विशेषणीभूत है जीवभूत जीवस्वरूपता को प्राप्त करके विपच्य मान जो कर्म उसके फलोपभोग के लिए जीवलोक में वर्तमान होता हुआ प्रकृति में रहने वाली अर्थात् प्रकृति से जायमान जो शरीर उसमें रहनेवाला जो मन सहित छ प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय हैं उनको कर्षित करता है अर्थात् इन छ ज्ञान इन्द्रियों से युक्त हो करके इस संसार सागर में मनुष्य देवादिपर्याय से भ्रमण करता है । यद्यपि भगवदंश-शेषरूप ही यह जीव है तथापि स्वकृत अनादि कर्म के सम्बन्ध से सामान्य जीव भाव को प्राप्त करके तथा विस्मृत भगवत् स्वरूप हो करके स्वशरीर स्थित ज्ञानादीन्द्रिय सम्बन्ध से सुखदु.खमोहात्मक संसार में परिभ्रमण करता हुआ सर्वदा दुःखमय जीवन का अनुभव करता है ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

यच्छरीरमवाप्नोति यदा शरीरान्तरं गृह्णाति यदा चास्माच्छरीरादुत्क्रामत्येतच्छरीरं त्यजति तदा वायुराशयात् पुष्पाकराद् गन्धानिवायं करणकलेवरेशननिपुणो जीव एतानिज्ञानकर्मोभयविधानीन्द्रियाणि सहैव गृहीत्वा लोकान्तरं स्वकर्मवासनावेशात् संयाति ॥८॥

किमर्थमिन्द्रियाणि गृहीत्वा संयातीत्युच्यते—श्रोत्रमिति । श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं रसनं रसनेन्द्रियं घ्राणेन्द्रियम् द्वाभ्यां चकाराभ्यां प्राणकर्मेन्द्रियाणि ग्राह्याणि । मनश्चाधिष्ठाय जीवोऽयं विषयान् शब्दादीनुपसेवत उपभुङ्क्ते । करण कलेवरयोगेनैवायं जीवः सर्वत्र विषयादीननुभवतीत्यर्थः ॥९॥

प्रकृति के सम्बन्ध से संयुक्त जो जीव है उसके स्वरूपका कथन करते हुए इन्द्रियादि के प्रति जीव के स्वातंत्र्यता को बतलाते हुए कहते हैं "शरीरमित्यादि" यह जीव शरीर को प्राप्त करता है अर्थात् पूर्व शरीर का त्याग करके अभिनव शरीरान्तर का ग्रहण करता है और जब इस प्रकृत शरीर से उत्क्रान्त होता है अर्थात् जीर्णाजीर्णसाधारण पूर्वशरीर का त्याग करता है उस समय में जिस प्रकार वायु आशय से पुष्पाकर से गन्ध के समान यह करण कलेवर शरीरेन्द्रिय को नियमन करने में निपुण यह जीव इनको ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय को साथ में लेकरके कर्मवासना के बल से लोकान्तर में जाता है। जब यह जीव आयु के अवसान में एक शरीर को छोड करके फलोपभोग के लिये लोकान्तर में जाता है तब कर्म वासना के बल से ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय को साथ में लेकर ही जाता है। श्रुति भी कहती है "स एतास्ते जो मात्रा समभ्यादददानः" वह जीव इन तेजोमात्रा इन्द्रिय को ले करके जाता है इत्यादि ॥८॥

पूर्व श्लोक में कहा है कि जब जीव देहान्तर में जाता है तब इन्द्रिय को साथ में लेकरके जाता है। इसमें प्रश्न होता है इन्द्रिय को साथ में ले जाने का क्या प्रयोजन है इसके उत्तर में कहते हैं "श्रोत्रमित्यादि" श्रोत्र शब्द ग्राहक इन्द्रिय घ्राण गन्ध ग्राहक पार्थिवेन्द्रिय दो चकारों से पञ्चप्राण तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय वागादि का ग्रहण होता है श्लोक में ज्ञानेन्द्रियमात्र का कथन है, और एकादश मन इन सब इन्द्रियों को अधिष्ठित करके यह जीव शब्द स्पर्शरूप रसादिक विषय का उपभोग करता है अर्थात् शरीरेन्द्रिय के

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः १०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यत्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

एवं देहमाश्रित्य सर्वकार्यं कुर्वाणमिमं क्षेत्रज्ञं केचिदेव जानन्तीत्याह—उत्क्रामन्तमिति । गुणान्वितं सत्वादिगुणविशिष्टं कर्मफलभोगायैकस्माच्छरीरादुत्क्रामन्तं शरीरान्तरे स्थितं वर्तमानं भुञ्जानं शरीरमाश्रित्य भोगाननुभवन्तमेवं सर्वावस्थासु ज्ञानाकारेणैव स्वरूपेणावस्थितमेनमात्मानं विमूढा केवलदेहदर्शनपटवो ज्ञानविधुरा नानुपश्यन्ति ज्ञानचक्षुषस्तु सर्वदा सर्वत्र देहाद् विविक्तरूपेणैव पश्यन्ति ॥१०॥

उक्तार्थे हेतुमाह—यतन्त इति । योगिनो यतन्तो मत्सम्बन्धिकर्मानुष्ठायिनो

सम्बन्ध से ही जीव सभी स्थल में विषय का उपभोग करता है इस लिये इन्द्रिय को साथ रखने की आवश्यकता होती है क्योंकि स्वधर्म समर्थ भी कर्ता करण के बिना कार्य नहीं कर सकता है ॥९॥

इस प्रकार देह को आश्रित करके अर्थात् मनुष्यादि शरीर में अवस्थित हो करके सभी कार्य करते हुए इस क्षेत्रज्ञ जीव को विमूढजन नहीं जानते हैं किन्तु विलक्षण ज्ञानशील व्यक्ति ही जानते हैं इस बात को बतलाते हैं "उत्क्रामन्तमित्यादि" गुण से अन्वित प्रकृति संपादित मनुष्यादि शरीर विशिष्ट कर्मफल के उपभोग करने के लिये एक शरीरान्तर में अवस्थित अर्थात् वर्तमान भोग करते हुए अर्थात् नवीन देहान्तर को ग्रहण करके विचित्र प्रकारक भोग का अनुभव करते हुए सभी अवस्था में ज्ञानाकार स्वकीयरूप से सर्वदा एकरूप से अवस्थित इस आत्मा को विमूढ विवेक प्रज्ञा रहित केवल देह के दर्शन में पटु व्यक्ति नहीं देख सकते और जो ज्ञानचक्षु हैं अर्थात् ज्ञान ही हैं चक्षु जिनके ऐसे जो व्यक्ति हैं वे तो सभी स्थल में सभी काल में शरीर से भिन्नरूपेणैव आत्मा को जानते हैं। अर्थात् वास्तविक ज्ञानाकारेण अवस्थित आत्मा को प्राकृत व्यक्ति जो ज्ञान रहित हैं वे नहीं समझते हैं किन्तु गुरु शास्त्रकी कृपा से जिनकी बुद्धि निर्मल है वे ही साधक विशेष वास्तविक आत्मतत्व को जानने में समर्थ होते हैं ॥१०॥

सभी व्यक्ति आत्मा को नहीं जानते हैं किन्तु हजारों में एकाध ही विलक्षण प्रज्ञाशीलव्यक्ति ही जानते हैं इस कथित विषय में कारण बतलाने के लिए कहते हैं "यतन्त" इत्यादि । भगवत्सम्बन्धी कर्म का अनुष्ठान करनेवाले प्रयत्नशील योगीलोग परमपुरुष की

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

मदुपासनया वीतकल्मषा ध्यानादियोगमहरहोऽनुतिष्ठन्त आत्मनि देहेऽवस्थितमपि देहादसंस्पृष्टं प्रकृतिवियुक्तमेनं निश्चयेन पश्यन्ति । चोऽवधारणार्थकः । अकृतात्मानो मत्प्रपत्तिधर्मरहिता यतन्तोऽपि कर्मयोगेऽधिकृत्यात्मावलोकनाय प्रयतमाना अशुद्ध चेतस्त्वादेनं विशुद्धमात्मानं नैव पश्यन्ति । दर्शनविरोध्यबोधध्वान्तावृतमनस्कत्वादिति भावः ॥११॥

चेतनप्रसङ्गादचेतनपरिणामविशेषभूतादित्यादेरपि तेजो भगवद्विभूतिरेवेत्याह– यदादित्यगतमिति । आदित्यगतं यत्तेजोऽखिलं जगदवभासयते यच्च रात्रौ चन्द्रमसि विद्यते तेजो यच्चाग्नौ तेजस्तत्सर्वं मामकमेव विद्धि । मद्विभूतिभूतैर्मदनुग्रहादेव प्राप्तमिति भावः ॥१२॥

उपासना से जिनका हृदयस्थ पापकर्म विनष्ट हो गया है ऐसे साधकविशेष प्रतिदिन ध्यानयोग का अनुष्ठान करते हुए आत्मा अर्थात् मनुष्यादि शरीर में अवस्थित देहधर्म से असंस्पृष्ट अतएव प्रकृति वियुक्त इस ज्ञानाकार से अवस्थित आत्मा को निश्चय रूप से जानते ही है । च शब्द का अर्थ अवधारण है अर्थात नियमतः तादृश आत्मा को जानते ही हैं और जो व्यक्ति अकृतात्मा हैं अर्थात् भगवान् की प्रपत्ति से रहित हैं वे प्रयत्न करने पर भी कर्मयोग में अधिकृत हो करके आत्मा के अवलोकन करने में प्रयतमान हैं तो भी तादृश व्यक्ति अशुद्ध अन्तः काण होने से विशुद्ध इस आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते हैं क्योंकि आत्मदर्शन में विरोधी अज्ञानलक्षण अन्धकार से उनका हृदय आवृत्त है इसलिए अविवेकी व्यक्ति प्रयत्न करने पर भी आत्मा को नहीं देखते हैं और विवेकी पुरुष देखते हैं ॥११॥

जड चेतन सभी पदार्थ भगवान् के अंशरूप हैं उनमें से चेतन रूप जो क्षेत्रज्ञ हैं उनकी बन्धमोक्ष व्यवस्था का उपपादन करके यानी यह क्षेत्रज्ञ मेरी विभूति है कह करके चेतन प्रसंग से भगवान् के विशेषण लक्षण जो अचेतन परिणाम विशेषभूत आदित्यादिक दिव्यपदार्थ हैं तत्सम्बन्धी जो लोकापेक्षया विलक्षण तेज वह तेज भी परमपुरुष की ही विभूति है नतु माया गंधर्वनगर के समान अकस्मात् आगत वस्तु है इस वस्तु को बतलाने के लिए कहते हैं–"यदादित्यगतमित्यादि" आदित्यसूर्य में रहने वाला समस्तभूरादि चतुर्दशभुवनान्तपाती पदार्थ का प्रकाशक जो तेजो विशेष है तथा जो रात्रि में चन्द्रगत तेज वस्तु का प्रकाशक है और सूर्य चन्द्रमा के विरहकाल में पदार्थ प्रकाशन करने में समर्थ अग्नि प्रदीपादि

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीस्सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

सर्वत्रविशिष्टशक्तिर्मदीयैव वर्तते । तत्र कतिचिदुदाहरणैः स्पष्टयति—गामित्यादि-श्लोकैः । गां धरणीमाविश्याहमेव स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतान्योजसा स्वकीयापरिमितबलेनधारयामि । किञ्च रसात्मकः परमामृतमयः सोमो भूत्वाहमेव सर्वा व्रीहियवादिरूपा वसुन्धराभूता ओषधीः पुष्णामि ॥१३॥

अहं वैश्वानरो जठराग्निर्भूत्वा प्राणिनां सर्वजन्तूनां देहमाश्रितः सन् प्राणापानसमायुक्तः प्राणापानवृत्तिसंयुक्तश्चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्यभेदेन चतुः प्रकारमन्नं पचामि । वैश्वानरेऽग्नौ पाचकशक्तिर्मदीयैवेत्यर्थः ॥१४॥

पदार्थ में जो तेज है ये सब तेजमालाएँ सर्वाधार सर्वनियामक परमपुरुष मेरा ही तेज है हे अर्जुन ! ऐसा तुम जानो । मेरे विभूतिलक्षण सूर्य चन्द्रमा पावक सभी पदार्थ मेरी कृपा से ही तादृश तेज को प्राप्त किये हैं । श्रुति कहती है—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" परमपुरुष के प्रकाश से ही सभी पदार्थ भासितहोते हैं अन्य से नहीं ॥१२॥

संपूर्ण जड चेतनात्मक भूमण्डल में मेरी ही विशिष्ट शक्ति है जो कि सर्व कार्य का नियामक है अर्थात् जिस अपूर्व सामर्थ्य के बल पर सभी कार्य होता है और जिसके नहीं रहने से कोई कार्य नहीं हो सकता है । किसी ने कहा भी है "हिलजाय पत्ता भी सही सत्ता बिना इस मूर्ति की" इस बात को कतिपय उदाहरण के द्वारा स्पष्टरूप से समझाते हैं—"गामाविश्य चेत्यादि" जो नाम है पृथिवी में प्रविष्ट हो करके मैं परमपुरुष ही स्थावर जंगम जड चेतनभूतों को ओजस-स्वकीय अपरिमित बल से धारण करता हूं । और रसात्मक परम अमृतमय सोमरस स्वरूप हो करके मैं ही सभी व्रीहियवादि लक्षण वसुन्धरा जिनके एतादृश औषधियों को परिपुष्ट करता हूं । अर्थात् पृथिव्यादिक में जो धारण पोषणादिक सामर्थ्य है वह मेरे बल से ही है पृथिव्यादिक में स्वातंत्र्येण वह शक्ति नहीं है ॥१३॥

हे अर्जुन ! मैं परमेश्वर सभी का आधारभूत वैश्वानर—जठरसम्बन्धी अग्निस्वरूप बन करके प्राणी सर्वजन्तु के शरीर में आश्रित हो करके प्राण अपानवायु से संयुक्त हो करके चार प्रकार भोक्ष्य जो अदनीय वस्तु दाँत से काट काट करके खाई जाये उसे भक्ष्य अथवा चर्व्य कहते हैं जैसे मालपूआ रोटी प्रभृति । जो केवल जिह्वा से विलोडित करके खाया जाता

अथ स्वस्य सर्वान्तर्यामिता ज्ञानादिप्रवर्तकतामखिलवेदवेद्यताञ्चाह–सर्वस्येति । सर्वस्याखिलभूताना हृदि हृदयेऽहं सन्निविष्टोऽन्तर्यामितया प्रविष्टः । 'अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानाम्' (बृ.५।७।३) इति श्रुतेः । अतो मत्त एव सर्वकारणात् स्मृतिः पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम् । ज्ञानमिन्द्रियादिजन्यं ज्ञानमपोहनं स्मृतिज्ञान मपोहनं स्मृति ज्ञानप्रमोपः पर्यालोचनं वा च भवन्ति । सर्वैः सकलैर्वेदैरहमेव वेद्यः प्रतिपाद्यः । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती' तिश्रुतेः । इन्द्रादितत्तद्वैदिकाः शब्दाः स्वान्त र्यामिभगवत्प्रतिपादका एवेत्यर्थः । वेदस्यान्तोनिश्चयो वेदान्तस्तं करोति वेदान्त-

है उसे भोज्य कहते हैं जैसे दालभात । और जो वस्तु जिह्वा पर रख करके रसास्वाद करके खाई जाती है उसे लेह्य कहते हैं जैसे गुडादिक वस्तु । और जो वस्तु दाँत से दबा करके रसांश को लेते हैं अवशिष्ट अंश को छोड देते हैं उसे चोष्य कहते हैं जैसे इक्षु दण्ड प्रभृति पदार्थ । इन सबों को पचाता हूं जीर्णावस्था को प्राप्त करता हूं । अर्थात् वैश्वानर अग्नि में जो पाचकता शक्ति है वह मुझ परमेश्वर का शक्ति है । वह अग्नि की स्वतन्त्र शक्ति नहीं है ।।१४।।

पूर्वोक्त क्रम से आदित्यादिक तेजस्वी देवों को भी शक्ति प्रदाता होने से अपने को सूर्यादि का नियामक कह करके अब सभी पदार्थों के प्रति स्वकीय अन्तर्यामित्व तथा ज्ञानादि प्रवर्त्तकत्व तथा सर्ववेद से साक्षात् परम्परया वा वेद्यत्व को बतलाने के लिए कहते हैं "सर्वस्य-चाहमित्यादि" सभी प्राणियों के हृदय में मैं ही प्रविष्ट हूं अर्थात् सर्वान्तर्यामित्व रूप से प्रविष्ट हूं । "सभी भूतों के अभ्यन्तर में प्रविष्ट हो करके शासन करने वाला हूं" ऐसा श्रुति कहती है । इसलिए सभी के प्रति कारण मुझ परमात्मा से ही स्मृति होती है अर्थात् बाह्येन्द्रियादि निरपेक्ष पूर्वानुभवजनित संस्कारमात्र से जायमान ज्ञानात्मक स्मरण ज्ञान मै ही हूं । तथा ज्ञान इन्द्रियादि जायमान जो चाक्षुषादि ज्ञान वह भी मुझ परमेश्वर से ही होता है । और अपोहन अनुभव वा स्मृत्यात्मक ज्ञान का प्रमोष अथवा तद्विषयक समालोचन कल्पना वा ये बस परमेश्वर से ही होते हैं । और सकल वेद से मै परमात्मा ही वेद्य हूं अर्थात् सभी वेद मेरा ही प्रतिपादन करते है । श्रुति भी कहती है–"सभी वेद जिस परमपुरुष पद का प्रतिपादन करते हैं । इन्द्रादिक तत्तत् वैदिक सब्द समुदाय स्व के अन्तर्यामी जो भगवान् है उन्हीं का प्रतिपादन करनेवाले हैं । वेद का अन्त अर्थात् निश्चय उसका नाम है वेदान्त तादृश वेदान्त को जो करे उसे वेदान्त कृत् कहते हैं अर्थात् वेदार्थ का निश्चय करनेवाले परमपुरुष

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते १६॥

कृद् वेदार्थनिश्चायकः । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः । अतो वेदविद् वेदवेत्ता चाहमेवास्मीति शेषः ॥१५॥

अथेदानीं गुह्यतमोपदेशमारभते–द्वावित्यादिचतुर्भिः । क्षरश्चाक्षरश्चेतीमौ द्वौ पुरुषौ लोके स्तस्तत्र सर्वाणि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि क्षरणस्वभावानि संसारान्तर्वर्त्तीनि भूतानि क्षर उच्यते । बद्धजीवानामनन्तत्त्वेऽपि प्रकृतिसंसृष्टत्वरूपैकोपाधिना क्षर इत्येकत्वव्यपदेशः । तथा प्राकृतपरिणामरहितः कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थः स्वासंकु-

ही हैं । परमपुरुष से भिन्न कोई भी नहीं है जो वेदार्थ का निश्चायक हो । जिसने सृष्टि की प्रारंभावस्था में ही ब्रह्मा को बनाया और ब्रह्मा को बना करके सर्व प्रथम उस ब्रह्मा को वेद का ग्रहण कराया ।" इसलिये वेदविद् वेदकर्ता मैं ही परमेश्वर हूं अन्य कोई नहीं है ॥१५॥

ईश्वर में वेदान्त कर्तृत्व सर्वज्ञत्व सर्वश्रेष्ठत्वादि का निरूपण करके गुह्यतम पदार्थ विषयक उपदेश चार श्लोकों से करते हैं जिस परमगुह्य विषयक ज्ञान से ज्ञानी लोग कृत्य कृत्य होंगे "द्वाविमावित्यादि ।" क्षर तथा अक्षर इस प्रकार से लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं अर्थात् पुरुषपद वाच्य दो हैं । उन दो में से सभी ब्रह्मा से ले करके स्तंबपर्यन्त क्षर विनाश स्वभावक संसार के अन्तर में रहने वाले जो प्राणी हैं यानी अमुक्तजीव जीव हैं वे क्षरपदवाच्य हैं । यद्यपि प्रकृति बन्धन से युक्त अनेक जीव हैं तब क्षरः यहाँ एक वचन का प्रयोग नहीं होना चाहिये । अगर एकता ही मानें तब तो जीवानेकवाद स्वसिद्धान्त की क्षति होती है तथापि जीव की अनेकता होने पर भी प्रकृत संसर्ग संसर्गित्वात्मक एक उपाधि को ले करके क्षर इस प्रकार से एकत्व का प्रयोग किया गया है ।

जैसे "सम्पन्नो ब्रीहिः" इस स्थल में ब्रीहि की अनेकता होने से सु प्रत्यय का अर्थ जो एकत्व है उसका अन्वय प्रकृत्यर्थ बाधित है तब 'ब्रीहिः' यह प्रयोग नहीं होना चाहिए अपितु 'सम्पन्नाः ब्रीहयः' ऐसा बहुवचन का प्रयोग होना चाहिये ऐसी जिज्ञासा होने पर उत्तर दिया कि प्रकृत स्थल में स्वार्थ एकत्व का अन्वय ब्रीहिरूप प्रकृत्यर्थ में नहीं है किन्तु प्रकृत्यर्थतावच्छेदक ब्रीहित्व जाति के एक होने से उसी में-ब्रीहित्व में अन्वय होता है । उसीके समान प्रकृत में प्रकृत्यक्षर में एकत्व का अन्वय नहीं है प्रकृत्यर्थतावच्छेदक प्रकृति संसर्गित्वरूप धर्म में एकत्वका अन्वय है इसलिए कोई क्षति नहीं है । नवा अनेक जीववाद में कोई आपत्ति ही आती है ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः १७॥

चित ज्ञानैकाकारविशिष्टो मुक्तात्माऽक्षरशब्देनोच्यते । मुक्तजीवानामनन्तत्वेऽपि प्राकृतसंसर्गराहित्यरूपैकोपाधिनाऽक्षर इत्येकत्वेन व्यपदेशः कृतः ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्तु ताभ्यां क्षराक्षरपदव्यपदिष्टाभ्यां प्रकृतिसम्बद्धबद्धेभ्यः प्राकृतसम्बन्धविधुरेभ्यो मुक्तेभ्यश्चान्यः 'परमात्मा' इत्येवमुदाहृतः 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' 'एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा' (कठोप.) इत्यादिश्रुतिभ्यः प्रतिपादितः । यः परमात्मा बद्धमुक्तनित्यात्मकं लोकत्रयं तदात्मतयाऽऽविश्यबिभर्त्ति ते तु भर्तव्या इति भरणकर्मतयाऽस्माद् भरणकर्तुर्भिन्ना अतोऽयमर्थान्तरभूतस्तेभ्य इति फलति । अव्ययः सांसारिकविकारैरसंस्पृष्ट ईश्वर सर्वेषामीशनसमर्थः 'ईशानो भूतभव्यस्य' (कठोप.) 'य

एवं प्रकृति का जो परिणाम करण कलेवर उससे सर्वथा कूट के समान सर्वविकार से रहित हो करके जो रहे उसे कूटस्थ कहते हैं । स्वकीय असंकुचित ज्ञानमात्र आकार से विशिष्ट जो मुक्तात्मा वह अक्षर शब्द से कहा जाता है । एतादृश मुक्त जीव यद्यपि अनन्त है तथापि प्राकृत जो संसर्ग तादृश उपाधिरहितत्व लक्षण एक उपाधि से युक्त होने से सभी का संग्रह करके अक्षर इस प्रकार से एकत्वरूप से एक वचन का प्रयोग किया गया है । एतावता संसारी एक ही है एवं जीव भी एक ही है ऐसा भ्रम में किसी को नहीं पडना चाहिये । जीव की अनेकता तो स्वसिद्ध है 'क्षर' ऐसा जो एकत्व व्यवहार है वह तो प्रकृत संसर्गित्व प्रकृत संसर्ग लक्षण उपाधि के एक होने से एतादृश प्रतीति है नतु व्यक्ति भेद प्रयुक्त है ॥१६॥

क्षरपदवाच्य संसारी जीव तथा अक्षरपदवाच्य मुक्त जीव है इस प्रकार दो प्रकार का जीव का भेद पूर्वप्रकरण में बतलाया गया है अब यह जो दो क्षराक्षर पद से व्यपदिश्यमान हैं प्रकृति संबन्ध से बद्ध और प्रकृति संसर्ग से रहित मुक्तजीव हैं इन दोनों से भिन्न जो उत्तम पुरुष हैं जो कि परमात्मा एतादृश पद से लोक में कथित होते हैं "जो प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ चेतन जीव के पति स्वामी हैं और गुण के ईश हैं" सर्वभूतों की अन्तरात्मा जिसके अधीन में जगत् है" इत्यादि अनेक श्रुति से प्रतिपादित है, ऐसे जो परमात्मा हैं वे प्राकृतिक बन्धन से बद्ध तथा प्रकृति संसर्ग से मुक्त नित्यात्मक लोकत्रय में तदात्मरूप से प्रविष्ट हो करके धारण करते हैं । वे जो भरणक्रिया के कर्मीभूत हैं तदपेक्षया भरण का जो कर्ता है भिन्न है । इसलिये ये परमात्मा उन सबों से भिन्न हैं यह फलित होता है और ये परमात्मा किस प्रकार के हैं तो इनके उत्तर में कहते हैं कि जो ये परमात्मा अव्यय हैं

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ? ॥१९॥

ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय, (श्वे. ६।१७) इति श्रुतिभ्यः ॥१७॥

पुरुषोत्तमपदेन निर्दिष्टां संज्ञां स्वस्मिन् समन्वेति—यस्मादिति । यस्मात् क्षराख्यं पुरुषमतीतोऽहमक्षरपदाभिधेयान्मुक्तादप्युत्तम उत्कृष्टतमोऽस्म्यतो हेतोर्वेदेलोके श्रुतौ स्मृतौ च पुरुषोत्तम इति नाम्ना प्रथितः प्रसिद्धोऽस्मि 'स उत्तमः पुरुषः, (छा०) इत्यादिश्रुतिषु । 'अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य' (वि.पु.) इत्यादिस्मृतिषु ॥१८॥

पुरुषोत्तमशब्दार्थपरिज्ञानस्य फलमाह—य इति । हे भरता ! यो भक्त एवं

अर्थात् सांसारिक विकार से असंस्पृष्ट हैं तथा ईश्वर हैं सभी के ईशन करने में समर्थ है "जो भूतकालिक पदार्थ हैं जो वर्तमान कालिक पदार्थ हैं तथा भविष्यत्कालिक पदार्थ हैं उसके ये ईशान नियन्त्रण करने में समर्थ हैं" जो परमात्मा नियमतः इस जगत् का ईशन करते हैं इससे अन्य कोई कारण ईशन का नहीं है" इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है ॥१७॥

पुरुषोत्तम इस पद से निर्दिष्ट कथित जो संज्ञा है उस संज्ञा को भगावान् स्व में अपने में समन्वित करते हुए कहते है "यस्मादित्यादि" हे अर्जुन ! जिस कारण से क्षर नामक जो पुरुष संसारासक्त जीव उसे मैने अतिक्रमण किया है यतः वह जीव तो क्षरण विनाशशील है मै विनाश रहित होने से अक्षर हूं और पुरुषोत्तम इस नाम से प्रसिद्ध हूं । चिरकाल से इस पद का पुरुषोत्तम पद से वाच्य हूं । "वह जीवपरम ज्योति को उपसन्न हो करके स्वकीय रूपसे अभिनिष्पन्न हो जाता है वही उत्तम पुरुष है" ऐसा श्रुति कहती है । तथा 'पुरुषोत्तम भगवान् रामजी के अंशावतार को" इत्यादि विष्णुपुराणादिक से सिद्ध होता है कि सर्वनियन्ता जगदीश्वर में ही पुरुषोत्तमपद शक्त है ॥१८॥

पुरुषोत्तम शब्द से प्रतिपाद्य जो अर्थ है तद्विषयकज्ञान का जो फल उसका कथन करते है अर्थात् पुरुषोत्तम पदार्थ विषयक ज्ञान का फल कहते हैं "यो मामेवमित्यादि" हे भारत ! मेरा जो अनन्यभक्त पूर्वप्रतिपादित प्रकार से पुरुषोत्तम मुझे असंमूढ मोह रहित हो करके जानता है अर्थात् सर्वनियामकत्व सर्वपालकत्वादि धर्म से क्षराक्षर पुरुष से विलक्षण रूप से यथावत् अक्षरपदवाच्य जो मुक्तपुरुष हैं उनसे भी मै उत्तम हूं उत्कृष्टतम हूं क्योंकि क्षरवत्

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ?
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ?॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमज्ञानयोगोनाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

प्रोदीरितप्रकारेण पुरुषोत्तमं मामसम्मूढो जानाति क्षराक्षरपुरुषाभ्यां तन्नियामकत्व-तत्पालकत्वादिस्वाभाविकधर्मैं विलक्षणं यथावदवगच्छति स सर्ववित् मत्सम्बन्धिकृत्स्नस्य वेदनस्य यथावद्धारकः स एव सर्वभावेन मद्भजनप्रकारा ये निर्दिष्टास्तैर्मां मद-नुग्रहबलमासाद्य निरतिशयप्रेम्णा भजति । स च शास्त्रपरिशुद्धमार्गमस्थितो नातोऽति-रिक्तं तस्य भगवत्प्राप्तये साधनान्तरमाश्रयणीयमिति भावः ॥१९॥

प्रकृतार्थं प्रशंसन्नुपसंहरति-इतीति । हे अनघ ! हे भारत ! निष्कल्मषत्वेन मदुक्तार्थस्य प्रेम्णा धारणसामर्थ्यं त्वय्यस्तीत्यतो गुह्यतममप्युपादिशमिति भगवतोऽभि-प्रायः सम्बोधनसूचितो भवति । इति एवं प्रकारेणेदं गुह्यतमं शास्त्रं परमरहस्यभूतं

अक्षरमुक्तपुरुष का भी मैं नियामक हूं इस कारण से वेद तथा लोक में अर्थात् श्रुति स्मृति में मैं मुझे जानता है वह सर्ववित् है भागवत् सम्बन्धी सकलज्ञान को यथावत् धारण करनेवाला है तथा वही व्यक्ति सर्वभाव से अर्थात् मेरे भजन का जो प्रकार शास्त्र में कहा गया है उन प्रकारों से मेरी कृपाबल को प्राप्त करके निरतिशय प्रेमपूर्वक मेरा भजन पूजनादिक करता है । वह शास्त्र से विशुद्ध जो मार्ग है उसमें आश्रित है । भगवत् प्राप्ति में एतदतिरिक्त साधनान्तर का आश्रय लेना आवश्यक नहीं होता है । इतना ही भगवत् प्राप्ति में परिपूर्ण साधन है ॥१९॥

प्रकृत जो अर्थ पुरुषोत्तम पदार्थ विषयक ज्ञान उसीकी प्रशंसा करते हुए प्रकरण प्रतिपादित अर्थ का उपसंहार करते हैं—"इति गुह्यतममित्यादि" हे अनघ सर्वपाप रहित अर्जुन ! जिस लिये निष्पाप हो इसलिये मुझसे प्रतिपादित गुह्यतम भी जो अर्थ है उसका प्रेमपूर्वक धारण करने का सामर्थ्य तुम में है इसलिये गुह्यतमपदार्थ का उपदेश तुम को दिया । अनघ इस सम्बोधन से भगवान् के इस प्रकार के अभिप्राय का सूचन होता है । इति इस प्रकार यह गुह्यतम अतिगोपनीय शास्त्र परम रहस्य भूत सर्व शासन करण सारभूत शास्त्र तुम को मैने कहा है अर्थात् मुझ परमेश्वर के अतिशय प्रीतिपात्र तुम को मैने कहा है । यह गुह्यतम शास्त्र मैने कहा है" भगवान् के इस वाक्य से यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि गीताशास्त्र में कथित प्रधान अर्थ यही है जो कि पंद्रहवें अध्याय के अन्त में हितैषी मैंने तुम से स्पष्ट रूप में कहा है । इसको जान करके बुद्धिमान् होगा । भगवान् की जो प्राप्ति तादृश प्राप्ति काम-

पञ्चदशाध्याया-न्ते मया त्वद्वितैषिणा स्पष्टमुक्तः । एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स कामो निरतिशयप्रेमविशिष्टो यः कोप्यधिकारी एतन्ममपुरुषोत्तमत्वं बु ध्यरूपा या प्रशस्तबुद्धिस्तद्वान् स्यात् कृत्यकृत्यश्च । हे भारत ! सर्वं कृतमेवस्यादित्यर्थः ॥२०॥

इतिश्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये पुरुषो पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

नावान् निरतिशय प्रेम विशिष्ट कोई भी अधिकारी मेरा जो यह पुरुषोत्तमत्व उसे अर्थात् कर्तव्यरूपा जो जो प्रशस्त बुद्धि तद्वान् तादृश बुद्धिमान् होगा तथा हे कृतकृत्य भी हो जायगा । अर्थात् सभी करणीय वस्तु को उसने कर लिया । इसके वाद उसका कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता है ॥२०॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे

पञ्चदशोऽध्यायः






नमो भगवते श्रीसीतानाथाय

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥

卐 षोडशोऽध्यायः 卐

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् १॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् २॥

एवं क्षराक्षरपुरुषाभ्यामन्यस्य तयोरपि नियामकस्यात एव पुरुषोत्तमपदवाच्यस्य सर्वेश्वरस्यैव भजनेन निःश्रेयसावाप्तिरित्युक्त्वेदानीमेतस्य गुह्यतमोपदेशस्याधिकारितासिद्धये षोडशोऽध्याय आरभ्यते । तत्र नवमे दैवप्रकृतिमन्तआसुरप्रकृतिमन्तश्चोद्दिष्टास्तेषु दैवसम्पद्विशिष्टानामत्राधिकारस्तद्रहितानामासुरसम्पद्युतानान्तु नाधिकार इति तेषु वक्तव्येषु प्राग् दैवसम्पत्स्वरूपमुपदिशति—अभयमित्यादित्रिभिः । द्विष्टनिमित्त-

क्षर तथा अक्षर पुरुष से भिन्न तथा क्षराक्षर पुरुष का नियामक सर्वेश्वर अत एव पुरुषोत्तम शब्द का वाच्य जो सर्वेश्वर परमपुरुष है तादृश परमपुरुष के भजन से ही निःश्रेयस मोक्ष महाविष्णु का जो परमपद दिव्य श्रीसाकेतधाम की प्राप्ति होती है । इस विषय का कथन करके यह जो गुह्यतम उपदेश है तादृशोपदेश की अधिकारिता की सिद्धि के लिए इस षोडशवे अध्याय का आरम्भ होता है । इसके पूर्वमें नवमें अध्यायमें दैवी प्रकृतिमान् तथा आसुरी प्रकृतिमान् व्यक्तियों का कथन किया गया है । उसमें से दैवीसंपद् विशिष्टपुरुष को ही भगवद् भजन में अधिकार है और दैवी सम्पत्तिरहित तथा आसुरी संपत्ति युक्त पुरुषों को भगवद् भजन में अधिकार नहीं है इस बात का प्रतिपादन करना है उसमें से प्रथमतः दैवीसंपत्ति के स्वरूप को बतलाने के लिये कहते है—"अभयमित्यादि" तीन श्लोकों से । द्वेष विषयी भूत जो पदार्थ तद्रूप निमित्त के दर्शन से जायमान मानसिक दुःख विशेष का नाम होता है भय, जो भय मै डरता हूं इत्याकारक प्रतीति से देवर्षी से लेकर कीट पतंग प्रत्येक प्राणी के अन्दर में स्वानुभवसिद्ध है तादृश भय का जो अभाव है उसीका नाम होता है अभय, यह अन्य

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ? ॥३॥

दर्शनान्मनोदुःखं भयं तद्राहित्यमभयं सत्वसंशुद्धिः सत्त्वस्य मनसो रागद्वेषराहित्यं ज्ञानयोगव्यवस्थितिरात्मज्ञानोपाये निष्ठा दानं स्वार्जितधनानां सत्पात्रेऽर्पणं दमश्च मनोनिग्रहो यज्ञश्च भगवत्पूजनादिरूपः स्वाध्यायो भगवत्स्तवरूपपुरुषसूक्तादिवैदिकानां श्रीरामस्तवराजप्रपत्तिषट्कवेदान्तसारस्तवश्रीरामपञ्चकभगवत्समाश्रयश्रीराघवेन्द्रमङ्गलमालादिलौकिकानां च स्तोत्राणां पाठस्तपो. मनसि सत्त्वोद्रेकोत्पत्तये हरिदिनोपवासादिरूपमार्जवं मनोवाक्कायकौटिल्यत्यागोऽहिंसा परक्लेशानुत्पादनं सत्यं यथार्थभाषणमक्रोधः प्रतिकूलेष्वप्यविकृतचित्तता त्यागो निस्पृहत्वं शान्तिरिन्द्रियनिरोधोऽपैशुन्यमन्यत्रान्यदोषानुद्घाटनं भूतेषु दया परदुःखाऽसहिष्णुताऽलोलुपत्वं विषयाभिलाषराहित्यं मार्दवं वाङ्मनसयोरकाठिन्यं ह्रीरनुचिताचरणे लज्जाऽचापलं निष्प्रयो-

दैवी संपत्ति के अन्तर्गत वस्तु है । सत्व संशुद्धि—सत्व नाम है मन का उस मन में राग द्वेष राहित्य का नाम है सत्त्वसंशुद्धि यह द्वितीय संपत्ति है और ज्ञान योगव्यवथितिः—आत्म ज्ञान के प्रति जो उपाय है उसमें जो निष्ठा श्रद्धा विशेष है उसे कहते हैं ज्ञानयोग व्यवस्थिति । दान स्वकीय प्रयत्न द्वारा उपार्जित जो धन उसका सत्पात्र में अर्पण करना उसका नाम होता है दान अर्थात् स्वस्वत्व निवृत्ति पूर्वक परस्वत्वोत्पादनानुकूल व्यापार विशेष । आन्तर इन्द्रिय का जो निग्रह उसे कहते हैं दम । तथा परम पुरुष का जो पूजन अर्चनादिक है उसे कहते हैं यज्ञ अथवा निष्काम होकरके अग्निहोत्रादि कर्म के अनुष्ठान को यज्ञ कहते हैं । स्वाध्याय भगवान्-परमपुरुष का उद्देश्य करके पुरुष सूक्तादि वेद का अध्ययन करना इसका नाम है वैदिक स्वाध्याय तथा रामस्तवराज प्रपत्तिषट्क वेदान्तसारस्वत श्रीरामपञ्चक भगवत्समाश्रय श्रीराघवेन्द्रमङ्गलमाला प्रभृति लौकिकस्तोत्रों का जो पाठ उसे कहते हैं स्वाध्याय, मन में सत्वगुण का आविर्भाव हो इसलिये एकादशी प्रभृति पुण्य तिथि में अहोरात्रावच्छेदेन भोजन निवृत्तिरूप को तप कहते हैं । कायिक वाचिक मानसिक कुटिलता का जो त्याग उसे आर्जव यानी ऋजुता कहते हैं । तादृश ऋजुता पर दुःख का अनुत्पादन को अहिंसा कहते हैं । सत्य अर्थात् यथार्थभाषण । अक्रोध—प्रतिकूल वस्तु के सम्बन्ध से चित्त में विकार होने का नाम है क्रोध और क्रोधाभावरूप को अक्रोध कहते हैं । त्याग अभिलषित मनोरम वस्तु में भी स्पृहाराहित्य । जो पदार्थ अत्यन्त रमणीय है इसमें स्वभावतएव प्रायः सभी प्राणियों को उपादेयता का ज्ञान होता है तदनन्तर तद्विषयक इच्छा होती है, तदनन्तर

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थसम्पदमासुरीम् ॥४॥

जनकरणप्रवृत्तिराहित्यं तेजोऽयोग्यैरनभिभवः क्षमा परापकारसहिष्णुता धृतिर्विपद्यपि व्याकुलताराहित्यं शौचं करणकलेवरशुद्धिरद्रोहः परापकारचिकीर्षा द्रोहस्तद्राहित्यं नातिमानिता अभिमानराहित्यमिमे गुणा दैवीं भगवदाज्ञानुवर्तनशीला देवास्तेषां सम्बन्धिनीं सम्पदमभिजातस्य तामभिमुखीकृत्य प्रवृत्तस्य निःश्रेयसकामस्य सात्विकाधिकारिणो भवन्ति ॥१॥२॥३॥

एवमुपादेयं दैवीं सम्पदमुक्त्वा हेयतयाभिमतामासुरीं सम्पदमाह–दम्भ इति। दम्भः प्रतिष्ठार्थं यज्ञजपपूजाद्यनुष्ठानं दर्पो विद्याधनयौवनमदादौद्धत्यमभिमानः कुला-

तदुपादन में व्यक्ति प्रवृत्त होता है जैसे भोग साधन माला चन्दनादिक में परन्तु तादृश रमणीय वस्तु में भी स्पृहाराहित्य होने का नाम है त्याग। शान्ति–बाह्य इन्द्रिय का स्वविषय से निरोध। अपैशून्य अन्य में तदीयदोष का उद्घाटन नहीं करना। तथा भूत प्राणी वर्ग में दया पर दुःखासहिष्णुता। अलोलुपता विषयाभिलाषाराहित्य। मार्दव मृदुता वाणी तथा मन में अकाठिन्य। ह्री अनुचित आचरण करने में लज्जा। अचापल—प्रयोजन के बिना इन्द्रिय प्रवृत्तिराहित्य। तेज अयोग्य से अभिभव का अभाव क्षमा परापकार सहिष्णुता अर्थात् किसी ने अपराध किया तथापि उसे सहन कर लेने की क्षमता होने का नाम है क्षमा। धृति–धैर्य विपत्ति आने पर भी मनवाणी में व्याकुलता का अभाव। शौच–इन्द्रियकरण तथा कलेवर शरीर की स्वच्छता। अद्रोह–द्रोह तदभाव अद्रोह। नातिमानिता अभिमानराहित्य। ये उपर्युक्त अभय से लेकर अभिमानराहित्य पर्यन्त जो गुण हैं वे दैवी संपत्ति हैं। परमपुरुष की जो आज्ञा उस आज्ञा के अनुवर्तनशील जो व्यक्ति है उसका नाम है देव तादृश देवसम्बन्धी जो संपत् उसे दैवी संपत् कहते हैं एतादृश दैवीसंपत्ति अभिजात अर्थात् दैवीसंपत्ति को अभिमुख करके प्रवृत्त जो मोक्षाभिलाषी सात्विक अधिकारी हैं उन्हीं को यह दैवी सम्पत्ति होती है पर राजस तामस मोक्षेतर ऐहिक आमुष्मिक फल कामनावान् को कभी भी यह सात्विक दैवी संपत्ति नहीं प्राप्त होती है। भारत इस संबोधन से भगवान् ने यह अभिव्यक्त किया कि उत्तम कुलोत्पन्न तुम में इन गुणों की संभावना है ॥१॥२॥३॥

पूर्वोक्त प्रकार से उपादेय होने के कारण प्रथमतः दैवीसपत्ति अभयादिक अभिमान पर्यन्त गुण का निर्वचन करके तदनन्तर हेयतया अभिमत आसुरी संपत्ति के स्वरूप को बतलाते हैं क्योंकि स्वरूप का परिचय होने के बाद ही अभिलषित पदार्थ का उपादान

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
माशुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ? ।५॥

भिजननिमित्तकस्वस्मिन्नुत्कर्षानुसन्धानं क्रोधः परक्लेशफलिका चित्तविकृतिः पारुष्यं निष्ठुरभाषणमज्ञानं तत्त्वातत्त्वविवेकवैधुर्यं चकारान्मात्सर्यादयोऽपि ग्राह्याः । हे पार्थ ! इमे दोषा आसुरीमसुरसम्बन्धिनीं सम्पदमभिजातस्य पापाभिरुचेः स्वभावतो भवन्ति४।

उभयोः सम्पदोः शुभाशुभफले दर्शयति—दैवीति । दैवी भगवदाज्ञानुवर्तनरूपा सम्पद्विमोक्षाय गुणसङ्गनिमित्तकबन्धमुक्तये भवति । आसुरी भगवदाज्ञाविरोधिनी सम्पत् निबन्धाय संसाररूपसुदृढबन्धाय मता । एवमुपदिष्टे स्वस्मिन् सन्दिहानमर्जुन-

कर सकता है अथवा परित्याग कर सकेगा । नैयायिकों के सिद्धान्त में अभाव ज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान को कारण माना है तो जब आसुर संपत्ति का स्वरूप ज्ञान होगा तभी उसका परित्याग होगा अन्यथा नहीं इसलिए आसुरी संपत्ति का संक्षेप से कथन करते हैं—"दंभ" इत्यादि । दंभ स्वकीय लौकिक प्रतिष्ठा की जो प्राप्ति है उसके लिये दानयाग जप पूजादि प्रभृतिक धार्मिक कार्य करने का नाम है दंभ जो प्रायः अभी की दुनिया में बहुलतया उपलभ्यमान हो रहे हैं । दर्प विद्या धन यौवनादि मद से जो एक प्रकारक औद्धत्य विशेष है जैसे धन प्राप्तिमूलक औद्धत्य प्रायः सभी अविनयी व्यक्ति में उपलब्ध होता है । अभिमान कुल देश प्रदेश निमित्तक अहंकार विशेष से स्व में इतरापेक्षया मैं उत्तम हूं इत्याकारक अनुसंधानरूप है क्रोध परदुःख प्रयोजक चित्त का विकार रूप है । पारुष्य—निष्ठुर स्नेह रहित भाषण है । अज्ञान तत्व अनत्व का विवेकाभाव है । च शब्द से मात्सर्य प्रभृति दोष का भी संग्रह होता है । हे पार्थ ! उपर्युक्त ये सभी दोष आसुरी असुर सम्बन्धी संपत्ति को प्राप्त किए हुए अर्थात् पापाचरण में रुचि प्राप्त पुरुष को स्वभावत एव होते हैं । पार्थ इस संबोधन से भगवान् का यह अभिप्राय अभिव्यक्त होता है जो दैवी संपत्ति को प्राप्त की हुई जो पृथा है उसका आप पुत्र हैं तो आप में इन दोषों की संभावना नहीं है ॥४॥

पूर्व कथित प्रकार से दैव तथा आसुर संपत्ति का कथन करके अब दोनों, संपत्तियों के शुभाशुभ फल को बतलाने के लिए कहते हैं—"दैवीसंपदित्यादि" भगवान् परमपुरुष की जो आज्ञा तादृश आज्ञा का अनुवर्तनशील लक्षण जो दैवी संपत्ति है वह विमोक्ष के लिये होती है अर्थात् सत्वादि गुणत्रय का जो संग है तन्मूलक जो प्राकृतिक बन्ध जो कि संसारात्मक है उस बन्ध से निवृत्ति के लिए होती है और जो भगवदाज्ञाविरोधिनी लक्षण आसुरी संपत्ति है वह बन्धन के लिए होती है अर्थात् आसुरी संपत्तिसे संसाररूप जो बन्ध है उसमें सुदृढता

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ६॥

माह—मा शुच इति । हे पाण्डव ! दैव प्रकृतिकपाण्डोस्तनयत्वेन सत्कुलप्रसूतत्वादनु दिनमदनुवर्तनाच्च त्वं दैवीं सम्पदमभिलक्ष्य जातोऽस्यतो हिंसारुचिराजन्यकुले जातत्वादहमासुरसम्प-मभिजातमित्येवं माशुचः शोकं माकार्षीरित्यर्थः ॥५॥

अथोद्दिष्टाया आसुरसम्पदः सर्वथा हेयत्वमिति ज्ञापयितुमुपक्रमते—द्वाविति । हे पार्थ ! अस्मिन् कर्मलोके भूतसर्गौ द्वावेव दैव आसुरश्च । मनुष्यसर्गस्यानयोरेवान्तर्भावादिति भावः । तत्र दैवसर्गः सात्त्विकः कर्मज्ञानभक्तियोगाचारपरायणो मोक्षाधिकारी श्रुतिस्मृतिप्रसिद्ध एव, 'द्वयाहप्राजपत्या देवाश्चसुराश्च, (बृ०) एतयोर्दैवसर्गस्य

का संपादन होता है जैसे अग्नि में घृत प्रक्षेप करने से अग्नि की ज्वाला उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है इसी तरह आसुरी संपत्रूप घृत प्रक्षेप से संसार ज्वाला प्रतिदिन ऊर्ध्वमुखी होती रहती है न संसार नष्ट होता है नवा प्रविरल होता है । इस प्रकार उभय संपत्ति का स्वरूप तथा दोनो के फल को सुनकर के अर्जुन के मन में सन्देह होने लगा कि मुझमें कौनसी संपत्ति है क्या यह संसार बन्धन मेरा छूटेगा अथवा उत्तरोत्तर बढता ही जायेगा । इस विषय को स्पष्ट करते हुए अर्जुन को आकार प्रकार से भगवान् कहते हैं—"माशुच" इत्यादि हे पाण्डव ! आप तो दैव प्राकृतिक जो राजा पाण्डु का वंश है उस विशुद्ध कुलावतंस पाण्डुराजा के पुत्र हैं तथा अनुक्षण मुझ सर्वेश्वर परम- पुरुष के अनुवर्तन शील हैं तो अवश्य आप दैवी संपत्ति को अभिलक्षित करके पैदा हुए हैं इसलिये हिंसा में अभिरुचि रखने वाले राजन्यकुल में मैं पैदा हुआ हूं इसलिये मुझ में आसुरी प्रकृति होगी इस प्रकार शोक मत करो । यद्यपि राजन्य कुल धर्मरक्षणार्थ अवश्यमेव ही हिंसा रुचिक है तथापि आप तो स्वभावत: दैव प्रकृति पाण्डव के तनय हैं तथा मदाज्ञा में सर्वदा ओतप्रोत हैं इसलिये आपमें दैवी संपत्ति है नतु आसुरी संपत्ति है इसलिए किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करें, यह मेरी आज्ञा है ॥५॥

नाम संकीर्तनमात्र से कथित जो आसुरी संपत्ति है वह सर्वथा छोडने के योग्य है इस बात को ज्ञापित करने के लिये भगवान् कहते हैं—"द्वौभूतसर्गावित्यादि" हे पार्थ अर्जुन ! इस कर्मलोक में दो प्रकार के भूतसर्ग हैं । एक तो देवसर्ग तथा दूसरा है आसुरसर्ग । जो यह मनुसर्ग है उसका इन्हीं दोनों सर्गों में अन्तर्भाव होता है । उसमें दैव सर्ग सात्विक है । कर्मज्ञान तथा भक्तियोगमें परायण मोक्ष के अधिकारी हैं जो कि श्रुति तथा स्मृति में प्रसिद्ध हैं । "द्वयाह" प्रजापति के सम्बन्धी दो प्रकार के हैं एक देव तथा दूसरा आसुर

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ७॥

मोक्षार्थपरत्वन्तु मोक्षधर्मादिषूक्तमेव । 'जायमानन्तु पुरुषं यम्पश्येन्मधुसूदनः । सात्विकः स तु विज्ञेयः सर्वं मोक्षार्थचिन्तकः' (मो०) स चायं विस्तरशः प्रागेव प्रोक्त इदानीमासुरं सर्गमसुराणां स्वभावानुगुणा यथाप्रवृत्तितदनुगुणो य आचारस्तद्वन्मनुष्याणां सम्पद्यतेऽत्र आसुर इत्युच्यते । तादृशं मनुष्यसर्गं मत्सकाशाच्छृणु । सावधानमाकर्णयेत्यर्थ ६॥

आसुरा आसुरभावमापन्ना जना प्रवृत्तिं स्वर्गाद्यभीष्टसाधनं निवृत्तिमपवर्गसाधनं धर्मं च न विदुः शौचं वैदिककर्माधिकारितासाधकं बाह्यान्तरशौचं च तेषु न विद्यते ।

इन दो प्रकार के जो सर्ग हैं उनके मध्य में से दैव सर्ग को मोक्षार्थ परत्व महाभारत के मोक्ष प्रकरण में कहा है "जायमानं हि पुरुषं यं पश्ये न्मधुसूदनः" समुत्पद्यमान जिस पुरुष को भगवान् देखते हैं उस पुरुष को सात्विक समझना वह पुरुष मोक्ष रूप पुरुषार्थ का चिन्तक होता है। इस प्रकार का यह देवसर्ग विस्तारपूर्वक पहले कहा जा चुका है। अभी आसुर सर्ग को बतलाते हैं । असुरों के जैसे स्वभाव के अनुगुण तथा उनकी रुचि के अनुकूल प्रवृत्ति तथा तदनुगुण जो आचार तद्वत् स्वभाव-आचार जिस मनुष्य का होता है इसलिये वह मनुष्य भी आसुर शब्द से प्रथित होता है । एतादृश मनुष्य सर्ग को मुझ परमेश्वर से सुनो, सावधान हो करके सुनो । दोनों प्रकार के सर्गों में से अभी आसुरसर्ग को विस्तारपूर्वक कहता हूं उसे तुम सावधान मन से सुनो ॥६॥

इसके पहले प्रतिज्ञाविषयीभूत जो आसुर सर्ग है उसी आसुरसर्ग को उपपादनपूर्वक बतलाते हैं "प्रवृत्तिञ्चेत्यादि ।" आसुर—असुरभाव को जिसने प्राप्त किया है ऐसा जन मनुष्य वह प्रवृत्ति को नहीं जानता है अर्थात् प्रवृत्ति ऐहिक पारलौकिक जो स्वर्गादि अभिलषित वस्तु उसका साधक जो अग्निहोत्र ज्योतिष्टोम कारीरी पुत्रेष्टि प्रभृति यात्रादिक प्रवृत्ति लक्षण धर्म हैं उनको तथा निवृत्ति संसार निवृत्तिपूर्वक नित्य निरतिशय सुखावाप्ति लक्षण अपवर्ग का साधक श्रुति स्मृति प्रतिपादित निवृत्तिलक्षण जो धर्म है उसको भी आसुर मनुष्य नहीं जानते है तथा ये असुर मनुष्य वैदिक कर्म में अधिकारिता का प्रयोजक बाह्य आभ्यन्तर शौच भी इन लोगों में नहीं है । एवमधिकारिता का प्रयोजन आचार सदाचार भी उनमें नहीं है। यह आचार बाह्य आभ्यन्तर करण कलेवर को पवित्र करके धर्म विधि में पुरुष की अधिकारिता का संपादक होता है ।

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ।।८।।

आचारः सदाचारोऽपि न विद्यते। सत्यं प्राणिहितावहं वाक्यञ्चतेषु न विद्यते । अर्था द्विधिनिषेधबोध्यार्थज्ञानशून्या शौचाचारविवर्जिताः सदाऽनृतवचना असुरा यथा भवन्ति तथा मनुष्या अप्यसुरा भवन्तीति भावः ।।७।।

आसुराः सत्यं न वदन्ति चेत् तर्हिकिं वदन्तीत्याशङ्कायामाह—असत्यमिति । आसुरप्रकृतयो जना जगदसत्यमत्र सत्यशब्दार्थो ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' त्यादिश्रुतेः ।

स्मृति में सदाचार को आवश्यक कोटि में रखकर के अवश्य कर्तव्यताका प्रतिपादन किया गया है—

"सदाचारेण देवत्वमृषित्वञ्च तथैव च । प्राप्नुवन्ति कुयोनित्वं मनुष्यास्तद्विपर्यये ।।"

मनुष्य सदाचार के प्रतिपालन करने से देवत्व तथा ऋषित्व को प्राप्त करता है। यदि सदाचार का पालन न किया तो श्व. सुकरादि कुयोनि को प्राप्त करता है । मनु ने भी कहा है—"वेद स्मृति सदाचार तथा आत्मतुष्टि ये साक्षात् धर्म के साधन हैं । तथा

"गायत्रीमात्रसारोपि वरं विप्रः सुयंत्रितः । नायंत्रितस्त्रिवेदोपि सर्वाशीसर्वविक्रयी ।।"

केवल गायत्रीमात्र को जाननेवाला ब्राह्मण यदि सदाचार निष्ठ है तो वही अच्छा है किन्तु यदि सदाचार रहित है तो सर्ववेद का अध्ययन करनेवाला भी है तो भी वह अच्छा नहीं है । इत्यादि अनेक ग्रन्थों से सदाचार को अति आवश्यक बतलाया है । परन्तु तादृश सदाचार निष्ठता का अभाव आसुर मनुष्यों में रहने से वे लोग वैदिक कर्म में अधिकृत नहीं होते हैं । एतत् विषयक विशेष विचार अन्यत्र देखें ।

एवं सत्यवाक्य जो कि प्राणियों के हितजनक हैं तादृश वाक्य भी इन आसुर व्यक्तियों में नहीं होता है । अर्थात् जैसे असुरों को विधिनिषेध बोधित वाक्यार्थ ज्ञानरहित तथा शौच सदाचार विकलता सर्वदा अनृतभाषण कर्तृत्व होता है उसी प्रकार से आसुरभाव को प्राप्त किये हुए मनुष्याभास भी इन सब विशेषणों से उपपन्न होने से मनुष्य होते हुए भी असुर ही होते हैं क्योंकि मनुष्यताप्रयोजक धर्म के अभाव तथा असुरता प्रयोजक धर्म के सद्भाव होने से ।।७।।

असुर स्वभावक जो व्यक्ति हैं वे सत्य नही बोलते हैं, तो क्या बोलते हैं ? अर्थात आसुरी व्यक्तियों में सत्यवादिता नहीं है एतावन्मात्र नहीं अपितु वे लोग असत्यवादी होते हैं इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "असत्यमित्यादि" आसुर जो व्यक्ति हैं वे जगत्

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।९॥

तथा च सत्यं कारणत्वेन यस्य नास्ति तदसत्यम् । अब्रह्मकारणकमितिभावः । अप्रतिष्ठितं नास्ति प्रतिष्ठा यस्य तदप्रतिष्ठितम् । ब्रह्मात्मकधारणकर्तृरहितमिदं जगदित्यर्थः । अनीश्वरं न वर्तत ईश्वरो यस्य तदनीश्वरम् । ईश्वरात्मकनियन्तृशून्यमेतज्जगदित्यर्थः । च आहुः कथयन्ति । जगत् सर्वेश्वरकारणकं सर्वेश्वरनिष्ठं सर्वेश्वरनियाम्यञ्चास्तीत्येवमासुरप्रकृतयो जना न वदन्तीत्यर्थः । अपरस्परसम्भूतं परस्परेण सम्भूतं परस्परसम्भूतं तथा न भवतीत्यपरस्परसम्भूतं योषित्पुरुषसंयोगाज्जन्यम् । किमन्यदिति । सर्वं जगत् स्त्रीपुरुषसंयोगजन्यमेवास्ति तदतिरिक्तमीश्वरहेतुकं किञ्चिदपि नास्तीत्यर्थः । स्वेदजादयोऽपीश्वररचिता न सन्तीति भावः । अतोऽखिलमिदं जगत् कामो हेतुर्यस्य तत् कामहेतुकमेव ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य प्रागुक्तनास्तिकमतमाश्रित्य नष्टात्मानो दुष्टान्तःकरणा अत एवाल्पबुद्धयोऽल्पा दैहिकसुखमात्रमतय उग्रकर्माण उग्रं परपीडाप्रदं कर्म येषान्ते-

को असत्य कहते हैं । यहाँ असत्य घटक जो सत्य शब्द है उसका अर्थ है ब्रह्म । श्रुति कहती है ब्रह्म सत्य ज्ञान स्वरूप है तथा अनन्त देशकालादि से अनवच्छिन्न है तब यह फलितार्थ निकलता है जगत् असत्य है इसका कि नहीं है सत्य ब्रह्म उत्पादक उपादान कारण जिसका ऐसा यह असत्य जगत् है अर्थात् ब्रह्म कारणक जगत् नहीं है । तथा यह जगत् अप्रतिष्ठित है । ब्रह्म प्रतिष्ठा धारक नहीं है जिसका ऐसा यह अप्रतिष्ठित है अर्थात् ब्रह्म लक्षण धारणकर्ता से रहित यह जगत् है । तथा यह जगत् अनीश्वर है नहीं है ईश्वर जिसका अर्थात् ईश्वरात्मक नियन्ता से शून्य जगत् है, इस प्रकार आसुर लोग कहते हैं । जगत् परमेश्वर कारणक नहीं है परमेश्वर में रहनेवाला नहीं है और सर्वेश्वर सर्वनियन्ता से नियन्त्रित नहीं है ऐसा वे आसुरलोग कहते हैं । अपरस्पर संभूत जगत् है परस्पर से जायमान जो हो उसे परस्पर संभूत कहते हैं और जो ऐसा न हो उसे अपरस्पर संभूत कहते हैं अर्थात् योषित पुरुष के संयोगमात्र से जन्य है । इससे अन्य क्या है । सभी यह जगत् स्त्री पुरुष संयोगजन्य ही है तदतिरिक्त ईश्वर हेतुक कुछ भी नहीं है । इसलिये संपूर्ण यह जगत् काम हेतुक है काममात्र है कारण जिसका तादृश यह जगद् प्रपञ्च है ॥८॥

एताम् अनन्तर पूर्वश्लोक कथित दृष्टिविज्ञान को ले करके अर्थात् पूर्वश्लोक प्रतिपादित चार्वाकमत को आश्रय करके नष्टात्मा दुष्ट अन्तःकरणवाले अतएव स्वल्पमति अर्थात् देहमात्र के सुख प्रयोजक बुद्धिवाले उग्र कर्मा उग्रपरकीय पीडा के उत्पाद न करने वाले कर्म को करने

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः १०॥
चिन्तामपरिमेयांच प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

ऽहिताः सर्वेषां शत्रवो जगतः क्षयाय प्रभवन्ति । न तेभ्यो जगदुपकारः कश्चिदस्तीति भावः ॥९॥

दुष्पूरं दुःखेनापि पूरयितुमशक्यं काममाश्रित्य दम्भमानमदान्विताः दम्भमानाभ्यां मदेन धनयौवनतज्जनितौद्धत्येन चान्विता असद्ग्राहानुचिताग्रहान् स्वकीयमौख्याद् गृहीत्वाऽत एवाशुचिव्रता अशुचिर्मद्यमांसाद्यशनं व्रतं येषां तेऽशुचिव्रतावामाचारे क्षुद्रदेवताराधनादिकर्मसु चाशुचिभक्षणादिरूपस्य व्रतस्यावश्यकत्वेन ग्रहणं भवति । तथा प्रवर्त्तन्ते प्रवृत्तिं विदधते ॥१०॥

वाले अहित परिणाम में प्राणीमात्र के शत्रुभूत ये देहात्मवादी लोग जगत् संसार के क्षय के लिये ही उत्पन्न होते है । अर्थात् इन लोगों से संसार में किसीको कुछ उपकार नहीं होता है अपितु साक्षात् परंपरा से सभी के अनुपकार करने के लिये ही होते हैं ॥९॥

दुष्पूर--महानायास करने पर पूर्ण होने में अशक्य जो तादृश काम को आश्रय करके । कामकी दुष्पूरता के बारे में मनु ने कहा है--

"न जातु कामः कामनामुपभोगेनशाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्द्धते ॥"

कामियों का काम उपभोग से शांत नहीं होता है। जैसे अग्नि में घृत डालने से अग्नि की ज्वाला बढती ही है। गीताचार्य ने भी कहा है--दुष्पूरेणानलेन च" स्वभावतः काम का शमन कभी भी नहीं होता है। दंभ मान मद से युक्त परव्यक्ति को प्रतारण करने के लिये जो धर्माचरण का ढोंग कियाजाय उसे कहते हैं दंभ और श्रेष्ठ के समीप में भी अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करने का नाम है मान और विद्यादि से जायमान औद्धत्य को कहते हैं मद। जैसे किसी जन्म दरिद्र को भाग्यवश धन प्राप्ति होने पर औद्धत्य आजाता है जैसे भक्तराज ने कहा है--"प्रभुता काई जाइ मद नाहीं" एवं ब्राह्मणेतर थोडा भी पढ ले तो वह आसमानसे बात करने लगता है। एतादृश दंभमान मद से युक्त तथा असद्ग्राह अशुचिता संपादक कर्म विशेष को अपनी मूर्खता के कारण ग्रहण करके अतएव अशुचिव्रत--मद्यमांसादि भक्षण में प्रवृत्त हुए वामाचार में क्षुद्र देवता के आराधन कर्म में अशुचि भक्षणादिरूप व्रत के आवश्यक रूप में ग्रहण होना है एतादृश वे लोग पूर्वोक्त प्रवृत्ति को करते हैं ॥१०॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

क्षणभङ्गुरशरीरधारिणोऽपि, मरणासन्ना अप्यपरिमेया परिमातुमशक्यां प्रलयोमरणमेवान्तो यस्यास्तां चिन्तामुपाश्रिताः शश्वच्चिन्तातुरचेतसस्तथा कामोपभोगपरमाः कामोपभोग एव परमः पुरुषार्थो येषां ते कामा इन्द्रियप्रीतिजनका विषयास्तेषामुपभोग एव देहधारणफलमिति मन्वाना नातोऽधिकः कश्चिदपि पुरुषार्थ इति निश्चिताः कृतदृढनिश्चया इत्यर्थ ॥११॥

आशापाशशतैराशा भाविफलकामनारूपपाशास्तैः शतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः पूर्वमैन्द्रियकपदार्थेषु कामः सञ्जायते तदवाप्तौ पुनस्तृष्णा द्विगुणा वर्धते तदनवाप्तौ तु क्रोधोजायते । एनेनाज्ञानिनां कामनाप्रहाणे क्रोधस्य नैयत्यात् कामक्रोधपरायणत्वं वर्तत एव । अन्यायेन न्यायापेतेन मार्गेण कृतानर्थसञ्चयान् कामभोगार्थं स्वकीयेन्द्रियतृप्त्यर्थमेवेहन्ते सातत्येन प्रयतन्ते ॥१२॥

आसुर मनुष्यों का क्या धर्म है उसका निर्वचन गतपूर्व प्रकरण में किया गया । अब प्रकारान्तर से पुनः आसुर मनुष्य धर्म को बतलाते हुए कहते हैं "चिन्ता मित्यादि" वे आसुर प्रकृतिवाले मनुष्य क्षणभंगुर शरीर को धारण करनेवाले हो करके भी मरण शय्या को प्राप्त किए हुए भी अपरिमेय परिमाण करने के अयोग्य अर्थात् दीर्घतर दीर्घतम चिन्ता को एवं प्रलयमरण वही मरण है जिसका ऐसी चिन्ता को प्राप्त किये हुए अर्थात् हर हमेश चिन्ता से आकुलित चित्तवाले तथा कामोपभोग परम—कामभोग मात्र परम सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है जिसका एतादृश काम शब्द का अर्थ होता है इन्द्रिय प्रीति को देनेवाला विषय शब्दादिक उसका जो उपभोग वही देह धारण करने का फल है ऐसा माननेवाले इससे अधिक धर्म मोक्ष पुरुषार्थ नहीं है इस प्रकार के निश्चयवाले अर्थात् कर लिया है दृढ निश्चय जिन्होंने एतादृश शब्दादि विषयभोग को ही परमभोग समझते हैं एतद् व्यतिरिक्त धर्म मोक्ष कुछ नहीं है नवा प्रत्यक्ष विषयेतर कोई दुनिया ऐसा माननेवाले होते हैं ॥११॥

और असुरभाववाले पुरुष क्या करते हैं उसे बतलाते हैं— "आशापाशेत्यादि" आशा रूप सैकडों पाश से आबद्ध रहते हैं अर्थात् आशा नाम है भावि जो फल तद्विषयक तृष्णा इस प्रकार की सैंकडों भाविफलक तृष्णा से सर्वदा आबद्ध रहते हैं एवं काम क्रोध में परायण अर्थात् पहले तो इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थों में काम उत्पन्न होता हैं उनकी प्राप्ति होने के बाद पुनः द्विगुण त्रिगुण तृष्णा बढती है कदाचित् किसी कारण से काम के भंग होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। इससे कामी पुरुषों को जो कि अज्ञानी हैं उनकी कामना के विनाश होने पर क्रोध

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् १३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी १४।

इदानीं तन्मनोरथान् कथयति—इदमिति । इदं गृहक्षेत्रादिकं सर्वं मया बलबुद्धि-सामर्थ्येनैव लब्धं न पुनरदृष्टादिना । इमञ्च मनोरथं मनोभिलषितपदार्थमहमेव प्राप्स्ये नादृष्टादिसहकृतः । इदं धनं मे मदायत्तमस्ति, इदमपि पुनर्मे ममैव धनं भविष्यति मद्बलेनैव लब्धं भविष्यति न कश्चिदन्यो हेतुर्भविष्यतीति भावः । असौ मदीयः शत्रुरासीन्मयैव स्वसामर्थ्येन स हतोऽपरानपि शत्रुनहमेव वीराग्रणीर्हनिष्ये । नादृष्टा-दिकं मां विना हेतुर्दृश्यत इत्याशयः । ईश्वरः स्वतन्त्रोऽहं नान्यः कश्चिन्मन्नियामकः

के नियत होने से काम क्रोध परायणता रहती ही है और अन्याय से न्याय रहित मार्ग से किया हुआ जो अर्थ धन सञ्चय है उस को काम भोग के लिये स्वकीय इन्द्रिय की तृप्तिमात्र के लिए ही चाहते हैं सतत उसी के लिए प्रयत्न करते हैं, न तु धर्म कार्य के लिये चाहते हैं ॥१२॥

इसके बाद अब असुर भाव प्राप्त जो मनुष्य हैं तत्सम्बन्धी मनोरथ प्रकार को उनका जो तादृश प्रकार वाची शब्द है तादृश शब्द द्वारा ही कथन करते हैं 'इदमद्येत्यादि' यह जो घर खेत भवन प्रभृतिक वस्तु हैं उन सभी पदार्थों को मैं ने अपनी बल बुद्धि के प्रभाव से प्राप्त किया है मेरे सामर्थ्य से अतिरिक्त कोई अदृष्ट ईश्वरादिक कारण बल से मुझे प्राप्त नहीं हुआ है अर्थात् आसुर भावापन्न व्यक्ति लोग यही समझते हैंकि जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है वह सभी पदार्थ मेरे प्रभाव से ही हुआ है इसमें इतर किसीकी सहायता नहीं है जैसे कि आधुनिक व्यक्ति भी प्रायः ऐसा ही समझते हैं । और यह जो मनोरथ अर्थात् मनोभिलषित पदार्थ है उसे मैं ही प्राप्त करूंगा इस प्राप्ति में लौकिक मदीय प्रयास ही कारण है अदृष्टादिक कोई भी पदार्थ मेरा सहाय नहीं है ईश्वर अदृष्टादि को सहकारी तो कायर व्यक्ति लोग कहते हैं जिन्हे अपनी बल बुद्धि पर भरोसा नहीं है । यह जो गो सुवर्ण धान्यादिक धन है वह मेरे अधीन है तथा यह पुनः भविष्य काल में भी मेरे अधीन में ही रहेगा मेरे बल से ही लब्ध होगा । इसमे कोई भी दूसरा कारण नहीं होगा । यह अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु था मैं ने ही इसे अपने सामर्थ्य से मार दिया । दूसरे एतादृश शत्रु को भी शूरों मे अग्रणी शूरप्रधान मैं ही मारूंगा । मुझे छोडकर अतिरिक्त अदृष्टादिक कोई भी कारण मैं नहीं

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।१५।

प्रत्युताहमेवान्येषां नियामकोऽस्मि । भोगी सिद्धश्चाहं प्राक्तनादृष्टादिकमन्तरेण स्वतो भोगी स्वतःसिद्धोऽहं तथा बलवानहमस्म्यत एव सुखी चाहम् । अहमाढ्योऽभिजनवान् सत्कुलवांश्चास्मि । मया सदृशो धनाढ्यतायां मत्कुलकुटुम्बादिषु चान्यः कोऽस्ति ? न कोऽपीत्यर्थः । अहं स्वयमेव यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये यजनदानमोदनादिप्रवृत्तिष्वप्यहमेव सर्वानतिशये न मत्तोऽधिकः कस्मिन्नपि विषये कोऽपि भवितुमर्हति । मन्नियामका ईश्वरादृष्टादयो नैव सन्तीत्यज्ञानविमोहिता जल्पन्तीत्यर्थः ॥१३।१४।१५॥

देखता हूं । मैं ईश्वर सर्व स्वतन्त्र हूं, कोईभी ऐसा दूसरा है जो कि मेरा नियामक हो प्रत्युत मैं खुद ही स्वकीय पुत्र कलत्र भृत्यों का नियामक हूं । मैं ही भोग करने वाला हूं तथा सिद्ध हूं अर्थात् पूर्वभवोपार्जित अदृष्टादि के विना ही भोगवाला हूं तथा स्वतः सिद्ध हूं बलवान् भी हूं अत एव सुख से समय को विताता हूं । मैं धनाढ्य हूं सत्कुलवान् भी मैं हूं । मुझ सदृश धनादि अंश में सत्कुटुंबादि अंश में अन्य कौन है अर्थात् धन कुटुंबादि विषय में मुझ सदृश दुसरा कोई नहीं हैं । मैं इतर सहायकानपेक्ष होकर स्वयमेव यज्ञ यागादिक क्रियाकलाप करूंगा। मैं स्वयमेव दान दूँगा स्वयमेव आनन्द करूंगा अर्थात् यजन दान आनन्दजनक प्रवृत्तियों में मैं ही सभी को अतिक्रमण करनेवाला हूं मुझ से अधिक किसी भी विषय में कोई भी नहीं हो सकेगा । मेरे ऊपर नियन्त्रण करनेवाला ईश्वर अथवा अदृष्टादिक कोई भी वस्तु दुनिया में नहीं है । इसप्रकार अज्ञान से विमोहित हो करके आसुर भावापन्न मनुष्यलोग बोलते हैं ।

ये चार्वाक सिद्धान्तवाले व्यक्ति भूत संघातरूप देह को ही आत्मा मानते हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण से अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण को प्रमाण नहीं मानते हैं प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त दुनिया ही दुनिया है इससे अधिक परलोकादिक लोक नहीं है । 'तावानेव हि लोकोयं यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ? भृगपदं पश्य प्रवदन्ति विपश्चितः' जितना प्रत्यक्ष देखा जाता है उतनी दुनिया है । हे भद्रे ? इस मृगपद को देखो । इसे बडे बडे पंडित भी मृग पद कहते हैं वस्तुतः यह मृगपद नहीं है किन्तु बनावटी चीज है ।' परलोक को मानने वाले तथा परलोक का प्रतिपादक शास्त्र धूर्तों का प्रलाप मात्र ही है उसमें कोई तथ्यता नहीं है । लौकिक सुख दुःख संस्पृष्ट है इसलिये इसे छोड देना यह मूर्ख व्यक्ति का ही विचार हैं ।

'त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्य पुंसाम दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
व्रीहिन जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् को नाम भोस्तुषकणोपहितार्थी लोके ॥'

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ १६॥

एवं भ्रान्तानां किम्फलं भवतीत्युच्यते—अनेकेत्यादिना । **अनेकैश्चित्तैश्चित्तवृत्तिभिर्विभ्रान्ता अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता मोह एव जालं तेन समावृता अज्ञानजालवेष्टिताः कामानां भोगाः कामभोगास्तेषु कामोपभोगेषु प्रसक्ता प्रकर्षेणासक्तिमन्तः पुरुषा अशुचावपवित्रे नरके पतन्ति ॥१६॥**

विषय संपर्क से जायमान सुख दुःख संसृष्ट यह संसार है इसलिये इसे छोड़ देना ऐसा जो विचार है वह मूर्खों का विचार है । क्या कोई भी बुद्धिशाली व्यक्ति सफेद तण्डुल से युक्त व्रीहि को तुष संसृष्ट होने से छोडता है ! कभी नहीं छोडता है । इस लिये "यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पीबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।" इत्यादि सिद्धान्त को मान करके यथा तथा अन्याय से धन सग्रह करके जीवनयात्रा को चलाते हैं जैसे अधिकांश आज की दुनिया कर रही है । इसी सिद्धान्त के तरफ भगवान् ने इशारा इन तीन श्लोकों से किया गया है । इस विषय पर तथ्यातथ्य पूर्ण अधिक विवेचन मत्कृत चार्वाक मत समीक्षा पुस्तक में देखें ॥१३॥१४॥१५॥

इस प्रकार जो आसुरभाव से युक्त तथा कामक्रोध परायण शठ विभ्रमयुक्त व्यक्ति हैं उनको स्वकीय दुष्कृत कर्म का कीदृश कैसा फल मिलना है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं—"अनेकचित्तेति" अनेक प्रकारक नानाप्रकारक जो अन्तःकरण की वृत्तियां उन वृत्तियों के द्वारा विभ्रान्त अर्थात् ईश्वर अदृष्टादि पदार्थ को न मान करके स्वकीय बुद्धि वैभव से वस्तु की तथ्यातथ्य विचारणा करने में असमर्थ होते हुए मोह जाल से समावृत मोहरूप जो जाल उस मोह जाल से आवृत अज्ञानात्मक जाल से आवेष्टित हो करके अर्थात् तत्काल में रमणीयतया अभिमत जगत् सम्बन्धी मोहात्मक जाल से परिवेष्टित तथा कामभोग में प्रसक्त सर्वदा अशुचि पदार्थ विषयक वासना से संमत वे दुरात्मा लोग स्वकृत जो दुराचार उस दुराचार का फलभूत जो रौरवादि अपवित्र नरक हैं उन में गिरते हैं अर्थात् स्वकृत कर्म का तीव्र दुःखात्मक फल का चिरकाल तक उपभोग करते हैं । किसी महानुभाव ने कहा है—
"धर्मस्य फलमिच्छन्ति धर्मं नेच्छन्ति जन्तवः । फलं नेच्छन्त्यधर्मस्य पापं कुर्वन्ति सादराः ॥"
धर्म का जो सुखात्मक फल है उसकी इच्छा तो सभी रखते हैं परन्तु धर्म का आचरण नहीं करते हैं और अधर्म का फल दुःख है उसकी इच्छा तो कोई भी नहीं रखते हैं किन्तु सचेष्ट हो करके पाप का अनुष्ठान सदा करते हैं तो इन दुराचारियों ने जो दुष्कर्म का ज्ञात्वा

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

आत्मसम्भाविताः स्वयमेव स्वस्य प्रतिष्ठाख्यापनकुशलाः स्तब्धा सर्वार्थदक्षा वैयमिति ख्यापनाय त्यक्तनम्रभावाः । अत्र कारणमाह—धनमानमदान्विता धनविद्याभिजननिमित्तकमदेन समन्विता यजन्ते नामयज्ञैर्नामख्यापनाय धनश्रद्धोपकरणक्लिष्टैः प्रवृत्तिबहुलैर्यजन्ते तैरपि दम्भेनाविधिपूर्वकं स्वस्वधार्मिकत्वख्यापनायैव वेदोदितविधिम्परित्यज्य स्वोहितद्रव्यदेवतेतिकर्तव्यतोपकरणादिकं पुरस्कृत्यैव ॥१७॥

अविधिपूर्वकत्वञ्च यज्ञादेः कर्तुर्दोषाश्रयत्वेन सम्पद्यत एतदेवोपपादयति—अहं-

अज्ञात्वा आचरण किया उसका जो फलोपभोग है उसके लिए कुंभीपाक शाल्मली असिपत्रादिक महानरक उस में चिरकाल पर्यन्त निवास करके दुःखात्मक फल का प्रेमपूर्वक उपभोग करते हैं ॥१६॥

वे आसुरभावाविष्ट पुरुष आत्मसंभावित हैं अर्थात् स्वयमेव अपनी प्रतिष्ठा के कथन में कुशल हैं 'मैने हरिद्वारादि अनेक तीर्थों में अनेकवार साधुओं की समष्टि के रूप में अपनी ख्याति अर्जित की अपनी प्रौढ कुशलता से सभी को स्तब्ध किया और सभी कार्यों को करने में समर्थ हूं' इस प्रकार अपनी बातों को बतलाने के लिए जिन्होंने अपनी नम्रता का परित्याग कर दिया है । क्यों नम्रता का परित्याग कर दिया ? इसमें कारण बतलाते हैं "धनमाने-त्यादि" जिसलिये कि ये लोग धन तथा मान मद से युक्त हैं अर्थात् धन के मद से स्वदेश स्वकुल से युक्त है । नाम यज्ञ से यजन करने वाले हैं अपने नाम का लोगो में ख्यापनहो इसलिये धन श्रद्धादि उपकरण से अतिक्लिष्ट तथा जिसमें अधिक प्रयास है । तादृश प्रयास बहुलता से यज्ञ करते हैं । तादृश यज्ञ भी दंभ से तथा अविधिपूर्वक करते हैं अपनी धार्मिकता का खयापन करने के लिये तथा वेदोक्त विधि का त्याग करके स्वकीय अभिमत द्रव्यदेवता इति कर्तव्यतादिक उपकरण के द्वारा करते हैं अर्थात् वेदोक्त प्रक्रिया का परित्याग करके स्वेच्छा पूर्वक याग करते हैं ॥१७॥

कर्ता जो व्यक्ति है उसमें यदि कोई दोष हो तभी याग में अविधि पूर्वकत्व हो सकता है इसलिये प्रथमतः कर्ता में जो दोष है उसका उपपादन करते हैं "अहंकारमित्यादि" सम्पूर्ण जगत् के नियन्ता भगवान् हैं परन्तु जगत् के प्रति परमेश्वर की नियामकता को सर्वथा परित्याग

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

कारमिति । भगवन्नियामकतां सर्वथा परित्यज्याहमेव करोमीत्यहंकारस्तं बलं भगवद्बलमस्वीकृत्य स्वकीयमेव बलं पर्याप्तमतो मत्समः कोऽपि नास्तीति दर्पस्तं कामं मम कामेनैव मे मनोरथपूर्तिरिति तं क्रोधश्च ममशत्रुनवश्यमहं हनिष्यामीति बुद्धिस्तं समाश्रिताः आत्मपरदेहेषु नियन्तृतया निरन्तरमवस्थितं मामखिलजगन्नियन्तारमभ्यसूयकाः प्रद्विषन्तो मत्सामर्थ्येनैवाहं सर्वमनुतिष्ठामि किमीश्वराभ्युपगमेन । न चेश्वरो मह्यं फलं दातुमपार्यत इत्येव प्रद्विषन्तो मत्कर्मण एवेष्टसिद्धिरिति मन्यन्ते ॥१८॥

अथ क्रूरकर्मनिरतानामासुरप्रकृतीनां फलमभिधत्ते—तानिति । अहं सर्वत्र समदृष्टिरप्यहमशुभान् न विद्यते शुभं येषां तेऽशुभास्तानशुभान् मद्गुणविभूतिविषयकज्ञानशून्यान् नराधमान् क्रूरान् द्विषतो मद्द्वेषिणस्तानासुरप्रकृतीन् संसारेषु दुखबहुलेषु जन्मजरामरणादिरूपेण परिवर्त्तमानेषु सन्तानेषु तत्राप्यासुरीष्वेव योनिष्वजस्रं क्षिपामि ॥१९॥

करके मैं ही सभी का करनेवाला हूं इत्याकारक अहंकार को आश्रित करके तथा बल=सर्वसमर्थ भगवान् के बल को स्वीकार न करके स्वकीय बल को ही बल समझता हुआ एवं मुझ समान दूसरा कोई नहीं है इत्याकारक दर्प से युक्त और मेरी कामना से ही मनोरथ की सिद्धि होती है इत्याकारक काम से युक्त तथा क्रोध अपने शत्रु को अवश्य मै मारूंगा इत्याकारक बुद्धि तादृश बुद्धि को आश्रित करके स्वदेह में तथा परदेह में नियंतारूप से नियमतः विद्यमान मुझ अखिल जगत के नियन्ता की अभ्यसूया प्रद्वेष गुण में दोष का आरोपण करनेवाला मै अपने सामर्थ्य से ही सभी कार्य को करता हूं, परमेश्वर मानने की क्या आवश्यकता है ईश्वर मुझे फल देने में समर्थ नहीं है मैं अपने कर्तव्य से ही अपनी इष्ट की सिद्धि करता हूं, इस प्रकार वे असुरभावापन्न मनुष्य सदा दुराचार में रत कुबुद्धिक लोग मानते है ।१८॥

इसके बाद क्रूर कर्म जो हिंसा चौर्य द्यूतादिक हैं तादृश कर्म को करनेवाले आसुरी प्रवृत्तिक जो मनुष्य हैं उन्हें क्या फल मिलता है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं- "तानहमित्यादि" यद्यपि सर्वनियामक अकारण सभी के मित्र होने के कारण समदृष्टि हूं तथापि इन अशुभ नहीं है शुभ कर्म जिनका ऐसे जो ये पापाचारी मेरे गुणविभूति विषय ज्ञान रहित नराधम क्रूर हिंसादि कर्म निरत हैं और मेरा द्वेष करनेवाले हैं उन आसुर प्रकृतिक व्यक्तियो को संसार में दुःख की बहुलता है जिसमें जन्म जरा मरण रूप से परिवर्तनशील संसार

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत् ॥२१॥

मत्प्राप्तिप्रतिकूलामासुरीं योनिमापन्नास्ते 'जन्मनि जन्मनि' इति वीप्सया यावज्जन्मसु मूढा मोहपरम्परायाः प्रवृद्धतया मूढतामेवोपयान्ति । हे कौन्तेय ! प्रोदीप्तज्ञानविपर्ययान्मामप्राप्यैव मूढयोनिषु भगवत्प्राप्तिसाधनानुष्ठानासम्भवादृतेऽनुध्यानान्न परमपुरुषप्राप्तिरित्यतो मामप्राप्यैवेत्युक्तम् । ततः कुत्सितकर्मवशादापन्नासुरयोनिभ्यः एव मूढयोनिं ततोऽपि मूढतमयोनिमधमां गतिञ्च यान्ति । तदुक्तं श्रुतौ 'अथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा (छा.५।) इति ॥२०॥

इदानीं समूलासुरसम्पदस्त्यागमाह—त्रिविधमिति । नरकस्यासुरसम्पज्जन्यनरकप्रवाह है उसमें भी आसुरीयोनि में ही बारंबार फेंकता हूं । अर्थात् बारंबार ससार में ही तादृश व्यक्तियों का आना जाना होता रहता है ॥१९॥

भगवत्प्राप्ति में प्रतिकूल (विरोधी) आसुरीयोनि को प्राप्त किये हुए नास्तिक लोग जन्म जन्म में यहाँ जन्मपद के बाद वीप्सा होने से यह अर्थ होता है कि जन्म जन्म में अर्थात् प्रति जन्म में यावत् जन्म में मूढ होते हैं अर्थात् मोह परम्परा के बढने के कारण मूढता को ही प्राप्त करते हैं। हे कौन्तेय ! मद् विषयक ज्ञान के अभाव होने से मुझे प्राप्त न करके अर्थात् मूढयोनियों में भगवान् के प्राप्तिसाधक अनुष्ठान का अभाव रहता है और परमात्मा का जो अनुध्यान तद्रूप साधन के अभाव होने से भगवत्प्राप्ति अति असंभवित है इसलिये कहा है "मामप्राप्यैव" मुझे प्राप्त नहीं करके । इससे कुत्सित निन्दित कर्म के बल से प्राप्त जो असुरयोनि उससे भी अधिक मूढयोनि में तथा इससे भी अधिक मूढतर मूढतम योनियों में अधम अधमाधम गति को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार श्रुति में भी कहा है "जो व्यक्ति कुत्सित कर्म करनेवाले हैं वे कपूय कुत्सितयोनि को प्राप्त करते हैं कुत्ते की योनि को शूकर योनि को अथवा चाण्डालयोनि को प्राप्त करते हैं ॥२०॥

इसके पूर्व में सविस्तर आसुरसंपत्ति का निर्वचन करके अभी आसुरभाव का जो मूलकारण है तत्सहित आसुरसंपत्ति का त्याग बतलाते हुए कहते हैं "त्रिविधमित्यादि" नरक जो रौरवादिक अर्थात् आसुरसंपत्ति से जायमान जो नरक प्राप्ति है उसके तीन कारण हैं। वे कैसे

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ? तमो द्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।२२॥

प्राप्तेरिदं त्रिविधमात्मनो नाशनं सर्वपुरुषार्थात् प्रच्याव्याधोगतिप्रापकं द्वारमस्ति, तच्च कामक्रोधस्तथा लोभ इति तस्मादेतत्त्रयं त्यजेदासुरभावप्राप्तेर्मूलमेतत्त्रयं दम्भादीनामुच्छेदन सुकरमप्येतेषां त्यागोऽतिदुष्करोऽस्तीत्यतः पार्थक्येन त्यागायोपदेशः॥२१

हे कौन्तेय ! एतैः प्रोक्तैस्तमोद्वारैस्तमोजन्यनरकद्वारैर्मद्वैमुख्यापादकज्ञानप्रयोजकैस्त्रिभिः कामक्रोधलोभैर्विमुक्तो नर आत्मनः श्रेय आचरति सद्गुरुशास्त्राण्याश्रित्य मदुपासनेन मत्प्रीतये यतते ततश्च संसारोच्छेदानन्तरजायमानां परांगतिं याति ॥२२॥

हैं तो आत्माके नाशक हैं धर्म अर्थ मोक्षाख्य सभी पुरुषार्थ से गिरा करके अधोगति नरकादिगति के प्रापक द्वार के समान द्वार हैं । वे क्या चीज हैं उसके उत्तर में कहते हैं काम क्रोध तथा लोभ हैं । इन तीनों का लक्षण पहले कह दिया गया है । अभी इनका स्वरूप कथन है । ये तीनों नरक प्राप्ति में दण्ड चक्रादिन्याय से नरक में मिलित हो करके कारण नहीं हैं किन्तु तृणारणिमणि न्याय से स्वतन्त्र रूपसे कारण हैं । केवल काम भी नरक प्राप्ति का उपाय है और केवल क्रोध भी नरक प्राप्ति का उपाय है तथा केवल लोभ भी नरक प्राप्ति का उपाय है । अतएव श्लोक में इन सबो का समास न करके स्वतन्त्र रूप से कथन किया गया हैं । इसलिए इन तीन काम क्रोध तथा लोभ का त्याग करें । नरक के साधन जो दंभादिक हैं उनका छेदन सरल है परन्तु इन तीनों का छेदन अति दुष्कर है अत: पृथक् पृथक् रूप से त्याग के लिए उपदेश दिया गया है । जैसे कहा है--"सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः । छेत्तारः संशयानाञ्च क्लिश्यन्ते लोभ मोहिताः ॥" बडे अच्छे शास्त्र के वेत्ता बहुश्रुत अनेक प्रकारक संशय को निराकरण करनेवाले बडे विद्वान् भी लोभ से मोहित हो करके दु:ख को प्राप्त करते हैं । काम क्रोध का दृष्टान्त तो सौभरी दुर्वासा प्रभृति का जगत् विख्यात ही है । इसलिए नरक मूल काम क्रोध तथा लोभ का त्याग मुमुक्षु व्यक्ति के लिये परमावश्यक है ॥२१॥

पूर्वश्लोक में काम क्रोध लोभ का त्याग करना चाहिये ऐसा कहा परन्तु इनके त्याग के अनन्तर क्या करें ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं--"एतैर्विमुक्तः" इत्यादि । हे कौन्तेय ! यह जो पूर्वकथित काम क्रोध लोभरूप द्वार है । तमोजन्यनरक द्वार है परमेश्वर से विमुखता का संपादक तीन है काम क्रोध तथा लोभ रूप है इन तीनों से विमुक्त परित्यक्त जो

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् २३॥

एवमासुरसम्पत्तिमूलभूतकामादित्रयमुक्त्वा शास्त्रावहेलनरूपं प्रधानकारणमिदानीमाह–य इति । शास्त्रं शासनकरणं वेदाख्यं विधिं वेदानुशासनमुत्सृज्य यो नरः कामकारतो वर्तते स्वातन्त्र्येण स्वकल्पितमार्गेणेति यावत् । वर्तते स तावन्न पारलौकिकीं सिद्धिमवाप्नोति न सुखमैहिकं वावाप्नोति न परां गतिं चावाप्नोति । भगवदनुशासनरूपश्रुतिस्मृतीनां वश्यताऽवश्यकी । एवं शस्त्राज्ञामुल्लंघ्य यः स्वाच्छन्द्येन वर्तते स सर्वेभ्यः पराङ्मुखो भूत्वा दुर्गतिमनुभवतीति भावः ॥२३॥

मनुष्यहैं वे अपने श्रेय कल्याण का आचरण करते हैं अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु तथा वेदान्त शास्त्र का आश्रय ले करके भगवान् की उपासना द्वारा परमेश्वर की प्रसन्नता करने के लिये अथक प्रयत्न करते हैं उसके बाद भगवत् कृपा से संसारसागर का उच्छेद करके तत्पश्चात् जायमान जो परागति भगवत् सायुज्य है उसको प्राप्त करता है । अर्थात् मदनन्यभक्ति के द्वारा संसारसागर को उत्तीर्ण करके भगवद्धाम का पथिक बनता हुआ श्रीसाकेत विहारी की अनन्य सेवा के लिए बद्ध परिकर होकर के मुक्ति पदवी का अनुभव करता है ॥२२॥

आसुरसंपत्ति के मूलभूत कामादि त्रितय का कथन करके शास्त्र का अवहेलन रूप कारण का भी कथन करते हैं अर्थात् काम क्रोध तथा लोभ आसुरभाव का प्रयोजक है परन्तु "श्रुतिस्मृतीममैवाज्ञे" इस नियमानुसार शास्त्र जो है वह ईश्वराज्ञारूप है इस शास्त्र का उल्लंघन करना सभी अनर्थ का मूल है इस लिये इस बात को कहते हैं "यः शास्त्रविधिमित्यादि" शास्त्र शासन करनेवाला अर्थात् हित अहित का प्रतिपादन करनेवाल वेद तथा तदनुसारी स्मृतीतिहासपुराणादिक जो हैं एतादृश शास्त्र का जो वेदानुशासन है उसको छोड करके जो आदमी कामकार–स्वतंत्रतापूर्वक स्वकल्पितमार्ग से यथा अद्यतनीय साम्प्रदायिकों के सम्प्रदाय से बर्तता है वह व्यक्ति केवल पारलौकिक फल को ही प्राप्त नहीं करता है इतना ही नहीं किन्तु ऐहिक फल तथा परगति मोक्ष को भी प्राप्त नहीं करता है । अतः भगवान् का अनुशासनात्मक श्रुति स्मृति वश्यता आवश्यक है । इस प्रकार से शास्त्रवेद का उल्लंघन करके जो स्वच्छंदता से धर्म के नाम पर का धर्म करता है वह सभी पुरुषार्थ से परिभ्रष्ट होकरके दुर्गति का अनुभव करता है ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि २४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु परब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

अथ शास्त्रविधानोक्तस्य कर्मणः कर्त्तव्यतामाह—तस्मादिति । यतोऽविधिपूर्वकं कृतं कर्म निष्फलं भवति तस्मात् कार्यं चाकार्यं च कार्याकार्ये तयोर्व्यवस्थितिस्तस्यां कार्याकार्यव्यवस्थितौ । अत्र शास्त्रविधानोक्तं भगवदाराधनात्मकं कर्म कार्यम्। तद्भिन्नं भगवदाज्ञोल्लङ्घनात्मकं शास्त्रवश्याकर्त्तव्यं कर्माकार्यम् । तयोर्व्यवस्थितौ ते शास्त्रमेव प्रमाणम् । तस्माच्छास्त्रविधानोक्तं शास्त्रेण विहितं कार्यं भगवदाराधनात्मकं कर्म ज्ञात्वेहास्मिल्लोके कर्त्तुं विधातुमर्हसि ॥२४॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवद्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

इसके बाद शास्त्र विधानोक्त कर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन करते है "तस्मादित्यादि" जिस लिए अविधिपूर्वक किया हुआ कर्म भस्ममें हवन के समाननिष्फल है इसलिए कार्य तथा अकार्य इनकी जो व्यवस्था उस कार्याकार्य व्यवस्था में । यहाँ शास्त्रविधि प्रतिपादित भगवान् का आराधनात्मक कर्म कार्य है तद्भिन्न भगवान् की आज्ञा के उल्लंघनात्मक अकर्तव्य कर्म अकार्य है कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण है । अतः शास्त्र विधानोक्त शास्त्र से विहित कार्य भगवदाराधनात्मक कर्म को जान करके इस मनुष्य लोक में तादृश कर्म का तुम अनुष्ठान करो ॥२४॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत गीतानन्दभाष्य तत्त्वदीपे

षोडशोऽध्यायः

सर्वेश्वर श्रीरामाय नमोनमः





श्रीरामाय नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्ययजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण? सत्वमाहो रजस्तमः १॥

षोडशाऽध्याये विमुक्तयेऽधिकारिणा दैवीसम्पत्तिमाश्रित्य शास्त्रीयोपाय एवाश्रयणीय इत्युक्तम् । शास्त्रं हि निषिद्धकर्माणि सर्वथा परित्यज्य विहितान्येव सश्रद्धमनुष्ठेयानीत्यनुशास्त्येतन्निर्विवादम् । तत्र ये भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिदोषैः शास्त्रीये स्वादरातिशयमनुद्भावयन्तोऽपि शिष्टाचारमात्रेण कर्मानुतिष्ठन्ति क्व तेषामन्तर्भाव इति सन्दिहानोऽर्जुन उवाच--य इति । हे कृष्ण ! ये पुरुषाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य शरीरायासभयात् । प्रमादवशाद्वा विधौ शास्त्रीयनिर्णयमकृत्वैव शिष्टाचारपरम्परामात्रमादृत्य श्रद्धयाऽन्विता आस्तिक्यबुद्धियुक्ताः स्वेष्टदेवताराधनादिकमनुतिष्ठन्ति तेषां का नि-

मोक्ष प्राप्त करने के लिए अधिकारी व्यक्ति से दैवी संपत्ति का आश्रय करके शास्त्र में प्रतिपादित कथित जो उपाय उसीका आश्रय करना चाहिए ऐसा सोलवें अध्याय में कहा गया है और वेदादिक जो शास्त्र हैं वे कहते हैं कि निषिद्ध जो कर्म है उसका सर्वथा ही परित्यारा करके वेद विहित कर्म का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये ये ऐसा अनुशासन-कथन करते है यह बात निर्विवाद है । इस स्थिति में जो व्यक्ति विशेष भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा प्रभृति दोष के कारण शास्त्रीय उपाय में स्वकीय आदरातिशय को न रखते हुए शिष्टाचार कुल परम्परा मात्र से कर्म का अनुष्ठान करते हैं । तादृश कर्मानुष्ठान करनेवाले व्यक्तियों का समावेश किस में होगा सात्विक में तो कह नहीं सकते हैं क्योंकि शास्त्रीय पद्धति को छोड दिया है न वा आसुर में समावेश होगा क्योंकि शिष्टाचार का तो त्याग नहीं किया है इस प्रकार से सन्दिह्यमान अर्जुन भगवान् से पूछते हैं "ये शास्त्रविधिमित्यादि" हे कृष्ण ! सर्वसंदेहनिवारक ! जो पुरुष शास्त्रप्रतिपादित विधि का परित्याग करके शारीरिक श्रम के भय से अथवा प्रमादकारण से विधि विषय में निर्णय नहीं करके किन्तु शिष्टाचार परम्परामात्र का अनुसरण करके श्रद्धाविशिष्ट हो करके अर्थात् आस्तिकताबुद्धि से युक्त हो

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत !।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥३॥

ष्ठाऽवस्थितिः सत्त्वं सात्विकी, आहोस्विद्रजस्तमः राजसी तामसी वेति स्पष्टम्मे ब्रूहीति शेषः ॥१॥

अथार्जुनाशङ्कायाः समाधानं विधातुं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति । देहिनां त्रिगुणपरिणामभूतशरीरधारिणां श्रद्धा विश्वासः सात्त्विकी सत्त्वगुणजन्या राजसी रजोगुणजन्या तामसी तमोगुणजन्या चेति त्रिविधा भवति । शुद्धस्वभावशालिनामात्मनां श्रद्धासम्बन्धविरहेऽपि त्रिगुणपरिणामभूतदेहसम्बन्धौपाधिकाः श्रद्धा सम्भवन्तीति भावः । सा त्रिविधाऽपि श्रद्धा स्वभावजा प्राक्तनकर्मसंस्कारजाऽस्ति । तां श्रद्धां शृणु ॥२॥

हे भारत ! सर्वस्य पुरुषस्य श्रद्धासत्त्वानुरूपा तत्तद्गुणविशिष्टाऽन्तःकरणदेहेन्द्रि-

करके स्वकीय इष्टदेवता का आराधन कर्म का अनुष्ठान करते हैं उनकी वह कौनसी निष्ठा कही जायगी क्या वह सात्विक निष्ठा होगी अथवा राजसी निष्ठा कही जायगी या तामसी कही जायगी इस बात को आपमुझ से स्पष्टरूप से कहिये इस प्रकार का अर्जुन का प्रश्न है ॥१॥

अ॰ अर्जुन की जो शंका है जिसने शास्त्रविधि का तो त्याग कर दिया किन्तु श्रद्धायुक्त हो करके कर्मानुष्ठान करता है उसकी श्रद्धा कौन सी है इस शंका को समाधान करने के लिए भगवान् कहते हैं--त्रिविधेत्यादि" हे अर्जुन ! देही अर्थात् सत्वगुण रजोगुण तमोगुण रूप प्रकृति का परिणाम कार्य लक्षण शरीर को धारण करनेवाले जो शरीरधारी है उनकी श्रद्धा विश्वास सात्विकी सत्वगुण से जायमान तथा राजसी रजोगुण से जायमान और तामसी तमोगुण से जायमान इस प्रकार तीन प्रकार की श्रद्धा होती है। अर्थात् शुद्ध प्रकृति से सम्बन्ध रहित आत्मा में यद्यपि स्वभावतः श्रद्धा का सम्बन्ध नहीं है तथापि त्रिगुण का परिणामलक्षण जो देह का सम्बन्धरूप उपाधि है उसके बल से श्रद्धाएँ होती है। श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। वह श्रद्धा स्वभावजन्या है तथा पूर्वानेक भवोपार्जित कर्म संस्कार के बल से पैदा होती है। उन तीनों प्रकार की श्रद्धा को सुनो मैं कहता हूं। २॥

हे भारत ! सभी पुरुषों को श्रद्धा इष्ट वस्तु में अभिरुचि मनोवृत्ति लक्षण श्रद्धा सत्व के

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

यानुसारिणी भवति । अयं पुरुषो हि श्रद्धामयः श्रद्धाप्रधानोऽस्ति । ततो यः पुरुषो यच्छ्रद्धो यादृशसात्त्विक्यादिश्रद्धाविशिष्टो भवति स एव स तादृशश्रद्धाविषयफलशाली भवति ॥३॥

सात्त्विकजनानाम्परिचयः कार्येणैवावगन्तुं शक्य इत्यतः कार्यमभिधत्ते—यजन्त इति सात्त्विकाः सत्त्वगुणप्रधाना जना देवानिन्द्रादीनमरान् यजन्तेऽर्चयन्ति । राजसा रजोगुणप्रधाना जना यक्षरक्षांसि यक्षान् राक्षसांश्च यजन्ते । अन्ये सात्त्विकराजसाभ्यामितरे तामसास्तमोगुणप्रचुरास्तु प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते । सात्त्विकराजसतामसाश्च जनाः स्वस्वनिष्ठां तत्तच्छ्रद्धां चानुसृत्य क्रमशो देवयक्षपिशाचादींश्च सम्पूज्य दुःखासम्भिन्नं सुखं दुःखासम्भिन्नाल्पसुखं दुःखमयात्यल्पसुखं चानुभवन्तीत्यर्थः ॥४॥

अनुकूला होती है। यहां सत्व शब्द का अर्थ सत्वगुण नहीं है किन्तु सत्वगुण का परिणामरूप जो अन्तःकरण रूप मन है तद्वाचक है तब श्रद्धा के कारण जो अन्तःकरण मन तादृश मन के अनुकूल श्रद्धा होती है अर्थात् यदि मन सात्विक है तो श्रद्धा भी सात्विक होती है और यदि मन राजस या तामस है तो श्रद्धा भी राजसी वा तामसी होती है अर्थात् सत्वादि गुण विशिष्ट जो अन्तःकरण है उसके अनुसारिणी ही श्रद्धा होती है जिसलिए कि यह पुरुष श्रद्धामय है श्रद्धाप्रधानक है इसलिये जो पुरुष यादृश श्रद्धामय है यानी यादृश सात्विक राजस तामस श्रद्धामय होता है वह तादृश सात्विकादि श्रद्धा विषयक फलशाली होता हैं अर्थात् जो पुरुष यादृश सात्विक्यादि श्रद्धा से युक्त होता है वह पुरुष तादृश श्रद्धा का परिणाम रूप ही होता है इस प्रकार से श्रद्धा के तीन प्रकार होने से निष्ठा भी तीन प्रकार की होती है ॥३॥

पूर्वोक्त प्रकार से गुण परिणामके भेद से श्रद्धा के त्रैविध्य का निर्वचन करने से तीन प्रकार के श्रद्धावान् होते हैं यह भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है। अब इनका प्रत्यक्ष तो होता नहीं है इसलिये इनका ज्ञान कार्य द्वारा होगा अतः इनके कार्य का कथन करने के लिये कहते हैं "यजन्ते" इत्यादि। सात्विक, सत्व गुण है प्रधान जिसमें ऐसे जो व्यक्ति हैं वे सत्वगुण प्रधानक देव इन्द्रादि अमरों का यजन करते हैं। और जो राजस रजोगुण प्रधानक मनुष्य हैं वे रजोगुण प्रधानक यक्ष तथा राक्षस की पूजा करते हैं तथा अन्य सात्विक राजस से भिन्न जो व्यक्ति हैं वे तामस यानी तमोगुण प्रधानक जो व्यक्ति हैं वे तमोगुण प्रधानक प्रेतभूत गणों की पूजा करते हैं। सात्विक राजस तामस व्यक्ति स्वकीय स्वकीय निष्ठा तथा तत्तत् श्रद्धा का अनुसरण करके क्रमशः देव यक्ष पिशाचादि की पूजा करके दुःख से असंभिन्न

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

अथ ये मदाज्ञाविरुद्धाशास्त्रीयतपोयागादिविधातारस्त आसुरबुद्धय इत्याह—अशास्त्रविहितमिति । ये जनाः पुरुषादम्भश्चाहङ्कारो ताभ्यां दम्भाहङ्कारसंयुक्ता धार्मिकत्वज्ञापनस्वाधीनत्वाभिमानयुक्ताः कामश्च रागश्च बलं च कामरागबलानि तैरन्विताः कामरागबलान्विता विषयाकांक्षाक्षेत्रादिविषयकासक्तितदनुकूलशक्तिभिश्च युक्ताः शरीरस्थं शरीरारम्भकत्वेन शरीरे वर्त्तमानं भूतग्रामं पृथिवीत्यादिभूतसमूहं कर्शयन्त उपवासादिभिः कृशतां प्रापयन्तोऽन्तःशरीरस्थं मां चैव मदंशभूतं जीवं च कर्शयन्तोऽचेतसो विवेकहीनाश्च सन्तोऽशास्त्रविहितं शास्त्रविधानरहितं घोरं भीषणं तपस्तप्यन्ते कुर्वन्ति । अत्र तप इति यागादीनामप्युपलक्षणम् । तथा च यागादिकमपि कुर्वन्ति । तानशास्त्रविहिततपोयागादिकर्तॄनासुरो निश्चयो येषां त आसुरनिश्चयास्तानासुरनिश्चयानासुरबुद्धियुक्तान् विद्धि विदाङ्कुरु ॥५॥६॥

सुख दुःखासंभिन्न अति अतिअल्प सुख का तथा दुःखमय अत्यल्प सुख का अनुभव करते हैं॥४॥

श्रद्धा तथा श्रद्धावान् का त्रैविध्य बतला करके जो व्यक्ति भगवदाज्ञाविरुद्ध अशास्त्रीय तप तथा यागादिक करनेवाले हैं वे आसुर बुद्धिवाले ही हैं इस वस्तु को बतलाने के लिए कहते हैं "अशास्त्र विहितमित्यादि" जो व्यक्ति दंभ तथा अहंकार से युक्त हो करके अर्थात् अपने में धार्मिकता का ख्यापन करने के लिये तथा स्वाधीनता के अभिमान से युक्त हो करके काम इच्छा राग बल इन सभी वस्तुओं से युक्त अर्थात् विषय विषयक आकांक्षा क्षेत्र गृह पुत्रादि विषयक आसक्ति तथा एतदनुकूल शक्तियों से युक्त हो करके शरीरस्थ शरीर के जनक होने से शरीर में वर्तमान जो भूतग्राम पृथिव्यादि भूतों का समुदाय इन सबों को कर्षित करता हुआ अर्थात् उपवासादि विधान से कृशता शुष्कता को प्राप्त करता हुआ और शरीर के अभ्यन्तर में अवस्थित मुझ परमेश्वर को तथा परमेश्वर के अंश जीव को कष्ट देता हुआ अचेतस विवेक से रहित होते हुए अशास्त्र विहित शास्त्र विधान से परिवर्जित घोर अतिभीषण तप करते हैं । यहाँ तप शब्द यागादिक का भी संग्रह करता है इसलिये केवल तपोविध तप को ही करता है ऐसा नहीं किन्तु तादृश यागादिक कर्म का भी अनुष्ठान करते हैं । एतादृश अशास्त्रविहित तप यागादिक कर्म करनेवालों को असुर सम्बन्धी निश्चय है जिनका

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥
आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥८॥

आहारत्रैविध्यमप्यभिधत्ते—आहार इति । सर्वस्य सात्त्विकादित्रिविधभेदमापन्नस्य पुरुषस्याहारस्त्वप्याहारोऽपि त्रिविधस्त्रैविध्यमापन्नः प्रियो रुचिकरो भवति । तथा तेनैव प्रकारेण देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मको यज्ञः शरीरेन्द्रियशोधकात्मकस्तपः पात्रेषु स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादानात्मकं दानं च प्रत्येकं त्रिविधमेव भवति । तेषामाहारयज्ञतपोदानानां भेदं शृणु ॥७॥

तत्राहारत्रैविध्यमाह—आयुरिति । आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनास्तत्रायुर्जी-

वे आसुर निश्चय वाले हैं एतादृश आसुर निश्चययुक्त उन्हें आप समझें । अर्थात् जो व्यक्ति अशास्त्रविहित कर्म करनेवाले हैं वे लोग आसुर निश्चयवाले हैं ऐसा समझें ॥५॥६॥

प्रसंग प्राप्त होने से आहार का त्रैविध्य बतलाने के लिये कहते हैं "आहारः" इत्यादि। सभी प्राणियों को सात्विक राजस तामस त्रिविध भेद भिन्न जीव समुदाय को आहार भी सात्विकाहार राजस तथा तामस भेद भिन्नता से तीन प्रकार का आहार प्रिय रुचिकर होता है अर्थात् जो सात्विक प्राणी हैं उनका आहार जो सात्विक है वह रुचिकर होता है तथा जो राजस प्रकृतिक प्राणी हैं उन्हें राजसाहार ही रुचिकर होता है तथैव तामस प्रकृतिक जो प्राणी हैं उन्हें तामस जो आहार है वही रुचिकर होता है।

तथा इसी प्रकार देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्यागात्मक जो याग है और शरीरेन्द्रियान्तःकरण के परिशोधनात्मक जो तप है एवं स्वत्वनिवृत्ति पूर्वक परस्वत्व के उपादानात्मक जो दान है ये सभी तीन-तीन प्रकार के हैं अर्थात् जो सात्विक व्यक्ति हैं उन्हें सात्विक याग सात्विकदान सात्विक तप रुचिकर होता है एवं रजोगुण प्रधानक जो मनुष्य हैं उन्हें राजस यज्ञ राजसदान राजस तप प्रिय होता है एवं तामस प्रकृतिक जो प्राणी हैं (पुरुष हैं) उन्हें तामसयाग तामसदान तथा तामस तप प्रिय कर होता है इस प्रकार अनुष्ठाता के भेद से यज्ञ दान और तप भी तीन तीन प्रकार के होते हैं । इन आहार तप यज्ञ दानों का विशेषरूप से भेद को मैं कहता हूं, उसे सुनो ॥७॥

आहार दान यज्ञ तप ये सब अधिकारियों के भेद से तीनतीन प्रकार के होते हैं ऐसा पूर्वश्लोक में कहा है तो उनमें से सर्व प्रथम आहार के तीन भेद का प्रतिपादन करते हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।९।।

वनं सत्त्वमन्तःकरणजन्यं ज्ञानं बलं सामर्थ्यमारोग्यं रोगाभाववत्त्वं सुखं मनःप्रसादः प्रीतिर्हर्ष इत्येषां वर्धका रस्या माधुर्यादिविशिष्टा स्निग्धाः स्नेहवन्तः स्थिराश्चिरकालस्थायिनो हृद्या मनोहराश्चाहारा भोजनानि सात्त्विकप्रियाः सात्त्विकानां पुरुषाणां प्रियाः प्रीतिकरा भवन्तीति शेषः ।।८।।

राजसानाहारानाह—कट्विति । मध्ये श्रूयमाणस्यातिशब्दस्य प्रत्येकं योगस्तथा चातिकटुरसा निम्बाहिफेनादयोऽत्यम्लरसास्तिन्तिण्यादयोऽतिलवणरसाः प्रसिद्धा एवात्युष्णा जिह्वौष्ठादिप्रज्वालका अतितीक्ष्णा मरीचादयोऽतिरूक्षा अणुकङ्ग्वादयोऽतिविदाहिनः सर्षपादय आहारा राजसस्य जनस्येष्टा इमे च दुःखशोकामयप्रदा दुःखशोकरोगादिवर्धना ज्ञेयाः ।।९।।

"आयुरित्यादि" आयु सत्व बल आरोग्य सुख प्रीति वर्धकादि आहार सात्विक व्यक्तियों के लिए प्रिय होता है इस प्रकार अग्रिम क्रिया के साथ सम्बन्ध है । उसमें आयु शब्द का अर्थ है जीवन सत्व शब्द का अर्थ होता है अन्तःकरण से जायमान ज्ञान विशेष बल सामर्थ्य आरोग्य रोगाभाव सुख मन की प्रसन्नता प्रीति हर्ष इन आयु से ले करके प्रत्यन्त वस्तु को बढानेवाला तथा रस्य माधुर्यादि रस विशिष्ट स्निग्ध घृतात्मक स्नेह से ओतप्रोत स्थिर दो चार दिन तक चलनेवाला तथा हृदय मनोहर एतादृश जो आहर-भोजन वह सात्विकजन प्रिय है अर्थात् सत्व प्रकृतिक जो पुरुष हैं उनके लिये प्रिय प्रीतिकर होता है पूर्वकथित यथोक्त गुण कार्य विशिष्ट-भोजन स्वभावतः सत्वप्रकृति पुरुष के लिए सुख जनक होने से ये आहार सात्विक कहलाते हैं ।।८।।

पूर्वोक्त प्रकार से सात्विकजनों के हितप्रद सात्विक आहार का कथन करके क्रम प्राप्त राजस व्यक्ति के रोचक राजस आहार को बतलाते हैं "कट्वम्लेत्यादि" कटु अम्ल लवण तीक्ष्णादि के मध्यगत जो अति पद है उसका अन्वय कटुप्रभृतिक सभी के साथ है तब ऐसा अर्थ होता है अत्यन्त कटुरसवाला भोजन जैसे नीम अहिफेन (अफीम) अति अम्ल रसवाला जैसे इमली वगैरह एवम् अति लवणयुक्त दाल शाक एवं जो भोजन अत्यन्त गरम हो खाते ही जो जिह्वा को प्रज्वलित कर दे तथा अति तीक्ष्ण लाल मिरचा प्रभृतिक । अतिरुक्ष कोदो प्रभृतिक अति विदाही जैसे पीला सरसो प्रभृति एतादृश जो आहार है वह राजस प्रकृतिक व्यक्तियों को प्रिय होता है । ऐसा राजस भोजन दुःख शोक आमयरोग का जनक होता है । परिणाम हितप्रद नहीं है ऐसा जानना ।।९।।

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् १०॥

तामसाहारानाह--यातयाममिति । यातयामं पाकनिर्माणकालाद्याममेकं तदधिककालं वावस्थितं गतरसं पाकसंस्कारप्राप्तरसवर्जितं पूतिदुर्गन्धपूर्णं पर्युषितं प्रथमदिने पक्वमेकरात्रिं निर्गमय्य द्वितीयदिनावस्थितमुच्छिष्टं गुर्वतिरिक्तभुक्तशिष्टं गुरुपदेनात्राऽध्यात्मविद्योपदेशकस्य निषेकादिकर्मकर्तुः पितुश्च ग्रहणम् । अमेध्यं यज्ञाऽयोग्यं कल-

क्रम प्राप्त तामस आहार का कथन करते हैं "यातयाममित्यादि" जो आहार ओदनादिक यातयाम हो अर्थात् पाकनिर्माण काल से लेकरके एक प्रहर अथवा उससे अधिककाल पर्यन्त अवस्थित जो पक्व अन्न उसे यातयाम कहते हैं । एवं गतरस अर्थात् पाक करने से संप्राप्त जो अन्न में रस है तादृश रस से रहित अन्न को गतरस कहते हैं । पूति—दुर्गन्धपूर्ण जिस अन्न में दुर्गन्धी आजाय ऐसा अन्न तथा पर्युषित—वासी अर्थात् आज का पकाया हुआ रात बीतने के बाद द्वितीय दिन में अवस्थित उसे पर्युषित कहते हैं । उच्छिष्ट—जूठा अन्न अर्थात् गुरु से अतिरिक्त व्यक्ति से भुक्तावशिष्ट अन्न का नाम है उच्छिष्ट । यहां गुरुपद से अध्यात्मविद्या का उपदेशक तथा निषेक से ले करके सावित्री प्रदानान्त कर्म को करने वाले व्यक्ति तथा पिता का ग्रहण होता है । तथा अमेध्य अपवित्र यज्ञ के अयोग्य जैसे लशुन प्रभृति वस्तु एतादृश जो भोजन है वह तामस प्रभृतिक व्यक्तियों से प्रिय है । यह जो तामत आहार है वह तमोगुणवर्धक होने से मुमुक्षु व्यक्तियों से सर्वथा त्याग करने के योग्य है मुमुक्षु इस अन्नका ग्रहण कभी न करें ।

गुरुभुक्त अन्न से भिन्न व्यक्ति का उच्छिष्ट अन्न को उच्छिष्ट कहा गया है किन्तु गुरुभुक्तावशेष को नहीं ऐसा जो भाष्यकार ने कहा है उसका अभिप्राय कदाचित् ब्राह्मणेतर के लिए है क्योंकि ब्राह्मण के लिये "उच्छिष्टोच्छिष्ट संस्पृष्टः शुना शूद्रेण वा पुनः । उपोष्यरजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति ॥" इत्यादिवाक्य से निषेध किया गया है गुरु के उच्छिष्ट अन्न का ग्रहण करना ऐसा याज्ञवल्क्य मनु प्रभृति स्मृतियों में दृष्ट भी नहीं है । इत्यादि आशंका कतिपय व्यक्ति उपस्थित करते हैं पर यह शास्त्रानालोचित प्रायः है कारण कि प्रकृत उद्धृत वाक्य श्रीरामशरणापन्न रहित पंचसंस्कार वर्जित श्रीवैष्णव भिन्न ब्राह्मणाभास विषय परक है। भगवान् श्रीव्यासजी कहते हैं "विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभात् पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठः ।" तथैव श्रीनारदजी भागवत में कह रहे हैं "उच्छिष्टलेपाननुमोदितोद्विजैः सकृत्स्मभुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः" यहाँ ब्राह्मण या तदितर की कोई चर्चा नहीं, हां पूर्वापर प्रसंगानुसन्धान

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ११॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ? तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

ज्ञादिकमेतादृग्भोजनं भुज्यते यत्तद्भोजनं तामसजनप्रियं भवति । एतादृशाहारस्य तमोवर्धकत्वान्मुमुक्षुभिः सर्वथा परिवर्जनीयत्वमुक्तम्भवतीति भावः ॥१०॥

अथ यज्ञत्रैविध्यमाह—अफलाकाँक्षिभिरिति । अफलाकांक्षिभिः फलकामनाविरहितैर्विधिदृष्टो विधिशास्त्रप्रतिपादितो यज्ञो भगवत्प्रीतिफलकोऽतो यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय यो यज्ञ इज्यते स सात्त्विकोऽस्तीति शेषः॥११॥

अथ राजसं यज्ञमभिधत्ते—अभिसन्धायेति । हे भरतश्रेष्ठ ! फलमैहिकमामुष्मिकं

तथा "द्विजैः" पदानुसन्धान का प्रकृष्टार्थ सदाचार्य द्वारा सुसंस्कार संस्कृत श्रीवैष्णव प्रस्फुट है । अतः ब्राह्मणेतर की कल्पना मात्र कल्पना ही है । तथा श्रुति का भी "गुरोरुच्छिष्टं वा भुञ्जीत" ऐसा अतिस्पष्ट निर्देश हैं यहाँ वर्ण विशेष कोई का आभास नहीं है । वेदार्थ समुपवृंहकस्मृति तो "कोटिजन्मार्जितं पापं जानतोऽज्ञानतोऽपि वा । सद्यः प्रणश्यते नृणां वैष्णवोच्छिष्टभोजनात्" इत्यादिके द्वारा "नृणां" कहकर मनुष्य मात्र के लिये निर्देश कर रही है अतः भगवान् भाष्यकारीय व्याख्यान सर्वशास्त्रसार गर्भित अति उत्कृष्ट है सूक्ष्म तात्पर्य यह कि सनातन वेदविहित संस्कारों से सद्गुरु द्वारा संस्कृत ब्राह्मण श्रीवैष्णव भुक्तावशिष्ट का सभी वर्ग के लोगों को ग्राह्य है पर असंस्कृत किसी भी व्यक्ति का किसी भी व्यक्ति के लिये अग्राह्य है । प्रकृत विषय की विशेष चर्चा श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर आदि दूसरे प्रबन्धों के मेरे व्याख्यान में देखें ॥१०॥

अधिकारी के भेद से आहार का तीन भेद बतला करके प्राप्त यज्ञ का भी तीन भेद बतलाते हुए प्रथमतः सात्विक यज्ञ का प्रतिपादन करते हैं "अफलेत्यादि" अफलाकांक्षियों से जिस याग का जो फल कहा है उस फल कामना को छोडकर जो व्यवस्थित व्यक्तियों के द्वारा क्रियमाण विधि दृष्टि विधिशास्त्र से अनुमोदित द्रव्य देवतादि समन्वित जो यज्ञ है अग्निहोत्रादिक वह सर्वेश्वर के प्रीतिजनक है अतः अवश्य कर्तव्य है इस प्रकार से मनः समाधान करके तादृश यज्ञकर्म में मनोनियोग करके जो याग किया जाता है वह सात्विक याग कहलाता है ॥११॥

सात्विक याग का कथन करके तदन्तर राजसयाग का कथन करने के लिये प्रक्रम करते हैं "अभिसंधायेत्यादि" हे भरतश्रेष्ठ ! कर्म से जायमान जो ऐहिक पुत्र पशु कलत्रादिक तथा

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

वा पुत्रस्वर्गादिकमभिसन्धायोद्दिश्य दम्भार्थमपि स्वधार्मिकतां प्रथयितुमपि यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते, तं यज्ञं राजसं विद्धि जानीहि ।१२॥

अथ तामसं यज्ञं ब्रूते–विधिहीनमिति । विधिहीनं शास्त्रोक्तविधिविरहितमसृष्टान्नं शास्त्रप्रतिपादितान्नादिद्रव्यहीनं विधिना यन्मन्त्रोच्चारणं तद्विहीनमदक्षिणं शास्त्रानुकूलदक्षिणाशून्यं श्रद्धया विरहितं श्रद्धाविरहितमास्तिक्यबुद्धिविवर्जितं यज्ञं तामसं परिचक्षते शास्त्रमर्मज्ञाः शिष्टाः कथयन्ति ॥१३॥

सात्त्विकादिभेदाद् वक्ष्यमाणं त्रिविधमपि तपः शरीरवाङ्मनःसम्पाद्यम् । तत्र

परलोक सम्बन्धी जो स्वर्गादिक फल का अनुसन्धान उद्देश्य करके जो ऐहिक अथवा आमुष्मिक कर्म किया जाता है अथवा दंभ के लिए अर्थात् लोक में अपनी ख्याति के उद्देश्य से जो कर्म किया जाता है यानी यागादि कर्म का अनुष्ठान किया जाता है उस याग को राजस समझो । यहाँ भरतश्रेष्ठ इस संबोधन से तुम सात्विक याग का ही अधिकारी हो किन्तु राजस तामसयाग के अधिकारी नहीं हो ऐसा सूचित किया है ॥१२॥

सात्विक राजसयाग का प्रतिपादन करके तदन्तर तामसयाग के लिये प्रक्रम करते हैं "विधिहीनमित्यादि" विधिहीन जिसयाग के लिये शास्त्र में यादृश विधि का प्रतिपादन किया हो तादृश विधि से रहित जो याग तत् संसृष्टान्नशास्त्र प्रतिपादित जो अन्नादि द्रव्य उससे रहित एवं मन्त्रादि द्वारा संस्कार प्राप्त नहीं ऐसा जो द्रव्य तादृश द्रव्य का जो याग है तथा संसृष्टान्न नहीं है प्रोक्षणादि क्रिया से युक्त अन्न जिसमें और मन्त्रहीन प्रयोग समवेत अर्थ का स्मरण करानेवाला जो मन्त्र उस मन्त्र से रहित अर्थात् अमंत्रक जो याग यानी विधिपूर्वक जो मन्त्र है उसके उच्चारण से रहित । और अदक्षिण शास्त्रानुकूल दक्षिणा विवर्जित तथा श्रद्धा से रहित श्रद्धानाम है आस्तिकता का तादृश आस्तिकता बुद्धि से रहित एतादृश यज्ञ को शास्त्रमर्म को जाननेवाले विद्वान् लोग तामस यज्ञ कहते हैं । यह तामसयाग नाममात्र का याग है इसलिये फलाभिलाषी वा निष्काम व्यक्ति से अनाचरणीय है ॥१३॥

जिस प्रकार आहार तथा यज्ञ का सात्विकादिक तीन भेद का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार तपस्या का भी सात्विक राजस तथा तामस इन तीन भेद को बतलाने के योग्य जो

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

प्रथमं शरीरं तप आह—देवेति। देवो जगज्जन्मादिहेतुः सर्वेश्वरो भगवान् श्रीरामस्त-दङ्गभूता हनुमदादयश्च द्विजा गुरवो ब्रह्मविद्योपदेष्टारः प्राज्ञाः सम्पादितभगवदनुग्रहा-स्तत्त्वज्ञा भागवता देवद्विजगुरुप्राज्ञास्तेषां पूजनं समाराधनम् । शौचं बाह्यान्तरभावा-पन्नं द्विविधं शौचम् । आर्जवमृजुताऽकौटिल्यमित्यर्थः । ब्रह्मचर्यं सर्वथा मैथुनवर्जनम् अहिंसा त्रिविधहिंसाराहित्यम् । च । शारीरं कायिकं तप उच्यतेऽभिधीयते । प्राज्ञैरिति-शेषः ॥१४॥

वाचिकं तपो दर्शयति—अनुद्वेगकरमिति । अनुद्वेगकरं परस्योद्वेगाजनकं सत्यं यथाऽनुभूताऽर्थाभिधायकं प्रियं श्रोतुरानन्दोत्पादकं हितं परिणतिसुखावहं च यद्वा-

तप है वह वाणी मन तथा शरीर से संपादनीय होता है तो उसमें से सर्वप्रथम शरीर स्वरूप तप का कथन करने के लिये कहते है "देवद्विजेत्यादि" देव द्विज गुरु प्राज्ञ का पूजन उसमें जगत् जो स्थावर जंगमात्मक जायमान सकल पदार्थ है उसका जो उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय तादृश उत्पत्त्यादि का निदान कारण जो सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी हैं वे देवपद वाच्य हैं तथा भगवान् का अंगभूत विशिष्ट महिमा युक्त श्रीहनुमान् इन्द्रादिक वैदिक देवगण देवपद प्रतिपाद्य है एतादृश देवों का तथा द्विज-ब्राह्मण वशिष्ठ प्रभृतिक और गुरु पिता तथा ब्रह्म विद्या का उपदेश देनेवाले ब्राह्मण प्राज्ञ-विद्वान् जिन्होंने संपादन कर लिया है भगवान् के अनुग्रह को ऐसे तथा तत्त्व के ज्ञाता भगवान् के भक्त इन देव द्विज गुरु प्राज्ञ का पूजन—समाराधन । तथा शौच-बाह्य आभ्यान्तर दोनों प्रकार की शुचिता और आर्जव ऋजुता यानी अकौटिल्य । ब्रह्मचर्य सर्वथा मैथुन का परित्याग अहिंसाराहित्य इन सबों का नाम शारीर अर्थात् कायिक तप है ऐसा विद्वान् पुरुषों ने कहा है । अर्थात् देवादि का पूजन अहिंसान्त धर्म का पालन करना इनका नाम शास्त्रज्ञ पुरुषों ने शरीर सम्बन्धी तप इस नाम से प्रसिद्ध किया है ॥१४॥

तप के भेद प्रस्ताव में शरीर तप का निर्वचन करके क्रम प्राप्त वाचिक तप का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं "अनुद्वेगकरमित्यादि" अनुद्वेगकर अन्यव्यक्ति को उद्वेगजनक नहीं हो ऐसा जो वाक्य अर्थात् जिस वचन के प्रयोग करने से श्रोता के मन में भय संकोच आदि उत्पन्न नहीं हो एतादृश वचन को अनुद्वेग कर कहते हैं तो एतादृश वचन का प्रयोग नहीं करना । तथा सत्य जो पदार्थ जिस प्रकार से अनुभूत हो तथा यथा श्रुति हो मिथ्या न हो और जो वाक्य प्रिय हित हो परिणाम में सुखोत्पादक हो मनुने भी कहा है "सत्यं

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

ञ्यमथ च स्वाध्यायाभ्यसनं यथाविधिप्रत्यहमनुश्रवाभ्यासश्च तप एवोच्यते ॥१५॥

अथ मानसं तपोऽभिधत्ते—मनः प्रसाद इति । मनः प्रसादो मनोनैर्मल्यम् । परद्रोहाभावेन मनःप्रसन्नतेत्यर्थः । सौम्यत्वमक्रूरता । मौनं वाग्वृत्तिनियमनम् । आत्मविनिग्रहो मनोवृत्तेर्नियमनम् सर्वतो महापुरुषे भगवति श्रीरामे व्यवस्थापनमि-

ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः" सत्य बोले तथा प्रिय बोलें ऐसा प्रिय न बोले जो अनृत हो अप्रिय न बोलें इत्यादि । सत्यादि वचन का ही प्रयोग करना चाहिये । तथा स्वाध्याय का अभ्यास अर्थात् विधिपूर्वक प्रतिदिन अनुश्रव वेद तदंगादि का पुनः पुनः अभ्यास करना । वेद तदंग रामायण ब्रह्मसूत्र गीता भाष्य इनका पठन तथा षडक्षर महामन्त्र का जप और श्रीरामस्तवनादि पाठ इन सब का नाम है स्वाध्याय । समुदित इन सभी का नाम है वाचिक तप ॥१५॥

अथ कायिक वाचिक तप का प्रतिपादन करने के बाद क्रम प्राप्त मानसिक तप का प्रतिपादन करने के लिये उपक्रम करते हैं गीताचार्य "मनः प्रसाद" इत्यादि । मनः प्रसाद मन की प्रसन्नता मन की निर्मलता जल निर्मलता के समान अर्थात् परद्रोहादि लक्षण जो मन की मलिनता का आपादक धर्म है उस के अभाव होने से मन की स्वाभाविक रूप से अवस्थानात्मक प्रसन्नता । (यद्यपि मन स्वयं अतीन्द्रिय है तब उसमें रहने वाला जो प्रसन्नता रूप धर्म हैं वह किस प्रकार से जाना जा सकता है जब घट प्रत्यक्ष है तब ही उसका रूपादिक धर्म प्रत्यक्ष ग्राह्य होता है अप्रत्यक्ष परमाणु का धर्म रूपादिक का किसी को आज तक प्रत्यक्ष नहीं हुआ है उसी तरह प्रकृत में मन जब अप्रत्यक्ष है तब तद्गत जो प्रसन्नता है वह किस प्रकार जानी जायगी तथापि "आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च । नेत्र वक्त्रविकारैश्च ज्ञायतेऽन्तर्गतं मनः ॥" आकार प्रकार इंगित गमनागमन चेष्टा भाषण नेत्र मुख के विकार से अन्तर्गत अप्रत्यक्ष भी मन लक्षित ज्ञात होता है इस प्राचीनोक्ति से मन जाना जाता है तथा तद्गत धर्म भी जाना जाता है जैसे स्वभावतः अप्रत्यक्ष भी परमाणु कार्यलिङ्ग से अनुमेय है उसी प्रकार मन भी अनुमान का विषय होता है ।) सौम्यत्व अक्रूरता मन वाणी की वृत्ति का नियमन करना अर्थ आत्मनिग्रह यहाँ आत्म शब्द का अर्थ जीव नहीं है किन्तु मन का ग्रहण है तब मनोवृत्ति के नियमन का नाम है आत्म विनिग्रह अर्थात् मन को सभी बाह्य आभ्यन्तर विषय से निरुद्ध करके महापुरुष भगवान् श्रीराम में व्यवस्थित करना ध्यान रखो जहाँ कृपानिधान एवं भाव संशुद्धि भाव जो मन

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसश्चलमध्रुवम् ॥१८॥

त्यर्थः । भावसंशुद्धिर्भावस्य संशुद्धिर्नैर्मल्यम् । भावनाया भगवदितरविषयस्पर्शराहित्यमित्यर्थः । इत्येतत् सर्वं मानसं मनःसम्पाद्यं तप उच्यते ॥१६॥

एवं करणकलेवरानुष्ठितस्य तपसः सात्विकादिविभागेन त्रैविध्यमाह–श्रद्धयेति । तच्छरीरवाङ्मनोभिरनुष्ठितं त्रिविधमपि तपोऽफलाकांक्षिभिः फलकामनाविरहितैर्युक्तैर्भगवदन्तःकरणैर्नरैः साधनाधिकारिभिः परमोत्कृष्टया श्रद्धया तप्तं सम्पादितं भगवद्धामार्जकत्वात् सात्विकं परिचक्षते विद्वांसः ॥१७॥

राजसं तप आह–सत्कारेति । सत्कारार्थमादरार्थं मानार्थं प्रशंसार्थं पूजार्थमर्चनप्रणामाद्यर्थं यत्तपो दम्भेन चैव लोकप्रतारणबुद्ध्या नत्वान्तरप्रेम्णा क्रियते तदिह लोके

उसकी संशुद्धि निर्मलता अर्थात् मानसिक भावना को भगवत् विषयेतर विषय से रहित बनाना । यह उपरोक्त मनः प्रसादादिक मन से सपद्यमान मानस तप है ॥१६॥

इस प्रकार करण इन्द्रिय कलेवर शरीर से अनुष्ठीयमान जो तप है उसका शरीरादि भेद से त्रैविध्य बतला करके अब एक एक का सात्विक राजस तथा तामस भेद से त्रैविध्य बतलाने के लिए कहते हैं "श्रद्धयेत्यादि तत्तत् शरीर वाणी मन से अनुष्ठीयमान तीनों प्रकार का जो तप है वह अफलाकांक्षियों से फलकामना रहित व्यक्तियो से अर्थात् भगवान् में जिन्होंने अपने अन्तः करण को लगा दिया है ऐसे साधनाधिकारी मनुष्यों से परम उत्कृष्ट श्रद्धा के द्वारा तप्त संपादित जो तप है उसे विद्वान लोग सात्विक तप कहते हैं क्योकि यह तप भगवद्धाम का अर्जक प्रापक है । फलाभिसंधि रहित हो करके तथा समाहित मन के द्वारा सपादित परमपुरुष के अनुराग से अनुरंजित होने से भगवान् का जो परमपद है उसका यह प्रापक है इसलिये इस तप को सात्विक कहते हैं इससे कोई अन्य बडा फल नहीं है अतः यह सात्विक तप है ॥१७॥

सात्विक तप का प्रतिपादन करके क्रम प्राप्त राजस तप का निदर्शन करने के लिए प्रक्रम करते हैं 'सत्कारेत्यादि' जो तप सत्कार के लिए किया जाय अर्थात् अपने में आदरातिशय की प्राप्ति हो लोगों से मुझे सत्कार मिले इस अभिप्राय से किया जाय तथा मानके लिए अर्थात् लोगो में मेरी प्रशंसा होगी इस आशय को ले करके जो तप किया जाय तथा पूजा के लिये अर्थात् इस तप को करने से लोक में मेरी पूजा होगी लोग मुझे प्रणाम

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

चलं क्षणिकफलदमध्रुवमनियतस्थायि राजसं प्रोक्तम् । एतादृग्राजसे तपसि न परप्रेप्सुभिः प्रवर्तितव्यमिति तात्पर्यम् ॥१८॥

तामसं तप आह—मूढग्राहेणेति अद्यधुना धर्माधर्मापरिज्ञानेनावेशवशादात्मनः पीडया क्लेशप्रदानेन यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थमभिचारादिकं कर्म यदनुष्ठीयते तत्तपस्तामसं तमोगुणनिर्वृत्तमुदाहृतं विद्वद्भिः ॥१९॥

क्रमप्राप्तमिदानीं दानस्य त्रैविध्यमाह—दातव्यमिति । फलाकांक्षाम्परित्यज्य देशेऽयोध्यादिपुण्यक्षेत्रे काले संक्रमणग्रहणादिसमये पात्रे सद्वृत्तपरायणेऽनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय यद्दानं दीयते तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

करेंगे एतादृश अभिप्राय से जो किया जाता है और दंभ से लोगों को ठगने की इच्छा से न तु आन्तरिक प्रेम से तप किया जाता हो ऐसा जो तप वह इस लोक में चल अल्पफलको देनेवाला अध्रुव नियत रूप से जो स्थिर न रहे एतादृश जो तप है उस को राजस तप कहते हैं । एतादृश राजस तप में मोक्षार्थी व्यक्ति यों को प्रवृत्त नहीं होना चाहिये ऐसा गीताचार्य का तात्पर्य है क्योंकि इस तप का कोई विशेष फल नहीं है ॥१८॥

सात्त्विक तथा राजस तप को बतला करके अब तामस तप का विवेचन करने के लिये कहते हैं 'मूढग्राहेणेत्यादि' धर्म अधर्म के परिज्ञान से रहित मूढ मूर्ख दुराग्रहवाला अपनी पीडा करके अर्थात् दुराग्रहाधीन हो करके स्वकीय आत्मा को अत्यधिक दुःख दे करके जो तप किया जाता है अथवा पर को उत्सादन करने के लिये अर्थात् अभिचारादि कर्म द्वारा शत्रु मारण के लिए जो तप किया जाता है वह तप तमोगुण के कार्य होने से तामस है ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥१९॥

आहार तथा तप का सात्त्विकादि भेद से त्रैविध्य बता करके अब क्रम प्राप्त दान के त्रैविध्य को बतलाते हैं 'दातव्यमित्यादि' फलाकांक्षा को छोड करके देश कुरुक्षेत्र अयोध्या प्रयाग काशी प्रभृति देश में संक्रान्ति सूर्योपरागादि काल में पात्र में सद्वृत्त परायण ब्राह्मण में अनुपकारी प्रत्युपकार करने में जो असमर्थ हो एतादृश व्यक्ति को जो भू गो सुवर्णादिक दान दिया जाता है इसका नाम सात्त्विक दान है एतावता अदेश अकाल अपात्र में दिया हुआ दान सात्त्विक दान नहीं है यह फलित होता है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

यत्तु दानं प्रत्युपकारार्थं मह्यमयं कर्हिंचिदुपकरिष्यतीतिधिया फलमुद्दिश्य दानस्य स्वर्गादिरूपं फलं भोक्ष्य इति तदुद्दिश्य वा पुनः परिक्लिष्टं महतायासेन सम्पादितस्यैतावतो दानं कथं विधेयमिति पश्चातापयुक्तं च यद्दानं दीयते तद्राजसं दानमुदाहृतम् ॥२१॥

अदेशेऽशुचिस्थानेऽकाले सूतकाद्युपसृष्टकाले। पुण्यकालातीत इति यावत् अपात्रेभ्यो विद्यातपोविहीनेभ्यो मूर्खवृषलपाखण्डिपतितादिभ्यश्चासत्कृतं स्वागतोक्तिपादप्रक्षालनाद्यादरसूचकक्रियारहितमवज्ञातं तिरस्कारवाक्संयुक्तं यद्दानं दीयते तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

सात्विक दान का निर्वचन करके राजस दान का प्रतिपादन करने का प्रक्रम करते हैं 'यत्तु' इत्यादि। जो दान प्रत्युपकार के लिये अर्थात् आज मैं अमुक को दान देता हूं तो यह कालान्तर मे मेरा उपकार करेगा इत्याकारक बुद्धि से दिया जाता है तथा फल के उद्देश्य से अर्थात् इस दान का स्वर्गादि फल का मैं उपभोग करुगा इस उद्देश्य से जो दान दिया जाता है एव पुन: परिक्लिष्ट अर्थात् महान् आयास से संपादित संचित धन का दान मै कैसे दूं इत्याकारक पश्चात्तापयुक्त जो दान दिया जाता है उस दान का नाम राजस दान है। प्रत्युपकार फलोद्देश्य से पश्चात्तापादि पूर्वक जो दान है वह राजस दान है ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥२१॥

सात्विक तथा राजस दान का कथन करके क्रम प्राप्त तामस दान के स्वरूप को वतलाते हैं 'अदेशकाल' इत्यादि। अदेश में मगधादि निषिद्ध देश में अकाल में सूतिकादिक अशौच काल में पुण्यकाल के अतिक्रान्त काल में। अपात्र में विद्या तप रहित व्यक्ति को अर्थात् मूर्ख वृषल पाखण्डी पतितादि व्यक्ति को असत्कार पूर्वक अर्थात् स्वागत वचन पाद प्रक्षालनादिक सम्मान आदर सूचक क्रिया से रहित हो करके तथा अवज्ञात तिरस्कार सूचक वाणी से युक्त जो दान दिया जाता है उस दान को विद्वान् लोग तामस दान कहते हैं ॥२२॥

ओम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।२३॥

एवमाहारस्य यज्ञतपोदानानाञ्च सात्त्विकादिप्रभेदेन त्रैविध्यमुक्त्वा तत्र वैगुण्य-परिहाराय जगत्पावनभूतं भगवन्नामनिर्देशमाह–ओमिति । ओम्, तत्, सत् , इत्येवं जातीयको ब्रह्मणो महापुरुषश्रीरामस्य त्रिविधस्त्रिप्रकारको निर्देशो ब्रह्मप्रतिपादकः शब्दः स्मृतोऽस्ति वेदपारगैरिति शेषः । तेन त्रिविधेन ब्रह्मनिर्देशेन ब्राह्मणाः । ब्राह्मणपदमत्र वेदाधिकारित्रैवर्णिकपरम् । तथा च त्रैवर्णिकाः कर्मानुष्ठातारोऽधिकारिणो वेदाः कर्मप्रतिपादका मन्त्रब्राह्मणात्मकाः सर्वेऽप्याम्नायाश्च यज्ञा वाजपेयराजसूया-श्वमेधादयश्च श्रौतस्मार्तकर्मविशेषाः पुरा सर्गादौ मयैव विहितास्तत्तदनुगुणव्यवस्थया सम्पादिता इत्यर्थः । तदुक्तमुपनिषत्सु–ओंकार प्रभवा वेदा ओंकारप्रभवाः स्वराः । ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् । भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।

एवं पूर्वोक्त प्रकार से यज्ञ दान तप प्रभृतिक पदार्थों का त्रैविध्य सात्विक राजस तामस भेद से कह करके उन दानादिक कर्म में जो न्यूनाधिकभावादि लक्षण वैगुण्य है उन वैगुण्य प्रभृतिक दोष परिहार करने के लिये संपूर्ण जगत् को पवित्र करने वाले भगवान के नाम का निर्देश करते हैं "ओमित्यादि" (भगवान् का नाम स्मरण सकल दोष का निवारक है इसमें स्मृति प्रमाण है "यस्य स्मृत्वा च नामोक्त्या तपोयागादिकाः क्रियाः। न्यूनं संपूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥" जिस महापुरुष के स्मरण करने से नाम का कथन करने से न्यूनाधिक सकल दोष नष्ट होता है तथा कर्ममें संपूर्णता होतीहै ऐसा महापुरुष अच्युत देव को मै वन्दन करता हूं ।) ओम् तत् सत् एतादृश पर ब्रह्म महापुरुष श्रीराम का त्रिविध तीन प्रकारक निर्देष ब्रह्म प्रतिपादक शब्द है ऐसा वेद शास्त्र के ज्ञाता महापुरुषों ने कहा है अर्थात् ओम् यह तीनों प्रकार का ब्रह्म का वाचक है । यह तीनों प्रकार का जो ब्रह्म-वाचक शब्द है उससे ब्राह्मण अर्थात् वेदाध्ययनाधिकारी द्विजाति, यहाँ ब्राह्मणपद वेदाधिकारी त्रैवर्णिक ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का उपलक्षक है । त्रैवर्णिक कर्म के अनुष्ठान के अधिकारी तथा वेद ऋगादिक कर्म प्रतिपादक मन्त्र ब्राह्मण लक्षण सभी आम्नाय तथा वाजपेय राजसूय अश्व-मेधादिक सभी के सभी श्रौत स्मार्त कर्म विशेष पुरा सर्ग के आदि काल में मुझ परमेश्वर से ही बनाया गया है । उपनिषत् में भी ऐसा प्रतिपादन किया है । तथाहि "ओंकार प्रभावा" ओंकार से सभी वेदों की उत्पत्ति हुई है । जितने स्वर हैं ये सब ओंकार से ही उत्पन्न हुए हैं । सचराचर तीनोंलोक ओंकारसे जाय मान है भूर्लोक तथा भुवर्लोक स्वः लोक सोम चन्द्रमा सूर्य अग्नि सभी देवता जिस ओंकार की एक मात्रा में अवस्थित हैं ऐसा ओंकार सर्वश्रेष्ठ है ज्योति स्वरूप है । इसी प्रकार तत् पद तथा सत् पद को भी संपूर्ण जगत् के प्रति कारणता

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति।' एवं तत्सत्पदयोरपि जगद्बीजत्वं श्रुतिस्मृतिषु स्पष्टमुपलभ्यते। अतः श्रेयोऽर्थिभिरयंनिर्देशः पापापनुत्तये प्रेम्णा जप्तव्य इत्युपदिष्टम्भवति ॥२३॥

अथोंकारान्वयप्रकारमभिदधाति—तस्मादिति । तस्मादोङ्कारस्य परमात्मनः प्रथमवक्तृत्वाद्धेतोः । 'ओम्' इत्युदाहृत्य समुच्चार्य ब्रह्मवादिनां वेदाध्ययनशीलानाम् । विधानोक्ता विधिवाक्याभिहिता । यज्ञदानतपः क्रियाः प्रागुक्ताः सात्त्विकादिभेदभिन्ना निखिलाः क्रियाः प्रवर्त्तन्ते प्रवर्त्तमाना भवन्ति ॥२४॥

है इस प्रकार श्रुति तथा स्मृति में स्पष्टरूप से उपलब्ध होता है। "तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि" इत्यादिकादि श्रुति में तत् पद को जगत् के प्रति कारणत्व का प्रतिपादन किया है तथा 'सन्मूलाः सोम्य इमाः प्रजाः" "सदेव सोम्येदमग्रे आसीदित्यादि" श्रुति में सत्पदवाच्यब्रह्म से सकल जगत् की उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ओम् तत् तथा सत् पदवाच्य ब्रह्म जगत् के उत्पत्तिस्थिति तथा प्रलय के नियामक हैं। इसलिये कल्याण की इच्छा रखनेवाले पुरुष को चाहिये कि सकल कायिकादि पाप के विमोचन के लिये भगवान् श्रीराम का वाचक जो ओम्, तत् तथा सत्, शब्द हैं इनका प्रेम से सर्वदा जप करें ॥२३॥

सामान्य रूप से ओम् तत् सत् इस ब्रह्मवाचक शब्द का अन्वय प्रकार को बतला करके अब तदवयव रूप ओंकार-प्रणव का समन्वय प्रकार बतलाने के लिये प्रक्रम करते हैं— "तस्मादित्यादि" जिसलिए यह ओंकारात्मक प्रणव सभी वेद का अभिव्यंजक होने से तथा सभी के आदि होने से परमात्मा का अवयव द्वारा सामस्त्येन च वाचक है ओंकार से अभिन्न परमात्मा ही सर्वप्रथम वक्ता है इसलिए ओम् इत्याकारक ब्रह्मवाचक शब्द का उच्चारण करके वेदाध्ययनशील ब्रह्मवादियों के विधानोक्त विधिवाक्य प्रतिपादित पूर्वोक्त यज्ञ दान तप आदिक क्रिया सात्विक राजस तामस भेदभिन्ना सारी क्रियाएं प्रवर्तमाना होती हैं। अर्थात् प्रणव ही सर्व पदार्थ का उत्पादक स्थापक संहर्ता रूप ब्रह्मवाचक है और ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा ब्रह्मवादी लोग शास्त्र द्वारा जानकरके दानादिक सभी क्रिया के पहले ओंकार शब्द का उच्चारण करके तदनन्तर अध्ययनाध्यापन याग दान तप प्रभृतिक सकल क्रिया को संपादित करते हैं एतादृश महिमाशील यह ओंकार है और इसी ओंकार को आलंबन करके परात्परब्रह्म को प्राप्त करते हैं ॥२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ? युज्यते ।२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाऽभिधीयते ॥२७॥

द्वितीयनिर्देशस्य प्राशस्त्यमाह–तदिति । मोक्षकांक्षिभिस्त्रैवर्णिकैः फलप्रत्याशारूपरित्यज्य परमेश्वरार्पणबुद्धया तदिति ब्रह्मनिर्देशमुदाहृत्य विविधा यज्ञादिरूपाः क्रियास्तपः क्रिया दानक्रिया गोभूहिरण्यान्नादिदानक्रियाश्च क्रियन्ते ॥२५॥

सच्छब्दस्यान्वयमाह–सद्भाव इति। सद्भावे-वस्तुनो वर्तमानत्वे साधुभावे सुकृतत्वे च। सदित्येतत्परमात्मनो निर्देशः प्रयुज्यते तत्वज्ञैस्तथा हे पार्थ ! प्रशस्ते वर्णाश्रमधर्माधिकारिणां माङ्गलिके कर्मण्यपि सदिति शब्दः प्रयुज्यते ॥२६॥

प्रकारान्तरेण स्पष्टयति-यज्ञ इति। यज्ञे यज्ञाध्ययनयोस्तपसि दाने च या स्थितिस्तद्विषय आस्तिक्यबुद्धयाऽवस्थितिः सापि सदिति शब्देनोच्यते । किञ्च तदर्थीयं

ब्रह्म का वाचक जो ओंकार लक्षण प्रथमावयव है उस का कथन करके अब ब्रह्म का वाचक जो द्वितीय तत् पद शब्द है उसके प्राशस्त्य को बतलाने के लिए कहते हैं 'तदित्यादि" मोक्ष की इच्छा रखनेवाले जो त्रैवर्णिक ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वेदाधिकारी व्यक्ति हैं वे फल विषयक इच्छा को छोड करके केवल परमेश्वरार्पण बुद्धि से ब्रह्म का वाचक जो तत् शब्द है उसका उच्चारण करके विविध अनेक प्रकारक यज्ञादि रूप क्रिया तप लक्षण क्रियादान क्रिया गो पृथिवी सुवर्ण अन्नादि दान क्रिया को संपादन करते हैं अर्थात् जो कुछ शास्त्रानुमोदित क्रिया को करते हैं सर्वत्र क्रिया के अव्यवहित पूर्वकाल में ब्रह्म वाचक तत् पद के उच्चारण करके ही करते हैं ॥२५॥

इस प्रकार ब्रह्म वाचक तत् शब्द की प्रशंसा कह करके तृतीय जो ब्रह्म वाचक सत् शब्द है उसका समन्वय बतलाने के लिये कहते हैं 'सद्भावे" इति सद्भाव अर्थात् पदार्थों की अस्तिता में तथा सुकृत पुण्यभाव में सत् इत्याकारक जो परमात्मा का वाचक शब्द है उसका प्रयोग विद्वान् लोग करते हैं तथा हे पार्थ ? वर्णाश्रमाधिकारियों का जो मांगलिक कर्म हैं उनमें भी सत् इत्याकारक ब्रह्मवाचक शब्द का प्रयोग अबाध रूप से किया जाता है ॥२६॥

पूर्व श्लोक में कथित जो विषय उसी का पुनः प्रकारान्तर से स्पष्ट रूप से कहने के लिये प्रक्रम करते हैं क्योंकि मन्त्र को आलस्य नहीं होता है इसलिये 'यज्ञे तपसीत्यादि' यज्ञ

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥२८॥

यज्ञाध्ययनतपोदानाय यत्कर्म तदपि सदित्येवोच्यते । एतेन 'ओं' तत्सदिति ब्रह्मणः पावनं नामत्रयं सर्वकर्मणामारम्भे तदन्ते च त्रैवर्णिकैः प्रेम्णोच्चारणीयमिति सिद्धम् २७।

एवं शास्त्रीयश्रद्धयाऽनुष्ठितस्य कर्मणः सात्त्विकत्वमुक्त्वाऽश्रद्धया कृतस्य तस्य नैष्फल्यकथनेन प्रकृतमुपसंहरति–अश्रद्धयेति । अश्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्धिवैधुर्येण यद् हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च तत्सर्वमसदित्युच्यते तच्चाश्रद्धया कृतं नैव प्रेत्य नो, इह परलोके इहलोके च श्रेयसे न भवतीत्यर्थः ॥२८॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भागवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः १७॥

में वेदाध्ययनादिक में और तपस्या दान में जो स्थिति है अर्थात् यज्ञादि विषयक जो आस्तिक्य बुद्धि से अवस्थान है तादृशस्थिति भी सत् इत्याकारक ब्रह्म वाचक शब्द से ही कही जाती है । और भी यज्ञ तप दान के लिये जो कर्म है वह भी सत् इत्याकारक ब्रह्म वाचक शब्द से ही कहा जाता है । अतः "ओम् तत् सत्" यह ब्रह्म परमात्मा का पवित्रतम नामत्रय जो है 'ओम् तत् सत्' इन तीनों पदों को सभी कर्म के आरंभ में तथा सभी कर्म के अन्त में ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य को अवश्यमेव प्रेमपूर्वक उच्चारण करना चाहिये यह सिद्ध हुआ ॥२७॥

उपर्युक्त क्रम से शास्त्रीय श्रद्धा से अनुष्ठीयमान जो कर्म है उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं इस विषय का प्रतिपादन करके अथ च जो कर्म अश्रद्धा पूर्वक किया गया हो वह निष्फल है ऐसा कहते हुए प्रकृत प्रकरण का उपसंहार करते हैं 'अश्रद्धयेत्यादि' अश्रद्धा से आस्तिक्य बुद्धि के विना किया गया जो होम श्रौत वा स्मार्त याग कर्म तथा दान एवम् अश्रद्धा पूर्वक जो तप किया गया है वे सभी के सभी असत् कहे जाते हैं सब असत् हैं और अश्रद्धा पूर्वक किया गया जो कर्म है उसका फल नतो इस लोक में कुछ मिलता है तथैव तादृश कर्म का फल परलोक में भी कुछ नहीं मिलता है यह संक्षिप्त श्लोकार्थ हुआ ॥२८॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीतानन्दभाष्यतत्त्वदीपे

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीमतेरामानन्दाचार्याय नमो नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यविभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश! पृथक् केशिनिषूदन! ॥१॥

अथ तृतीयषट्कस्योपेयोपाययोर्निर्णये प्रवृत्तत्वात् स च निर्णयस्तत्सम्बन्धिपदार्थान्तरविचाराधीन इति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं प्राकृतानां सत्त्वादिगुणानां स्वरूपलक्षणकार्याणि गुणसङ्गजनितबन्धान्मुक्तिर्भगवतः सर्वनियामकस्य क्षराक्षरपुरुषाभ्यां परत्वं पुरुषोत्तमत्वञ्चोक्त्वा तत्प्राप्तये तस्यैव प्रपत्तिः समादरणीयेति निश्चितम् । इतः परमवशिष्टानां मुक्तयौपयिकानामर्थानाम्प्रपत्तिस्वरूपोपयुक्तानामपि निर्णय आवश्यक इत्यवधार्याष्टादशाध्याय आरभ्यते । तत्र प्राग् गीताशास्त्र एव क्वचित् कर्मसन्न्यासोऽभिहितः क्वचिच्च कर्मफलत्याग एवोक्तस्तयोः किमवगन्तव्यमिति सन्देहो जायतेऽ-

तृतीय षट्क जो त्रयोदश अध्याय से लेकर अष्टादशाध्यायान्त भाग है वह उपेय मोक्ष तथा मोक्षात्मक उपेय का साधन लक्षण जो उपाय उसका निर्णय करने के लिये प्रवृत्त है । वह जो निर्णय है वह उपेय तथा उपाय सम्बन्धी पदार्थान्तर के विचाराधीन है इसलिये क्षेत्र शरीरादिक तथा क्षेत्रज्ञ जीव इनका जो स्वरूप एवं प्रकृति जनित जो सत्वगुण रजोगुण तथा तमोगुण है उस का स्वरूप लक्षण तथा कार्य एवं प्रकृति सम्बन्ध से जायमान जो बन्ध उस बन्ध से विमुक्ति एवं सर्व नियामक सर्वेश्वर भगवान् को क्षर अक्षर पुरुषापेक्षया परत्व तथा भगवान् में पुरुषोत्तमत्वादि का कथन करके मोक्ष प्राप्ति के लिये भगवान् की प्रपत्ति का ही समाश्रयण करना युक्त है इत्यादि विषयों का विचार किया गया । इसके बाद अवशिष्ट जो मुक्ति के साधन भूत पदार्थ तथा भगवत् प्रपत्ति में उपयोगी पदार्थों का निर्णय करना आवश्यक है इस बात का अवधारण (निश्चय) करके तादृश तदुपयोगी पदार्थ का निर्णय करने के लिये इस अठारहवें अध्याय का आरंभ करते हैं । उस विचारणीय विषय में इसी गीताशास्त्र में कहीं तो कर्म सन्यास का कथन किया गया है और किसी किसी जगह में कर्मफल के त्याग करने का प्रतिपादन किया गया है । इन दोनों में से क्या समझना अर्थात् कर्म सन्यास तथा कर्म फल के त्याग का क्या स्वरूप है तथा कर्म सन्यास और कर्मत्याग ये दोनों भिन्न भिन

तस्तन्निर्णयकामोऽर्जुन उवाच—संन्यासस्येति । हे महाबाहो ! हे केशिनिषूदन ! हे हृषीकेश ! मच्छत्रून् कामक्रोधमोहादीनुन्मूल्य मदन्तरिन्द्रियं सन्मार्गे स्थापनीयमिति सम्बोधनत्रयेण सूच्यते । कर्मणां संन्यासस्य कर्मफलत्यागस्य च तत्त्वं वेदितुमिच्छामि । श्रुतिषु 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः' इत्यादिवचनैः कर्मसंन्यासस्यैव श्रेयोजनकत्वमुक्तं 'न कर्मणा वा प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः' इत्यादिश्रुतिषु च त्यागस्यैव श्रेयःसम्पादकत्वमुक्तमित्यनयोः कर्मसंन्यासत्यागयोर्द्वयोः पार्थक्यमस्ति, अस्तिचेत्पृथक्फलदातृत्वं प्रत्येकस्य स्वातन्त्र्येण वस्तु हैं ? यदि दोनों समानार्थक हैं तब भिन्न शब्द से कथन क्यों किया गया यदि दोनो भिन्नार्थक हैं तब इन दोनों में से किस का अनुष्ठान किया जाय इस प्रकार से संशयापन्न हो करके इन बातों के निर्णय करने की इच्छा से अर्जुन बोलते हैं "संन्यासस्येत्यादि" हे महाबाहो हे केशी निषूदन ? हे हृषीकेश ? बहुत बडी बडी बाहू है जिसकी उसे महाबाहू आजानुबाहू कहते हैं। सामुद्रिक शास्त्र में आया है कि जो आजानुबाहू होता है वह शत्रु का बिनाशक अवश्यमेव होता है । केशी नामका एक राक्षस था उसे भगवान् श्रीकृष्ण ने मारा था इस लिये भगवान् को केशीनिषूदन कहते हैं और हृषिक नाम है इन्द्रिय गण का उस इन्द्रिय गण के आप ईश अर्थात् नियन्त्रण करने वाले हैं । इन तीन प्रकार के संबोधन के मध्य से प्राथमिक दो विशेषण से यह सूचित करते हैं कि हे भगवन् ? आप शत्रु का नाशक हो तो मेरा आन्तर जो काम क्रोध लोभ रूप शत्रु हैं तथा बाह्य शत्रु रूप में प्रतिभासमान जो विपक्ष पक्ष में स्थित राजा लोग हैं इनका भी झटिति उन्मूलन करो । और तृतीय संबोधन से यह अभिव्यक्त किया कि आप जब इन्द्रिय के नियामक हैं तब बाह्य विषय शब्दादिक में स्वभावतः प्रवृत्ति करनेवाली जो इन्द्रियाँ हैं उन्हें बाह्य विषय से व्यावृत्त करके उनके वृत्ति प्रवाह को आन्तर मुख कर दें जिससे अन्तरावस्थित आत्मा और परमात्मा को मैं जान सकूं । श्रुति भी कहती है 'आवृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्" 'दृश्यते त्वग्र्यया बुध्या' 'एषोगुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' कोई कोई धीर पुरुष इन्द्रिय की बाह्योन्मुखता को रोक करके आन्तर वृत्ति की तरफ करने की अमृतत्व की इच्छा से । यह आत्मा भगवत्कृपा से वशीभूत बुद्धि वृत्ति से जाना जाता है । यह अति सूक्ष्म आत्मा अन्तः करण से देखो जाती है इन श्रुतियों का भी समन्वय हो जाय । कर्म जो अग्नि होत्रादिक उसका संन्यास तथा कर्मफल त्याग का क्या स्वरूप है तत्व है उसे मै जानना चाहता हूं । अर्थात् 'वेदान्तेत्यादि" वेदान्त विज्ञान से परमार्थ तत्व को विनिश्चित करके पवित्र अन्तः करण वाले यति लोग सन्यास योग से आत्मा को जानते हैं इस श्रुति में संन्यास को ही मोक्ष जनक कहा गया है और 'न कर्मणा'

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयोविदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

मोक्षप्रयोजकत्वम् च भवेत्, द्वयोरैक्यंचेत् कुतो द्वयोर्विभिन्नपदेनोपादानम् । किमत्र तत्त्वं तदहं वेदितुमिच्छामीत्यर्थः ॥१॥

कर्मसन्न्यासकर्मफलत्यागयोर्विषये स्वनिश्चयमभिधातुं श्रीभगवानुवाच--काम्यानामिति । वेदेषु नित्यनैमित्तिककाम्यरूपेण त्रिविधानि कर्माण्युपदिष्टानि तत्र नित्यानि यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्येवमादीनि भिन्ने जुहोतीत्यादीनिनैमित्तिकानि तथा "चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादीनि काम्यकर्माणि । येषु काम्यकर्मणां कामनामाश्रित्य क्रियमाणत्वादैच्छिकत्वमस्ति । कामनायां सत्यामसत्यां च कर्तव्यत्वमकर्तव्यत्वञ्चा-

अर्थात् महात्मा लोग कर्म से नहीं पूजा से नहीं तथा धन से भी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकते हैं किन्तु केवल त्याग से ही आत्मा को जानते हैं, इत्यादि श्रुति में त्याग को ही श्रेय साधन रूप से कथन किया है। इन दोनों कर्म संन्यास तथा कर्मफलत्याग में पार्थक्य है अथवा नहीं है ! यदि पार्थक्य है तब तो पृथक् पृथक् रूप से दोनों को अलग अलग फल दातृत्व भी होना चाहिये तथा स्वतन्त्र रूप से मोक्ष जनकत्व भी होना चाहिये। यदि दोनों वस्तु एक ही हो तब तो दोनों का कथन भिन्न भिन्न पद से क्यों किया गया ! तो इस विषय में वास्तविकता क्या है उस बात को मैं आपके सदृश कृपालु गुरु से जानना चाहता हूं ॥१॥

कर्म संन्यास तथा कर्म फल त्याग के विषय में अर्जुन को जो सदेह हुआ उस सन्देह का निराकरण करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं काम्यानामित्यादि' वेदशास्त्र में नित्यकर्म नैमित्तिक कर्म तथा काम्यकर्म इस प्रकार से त्रिविध कर्म का उपदेश किया गया है। उन तीनों कर्म के मध्य में 'यावज्जीवमग्नि होत्रं जुहोति' एतद्वाक्यानूदित अग्नि होत्र तथा संध्यावन्दनादि को नित्यकर्म कहा गया है।

यानी विधिबोधित कर्म तीन प्रकार का होता हे नित्यकर्म नैमित्तक कर्म तथा काम्य कर्म इनमें से नित्य कर्म उसे कहते हैं जिसके नहीं करने से पाप हो और करने से कोई विशेष फल न हो जैसे आहिताग्नि जो पुरुष है वह यदि नित्याग्निहोत्र न करे तो उसे पाप होता है और प्रति दिन अग्निहोत्र करने से कोई विधिबोधित फल नहीं होता है इसलिये नित्याग्निहोत्र तथा संध्यावन्दनादिक नित्य कर्म कहे जाते हैं। निमित्तविशेष को लेकर जो कर्म किया जाय उसे नैमित्तक कर्म कहते हैं जैसे पुत्रोत्पत्ति के लिये ज्ञातेष्टिकर्म राहूपराग ग्रहण में स्नानादिक और जो अधिकारवाक्य प्राप्त कामना को ले करके कर्म किया जाय

पद्यते अतस्तेषां कर्मणां कवयः कर्मज्ञानवन्तः न्यासं स्वरूपत्यागं सन्न्यासं विदुर्जानन्ति । विचक्षणाः कर्मयोगविशारदास्तु 'सर्वकर्मफलत्यागं नित्यनैमित्तिककाम्यरूपाणां सर्वेषां कर्मणां फलस्य त्यागमेव त्यागशब्देनाहुः । कर्मणामग्निहोत्रादिरूपाणां फलाभिसन्धिमपहाय यथाविध्यनुष्ठानं कर्तव्यमेव ।

इदमत्र तात्पर्यम् । यत्र श्रुतिस्मृत्योर्मुमुक्षुमधिकृत्य कर्मसंन्यासोऽभिहितस्तत्र स काम्यकर्मणां स्वरूपतत्यागाभिप्रायक एव । काम्यकर्मणां मोक्षौपयिकविद्यायां मोक्षे वा नोपयोगस्तेषां फलविशेषाभिलाषयैवानुष्ठीयमानत्वात् । प्रत्युतापवर्गमार्गार्गलत्वमेव तेषामतस्तेषां स्वरूपत्याग एवाभिमतः । यत्र पुनः कर्मफलत्यागोऽभिहितस्तत्र त्रिविधानामपि कर्मणां फलमात्रत्यागे तात्पर्यम् । न च नित्यनैमित्तिकयोः कर्मणोः फलं नास्ति,

और जिसके नहीं करने पर पाप न हो उसे काम्यकर्म कहते हैं जैसे "स्वर्गकामोयजेत" "शुष्यत्सस्यसंपत्तिकामः कारीर्य्यायजेत" इत्यादि । इन काम्य याग के करने पर शास्त्रोदित फल की प्राप्ति होती है तथा नहीं करने से किसी प्रकार के पाप की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि कामनामूलक होने से । इस प्रकार तीन प्रकार का कर्म वेद शास्त्र में बतलाया गया है ।

ये जो तीन प्रकार के कर्म हैं इनमें से नित्यकर्म है "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" एतद्विधिवाक्यबोधित नित्याग्निहोत्र तथा सन्ध्यावन्दनादिक । और "भिन्नेजुहोति स्कन्ने जुहोति" इत्यादि वाक्यबोधित भिन्नभोगस्कन्नयाग तथा जातेष्टिकर्म राहूपराग में स्नानादिकर्म नैमित्तिक है और काम्यकर्म उसका नाम है जैसे "चित्रया यजेत पशुकामः" पशु कामनावान् चित्रानामक याग करे" इत्यादि वाक्योदित जो यागात्मक कर्म यह हुआ काम्यकर्म । इन कर्मत्रितय में से काम्यकर्म की कामना का आश्रय ले करके क्रियमाणता है इसलिये यह काम्य याग ऐच्छिक होता है । पश्वादि की कामना हो तो करें इच्छा न हो तो न करें । इसमें कामना के रहने पर कर्तव्यत्व है और कामना के नहीं रहने पर अकर्तव्यत्व होता है । एतादृश जो नित्य नैमित्तिक काम्यात्मक कर्मत्रय हैं इन तीनों का जो न्यास अर्थात् स्वरूप त्याग तादृश त्याग को ही कवि लोग अर्थात् कर्मज्ञानवान् महापुरुष इसी को कर्म संन्यास कहते हैं । एवं जो विचक्षण कर्मयोग में विशारद महापुरुष हैं वे तो सर्वकर्म फल त्याग का अर्थ ऐसा कहते हैं कि नित्य नैमित्तिक काम्य सभी कर्मों का जो फल है तादृश फल के त्याग को ही त्याग शब्द से कहते हैं कर्म का स्वरूप त्याग का नाम त्याग नहीं है किन्तु कर्म द्वारा संपाद्यमान जो तत्तत् फल है उस फल का जो त्याग है उसी का नाम है त्याग । अग्निहोत्रा-

त्रिविधविभागवैयर्थ्यापत्तेरत एव कर्मसाद्गुण्याय काम्यं कृत्स्नाङ्गोपेतमेवानुष्ठेयमन्यथा कर्मवैगुण्यान्नैष्फल्य प्रसङ्गो नित्यानान्तु यथाशक्त्यनुष्ठानादपि न दोष इति वाच्यम्, सर्वकर्मफलत्यागमित्यशेषार्थकसर्वपदोपादानं कुर्वता भगवता स्वयमेव नित्यादे: फलस्य-स्याङ्गीकारात् । अत एव 'सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रता: । विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् । इत्यादिवचनानां सार्थक्यम् । अत एव च नित्यनैमित्तिक-योरनुष्ठानेप्रवृत्त्युपपत्ते: । सर्वकर्मफलत्यागमित्यत्र फलत्यागे काम्यकर्मण एवान्वय: सामर्थ्यात् । यस्य हि फलमस्त्वं स्यात्तस्य फलत्यागो युज्यते निष्फलस्य नित्यादेर्न

विलक्षण जो कर्मसमुदाय हैं उनकी फलाभिसंधि फल कामना को छोड कर जिसका जैसा विधान शास्त्र में है उस प्रकार उन कर्मों का संपादन करना तो अति आवश्यक है । इस प्रक्रान्त विषय में भगवान् का यह तात्पर्य है तथा हि संसार के असारता को देख करके जिनके मन में मोक्ष की इच्छा प्रादुर्भूत हुई तादृश पुरुष को अधिकृत करके जिस श्रुति अथवा स्मृति में कर्म-संन्यास का विधान देखने में आता है उस प्रकरण में काम्य कर्म का स्वरूप त्याग करने में अभिप्राय है । क्योंकि काम्य जो कर्म है वह न मोक्षजनक ज्ञान में उपयोगी है नवा मोक्ष में ही उपयोगी है । प्रत्युत ये कर्म तो मोक्षमार्ग के विरोधी हैं । अत: इन कर्मों का स्वरूपत: त्याग ही अभिमत है । और जिस श्रुति स्मृति में मुमुक्षु को अधिकृत करके कर्मफल त्याग का प्रतिपादन किया गया है । उस प्रकरण में नित्य नैमित्तक काम्यात्मक तीनों कर्मों का फलमात्र के त्यागांश में तात्पर्य है ऐसा समझना चाहिये ।

शंका–नित्य नैमित्तिक कर्म का तो कुछ फल नहीं है क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्म का तो जीवन एवं निमित्त के संयोग से विधान है । यदि नित्य नैमित्तक कर्म का भी यदि कुछ फल हो तब तो वह नित्य नैमित्तिक कर्म भी काम्य ही कहलायगा तब कर्म का जो त्रिधा विभाग किया वह व्यर्थ हो जायगा । अत एव कर्म की संपन्नता के लिये काम्यकर्म का समस्त अंग ग्राम सहित को ही अनुष्ठेयत्व का प्रतिपादन किया गया है । अन्यथा कर्म में विगुणता (त्रुटि) होने से निष्फलत्व हो जायगा और नित्यकर्म का तो सामर्थ्यानुसारेण अनुष्ठान करने पर भी कोई दोष नहीं है ।

उत्तर—"सर्व कर्मफलत्यागम्" यहाँ अशेषार्थक (समस्तकर्म का बोधक) सर्वपद का कथन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयमेव नित्य कर्म का भी कोई फल है ऐसा स्वीकार कर लिया है । अर्थात् यदि नित्यकर्म का कोई फल नहीं हो तब तो "काम्यकर्मफलत्यागम्" ऐसा भगवान् कहते ऐसा तो नहीं कहा है किन्तु 'सर्व'पद का ग्रहण किया है इसलिए जितना

फलत्यागे तात्पर्यमित्यपि न युक्तं नित्यादीनामपि फलवत्त्वस्योपपादितत्वात् । त्वदुक्ततात्पर्ये तु 'काम्यकर्मफलत्यागमित्येव ब्रूयात् सर्वपदोपादनस्य वैयर्थ्यात् । तस्मादुत्तरश्लोकमनुसृत्य कोटिद्वयस्यायमर्थः काम्यकर्मणः स्वरूपत्यागः कर्मसंन्यासपदेनोच्यते फलत्यागस्तु त्रिविधानामपि कर्मणामभिधीयते । नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मणामनुष्ठानेऽपि फलत्यागमेव त्यागं प्राहुर्विचणाः । ननु नित्यादेरनुकरणे प्रत्यवायदर्शनात् तदाचरणमावश्यकं काम्यकर्मणस्तु तथात्वाभावात् फलत्यागे च तेषु प्रवृत्तिरेव न स्यादिति चेन्मास्तु, कामिन एव तत्कर्तव्यताया चोदितत्वादित्यास्तां तावत् ॥२॥

कोई कर्म है सभी का कुछ न कुछ फल अवश्यमेव है अतः नित्य नैमित्तिक कर्म का फल नहीं है ऐसा कहना साहसमात्र है तथा भगवान् के अभिप्राय के प्रतिकूल भी है जिसलिये कि नित्य कर्म का भी फल है अत एव "सन्ध्यामित्यादि" जो व्यक्ति नियमित रूप से प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन का अनुष्ठान करता है वह विगलित पाप हो करके दुःख रहित ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, इत्यादि वाक्य का भी सार्थकत्व होता है अन्यथा ये सब वाक्य अप्रामाणिक होजाते। जिस लिये नित्य नैमित्तिक कर्म भी फलवान् हैं इसलिए इन नैमितिक कर्म के अनुष्ठान में लोगों की प्रवृत्ति भी अनुपन्ना नहीं होती है यदि इन नित्यनैमित्तिक कर्म का कोई फल नहीं होता तो तादृश निष्फल कर्म के अनुष्ठान में लोगो की प्रवृत्ति नहीं होती। "न कुर्यात् निष्फलं कर्म" निष्फल कर्म नहीं करना इस स्मृति से विरोध होने से जल ताडनवत् किसी की प्रवृत्ति न होती । सर्व कर्मों का फलत्याग इस फल त्याग में काम्यकर्म का ही अन्वय होता है क्योंकि सामर्थ्य होने से अर्थात् जिसे फल प्राप्त हो तभी तो फलका त्याग हो सकता है, नित्य कर्म तो निष्फल है तब उसे फल त्याग में तात्पर्य नहीं है यह भी कहना ठीक नही है क्योंकि नित्यकर्म भी फलवान् है ऐसा मै ने उपपादन किया है अर्थात् 'संध्यामुपासते ये तु' इत्यादि स्थल में नित्यकर्म भी फलवान् है ऐसा सिद्ध हो गया है । भवदीय तात्पर्य में तो काम्य कर्म का फलत्याग होता है ऐसा कहना चाहिए था ऐसे कथन में सर्वपद का कथन सर्वथा अयुक्त हो जाता है इसलिये उत्तर श्लोक का अनुसरण करके संशयस्थ कोटि द्वय का अर्थ यह है कि जो काम्यकर्म है उसके स्वरूप त्याग को कर्म संन्यास कहते हैं और काम्य नित्य नैमित्तिक इन तीनो प्रकार के कर्म का जो फल त्याग उसे त्याग कहते हैं। नित्य नैमित्तिक काम्य कर्म के अनुष्ठान में फलत्याग को ही विद्वान् लोग त्याग कहते हैं।

शंका—नित्य कर्म के अकरण में प्रत्यवाय की उत्पत्ति होने से नित्य कर्म का अनुष्ठान तो आवश्यक है। काम्य कर्म में तो ऐसा नहीं है तब काम्य कर्म का फल त्याग हो जाय तब तो काम्यकर्म में लोगों की प्रवृत्ति नहीं होगी निष्फल होने से जड ताड़नवत् ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

एवं त्यागसंन्यासयोः स्वरूपमुक्त्वामतान्तरं दर्शयति—त्याज्यमिति । **एके मनीषिणः सांख्याः दोषवद्हिंसादिदोषयुक्तत्वेन मोक्षमार्गप्रतिबन्धकत्वाद् यागादिरूपं कर्मत्याज्य मुमुक्षुभिरिति प्राहुः ।** तत्रापि **यज्ञदानतपोरूपं कर्म न त्याज्यं तस्यान्तःकरणशोधकत्वेन विद्यायामुपयोगित्वादित्यपरे कर्मठाः प्राहुः ॥३॥**

उत्तर—भले प्रवृत्ति न हो । अरे काम्यकर्म में प्रवृत्ति तो फल कामनावान् पुरुष के लिए ही कहा गया है अर्थात् जो फल कामनावान् है उसी की प्रवृत्ति काम्यकर्म में होती है ऐसा 'स्वर्ग कामो यजेत' इत्यादि स्थल में कामनावान् के लिये ही काम्य कर्म का उपदेश है नतु ऐहिक पारलौकि कामना विनिर्मुक्त पुरुष के लिये काम्यकर्म का विधान है ॥२॥

गत प्रकरण से त्याग तथा संन्यास का स्वरूप कथन करके अब त्याग तथा संन्यास के विषय में मतान्तर का प्रतिपादन गीताचार्य करते हैं—'त्याज्यं दोषवदित्येके' इत्यादि । एक कोई सांख्यमत के अनुसरण करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि कर्म हिंसादि दोष युक्त होने से तादृश हिंसा संवलित कर्म मोक्षमार्ग में कण्टक के समान प्रतिबन्धक होने से तादृश यागादि कर्म मोक्षाभिलाषी पुरुषों से त्याज्य है ऐसा कोई कोई विद्वान् फरमाते हैं । यानी 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' पाप कर्म के विनाश हो जाने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है ऐसे नियम के अनुसार ज्ञानोत्पत्ति में जब पापकर्म प्रतिबन्धक है तब अवश्य मेव तादृश प्रतिबन्धक पाप के अभाव को कारणता सिद्ध होती है । जैसे दाहात्मक कार्य में प्रतिबन्धक चन्द्रकान्त मणि का अभाव दाह में कारण होता है प्रकृत में वाजपेय अश्वमेधादिक याग हिंसा प्रधानक हैं हिंसा पाप जनक है तो जब पाप का कारण हिंसा की अस्तिता है तब तक ज्ञान की आशा कहाँ से और जब ज्ञान नहीं होगा तब ज्ञान साध्य मोक्ष तो अति दूर हो जाता है । इन सांख्यानुयायी विद्वानों की मान्यता है कि कर्म को छोडो कर्म को छोडो जब तक कर्म करोगे तब तक पाप रहेगा ही और पाप जब तक रहेगा तब तक ज्ञान नहीं होगा । इसलिये गीताचार्य ने कहा कि "त्याज्यं दोषवदित्ये के" दोषवान् कर्म के त्याग का प्रतिपादन किया । परन्तु जो हिंसादि दोषवान् कर्म नहीं है उसका निषेध नहीं है । इत्यादि विशेष विचार, प्रकृत विषयक आगे स्पष्ट होगा ।

कोई कर्मठ आचार्य तो कहते हैं कि यज्ञहिंसादि रहित यागादि कर्म प्रात्यहिक अग्निहोत्रादिक दान तथा तपोरूप जो कर्म है वह त्याज्य नहीं है क्योंकि ये सब कर्म अन्तः-करण में पवित्रता के संपादक होने से विद्या में उपयोगी हैं । जो कर्म विद्या में अथवा

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

हे भरतसत्तम ! एवं विभिन्नमतेषु सत्सु तत्र त्यागविषये मे मम निश्चयं शृणु सावधानमाकर्णय हे पुरुषव्याघ्र ! केषाञ्चित् कर्मणां स्वरूपतः केषांचित् फलतः केषां चित् कर्तृ । इत्येवम्प्रकारेण त्रिविधस्त्यागः सम्यङ् मया तुभ्यं कर्मनिर्णयसमये प्रकीर्तितः ॥४॥

त्याज्यात्याज्यत्वे विवेचयति—यज्ञदानतपः कर्म योऽर्थिभिर्न त्याज्यं किन्तु सर्वदा यावदायुषं तत्कार्यमेव 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषम् (छा.) इति श्रुतेः । एतेन 'विविदिषोत्पत्तिं यावद्यज्ञादिकं कर्तव्यं जातायां विविदिषायान्तु 'सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ! मोक्ष में प्रतिबन्धक हैं तादृश कर्म ही मुमुक्षु के लिये त्याज्य है परन्तु जो कर्म अन्तःकरण के विशोधन द्वारा मोक्षकारणीभूत विद्या का सहायक हैं उनका त्याग नहीं करना प्रत्युत संपादन ही आवश्यक है ॥३॥

त्याग के स्वरूप में मतमतान्तर के द्वारा समुपस्थित जो संशय है उस संशय को गीताचार्य के निश्चयात्मक मत को बतलाने के लिये कहते हैं "निश्चयमित्यादि" हे भारतसत्तम ! भरत कुल में वंशाग्रणी ! उपर्युक्त प्रकार के संशय रहने से उस त्याग के विषय में मेरा सर्वनियामक सर्वेश्वर का प्रकृत विषय में निश्चय सुनो यानी त्याग के विषय में निश्चित मन होकर सुनो । हे पुरुषव्याघ्र ! व्याघ्र के समान पुरुषों में पराक्रमशालिन् ! किसी काम्य कर्म का तो स्वरूप से किसी कर्म को फल त्याग द्वारा किसी कर्म को कर्त्ता के द्वारा इस प्रकार तीन प्रकार का त्याग होता है ऐसा समीचीन रूप से कर्मस्वरूप के निर्णय के समय में मैने तुम्हें बतला दिया है । अर्थात् १. स्वयं फल को प्राप्त करूंगा इसलिये मैंने कर्म का अनुष्ठान किया है इस प्रकार फल विषयक अभिमान का त्याग तथा २. कर्म में स्वकीय कर्तृत्वाभिमान का त्याग और ३. स्वकृत कर्म का फल मैं ही उपभोग करूंगा एतादृश इच्छा का त्याग इस प्रकार त्याग का तीन भेद मैने पहले बतलाया हैं ॥४॥

मोक्षार्थी के लिए कौन सा कर्म त्याज्ज है और कौन कर्म त्याज्य नहीं है एतद्विषयक संदेह का निराकरण करने के लिये त्याज्य अत्याज्य कर्म का विवेचन करते हैं स्वयमेव गीताचार्य—"यज्ञ दानेत्यादि" हे अर्जुन ! जो व्यक्ति श्रेयार्थी मोक्ष की अभिलाषा करनेवाले हैं वे लोग यज्ञ-दान-तपः रूप कर्म का कभी भी त्याग न करें अपितु सर्वदा आयुष्य के अन्तिम

रोधात् श्रुतिरुदाहृता आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्, (ब्र सू) गीता शास्त्रे च प्रत्यक्षमिदमेव वचनम् किमर्थं कार्यमित्याह यज्ञो दानं तपश्चैव वर्णाश्रमोचितानि यज्ञादीनि कर्माणि मनीषिणा विद्यावता मुमुक्षूणा पावनानि पूर्वं विद्यानिष्पत्तियोग्यतापादकानि निष्पन्नविद्यस्य च फलशीघ्रत्वप्रयोजकानि ॥५॥

समय तक यथाशक्ति यज्ञ दान तपः रूप कर्म का अनुष्ठान अवश्य करते रहें। श्रुति भी कहती है—"कर्मानुष्ठान करता रहे" भगवान् के एतादृश कथन से मायावादियों का जो मत है वह परास्त हो जाता है वे लोग मानते हैं कि जब तक ज्ञान विषयिणी इच्छा उत्पन्न नहीं होती है तब तक यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। यज्ञादिक जो कर्म हैं वे विविदिषा की उत्पत्ति में कारण हैं। ज्ञानोत्पत्ति में अथवा मोक्ष में कारण नहीं हैं क्योंकि मोक्ष तो नित्यात्मस्वरूप होने से अजन्य है तथा आत्मस्वरूप ज्ञान भी नित्य है। इसलिये ज्ञान अथवा मोक्ष में यज्ञादिक कर्म कारण नहीं हैं अपितु ज्ञानविषयक इच्छा में यज्ञादिकर्म कारण हैं और जब विविदिषा सम्पन्ना हो गयी तब तो "सर्वं कर्म" ज्ञान में परिसमाप्त हो जाता है यह जो भगवान् का कथन है तदनुसार आगे सभी कर्म का त्याग ही करना ठीक है इस प्रकार माया वादियों ने जो बालुका भीत तैयार की है वह श्रुति ब्रह्मसूत्र तथा गीता के प्रतिकूल होने से परास्त हो जता है। तथाहि"स खल्वेवं वर्तयत् यावदायुषम्" 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यावत् जीवन कर्म अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करते हुये सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा रखें" इत्यादि श्रुति तथा "आप्रापणात्तत्रापिहिदृष्टम्" इत्यादि कनेक ब्रह्मसूत्र एवं "यज्ञदानं तपः कर्म न त्याज्यम्" इत्यादि वचन से सिद्ध होता है कि कर्म का त्याग कभी भी इष्ट नहीं है। यज्ञ दान तपो लक्षण कर्म ज्ञानियों को क्यों करना चाहिये इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं—"यज्ञो दानमित्यादि" जिसलिये यज्ञ दान तप अर्थात् वर्णाश्रमोचित जो अग्निहोत्रादिक ज्ञान कर्म तथा दान और तपस्या है वह मनीषी विद्यावान् मुमुक्षु व्यक्ति के लिए पावन है पवित्रता का संपादक है तत्वज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व में अनुष्ठीयमान जो जज्ञादिक कर्म है वह विद्योत्पत्ति में योग्यता का संपादक होता है और विद्योत्पत्ति के अनन्तर अनुष्ठीयमान जो यज्ञ दानादिकर्म है वह विद्या का फल जो मोक्ष उसमें शीघ्रता का संपादक होता है अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति अहमदाबाद से कलकत्ता जाना चाहे और पैर से चले तो छ महीने में कलकत्ता पहूंचेगा अगर वही व्यक्ति रेलगाडी से प्रयाण करता है तो चार दिन में कलकत्ता पहूंच जाता है, हवाई जहाज से चले तो दश ही घंटे में पहूंच जायगा। यथा वा कपडा भींगाकर चौपेत दें तो वह कपडा दोचार दिन में सूखता है और यदि फैला करके सुखावें तो कुछ पहले सूख जाता है इसी प्रकार प्रकृति

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ।६॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

हे पार्थ ! एतान्यपि तु कर्माणि श्रेयोर्थिनां पावनकारकत्वादिमानि कर्माण्यपि सङ्गं फलानि च तेष्वहं करोमीत्यभिमानं फलाभिसन्धिञ्च त्यक्त्वा कर्तव्यानि निरन्तरमाप्रयाणादनुष्ठेयानीत्येव मे मदीयं मतं निश्चितमुत्तमं कर्मणां हेयोपादेयविषय उत्कृष्टं जानीहि ॥६॥

अथ ब्रह्मविद्योपचायकस्य वर्णाश्रमनियतस्य नित्यादिकर्मणः परित्यागस्य तामसत्वमाह नियतस्येति । तुना काम्यानां कर्मणां व्यवच्छेदः । नियतस्य वर्णाश्रमनियमें यदि तत्वज्ञान की उत्पत्ति से पहले जो कर्म किया जाता है वह तो ज्ञान का सहायक होता है और तत्वज्ञान के अनन्तर जो यागादिक किया जाता है वह ज्ञान कार्य मोक्षत्वरा का संपादक होता है । इस क्रम से यज्ञादिक कर्म उभय आवश्यक होने से मोक्षार्थी पुरुष से अवश्य कर्तव्य हैं ऐसा सिद्ध होता है ।

हे अर्जुन ! यह जो नित्य नैमित्तिक कर्म है वह स्वयं पवित्र है तथा तदनुष्ठाता के लिये पावन कर्ता है ज्ञान के वर्धक होने से इस हेतु से इन कर्मों का अनुष्ठान यावज्जीवन अवश्य करना चाहिये कदाचिदपि तादृश कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं 'एतान्यपीत्यादि' हे पार्थ ! एतानि यज्ञ तप दान लक्षण जो नित्यनैमित्तिक कर्म है वह श्रेयो मोक्षार्थी के लिये परम पावन कारक होने से भगवान् के प्रीत्युत्पादक यज्ञादि कर्म हैं अतः उन यज्ञादि कर्मों को संग आसक्ति विशेष तथा इनका जो फल है उसे छोड़कर अर्थात् उन कर्मों को मैं करता हूं इत्याकारक कर्तृत्व का अभिमान तथा फलाभि सन्धि– फल विषयिणी इच्छा का परित्याग करके यानी मुझे निरन्तर मरणपर्यन्त यह अवश्य कर्तव्य है ऐसा समझ करके अवश्यमेव इन कर्मों का अनुष्ठान करना एतादृश मेरा निश्चित अत्युत्तम मत है अर्थात् कर्म के हेयोपादेय विषय में अत्युत्कृष्टतम यह मेरा मत है ऐसा तुम जानो केवल जानो ही नहीं किंतु तुम भी इस मत को जान करके कर्म कर्तव्याकर्तव्य विषयक संशय को छोड़ दो क्योंकि तुम मेरे परमप्रिय हो इसलिये मेरे मार्ग का ही अनुसरण करो जिससे तुम्हारा कल्याण होगा । कारण यह कि कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छाविरहित कर्म मोक्ष प्रद अवश्यमेव होता हैं अतः तुम निश्चिन्ततया शास्त्रविहित कर्मों को करो ॥६॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

तस्य नित्यस्य नैमित्तिकस्य च कर्मणः संन्यासः स्वरूपत्यागो नोपपद्यते । "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः" (गी० ३) इत्युक्तयज्ञशिष्टाशनालाभात् "ते त्वघं भुञ्जते पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" (गी० ३) इत्युक्तपापाशनप्रसक्तेश्च नित्यनैमित्तिककर्मणः स्वरूपत्यागानुपपत्तिः । मोहादज्ञानात्तस्य वर्णाश्रमनियतस्य कर्मणः परित्यागस्तामसस्तमोजन्याज्ञानकारणकत्वेन तमोहेतुकः परिकीर्तितः । तादृशः कर्मत्यागो विपरीतज्ञानहेतुरेवेत्यर्थः ॥७॥

राजसत्यागमाह दुःखमिति । यन्नित्याग्निहोत्रादिसंध्यावन्दनादिरूपमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्म दुःखमित्येवात्यायाससाध्यत्वेन दुःखात्मकमस्तीत्येव कायक्लेश

इसके बाद ब्रह्म विद्या का उपचायक तत्व ज्ञान के नित्य प्रति वर्धनशील वर्णाश्रम के नियत काम्य कर्म वर्जित नित्य कर्म का परित्याग नहीं है अपितु तादृश त्याग तामस त्याग है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं 'नियतस्येत्यादि' श्लोक में जो तु शब्द है वह काम्य कर्म का निराकरण करता है नियत वर्णाश्रमोचित अर्थात् वर्णाश्रमों के लिये नियत अवश्य कर्तव्य जो नित्य नैमित्तिक अग्नि होत्र सन्ध्यावन्दनादिक तथा जातेष्टि राहूपराग सम्बद्ध स्नानदानादिक एतादृश नित्य नैमित्तिक कर्म हैं इनका संन्यास स्वरूप त्याग नहीं हो सकता हैं क्योंकि नित्यकर्म का भी त्याग कर दें तो शरीर यात्रा का निर्वाहक तथा ज्ञान का उपचायक 'यज्ञशिष्टाशिनः' इत्यादि भगवदाज्ञा प्राप्त जो यज्ञ शिष्टान्न भक्षणादिक है उसका बाध हो जायगा और भोजन के बिना जीवन का निर्वाह नहीं होने से तदर्थ आत्मपोषणार्थ पाचनादि क्रिया में जरूर प्रवृत्त होगा तब 'भुञ्जते ते त्वघं पापा" इत्यादि भगवदुक्ति के अनुसार पाप अशन की अनिष्ट प्रसक्ति भी होगी । इस लिये नित्य नैमित्तिक कर्म का स्वरूप त्याग सर्वथैव अनुपपन्न है । कदाचित् मोह अज्ञान से वर्णाश्रम के नियत जो नित्य नैमित्तिक कर्म हैं उनका त्याग कर दें तो यह तामस तमोजन्य अज्ञानात्मक कारण से जन्य हुआ इसलिए तादृश त्याग तम कारण कहा गया है एतादृश कर्मत्याग विपरीत ज्ञान हेतु है । अर्थात् एतादृश त्याग के तामस होने से मुमुक्षुव्यक्ति एतादृश त्याग कभी भी न करें, नियत कर्म का ही अनुष्ठान करें ।७।

अज्ञान मूलक त्याग को तामस बतला करके इसके बाद राजस त्याग के स्वरूप को बतलाने के लिये कहते हैं 'दुःखमित्यादि जो नित्य अग्नि होत्रादिक तथा सन्ध्यावन्दनादिक रूप शास्त्र से अवश्य कर्तव्यतारूप से विहित–प्रतिपादित यागादि कर्म हैं वे दुःखात्मक शरीरादि के अति अत्यास प्रयास साध्य होने से दु खात्मक ही हैं यह समझ करके काय

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ? ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ।९॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावीच्छिन्नसंशयः ।१०।

भयात् स्नानोपवासादितपोभिः कायक्लेशो भवत्येवातस्तद्भयाद्यस्त्यजेत् स राजसं रजः प्रधानं त्यागं कृत्वा त्यागफलं ज्ञानस्थितिलक्षणं नैव लभेन्न कदाचिदपि प्राप्नुयात् । कर्मज्ञानोभयनिष्ठयोरभावादुभयभ्रष्टतैव करगता भवतीति भावः ॥८॥

इदानीं स्वाभिमतं सात्विकं त्यागमाह कार्यमिति । हे अर्जुन ? कार्यमवश्यकर्तव्यमिति बुद्ध्या यन्नित्यादिकर्म सङ्गं तत्र ममतां तस्य फलं च त्यक्त्वा नियतमहरहोऽनुष्ठीयत एव स त्यागः सात्विको मतः । अस्य त्यागस्य भगवदुपासनोपचायकत्वमिति तदर्थः ॥९॥

इदानीं सात्विकत्यागसम्पन्नस्य सर्वश्रेष्ठत्वं विवक्षुस्तल्लक्षणमभिधत्ते नेति ।

क्लेश के भय से अर्थात् स्नान व्रतोपवास तपस्या से शरीर को क्लेश होता ही है अतः तादृश भय से जो व्यक्ति शास्त्र विहित नित्यादि कर्म का परित्याग करता है वह व्यक्ति राजस रजोगुण प्रधानक तादृश त्याग करके त्याग का जो फल है ज्ञानस्थिति लक्षण उस फल को कदाचिदपि प्राप्त नहीं करेगा क्योंकि ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठा के अभाव होने से उभय भ्रष्टता ही करगता होती है अर्थात् एतादृश व्यक्ति दोनों मार्ग से पतित हो जाता है ॥८॥

तामस राजस त्याग का स्वरूप कथन करके ततः पर स्वकीय अभिमत जो सात्विक त्याग है उस के स्वरूप को बतलाने के लिये कहते हैं 'कार्यमित्यादि' हे अर्जुन ? कार्य है यह नित्यादिक कर्म हम से अवश्य कर्तव्य है जिसलिए शास्त्र विहित तथा मोक्षोपयोगी है इत्याकारक बुद्धि के द्वारा जो नित्य नैमित्तिक वर्णाश्रमोचित जो कर्म है उस कर्म में संग अर्थात् बुद्धि को तथा उन कर्मों का जो स्वर्गादिक फल है तादृश फल को छोड़ करके नियत प्रतिदिन तादृश कर्म का अनुष्ठान करता ही है अर्थात् कर्मानुष्ठान को तो नहीं छोडता है किन्तु कर्म के साथ ममता बुद्धि को तथा कर्मजनित फल का त्याग करता है इस त्याग का नाम है सात्विक त्याग । यह जो त्याग है वह भगवान् की जो उपासना है उसका उपचायक है इसलिये सात्विक है अतः यह अवश्य कर्तव्य है ॥९॥

सात्विक त्याग से विशिष्ट जो साधक विशेष है वह सर्व श्रेष्ठ है इस विषय को

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

तस्य नित्यस्य नैमित्तिकस्य च कर्मणः संन्यासः स्वरूपत्यागो नोपपद्यते । "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः" (गी० ३) इत्युक्तयज्ञशिष्टाशनालाभात् "ते त्वघं भुञ्जते पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" (गी० ३) इत्युक्तपापाशनप्रसक्तेश्च नित्यनैमित्तिककर्मणः स्वरूपत्यागानुपपत्तिः । मोहादज्ञानात्तस्य वर्णाश्रमनियतस्य कर्मणः परित्यागस्तामसस्तमोजन्याज्ञानकारणकत्वेन तमोहेतुकः परिकीर्तितः । तादृशः कर्मत्यागो विपरीतज्ञानहेतुरेवेत्यर्थः ॥७॥

राजसत्यागमाह दुःखमिति । यन्नित्याग्निहोत्रादिसंध्यावन्दनादिरूपमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्म दुःखमित्येवात्यायाससाध्यत्वेन दुःखात्मकमस्तीत्येव कायक्लेश॰

इसके बाद ब्रह्म विद्या का उपचायक तत्व ज्ञान के नित्य प्रति वर्धनशील वर्णाश्रम के नियत काम्य कर्म वर्जित नित्य कर्म का परित्याग नहीं है अपितु तादृश त्याग तामस त्याग है इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं 'नियतस्येत्यादि' श्लोक में जो तु शब्द है वह काम्य कर्म का निराकरण करता है नियत वर्णाश्रमोचित अर्थात् वर्णाश्रमों के लिये नियत अवश्य कर्तव्य जो नित्य नैमित्तिक अग्नि होत्र सन्ध्यावन्दनादिक तथा जातेष्टि राहूपराग सम्बद्ध स्नान-दानादिक एतादृश नित्य नैमित्तिक कर्म हैं इनका संन्यास स्वरूप त्याग नहीं हो सकता है क्योंकि नित्यकर्म का भी त्याग कर दें तो शरीर यात्रा का निर्वाहक तथा ज्ञान का उपचायक 'यज्ञशिष्टाशिनः' इत्यादि भगवदाज्ञा प्राप्त जो यज्ञ शिष्टान्न भक्षणादिक है उसका बाध हो जायगा और भोजन के बिना जीवन का निर्वाह नहीं होने से तदर्थ आत्मपोषणार्थ पाचनादि क्रिया में जरूर प्रवृत्त होगा तब 'भुञ्जते ते त्वघं पापा" इत्यादि भगवदुक्ति के अनुसार पाप अशन की अनिष्ट प्रसक्ति भी होगी । इस लिये नित्य नैमित्तिक कर्म का स्वरूप त्याग सर्वथैव अनुपपन्न है । कदाचित् मोह अज्ञान से वर्णाश्रम के नियत जो नित्य नैमित्तिक कर्म हैं उनका त्याग कर दें तो यह तामस तमोजन्य अज्ञानात्मक कारण से जन्य हुआ इसलिए तादृश त्याग तम कारण कहा गया है एतादृश कर्मत्याग विपरीत ज्ञान हेतु है । अर्थात् एतादृश त्याग के तामस होने से मुमुक्षुव्यक्ति एतादृश त्याग कभी भी न करें, नियत कर्म का ही अनुष्ठान करें ।७।

अज्ञान मूलक त्याग को तामस बतला करके इसके बाद राजस त्याग के स्वरूप को बतलाने के लिये कहते हैं 'दुःखमित्यादि जो नित्य अग्नि होत्रादिक तथा सन्ध्यावन्दनादिक रूप शास्त्र से अवश्य कर्तव्यतारूप से विहित—प्रतिपादित यागादि कर्म हैं वे दुःखात्मक शरीरादि के अति अभ्यास प्रयास साध्य होने से दुःखात्मक ही हैं यह समझ करके काय

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ?।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ।९॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावीच्छिन्नसंशयः ।१०।

भयात् स्नानोपवासादितपोभिः कायक्लेशो भवत्येवातस्तद्भयाद्यस्त्यजेत् स राजसं रजः प्रधानं त्यागं कृत्वा त्यागफलं ज्ञानस्थितिलक्षणं नैव लभेन्न कदाचिदपि प्राप्नुयात् । कर्मज्ञानोभयनिष्ठयोरभावादुभयभ्रष्टतैव करगता भवतीति भावः ॥८॥

इदानीं स्वाभिमतं सात्विकं त्यागमाह कार्यमिति । हे अर्जुन ! कार्यमवश्यकर्तव्यमिति बुद्ध्या यन्नित्यादिकर्म सङ्गं तत्र ममतां तस्य फलं च त्यक्त्वा नियतमहरहोऽनुष्ठीयत एव स त्यागः सात्विको मतः । अस्य त्यागस्य भगवदुपासनोपचायकत्वमिति तदर्थः ॥९॥

इदानीं सात्विकत्यागसम्पन्नस्य सर्वश्रेष्ठत्वं विवक्षुस्तल्लक्षणमभिधत्ते नेति ।

क्लेश के भय से अर्थात् स्नान व्रतोपवास तपस्या से शरीर को क्लेश होता ही है अतः तादृश भय से जो व्यक्ति शास्त्र विहित नित्यादि कर्म का परित्याग करता है वह व्यक्ति राजस रजोगुण प्रधानक तादृश त्याग करके त्याग का जो फल है ज्ञानस्थिति लक्षण उस फल को कदाचिदपि प्राप्त नहीं करेगा क्योंकि ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठा के अभाव होने से उभय भ्रष्टता ही करगता होती है अर्थात् एतादृश व्यक्ति दोनों मार्ग से पतित हो जाता है ॥८॥

तामस राजस त्याग का स्वरूप कथन करके ततः पर स्वकीय अभिमत जो सात्विक त्याग है उस के स्वरूप को बतलाने के लिये कहते हैं 'कार्यमित्यादि' हे अर्जुन ! कार्य है यह नित्यादिक कर्म हम से अवश्य कर्तव्य है जिसलिए शास्त्र विहित तथा मोक्षोपयोगी है इत्याकारक बुद्धि के द्वारा जो नित्य नैमित्तिक वर्णाश्रमोचित जो कर्म है उस कर्म में संग अर्थात् बुद्धि को तथा उन कर्मों का जो स्वर्गादिक फल है तादृश फल को छोड़ करके नियत प्रतिदिन तादृश कर्म का अनुष्ठान करता ही है अर्थात् कर्मानुष्टान को तो नहीं छोडता है किन्तु कर्म के साथ ममता बुद्धि को तथा कर्मजनित फल का त्याग करता है इस त्याग का नाम है सात्विक त्याग । यह जो त्याग है वह भगवान् की जो उपासना है उसका उपचायक है इसलिये सात्विक है अतः यह अवश्य कर्तव्य है ॥९॥

सात्विक त्याग से विशिष्ट जो साधक विशेष है वह सर्व श्रेष्ठ है इस विषय को

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

सत्वसमाविष्टः सत्वेनात्मज्ञानसाधनभूतेन समाविष्टः सम्पन्नोऽत एव मेधावी यथार्थज्ञानधारणोऽत एव छिन्नसंशयस्त्यागी कर्मणि ममत्वफलासक्तिकर्तृत्वबुद्धीनां त्यागी भगवदनुध्यानयुक्तोऽकुशलं कर्मानिष्टफलदं कर्म नैव द्वेष्टि कुशले कामनाधिकृत ऐहिके पारलौकिकेच कर्मणि नानुषज्यते स्वकीयासक्तिं न करोति । परमपुरुषनिविष्टचेतस्त्वात्तथाविधकर्मसु रागद्वेषशून्यत्वादिति भावः ।।१०।।

प्रोक्तमुपपादयति न हीति । देहभृता शरीरं भरणपोषणादिकर्मभिर्धारयता पुंसाऽशेषतः कात्स्न्र्येन कर्माणि न हि त्यक्तुं शक्यम् शरीरधारणोपयोगिनामशनपानादीनां कर्मणां त्यक्तुमशक्यत्वादिति भावः । कथं तर्हि कर्मत्यागश्रुतिः संगच्छतामत आह—यस्त्विति । यः कर्मस्वरूपज्ञानी पुरुषः कर्मफलत्यागी फलकर्तृत्वाभिमानरहितो भगवदाज्ञापालनमात्रमेव मत्कर्तव्यमिति निश्चित्य कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि फलसङ्गविवर्जितः स एव त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

कहने की इच्छा वाले भगवान् तादृश व्यक्ति का लक्षण बतलाते हैं 'न द्वेष्टीत्यादि' सत्व से समाविष्ट अर्थात् सत्व से आत्मा के यथार्थ ज्ञान के उपाय से समाविष्ट संपन्न अर्थात् युक्त अत एव मेधावी यथार्थ ज्ञानवान् अत एव विनष्ट है सभी प्रकार का संदेह जिसका ऐसा त्यागी कर्म में ममत्व बुद्धि को फलासक्ति को तथा कर्तृत्व बुद्धि को छोडनेवाला तथा भगवान् की उपासना में सर्वदा अनुरक्त व्यक्ति अशुभ अनिष्ट फल को देनेवाला जो कर्म है उस कर्म के साथ द्वेष नहीं रखता है तथा कुशल कामनाविशिष्ट जो इहलोक में होने वाला अथवा परलोक में होने वाला फल जनक कर्म है उस में अनुषज्जित नहीं होता है अर्थात् उपरोक्त कुशल कर्म में आसक्ति नहीं करता है अर्थात् एतादृश व्यक्ति भगवान् में अन्तः करण के निविष्ट हो जाने से एतादृश कुशलाकुशल कर्म में रागद्वेष रहित हो जाता है ।।१०।।

कथित पदार्थ का ही पुनः उपपादन करते हैं 'नहि देह भृतेत्यादि' देह धारी अर्थात् शरीर को भरण पोषणादि कर्म द्वारा धारण करनेवाले पुरुष अशेष संपूर्ण रूप से कर्म का त्याग नहीं कर सकते हैं क्योंकि शरीर को धारण करने में उपयोगी जो भोजन जलपान पानादि कर्म है उसका त्याग करना तो सर्वथा अशक्य है । यदि कर्म का त्याग अशक्य है तब कर्म त्याग प्रतिपादक वाक्य की क्या गति होगी इस जिज्ञासा के उत्तरमें कहते हैं 'यस्तु' इत्यादि । जो कर्म स्वरूप को जाननेवाला पुरुष कर्म फलत्यागी है अर्थात् फल प्राप्ति के कर्तृत्वाभिमान रहित है यानी भगवान् की आज्ञा का परिपालन करना मात्र ही मेरा कर्तव्य है

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित् ।।१२।।
पञ्चैतानि महाबाहो ? कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१३।।

ननु फलेच्छामन्तराऽपि नित्यादिकर्मणामनुष्ठानेऽवश्यं फलनिष्पत्तिरवश्यमेव च तद्भोगाय संसृतिरिति कैवाशा निःश्रेयसस्येत्याशङ्कायामाह अनिष्टमिति । अनिष्टमनभिमतदुःखोत्पादकं नरकादिकमिष्टं सुखजनकं स्वर्गादिमिश्रञ्चैहिकपुत्रराज्याद्येतत् त्रिविधं कर्मणः शुभाशुभकर्मणः फलमत्यागिनां कर्तृत्वममत्वफलाशात्यागरहितानाम्भवति न तु सन्न्यासिनां क्वचित् । भगवत्प्रपन्नानां मुमुक्षूणान्तु मोक्षातिरिक्तं किमपि फलं न भवतीत्यर्थः ।।१२।।

एवं कर्मफलासक्तानामेव कर्मबन्धाय भवति न तु फलाशाशून्यानामित्युपपाद्य

इस प्रकार निश्चय करके फल प्राप्ति आशा से विवर्जित हो करके सर्वदा सत् कर्म का अनुष्ठान करता है वही व्यक्ति वास्तविक त्यागी कहा जाता है ।।११।।

फलविषयक इच्छा के विना भी नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मों का अनुष्ठान करने से उन कर्मों का जो फल है वह तो अवश्यमेव होगा 'अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः' इस न्याय से यह अग्नि है यह मेरा हाथ जला देगा इत्याकारक इच्छा नहीं रहने पर भी अग्नि के साथ स्पर्श हो जाने पर दाह होता ही है इसी प्रकार जब कर्म का अनुष्ठान करेगा तब उसका फलोपभोग तो अवश्यमेव होगा तब मोक्ष की आशा तो अति दूर हो जाती है इस शंका के उत्तर में कहते हैं "अनिष्टमिष्टञ्चेत्यादि" अनिष्ट अनभिमत दुःख के उत्पादक नरकादि लक्षण कर्म फल तथा इष्ट सुख का उत्पादक स्वर्गादिक कर्म फल एवं मिश्र मिलित दुःखाधिक लेशतः सुख जनक ऐहिक पुत्र कलत्र राज्यादिक कर्मफल इस प्रकार यह तीन प्रकार का शुभाशुभ कर्म का फल है वह यह कर्म फल अत्यागी कर्तृत्व ममत्व फलाशात्याग रहित पुरुष को ही प्राप्त होता है परन्तु जो संन्यासी हैं अर्थात् कर्तृत्व ममत्व फलाशाभि रहित हैं उनको कहीं कभी भी सांसारिक फलासा नहीं होता है यानी जो भगवान् की प्रपत्तिमान् संन्यासी मुमुक्षु हैं उनको तो मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कोई भी फल नहीं होता है । कर्म फल का उत्पादक अवश्यमेव होता है वह ठीक है परन्तु जिसे कर्तृत्वाभिमान है तथा फल विषयिणी इच्छा रहती है तादृश व्यक्ति से संपादित कर्म ही स्वफल देने में समर्थ होता है और जिसे आसक्ति या फलेच्छा नहीं है तत्कृत कर्म का मोक्ष मात्र ही फल होता है ।।१२।।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथक् विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।१४।

सम्प्रति फलाशाराहित्यस्य सुकरोपायप्रदर्शनार्थमुपक्रमते पञ्चेति । हे महाबाहो ! सांख्ये सम्यक् ख्यायन्ते प्रकथ्यन्ते चिदचिदीश्वरतत्वानि यस्मिन् तत्सांख्यं तस्मिन् कृतान्ते कृतोऽन्तो निर्णयो यत्रासौ कृतान्तः सिद्धान्तस्तस्मिन् वेदान्तशास्त्रोपपादित-सिद्धान्ते सर्वकर्मणां हेयोपादेयानां सर्वेषां कर्मणां सिद्धये समुत्पत्तये प्रोक्तानि सम्यक् प्रतिपादितान्येतानि वक्ष्यमाणानि पंच कारणानि मे सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः परमात्मनः सकाशान्निबोधनिश्चयपूर्वकमवगन्तुं सावधानो भव ॥१३॥

प्रतिज्ञातमर्थमाह अधिष्ठानमिति । अधिष्ठीयते भगवच्छरीरभूतेनात्मना यस्मिंस्त-दधिष्ठानं भोगायतनं शरीरं तथा कर्ता क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वमस्य 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इत्या-

जो व्यक्ति कर्मफल में आसक्तिमान है उस पुरुष से संपा दित जो कर्म तादृश कर्म ही बन्ध का जनक होता है न तु फलाशारहित पुरुष से किया हुआ कर्म बन्ध जनक होता है इस बात का उपपादन करके संप्रति फलाशारहित व्यक्ति के लिए अति सरल उपाय को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं "पञ्चैतानी त्यादि हे महाबाहो अर्जुन ? सांख्य में समीचीन रूप से ख्यापित हो अर्थात् कथित हो चित्त ज्ञान शक्तिमान् जीव अचित् अव्यक्त से लेकर घटादि महाभूत पर्यन्त जड पदार्थ तथा जड चेतन एतदुभयशरीरक इन दोनों का नियामक सर्वान्तर्यामी परमात्मा श्रीराम लक्षण तत्त्व जिसमें उसका नाम होता है सांख्य उस सांख्य वेदान्त में नतु कपिल प्रतिपादित शास्त्र विशेष दर्शन उस में तथा कृतान्त में किया गया है अन्त निर्णय जिसमें उसका नाम है कृतान्त सिद्धान्त उस कृतान्त सिद्धान्त में अर्थात् वेदान्त शास्त्र से प्रतिपादित सिद्धान्त में । सभी कर्मों का हेय उपादेय सभी कर्म की सिद्धि समुत्पत्ति के लिये प्रोक्त है प्रतिपादित किया गया है वक्ष्यमाण जो पांच अधिष्ठानादि कारण हैं उन कारणों को मुझ सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा के समीप से जानो । निश्चय पूर्वक समझने के लिए सावधान हो जाओ । अर्थात् सभी प्रकार के कर्म की उत्पत्ति जो होती है वह अधिष्ठाना-दिक पांच कारणों से ही होती है जायमान सकल पदार्थ के प्रति ये पांच कारण हैं उसे तुम सावधान हो कर सुनो मै यथावत् उन का प्रतिपादन करता हूं ॥१३॥

कार्य मात्र की उत्पत्ति में पांच अधिष्ठानादिक कारण होता है उसे तुम सुनो ऐसा भगवान् ने गत श्लोक में कहा उसी प्रतिज्ञात पदार्थ का प्रातिस्विक रूप से कथन करने के लिये प्रक्रम करते हैं "अधिष्ठानमित्यादि" भगवान् के शरीर भूत आत्मा कर्मफल का भोग

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः १५।

द्यनुशासनमिद्धं करणञ्च पृथग्विधं विविधव्यापारप्रवीणं द्विविधमपि बाह्यान्तः करणं विविधाश्च पृथक्चेष्टाः प्राणनादयो व्यापारा ह्यत्र चेष्टापदेन लक्ष्यन्ते । एवं कारण-चतुष्टयमुक्त्वा विशिष्टं पञ्चममाह दैवमिति । अत्र कारणग्रामे पंचमं पञ्चसंख्या-पूरणश्च दैवमेव देवः सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरको हृद्यवस्थितो महापुरुषपदवाच्यो भगवान् श्रीराम एव । अस्यैव चाखिलकर्मनिष्पत्तौ हेतुत्वं वेदान्तप्रतिपाद्यमेतदायत्तत्वाज्जीवो-पकरणकरणकलेवरादीनामिति श्रुतिस्मृतीतिहासाद्यनुमोदितः पन्थाः ।।१४।।

करने के लिए अवस्थित रहे जिसमें उसे अधिष्ठान कहते हैं अर्थात् भोग का आयतन आधार भूत पाञ्च भौतिक शरीर ही अधिष्ठान कहलाता है इस शरीर का ग्रहण किये बिना भगवद्-चयव यानी शरीर भूत जीव फलोपभोग करने में समर्थ नहीं होता है तो पाच कारणों में से यह शरीर प्रथम कारण है । इसी प्रकार कर्म क्रिया में स्वतन्त्र यह जीव द्वितीय कारण हैं । जीव में कर्तृत्व "कर्ता शास्त्रार्थवत्वात" इस ब्रह्मसूत्र तथा अनेक प्रकारक श्रुति स्मृति से प्रसिद्ध है यदि कदाचित् जीव को कोई कर्ता न माने तो "स्वर्ग कामो यजेत" "आत्मानम् उपासीत" इत्यादि पारलौकिक फलक कर्म प्रतिपादक श्रुति तथा मोक्ष प्रतिपादक श्रुतियों का नैरर्थक्य हो जायगा तथा कारण अनेक प्रकारक अर्थात् अनेक प्रकारक व्यापार के संपादन में प्रवीण बाह्य चक्षु रादिक तथा अन्तः करण मन यह तृतीय कारण है । तथा अनेक प्रकार की चेष्टा प्राणनादिक व्यापार यहाँ चेष्टापद से संगृहीत होते हैं यह चतुर्थ कारण है कार्य मात्र के प्रति ।

इस प्रकार से चार कारण का कथन करके विशिष्ट पंचम कारण बतलाते हैं "दैव-मिति" यहाँ कारण समुदाय में पांच पञ्च संख्या के पूरण दैव देव अर्थात् सर्व के अन्त-र्यामी सभी को प्रेरणा करनेवाले सभी प्राणी के हृदय देश में अवस्थित महापुरुष पद वाच्य भगवान् श्रीराम ही हैं यही महापुरुष श्रीराम ही अखिल कार्य की उत्पत्ति मे निदान कारण है यही भगवान् सर्व वेदान्त से साक्षात् परम्परया प्रतिपादित हैं और इन्हीं भगवान् के अधीन जीव तथा जीव का करण कलेवर है यही मार्ग श्रुति स्मृति प्रतिपादित राजमार्ग है । इस श्लोक में देव शब्द से अनेक टीका कारों ने पृथिव्याद्यधिष्ठातृ देवो का ग्रहण किया है किसी ने दैव शब्द का अदृष्ट अर्थ किया है परन्तु इन सभी का समावेश परमपुरुष में हो जाता है क्योंकि सभी का व्यापार परमेश्वराधीन है । इसलिये भाष्यकार ने लिखा है कि "श्रुतिस्मृतीति-हासाद्यनुमोदितः पन्था." "सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नमिति" यह लौकिक न्याय तो है ही ।।१४।।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

इदानीं तेषां सर्वकर्महेतुत्वमाह शरीरेति । नरो मनुष्यः शरीरवाङ्मनोभिः यत्कर्मप्रारभते निर्वर्तयति तत्कर्म न्याय्यं शास्त्रानुमोदितं वा भवेद् विपरीतं शास्त्रविपरीतं निषिद्धं वा भवेत् तस्य कर्मण एते पूर्वोक्ताः पञ्च हेतवो भवन्तीत्यर्थः ॥१५॥

अधिष्ठानादिनिरूपणस्य फलमाह तत्रेति । एवमधिष्ठानादिपञ्चहेतुके सर्वस्मिन् कर्मणि सति तत्र केवलमात्मानं कर्तारमस्य कर्मणोऽहमेवकर्त्ता नान्यः कश्चिदिति यः पश्यत्यवगच्छति सोऽकृतबुद्धित्वाद् गुरुशास्त्रोपदेशरहितबुद्धित्वाद् दुर्मतिहतोऽस्यात्मनः कर्तृत्वस्य परमपुरुषायत्तत्वं करणकलेवराणामपि भगवन्नियमनायत्तत्वमिति पारमार्थिकीं वस्तुस्थितिं न पश्यति । अस्य च दुष्टबुद्धेरयथार्थदर्शिनो न जगद्बन्धान्निवृत्तिरिति भावः ॥१६॥

कार्यमात्र के प्रति कारणीभूत जो पांच कारण हैं उनका जो स्वरूप है तादृश स्वरूप का प्रतिपादन करके अब कार्यमात्र के प्रति कारणता का प्रतिपादन करने के लिये प्रक्रम करते हैं "शरीरेत्यादि" नर अर्थात् कर्माधिकारी मनुष्य शरीर वाणी मन के द्वारा जो कुछ कार्य का आरंभ संपादन करता है चाहे वह कर्म न्याय्य हो अर्थात् वेदादि शास्त्र के अनुकूल हो अथवा वेदादिशास्त्र के विपरीत हो उन सभी कर्म के प्रति पूर्व कथित अधिष्ठान शरीरकर्ता करण अनेक प्रकारक चेष्टा तथा दैव ये ही पांच होते हैं इससे अधिक अथवा इससे न्यून कारण नहीं है । यही भगवान् का अभिप्राय है ॥१५॥

कर्ममात्र के निष्पादन करने में अधिष्ठानादिक पांचों में कारणता का प्रतिपादन करके इसका निरूपण करने का क्या प्रयोजन है इस प्रकार की जिज्ञासा के उत्तर में प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं "तत्रैवं सतीत्यादि" सभी कर्म अधिष्ठानादि पंचकारणत्वक होने से अर्थात् कर्ममात्र में ये पांचों कारण हैं इसकी सिद्धि होजाने पर उस कर्म में केवल इतर कारणानपेक्ष आत्मा को ही कर्ता मानता है अर्थात् अमुक कर्म का मैं ही कर्ता हूं हम से अन्य इसका कोई अन्य कारण नहीं है ऐसा जो जानता है वह अकृत बुद्धि होने से अर्थात् गुरुशास्त्रोपदेश से जायमान ज्ञानरहित होने से वह दुर्मति से हत है क्योंकि इस जीव में जो कर्तृत्व है वह भी परमपुरुष परमात्मा के ही अधीन है तथा करण कलेवर भी भगवदधीन स्थितिक है इस प्रकार के पारमार्थिक स्थिति को नहीं देखता है । ऐसा जो दुष्ट बुद्धिवाला अयथार्थदर्शी है उसे इस संसारबन्धन से कभी भी निवृत्ति नही होती है अर्थात् संसार चक्र में ही सदा भ्रमण करता रहता है क्योंकि वह वास्तविक वस्तु ज्ञान से रहित है ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कर्म्म कुर्वन्नपि कर्तृत्वाभिमानशून्यस्य न कर्मकृतो बन्ध इत्याह यस्येति । यस्य विरक्तस्य पुरुषस्य भावो मनो वृत्तिविशेषोऽहंकृतोऽतोऽहमेवास्य कर्म्मणः कर्त्तेत्यहंकार पूर्णो नास्ति यस्य बुद्धिर्न लिप्यते सर्वदानुष्ठेयकर्मसु यस्य बुद्धि र्ममैवैतत्कर्म्म तज्जन्यफलञ्चेति ममतां नाधत्ते स मुक्तसङ्गो विरक्तः पुरुष इमाँल्लोकान् हत्वापि विनाश्यापि न हन्ति हन्ता न भवति तत्क्रियाकर्म्मफलेन न निबध्यते । सुकृत दुष्कृतरूप फलं नोपभुज्यत इत्यर्तः ॥१७॥

एवं सात्त्विकत्यागं विस्तरेणाभिधायोद्रिक्तसत्त्वस्यैव पुंसः कर्म्माणि फलकर्तृत्वयोस्तत्र ममतायाश्च त्यागः सम्पद्यतेऽतः सत्वगुणस्योपादेयतासिद्धये त्रिविधकर्मविधिं तथा कर्मसङ्ग्रहञ्चोपदिशति ज्ञानमिति । ज्ञानं कर्मस्वरूपपरिज्ञानं ज्ञेयमनुष्ठेयं

जो व्यक्ति मैं ही क्रिया का कर्ता हूं, इत्याकारक कर्तृत्वाद्यभिमान शून्य है उसे कर्म करने पर भी कर्म से जायमान जो बन्धन वह नहीं होता है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "यस्यनाहमित्यादि" जिस विरक्त पुरुष विशेष का भाव मन अन्तकरण का वृत्तिविशेष अहंकृत नहीं है अर्थात् अहमेव मैं ही इस कर्म का कर्ता हूं एताद्दश अहंकार से पूर्ण नहीं है और जिनकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है अर्थात् सर्वदा अनुष्ठान करने योग्य कर्म में जिनकी बुद्धि मेरा ही यह कर्म है एतत्कर्म जन्यफल भी हमको ही मिलनेवाला है एताद्दश ममता को धारण नहीं करता है, एताद्दश मुक्त संग विरक्त पुरुष प्रत्यक्षाप्रत्यक्षलोक को मारकर के विनाशित करके भी मारता नहीं है अर्थात् हनन क्रिया का कर्ता नहीं बनता है न वा ताद्दश हनन क्रिया से होनेवाला जो फल उस फल से बद्ध ही होता है । यानी क्रिया जनित दुष्कृत तथा सुकृत फल का उपभोग नहीं करता है।१७॥

पूर्वोक्त प्रकार से विस्तारपूर्वक सात्विक त्याग का वर्णन करके ऊर्ध्वमुख है सत्वगुण जिस व्यक्ति का ताद्दश व्यक्ति को ही कर्म के फल में कर्तृता अंग में ममता का त्याग हो सकता है इस लिए सत्वगुण की उपादेयता के सिध्यर्थ तीन प्रकार की कर्म विधि को तथा कर्म संग्रह का कथन अर्थात् उपदेश करते हैं "ज्ञानं ज्ञेयमित्यादि" ज्ञान अर्थात् कर्मस्वरूप का परिज्ञान ज्ञेय जानने के योग्य अनुष्ठेय पदार्थ परिज्ञाता कर्म का जो स्वरूप उसे यथावत्

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि १९॥

कर्मणः स्वरूपस्य यथावद्वेदितेति कर्मचोदना ज्योतिष्टोमाद्यखिलकर्मबोधको विधिस्त्रिविधः । स चेह क्रियाप्रवर्तकत्वार्थकचोदनापदेन बोध्यते । एवं कर्माख्य सङ्ग्रहोऽपि त्रिःप्रकार एव । करणं क्रियानिष्पत्तये साधकतमं द्रव्येन्द्रियोपकरणादिसाधनानि । कर्मज्योतिष्टोमादिलक्षणमनुष्ठीयमानयागरूपम् । कर्ता फलस्वाम्यविशिष्टोऽधिकारी । यज्ञानुष्ठातेति यावत् । एवं विधिकर्मणोः संक्षिप्य निर्देशः कृतः ॥१८॥

एवं ज्ञानादीनां कर्मविधित्वं निरूप्य तेषु सात्विकस्यैव ग्राह्यतास्तीति विवक्षुस्तेषां सात्विकादिभेदान् दर्शयति ज्ञानमिति ज्ञानं विहितकर्मविषयकं कर्मानुष्ठेयं यत् तत् कर्ता कर्मानुष्ठानकर्ता च गुणभेदतः सत्वादिगुणानां पार्थक्येन तत्प्रभेदतस्त्रिधैव गुणसंख्याने सत्वादिगुणकार्यसंकलने प्रोच्यते तान्यपि गुणप्रभेदेन भिन्नानि ज्ञानादीन्यपि यथावच्छृणु सावधानमाकर्णय ॥१९॥

जानने वाला कर्त्ता इस प्रकार से कर्म चोदना अर्थात् अग्निहोत्र ज्योतिष्टोमादि सकलकर्म स्वरूप का बोधक विधायक वाक्य का त्रैविध्य है । क्रिया में प्रवर्तक जो वाक्य उसका नाम चोदना है चोदना पद से कहते हैं "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वाक्यमिति जैमिनीयाः" जो वाक्यक्रिया में प्रवर्तक हो उसे चोदना पद से कथन किया जाता है ऐसा पूर्वमीमांसा का मत है । इसी प्रकार से कर्मनाम के सग्रह भी तीन प्रकार के होते हैं उसमें जो वस्तु क्रिया की निष्पत्ति-उत्पत्ति में साधकतम हो उसे करण कहते हैं जैसे द्रव्य इन्द्रिय उपकरणादिरूप साधन ये सभी के सभी करण कहलाते हैं । कर्मज्योतिष्टोमादि लक्षण अनुष्ठीयमान यागादिक ये सब कर्म हैं । कर्ता फल स्वामिता विशिष्ट अधिकारी अर्थात् याग के अनुष्ठान करनेवाला कर्ता विशेष । इस पूर्वोक्त प्रकार से विधि तथा कर्म का संक्षेपपूर्वक निर्देश किया गया विशेषरूप मे पूर्वमीमांसा में देखे ॥१८॥

इस प्रकार से ज्ञान ज्ञेय तथा ज्ञाता में कर्मविधित्व का निरूपण करके उनमें से सात्विक जो ज्ञानादिक हैं उन्हीं की ग्राह्यता-मुमुक्षुओं से उपादेयता है इस बात को कहने की इच्छावाले भगवान् उन ज्ञान ज्ञेयादि के सात्विकादि भेद को बतलाने के लिये प्रक्रम करते हैं "ज्ञानं कर्म चेत्यादि" ज्ञान अर्थात् विहित जो यागादिक उनके स्वरूप को समझानेवाला ज्ञान तथा कर्म अनुष्ठान विषयीभूत यागादिकर्म कर्ता कर्मानुष्ठान करनेवाला अधिकारी यागजनित फल के भोक्ता । ये सब गुणभेद से सत्वादि गुण के पार्थक्य से तत्प्रभेद से गुणादिभेद से तीन प्रकार के ही गुणसंख्यान में सत्वादिक गुण का जो कार्य उसके संकलन में कहा जाता है

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

तत्र सात्त्विकज्ञानमाह सर्वभूतेष्विति । विभक्तेषु ब्राह्मणत्वादिजातिभिर्विभक्तेष्वन्योन्यं विलक्षणेषु सर्वेषु भूतेष्वेकं ज्ञानाकारतयाऽवस्थितं भावमात्मतत्त्वं येन ज्ञानेनाविभक्तं ब्राह्मणं क्षत्रियवैश्यादिभेदरहितमव्ययं निर्विकारमीक्षतेऽवलोकयति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥२०॥

राजसज्ञानमाह पृथक्त्वेनेति । तु शब्दोऽस्य सर्वस्मादपकृष्टत्वं द्योतयति ।
अर्थात् गुण तीन प्रकार के हैं सत्वगुण रजोगुण तमोगुण तो इनका कार्य भी ज्ञानादि सात्विक राजस तथा तामस तीन प्रकार के हैं एवं ज्ञेय तथा ज्ञाता में भी तीन तीन भेद को जानना चाहिये । ये गुणभेद से भिन्नज्ञान ज्ञेयादिक भी भिन्न हैं इस बात को हे अर्जुन ! सावधान हो करके हमसे यथावत् सुनो ॥१९॥

ज्ञानादि का सात्विकादि भेद से तीन भेद बतलाये गये । उनमें सर्व प्रथम सात्विक ज्ञान के स्वरूप को बतलाने के लिये कहते हैं "सर्वभूतेषु" इत्यादि । विभक्त परस्पर भिन्न में ब्राह्मण क्षत्रियत्वादि जाति के द्वारा विभक्त अन्योन्य विलक्षण सभी भूतों में ज्ञानाकारतया एक रूप से अवस्थित वर्तमान भाव को आत्मतत्व को जिस ज्ञान के द्वारा अभिभक्त पार्थक्य रहित अर्थात् यह ब्राह्मण है यह क्षत्रिय है इत्याकारक भेद से विवर्जित तथा अव्यय ब्राह्मणादि शरीर के विकारी होने पर भी सर्वत्र समवस्थित विकार रहित आत्मा को देखता है समीचीन रूप से अवलोकन करता है एतादृश जो ज्ञान उसे तुम सात्विक ज्ञान समझो । अर्थात् अनेक जीव हैं ब्राह्मण देवादि भेद से भिन्न भिन्न हैं परन्तु उस आत्म तत्व को ज्ञानाकार से प्रत्येक अधिकारी के देह में एकरूप से तथा भगवदवयवता के कारण समानता को जिस बुद्धि के द्वारा जाना जाता है तथा विकारी देह में अवस्थित होने पर भी स्वरूपतः निर्विकार देखता है वह सात्विक ज्ञान है क्योंकि यह ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है इसलिये इसे सात्विक ज्ञान कहते हैं ॥२०॥

उपर्युक्त प्रकार से सात्विक ज्ञान का जो स्वरूप है उसे बतला करके तदनन्तर राजस ज्ञान स्वरूप को बतलाने के लिये कहते हैं "पृथक्त्वेने त्यादि" यहाँ जो तु शब्द है वह इस राजस ज्ञान को पूर्वोक्त सात्विक ज्ञानापेक्षया अपकृष्टत्व कनिष्टता सूचन करता है अर्थात्

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥२३॥

यज्ज्ञानं सर्वेषु भूतेषु नानाभावान् ब्राह्मणत्वादिभेदेन नानाभूतानात्मनः पृथक्त्वेन पृथग्विधान् शरीरसम्बन्धान् भिन्नप्रकारांश्च वेत्ति तज्ज्ञानं राजसंविद्धि ॥२१॥

तामसज्ञानमभिधत्ते । यदिति । यत्तु ज्ञानमेकस्मिन् कार्येऽनुष्ठेये कर्मण्यतिक्षुद्रफले कृत्स्नफलवत्सक्तं समग्रफलप्रदे कर्मणीव सक्तमहैतुकं निष्कारणमतत्वार्थवत् । ज्ञानाकारेणैकरूपतयाऽवस्थितेऽप्यात्मनि वास्तविकार्थरहितमल्पमल्पफलजनकञ्च यद्भवति तज्ज्ञानं तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

एवं ज्ञानत्रैविध्यमुक्त्वा कर्मत्रैविध्यमाह—नियतमिति । नियतं वर्णाश्रमाचारतया

सात्विक ज्ञानापेक्षया राजस ज्ञान कनिष्ठ है । जो ज्ञान सभी भूत में ब्राह्मणादि अधिकारियों में नानाभाव अर्थात् ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्वादि भेद से नानाभूत आत्मा को पृथक् रूप शरीर सम्बन्ध से भिन्न प्रकारक जानता है ब्राह्मणादि शरीर में ब्राह्मणादि भेद से आत्मा को भी भिन्न रूप से जानता है तादृश ज्ञान राजस ज्ञान है ऐसा तुम समझो । प्रकृत में परस्पर पार्थक्य का ग्रहण किया गया है यद्यपि सर्वत्र ज्ञानाकार से आत्मा एक रूप है तथापि उस ज्ञान ने उसका भेद रूप से प्रदर्शन कराया ॥२१॥

सात्विक राजस ज्ञान का प्रतिपादन करके इसके बाद तामस ज्ञान को बतलाने के लिये प्रक्रम करते हैं "यत्तुकृत्स्नवदित्यादि" यहाँ भी तु शब्द जो है वह तामस ज्ञान को राजस ज्ञानापेक्षया कनिष्ठत्व का सूचक है । जो ज्ञान एक कार्य में अनुष्ठेय कर्म में जो प्रेत पूजनादि अत्यल्प फलक है उसमें जिस कर्म में संपूर्ण संपन्न है उस कर्म के समान इस कर्म में सक्त हो अर्थात् समग्र फलदायक कर्म के समान सक्त हो यही कर्म मुझे सब फल देगा इस बुद्धि से क्षुद्र फलक कर्म के मन में आसक्ति करानेवाला और अहेतुक बिना कारण के और अतत्वार्थवत् अर्थात् ज्ञानाकारता रूप से सर्वत्र अवस्थित भी आत्मा में वास्तविक अर्थ रहित और जो अल्पफल अति अल्प का जनक हो एतादृश ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं अति निकृष्ट होने से ॥२२॥

गत तीन श्लोकों से सात्विक राजस तामस इस प्रकार से ज्ञान के त्रैविध्य का प्रतिपादन करके क्रम प्राप्त कर्म के त्रैविध्य का प्रतिपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं "नियत-

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

विहितं सङ्गरहितं कर्तृत्वाद्यात्मकसङ्गविरहितं फलं प्राप्तुमिच्छतीति फलप्रेप्सुः फलप्रेप्सुर्न भवतीत्यफलप्रेप्सु स्तेनाफलप्रेप्सुना फलाभिसन्धिशून्येन पुरुषेणारागद्वेषतः कीर्त्यपकीर्त्तिहेतुकाभ्यां रागद्वेषाभ्यां विनाकृतं भगवदाराधनतयैव विहितमित्यर्थः। यत् कर्म तत् सात्त्विकमुच्यतेऽभिधीयते ॥२३॥

सात्त्विकं कर्माभिधाय राजसमाह—यदिति। यत्तु कर्म यत् पुनः कर्म कामेप्सुना फलाकांक्षिणा साहङ्कारेण वा पुनः। चार्थकोऽत्र वा शब्दः। अहमेवेदं कर्म करोमीत्यभिमानशालिना च पुरुषेण बह्वायासवीशिष्टं क्रियते विधीयते तत् राजसं रजोगुणहेतुकमुदाहृतमभिहितम् ॥२४॥

नित्यादि" नियत वर्णाश्रमाचाररूपेण शास्त्र से प्रतिपादित जो नित्याग्नि होत्र संध्यावन्दनादिक कर्म तथा संगरहित मैं ही इस कर्म का करनेवाला हूं इत्याद्याकारक आसक्ति से विवर्जित एवं फल की प्राप्ति करने की जो इच्छा है तादृश इच्छावान् को फल प्रेप्सु कहते हैं और फल प्रेप्सु न हो उसे अफल प्रेप्सु कहते हैं तादृश फलाभिसंधिविवर्जित पुरुष से किया हुआ तथा राग द्वेषवान् से नहीं किन्तु कीर्ति अपकीर्ति कारणक रागद्वेष रहित पुरुष से अनुष्ठीयमान अर्थात् केवल भगवान की आराधनारूप से विहित जो अग्नि होत्रादिक कर्म तादृश कर्म को सात्विक कर्म कहते हैं यानी फलेच्छा तथा राग द्वेष विरहित पुरुष से क्रियमाण केवल भगवदाराधन बुध्या संपाद्यमान जो अग्नि होत्रादिक कर्म है वह उत्कृष्ट फलक होने से सात्विक कर्म कहलाता है ॥२३॥

सात्विक कर्म का प्रतिपादन करके राजस कर्म को बतलाने के लिये कहते हैं "यत्तु कामेप्सुना" इत्यादि। जो कर्मफलकामनावान् पुरुष से संपादन किया जाय एवं साहंकार कर्ता से अर्थात् मैं ही एतादृश कर्म जो कि महान् धन व्यय से साध्य है मुझ से भिन्न ऐसा कौन है जो इस कर्म को संपादन कर सके एतादृश अहंकारवान् पुरुष से किया जाय। यहाँ "साहंकारेण वा" इस वाक्य में जो वा शब्द है वह च के अर्थ में प्रयुक्त है तब ऐसा अर्थ होता है कि जो कर्म फलेच्छावान् से किया जाय तथा साहंकार पुरुष से किया जाय और जो कर्म बहुलायास हो अर्थात् जिस कर्म के करने में करण कलेवर का प्रयत्न बाहुल्य हो एतादृश जो कर्म है वह रजोगुण मूलक होने से राजस कहलाता है यह कर्म पूर्वकर्मापेक्षया कनिष्ठ है इसी सात्विक कर्मापेक्षया राजस कर्म की कनिष्ठता का प्रतिपादक मूल में 'तु' शब्द है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिन्सामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।२५॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारःकर्तासात्विकउच्यते ।२६॥

अथ तामसं कर्माह=अन्विति। अनु पश्चात् करणानन्तरमित्यर्थः। बध्यते सम्बध्यत इत्यनुबन्धस्तं दुःखाद्यनिष्टं क्षयं द्रव्यादिनाशं हिंसां तस्मिन् प्राणिपीडां पौरुषं स्वस्मिन्नारब्धकर्मसमापनसामर्थ्यञ्चानपेक्ष्य मोहाद् भगवत्कर्तृत्वाज्ञानाद् यत् कर्मारभ्यते क्रियते तत् कर्म तामसं तमोगुणहेतुकमुच्यते ॥२५॥

कर्तुस्त्रैविध्यमाह मुक्तसङ्ग इति त्रिभिः। मुक्तसङ्गः फलकामनारहितोऽनहंवादी कर्तृत्वाहंकाररहितो धृत्युत्साहसमन्वितः कर्माचरणसमये प्राप्तस्यापरिहार्यदुःखस्य धारणं

सात्विक तथा तामस कर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करके तामस कर्म को बतलाने के लिये प्रक्रम करते हैं "अनुबन्धमित्यादि" अनुबन्ध अनु पश्चात् अर्थात् कार्य के संपादन करने के बाद बद्ध हो—संबध्यमान हो उसका नाम है अनुबन्ध अर्थात् दुःखादि अनिष्ट जिस कर्म के संपादन करने के बाद में दुःख हो तथा क्षय द्रव्यादि का विनाश अर्थात् जिस कर्म के अनन्तर में द्रव्याद्युपकरण शक्ति उत्साहादि का विनाश हो जाय हिंसा कर्म के अनुष्ठान काल में और कर्म फल की प्राप्ति में प्राणियों की पीडालक्षण हिंसा हो पौरुष अपना सामर्थ्य प्रारभ्यमान जो कर्म है उसकी समाप्ति की अपेक्षा न करके अर्थात् जिस कर्म का आरंभ किया परन्तु उसकी समाप्ति करने के सामर्थ्य का विचार न करले यह कर्म करने का हम को सामर्थ्य है अथवा नहीं है इस रूप से अपेक्षा विचार किये बिना ही जो कार्य किया जाय और मोह से जो कार्य किया जाय अर्थात् कार्यमात्र की सिद्धि भगवान् की कृपा से होती है कार्य मात्र के प्रति भगवान् परम पुरुष ही कर्ता है इस प्रकार की भगवत् कर्तृकता का विस्मरण करके जो कार्य आरभ्यमाण हो किया जाय एतादृश कर्म को तमोगुण हेतुक तामस कहते हैं। अर्थात् जिस कर्म में दुःख हो अन्धाधुन्ध द्रव्य व्यय हो प्राणियों की पीडा स्वकीय सामर्थ्य का विचार न करले भगवान् से सभी कार्य की सिद्धि होती है इसे विस्मृत करके जो कर्म किया जाय वह तामस कर्म कहलाता है ॥२५॥

ज्ञान तथा कर्म का सात्विकादि प्रभेद से त्रैविध्य का प्रतिपादन करके अनुष्ठाता के बिना कर्मसंपादन अशक्य है इसलिये इसके बाद कर्मानुष्ठाता कर्ता का भेद सात्विक राजस तामसरूप से बतलाने के लिये प्रक्रम करते हैं "मुक्तसंग" इत्यादि तीन श्लोकों से। कर्म

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

धृतिरुत्साहः कर्मणि लग्नमानसत्वं ताभ्यां समन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः फलसिद्धावसिद्धौ च विक्रियारहितः कर्ता कर्मानुष्ठाता सात्विक उच्यते ॥२६॥

राजसकर्तारमाह—रागीति । रागो विषयानुरागवान् कर्मफलप्रेप्सुः स्वर्गादिकर्मफलाभिलाषुको लुब्धः कर्मापेक्षितधनव्यये कृपणो हिंसात्मकः स्वकर्मनिष्पादयितुं परपीडकस्वभावोऽशुचिः कर्मानुकूलशौचशून्यो हर्षशोकसमन्वितः कर्मफललाभालाभप्रयुक्तहर्षशोकयुक्तः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितोऽभिहितः ॥२७॥

का संपादन करनेवाला अनुष्टाता मुक्तसंग हो अर्थात् अनुष्ठीयमान कर्म में फल कामना फलाभिलाषा से विवर्जित हो तथा अनहंवादी हो अर्थात् स्व से अनुष्ठीयमान कर्म में फल कामना फलाभिलाषा से विवर्जित हो तथा अनहंवादी हो अर्थात् स्व से अनुष्ठीयमान कर्म में मै ही इस कर्म को करने वाला हूं, इत्याकारक अहंकार से वर्जित हो धृति धैर्य तथा उत्साह से युक्त हो कर्म के आचरण समय में प्राप्त जो अपरिहार्य दुःख उसे धारण-सहन करने का नाम धृति है तथा कर्म में सलग्न मन होने का नाम उत्साह है एतादृश धृति तथा उत्साह से युक्त होवे और सिद्धि असिद्धि में निर्विकार हो अर्थात् अनुष्ठीयमान जो कर्म उस कर्म की फल सिद्धि अथवा फलासिद्धि में आनन्द शोकादिक मानसिक वृत्ति से विवर्जित हो भगवान् के आज्ञारूप शास्त्र का परिपालन करना मेरा कर्तव्य है इत्याकारक बुद्धि से युक्त हो एतादृश जो कर्म का अनुष्ठान करनेवाला कर्ता वह सात्विक कर्ता कहलाता है ॥२६॥

सात्विक कर्ता का स्वरूप निरूपण करके तदनन्तर राजस कर्त्ता का स्वरूप निरूपण करने के लिये कहते हैं—"रागीत्यादि" जो अनुष्ठीयमान कर्म का अनुष्टापक कर्ता रागी हो विषय विषयक अनुरागवान् अर्थात् श्रोत्रादि करणविषयीभूत शब्दादि विषयक विलक्षणानुरागवान् हो तथा कर्मफलेप्सु अनुष्ठीयमान कर्म के ऐहिक पारलौकिक स्वर्गादिरूप फल विषयक अभिलाषा रखनेवाला हो । तथा लुब्ध लोभी हो कर्म में अपेक्षित जितना आवश्यक हो उतने व्यय करने में कृपण हो । तथा हिंसात्मक हो अपने कर्म के निष्पादन करने में परपीडा करने वाला हो अर्थात् स्व से क्रियमाण कर्म में यदि किसी को पीडा करके भी अपने कार्य को संपन्न करनेवाला हो । तथा अशुचि हो कर्म के अनुकूल शुचिता पवित्रता से रहित हो तथा हर्ष शोक से युक्त हो कर्म फल के लाभ अलाभप्रयुक्त हर्षशोक से युक्त हो ऐसा जो कर्मकर्ता है वह राजस कहलाता है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतस्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।२८॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ? २९॥

तामसकर्तारमाह अयुक्त इति । अयुक्तोः विहितकर्मानर्हः प्राकृतः कर्मपरिज्ञानरहितः स्तब्ध आचार्यब्राह्मणादिपूज्यवर्गेष्वनम्रः शठः परप्रतारणवृत्तिको नैकृतिकः परक्लेशेन स्वार्थसाधनतत्परोऽलसोऽवश्यकर्तव्यकर्मणि प्रवृत्तिरहितो विषादी निरन्तरं मनस्तापकर्ता दीर्घसूत्री चातिविलम्बेन कर्मचालको यः कर्ता स तामसः कर्तोच्यते ।२८॥

ज्ञानकर्मकर्तॄणां त्रैविध्यमुक्त्वा बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यं गुणभेदेनाह–बुद्धेरिति । हे धनञ्जय ! बुद्धिर्विवेकपूर्वको निश्चयस्तस्याधृतिर्विघ्नबाहुल्येऽपि मनः स्थैर्यं तस्या

राजस कर्ता का स्वरूप निरूपण करके इसके बाद तामस कर्ता का स्वरूप निरूपण करने के लिए प्रक्रम करते हैं "अयुक्त" इत्यादि । जो कर्म के अनुष्ठान करनेवाला पुरुष अयुक्त हो अर्थात् शास्त्र प्रतिपादित जिस कर्म के अनुष्ठान को करना चाहता है उस कर्म का वस्तुतः अधिकारी न हो तथा प्राकृत हो अर्थात् जिस शास्त्रीय कर्म को वह करना चाहता हो पर उस कर्म के ज्ञान से रहित हो तथा स्तब्ध हो अर्थात् आचार्य ब्राह्मणादि पूज्यवर्ग में नम्रता रखनेवाला न हो उद्धत हो । तथा शठ हो दूसरों को ठगने का जिसका व्यापार हो तथा नैकृतिक हो पर को क्लेश उत्पन्न करके स्वार्थसाधन में तत्पर रहता हो तथा आलसी हो जो अवश्य कर्तव्य कर्म है उसमें भी प्रवृत्ति रहित हो जो विषादी हो अकारण निरन्तर मन में ताप करने वाला हो तथा दीर्घ सूत्री हो अतिविलंब से कर्म करने वाला हो अर्थात् जो कार्य घण्टे भर में होने वाला हो उसके लिए चार घण्टा को लगा करके ही कार्य का संपादन कर सके अथवा नहीं भी कर सके एतादृश उपर्युक्त विलक्षण लक्षण से युक्त जो कर्मानुष्ठाता है वह तमोगुण प्रधानक होने से तामस कर्ता है ॥२८॥

कर्मानुष्ठान में उपयोगी जो ज्ञान ज्ञेय कर्म ज्ञाता कर्मानुष्ठाता कर्म कर्ता इन सबों का गुण के न्यूनाधिक भाव से सात्विक राजस तामस भेद का यथावत् प्रतिपादन करके अर्थात् ज्ञान कर्म तथा कर्ता का जो त्रैविध्य है उसका प्रतिपादन करके सर्व कर्म के व्यवस्थापक शास्त्र जन्य अध्यवसाय लक्षण बुद्धि तथा धृति इन दोनों का भी सात्विकादिभेद से त्रैविध्य का प्रतिपादन करने के लिये उपक्रम करते हैं "बुद्धेर्भेदमित्यादि" हे धनञ्जय ? विवेक पूर्वक

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च यो वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥३१॥

धृतेश्चैव भेदं गुणतस्त्रिविधं पृथक्त्वेन मया प्रोच्यमानं त्वमशेषेण सावधानमनसा कार्त्स्न्येनाकर्णय ॥२९॥

सात्त्विकीं बुद्धिमाह प्रवृत्तिमिति । हे पार्थ ! प्रवृत्तिमैहिकपारलौकिकफलसाधनं धर्मंनिवृत्तिमपवर्गसाधनं धर्मञ्च कार्याकार्ये देशकालौ सम्प्रधार्य तदनुरोधेन कर्तव्या

जो निश्चय है उसे बुद्धि कहते हैं तथा विघ्न का बाहुल्य होने पर भी मन की स्थिरता रहे उसे धृति कहते हैं एतादृश जो बुद्धि तथा धृति इन दोनों का भेद गुण,सत्वादि पूर्वक जो भेद उस भेद त्रय को पृथक्त्व रूप से अर्थात् हेयोपादेय विवेक पूर्वक मुझ परमेश्वर से प्रतिपाद्यमान भेद को सावधान मन हो करके संपूर्ण रूप से यथावत् आप श्रवण करें ॥२९॥

प्रतिज्ञात जो बुद्धि तथा धृति का भेद त्रय है उसे स्पष्ट रूप से बतलाने के लिये प्रथमतः बुद्धि का त्रिभेदान्तर्गत प्रथम सात्विक बुद्धि का स्वरूप परिचयार्थ कहते हैं "प्रवृत्तिञ्चेत्यादि" हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को जाने यहाँ प्रवृत्ति शब्द का अर्थ है ऐहिक तथा पार लौकिक फल का साधनीभूत जो प्रवृत्ति लक्षण धर्म तथा निवृत्ति शब्द का अर्थ है अपवर्ग मोक्ष का साधनीभूत निवृत्ति लक्षण धर्म प्रवृत्ति निवृत्ति का साधन धर्म में दोनों प्रवृत्ति निवृत्ति शब्द लक्षणावृत्ति है जो बुद्धि प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण साधन धर्म द्वय को जानती है तथा कार्य अकार्य हेयकाल को देख करके देश कालानुकूल जो कर्तव्याकर्तव्य अर्थात् कर्तव्य योग्य है अथवा अयोग्य है ऐसा निर्धारण करना, तथा भय अभय अर्थात् भय तथा अभय के निमित्त को जानना बन्ध का कारण तथा मोक्ष अर्थात् मोक्ष का उपाय प्रतिदिन भगवान् का निदिध्यासन लक्षण कारण इन सब पदार्थों को यथावत् जो बुद्धि जानती है अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा ये सब वस्तुएँ जानी जाती हैं उस बुद्धि को सात्विक बुद्धि कहते हैं । यद्यपि समवाय सम्बन्ध से ज्ञान आत्मा रूपाधिकरण में है 'घट को देवदत्त जानता है' इस स्थल में आत्मा ही कर्ता होता है "घट को चक्षु से जानता है" यहाँ चक्षुर्ज्ञान क्रिया में करण कहलाता है इसी प्रकार से 'बुद्ध्या विजानाति'' इस स्थल में बुद्धि से जानता है तो बुद्धि करण है "नतु बुद्धि विजानाति" है बुद्धि में तो कर्तृत्व नहीं है किन्तु मन बुद्धि चक्षु प्रभृति तो ज्ञान का कारण है कर्ता नहीं है कर्ता तो आत्मा ही होती है तब

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिःसा पार्थ ? तामसी ३२॥

कर्तव्ये भयाभवे भयाभयनिमित्ते बन्धं बन्धनोपायं मोक्षं मुक्तेरुपायभूतमहरहोभगवन्निदिध्यासनञ्च या बुद्धिर्वेत्ति । अत्र कर्तृत्वमौपचारिकम् सा बुद्धिः सात्विकीत्यवेहि ॥३०॥

राजसीं बुद्धिमाह—ययेति । हे पार्थ ! यया बुद्धया पूर्वोक्तं धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव चायथावद् यथावस्थितस्वरूप न प्रजानाति सा बुद्धी राजसी ज्ञेया ॥३१॥

तामसीं बुद्धिमाह-अधर्ममिति । हे पार्थ ? या बुद्धिस्तमसावृता सत्वरजसी अभिभूयोद्रिक्ततमोगुणेनाच्छादिता । मोहव्याप्तेति यावत् । अधर्मं स्वाधः प्रापक

प्रकृत में जो कहते हैं जो 'बुद्धि जानती है" वह सात्विक है वह किस प्रकार बुद्धि में कर्तृत्व का प्रतिभास कैसे होता है तथापि ठीक है बुद्धि करण है ज्ञान के कर्ता नहीं है कर्ता तो जीव है परन्तु यहाँ प्रकरण के बल से औपचारिक प्रयोग है जैसे "पलंग सोता है" इस स्थल में "पलंग सोता है" इस स्थल में पलंग का अर्थ होता है लक्षणा के द्वारा पलग पर सोने वाला मनुष्य उसी प्रकार प्रकृत जीव के अति अन्तरंग है बुद्धि इसलिये बुद्धि में भी कर्तृत्व का प्रतिभासमात्र है न तु बुद्धि में ज्ञान का कर्तृत्व है बुद्धि तो ज्ञान में सर्वदा करण ही है । एतादृश बुद्धि का नाम है सात्विक बुद्धि ॥३०॥

सात्विक बुद्धि के स्वरूप को यथावत् प्रतिपादन करके तदनन्तर क्रम प्राप्त राजस बुद्धि के स्वरूप को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं "ययाधर्ममित्यादि" हे पार्थ ? जिस बुद्धि के द्वारा धर्म प्रवृत्ति लक्षण तथा अधर्म मोक्षोपयोगी धर्म उपासनादिक को तथा कार्य अकार्य कर्तव्य अकर्तव्य को अयथावत् जिसका जो स्वरूप है तादृशरूप से नहीं उस से विपरीत रूप से जानता है तद्विषयक ज्ञान नहीं होता है उस बुद्धि को रजोगुणक होने से राजसी बुद्धि कहते हैं ॥३१॥

सात्विक तथा राजस बुद्धि के स्वरूप का निरूपण करके क्रम प्राप्त तामस बुद्धि के स्वरूप का निर्वचन करने के लिये कहते हैं "अधर्ममित्यादि" जो बुद्धि तमोगुण से आवृत है अर्थात् सत्व गुण तथा रजोगुण को अभिभून (दबा) करके उद्भूत जो तमो गुण तादृश तमोगुण से आच्छादित है अर्थात् मोह से तमोगुण के कार्य लक्षण मोह से व्याप्त हो करके अधर्म स्व को अधः प्रापक नरकादिपात में कारण भूत पश्वादि हिंसा लक्षण अधर्म को धर्म मानती है अर्थात् अधर्म में धर्मत्व प्रकारिका शुक्ति का में रजतत्व प्रकारक ज्ञानरूपा है तथा वास्तविक

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्याधृतिः सापार्थसात्विकी ।३३।
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ? ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ ? राजसी ।३४।

निषिद्धलक्षणमेव धर्मं मन्यते सर्वार्थान् तत्वविरुद्धानेव वास्तविकान् मन्यते सा बुद्धिस्त्वया तामसी ज्ञेया ॥३२॥

सात्विकीं धृतिमाह—धृत्येति । हे पार्थ ! योगेन भगवद्ध्यानाभ्यासेनाऽव्यभिचारिण्या फलान्तरस्पृहारहितया यया धृत्या मनः प्राणेन्द्रियक्रिया मनसः प्राणानामिन्द्रियाणाञ्च क्रियास्तत्तद्विषयं प्रवर्तनरूपा धारयते सर्वतो वशीकृत्य स्वरूपे स्थापयति सा धृतिः सात्विकी ज्ञेया ॥३३॥

राजसीं धृतिमाह ययेति । हे अर्जुन ! फलाकांक्षी पुरुषः प्रसङ्गेन तत्तत्कर्माणि कर्तृत्वाद्यहंकारेण यया धृत्या धर्मकामार्थान् साधयितुं मनः प्राणेन्द्रियक्रिया धारयते न तु मोक्षं साधयितु सा धृती राजसी ज्ञेया ॥३४॥

सभी पदार्थ को अवास्तविक ही समझती है उस बुद्धि को तामसी बुद्धि कहते हैं। राजस तामस में इतना भेद है जो राजस ज्ञान पदार्थ को स्वकीय असाधारण धर्म विशिष्ट रूप से नहीं ग्रहण करता है और तामस ज्ञान पदार्थ को विपरीत रूप से जानता है। जैसे पिता में शत्रु ज्ञान होना यह तामस बुद्धि हैं ॥३२॥

सात्विकादि भेद से बुद्धि का त्रैविध्य बतला करके प्रतिज्ञात जो धृति उसका भी सात्विकादि प्रभेद से त्रैविध्य के निर्वचन करने के लिए प्रथमतः सात्विक धृति का स्वरूप बतलाते हैं "धृत्याययेत्यादि" हे पार्थ ! भगवान् का जो ध्यानाभ्यास लक्षण योग है उस से अव्यभिचारिणी परमपुरुषेतर देवतादि फलान्तर विषयक स्पृहा अभिलाषा से रहित जिस धृति से मन प्राण इन्द्रिय इनकी जो क्रिया तत्तद्विय के प्रति प्रवर्तन लक्षण क्रिया धारित होती है अर्थात् सभी तरफ से वशीकृत करके स्वविषय में स्थापित करती है एतादृश जो धृति उसके सत्वगुण मूलक होने से उसे सात्विकी कहते हैं ॥३३॥

सात्विक धृति का निर्वचन करके अतः पर में राजस धृति का निर्वचन करने के लिए कहते हैं "यया तु" इत्यादि। हे अर्जुन ! अनुष्ठीयमान जो कर्म है उस कर्म यानी यागादि से जायमान जो ऐहिक वा पारलौकिक फल तादृश फल विषयक अभिलाषावाला पुरुष प्रसंग

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ? तामसी ।३५।।
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ? ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।३६।।

तामसीं धृतिमाह—ययेति । हे पार्थ ! दुर्मेधा दुष्टदोषयुक्ता मेधा बुद्धिर्यस्य स पुरुषो दुर्मेधा विचारशक्तिशून्यो यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकं मनस्तापं विषादं दौर्मनस्यं मदं धनादिनिमित्तं दर्पं न कदापि मुञ्चति परिगणितेषु तमः कार्येष्वन्यतमं द्वयं त्रयं सर्वाणि वा धारयत्येव सा धृतिस्तामसी ज्ञेया ।।३५।।

एवं ज्ञानादीनां गुणतस्त्रैविध्यं निरूप्य कर्मफलस्य सुखस्यापि गुणकृतं त्रैविध्यमाह सुखमित्यादिभिश्चतुर्भिः । हे भरतर्षभ ! इदानीं सम्प्रति तु सुखं सात्त्विकादि-

से अर्थात् अनुष्ठीयमान तत्तत्कर्म में स्व में कर्तृत्वादि अहंकार से जिस धृति के द्वारा धर्म काम अर्थ का साधन करने के लिये मन प्राण इन्द्रिय क्रिया को धारण करता है न तु संसार निवृत्ति भगवद्धाम प्राप्तिलक्षण मोक्ष के साधन के लिये धारण करता है उसे राजसी धृति कहते हैं ।३४।

राजस धृति का निर्वचन करके इसके बाद तामसी धृति का निर्वचन करने के लिए कहते हैं "यया स्वप्नमित्यादि" हे पार्थ ! दुर्मेधा दुष्ट दोष से युक्त है मेधा बुद्धि जिसकी ऐसा जो पुरुष है उसे दुर्मेधा कहते हैं अर्थात् जिसमें विचार शक्ति का अभाव है ऐसा दुर्मेधा पुरुष जिस धृति के द्वारा स्वप्न निद्रादि दोष से जायमान मानसिक विभ्रम निन्द्रा वहिरिन्द्रिय की उपरमावस्था भयत्रास शोक प्रिय वियोग अप्रिय समागम जनित मानस वृत्ति विशेष तथा विषाद दौर्मनस्य गर्व धनयौवनादि मूलक दर्प अगर जन्मदरिद्र को धन वा स्थान प्राप्ति हो जाय तब जो उसे गर्व होता है वह । कदापि कभी भी नहीं छोडता है परिगणित जो तमोगुण का कार्य उन में से एक वा दो अथवा सभी को जो धारण करे ऐसी जो धृति है उसे तामसी धृति पूर्वाचार्यों ने कहा है ।।३५।।

पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञान ज्ञेयकता बुद्धि धृति का गुण से त्रैविध्य का कथन करके इसके वाद कर्म का फल जो सुख है उसका गुण प्रयुक्त त्रैविध्य वतलाने के लिये कहते हैं—"सुखमित्यादि" चार श्लोकों से । हे भरतर्षभ भरतवंश में श्रेष्ठ हे अर्जुन ? इदानीं सम्प्रति विद्यमान काल में सुख को यानी सात्विक राजस भेद भिन्न सुख के विषय में सुनो जिस सुख में अभ्यास से दीर्घ कालिक अभ्यास से रमित होता है अर्थात् प्रीति को प्राप्त करता है

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।३८॥

भेदापन्नं सुखं श्रृणवाकर्णय । यत्र यस्मिन् सुखेऽभ्यासाद् दीर्घकालाभ्यासाद् रमतेऽनतिशयां प्रीतिमधिगच्छति । दुःखान्तञ्चाखिलक्लेशनिवृत्तिञ्च निगच्छति नितरामवाप्नोति, यत् तत् सुखमग्रे सुखसाधनोपक्रमकाले विषमिव विषसदृशम् । अत्यन्तानुकूलमित्यर्थः । परिणामे स्वरूपाविर्भावकालेऽमृतमिव मरणविरोधित्वेनामृतसदृशं च भवति । आत्मबुद्धिप्रसादजमात्मविषयिकाया बुद्धेः प्रसादाद् विषयवैराग्यपूर्वकस्वात्मदर्शनसामर्थ्याज्जातं तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् । सात्त्विक तयाऽभिहितमित्यर्थः ॥३६॥३७॥

राजससुखमाह—विषयेन्द्रियसंयोगादिति । यत्तत्सुखं विषयेन्द्रियाणां संयोगात् विषयसन्निकृष्टेन्द्रियसम्प्रयोगजनितत्वादारम्भकालेऽमृतोपमं विषयोन्मुखेन्द्रियादीनामायासाभावात् क्षणिकसुखानुषंगित्वाच्चामृतमिव स्वादुतमं भवति, परिणामे विषमिव कायमनोबुद्धिक्षयप्रापकत्वाद्विषवद्विषमनिरयदुःखदायित्वाच्च तत्सुखं राजसं रजोगुणसम्बन्धिस्मृतम् ॥३८॥

तथा दुःखान्त अखिल समस्त क्लेश निवृत्ति को समीचीन रूप से प्राप्त कर लेता है न तु सासारिक सुखानुभव के बाद पुनः दुःख प्राप्त होता है जो सुख पहले सुख साधन के अभ्यास वैराग्यादि कारण के उपक्रम काल में तो विष के समान अत्यन्त प्रतिकूल के समान माल्हम पडता है और परिणाम काल में सुख रूप के आविर्भाव काल में अमृत के समान मरण के विरोधी होने से अमृत के समान प्रतिभासित होता है। पुनः वह सुख कैसा होता है तो आत्म बुद्धि प्रसाद से जायमान है अर्थात् आत्म विषयक जो बुद्धि है उसका प्रसाद विषय में जो वैराग्य है तादृश वैराग्य पूर्वक जो स्वात्मदर्शन है उसका जो सामर्थ्य तादृश सामर्थ्य से वह सुख जायमान है एतादृश जो सुख है उसे विद्वान् लोग सात्विक सुख कहते हैं ।३६।३७

सात्विक सुख का निरूपण करने के लिए उपक्रम करते हैं—"विषयेन्द्रिय संयोगादित्यादि" हे अर्जुन ! जो सुख विषय शब्दादिक इन्द्रिय श्रोत्रादि इनका जो संयोग विषय सम्बद्ध इन्द्रिय सम्बन्ध जनित होने से अग्रे आरंभकाल में अमृतोपम अमृत सदृश क्योंकि विषयोन्मुख इन्द्रिय के आयास के अभाव होने से क्षणिक सुख के सम्बन्ध से अमृत के समान सुस्वादु उत्तम प्रति-

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

तामससुखमाह यदिति । यत्सुखमग्रेऽनुभवारम्भकाले चादनुभवमध्येऽनुबन्धेऽनुभवावसाने चात्मनो मोहनमात्मनोवस्तुयाथार्थ्यज्ञानस्य नाशकं निद्रालस्यप्रमादोत्थश्च भवति तत्सुखं तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

इदानीमनुक्तस्यापि सर्वस्य त्रैगुण्यमस्तीति निगम्यते नेति एभिः प्रकृतिजैर्भगवच्छरीरभूतमायासमुद्भूतैस्त्रिभिर्गुणैर्यत्सत्त्वं प्राणिजातं मुक्तं सत्वादिगुणरहितं स्यात्तत्पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वान्येषु च नास्ति सर्वस्य जगतस्त्रि गुणात्मकत्वमस्त्येवेति भावः ॥४०॥

भासित होता है और परिणाम में फल के विपाक भोग समय में विष के समान शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि के नाशक होने से विष के समान विष है तथा नरक दुख देने वाला है एतादृश जो सुख है उसे राजस सुख कहते हैं ॥३८॥

सात्विक तथा राजस सुख का स्वरूप कथन करके क्रम प्राप्त तामसिक सुख का निर्वचन करने के लिये कहते हैं "यदग्रेचानुबन्धेचेत्यादि" जो सुख अग्रे अनुभव के आरंभकाल में अनुभव के मध्यकाल में एवम् अनुबन्ध अनुभव के अवसान के समय में आत्मा के लिये मोहक आत्मा को वस्तु का जो यथार्थ ज्ञान हैं उसका नाश करनेवाला निद्रा आलस्य तथा प्रमाद से जायमान जो सुख है उसे तामस कहते हैं तमोगुण प्रधानक होने से इसका नाम तामस सुख कहलाता है इस प्रकार सुख का त्रैविध्य प्रतिपादित होता है ॥३९॥

ज्ञान ज्ञेय तथा कर्ता प्रभृति पदार्थों में गुण भेद प्रयुक्त त्रैविध्य का प्रतिपादन किया गया । इसके बाद जो पदार्थ अनुक्त हैं उन सब में भी त्रैगुण्य है इस बात को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं "न तदस्ति" इत्यादि । प्रकृति जन्य सर्वेश्वर के शरीर लक्षण जो माया तादृश माया से जायमान जो यह तीन सत्वरजस्तम नामक गुण हैं इन गुणों से सत्व-प्राणी समुदाय मुक्त हो अर्थात् सत्वादि गुण से रहित हो ऐसा पृथिवी में मनुष्य में अन्तरिक्ष में देवताओं में अथवा एतदभिन्न स्थल में नहीं है सभी जगत् में त्रिगुणात्मकता है ही अर्थात् संसार में जितना कोई पदार्थ है सभी का सभी त्रिगुणात्मक माया का कार्य होने से त्रिगुणात्मक ही हैं जो पदार्थ हो और त्रिगुणात्मक नहीं हो ऐसा कोई पदार्थ इस दुनिया में नहीं है जो प्रकृतिजन्य गुणत्रय से रहित हो अपितु पदार्थमात्र त्रिगुणात्मक ही है ॥४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ? ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

एवं ज्ञानादीनां त्रैगुण्यमुक्त्वा सात्विकानां तेषामुपादेयत्वमभिहितम् । इदानीं सात्विकाधिकारिस्वरूपविवेचनाय ब्राह्मणादिवर्णानां स्वभावकृतं कर्म विविनक्ति ब्राह्मणेति । हे परन्तप ! ब्राह्मणक्षत्रियविशां विप्रराजन्यवैश्यानामेषां त्रैवर्णिकानां द्विजत्वेनोपनीतत्वेन च समासः । शूद्रस्य चैकजातित्वेन पृथक्कथनम् एषां चतुर्णां स्वभावप्रभवैः स्वकीयप्रागभवीयकर्मसमुद्भवैर्गुणैः सत्त्वादिभिः कर्माणि कर्तव्यरूपाक्रिया वृत्तयश्च प्रविभक्तानि श्रुतिस्मृतिषु प्रविभज्य प्रतिपादितानि तथा च पुरुषसूक्ते 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत, इति चातुर्वर्ण्यस्य विभागस्पष्ट एव प्रदर्शितः । मानवे च धर्मशास्त्रे जन्मतो ब्राह्मणादीनां कर्माणि वृत्तयश्चैवमुपपादितानि "ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थाः स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः । ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् । अध्यापनञ्चाध्ययनं यजनं

एवं पूर्व वर्णित प्रकार से ज्ञानादिक पदार्थ में त्रैगुण्य का वर्णन करके जो पदार्थ सात्विक है उसमें उपादेयता का कथन किया। अब इसके बाद सात्विक अधिकारी के स्वरूप का विवेचन करने के लिए ब्राह्मणादि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्रों का स्वभाव जनित कर्म का विवेचन करने के लिए कहते हैं "ब्राह्मणेत्यादि" हे परन्तप हे अर्जुन ! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का विप्र राजन्य तथा वैश्यों का इन तीन त्रैवर्णिक को द्विज होने से अर्थात् दो प्रकारक संस्कार से जायमान होने से तथा उपनयन कर्म होने से श्लोक में समास किया गया है और शूद्र को एक जातीयक होते से पृथक् रूप से कथन किया गया है । इन चारों वर्णों को स्वभाव प्रभव अर्थात् स्वकीय पूर्वभव सम्बन्धी कर्म से जायमान जो गुण सत्व रज तथा तम गुण इनके द्वारा कर्म के कर्तव्य रूप क्रिया तथा वृत्तियों का प्रविभाग किया गया है अर्थात् श्रुतिस्मृतिपुराणादि लक्षण शास्त्र में विभाग पूर्वक कथन किया गया है । पुरुषसूक्त में कहा है इस महापुरुष सर्वेश्वर परमपुरुष के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं और उसी महापुरुष के हाथ से राजन्य-क्षत्रिय उत्पन्न हुए हैं और जो यह वैश्य जातीयक है वह परमेश्वर के जंघादेश से उत्पन्न किये गये हैं और दोनों पैरो से शूद्र जातीयक की उत्पत्ति हुई है । इस प्रकार चारों वर्णों का विभाग स्पष्टरूप से पुरुष सूक्त में बतलाया गया है । मनु के धर्मशास्त्र में जन्म से ब्राह्मण प्रभृति के कर्म तथा वृत्ति इस प्रकार से प्रतिपादित हुआ है "ब्राह्मणा:" इत्यादि वाक्यों से तथाहि "ब्राह्मणकुल में समुत्पन्न जन अपने अपने कर्म में अवस्थित रहें ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ।४२।।

याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ।। षण्णान्तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याचनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।। त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियम्प्रति । अध्यापनं याजनञ्च तृतीयश्च प्रतिग्रहः । वैश्यम्प्रति तथैवेते निवर्तेरन्निति स्थितिः । न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः । शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषीर्विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ।। वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् । वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ।। एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया । एतेषां सूक्ष्मधर्मास्तु भगवद्वचनानुसारेण श्रुतिस्मृतिषु समवलोक्य निश्चेया इति नाधिकं प्रतन्यते ।।४१।।

ये लोग समीचीनरूप से अपने कर्म के द्वारा जीवन को चलावें । यथाक्रम इनका छ प्रकार के कर्म हैं ब्राह्मणों के लिए अध्यापन वेद तथा वेदांग को पढाना और स्वयम् अध्ययन वेदादि शास्त्र का करें यज्ञ करना तथा यज्ञ करवाना दान देना तथा प्रतिग्रह दान लेना ये छ कर्म अग्रजन्मा ब्राह्मणों का है ।" ब्राह्मणों के लिए छ कर्मों में से तीन कर्म अध्यापन याजन प्रतिग्रह ये तीन कर्म इन ब्राह्मणों की जीविका के लिये है । ये तीन धर्म याजन अध्यापन विशुद्ध से प्रतिग्रह ये तीनों धर्म ब्राह्मण से क्षत्रिय के प्रति निवृत्त होते हैं अर्थात् क्षत्रिय में ये याजनाध्यापन प्रतिग्रह ये तीन धर्म नहीं हैं एवं वैश्य के प्रति भी तीनों याजन अध्यापन प्रतिग्रह लक्षण धर्म निवृत्त होते हैं । अर्थात् वैश्यों के लिये भी क्षत्रियवत् ये तीन धर्म नहीं हैं एसी शास्त्रमर्यादा है । क्षत्रिय वैश्य के प्रति याजनादिक तीन धर्म नहीं हैं इस बात को प्रजापति मनुने कहा है । शस्त्र अस्त्र को धारण करना प्रजापालन करना यह क्षत्रियों का है और वाणिज्य पशुपालन कृषी कर्म ब्याजवटा चलाना यह वैश्य का है आजीविका के लिये तथा अध्ययन यजन दानधर्म है । वेदाभ्यास करना यह ब्राह्मण का कार्य है प्रजा का रक्षण करना क्षत्रिय का कार्य है और वैश्य का वार्ताकरण ये अपने कर्म में विशिष्ट कार्य है और शूद्रों के लिए भगवान् ने एक ही कर्म का आदेश दिया है जो इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों की असूया रहित होकर सेवा ।" इन ब्राह्मणादि वर्णों का सूक्ष्म धर्म का निश्चय भगवान् के वचन के अनुसार श्रुति स्मृति में देख करके करना । अर्थात् इन धर्मों का विचार तथा निश्चय धर्मशास्त्रानुसार करना चाहिये । इससे अधिक मैं अभी विस्तार नहीं करता हूं ।।४१।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

अथ ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शम इति । शमो बाह्येन्द्रियसंयमो दमोऽन्तरिन्द्रियसंयमस्तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपः कायक्लेशः शौचं शास्त्रविहित-कर्मयोग्यतारूपा शुद्धिः क्षान्तिरविकृतमनस्कताऽऽर्जवमकौटिल्यं ज्ञानं परापरवस्तु-विषयकं यथार्थज्ञानं विज्ञानं परतत्त्वविषयकविशिष्टावबोध आस्तिक्यं शास्त्रप्रतिपा-दितार्थविषयकस्थिरनिश्चयशालित्व च स्वभावज स्वाभाविकं ब्राह्मं ब्राह्मणस्यासाधारणं कर्मबोध्यम् ॥४२॥

क्षत्रियस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमस्तेजः प्रागल्भ्यं धृतिर्धैर्यं दाक्ष्यं क्रियाकौशल्यं युद्धे संग्रामे चाप्यपलायनं शत्रोरपराङ्मुखता दानम-र्थिषु वित्तत्याग ईश्वरभावश्च प्रजानियमनशक्तिरित्येतत्क्षात्रं स्वभावजं कर्म ॥४३॥

इसके बाद ब्राह्मणों का जो स्वाभाविक है उससे जायमान जो कर्म है उसका प्रति-पादन करने के लिये कहते हैं "शमोदमः" इत्यादि । शम-बाह्य जो चक्षुरादिक रूपादिग्राहक इन्द्रिय है उसका संयम शम है दम-आन्तर इन्द्रिय मन का संयम दम कहलाता है चान्द्रायण कृच्छ्र चान्द्रायण प्रभृतिक शरीरादि के क्लेशकारक तप है शौच—शास्त्र प्रतिपादित कर्म योग्यता लक्षण पवित्रता को शौच कहते हैं । क्षान्ति-मन में विकार राहित्य क्षान्ति कहते हैं आर्जव यानी अकुटिलता ज्ञान अर्थात् पर अपर विषयक यथार्थ प्रमात्मक ज्ञान विज्ञान यानी परतत्व परमात्मा सर्वेश्वर श्रीराम तद्विषयक जो विलक्षण ज्ञान आस्तिक्य—शास्त्र प्रतिपादित सूक्ष्मार्थ विषयक स्थिर निश्चय रूप से सर्वधर्म स्वभावज स्वभाव से जायमान स्वाभविक जो गुण है वह ब्राह्मणों का कर्म है अर्थात् ब्राह्मणों में प्राचुर्यरूप से ये सब धर्म उपलभ्यमान होते हैं तथा इनके ये कर्म स्वाभाविक हैं । इसका विशेष विवेचन अन्यत्र मेरे प्रबन्धों में देखें । ॥४२॥

ब्राह्मण का जो स्वाभाविक कर्म हैं उसका प्रतिपादन करके क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म क्या है उसका प्रतिपादन करते हैं—"शौर्यमित्यादि" शौर्य पराक्रम तेज प्रगल्भता धृति धैर्य दाक्ष्य क्रिया कुशलता लक्षण कुशलता युद्ध में संग्राम में अपलायन शत्रु से पराङ्मुख नहीं होना दान अर्थी याचको यथा विधि वित्त समर्पण ईश्वरभाव प्रजा की नियमन शक्ति ये सब कर्म क्षत्रियों का स्वाभाविक है । पूर्व भव सम्बन्धी अदृष्ट के बल से प्राप्त होता है ॥४३॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

वैश्यकर्माण्याह कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् । कृषिरन्नोत्पादनाय भूमिकर्षणं गौरक्ष्यं गां रक्षतीति गोरक्षस्तस्य कर्म गौरक्ष्यं ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । तच्च वैश्यं विशः कर्म वैश्यं पशुपालनं वाणिज्यं क्रयविक्रयादिकुसीदञ्च कर्मवैश्यस्य स्वभावजं जानीहि । शूद्रस्य कर्माह परिचर्यात्मकमिति । पूर्वोक्तानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शुश्रुषारूपं कर्म शूद्रस्य चतुर्थवर्णस्य स्वाभाविकं कर्म परिचर्यात्मकं परिचर्येत्येतत् प्रधानं कर्म बोध्यं दानादेरपि तस्य विहितत्वात् ।४४।

तदेवं संक्षेपात्स्वाभाविकानि कर्माण्युक्तानि । इदानीं तेषामनुष्ठानाद् यत्फलं तदाह स्व इति । स्वे स्वे कर्मणि स्वकीयवर्णाश्रमोचिताचारेऽभिरतो मदाज्ञारूपशास्त्रं

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म का प्रतिपादन करके वैश्य कर्म का कथन करते हैं "कृषिगौरक्ष्येत्यादि" कृषि अन्न का उत्पादन करने के लिये हल से भूमि को जोतना तथा गौरक्ष्य गाय की जो रक्षा करे उसे कहते हैं गोरक्ष और गोरक्ष का जो भाव उसे कहते हैं गौरक्ष्य । यहाँ गौरक्ष्य में ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् प्रत्यय करके गौरक्ष्य पद की सिद्धि की गई है । वह कर्म वैश्य है अर्थात् वैश्य का कर्म है गवादि पशुओं का पालन करना । वाणिज्य भी वैश्य कर्म है वाणिज्य नाम है खरीदना बेचना दुकानदारी एवं कुसीद सूद बट्टा यह भी वैश्य का कर्म है । यद्यपि "कुसीदाद्दारिद्र्यं परकर ग्रंथिशमनात्" कुसीद से दरिद्रता होती है इस नियम से कुसीद को अविहित कहा गया है तथापि प्रतारणादि बुद्धि से क्रियमाण कुसीद दोषाधायक है नतु धर्म बुद्धि से क्रियमाण तो यहाँ वैश्य के कर्म में धर्म पूर्वक कुसीद का ग्रहण है न कि आज कल की तरह लोभ वृत्ति से क्रियमाण कुसीद धर्म है ।

वैश्य का स्वाभाविक कर्म का प्रतिपादन करके चतुर्थ जो शूद्र जातीयक है उनका जो स्वाभाविक कर्म उसका दिग्दर्शन कराते हैं "परिचर्येत्यादि" पूर्वोक्त ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का निर्व्याज सेवा करण ही शूद्रों को स्वाभाविक प्रधान कर्म है यह शूद्र चतुर्थ वर्ण है उसका कर्म परिचर्या है । यहाँ परिचर्या कर्म है इस का यह अर्थ है इन जातियों के लिये प्रधान कर्म है गौणरूप से तो दानादिक भी है । वेदाध्ययनादि में अधिकार नहीं है ऐसा भी कहते हैं ॥४४॥

पूर्वोक्त प्रकार से संक्षेपरूप से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्रों का जो स्वाभाविक कर्म है उसका कथन किया गया । अब इसके बाद उन स्वाभाविक कर्मों का तथा तदतिरिक्त जो वर्णाश्रमोचित कर्म है इन सभी कर्मों के अनुष्ठान से जो फल मिलता है अनुष्ठाता को

बहुमानयन् प्रवृत्तो नरः संसिद्धिं परमगतिं लभते स्वकर्मनिरतः स्वकीयवर्णाश्रमोचिताचारचतुरः पुमान् यथा येन प्रकारेण सिद्धिं परमगतिं विन्दति मयोच्यमानं तत्प्रकारं शृणु सावधानमाकर्णय । अत्रायमभिसन्धिः । चतुर्णां वर्णानां सामान्येन ये वर्णधर्मा निर्दिष्टास्ते तदुचितामुष्मिकादिफलोपलब्धये स्वकीयकर्तव्यतयैवानुष्ठेयास्तेषामविरोधेनापवर्गिकसुखगृध्नुभिर्भागवतानां विशेषधर्माणामप्यनुष्ठानमावश्यकमेव । तदुक्तं 'प्रवृत्तं कर्मसंसेव्य देवानामेति साम्यताम् । निवृत्तं सेवमानस्तु भूतानामेति पञ्च वै । निवृत्तं कर्मेति भागवतधर्मा अभिधीयन्ते । अत एव विप्रमधिकृत्येदमुच्यते 'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् । तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते । तपः शब्दोऽत्र वर्णाश्रमधर्ममभिधत्ते । अत एव सार्ववर्णिकमिदमुच्यते । 'प्राप्तुमिच्छन्

उसका कथन करते हैं "स्वे स्वे कर्मणीत्यादि" स्व स्व कर्म में स्वकीय स्वकीय वर्णाश्रमोचित आचार में जैसे ब्राह्मण अध्ययनाध्यापन यजन याजन दान प्रतिग्रह लक्षण कर्म में क्षत्रिय अध्ययन यजन दान प्रजापालनादि आचार में वैश्य अध्ययन यजन दान कृषि गोरक्षादि आचार में एवं वैश्य शूद्र भी स्ववर्णाश्रमोचिताचार में अभिरत भगवदाज्ञालक्षण शास्त्र को बहुमान पूर्वक संमान करता हुआ प्रवृत्त जो मनुष्य है तादृशाचारवान् व्यक्ति संसिद्धि परमगति को अनायास से ही प्राप्त कर लेता है। स्वकर्म में निरत स्वकीय वर्णाश्रमोचित व्यापार में चतुर संलग्न पुरुष जिस प्रकार से सिद्धि परमगति को प्राप्त करता है उसे मुझ परमेश्वर से प्रतिपाद्यमान वस्तु को सावधान मन से तुम सुनो। यहाँ भगवान् के कहने का यह अभिप्राय है तथापि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के लिए सामान्य रूप से जो वर्णधर्म निर्दिश्यमान शास्त्र से हुआ है वे व्यक्ति तादृश शास्त्र प्रतिपादित धर्म से आमुष्मिक पारलौकिक फल प्राप्ति के लिए स्वकीय कर्तव्यतारूप से उन धर्मों का अनुष्ठान करें और सामान्य रूप से प्रतिपादित धर्मों के अविरोध से अपवर्ग सम्बन्धी सुख विशेष की प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले पुरूष से भागवत जो विशेष धर्म है उसका भी अनुष्ठान करना आवश्यक ही है। ऐसा कहा है "प्रवृत्ति लक्षण धर्म का अनुष्ठान करके देवताओं की समानता को प्राप्त करता है, और निवृत्ति लक्षण जो धर्म है उसका आचरण करनेवाला व्यक्ति तदुचित फल को प्राप्त करता है। यहाँ निवृत्त कर्म से भागवत धर्म विवक्षित है इसलिये ब्राह्मण को उद्देश्य लक्ष्य करके कहा गया है "ब्राह्मणों को निःश्रेयस मोक्ष देने वाले ये दो पदार्थ हैं एक तो तपस्या तथा दूसरो है विद्या। उसमें तपस्या के द्वारा तो पाप का विनाश होता है और विद्या से अमृतत्व मोक्ष की प्राप्ति होती हैं इस श्लोक में जो तप शब्द है वह वर्णाश्रम

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः । श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् (भा- द्वा सं-१।१३ अत्र सर्वोऽपि जन इत्युक्तथा सर्वेषामयं धर्मः समाश्रयणीय एवेत्यध्यवसीयते। एवं विशुद्धमनसा भगवच्छरणमुपगतो यः कोऽपि चातुर्वर्णिको भवेत्स च भगवद्धर्मसम्बन्धेन श्लाघ्यः सत्कार्यश्च भवेत्तदप्युक्तं–मांहि पार्थ ? व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' संग्रहे स्कान्दवचनं "ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः । विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः । भगवद्भक्तिदीप्ताग्निर्दग्धदुर्जातिकश्मलः । श्वपचोऽपि बुधः श्लाघ्यो न वेदाढ्योऽपि नास्तिकः" इति ॥४५॥

यतः परमकारणात् परमात्मनः सकाशात् भूतानां समस्तप्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्यादयो व्यापारा भवन्ति येन सर्वमिदं चराचरं जगत्ततं व्याप्तं तं तथाविधं मां

धर्म का कथन करता है । इसलिये सर्व वर्ण साधारण रूप से कहा गया है कोई भी व्यक्ति पर सिद्धि की इच्छा करता हो तो परमश्रद्धा से युक्त हो करके भगवान् श्रीहरि की शरण का आश्रयण करे" यहाँ इस श्लोक में "सर्वोपिजन" इस कथन से सभी से यह भागवत धर्म आश्रयणीय है ऐसा निश्चित होता है । इस प्रकार से जो कोई भी चतुर्वर्णिक पुरुष विशुद्ध मन हो करके भगवान् की शरण को प्राप्त करे तो वह भगवद्धर्म सम्बन्ध से श्लाघ्य तथा सत्कार्यशील हो जाता है इस विषय को भगवान् ने स्वयमेव कहा है–"हे पार्थ ! मुझ परमेश्वर को आश्रय करके जो पाप योनि स्त्री शूद्र वैश्य शूद्रादिक हैं वे लोग भी परगति को प्राप्त कर जाते हैं" स्कन्द पुराण का भी वचन है– ब्राह्मण हो क्षत्रिय हो वैश्य तथा शूद्र हो अथवा और जो कोई व्यक्ति हो वह यदि विष्णु का भक्त है तो उसे सर्वोत्तम समझना" भगवान् की भक्तिरूप प्रज्वलित अग्नि से जिसका दुर्जाति स्वरूप पाप कर्म नष्ट हो गया है । चाहे भले ही वह चाण्डाल हो तब भी वह सर्वश्लाघ्य है परन्तु नास्तिक यदि संपूर्ण वेद को भी जानता हो तब भी वह श्लाघ्य नहीं है । इस प्रकार से भागवतधर्म सब वर्ण साधारण है ऐसा सिद्ध होता है ॥४५॥

स्वाश्रमोचित स्वकीय धर्मानुष्ठान द्वारा सकल देवनायक परमेश्वर की जो उपासना करते हैं उन्हें क्या फल प्राप्त होता है इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् कहते हैं "यतः प्रवृत्ति रित्यादि" जिस परम कारण परमात्मा सर्वेश्वर से भूतों का समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।४७।।

सर्वजगन्नियन्तारं प्रणतकल्पपादपं परमेश्वरं स्वकर्मणा स्ववर्णाश्रमोचितधर्मेणाभ्यर्च्य स्वोचितानि कर्माण्यनुतिष्ठन् विशेषतो मत्प्रीतिजनकं मदर्चनवन्दनादिकं विधाय मानवः सिद्धिं मद्धामप्राप्तिरूपां विन्दति प्राप्नोतीत्यर्थः ।।४६।।

भगवदाराधनाख्यस्य कर्मणः श्रैष्ठ्यमाह–श्रेयानिति । स्वधर्मः मदर्चनादिधर्मगर्भितकर्मयोगरूपः स्वधर्मः । कतिपयाङ्गविकलोऽप्यनुष्ठितः स्वनुष्ठितात् साङ्गोपाङ्गमनुष्ठितात् परधर्माज्ज्ञानयोगादिरूपाच्छ्रेयानतिशयेन प्रशस्यो यतः स्वभावनियतं स्वभावानुगुणं कर्म कुर्वन् किल्विषं मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकं पापं प्राप्नोति । अतोमद्भक्तिगर्भितकर्मयोगाख्यं स्वधर्ममेव त्वमनुतिष्ठ तथा सति बन्धुहननजन्यदुष्कृतं नैवावाप्स्यसीति भावः ।।४७।।

उत्पत्तिस्थिति तथा प्रलय आदि व्यापार होता है और जिस परमात्मा से यह चराचर जगत् तत है अर्थात् व्याप्त है तादृश सर्व जगत् के नियंता प्रणत पुरुष के लिये कल्पवृक्ष के समान सकल फलदायक मुझ परमेश्वर को स्वकर्म से स्ववर्णाश्रमोचित धर्म से समीचीन रूप से पूजा करके स्वाश्रमोचित कर्म का अनुष्ठान करता हुआ विशेषतः मुझ परमेश्वर की प्रीति का जनक अर्चन बन्दन पूजनादिक करके मनुष्य परमेश्वर धाम की प्राप्ति लक्षण सिद्धि को प्राप्त कर जाता है स्वधर्माचरण का यही प्रयोजन है ।।४६।।

भगवान् सर्वेश्वर का जो आराधनात्मककर्म है वह सर्व कर्मापेक्षया श्रेष्ठ है इस बात को बताने के लिए कहते हैं "श्रेयानित्यादि" स्वधर्म भगवान् के अर्चन सेवादिक जो शास्त्रीय कर्म है उससे घटित कर्मयोग रूप जो धर्म है उसे स्वधर्म कहते हैं। एतादृश स्वधर्म यदि विगुण हो यानी कतिपय अंगो पांग से रहित भी हो तो भी अनुष्ठित स्वधर्म, समीचीम रूप से अनुष्ठित अर्थात् सर्वाङ्ग युक्त हो करके अनुष्ठित भी पर धर्म जो कि ज्ञानयोग रूप है तदपेक्षया श्रेय है अतिशयेन प्रशस्ततम है क्योंकि जो कर्म स्वभावनियत यानी स्वभावानुगुण कर्म है उस स्वधर्म का अनुष्ठान करने से किल्विष अर्थात् भगवत् प्राप्ति में प्रतिबन्धकीभूत जो पापकर्म है उस पाप को प्राप्त नहीं करता है। इसलिये भगवद्भक्ति घटित जो कर्मयोग रूप स्वधर्म है उसी का यानी भक्ति सहित कर्म योग रूप स्वधर्म का अनुष्ठान करो, तादृश स्वधर्म का अनुष्ठान करने से बन्धु हत्या से जायमान जो पाप है उसे तुम कभी भी प्राप्त नहीं करोगे ।।४७।।

सहजं कर्म कौन्तेय ? सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।४८।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।४९।।

ननु कर्मणो सदोषत्वान्मुमुक्षुभिस्त्याज्यमेव तदित्यपेक्षायामाह सहजमिति । हे कौन्तेय ! सहजं स्वभावरूपतापन्नं सुकरं नित्यादिकर्म सदोषमपि शरीरेन्द्रियादिसन्तापरूपदुःखप्रदमपि न त्यजेत् समुत्पन्नज्ञानरुचिरपि सततं नित्यादिकर्मादरेणानुतिष्ठेत् । यतः सर्वारम्भाः निखिलकर्मप्रवृत्तयो दोषेण शरीरायासादिरूपदुःखेन धूमेनाग्निरिवावृताः सन्ति । दुःखबहुलमनधिकफलमपि नित्यादिकर्मानुष्ठानमावश्यकमेवेति भावः ।।४८।।

एवं कर्मभिज्ञाननिष्ठामुक्त्वा तस्या अपि निदिध्यासनाख्यं फलमाह—असक्तबुद्धिरिति । सर्वत्र सकलेषु मुक्तीतरस्वर्गादिफलेष्वसक्तबुद्धिरनासक्तबुद्धिः । कर्मफलात्मकाखिलस्वर्गादिविषयकाकांक्षाशून्य इत्यर्थः । तत एव जित आत्मा येन स जितात्मा

हे भगवन् ! कर्ममात्र दोष दुष्ट है इसलिए मुमुक्षु से वह कर्म त्याज्य ही है मोक्ष तो ज्ञानमात्र से होगा, इस शंका के उत्तर में कहते हैं—"सहजं कर्मेत्यादि" हे कौन्तेय ! सहज स्वभाव रूपता को प्राप्त किया हुआ सरल अनुष्ठान करने में अति सरल जो नित्य नैमित्तिक कर्म अग्निहोत्र संध्या वन्दनादिक यदि यह कर्म सदोष भी हो अर्थात् शरीर इन्द्रिय का जो संताप लक्षण दुख है उसको देनेवाला भी है तो भी इसका त्याग नहीं करना ज्ञान में जिसकी रुचि उत्पन्न हो गई है वह भी सतत नित्यकर्म का आदरपूर्वक अनुष्ठान करता ही रहे क्योंकि सकल आरंभ सभी प्रकार की कर्मप्रवृत्ति दोष से शरीर का जो आयासादि लक्षण दुःख है, उससे धूम से अग्नि के समान आवृत है । आचरण में दुःख अधिक है फल भी कोई अधिक नहीं है तथापि नित्यादि कर्म का अनुष्ठान आवश्यक ही है ।।४८।।

इस प्रकार कर्मयोगी को वर्णाश्रम कर्म का अनुष्ठान करते हुए ज्ञान योग की प्राप्ति हो जाती है यह कह करके उसे भी निदिध्यासन रूप फल कहते हैं अर्थात् ज्ञान निष्ठ जो व्यक्ति है उसकी भी चरम काष्ठा को प्राप्त किया हुआ जो निदिध्यासन है वह भगवत् प्राप्ति में साक्षात्साधन है अतः तादृश ध्यान का उपदेश करने के लिये कहते हैं "असक्त बुद्धिरित्यादि" सर्वत्र अर्थात् निरतिशय सुख लक्षण जो मोक्षभिन्न स्वर्गादि फल है उस में असक्त बुद्धि कर्म का फल रूप जो निखिल स्वर्गादिक विषय तादृश विषय विषयक आकांक्षा

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

जितमना विगता स्पृहा यस्य स विगतस्पृहः स्वकर्तृत्वस्पृहाशून्यः पुरुषः सन्यासेन फलकर्तृत्वममत्वपरित्यागेन परमां प्रकृष्टां ज्ञानयोगस्यापि फलस्वरूपामित्यर्थः । निष्कर्मणो भावोनैष्कर्म्यमिन्द्रियव्यापारोपरतिलक्षणोऽनुध्यानध्रुवानुस्मृत्यपरपर्यायो मोक्षस्य साक्षात्साधनात्मकोध्यानयोगस्तस्य सिद्धिमधिगच्छत्यवाप्नोति ॥४९॥

अथ 'नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तेः किम्फलमि'त्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह—सिद्धिमिति । हे कौन्तेय ! सिद्धिं भगवदनुध्यानसिद्धिं प्राप्तोऽवाप्तो यथा ब्रह्म प्रकृतिविनिर्मुक्तमात्मानं प्राप्नोत्याप्नोति । साक्षात् करोतीत्यर्थः । तथा तं प्रकारम् । विशुद्धनिष्ठामित्यर्थः। मत्सकाशात् समासेनानतिविस्तरेण । निबोध नितरामवगच्छ । आत्मसाक्षात्कारप्रकारमाकर्णयेत्यर्थः । ज्ञानस्य ज्ञानयोगाज्जायमानस्यानुध्यानस्य या परा निष्ठाऽस्तीति शेषः ॥५०॥

रहित हो करके । सार्वलौकिक फल विषयक आकांक्षा शून्य होने से ही जीत लिया है आत्मा मन को जिसने तथा विगत स्पृह विगत है स्पृहा तृष्णा जिसकी अर्थात् स्व में कर्तृत्व स्पृहा से रहित ऐसा जो पुरुष है वह सन्यास से अर्थात् फल का मै कर्ता हूं, मेरा यह फल है इत्याकारक कर्तृत्व ममत्व त्यागपूर्वक परमप्रकृष्ट ज्ञानयोग को भी फलस्वरूप सिद्धि को प्राप्त करता है नैष्कर्म्य निष्कर्म का जो भाव उसे कहते हैं नैष्कर्म्य अर्थात् इन्द्रिय व्यापार का उपराम लक्षण और ध्रुवा स्मृति है अपर नाम जिसका ऐसा जो अनुध्याय जो कि मोक्ष के प्रति साक्षात्साधनात्मक ध्यान योग तादृश ध्यान की सिद्धि को प्राप्त करता है ॥४९॥

नैष्यकर्म सिद्धि की जो प्राप्ति हुई है उसका क्या फल है इस शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं अर्थात् निदिध्यासन लक्षण जो नैष्कर्म्य सिद्धि है वह मोक्षकारण किस प्रकार से होता हे इस बात को बतलाते हैं "सिद्धिं प्राप्त" इत्यादि । हे कौन्तेय ! सिद्धि भगवान् के अनुध्यान लक्षणसिद्धि को प्राप्त किया हुआ जो पुरुष है वह जिस प्रकार से ब्रह्म अर्थात् प्रकृति सम्बन्ध रहित आत्मा को प्राप्त यरता है अर्थात् सक्षात्कार करता है तथा तादृश प्रकार को अर्थात विशुद्ध निष्ठाको मुझ परमेश्वर के समीप से समास से अधिक विस्तारपूर्वक नहीं नवा अति संक्षेप से निबोध जानो । आत्मा के सक्षात्कार के प्रकार को बराबर सुनो समझो । ज्ञान की अर्थात् ज्ञानयोग से जायमान जो अनुध्यान है उसकी जो परानिष्ठा है उसे समझो ॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२।

अथ ब्रह्मप्राप्तिप्रकारमभिदधाति–बुद्ध्येत्यादिना । विशुद्धया यथावदात्मगोचरया संशयादिदोषशून्ययेत्यर्थः । बुद्धयायुक्तो धृत्याऽऽत्मानं मनो नियम्य विषयवैमुख्यापादनेनात्मतत्त्वमात्रावलोकनक्षमं विधाय । शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वाऽपहाय रागद्वेषौ विषयसान्निध्यप्रयुक्तरागद्वेषौ व्युदस्य च रागद्वेषयोर्निरासं च कृत्वेत्यर्थः । विविक्तं सेवत इति विविक्तसेवी ध्यानाविरोधिदेशवासशीलो लघ्वाशी मिताहारी । वाक्च कायश्च मानसञ्चेति वाक्कायमानसानि यतानि वाक्कायमानसानि येन स यतवाक्कायमानसो निरुद्धवाक्कायमानसवृत्तिर्नित्यं ध्यानयोगपरः स्वात्ममात्रावलोकननिरतो वैराग्यं समुपाश्रितो दोषमीमांसया ध्येयेतरतत्त्वेषु वैराग्यमवाप्तः सन्नहंकारमात्मव्यतिरिक्तेष्वात्माभिमानं बलं वासनाबलं दर्पं बलादिहेतुकं गर्वं कामं विषयस्पृहां क्रोधं विषयावाप्तिविघातहेतुकं द्वेषं परिग्रहमशनवसनधनादिसंग्रहं विमुच्य परित्यज्य

इसके बाद ब्रह्म प्राप्ति के प्रकार को बतलाते हैं "बुद्ध्याविशुद्धये" इत्यादि । विशुद्ध यथावत् आत्मविषयक संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित बुद्धि से युक्त हो करके तथा धृति से आत्मा मन को नियंत्रित करके अर्थात् मन को विषय से विमुख तथा आत्मतत्व मात्र के अवलोकन करने में सक्षम बना करके तथा शब्दादिक जो विषय समुदाय है उसको विमुच्य त्याग करके रागद्वेष को अर्थात् विषयसम्बन्ध प्रयुक्तविषय सम्बन्ध से होनेवाला जो अनुरंजनीय में राग तथा प्रतिकूल वेदनीय में द्वेष है इन दोनो को छोड करके अर्थात् रागद्वेष का निरास करके पुनः वह साधक कैसा हो विविक्त सेवी हो निदिध्यासन करने में विरोधी जो देश उसमें रहनेवाला अर्थात् निर्जन देशसेवी लघ्वाशी हितमित अल्पाहार शील हो यत वाक्कायमानस हो अर्थात् शरीर वाणी तथा मन की वृत्ति को रोकनेवाला हो और ध्यानयोग में तत्पर हो स्वकीय आत्मामात्र के अवलोकन करने में समर्थ हो नियमतः वैराग्य को प्राप्त किया हो अर्थात् ध्येय तत्व जो आत्मा तदतिरिक्त वस्तु में दोषदर्शन करके वैराग्य को प्राप्त करके अहंकार आत्मव्यतिरिक्त शरीरेन्द्रिय में आत्म तादात्म्याभिमानलक्षण अहंकार के (इन सबों को अग्रिम विमुच्य क्रिया में अन्वय है) बल वासनाबल को दर्पबल विद्याधनादि प्रयुक्त गर्व काम विषय स्पृहा क्रोध विषय की प्राप्ति में जो विघात तन्मूलक द्वेष परिग्रह शरीरयात्रा निर्वाह

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।५४।

निर्ममः कायकलत्रापत्यादिविषयकममत्ववर्जितः शान्त आत्मस्वरूपे निश्चलचित्तवृत्तिर्ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावायकल्पते सामर्थ्यवान् भवति । यथावस्थितात्मानुभवसमर्थो भवतीत्यर्थः ।५१।५२।५३॥

एवमुक्तं स्वस्वरूपपरिज्ञानं स्वशेषिणि परमपुरुषे परभक्तिमुत्पादयतीत्याह–ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मभूतः प्रादुर्भूतानवच्छिन्नज्ञानस्वभावात्मस्वरूपः प्रसन्नात्मा क्लेशकर्मादिदोषशून्यचेतस्को न शोचति मदतिरिक्तं कमपि न शोचति । गुरुणापि शोकेन विचलितो न भवतीत्यर्थः । उक्तञ्च प्राक्–'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' । (गी. ६।२२) नकांक्षति 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' (गी. ६।२२) इत्युक्तप्रकारेण मदतिरिक्तं किञ्चिदपि न चाभिलषति । सर्वेषु भूतेषु समः साम्यं दधानश्च स परां परमोत्कृष्टां मद्भक्तिं सर्वजगदेककारणे सर्वेश्वरे च मयि भक्तिं लभते समवाप्नोति ।५४।

करने के उपयोगी अन्नवस्त्रादिसंग्रह रूप परिग्रह इन सबों को विमुच्य परित्याग करके निर्मम शरीर कलत्र पुत्र धनादि विषयक ममता से परित्यक्त हो करके शान्त द्रष्टव्य जो आत्मस्वरूप है उसमें निश्चल अन्तःकरण वृत्तिवाला साधक ब्रह्म भूय ब्रह्मभाव के लिए कल्पित सामर्थ्यवान् भवति होता है अर्थात् यथावस्थित आत्मस्वरूप के अनुभव करने में समर्थ होता है ॥५१॥५२॥५३॥

पूर्वोक्त प्रकार से कथित जो स्वरूप विषयक साक्षात्कारी ज्ञान है वह स्वशेषी जीव के अंशी जो परमपुरुष सर्वेश्वर श्रीराम जी हैं उन में परमभक्ति को उत्पन्न करता है इस बात को कहने के लिये गीताचार्य कहते हैं "ब्रह्मभूत" इत्यादि । ब्रह्मभूत प्रादुर्भूत समुत्पद्यमान अनवच्छिन्नज्ञानमात्र स्वभाववाला आत्मस्वरूपवाला आत्मस्वरूपाववोधक प्रसन्नात्मा क्लेशकर्म प्रभृतिक दोष रहित मनवाला साधक नहीं सोचता है अर्थात् भगवद् व्यतिरिक्त किसी को नहीं सोचता है यानी अति कठोर शोक प्राप्त होने पर भी विचलित नहीं होता है । इस बात को पहले कहा भी है "जिसमें स्थित हो जाने पर अत्यन्त महत् शोक से भी विचलित नहीं होता है ।" जिस लब्धव्य वस्तु का लाभ करके उससे अन्य अधिक लाभ को नहीं मानता है ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

एवं प्रोक्तायाः परभक्तेर्मोक्षाख्यं फलमाह—भक्त्येति । अहं यावान् गुणतो विभूतितश्च यावानस्मि । यद्गुण- विशिष्टो यद्विभूतिविशिष्टश्चाहमस्मीत्यर्थः । यश्च स्वरूपतः स्वभावतश्च योऽस्मि । यत्स्वभावविशिष्टश्चाहमस्मीत्यर्थः । भक्त्या प्रेमपूर्वकेणानुध्यानेन तं मां स योगी तत्त्वतो याथातथ्येनाभिजानाति । तत्त्वतो गुणविभूति स्वरूपस्वभावैश्च यथार्थरूपेण ज्ञात्वाऽवगम्य तदनन्तरं ततो भक्तितो मां विशते भक्त्या मत्सायुज्यमवाप्नोतीत्यर्थः । अत्र भक्तिज्ञानयोरन्योन्याश्रयस्तु वक्तुमशक्यो, भक्तेः पर्वभेदेन परिहारात् ॥५५॥

एवं नित्यादिकर्मणां ज्ञानध्यानपरभक्तिनिष्ठया स्वपरस्वरूपावाप्तिलक्षणमोक्षप्राप-

इस तरह कथित पूर्व प्रकार से मदतिरिक्त अर्थात् भगवदतिरिक्त किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं करता है सभी भूतों में सम अर्थात् समता को धारण करता हुआ साधक परम उत्कृष्ट मेरी भक्ति को अर्थात् सर्वजगत् के उत्पत्ति स्थिति तथा लय के एक कारण लक्षण सर्वेश्वर मेरी भक्ति को लाभ करता है । तथा एतादृश पुरुष मेरी भक्ति का पात्र बनता है ॥५४॥

पूर्वश्लोक प्रतिपादित जो पराभक्ति है उस भक्ति का फल अर्थात् तादृशभक्ति से जायमान जो मोक्ष है इस बात को बतलाते हैं "भक्त्यामामभीत्यादि" में सर्व जगत् कारण परमपुरुष गुण से अनन्तकल्याण गुण से तथा विभूति से जितना बडा मैं हूं अर्थात् जिस गुण से विशिष्ट हूं तथा जिन विभूतियों से युक्त हूं और जो स्वरूप से तथा स्वभावसे जैसा हूं अर्थात् जिस स्वरूप से विशिष्ट हूं तथा जिस स्वभाव से विशिष्ट मैं हूं । ऐसा भक्ति से प्रेमपूर्वक भगवदनुध्यान से उस मुझ परमेश्वर को वह साधक योगी तत्वतः यथार्थ रूपसे जानता है अर्थात् तत्त्व से गुण विभूति स्वरूप स्वभाव से यथार्थ रूप से जान करके तदनन्तर ज्ञान के बाद उस भक्ति के द्वारा मुझ में परमेश्वर में प्रविष्ट होता है अर्थात् भक्ति द्वारा परम पुरुष के सायुज्य को प्राप्त करता है । यहां भक्ति तथा ज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष कहना ठीक नहीं है भक्ति के पर्व भेद से उस अन्योन्याश्रय दोष का परिहार हो जाता है ॥५५॥

इस प्रकार से नित्य नैमित्तिक कर्म को ज्ञानध्यान तथा पर भक्ति की निष्ठा द्वारा स्व

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।५७।

कृत्वाऽन्येषामपि विहितानां कर्मणां भगवत्प्रसादेन तथाविधैव फलोपलब्धिरित्याह—सर्व-कर्माणीति। सर्वकर्माणि शास्त्रविहितानि निखिलानि कर्माणि। काम्यकर्माण्यपीत्यर्थः। सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयोऽहमेव व्यपाश्रयः समाश्रयणीयो यस्य स तथाभूतो मत्प्र-सादान्मदनुग्रहाच्छाश्वतं नित्यमव्ययमविकारं पदं मदीयं धाम समवाप्नोति ॥५६॥

यस्मादेवं तस्मात्। चेतसा स्वस्यात्मनो मत्प्रेर्यत्वमिति बुद्ध्या सर्वकर्माणि विहितानि वैदिकलौकिकानि मयि सर्वनियन्तरि संन्यस्य समर्प्य मत्परः मदेकाश्रयः सन् बुद्धियोगमुपाश्रित्य सततं सर्वस्मिन् काले मच्चित्तो भव मय्येव चित्तं संस्थाप्य स्थिरो भव ॥५७॥

पर स्वरूप प्राप्ति लक्षण मोक्ष जनकता को कह करके तदतिरिक्त जो शास्त्र विहित कर्म है उसे भी भगवान् के प्रसाद द्वारा मोक्ष प्रयोजकता है इस बात को बतलाते हैं "सर्वकर्माणीत्यादि" सर्व कर्म शास्त्रप्रतिपादित काम्यादिक अशेष कर्म को यहाँ काम्य कर्म के द्वारा संग्रह करना चाहिये सर्व शब्द के सामर्थ्य से। इन कर्मों को सदा करता हुआ मद्व्यपाश्रय मै परमेश्वर ही समाश्रयणीय हूं ऐसा हो करके मत्प्रपन्न मेरे आश्रय को प्राप्त करके मेरी प्रसन्नता से अर्थात् भगवान् के अनुग्रह से शाश्वतनित्य अव्यय सर्व विकार रहित जो मेरा पद है भगवद्धाम उसे प्राप्त करता है ॥५६॥

जिसलिये सभी नित्य काम्य कर्मों का फल भगवत्प्रसाद प्राप्ति ही है इसलिये भगवद् प्रसादोपलब्धि के लिये ही सर्वथा प्रयत्न करना चाहिये इस प्रकार का स्वकीय जो दृढ सिद्धान्त है उसे बतलाने के लिये कहते हैं "चेतसा सर्वकर्माणीत्यादि" चित्त से अर्थात् स्वकीय जीवात्मा में परमेश्वर प्रेर्यता है (जीव जो कुछ शुभा शुभ कर्म करता है वह ईश्वर प्रेरित होकर ही करता है) एतादृश जो बुद्धि है तत्सहकृत मन से सभी कर्म को अर्थात् शास्त्र तथा आचार प्रतिपादित जो वैदिक अग्निहोत्रादिक कर्म तथा लौकिक जो कर्म है इन सभी कर्मों को मुझ में परमात्मा श्रीराम में जो कि अखिल ब्रह्माण्ड का नायक नियन्ता हैं तादृश सर्व नियन्ता भगवान् में सर्व कर्म का संन्यास करके अर्थात् समर्पण करके शास्त्र विहित नित्य नैमित्तिक सभी कर्म को स्वशेषी परमात्मा सर्वेश्वर में "मयिसर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा" इत्यादि तृतीयाध्यायोक्त प्रकार से समर्पण करके तथा मत्पर हो करके अर्थात् मैं परमात्मा ही पर प्राप्य तथा प्रापक हूं जिनकी ऐसी धारणा हो ऐसा हो करके (मदेकाश्रय हो करके) तथा बुद्धि योग का आश्रय ले करके

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

भगवच्चित्तस्य फलमाह मच्चित्त इति मयि चित्तं यस्य स मच्चित्तो मच्चेतस्क-स्त्वं मत्प्रसादान्निरुक्तकर्मानुष्ठानहेतुकान्मदनुग्रहात् सर्वदुर्गाणि निखिलानि संसार-सम्बन्धीनि दुर्गाणि तरिष्यसि । अथ चेद्यदि त्वमहङ्कारान्मद्वचनं न श्रोष्यसि तर्हि विनंक्ष्यसि विनाशमवाप्स्यसि । त्वया मन्नियोगानतिक्रमणे सर्वं भरः सर्वज्ञस्य ममैव

अर्थात् कर्म का अनुष्ठान करते हुए इस कर्तव्य बुद्धि योग का आश्रय ले करके, सतत सर्वकाल में मत् चित्त बनो मुझ परमात्मा में चित्त को स्थापित करके स्थिर हो जाओ अर्थात् मुझ सर्वेश्वर सर्व नियन्ता परमात्मा में संलग्न हृदय हो करके स्वाधिकारोचित सभी युद्धादिक कर्म को करते हुए भी तुम किसी प्रकार के दोषोंसे युक्त नहीं बनोगे ॥५७॥

जिस व्यक्ति ने सर्व नियन्ता भगवान् में अपने मन का समर्पण कर दिया है उस व्यक्ति को अशेष क्लेश के निवृत्ति लक्षण फल की प्राप्ति होती है और जो भगवन्मनस्क नहीं होता है उसका विनाश हो जाता है एतादृश विषमफल द्वय का कथन करने के लिए भगवान् भाष्यकार कहते है "भगवच्चित्तस्येत्यादि" भगवान् में चित्त मन को समर्पण करने से क्या फल होता है उस बात को बतलाने के लिये कहते हैं गीताचार्य "मच्चित" इत्यादि । मुझ परमात्मा सर्वशेषी सर्वनियन्ता भगवान् में संलग्न है चित्त मन जिसका उसे कहते हैं मच्चित्त हे अर्जुन ! तुम परमेश्वर चित्त होने से मेरी कृपा से पूर्व कथित कर्मानुष्ठान हेतुक मदनुग्रह से भगवदुक्त प्रकार से बुद्धियोग से युक्त तुम ईश्वर समर्पित चित्त हो करके वर्णाश्रमोचित सर्व कर्म का अनुष्ठान करते हुए सर्व दुर्ग को अर्थात् समस्त सांसारिक क्लेश से ओतप्रोत दुस्तर दुःख बन्धन को पार कर जाओगे । (लौकिक अथवा वैदिक ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जो कि सांसारिक क्लेश से बचा सके किन्तु परमेश्वर की कृपा ही एक ऐसा उपाय है जो जीव को संसार बन्धन से वियुक्त कराने में समर्थ है । अथ चेद् यदी त्यादि । यहाँ अथ शब्द पक्षान्तर के परिग्रह में है । यदि कदा चित् तुम अहंकार से (मैं अपने कर्तव्य को स्वयं जानता हूं इसलिए मैं कृतकृत्य हूं इत्याकारक अभिमान से) मेरे वचन को नहीं सुनोगे अर्थात् सुनते हुए भी यथावत् मदुक्त अर्थ का पालन नहीं करोगे तो विनष्ट हो जाओगे । तुम यदि मेरे नियोग का अतिक्रमण नहीं करोगे तब सभी प्रकार का भार मुझ सर्वज्ञ परमेश्वर पर ही रहेगा, तुम्हारे ऊपर किसी भी प्रकार का भार नहीं रहेगा, और यदि मेरी आज्ञा का अति-क्रमण करने पर मैं उदासीन हूं ऐसा मान करने पर प्रकृति पराधीन तुम्हारे द्वारा आचरित

यद्यहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

स्यान्न तु तव। मन्नियोगातिक्रमणे त्वहमुदासीनः स्यामतः प्रकृतिपराधीनेन त्वयाऽऽचरितस्याहितस्यानिष्टं फलं तवैव स्यादिति भावः॥५८॥

किञ्च संग्रामत्यागोऽपि त्वया कर्तुं न शक्यत इत्याह—यदीति यद्यहंकारमाश्रित्य मत्कथनमतिक्रम्य 'अहं न योत्स्ये' इति यदि त्वं मन्यसे चेत् तर्हि ते तवैष व्यवसायो

जो अहित कर्म है उसका नरकादि प्राप्ति लक्षण जो अनिष्ट फल है तादृश अनिष्ट फल तुम को ही प्राप्त होगा अन्य को नहीं होगा। तब पुनः सांसारिक क्लेश से विमुक्ति तुम्हें कभी नहीं होगी यह अभिप्राय भगवान् का है। सारांश यह कि यदि भगवान् को आज्ञा का पालन करोगे तब भगवत्कृपा से ही तुम को सांसारिक क्लेश समुदाय विनष्ट हो जायगा। और यदि भगवत् कृपा से बहिर्मुख रहोगे तो सांसारिक क्लेश की निवृत्ति नहीं होगी। यह प्रकृत श्लोक से व्यक्त भगवान् का अभिप्राय है।

यानी प्रकृत में अभिप्राय यह है कि—यदि जीव अपने में से कर्तृत्वाभिमान को छोड़ करके सर्वनियन्ता की पराधीनता का अवलंबन करता है तब भगवान् तादृश अनन्य भक्त के पराधीन होकर तादृश भक्त का जो क्लेश समुदाय है उसे दूर कर देते हैं क्योंकि भगवान् सर्व समर्थ हैं यदि कदाचित् जीव अपने में कर्तृत्व को रखता है तब प्रकृति पराधीन जीव स्वकीय शुभाशुभ कर्म का इष्ट अनिष्ट फल के अतिक्रमण करने में असमर्थ होता हुआ घटी यन्त्रवत् संसार यात्रा में ही लगा रहता है कभी भी संसार से निवृत्ति नहीं होती है॥५८॥

अनेक प्रकार का कर्म योग है इसमें से संग्रामातिरिक्त जिस किसी कर्म का अनुष्ठान करने से भगवदाज्ञा का परिपालन होगा तब आज्ञा के अपालन में जो विनाश रूप फल कहा है वह तो मुझे नहीं होगा एतादृश अर्जुन की शंका के निराकरण करने के लिए "यदि" इत्यादि भगवान् कहते हैं इसी वस्तु को समझाने के लिए भाष्यकार कहते हैं "किञ्चेत्यादि" और भी देखिये हे अर्जुन! आप जो मानते हैं कि अनेक प्रकारक कर्म के बीच में संग्राम का त्याग करके अतिरिक्त कर्मानुष्ठान मात्र से कृत कृत्यता तथा आज्ञापालन भी होगा यह अर्धजरतीं न्याय से अपने को कृत कृत्य समझते हो वह ठीक नहीं है क्योंकि वर्णाश्रम धर्म होने से क्षत्रिय के लिए संग्राम प्रधान तथा अति आवश्यक है अतः संग्राम का त्याग आप से अशक्य है इस विषय का कथन करते हैं गीताचार्य "यद्यहंकारमित्यादि" स्वकीय कर्तव्य कार्य में मैं सर्वथा स्वतंत्र हूं जैसे व्यक्त्यन्तर स्वकाय कर्तव्य में स्वतन्त्र है इस प्रकार का जो अहंकार

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

मिथ्या । तत्र हेतुमाह प्रकृतिरिति । यतः प्रकृतिः पूर्ववासनानुगुणः स्वभावस्त्वां प्रसह्य युद्धे नियोक्ष्यति प्रेरयिष्यति ।५९।

उक्तार्थमुपपादयति स्वभावजेनेति । हे कौन्तेय ! मोहाद् विपरीतज्ञानाद् यद् युद्धादिकं कर्त्तुं विधातुं नेच्छसि, स्वभावजेन तव क्षत्रियस्य प्राक्तनसंस्कारजनितेन स्वेन स्वीयेन कर्मणाशौर्य्यादिना निबद्धस्त्वं तदेवावशोऽसह्यशत्रुतिरस्कारप्रेरितः सन् करिष्यसि ॥६०॥

अभिमान है उस का अवलम्बन करके सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमेश्वर के कथन का अतिक्रमण करके मै कथमपि संग्राम नहीं करुंगा ऐसा यदि हे अर्जुन ! तुम मानते हो तो तुम्हारा जो यह व्यवसाय है अर्थात् स्वातन्त्र्याभिमान से जायमान जो संग्राम विरति विषयक अध्यवसाय (निश्चय) है वह मिथ्या निरर्थक है । संग्रामाभाव विषयक निश्चय क्यों मिथ्या है ! तो इसका कारण बतलाते हैं 'प्रकृतिरित्यादि' प्रकृति अर्थात् पूर्व वासनानुगुण जो स्वभाव है वह स्वभाव तुम्हें बल पूर्वक संग्राम में प्रेरित करेगा । सर्वेश्वर जो परमात्मा हैं सर्वनियन्ता उनकी अधीनता को छोड करके प्रकृति के अधीन होने से वह प्रकृति स्वभाव रूप से परिणत हो करके तुम्हें युद्ध में अवश्यमेव नियुक्त करेगी क्योंकि स्वभाव का त्याग अनतिक्रमणीय है । ऐसा अन्यत्र भी कहा है "अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते" सभी गुणों को अतिक्रमण करके स्वभाव सभी के शिर ऊपर चढ करके रहता है ॥५९॥

स्वभावाकार से परिणत जो प्रकृति वह तुम्हें बल पूर्वक युद्ध में प्रेरित करेगी इस प्रकार से पूर्व श्लोक में कथित जो अर्थ है उसी का उपपादन करने के लिये कहते हैं "स्वभावजेनेत्यादि" हे कौन्तेय ! कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मोह से अर्थात् विपरीत ज्ञान से जिस युद्ध को तुम नहीं करना चाहते हो वह स्वभावजनित अर्थात् क्षत्रिय का पूर्व कालिक शौर्य तेज धृति प्रभृतिक संस्कार से जाय मान जो स्वकीय क्षत्रिय सम्बन्धी जो कर्म है शौर्य तेज दान युद्धादिक उस शौर्यादिक कर्म से निबद्ध समन्वित हो करके परवश अर्थात् असह्य जो शत्रु का तिरस्कार है तादृश तिरस्कार से प्रेरित होकर अवश्यमेव युद्ध करोगे । यद्यपि विपरीत ज्ञान के कारण वर्तमान काल में युद्ध से उपरत भले बनो तथापि भविष्यत् काल में शत्रु के तिरस्कार से तिरस्कृत हो करके अवश्य युद्ध करोगे ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ? तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

नन्वचेतना प्रकृतिः कथं मां प्रेरयेदित्यत आह–ईश्वर इति। हे अर्जुन ! ईष्ट इतीश्वरः सर्वनियामको भगवान् श्रीरामो यन्त्रारूढानि प्राक्तनकर्मानुसृत्येश्वरसृष्टशरीरात्मकयन्त्रस्थितानि सर्वभूतानि मायया सत्त्वादिगुणमय्या प्रकृत्या भ्रामयन् प्राक्तनकर्मानुगुणं प्रवर्त्तयन् सर्वभूतानामखिलप्राणिनां हृद्देशे सकलप्रवृत्तिनिवृत्तिकारणभूतज्ञानावासस्थलहृदयप्रदेशे तिष्ठति। सर्वान्तर्यामिरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः। तथा च श्रुतयः

गत पूर्व श्लोक में कहा गया कि हे अर्जुन ? प्रकृति स्वभावाकार से परिणता तुम को युद्ध में प्रवृत्त करायेगी। भगवान् के इस प्रकार के वचन को सुन करके अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् प्रकृति तो जड पदार्थ है तो वह चेतन जो जीव उसे कैसे प्रवृत्त करायेगी ? यदि कदाचित् कहें कि अयस्कान्त लोह के समान जड वस्तु में भी प्रवर्त्तकता होती है तब तो ईश्वर की क्या आवश्यकता है। जड जो प्रकृति है उसके स्वभाव कर्म से ही सकल सृष्टि की उत्पत्ति हो जायगी तब ईश्वर सत्ता की आवश्यकता ही क्या रहेगी। इसमें भी इष्टापत्ति मानें तब तो "मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि" इत्यादि भगवद्वचन का बाध होता है इस प्रकार की अर्जुन की शंका को लक्षित करके भगवान् कहते हैं–"ईश्वरः" इत्यादि। हे अर्जुन ? परमेश्वर जो किसी भी प्राणी के नियमन करने वाले हैं वे सर्व नियामक भगवान् साकेताधिपति श्रीरामजी यन्त्र में आरूढ अर्थात् पूर्व पूर्व जन्मार्जित कर्म का अनुसरण करके परमेश्वर सृष्ट शरीरलक्षण यन्त्र में निवास करने वाले सभी हीन मध्यम उत्तम मनुष्यादि भूत समुदाय को माया के द्वारा अर्थात् सत्वरजस्तमो गुणमयी जो प्रकृति है वह पदार्थ मात्र के उपादान कारण लक्षण भगवदाश्रित माया के द्वारा घुमाते हुए अर्थात् पूर्व कालिक शुभाशुभ कर्म सहकार से तत्तत् कार्य में प्रवृत्त निवृत्त कराते हुए सभी भूत के प्राणीमात्र के हृदय देश में अर्थात् सकल प्रवृत्ति निवृत्ति में कारण लक्षण जो ज्ञान है उस ज्ञान का अधिष्ठान लक्षण हृदय देश में ईश्वर निवास करते हैं। अर्थात् सभी प्राणी के अन्तर्यामी रूप से रहते हैं। इस प्रकार श्रुति भी कहती है "य आत्मनि" इत्यादि। जो परमेश्वर आत्मा में जीव के अभ्यन्तर हृदय प्रदेश में निवास करते हैं। प्राणी के अन्तः हृदय प्रदेश में प्रविष्ट हो करके प्राणी मात्र के प्रशासन करनेवाले हैं। इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि ईश्वर सर्वाभ्यन्तर में अवस्थित हैं "आत्मनितिष्ठन्" "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादि। स्मृतियाँ भी कहती हैं कि "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः" सभी के अन्तःकरण हृदय प्रदेश में मैं परमेश्वर प्रविष्ट हूं मेरी कृपा से ही प्राणी मात्र के अन्तः करण में

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ? ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

'य आत्मनितिष्ठन्' 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामि' त्यादयः । स्मृतयश्च 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।' इत्याद्याः ॥६१॥

यद्येवं तर्हीश्वरप्रचारिताया अस्या मायाभ्रान्तेः कदाचिदपिनिवृत्तिर्न स्य दित्यत आह--तमिति । हे भारत ! तमेव हृद्देशेऽवस्थितं सर्वप्रेरकं भक्तवात्सल्येनेदानीं त्वत्सारथ्येऽवस्थितं मामिति सूचितम् । सर्वभावेन सर्वप्रकारेण वचसा मनसा कायेन च शरणं गच्छ तथा सति तत्प्रसादात् तस्य हृदयान्तर्यामिणोऽनुग्रहात् परां शान्तिं शाश्वतं च स्थानं 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' 'तेषां तत्परमं स्थानं सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्यादि श्रुतिस्मृति प्रतिपाद्यं प्राप्स्यसि ॥६२॥

ज्ञान स्मृति आदि की उत्पत्ति होती है । "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" जीव से अतिरिक्त एक उत्तम पुरुष है जो कि परमात्मा शब्द से कथित होते हैं जो परमात्मा सर्व नियन्ता भगवान् श्रीरामजी लोक त्रय में प्रविष्ट हो करके सभी का पालन पोषण करते हैं । हे अर्जुन ! केवल प्रकृति प्रवृत्ति निवृत्ति में कारण नहीं है किन्तु प्राणीमात्र के अन्तः प्रदेश में अवस्थित परमेश्वर प्रकृति के सहयोग से प्राणी प्राणी के प्रवर्तक तथा निवर्तक होते हैं इस ईश्वराधीन ही जीव की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होती है ॥६१॥

यदि परमेश्वर माया सहयोग से सकल प्राणी को घुमाते हैं तब तो ईश्वर नित्य हैं तथा ईश्वराधिष्ठित माया भी शाश्वतिक है तब एतादृग माया की तो कभी भी निवृत्ति नहीं होने से जीव को संसार निवृत्ति नहीं होगी ! इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं "तमेव शरण मित्यादि" हे भरत कुलोद्भव ! इस अनादिकाल प्रवृत्त त्रिगुण माया की निवृत्ति के लिए प्रत्येक प्राणी के हृदय में अवस्थित सभी के प्रेरक एवम् अभी भी वर्तमानकाल में वत्सलता के कारण तुम्हारे सारथी कार्य में सर्वदा संलग्न मुझ परमेश्वर को सर्वभाव से अर्थात् मन वाणी शरीर से उसी की शरण में जाओ ऐसा करने पर अर्थात् हृदयावस्थित परमेश्वर के शरणागत होने से भगवान् की कृपा से अर्थात् उस हृदयान्तर्यामी के अनुग्रह से परशान्ति (नित्य निरतिशय सुख लक्षण तथा सकल बन्धन निवृत्ति लक्षण मोक्ष को) को शाश्वत नित्य जो स्थान "तद्विष्णोः" वह विष्णु का परमपद है जिसे भक्त विद्वान् भगवत्कृपा से देखते हैं इत्यादि श्रुति स्मृति प्रसिद्ध स्थान को प्राप्त कर जाओगे । यद्यपि अनादि काल से प्रवृत्त

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

एवमनुष्ठेयतया सपरिकरं कर्मज्ञानभक्तियोगस्वरूपमभिहितं तेषूपादेयनिर्णयस्त्व-द्धीन इत्याह—इतीति इत्यनेन प्रकारेण ते तुभ्यं प्रपन्नाय मया त्वद्धितैषिणा गुह्याद्गुह्य-तरमैहिकादिफलप्रदाद् रहस्यभूताज्ज्ञानादतिरहस्यं कर्मज्ञानभक्तियोगलक्षणं मोक्षोपाय-भूतं निखिलं ज्ञानमाख्यातमेतत्त्रयमप्यशेषेण विमृश्य विवेकदृष्ट्या सम्यक् प्रविचार्य

भगवदाश्रित माया है उसकी निवृत्ति असंभवप्राय है तथापि "मामेव ये प्रपद्यन्ते" इत्यादि भग-वत्कथित प्रकार से जो भक्त विशेष भक्तवत्सल भगवान् के शरण में मन वाणी तथा शरीर से जाता है उसके लिए भगवान् माया का सवरण करके भक्त को परमपद का प्रदान करते हैं यह भावार्थ है ॥६२॥

द्वितीयाध्याय से लेकर कठारहवें अध्याय के बासठ वें श्लोक पर्यन्त प्रकरण से अनुष्ठेय रूप से कर्म योग ज्ञानयोग भक्तियोग के स्वरूप का कथन किया गया है। इन योगत्रय में से किस का ग्रहण करना किसे छोड़ देना एतादृश निर्णय हे अर्जुन ! तुम्हारे जैसे अधिकारी के अधीन है इस बात का कथन गीताचार्य करते हैं "इति ते" इत्यादि। इति अर्थात् पूर्वकथित प्रकार से हे अर्जुन ! प्रपन्न शरणागत तुम को शिष्य के हितेच्छुक परमात्मा कृष्ण वेषधारी मुझ सर्वेश्वर श्रीराम के द्वारा गुह्य से भी गुह्यतर अर्थात ऐहिक स्त्रीपुत्र धन प्रभृतिक तथा पारलौकिक इन्द्रादि पद प्रापक रहस्य भूत कर्मयोग ज्ञानयोग तथा भक्ति योग लक्षण जो कि मोक्ष के साधन भूत हैं एतादृश संपूर्ण ज्ञान का कथन किया गया है। इन तीनों कों कर्म ज्ञान तथा भक्ति योग त्रय को अशेष रूप से विचार करके अर्थात् विवेक दृष्टि से सम्यक् रूप से विचार करके जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। अर्थात् वर्णाश्रम धर्म होने के कारण अवश्य अनुष्ठेय है कर्मयोग इसलिये कर्मयोग का संपादन आवश्यक एवं कर्मयोग से साध्य है ज्ञानयोग अतः ज्ञान योग का संपादन करना भी अवसर प्राप्त है। अब ज्ञानयोग से भी अन्तरंग तथा कर्म ज्ञानोभय साध्य है भक्ति योग इसलिये भक्ति योगानुष्ठान भी अवश्य कर्तव्य है अतः आप अपने मन से विचार करके जैसा उचित समझो वैसा करो ऐसा भगवान् का अभिप्राय है ऐसा विदित होता है।

यहाँ सारांश यह है कि "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" पाप कर्म के क्षय होने के बाद ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है ऐसा नियम होने से सर्व प्रथम अन्तः करणस्थ जो पाप उसके विनाश करने के लिये तथा विद्या का संपादन करने के लिए कर्म का अनुष्ठान आवश्यक

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

यथेच्छसि तथा कुरु । वर्णाश्रमधर्मतयाऽवश्यानुष्ठेयं कर्मयोगं तत्साध्यं ज्ञानयोगं ततोप्यन्तरङ्गभूतं कर्मज्ञानाभ्यां साध्यं भक्तियोगं वा अनुतिष्ठेत्यर्थः ॥६३॥

एवं गीताशास्त्रं स्वानन्यभक्तायार्जुनायोपदिश्य तत्सर्वपरिशीलनक्लेशविनाशाय तत्सारभूतं तत्त्वं स्वयमेव करुणया प्राह–सर्वगुह्यतममिति । सर्वगुह्यतमं प्रोक्तेषु कर्मयोगादिषु गुह्येष्वपि गुह्यतमं परमरहस्यभूतं वाच्यार्थस्य गुह्यतमत्वे तत्प्रतिपादकवचसि गुह्यतमत्वोपचारः । मे मम सर्वज्ञस्य परममुत्कृष्टं वचो भूयोऽपि पूर्वमसकृदु-

है । ततः ज्ञानयोग तथा भक्ति योग जिसे होगया ऐसा पुरुष ज्ञानभक्ति की स्थिरता के लिए यावज्जीवन कर्मानुष्ठान अवश्यमेव करे । ज्ञान से पराभक्ति होती है और भक्ति मोक्ष का अन्तरंग कारण है इसलिये इन दोनों का अनुष्ठान भी नियत ही है इस प्रकार से कर्मज्ञान तथा भक्ति इन तीनों का अवश्य अनुष्ठेयत्व सिद्ध होता है । इस स्थिति में अपने अपने अधिकार के अनुरूप विचार करके यथेच्छ अनुष्ठान करना चाहिये ॥६३॥

सर्व जगत् नियन्ता परमेश्वर के अनन्य भक्त अर्जुन को गीता शास्त्र का उपदेश देकर के समग्र गीता शास्त्र का जो परिशीलन विचार तज्जनित वाचिकादि क्लेश विनाश करने के लिए गीताशास्त्र का सारभूत जो तत्व विशेष है उस तत्व का प्रतिपादन स्वयमेव भगवान् दयाभाव से अर्जुन को कहते हैं "सर्वगुह्यतममित्यादि"

अत्रायमभिप्रायः ऐहिक स्रक् चन्दनादि अर्थ प्रतिपादक जो शास्त्र है तज्जन्य ज्ञान की अपेक्षा पारलौकिक इन्द्रादिपद साधन धर्म बोधक ज्ञान गुह्य सूक्ष्म है अर्थ में सूक्ष्मता होने से एवं धर्म ज्ञानापेक्षया मोक्ष कारण रूप से कथित जो कर्म ज्ञानभक्ति योग है वह गुह्यतर है ऐसा अव्यवहित पूर्व श्लोक में कहा गया है । तथापि भक्ति ज्ञान कर्म साध्य होने से उत्कृष्ट होने से गुह्यतर है और यही भक्ति जब परमकाष्ठा को प्राप्त कर जाती है तब वह गुह्यतम कहलाती है । इस विषय–स्वकीय निश्चित अभिप्राय को 'मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी" इस प्रकरण में कह चुके हैं तो भी अब यहाँ उसी विषय को सिद्धान्त रूप से व्यवस्थित करके भक्त्यनुष्ठान का प्रतिपादन करते है 'सर्वगुह्यतममित्यादि" सर्वगुह्यतम अर्थात् कथित जो कर्म योगादिक गुह्यवस्तु है उनमें यह गुह्यतम है । परम रहस्यभूत जो वक्तव्य अर्थ है उस अर्थ के गुह्यतम होने से तादृश अर्थ का प्रतिपादक जो वाक्य है उसमें भी गुह्यतमत्व का उपचार होता है । मुझ सर्वज्ञ परमेश्वर का परम उत्कृष्ट वचन को भूयः पुनः यद्यपि वक्ष्यमाण पदार्थ पूर्व में अनेक वार प्रतिपादित हो गया है तथापि पुनः आप उसका श्रवण करें । यहाँ

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

पदिष्टमपि पुनः शृणु । श्रवणमत्रावधारणपर्यन्तमतः श्रुत्वावधारयेत्यर्थः । यतस्त्वं ममेष्टः प्रियोऽसि दृढमतिर्दृढाध्यवसायश्चासि । ततस्तव हितं श्रेयः साधकमेव वक्ष्यामि ॥६४॥

तदेवाह—मन्मना इति । मद्भक्तो मद्भजनैकपरायणस्त्वं मन्म । मय्यनन्यमनसानुरक्तिमान् भव तथा मद्भक्तः सन् मद्याजी निरतिशयप्रियमद्यजनशीलो भव, मां नमस्कुरु मामेव सर्वेश्वरं साष्टाङ्गप्रणिपातं कुरु । एवं कुर्वंस्त्वं मामेव नित्यनिरवद्यसर्वकल्याणगुणाकरं सर्वान्तर्यामिणमेष्यसि । एतद्वचः सत्यं ते प्रतिजाने तवाग्रे प्रतिज्ञां करोमि । न केवलं वाङ्मात्रेण प्रलोभनं करोमि यतस्त्वं प्रियोऽसि मे तव यथा मय्यनुरागोऽस्ति तथा ममाप्यतिशयप्रीतिस्त्वयि वर्तते । अतस्त्वमतिमात्रं प्रियोऽस्यतो मामेव प्राप्स्यसीति सप्रतिज्ञमुच्यते मया । नात्र सन्देहलेशोऽपि कार्य इति भावः ॥६५॥

श्रवण शब्द अवधारण पर्यन्त अर्थ को कहता है इसलिये सुन करके उसका निश्चय करें यह अर्थ होता है । जिसलिये हे अर्जुन ! आप मेरे इष्ट हैं प्रिय हैं । और आप दृढमति अध्यवसाय शील हैं । अतः आपके लिए हित अर्थात् श्रेयस कल्याण साधक वचन का ही उपदेश दे रहा हूं आप सुनें और समझें ॥६४॥

अतीत अनन्तर श्लोक से प्रतिज्ञात जो सर्व गुह्यतम पदार्थ है तादृश पदार्थ का उपदेश करते हैं 'मन्मनाभवेत्यादि' हे अर्जुन मन्मना भव मुझ परमेश्वर परमात्मा में अनन्य मन से अनुरक्तिमान् बनो मुझ परमेश्वर में ही मन है जिसका उसे कहते हैं मन्मना अर्थात् परमेश्वर व्यतिरिक्त ऐहिक पारलौकिक समस्त पदार्थ जात से मन को परावृत्त करके आनंदार्णव मुझ परमेश्वर में ही मन को निश्चल रूप से व्यवस्थित करो । तथा मुझ परमात्मा का भक्त बनते हुए मुझ परमेश्वर का यजनशील बनो अर्थात् मुझ परमेश्वर में अतिशय प्रीतिमान् यजनशील बनो तथा मुझ परमेश्वर को नमस्कार करो अर्थात् मुझ सर्वेश्वर सर्वनियन्ता परमात्मा को साष्टांग प्रणाम करो । साष्टांग प्रणाम आठ अंगों के द्वारा किया जाता है "पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा । मनसा वचसा बुद्ध्या प्रणामोऽष्टांग उच्यते ॥" दोनों पैर से दोनों जानु से उरसा (छाती) मस्तक से मन से वाणी से बुद्धि से एतादृश प्रणाम को साष्टांग प्रणाम कहते हैं । विशेष रूप से साम्प्रदायिक गुरु से इस प्रणाम के स्वरूप को जानना चाहिये । हे अर्जुन ! ऐसा करते हुए तुम मुझ परमेश्वर को निरवद्य सर्व कल्याण गुण के आकर समुद्र सर्वान्तर्यामी परमात्मा को प्राप्त कर जाओगे । यह मेरा परमेश्वर का वचन सत्य है तुम्हारे

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

एवं सततस्मरणादिलक्षणपरभक्त्या निश्रेयससिद्धिमभिधाय शरणव्रजनरूपशरणागतिरेव सर्वान् विरोधिभावान्निरस्य परमपुरुषानुभवलक्षणविलक्षणमोक्षसम्पादिकेति स्वकीयसिद्धान्तं दृढयति सर्वधर्मानिति। सर्वधर्मानित्यत्र धर्मशब्देन 'धर्मेण पापमपनुदती' तिश्रुत्यभिहिता भगवतोऽत्यर्थप्रियेण पुरुषेण सम्पादनीयाया भक्तेः प्रतिबन्धकानामनन्तकालसञ्चितानामकृत्यकरणकृत्याकरणात्मकानां पापानां प्रायश्चित्तात्मकाः कृच्छ्रचान्द्रायणादयो धर्माः समुदीरिताः। ते हि सर्वेत्युक्त्या विविधा बहुवचनेनानन्ताश्च बोध्याः। तथा चानन्तजन्मार्जितानां भगवद्भक्तिप्रतिबन्धकानां पापानां प्रायश्चित्तरूपेण विहितान् विलम्बितफलाननन्तकालसम्पादनीयानत एव दुष्करान् विविधाननन्तांश्च कृच्छ्रचान्द्रायणादीन् सर्वधर्मान् परित्यज्य स्वरूपतस्त्यक्त्वैकं मां सर्वज्ञं

आगे मैं मैं सच्ची प्रतिज्ञा करता हूं। केवल वाणीमात्र से तुम को प्रलोभन नहीं देता हूं क्योंकि जिसलिये तुम मेरे अतिशय प्रिय हो जिस प्रकार से मुझ परमेश्वर में तुम्हें अनुराग विशेष है उसी प्रकार से तुम्हारे ऊपर मेरा भी निरतिशय प्रेम है जिसलिये तुम मेरे अतिशय प्रिय हो इसलिये मुझ परमेश्वर को तुम अवश्य प्राप्त करोगे यह तुम्हें मैं प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूं। इस विषय में संदेहलेश भी नहीं करना ऐसा श्लोक का भाव है ॥६५॥

एवं पूर्वकथित प्रकार से सतत (हरहमेश) भगवान् का जो स्मरणादिलक्षण पराभक्ति है तादृश पराभक्ति के द्वारा आत्यन्तिक दुःखत्रय निवृत्ति निरतिशयानन्दावाप्तिलक्षण मोक्ष की सिद्धि होती है इस बात को कह करके शरणव्रजन लक्षण जो शरणागति है तादृश शरणागति ही सभी प्रकार के मोक्ष विरोधीभाव का निराकरण करके परमपुरुष परमात्मा का जो साक्षादनुभवलक्षण विलक्षण मोक्ष है उस का संपादक है यह जो स्वकीय सिद्धान्त है तादृश सिद्धान्त को दृढ करने के लिये कहते हैं 'सर्वधर्मानित्यादि'। श्लोकस्थ सर्वधर्मान् में धर्मशब्द से 'धर्मेण पापमपनुदति' धर्म से पाप का निराकरण किया जाता है अर्थात् धर्म पाप का विनाशक है इस श्रुति में कथित भगवान् का अति प्रिय व्यक्ति से संपादन करने के योग्य जो भक्ति है तादृश भक्ति का प्रतिबंधक अनेक जन्मान्तर से (अनादि काल से) संचित अकृत्य करण तथा कृत्य का अकरण लक्षण जो पाप समुदाय है तादृश पाप समुदाय का विनाशक जो प्रायश्चित्त स्वरूप चान्द्रायण कृच्छ्रचान्द्रायणादि लक्षण धर्म विशेष तादृश धर्म विशेष का ग्रहण होता है। (अर्थात् श्लोकस्थ सर्व धर्म का अर्थ है पापविरोधी चान्द्रायणादिक धर्म विशेष) वह धर्म सर्वपद के उपादान होने से अनेक हैं तथा बहुवचन के उपादान होने से अनन्त हैं। तब

सर्वथा समर्थवात्सल्यादिकल्याणगुणाकरमनन्तकरुणावरुणालयं सर्वेश्वरं च मामेव शरणमुपायं व्रज । सर्वविधसामर्थ्यहीनं दीनं मामवश्यं रक्षिष्यति सर्वविधसमर्थोऽनन्तवात्सल्यादिगुणैकमहार्णवो भगवान् श्रीराम इति महाविश्वासशाल्यध्यवसायात्मकं मत्प्रपदनं विधेहीत्यर्थः । अहं सर्वविधसामर्थ्यशाली सर्वज्ञः 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम । इत्युक्तप्रकारेण स्वाश्रितरक्षणे दीक्षितश्चाहं सर्वेश्वरस्त्वा मां समाश्रितं त्वां सर्वपापेभ्यो मत्प्राप्तिविरोधिभ्यः पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः शोकं मा कार्षीः । इहोपायबुद्ध्याऽनुष्ठानमेव सर्वधर्माणां वर्जितमिति भगवदाज्ञाकैङ्कर्यरूपतया कर्मणां भगवद्गुणानुभवरूपतया भक्तेश्च प्रपन्नैरनुष्ठानं न दोषावहम् । भगवदर्चनादौ प्रपन्नस्य प्रवृत्तिस्तु नोपायधिया किन्तु

ऐसा अर्थ होता है अनन्त जन्मान्तर से (अनेक भव परम्परा से) समुपार्जित भगवान् में होने वाली भक्ति का प्रतिबन्धक जो पाप तादृश पाप के अपनोदन के लिये प्रायश्चित्तरूप से विहित तथा विलंबित फलक एवम् अनन्तकाल में संपादन करने के योग्य अत एव अत्यन्त दुष्कर (करने के अयोग्य) अनेक प्रकार के अनन्त संख्या वाला कृच्छ्चान्द्रायणादिक सभी धर्म को छोड करके (परित्याग करके) अर्थात् स्वरूपतः इन सभी धर्मों का परित्याग करके केवल एक मुझ सर्वज्ञ सर्वथा समर्थ वात्सल्यादिकल्याण गुण के आकर समुद्र सदृश अनन्त करुणा दया के वरुणालय सर्वेश्वर परमात्मा श्रीराम की ही चरण में जाओ अर्थात् उपायरूप से मेरा अनुव्रजन करो । सभी प्रकार के सामर्थ्य से रहित अतिदीन मुझे अवश्यमेव रक्षण पालन करेंगे क्योंकि भगवान् सर्व प्रकार से समर्थ हैं अनन्त वात्सल्यादि गुण गण के आलय हैं भगवान् श्रीराम साकेताधिपति शरणागतवत्सल हैं अतः मेरीरक्षा अवश्यमेव करेंगे इस प्रकार से महाविश्वास युक्त अध्यवसाय लक्षण मेरा प्रपदन करो । मैं सर्व प्रकारक सामर्थ्य युक्त सर्वज्ञ हूं अतः एक बार भी मेरी प्रपत्ति करनेवाला मैं आप का हूं मेरी रक्षा करें ऐसी जो याचना करता है एतादृश प्रपन्न तथा याचक सभी प्राणियों को मैं अभय कर देता हूं यह मेरा व्रत है" इस प्रकार स्वाश्रित भक्त पुरुष के रक्षण करने में दीक्षित मैं सर्वेश्वर मेरी शरण में आगत तुम को सभी प्रकार के पाप से अर्थात् मेरी प्राप्ति होने में विरोधी जो पाप समुदाय हैं उन पाप समुदाय से तुम्हें मुक्त कर दूंगा तुम शोक मत करो अर्थात् किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करो । यहाँ उपाय बुद्धि से धर्मानुष्ठान का ही नाम है सर्व धर्म परित्याग अतः भगवान् की आज्ञा तथा कैंकर्यरूप से कर्म का तथा भगवान् के गुण का जो अनुभव तद्रूप से भक्ति का जो अनुष्ठान वह प्रपन्न भक्तों के लिये दोषाधायक नहीं है । और भगवान् श्री आर्चापूजा में जो प्रपन्न व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है

रागादेवेति ध्येयम् । सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वात्सल्यजलधेर्भगवतः श्रीरामस्य स्वभाव एवैष यद् स प्रार्थित एव सर्वं करोतीत्युपायत्वप्रार्थनाऽवश्यकर्त्तव्येत्यपि ध्येयम् । सेयमुपायत्वप्रार्थनैव प्रपत्तिः । प्रारब्धातिरिक्तकर्मनिवर्त्तकोऽसकृदाप्रयाणादनुष्ठेयश्च भक्तियोगः 'अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥' इत्यादिभगवद् वचनप्रामाण्यादन्तिमस्मृतिमपेक्षते, 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥' इति भगवच्छ्रीरामवचनप्रामाण्यात् सकृदेवानुष्ठेयः 'साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी' इतिवचनप्रामाण्यात् प्रारब्धस्यापि विनाशकश्च प्रपत्तियोगः । 'स्थिरे मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः । धातुसाम्ये स्थिरे स्मर्त्ता विश्वरूपं च मामजम् ॥ ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम् । अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां

वह उपाय रूप से नहीं किन्तु भगवान् में रागमूलक है। सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् वात्सल्य के जलधि स्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का एतादृश स्वभाव ही है जो प्रार्थना करने पर ही सभी अभिलषित वस्तु को संपन्न कर देते हैं । अतः उस तत्व की प्रार्थना अवश्य कर्तव्य है ऐसा समझना । सर्वेश्वर श्रीराम से उपायता की जो प्रार्थना है उसी का नाम है प्रपत्ति । प्रारब्ध कर्म से अतिरिक्त जो शुभाशुभ संचित तथा क्रियमाण कर्म है तादृश कर्म का निवर्तक यह भक्ति योग बारंबार अहर्निश मरण पर्यन्त अनुष्ठान करने के योग्य है। अर्थात् भक्तियोग का अनुष्ठान प्रायेण मरणपर्यन्त अहर्निश अवश्य करना चाहिये । क्योंकि "अन्तकाले चेत्यादि" अन्तकाल मरणकाल में मुझ परमेश्वर का स्मरण करता हुआ कलेवर (शरीर) को छोड कर के जो पुरुष जाता है वह मुझ परमेश्वर के भाव को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है इसमें कोई संदेह नहीं है" इत्यादि भगवान् के वचन के प्रामाण्य से अंतिमकालिक स्मरण अवश्य अपेक्षित है । "एकवार भी जो प्रपन्नजन मै आप परमानन्द स्वरूप का दास हूं इस प्रकार से याचना करनेवाला है एतादृश प्रपन्न उन प्राणियों को मैं परमेश्वर अभयकर देता हूं यह मेरा व्रत है अर्थात् मेरी प्रतिज्ञा है" इत्यादि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के वचन प्रामाण्य से सकृदेव एक वार ही प्रपत्तियोग अनुष्ठेय है । और 'साध्यभक्ति वह है जो कि प्रारब्ध कर्म को भी विनाश करनेवाली होती है' इत्यादि वचन प्रामाण्य से प्रपत्तियोग प्रारब्ध कर्म का भी विनाशक होता है । 'जहाँ तक मन स्वस्थ है शरीर नीरुज स्वस्थ है वात कफादि समभाव से चल रहा है इस स्वस्थ अवस्था में अज विश्वरूप मुझ परमेश्वर का जो स्मरण करनेवाला है मरणासन्न काष्ठ लोष्ठ के समान जडात्मक स्मर्ता अपने भक्त को मैं परम गति को प्राप्त कराता हूं" इस भगवद्वचन की प्रामाणिकता से प्रपत्तियोग में अन्तिमकालिक स्मरण भी अपेक्षित नहीं है भक्ति योग तथा प्रपत्तियोग

गतिम् ॥, इतिभगवदुक्तेः प्रमाणतयाऽन्तिमस्मृतिं नापेक्षते । इत्युभयोर्भक्तियोगप्रपत्तियोगयोर्विशेषः ।

प्रार्थनांशेन शरणागतिपदवाच्य आत्मनिक्षेपांशेन न्यासपदवाच्यश्च प्रपत्तियोग एव । आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनं रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं कार्पण्यञ्चेतीमानि प्रपत्तियोगस्य पञ्चाङ्गानि । तथा हि शास्त्रं 'अनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् । रक्षिष्यतीति विश्वासोगोप्तृत्ववरणं तथा । आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥" (अहिर्बुध्नि संहिता ३७।२८ इति ।) पञ्चापीमानि प्रपत्त्यङ्गानि बोधायनवृत्तिकृता भगवता श्रीपुरुषोत्तमाचार्यबोधायनेन श्रीपुरुषोत्तमप्रपत्तिषट्के विहितानि । तथा हि"राम! दीनोऽनुकूलोऽहं विश्वस्तोऽप्रातिकूल्यवान् । त्वयि न्यस्यामि चात्मानं पाहि मां पुरुषोत्तम ? ॥२॥ इति । "न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः । न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते ॥" (भरद्वाजसंहिता १।१४) इति शास्त्रप्रामाण्यादस्मिन् प्रपत्तियोगे सर्वेषामधिकारः ॥६६॥

में यही विशेषता है एक में तो अन्तिम स्मृति अपेक्षित है और द्वितीय में अंतिम स्मृति की भी आवश्यकता नहीं है ।

प्रार्थना अंश से गृहित शरणागति पद वाच्य प्रपत्तियोग है तथा आत्मनिक्षेपांश से न्यास पद वाच्य भी प्रपत्तियोग ही होता है । अनुकूलता का संकल्प प्रतिकूलता का निराकरण भगवान सर्वावस्था में सर्वत्र मेरी रक्षा करेंगे एतादृश विश्वास तथा गोप्तृत्व वरण और कार्पण्य ये पांच प्रपत्ति योग के अंग हैं । शास्त्र में भी ऐसा ही कहा है "आनुकूल्यस्य संकल्प इत्यादि" आनुकूल्य का संकल्प प्रातिकूल्य का वर्जन (परित्याग) भगवान् मेरी रक्षा करेंगे एतादृश विश्वास तथा गोप्तृत्व वरण आत्म निक्षेप और कार्पण्य ये छ प्रकार की शरणागति होती है (अहिर्बुध्नि संहिता ३७।२८। इति । इन पांचों प्रकार की प्रपत्ति के अंगों का वर्णन बोधायन वृत्तिकार भगवान् श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी बोधायन ने पुरुषोत्तम प्रपत्तिषट्क नामक ग्रन्थ में किया है । तथाहि "हे राम हे दयानिधे ! मैं अतिदीन व्यक्ति आप के अनुकूल हूं आप में मेरा पूरा विश्वास है कि आप अवश्य मेरा रक्षण करेंगे मैं कभी भी आपके प्रतिकूल नहीं हूं आप में अपनी आत्मा को समर्पण करता हूं' हे पुरुषोत्तम करुणा सागर ! मेरी रक्षा करें ॥इति॥ अनुपम अतिसरल इस प्रपत्तियोग में आपामरसाधारण सभी को अधिकार है ऐसा भारद्वाज संहिता में कहा है "यह प्रपत्तियोग जाति विशेष सापेक्ष नहीं है अर्थात् जिस प्रकार से राजसूय याग क्षत्रियत्वापेक्ष है यदि ब्राह्मण करे तो फलभागी नहीं होता है यथा वा वैश्य स्तोमयाग वैश्यजाति सापेक्ष है यथा वा प्रतिग्रह याजन अध्यापन ब्राह्मणत्वापेक्ष है उसी तरह यह प्रपत्ति योग अमुक जाति के लिए ही

इदं ते नानपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

एवं वेदशास्त्रसारं गीताशास्त्रमुपदिश्य तदनधिकारिणो दर्शयति—इदमिति । इदं कर्मज्ञानभक्त्यभिधायिगीताशास्त्रं ते तव हिताय मयोपदिष्टं त्वया चातपस्काय वाङ्मनःकायतपोरहिताय न वाच्यमभक्ताय देवगुरुभक्तिरहिताय न वाच्यं शुश्रूषारहितायाऽपि न वाच्यं यश्च मामभ्यसूयति मां द्वेष्टि तस्मायपि नैव वाच्यम् । एवमनधिकारिषु निषिद्धेषु करणत्रयतपोविशिष्टाय देवगुरुभक्तिसमन्विताय गीतारहस्यशुश्रूषापूर्णाय सर्वेश्वरे भगवति श्रद्धानुरक्तियुक्तायैवेदं गीता शास्त्रं त्वया वाच्यमित्युपदिष्टम्भवति ॥६७॥

है ऐसा नहीं अत एव द्विजाति भिन्न अनेक व्यक्ति प्रपत्ति के आश्रय ले करके कृत कृत्य हो गये हैं ऐसा इतिहास पुराण तथा लोक किंवदन्ती प्रसिद्धि है। इसी प्रकार से कुलापेक्ष भी नहीं है नवा ब्रह्मचर्यादि लिंगापेक्ष है नवा गुणापेक्ष है या क्रिया सापेक्ष है नवा देश कालापेक्ष है नवा अवस्थापेक्ष है। अतःसर्वजन सुलभ होने से इस प्रपत्तियोग का आश्रयण कर जीवन को कृत कृत्य बनाना चाहिये ॥६६॥

यथा वर्णित प्रकार से संपूर्ण वेद का सारभूत जो गीता शास्त्र है उसका उपदेश अर्जुन को दे करके अतः पर गीताशास्त्र के जो अनधिकारी हैं उनका कथन करते हैं 'इदं ते" इति। हे अर्जुन ! यह जो कर्म योग ज्ञान योग तथा भक्ति योग का बोधक गीताशास्त्र का उपदेश मैंने प्रियतम तुम को दिया है अब तुम इस यथोक्त गीताशास्त्र का उपदेश कायिक वाचिक मानसिक तपस्या रहित व्यक्ति को नहीं देना। एवं देव तथा गुरु में जो भक्ति रहित है उस व्यक्ति को भी गीता का उपदेश नहीं देना। तथा जो व्यक्ति शुश्रूषा रहित है उसे भी गीता का उपदेश नहीं देना एवं जो व्यक्ति मुझ में असूया करता है अर्थात् मेरा द्वेष करता है उस व्यक्ति को भी गीताशास्त्र का उपदेश नहीं देना। इस प्रकार से गीता श्रवण में अनधिकार का निराकरण करने से अधिकारी स्वरूप का भी निश्चय किया गया कायिक वाचिक तथा मानसिक तपस्या विशिष्ट और देव तथा गुरु में भक्ति युक्त तथा गीतारहस्य के शुश्रूषापूर्ण तथा सर्वेश्वर भगवान् में श्रद्धानुरागयुक्त व्यक्ति को ही गीताशास्त्र तुम सुनाना ऐसा भगवान् का आदेश है ॥६७॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

उपदिष्टस्यार्थस्य भगवद्भक्तगोष्ठीषु कथयितुरपि श्रेयोरूप फलमाह य इति । यो मद्भक्त इदं यन्मयोपदिष्टं परमं गुह्यं मदनन्यभक्तेष्वभिधास्यति । स्वयञ्च मयि परम-कारुणिके परां यथा मयोपपादिता तथाविधामुत्कृष्टतमां प्रेमलक्षणां भक्तिं कृत्वा मामेवै-ष्यति नास्त्यत्र संशयः ॥६८॥

पूर्वोक्तार्थे हेतुमाह नेति । भुवि भूमौ मनुष्येषु तस्मात् परमगुह्यस्यार्थस्य वक्तु-रन्यः कश्चिदपि मे प्रियकृत्तमोऽतिशयेन प्रियकृन्नास्तीदानीन्तनसमये तथा तस्मादन्यः

उपदिष्ट जो परम गोप्य अर्थ है उसका अनधिकारी कौन है इसका कथन करके इसके बाद गीताशास्त्र के अधिकारी भगवान् के भक्त समुदाय में जो इस गीताशास्त्र का कथन करेगा उसे भी परम्परया मोक्ष रूप फल की प्राप्ति होगी इस बात को बतला रहे हैं "य इमं परममि-त्यादि" जो मुझ परमेश्वर का परमभक्त मुझ से उपदिष्ट परमगुह्य गीताशास्त्र को मेरा परमेश्वर का जो परमभक्त है उसे सुनायेगा । और स्वयं परम कारुणिक परमात्मा मुझ में यथा वत् भगवान् से उपदिश्यमान प्रेमलक्षण पराभक्ति को करेगा प्रेम लक्षण पराभक्ति का संपादन करके मुझ परमेश्वर सर्वेश्वर को अवश्यमेव प्राप्त करेगा इस में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है । जिस प्रकार भक्ति रहित कर्म योगी अथवा ज्ञानी अध्रुवफल को प्राप्त करता है उस प्रकार मेरा भक्त कभी भी अध्रुव फल को प्राप्त नहीं करता है किन्तु ध्रुव फल को ही प्राप्त करता है असंशयपद का ऐसा तात्पर्य है । भगवान् की प्रतिज्ञा भी है कि "न मद्भक्तः प्रण श्यति" कभी भी मेरा अनन्यभक्त मोक्ष लक्षण फल से वंचित नहीं होता है ॥६८॥

पूर्वश्लोक प्रतिपादित अर्थ में कारण का कथन करते हैं अर्थात् भगवान् से उपदिश्यमान जो गीताशास्त्र लक्षण अर्थ है वह भगवान् की प्राप्ति में कारण है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं 'न च तस्मादित्यादि" भूमि पृथिवी में अखिल मनुष्यों के मध्य में उससे अर्थात् गीता-शास्त्र लक्षण जो परमगुह्य अर्थ है तादृश परम गुह्य तत्त्व का प्रतिपादन करने वाला जो मनुष्य उस मनुष्य से अन्य भिन्न कोई भी व्यक्ति प्रियकृत् अतिशय प्रियतर व्यक्ति इस समय नहीं है अर्थात् परम गुह्य अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला व्यक्ति जिस प्रकार मेरा प्रिय है तादृश प्रियतम व्यक्ति तदन्य कोई भी इस समय नहीं है । और गीतोपदेशक व्यक्ति से भिन्न कोई भी प्रियतर अतिशय प्रिय इस भू लोक में नहीं होनेवाला है । अर्थात् जिस प्रकार परमगुह्य गीताशास्त्र का उपदेश करनेवाला पुरुष मेरा प्रिय है उस प्रकार का प्रिय तदतिरिक्त व्यक्ति नहीं है न वा

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

कश्चिदपि प्रियतरोऽतिशयेन प्रियो भुवि भूलोके नैव भविता । अनादिवासनावशादाध्यात्मिकादितापत्रयोद्विग्नान् मद्भक्तान् मदुपदेशदानेन यः समुद्बोधयति स सर्वदा ममात्यन्तप्रिय इत्याशयः ॥६९॥

इदानीं गुरुमुखादधीतस्य फलमाह—अध्येष्यत इति । योऽध्येताऽऽवयोः कृष्णार्जुनयोरिमं धर्म्यं संवादं श्रुतिस्मृतिसिद्धान्तभूतमध्येष्यते गुरुमुखात्संश्रुत्य स्वयं तदर्थानुसन्धानपुरस्सरं नित्यं पठिष्यति तेन पुरुषेण सर्वयज्ञश्रेष्ठेनज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः पूजितः स्यामित्येव मे मतिर्निश्चयोस्ति ॥७०॥

होनेवाला है। अनादि कालिक भव परम्परा से संप्राप्त अनादि वासना के बल से संप्राप्त जो शरीर मानस लक्षण आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक तापत्रय तादृश तापत्रय से सतत उद्विग्न (सर्वदादुःखी) जो मेरा भक्त है तादृश मेरे भक्त को मेरे उपदेश के प्रदान द्वारा जो भक्त विशेष समुद्बोधित करता है तादृश व्यक्ति सर्वदा मेरा अत्यन्त प्रिय है ऐसा भगवत्कथन का अभिप्राय है ॥६९॥

जो पुरुष भगवान् के भक्त को परमगुह्य गीताशास्त्र का अध्ययन कराता है वह भगवान् का प्रीतिपात्र बनता है तो एतादृश फल विशेष उपदेश्य को प्राप्त होता है वह गत पूर्वश्लोक से प्रतिपादन करके अब परम पवित्र परम्परया मोक्षफल को देनेवाला जो गीताशास्त्र है तादृश गीता शास्त्र का अध्ययन जो गुरु मुख से विधिवत् करते हैं उन अध्येता व्यक्तियों को क्या फल प्राप्त होता है इस जिज्ञासा की निवृत्ति करने के लिए तादृश शास्त्र के तादृश अध्ययन का फल अध्येता को बतलाने के लिए कहते हैं 'अध्येष्यते च' इत्यादि। जो कोई व्यक्ति विशेष अध्ययन कर्ता पुरुष हम दोनों का कृष्ण अर्जुन का यह जो धर्म्य धर्म सम्बन्धी श्रुति स्मृति सिद्धान्तभूत संवाद है उस का अध्ययन करेगा अर्थात् इस गीताशास्त्र को गुरु मुख से यथाविधि श्रवण करके स्वयं गीताशास्त्र का जो अर्थ है उसका अनुसन्धान पूर्वक प्रतिदिन पठन करेगा उस पुरुष से सभी यज्ञों में श्रेष्ठ जो ज्ञान लक्षण यज्ञ है तादृश ज्ञान यज्ञ द्वारा मैं सर्वेश्वर सर्वनियन्ता परम पुरुष श्री कृष्ण इष्ट अर्थात् पूजित होऊंगा ऐसी मेरी मति है अर्थात् एतादृश मेरा निश्चय है। यानी जो व्यक्ति शास्त्र प्रसिद्ध गुरूपसदनादि विधि पूर्वक गुरु मुख से गीता का श्रवण करके तदर्थानुसधान पूर्वक पठन करेगा उस पुरुष के द्वारा मैं श्रीकृष्ण सर्वयज्ञ श्रेष्ठ ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊंगा ऐसा होने से भगवत् पूजन लक्षण फल विशेष अध्येता को प्राप्त होगा यह भगवान् का निश्चय मन्तव्य है ॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ? त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ? ॥७२॥

इदानीं श्रवणफलमाह श्रद्धावानिति । श्रद्धावान् गुरुभगवच्छास्त्रवचस्सु विश्वस्तोऽनसूयश्चासूयाविहीनश्च यो नरः पुरुषः शृणुयादपि चेदावयोः संवादमितिशेषः । तर्हि सोऽपि श्रवणमात्र विशिष्टोऽपि पुरुषो मुक्तो भक्ति प्रतिरोधकेभ्यः पापेभ्यो विमुक्तः सन् पुण्यकर्मणां मदा राधनात्मकपुण्यकर्मशालिनां शुभांल्लोकान् प्राप्नुयादवाप्नुयात् ॥७१॥

इदानीं ज्ञाताभिप्रायोऽपि भगवानज्ञानिवोपदेशसफलतां पृच्छति कच्चिदिति ।

जो व्यक्ति गीता शास्त्र का अध्यापन करता है तथा जो व्यक्ति विशेष परम गुह्य गीताशास्त्र का यथाविधि अध्ययन करता है उन दोनों को क्या फल मिलता है वह पूर्वश्लोक द्वय से बतलाया गया अब जो श्रद्धाशील व्यक्ति मात्र गीताशास्त्र का श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है उसे क्या फल मिलता है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं 'श्रद्धावाननसूयश्चेत्यादि'' गुरुवचन में तथा भगवदुपदिष्ट शास्त्र में श्रद्धावान् अर्थात् गुरुवचनादिक में विश्वासशाली तथा अनसूय असूया रहित (गुण में दोष का आविष्करण करने का नाम है असूया तादृश असूया से रहित) जो मनुष्य है वह श्रीकृष्ण तथा अर्जुन इन दोनों के गीताशास्त्र का जो संवाद है उसका श्रवण करे तो तादृश श्रवण कर्ता व्यक्ति भी श्रवणमात्र विशिष्ट होने से भगवान् में होनेवाली जो भक्ति तादृश भक्ति का प्रतिबन्धक जो पापविशेष है तादृश पाप विशेष से विमुक्त होता हुआ पुण्य कर्मा अर्थात् भगवान् के आराधनात्मक जो पुण्य है तादृश पुण्य कर्मशाली जो व्यक्ति हैं उनका जो शुभ लोक है तादृश शुभलोक को प्राप्त करता है । अर्थात् गीताशास्त्र के अध्ययन अध्यापन करानेवाले महापुरुषों को जिस निर्मलस्थान की प्राप्ति होती है तादृश लोक की प्राप्ति श्रद्धादि पूर्वक श्रवण शील व्यक्ति को भी होती है प्राप्ति प्रतिबन्धकाभाव होने से ।७१।

सर्वज्ञ होने के कारण सभी के अभिप्राय को जानते हुए भी भगवान् अज्ञानी पुरुष के समान स्वकीय गीताशास्त्रोपदेश की सफलता को अर्जुन से पूछते हैं "कच्चिदित्यादि" अर्थात् उपदेश का फल होना है अज्ञान की निवृत्ति तथा विवेक ज्ञान का प्रादुर्भाव तो अर्जुन को

॥ अर्जुन उवाच ॥

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत? ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

हे पार्थ? एकाग्रेण स्थिरेण चेतसा चित्तेन त्वयैतन्मदभिहितं श्रुतं कच्चित् ! मदुपदिष्टं वस्तुजातं त्वया ज्ञातं न वेत्यर्थः । हे धनञ्जय ! ते तवाज्ञानसंमोहोऽज्ञानजन्यो भ्रमः प्रणष्टः कच्चित् ? निः शेषं विनष्टो न वेत्यर्थः ॥७२॥

उक्तप्रकारेण पृष्टः कृतज्ञोऽर्जुनोऽभिधत्ते नष्ट इति । हे अच्युत ? मोहोऽनात्मनि देह आत्माभिमानात्मको भगवदात्मके प्रपञ्चेऽभगवदात्मकत्वाभिनात्मको भगवदन्ना-
फलद्वय की प्राप्ति हुई की नहीं इस बात को जानते हुए भी मनुष्य लीला करते हुए मानुषिक मर्यादा का पालन करते हुए साधारण मनुष्य के समान पूछते हैं "कच्चिदित्यादि" हे पार्थ कुन्तीपुत्र ! एकाग्रस्थिर सावधान चित्त मन से तुम ने मुझ सर्वज्ञ से कथित परमगुह्य गीता-शास्त्र के अर्थ को बराबर सुना क्या ? अर्थात् मुझ से उपदिश्यमान पदार्थ समुदाय को जाना अथवा नहीं जाना ? हे धनञ्जय ? तुम्हारा अज्ञान से जायमान जो संमोह (भ्रम) वह नष्ट हुआ अथवा नहीं अर्थात् समूल भ्रम निवृत्त हुआ की नहीं जिस अज्ञान से विमूढ हो करके मैं लडाई नहीं करूंगा इत्यादि अनेक कारण प्रदर्शन पूर्वक अपनी पंडिताई का प्रदर्शन कर रहे थे वह भ्रम दूर हुआ अथवा नहीं यदि उपदेशानन्तर में भी भ्रम नहीं गया हो तो मैं तुम्हारा पुनः भ्रम दूर करने के लिये प्रयत्न करुं । पार्थ संबोधन से यह अभिव्यक्त होता है कि आप मेरे अतिप्रिय सम्बन्धी व्यक्ति हैं तो जो मैं कहूंगा उसे आप अवश्य स्वीकारेंगे। और द्वितीय संबोधन से यह सिद्ध होता है कि आप बल पूर्वक राजाओं से धन जीतकर लाने वाले हैं तब दुर्योधन के साथ आप संग्राम करने में समर्थ हैं तथा उनलोगों को परास्त करने में भी समर्थ हैं अतः अवश्यमेव आप संग्राम करने का निश्चय करें ॥७२॥

पूर्वोक्त प्रकार से भगवान् से पूछने पर अपनी कृतज्ञता को प्रकाशित करते हुए अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं 'नष्टो मोहः" इत्यादि । हे अच्युत ! जो स्वकीय रूप से कभी भी च्युत विनष्ट नहीं हो उसका नाम है अच्युत । वास्तविक अच्युतपदवाच्यता भगवान् में ही है तदन्यत्र में जो व्यवहार होता है अच्युत पद का वह गौणी वृत्ति को ले करके है जैसे माणवक में अग्निपद का व्यवहार होता है । हे अच्युत ! आपके वचन से मेरा जो मोह अज्ञान था वह नष्ट हो गया । अनात्मभूत देहेन्द्रियादिक में जो आत्मत्व प्रकारक अभिमान है उसे कहते हैं मोह यथा वा भगवान् के शेषरूप से स्थित भगवान् के स्वरूप आकाशादि

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

सिसाधनभूतेषु भगवदाराधनात्मकेषु कर्मस्वतद्वासिसाधनत्वात्मकश्च विपरीतज्ञानात्मको ममाखिलो मोहस्त्वत्प्रसादात्त्वदनुग्रहान्नष्टो विनाशमवाप्तः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वजगत्कारणं सर्वदोषप्रतिभटः कल्याणगुणगणार्णवो भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नोभगवानेव मुक्तिप्रद इतिज्ञानरूपा स्मृतिश्च मया लब्धा । इदानीं गतसन्देहः सन् स्थितोऽस्मि । ममात्यन्तमुपकर्तुस्तव वचनं युद्धादिविषयकं त्वत्कथनमहं करिष्ये ॥७३॥

श्रीकृष्णार्जुनसंवादसमाप्त्यनन्तरं पृच्छन्तं धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय उवाच इत्यह-

प्रपंच में भगवद् भिन्नत्व प्रकारक ज्ञान एवं भगवान् की प्राप्ति में कारण लक्षण जो भगवदाराधनात्मक कर्म समुदाय है उस में असाधनत्व प्रकारक विपरीत ज्ञानात्मक मोह एतादृश सकल मोह आपके प्रसाद अर्थात् आपकी कृपा से आपके अनुग्रह से विनष्ट समूल नाश को प्राप्त कर गया है जैसे सूर्य के प्रकाश से शार्वर जो तम है वह समूल विनष्ट हो जाता है और भगवान् सर्व शरीरक हैं सर्वज्ञ हैं सर्वशक्तिमान् है स्थावर जंगम सकल जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं सभी प्रकार के जो प्राकृत दोष हैं उसके विरोधी भगवान् हैं तथा सकल कल्याण गुण गण के वरुणालय हैं जो आप अनन्या भक्ति तथा प्रपत्ति से प्रसन्न हो करके स्वांग शेष भूत जीव को सद्यः मोक्ष प्रदाता हैं एतादृश ज्ञान लक्षण स्मृति को भी मैं ने आपके अनुग्रह से प्राप्त किया है । हे भगवन् ! अभी मैं गत सन्देह होकर स्थिर हूं (सन्देह के कारण उद्भ्रान्त चित्त होने से मैने विवेक रहित हो करके आप के साथ निरर्थक बकवाद किया था । परन्तु अब सन्देह रूप कारण के अभाव तथा विवेक प्राप्ति से मै स्थिर चित्त हो गया हूं) अतः पर मैं अत्यन्त उपकारी आपका वचन अर्थात् युद्धादि विषयक कथन को अवश्यमेव करुंगा । यहाँ युद्ध कर्तव्यता का विधान नहीं है किन्तु प्रतिबन्धक जो मोह है तदपनयनमात्र में तात्पर्य है । क्षात्रधर्म होने से युद्ध कर्तव्यता तो प्राप्त ही है । अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाला ही शास्त्र विधायक होता है और जो प्राप्त प्रापक है वह तो अनुवादक मात्र है ।७३।

श्रीकृष्ण भगवान् तथा अर्जुन का जो विलक्षण संवाद है उसकी समाप्ति के बाद पूछने वाले धृतराष्ट्र राजा के प्रति संजय कहते हैं 'इत्यहमित्याहि'' हे धृतराष्ट्र राजन् ! मैं संजय महात्मा वासुदेव श्रीकृष्ण का तथा महात्मा पार्थ पृथा पुत्र अर्जुन का अद्भुत आश्चर्य जनक तथा रोमहर्षण रोमांच जनक यथोक्त इस संवाद को मैं ने सुना । वसुदेव महाभाग्यवान् हैं अतिधन्य हैं जिनके घर में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अवतार लिया है और पृथा कुन्ती भी

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ७५
राजन् ? संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।७६।

मिति । अहं महात्मनो वासुदेवस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य पार्थस्य पृथापुत्रस्यार्जुनस्य चाद्भुतं रोमहर्षणञ्चेतीमं संवादमश्रौषम् ॥७४॥

दूरस्थितोऽपि त्वं कथमश्रौषीरित्यत आह व्यासप्रसादादिति व्यासप्रसादाद् व्यासानुकम्पातः । व्यासानुकम्पयाऽवाप्तदिव्यनेत्रश्रोत्रत्वादित्यर्थः । अहमेतत् परं गुह्यम् । गुह्यतरमितियावत् । योगं योगेश्वरात् साक्षात् कथयतः कृष्णात् स्वयं श्रुतवानस्मि ॥७५

ततः किमित्याह राजन्निति । हे राजन् ! केशवार्जुनयोरिममद्भुतं परमाश्चर्यकरं

अतिधन्या हैं जिस कुन्ती के पुत्र परम भागवत हैं जो भगवान् श्रीकृष्ण से अनुगृहीत्त हैं और प्रतिक्षण भगवान् श्रीकृष्ण के साथ संवाद करने में तत्पर रहते हैं । हे धृतराष्ट्र ! आपतो अत्यन्त जघन्य हतभाग्य हैं जिनके पुत्र दुर्योधनादिक पुरा परिवार परमात्मा श्रीकृष्ण से पराङ्मुख हैं तथा श्रीकृष्ण के भक्त के साथ अतिद्रोह करनेवाले हैं एतादृश अभिप्राय वासुदेव तथा पार्थ शब्द से अभिव्यक्त होता है ॥७४॥

हे संजय ! तुम तो अत्यन्त दूर में हो तब तुम ने इस कृष्णार्जुन संवाद को किस प्रकार से सुना जो अभी मुझे सुना रहे हो ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं 'व्यास प्रसादादित्यादि' श्रीव्यास महर्षि के प्रसाद अनुकंपा से व्यास ऋषि की अनुकंपा से मैने दिव्य नेत्र तथा श्रोत्रेन्द्रिय को प्राप्त कर लिया है इसलिये दूर व्यवहित पदार्थ को भी करामलक के समान देखने सुनने में समर्थ हूं इसलिए यह अत्युत्कृष्ट गुह्य योग अर्थात् योग प्रधानक भगवान् के निदिध्यासनलक्षण योग को योगेश्वर श्रीकृष्ण परमात्मा से साक्षात् स्वयं कहते हुए श्रीकृष्ण से स्वयं मैं ने सुना अर्थात् साक्षादेव भगवान् से मैं ने सुना है न तु परम्परया सुना है जो कि आप को अभी सुना रहा हूं और सुना चुका हूं ॥७५॥

केशव तथा अर्जुन के आश्चर्य जनक संवाद श्रवण से क्या हुआ इस जिज्ञासा के उत्तर में संजय राजा धृतराष्ट्र से कहते हैं 'राजन्नित्यादि' हे राजन् धृतराष्ट्र ! केशव भगवान् श्रीकृष्ण का तथा अर्जुन कुन्ती पुत्र का यह अद्भुत विलक्षण परम आश्चर्य प्रापक अतएव पुण्यजनक प्रश्न प्रतिवचन लक्षण जो संवाद जिसे मैं ने व्यास की अनुकम्पा से सुना है उस सवाद [illegible] स्मरण करके सम्यक्रूप से स्मरण करके वारवार प्रतिक्षण हर्ष विलक्षण आनन्द को

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् ? हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

श्रीमते रामचन्द्राय नमः

पुण्यजनकं संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य सम्यक् स्मारं स्मारं मुहुर्मुहुर्वारं वारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि प्रतिक्षणमिति शेषः ॥७६॥

भगवतो विराड्रूपदर्शनमनुसन्धायाह तदिति । हे राजन्? तद्धरेरत्यद्भुतं लोकलोचनचमत्कृतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य मे मम महान् विस्मयो जायते । पूर्वपुण्योदयादेव तद्रूपमपश्यमिदानीं पुनः पुनर्हृष्याम्यनुक्षणं हर्षमाप्नोमि ॥७७॥

एवमपि कदाचिन्मम पुत्रस्यापि विजयः स्यादिति धृतराष्ट्रसम्भावनामपाकुर्वन्नाह यत्रेति । यत्र पक्षे योगेश्वरो योगो जगदुत्पत्तिपालनप्रलयसामर्थ्यं तस्येश्वरोऽचिन्त्य-

प्राप्त कर रहा हूं। हे राजन्! पुण्यजनक संवाद का स्मरण करके प्रतिक्षण मैं एक विलक्षण आनन्द का अनुभव करता हू क्योंकि आजतक किसी ने एतादश भगवान् के विश्वरूप का दर्शन नहीं प्राप्त किया था जो कि व्यास प्रसाद से तथा भगवान् की कृपा से मुझे प्राप्त हुआ है ।७६॥

भगवान् श्रीकृष्ण का विराट् रूप का जो दर्शन हुआ है उसका अनुसंधान करके संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं 'तच्च सस्मृत्य' इत्यादि । हे राजन् धृतराष्ट्र ! भगवान् कृष्ण का अति अद्भुत अर्थात् संपूर्ण लोक लोचन में चमत्कार प्रापक जो रूप अनेक बाहूरादिक स्वरूप विशेष उनरूप का स्मरण करकरके मुझे महान् विस्मय होता है मै अत्यन्त पुण्यशाली हूं पूर्वजन्म के पुण्योदय से ही मुझे भगवान् के स्वरूप का दर्शन प्राप्त हुआ और अभी मै पुनः पुनः बारंवार (अनुक्षण) हर्ष आनन्दातिरेक को प्राप्त करता हूं ॥७७॥

हे संजय ! यद्यपि यह स्थिति है तथापि कदाचित् मेरे पुत्र को भी विजय प्राप्त हो सकती है क्योंकि संग्राम तो समुद्र तरंगवद् आगे पीछे होता है एतादश स्वपुत्र विजयाशा की सम्भावना को निर्मूल करते हुए सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं "यत्र योगेश्वरः' इत्यादि । हे धृतराष्ट्र राजन् ! जिस पक्ष में योगेश्वर योग नाम है जगत् की जो उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय का एतादश उत्पन्यादि सामर्थ्य जिसमें हो तादश योग के ईश्वर अर्थात् अचिन्त्य शक्तिमान् तथा

शक्तिरमोघपराक्रमो भगवान् श्रीकृष्णो यत्र पक्षे पार्थः पृथासूनुरर्जुनो धनुर्धरो गाण्डीवधन्वाऽवस्थितस्तत्रैव श्रीराजलक्ष्मीर्विजयः संग्रामेविजयो भूतिर्विशिष्टा समृद्धि-र्नीतिः प्रजापालनन्याय्य वृत्तिर्ध्रुवा भवति। ध्रुवशब्दस्य प्रत्येकमन्वयः । तथा च श्रीभूतिनीतिविजयादयः सर्वे ध्रुवा एव भवन्तीत्येवं मम ध्रुवा मतिरस्ति । तस्मात्त्वं स्वपुत्रजीवितकामश्चेदाशु भगवदाश्रितैस्तेजोबलसमन्वितैर्धार्मिकैः पाण्डवैः सह सन्धि विधेहीति भावः । इति मम मतिरित्युक्त्या तव मतिर्नैवमिति सूच्यते । तत्र कारण-मुक्तमुद्योगपर्वणि, स्वपुत्रस्य राज्यादिकमाशासानस्य ते लोभवासनया मतिविभ्रमो जातः । तदुक्तं तत्रैव 'श्रृणु राजन्? न ते विद्या मम विद्या न हीयते । विद्या हिनस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम् (भा० उ० ६९।२) किञ्च 'भूयो भूयो हि यद्राजन् पृच्छसे पाण्ड-वान् प्रति । सारासारबलं ज्ञातुं तत्समासेन मे श्रृणु ।। एकतो वा जगत्कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः । सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ।। भस्म कुर्याज्जगत्सर्वं मनसैव जनार्दनः । न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ।। यतः सत्यं यतो

अमोघपराक्रमशाली भगवान् श्रीकृष्ण जिस पक्ष में हैं तथा जिस पक्ष में पृथा सुनु कुन्तीपुत्र अर्जुन धनुर्धारी गांडीव धनुषवाले अवस्थित विद्यमान् हैं हे राजन् ! उसी पक्ष में श्रीराजलक्ष्मी रहेगी तथा विजय संग्राम में विजय भी उसी पक्ष में होगी तथा भूति विशिष्ट समृद्धि एवं नीति प्रजा-पालन करने में न्यायवृत्ति ध्रुव निश्चित रूप से होती है यहाँ श्लोकस्थ जो ध्रुव शब्द है उसका अन्वय प्रत्येक में है श्रीभूति नीति विजय ये सभी ध्रुव निश्चित है यह मेरी ध्रुवमति है। हे राजन् ! जिसलिये जिस पक्ष में भगवान् हैं उसी पक्ष में जब विजयादिक हैं इसलिये आपयदि स्वकीय पुत्रों के जीवन कामनावान् हैं तो बहुत शीघ्र भगवान् श्रीकृष्ण के आश्रित तेज बल शौर्यादि से युक्त धार्मिक न्यायमार्ग से चलने वाले पाण्डव के साथ सन्धिकर लीजिए ऐसी मेरी मति है, संजय के ऐसे कथन से सिद्ध होता है कि धृतराष्ट्र की ऐसी मति नहीं है। धृतराष्ट्र की ऐसी मति नहीं हैं किन्तु संजय की ऐसी मति है इसके कारण का कथन महाभारत के उद्योगपर्व में किया है। स्वपुत्र के लिए राज्य की आशा करनेवाले आपको लोभ वासना से मति विभ्रम हो गयी है। इस बात को उद्योगपर्व में ही कहा है "हे राजन् धृतराष्ट्र ! आपके अन्दर ज्ञान नहीं है विद्या से रहित अज्ञानावृत मनुष्य भगवान् जनार्दन को (केशवको) नहीं जानता है।" और भी "हे राजन् ! बारंबार आप जो पाण्डवों के विषय में पूछते हैं सार असार बल को जानने के लिए वह संक्षेप में मुझसे सुनिये।" एक तरफ सारी दुनिया हो और दूसरी तरफ भगवान् श्रीकृष्ण रहें तथापि बल में सर्वापेक्षया भगवान् ही अधिक हैं।" भगवान्

धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः। ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं संमोहयन्निव। अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान्, (भा० उ० ६८।६) तस्मादिदानीमपि सावधानीभूय पक्षपातम्परित्यजेति तात्पर्यम्॥७८॥

इतिश्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

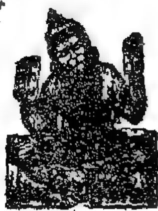
श्रीकृष्ण मन से संपूर्ण विश्व को भस्म कर सकते हैं परन्तु भगवान् जनार्दन को सारा संसार भी भस्म नहीं कर सकता है। जिस स्थान में सत्य है जिस स्थान में धर्म है जहां लज्जा ऋजुता है उसी जगह में भगवान् गोविन्द रहते है और जहां भगवान् गोविन्द हैं उसी जगह में जय होती है। वे भगवान् पाण्डवों को पक्ष में रख करके लोक को संमुग्ध करते हुए अधर्म में तत्पर अति मूढ आप के पुत्रों को दग्ध करने की इच्छा रखते हैं। इसलिये हे राजन् अभी भी सावधान हो करके पक्षपात को छोड दीजिए॥७८॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र पट्टशिष्य विश्राम द्वारिकास्थ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश

स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य

कृते गीतानन्दभाष्यतत्त्वदीपेऽष्टादशोऽध्यायः

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु





श्रीसीतारामाभ्यां नमः

श्रीआनन्दभाष्यकाराय नमोनमः

जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्य प्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

उत्पत्त्यादिविधायकं च जगतो हेतुं परञ्चेश्वरं
जीवाजीवशरीरिणं सुशरणं भक्त्यैव सायुज्यदम्।
निर्दोषंसुगुणाकरंनिखिलविद्वेदान्तगम्यं विभुं
गीतोक्तंवरदंनतोऽस्मिकरुणाम्भोधिप्रभुंराघवम् १।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीतान्वयदीपिका

सीताकान्तसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम् । रामप्रपन्नपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ।।

जगतः उत्पत्ति आदि विधायकम् हेतुम् च परम् ईश्वरम् जीव अजीव शरीरिणम् सुशरणम् भक्त्या एव सायुज्यदम् निर्दोषम् सुगुणाकरम् निखिलवित् वेदान्तगम्यम् विभुम् गीतोक्तम् वरदम् करुणाम्भोधिम् प्रभुम् राघवम् अहम् नतः अस्मि ।।१।।

सम्पूर्ण वेद उपनिषद् धर्मशास्त्र स्मृति आदि का साररूप गीता शास्त्र है। जो मुक्ति का पथप्रदर्शक प्रस्थानत्रय के नाम से लोक में प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र १ उपनिषद् २ गीता ३ में से एक है। सर्वशास्त्रों का सार होने से अति गम्भीर है जिसके उपर आचार्यों तथा मनिषियों के अनेक टीका भाष्य या टिप्पणी आदि हैं। आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी यतिराज का गीता का आनन्दभाष्य विद्वज्जगत में अति प्रतिष्ठा प्राप्त भाष्य रत्न हैं। उसके अति प्रसन्न गम्भीर तथा विशदप्राय होने से शीघ्र गीता सारार्थ के जानने की इच्छावाले जनों की असामञ्जस्य को ध्यान में रखकर आचार्य प्रवर के ही प्रशिष्य जगद्गुरु श्रीभावानन्दाचार्यजी के पट्टशिष्य जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यजी ने आचार्य श्रीकी आज्ञा प्राप्त कर के अति संक्षेप में सम्पूर्ण गीताशास्त्र के सार अर्थ को बोध कराने के लिये श्रीगीतार्थसुधा नाम का अन्वर्थ नाम–यथा नाम तथा गुण वाला पद्यात्मक दिव्य प्रबन्ध लिखा जिसका गीताशास्त्र प्रतिपाद्य सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी का नमस्कारात्मक प्रथम श्लोक 'उत्पत्त्यादिविधायकम्' इत्यादि है।

जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय करने वाले संसार के अभिन्ननिमित्त तथा उपादान कारण "राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः । राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम्।" इत्यादिरूप

नत्वा गुरुं तथाऽऽनन्दभाष्यकारं जगद्गुरुम् ।
करोम्यनुभवानन्दः सुधां मृत्युविनाशिनीम् ॥२॥

कर्मज्ञानप्रसाध्याभगवतिपरमाभक्तिरेकोऽभ्युपायः
श्रेष्ठोमोक्षस्यवाच्योमतमितिविदितंज्ञापयिष्यन्मुकुन्दः ।

आनन्दभाष्यकारम् जगद्गुरुम् श्रीरामानन्दाचार्यम् नत्वा तथा गुरुम् जगद्गुरु श्रीभावानन्दाचार्यम् च नत्वा अहम् अनुभवानन्दाचार्यः मृत्युविनाशिनीम् सुधाम् करोमि ॥२॥

कर्मज्ञानप्रसाध्या भगवति परमा भक्तिः मोक्षस्य एकः श्रेष्ठः अभ्युपाय वाच्य इति विदितम् मतम् ज्ञापयिष्यन् मुकुन्दः धर्माधर्मप्रसंगात् विकलितमनसम् पार्थम्

से श्रुति द्वारा प्रतिपादित परात्पर पर ब्रह्म श्रीरामजी जो समस्त चेतन तथा अचेतन वर्ग के शरीरी हैं तथा शरण में आये हुये जीवमात्र को अभय प्रदान करनेवाले हैं जो केवल भक्ति या प्रपत्ति से ही सायुज्य मुक्ति देनेवाले हैं जो सब प्रकार के हेय दोषों से रहित हैं तथा अनन्त कल्याण गुणों के समुद्र हैं और जो सर्वज्ञ हैं जो वेदान्त के द्वारा ही जाने जाते हैं तथा सर्वव्यापक और गीता शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित-गीता के परमलक्ष्य भूत तत्त्व सभी शरणापन्न जनों को इच्छित वरदान देनेवाले और करुणा आदि अनन्त गुणों के महासमुद्र कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं यानी सभी कर्म करने में सर्वसमर्थ प्रभु रघुकुल में उत्पन्न संसार के भार को हरण कर स्वधर्मस्थापन के लिये स्वदिव्यातिदिव्य देह से पूर्णावतारूप से अवतरित सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी को मैं श्रीअनुभवानन्दाचार्य सादर नमस्कार करता हूं ॥१॥

परमाराधनीय प्रात:स्मरणीय श्रीसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य प्रस्थानत्रय-गीता उपनिपद् तथा ब्रह्मसूत्रो पर आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी यतिराज मेरे दादागुरुजी को सादर दण्डवत् नमस्कार-प्रणाम कर तथा प्रात.स्मरणीय मेरे गुरुदेव जगद्गुरु श्रीभावानन्दाचार्यजी महाराज को सादर नमस्कार-दण्डवत प्रणाम करके मै श्रीअनुभवानन्दाचार्य मृत्यु का विनाश कर देनेवाली सुधा गीता आनन्दभाष्य का अतिसंक्षिप्तसार गीतार्थसुधा को बनाता हूं अर्थात् प्रति अध्याय का एक एक श्लोक के रूप में संक्षिप्तसुधासार का निर्माण करता हूं ॥२॥

वेद स्मृति आदि शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित सत्कर्म तथा ज्ञानसे प्रसाध्य—प्राप्त की जा सकनेवाली सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी की परम उत्कृष्ट भक्ति शरणागति ही एकमात्र सायुज्य मोक्ष का श्रेष्ठ सर्वोत्तम उपाय साधन है। इस सर्वशास्त्रों से निरूपित प्रसिद्धमत को ज्ञापित करते हुए

धर्माधर्मप्रसंगाद्विकलितमनसं पार्थमुद्दिश्य गीता
मोहोपोद्घातरूपसुदृढमभिहितस्तत्रचाद्यप्रपाठः ।३।।
प्रोक्तौ देहात्मबुद्ध्या स्वजनममतया बालिशे मोहशोकौ
क्षीयेते तौ च बोधात् फलमतिरहितात् कर्मणः सोऽपिसिद्ध्येत्।
तस्माद्भक्तिः परेशे नियमितमनसा प्राप्यते सत्त्ववृद्ध्या
तस्याःशान्तिर्ध्रुवात्माफलमिदमशिषत् कृष्णचन्द्रोद्वितीये ।।४।।

उद्दिश्य गीताम् आह तत्र चायम् सुदृढम् अभिहितः उपोद्घात रूपः आद्यः प्रपाठः अस्ति ।।३।।

देहात्मबुद्ध्या स्वजनममतया प्रोक्तौ मोहशोकौ बालिशेस्तः तौ च बोधात् क्षीयेते फलमतिरहितात् कर्मणः सः अपि सिध्येत् तस्मात् नियमितमनसा परेशे भक्तिः कार्या सा च सत्कर्मगा सत्त्ववृद्ध्या प्राप्यते तस्याः ध्रुवात्मा शान्तिः फलम् अस्ति इति इदम् कृष्णचन्द्रः द्वितीये अध्याये अशिषत् ।।४।।

बतलाए हुये श्रीकृष्णचन्द्रजी ने यह हमारा कर्तव्य धर्म है या अकर्तव्य अधर्म है यानी क्षत्रिय धर्मरक्षा के लिए अपने ही पिता प्रपितामह भाई पुत्र मामा जवाई आदि सम्बन्धियों को वध करना उचित है या अनुचित इस प्रकार के विकलित अधर्म या धर्म के निश्चय करने में असमर्थ चित्तवाले अर्जुन को उद्देश्य कर यानी प्रत्यक्षत मोह प्राप्त अर्जुन को निमित्त बनाकर जीवात्मा मात्र के लिये गीताशास्त्र का अठारह अध्याय में विभक्त सात सौ पैंतालीश श्लोकों में उपदेश दिया है। उसमें से सुबोधतया अच्छी तरह से कहा हुआ उपोद्घात रूप प्रारंभ के स्वरूप में वर्णित यह पहला अध्याय है ।।३।।

शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि को ही आत्मा है ऐसा मानने वाली विवेकशून्य बुद्धि से सम्बद्ध स्वजनों में जो ये मेरे हैं इस प्रकार की ममता है वह बालिश व्यर्थ है आत्मा परमात्मा के ज्ञान रहित होने से अतथ्यपूर्ण है अतः एव अविवेकके द्वारा जायमान होने से व्यर्थ है। इस प्रकार के मोह का नाश जीवात्मा तथा परमात्मा के यथार्थ तत्त्व ज्ञान से होता है। ऐसे मोह तथा शोक को नाश करनेवाला तत्त्वज्ञान भी किसी भी प्रकार के फल की इच्छा रहित होकर वेद शास्त्र विहीत कर्म करने से प्राप्त हो जाता है। ऐसे तत्त्वज्ञान से सत्त्ववृद्धि हो जाने से मन नियमित अर्थात् स्थिर हो जाता है ऐसे मन से सर्वेश्वर श्रीरामजी की भक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार प्राप्त भक्ति को फल जीवात्माओं के लिये निश्च-

ज्ञानंकर्मेतिनिष्ठाद्वयमिहजगति प्राहुराम्नायविज्ञाः
कर्मारम्भं विहाय क्षणमपि भजते नैव कश्चित् प्रशान्तिम् ।
तस्मात् कर्मानुवृत्तिर्भगवति मनसा न्यस्य कर्माणि सम्यक्
कर्तव्यापुण्यपुंसागलितफलतृषा प्रोक्तमेतत् तृतीये ॥५॥
प्रोक्ता कर्मप्रसंगान्निजविभवकथा नित्यकर्माणि पश्चात्
कर्माकर्मस्वरूपंमतिसृतिमशिषत्कर्मभिःसम्प्रवृत्ताम्
यज्ञानांद्वादशानामनुकथनमितोज्ञानयज्ञस्यमौख्यं
ज्ञानाग्निर्नाशयत्येववृजिननिचयंतूर्यइत्यभ्यधत्त ॥६॥

इह जगति आम्नायविज्ञाः ज्ञानम् कर्म इति निष्ठाद्वयम् प्राहुः कश्चित् क्षणम् अपि कर्मारम्भम् विहाय प्रशान्तिम् नैव भजते तस्मात् पुण्यपुंसा गलितफलतृषा कर्माणि भगवति मनसा सम्यक् न्यस्य कर्मानुवृत्तिः कर्तव्या एतत् तृतीये प्रोक्तम् ॥५॥

कर्मप्रसङ्गात् भगवता निजविभवकथा प्रोक्ता पश्चात् नित्यकर्माणि प्रोक्तानि अनन्तरम् कर्मभिः सम्प्रवृत्ताम् कर्माकर्मस्वरूपम् मतिसृतिम् अशिषत् पश्चात् द्वादशानाम् यज्ञानाम् अनुकथनम् कृतम् इतः मौख्यम् ज्ञानयज्ञस्य सम्पादितम् यतः ज्ञानाग्निः वृजिननिचयम् नाशयति एव इति तूर्ये अभ्यधत्त ॥६॥

यात्मक अपरावर्त्य शान्ति यानी सायुज्यमुक्ति है इस तत्त्व को श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता के द्वितीय अध्याय में उपदेश किया है ॥४॥

सर्वदा परिवर्तनशील इस जगत् में वेदतत्त्वों को जानने वाले लोग ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा यों दो निष्ठाएं हैं ऐसा कहते हैं। कोई भी मानव कुछ न कुछ किये विना एक क्षण भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता है यानी सर्वदा कुछ न कुछ सोच विचार करता ही रहता है अतः विना कर्म शान्त होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता है। अतः पुण्यशाली पुरुष को किसी भी प्रकार के फलकी इच्छा से रहित होकर वेदशास्त्र विहित समस्त कर्मों को भगवत् समर्पित करके कर्म की आवृत्ति यानी शास्त्र विहीत कर्मों को करते ही रहना चाहिये उनका त्याग नहीं क्योंकि वेद विहीत कर्मों के त्याग करने से प्रत्यवाय लगता है यह इस गीता के तृतीय अध्याय में कहा गया है ॥५॥

प्रसंगोपात्त कर्म की चर्चा में भगवान् ने अपने वैभव की कथा अर्जुन को कही उसके वाद नित्यकर्मों का यथार्थ रूप से प्रतिपादन किया गया हैं। अनन्तर कर्म तथा अकर्म के

ज्ञानाकारंविधत्तेश्रुतिविदितफलंकर्म सम्पच्यमानं
सन्यासस्तस्यनेष्टःसममतिरुदिताह्यात्मलब्धेरुपायः।
भोगानांदुःखदत्त्वाद्विरतिरतितरंपण्डितैस्तेभ्यइष्टा
स्वार्थानेतानवादीत् प्रणतसुरतरुःपञ्चमेवासुदेवः ॥७॥
योगाभ्यासस्यरीतिर्विरतिरतिशयासंसृतेर्मोहजाला
च्चातुर्विध्यंप्रतीतंसममतिरधिकोयोगिनांतत्रचोक्तः ।

श्रुतिविदितफलम् सम्पच्यमानम् कर्म ज्ञानाकारम् विधत्ते तस्य संन्यासः इष्टः न हि आत्म लब्धे उपायतरउदिता पण्डितैः तेभ्यः भागेभ्यः अतितराम् विरति इष्टा यतः भोगानाम् दुःखदत्त्वात् इति एतान् सु अर्थान् प्रणतसुरतरुः वासुदेवः पञ्चमे अवादीत् ॥७॥

योगाभ्यासस्य रीतिः मोहजालात् संसृतेः च अतिशया विरतिः योगिनाम्

विषय में विवेचन कर उनके स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है। उसके बाद कर्मों से संप्रवृत्त ज्ञान मार्ग का यथार्थ स्वरूप का निरूपण कर ज्ञान ही श्रेष्ठ है इसका सांगोपांग प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि ज्ञान रूपी अग्नि ही वृजिननिचय यानी सर्व पापसमूहों को नियतरूप से नाश करती ही है इस प्रकार का उपदेश गीता के चौथे अध्याय में किया गया है ॥६॥

श्रुतियों में यानी वेद वेदांगादि में जिसका फल सर्वतोभाव से विदित है वह अच्छी तरह से परिपक्व कर्म ज्ञानाकार ज्ञान रूपता का धारण कर जाता है यानी वेदविहित कर्म ही ज्ञान रूप से परिणत हो जाता हैं वही मुक्ति का साधन बनता है अतः उस शास्त्र विहित कर्म का त्याग करना मुक्ति के इच्छा वालों को कैसे भी अच्छा नहीं है। आत्म प्राप्ति का उपाय सममति यानी साम्यबुद्धि ही शास्त्रों में समुपवर्णित है अन्य उपायों से आत्मा की उपलब्धि अशक्य है। पण्डित यानी सत् असत् विचार शील जीवों को ऐहिक भोगों से अत्यन्त वैराग्य करना चाहिये क्योंकि ऐहिक विषयभोग ही जीवों को अत्यन्त दुःख देने वाले हैं इस प्रकार के सर्व मानवोपयोगी अच्छे अर्थों को प्रणत कल्प तरु भगवान् वासुदेवने गीता के पांचवे अध्याय में कहा है।७।

श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को योगाभ्यास की रीति प्रणाली किस स्थिति में कैसे योगसाधना करनी चाहिये तथा मोहजाल रूप संसार से अतिशय वैराग्यका स्वरूप और साधक योगियो

योगस्योत्कृष्टसिद्धिः परगतिफलिका श्रद्धया यः सयुक्तो
योगिष्वेतेषु चेड्यं भजति हरिमिति प्राह षष्ठे पदार्थान् ॥८॥

याथार्थ्यं स्वस्य चोक्तं जगति जनचयो मायया मोहमाप्त
स्तामेतां तर्तुकामैः खररिपुचरणे सुप्रपत्तिर्विधेया ।
सेवा देवान्तराणां परिमितफलदा नैव कार्या प्रपन्नै
ज्ञांनी श्रेष्ठः समेषामितिमतमवदत् सप्तमे श्रीमुकुन्दः ॥९॥

चातुर्विध्यम् प्रतीतम् तत्र च सममतिः अधिकः उक्तः योगस्य उत्कृष्टसिद्धिः परगतिफलिका इति च उक्तः एतेषु योगेषु यः श्रद्धया इड्यम् हरिम् भजति स युक्तः इति पदार्थान् षष्ठे प्राह ॥८॥

स्वस्य याथार्थ्यम् उक्तम् जगति जनचयः मायया मोहमाप्तः इति च उक्तम् ताम् एताम् तर्तुकामैः खरारिपुचरणे सुप्रपत्तिः विधेया प्रपन्नैः परिमितफलदा देवान्तराणाम् सेवा नैव कार्या समेषाम् श्रेष्ठः ज्ञानी इति मतम् श्रीमुकुन्दः सप्तमे अवदत्॥९॥

के चार प्रकार के भेद का निरूपण कर उन चार प्रकार के योगियों में भी सर्व समबुद्धिवाले योगीकी सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन कर योग की उत्कृष्ट सिद्धि मोक्ष प्रदान करने वाली है इस विषय का प्रति पादन किया गया हैं। इन योगियो में जो अनन्य निष्ठासे सर्वजन समाराधनीय प्रपन्नजन ताप पापापहारक हरि श्रीरामजी का भजन करता है वह युक्त श्रेष्ठ है इन पदार्थों को छटे अध्याय में कहा है ॥८॥

श्रीमुकुन्द भगवान् ने गीता के इस सातवें अध्याय में अपने यथार्थ रूप का वर्णन किया है, और जगत में जनसमूह भगवान् की माया से मोह प्राप्त किया हुआ है इस बात का भी प्रतिपादन किया है सर्वजन विमोहन शील इस माया के मोहकता से तरने यानी छूटकारा पाने की इच्छा वालों को मायाधिपति खरारि—सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी के श्रीचरण की सर्वतोभाव से यानी कायिक वाचिक तथा मानसिक प्रपत्ति स्वीकार कर लेनी चाहिये श्रीरामजी की शरणागति के बिना माया तरी नहीं जा सकती है। श्रीरामप्रपन्न मनुष्यो को परिमित सीमित यानि अल्प काल में क्षयशील फल को देनेवाले श्रीरामजी से अतिरिक्त अन्य देवताओं की सेवा नहीं करनी चाहिये। सभी अन्यजनो के अपेक्षा ज्ञानीजन श्रेष्ठ होता है इत्यादि शास्त्र मत को भी इसी अध्याय में व्यक्त किया है ॥९॥

प्रश्नाः पार्थस्य सप्त प्रतिवचनमथो वर्णनं चान्तिमस्य
ब्रह्मानुध्यानतोऽद्धा ह्यसुगतिसमये ब्रह्मभावं सदैति।
क्षेत्रज्ञस्याप्युपास्तौ प्रकृतिविरहिणः सद्गतिः सैव शुक्ला
हेतुर्नैवागतेः सा सृतिरिति भगवानष्टमे स्पष्टमाख्यत् ।१०॥
माहात्म्यं स्वस्यदिव्यं जगति भगवतो व्याप्तिरन्तः समस्मिन्
भक्त्याराध्यः परेशः सुमहितमनसां लक्षणं कार्यमेषाम् ।

पार्थस्य सप्त प्रश्नाः अथ प्रतिवचनम् अन्तिमस्य च वर्णनम् असुगति समये ब्रह्म अनुध्यानत अद्धा सदा ब्रह्मभावम् एति हि उपास्तौ प्रकृतिविरहिणः क्षेत्रज्ञस्य अपि सद्गतिः भवति सा एव शुक्ला गति कथ्यते सा सृतिः आगतेः हेतुः नैव भवति इति स्पष्टम् भगवान् अष्टमे आख्यत् ।१०।

देवदेवः स्वस्य दिव्यम् माहात्म्यम् समस्मिन् जगति भगवत अन्तः व्याप्ति सुमहितमनसाम् परेशः भक्त्या आराध्य एषाम् कार्यम् लक्षणाम् च कर्मिणाम् स्वर्ग-

पूर्व सातवें अध्यायगत अर्थों की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये अर्जुन ने किम् तद् ब्रह्म आदि सात प्रश्न करने पर उनका उत्तर क्रमशः देकर नियतात्माओं के द्वारा आप कैसे जाने जाते हैं इस अन्तिम प्रश्न का विशेष वर्णन किया गया है। जीवों के प्राण प्रयाण के समय में ब्रह्म का ध्यान करने से सदा ब्रह्म भाव को प्राप्त कर जाता है। श्रीराम शरणापन्न होकर अनन्यनिष्ठा से उपासना सम्पादन करने पर प्रकृति से विरहितक्षेत्रज्ञ जीव की सद्गति निश्चयरूप से हो जाती है। यही शुक्ला—अर्चिरादि गति-मार्ग कही जाती है। यह गति आगमन यानी पुनः इस मृत्युलोक में आगमन का कारण नहीं बनती है अर्थात् अर्चिरादिमार्ग से भगवद् धाम दिव्यलोक साकेत में पहुंचे जीवों की फिर इस मृत्युलोक में आगमन नहीं होता है। इस बात को अतिस्पष्टतया भगावान् ने इस आठवें अध्याय में वर्णन किया है अर्चिरादि मार्ग के विषय में विशेष चर्चा महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी प्रणीत गीता के अर्थचन्द्रिका टीका तथा उसकी मेरी हिन्दी टीका में की गई है अतः विशेषार्थि वहीं देखे ॥१०॥

देवदेव भगवान् श्रीकृष्णजी ने अपने दिव्य माहात्म्य के स्वरूप तथा समस्त संसार में भगवान् के अन्त व्याप्ति के स्वरूप और नियमित मनवाले समुपासक महानुभावों का परेश-सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी ही भक्तिभावना के साथ सर्वदा समाराधनीय हैं इस विषय को तथा ऐसे

आवृत्तिश्चात्र भूयोविलयमुपगते कर्मिणां स्वर्गलोगे
श्रीशोपास्तेः स्वरूपं ततमिति नवमे प्रादिशद् देवदेवः ॥११॥
व्याप्तं विश्वं समस्तं किल चरमचरं येन सर्वाधिपेना
त्रासीमैश्वर्यशाली विमलगुणनिधिर्यः स्वतन्त्रः परात्मा ।
यत्स्वायत्तस्वरूपस्थितिगतिरुदिता यद्विभूतिस्त्वनन्ता
सर्वात्मा सोऽयमेकः प्रभुरितिदशमे निश्चिकायादिदेवः ॥१२॥
पार्थश्चैशंदिदृक्षुर्हि वपुरतिततं चर्मचक्षुर्न योग्यं
तस्मै दत्वा तु दिव्यं स्मयभयजनकं दर्शयामास कृष्णः ।

लोके विलयमुपगते भूय अत्र आवृत्तिः श्रीशोपास्ते ततम् स्वरूपम् इति च नवमे प्रादिशत् ॥११॥

आदिदेवः येन सर्वाधिपेन अत्र किल समस्तम् चराचरम् विश्वम् व्याप्तम् यः असीमैश्वर्यशाली विमलगुणनिधिः स्वतन्त्र परमात्मा च अस्ति यत् स्वायत्तस्वरूपस्थितिगतिः उदिता यत् विभूतिः तु अनन्ता सन्ति सः अयम् सर्वात्मा प्रभुः एकः इति दशमे निश्चिकाय ॥१२॥

पार्थः अतिततम् ऐशम् वपुः दिदृक्षुः द्रष्टुम् हि चर्म चक्षुः तु न योग्यम् इति तस्मै दिव्यम् चक्षुः दत्वा कृष्णः स्मयभयजनकम् वपुः दर्शयामास देवस्य देहे

भगवदुपासकों के कार्य कलाप और लक्षण तथा कर्मवाले पुरुषों के स्वर्गादि लोकों के विनाश होजाने पर पुनः इस मर्त्यलोक में आगमन का वर्णन कर श्रीश-परमेश्वरकी उपासना के व्यापक स्वरूप को भी इस नवमें अध्याय में उपदेश किया है ॥११।

आदिदेव भगवान् श्रीकृष्णजी ने जिस सर्वाधिदेव सर्वेश्वर ब्रह्म से यह परिदृश्यमान समस्त चराचर विश्व परिनियत रूप से व्याप्त है जो अनन्त तथा असीम दिव्य ऐश्वर्य से युक्त निर्मल गुण समूहों का खजाना है और स्वतन्त्र तथा परमात्मा है । जिसके अधीन में स्वरूप स्थिति तथा गति कही गई है । तथा जिसकी विभूति अनन्त है ऐसा सर्वात्मा सर्व-समर्थ प्रभु एक ही है इस बात को इस दशवें अध्या में निश्चित किया है ।१२॥

अर्जुन ने अनन्त रूप भगवान् के अत्यन्त विस्तृत यानी विश्वरूप शरीर को देखने की इच्छा की पर उस विश्वरूप को देखने के लिए प्राकृत चर्मचक्षु योग्य यानी समर्थ नहीं हैं अतः अर्जुन को अपना दिव्यरूप के दर्शन में समर्थ दिव्य चक्षु देकर श्रीकृष्णजी ने विस्मय

मेघान् विद्युन्महीध्रान् क्षितिजलधियुतान् सूर्यचन्द्रादिदेवान्
दृष्ट्वा देवस्य देहे शरणमुपगतोऽवोचदेकादशेऽर्थान् ॥१३॥
श्रेष्ठोपायस्तु मुक्तेर्भगवति सुदृढा प्रीतिरेकैव शुद्धा
तत्राशक्तस्य कर्मण्यभिरुचिरुचिता ह्यात्मनिष्ठस्य पुंसः ।
आत्मोपास्तेः प्रकारा अतिरतिमदिशत् स्वस्य भक्ते परेशः
स्वार्थानेतानवादीच्छ्रितजनरतिकृद् द्वादशे च प्रपाठे ॥१४॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपं प्रकृतिपुरुषयोर्भेद आत्मस्वरूप
ज्ञानोपायास्तथाऽत्र त्रिगुणपुरुषयो र्योगतो विश्वसृष्टिः ।

मेघान् विद्युन्महीध्रान् क्षितिजलधियुतान् सूर्यचन्द्रादिदेवान् दृष्ट्वा शरणम् उपगतः एतान् अर्थान् एकादशे अवोचत् ॥१३॥

मुक्तेः श्रेष्ठोपायः तु भगवति सुदृढा शुद्धा एका प्रीतिः एव तत्र अशक्तस्य आत्मनिष्ठस्य पुंसः हि कर्माणि अभिरुचिः उचिता आत्मोपास्तेः प्रकाराः स्वस्य भक्ते अतिरतिम् च अदिशत् श्रितजनरतिकृत् परेशः एतान् स्वार्थान् द्वादशे प्रपाठे अवादीत् ॥१४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपम् प्रकृतिपुरुषयोः भेदः आत्मस्वरूपम् तथा ज्ञानोपायाः त्रिगुण-

तथा भय को प्रदान करनेवाला अपना विश्वरूप को दिखलाया । देवके यानी भगवान् के शरीर में मेघों पृथिवी तथा समुद्रों से युक्त विद्युत तथा सूर्य और चन्द्रमा आदि देवों से व्यावृत विकरालस्वरूप को अवलोकन कर भयभीत होकर अर्जुन ने भगवान् की शरणागति स्वीकार की इत्यादि अर्थों को इस ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने वर्णन किया है ।१३॥

सायुज्य मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय तो एकमात्र सर्वेश भगवान् में सुदृढ तथा विशुद्ध प्रेम ही है अन्य नहीं यदि इस भक्तियोग में अशक्त हो तो उस आत्मनिष्ठ पुरुष की कर्म में अभिरुचि होना उचित ही हैं । आत्मोपासना के विविध प्रकार और अनन्यनिष्ठावाले अपने भक्त में अपना अतिशयित प्रेम का उपदेश अपने शरण में आये जनों पर अतिशय स्नेह करनेवाले परेश श्रीकृष्णजी ने इन अति सुन्दर अर्थों उपायों को इस बारहवें अध्याय में वर्णन किया है ॥१४॥

क्षेत्र-शरीर तथा क्षेत्रज्ञ जीवात्माओं का वास्तविकस्वरूप और प्रकृति तथा पुरुष का परस्पर भेद तथैव आत्मा का स्वरूप और ज्ञान प्राप्त करने के उपाय तथा प्रकृति और पुरुष

कर्तृत्वेहेतुरेका प्रकृतिरथपुमान् भोक्तृभावे च हेतु
बन्धोच्छेदो विवेकात् त्रिसहितदशमे शौरिणोक्ता इमेऽर्थाः ॥१५॥
सूते विश्वं समस्तं प्रकृतिरनुपमा ब्रह्मस्वायत्तमूर्तिः
सत्वादीनां त्रयाणां प्रकृतिगुणतया देहिनो बन्धकत्वम् ।
लिङ्गं कार्यञ्च तेषां खलु मतिकृतिभिर्दर्शितं तत्कृतो यं
बन्धो भक्त्या प्रहेयोद्विगुणितः उदिताः सप्तकेऽर्थामुदैते ॥१६॥
संसारोऽश्वत्थवृक्षः श्रुतिविदितपदोऽव्यक्तमूलश्च तं वै
छित्वाऽसङ्गाख्यहेत्या प्रपदनमनिशं राघवेशे विधेयम् ।

पुरुषयोः योगतः विश्वसृष्टिः कर्तृत्वे एका प्रकृतिः हेतुः अथ पुमान् भोक्तृभावे च हेतुः विवेकात् बन्धोच्छेदः इति इमे अर्थाः अत्र त्रिसहितदशमे शौरिणा उक्ताः॥१५॥

ब्रह्मस्वायत्तमूर्तिः अनुपमाप्रकृतिः समस्तम् विश्वम् सूते प्रकृतिगुणतया सत्त्वादीनाम् त्रयाणाम् देहिनः बन्धकत्वम् ज्ञेयम् तेषाम् लिङ्गम् कार्यम् च मतिकृतिभिः दर्शितम् अयम् बन्धः तत्कृतभक्त्या खलु प्रहेय इति एते अर्था द्विगुणितः सप्तके मुदा उदिता ॥१६॥

अव्यक्तमूलः श्रुतिविदित पदः च संसारः अश्वत्थ वृक्षः अस्ति तम् वै अस-

के योगसे समस्त विश्व की सृष्टि और कर्तृत्व में केवल प्रकृति ही कारण है पर पुरुष-जीवात्मा कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व दोनों में कारण है विवेक प्रकृति तथा पुरुष के तत्त्व ज्ञान से बन्धन का नाश होकर मुक्ति हो जाती है इन पदार्थों को इस तेरहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है ॥१५॥

ब्रह्म के वसवर्ति मूर्तिवाली अनुपम विचित्र सामर्थ्यवाली प्रकृति समस्त विश्व को उत्पन्न करती है इसी प्रकृति के स्वगुण होने से सत्वगुण रजोगुण तथा तमोगुण ये तीनों ही प्राणियों के बन्धन के कारण हैं। उन गुणों का लक्षण तथा कार्य को मति तथा कार्यों के द्वारा दर्शाया गया है। संसार के जीवो का यह बन्धन उन्हीं तीनों द्वारा जनित है। वह बन्धन अनन्य निष्ठावाली भगवद् भक्ति से ही छूट सकता है अन्य साधन से नहीं इत्यादि पदार्थों का वर्णन चौदहवें अध्याय में हुआ है ॥१६॥

अव्यक्त मूलवाला श्रुति से विदित बोधित पद पादजड चराचर जगत का उद्गम स्थान

बद्धान्मुक्तात् परश्चोत्तमपुरुष इति ख्यात ईशः स्वतन्त्रो
भर्त्ता चास्म्येक एवावददिति दशमे पञ्चयुक्तेर्थजातम् ॥१७॥
दैवी सम्पज्जनानां भवति सुकृतिनां मुक्तये कर्मबन्धा
न्नित्यं बन्धाय लोके कुटिलमतिजुषामासुरी सा दुरन्ता।
कार्याकार्यव्यवस्थां दिशति हिततमं शास्त्रमेतस्य त्याग
श्चासुर्या मूलयुक्तं निरयफलमिमे षोडशे वर्णितार्थाः ॥१८॥
वेद्यं शास्त्रीयकर्मत्रिगुणपरवशं यज्ञदाने तपश्च
त्रैविध्यं तस्य वेद्यं सुकृतियुतनरैः सात्विकैः सात्विकं तैः।

ख्यहेत्या छित्वा अनिशम् राघवेशे प्रपदनम् विधेयम् बद्धात् मुक्तात् च परः उत्तमपुरुषः इति ख्यातः स्वतन्त्रः भर्ता एकः एव अस्मि इति अर्थ जातम् पञ्चमयुक्ते दशमे अवदत् ॥१७॥

लोके सुकृतिनाम् जनानाम् दैवी सम्पत् मुक्तये भवति आसुरी सम्पत् कुटिलमतिजुषाम् नित्यम् बन्धाय भवति सा च दुरन्ता भवति हिततमम् शास्त्रम् कार्याकार्यव्यवस्थाम् दिशति एतस्य त्यागः आसुर्याः मूलम् निरयफलम् च उक्तम् इति इमे अर्था षोडशे वर्णिताः ॥१८॥

वाला संसाररूपी अश्वत्थ-पीपल का वृक्ष है। उस सतत संसरणशील संसार स्वरूप वृक्ष को असंग-भगवदितर वैतृष्ण्यरूप यानी अनाशक्ति रूपी शस्त्र से काटकर अनिश सर्वदा सर्वेश्वर श्री रामचन्द्र जी की प्रपत्ति करनी चाहिये। बद्ध तथा मुक्त जीवों से पर उत्तम पुरुष इस नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध सब जीवसमूहों का स्वतन्त्र रूप से भरण पोषण करनेवाला सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एकमात्र ईश्वर मैं हूं इस प्रकार के तत्वों को पन्द्रहवे अध्याय में वर्णन किया गया है ॥१७॥

लोक में सत्कर्मवाले जनों के लिये दैवी सम्पत्तिमुक्ति के लिये होती है तथा आसुरी सम्पत्ति कुटिल मतिवालों के लिये सर्वदा बन्धन के लिये होती हैं। वह आसुरी सम्पत्ति दुरन्त अति कष्ट से अन्तः में नाश होनेवाली होती है जीवों के लिये हिततम तीनों काल या अवस्थाओं में अत्यन्त हित स्वरूप सर्वहित कारक शास्त्र कर्तव्य अकर्तव्य रूप व्यवस्थाओं का उपदेश करता है। ऐसे विश्वजन हित कारक सत् शास्त्र का त्याग आसुरी सम्पद् या आसुरी प्रवृत्ति का कारण तथा नरक रूप फलों का देने वाला होता है इस प्रकार का विवेचन इस सोलहवें अध्याय में हुआ है।१८।

ग्राह्यं नैवासुरं तत् खलु फलरहितं लक्षणं तस्य सम्यक्
　श्रीमत्कृष्णेन चोक्तं वरमिह दशमे सप्तयुक्ते प्रपाठे ॥१९॥
सन्यासस्त्यागरूपो जगति च मनुजैः सत्त्वमालम्बनीयं
　सीतानाथः परेशोमलगुणजलधिः दिव्यदेहोऽवतारी ।
सर्वज्ञः सर्वशक्तः कृतिचयफलदः कर्मणां संविधाता
　सायुज्यं तत् प्रपत्त्या भवति तनुभृतां प्रोक्तमन्त्येऽत्र चैतत् ॥२०॥

वेद्यम् यज्ञदाने तपः च शास्त्रीय कर्म त्रिगुणपरवशम् अस्ति सुकृतियुतनरैः तस्य त्रैविध्यम् वेद्यम् सात्विकैः वै सात्विकम् ग्राह्यम् नैवासुरम् तत् खलु फलरहितम् भवति इति तस्य च वरम् लक्षणम् सम्यक् इह सप्तयुक्ते दशमे प्रपाठे श्रीमत्कृष्णेन उक्तम् ॥१९॥

सन्यासः त्यागरूपः जगति मनुजैः सत्वम् आलम्बनीयम् परेशः अमलगुण-जलधिः दिव्यदेहः अवतारी सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सीतानाथः कृतिचयफलदः कर्मणाम् संविधाता च अस्ति अत्र तनुभृताम् तत् प्रपत्त्या सायुज्यम् भवति इति एतद् सर्वम् अन्त्ये प्रोक्तम् ॥२०॥

वेद तथा स्मृति से कर्तव्यतया विहीत यज्ञ तथा दान और तपश्चर्या रूप शास्त्रीयकर्म सत्व रज तथा तम रूप तीन गुणों के अधीन हैं। पुण्यशाली जनों को सात्विकादि फल भी तीन प्रकार के ही जानना चाहिये, अतः सात्विक फल प्राप्ति के लिये सात्विक कर्म का ही ग्रहण करना चाहिये असुरकर्म करके आसुरी फल की प्राप्ति नहीं करना चाहिये क्योंकि वह आसुरी कर्म शास्त्र विहित न होने से किसी भी प्रकार के सारे फल से रहित होता है इसलिये ऐसे असत् कर्म का लक्षण सम्यक् रूप से इस सत्रहवें अध्याय में श्रीकृष्णचन्द्रजी ने निरूपण किया हैं ॥१९॥

संन्यास कृत सर्व कर्म फल त्याग स्वरूप है। जगत में सब मनुष्यों को सत्वाश्रय कार्यों का ही अवलम्बन करना चाहिये दूसरों का नहीं। सर्व जगत निदान भूत परमेश्वर सब निर्मल गुणों के समुद्र हैं दिव्य शरीर वाले तथा सम्पूर्ण अवतारों के अवतारी और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्ति सम्पन्न श्रीसीतानाथजी सम्पन्न होने वाले समस्त कर्मों के याथार्थ फलों को प्रदान करने वाले तथा समस्त कर्मों को सम्पादन करने वाले हैं। अतः इस संसार में अनादि काल से प्रवहन शील शरीरधारी जीवों को सर्वेश्वर श्रीसीतारामजी की प्रपत्ति अन्य सर्व कर्म त्याग

श्रीगीतार्थसुधा चैषाऽनुभवानन्दनिर्मिता ।
जन्ममृत्युविनाशाय भूयान्मननशालिनाम्

एषा अनुभवानन्दनिर्मिता श्रीगीतार्थसुधा मननशालिनाम् भूयात् ॥२१॥

पूर्वक अनन्य शरणागति से ही सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती हैं जो प्रप पुनः आवागमन से रहित कर देती है । इस प्रकार के सम्पूर्ण विषयों रूप से इस अन्त्य अठारहवें अध्याय में वर्णन किया गया हैं ॥२०॥

यह जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के प्रशिष्य जगद्गुरु शिष्य जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यजी से निर्मित श्रीगीतार्थसुधा गीता अमृत मनन करने वाले सत्पुरुषों के जन्म तथा मृत्यु के विनाश के

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश्वर

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीता सान्वय लघुदीपिका टीका समाप्ता

श्रीगीता जयन्ती

मार्गशीर्ष शुक्ला ११ मंगलवार २०४१





ꕤ सर्वशास्त्रमयी गीता ꕤ

[ले० दर्शनकेशरी प वैदेहीकान्तशरण]

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रकरण में कहा गया है—'सर्वशास्त्रमयीगीता सर्वज्ञान प्रयोजिका ।' वैदिक सिद्धान्त में षट्शास्त्र प्रसिद्ध हैं । सर्वदर्शन कौमुदीकार ने भी उपसंहार रूप में लिखा है—'अतो वैदिकदर्शनम् योग सांख्य पूर्वोत्तर मीमांसा नैयायिक वैशेषिक भेदेन षोढाभिद्यते ।' इस प्रकार योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त), न्याय और वैशेषिक ये षट्शास्त्र प्रसिद्ध हैं । जिनमें 'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्माणां विद्युद्देशे प्रकीर्त्तिता ।' इस न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य बचनानुसार न्यायदर्शन सभी दर्शनों का प्रकाशक एतावता प्रमुख है ।

'सर्वशास्त्रमयीगीता' कहने का तात्पर्य है कि वे उक्त सभी शास्त्रों का निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता में है ।

ꕤ न्यायशास्त्र ꕤ

न्यायदर्शन का मुख्य लक्ष्य (साध्य अथवा प्रयोजन) निःश्रेयस की प्राप्ति तथा उसका साधन (उपाय) तत्त्वज्ञान है । तत्त्वज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश करने पर निःश्रेयस अथवा अपवर्ग की प्राप्ति होती है । इस तत्त्वज्ञान के षोडश परिघटक कहे गये हैं । इन्हीं बातों का उल्लेख न्यायसूत्र के प्रथम दो सूत्रों में किया गया है—'प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति निग्रह स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः । दुःख जन्म प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः । न्या. सू. १।१।१–२।' इन षोडश परिघटकों में अन्तिम सात परिघटक वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति निग्रह स्थान' तत्त्वज्ञान के प्रकरण में गौण और मिथ्याज्ञान घटकरूप होने से न्याय सूत्रकार ने इन्हें प्रथम नव परिघटकों 'प्रमाण प्रमेय संशश प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय' जो तत्त्वज्ञान के प्रकर में उपयोगी हैं से सर्वथा भिन्न आह्निक में निरूपित किया है । प्रथम आह्निक में प्रतिपादित नव परिघटकों में भी 'अवयव दृष्टान्त सिद्धान्त संशय तर्क निर्णय प्रयोजकन' ये छः परिघटक प्रमाण के अन्तर्गत ही चले आते हैं । अतः न्याय शास्त्र का मुख्य परिघटक दो ही हैं—प्रमाण (प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि-न्या.सू. १।१।३) और प्रमेय 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिः मनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्—न्या.सू. १।१।९' यों तो 'प्रमाणस्य प्रमेयत्वं तुलाप्रामाण्यवत्—न्या.सू. २।१।१६' के अनुसार प्रमाण भी ज्ञान का विषय होने से प्रमेय कोटि

ों आजाते हैं। अतः न्यायशात्र का एक ही मुख्य परिघटक प्रमेय ही है। परन्तु प्रमाण ौर प्रमेय में भेद यह है कि प्रमाण प्रमेय कोटिमें आसकता है किन्तु प्रमेय प्रमाण कोटि में नहीं आता। दूसरे शब्दों में प्रमाण अधिक देशव्यापी होने से व्यापक और प्रमेय अल्पदेशव्यापी होने से व्याप्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुशीलन से यह अति स्पष्ट है कि न्यायशास्त्रोक्त प्रमाण प्रमेयादि का पूर्ण निरूपण उसके अन्तर्गत है। इतना ही नहीं श्रीमद्भगद्गीता की प्रवृत्ति भी न्याय शास्त्रानुसार ही है। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करना न्याय है—'प्रमाणैरर्थं परीक्षणं न्यायः। न्याय सूत्र का परीक्षा अध्याय द्वितीय एवं तृतीय अध्याय है। इस परीक्षा का आरम्भ संशय से किया गया है—'समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः। विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च। विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः। अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः। तथाऽत्यन्तसंशय स्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः। यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयोनात्यन्तसंशयो वा। यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः।२।१।१–७।' इन सात सूत्रो में सर्वप्रथम 'संशय' की ही परीक्षा की गयी है। क्योंकि दर्शन शास्त्र के अनुसार संशय से ही ज्ञान की उपलब्धि होती है—'संशयः प्रयोजनः भवति।' संशय के विना जिज्ञासा नहीं होती है और जिज्ञासा के बिना ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है। न्याय सूत्र भाष्यकार लिखते हैं—'नानुपलब्धे न निर्णीतार्थे न्यायः प्रवर्तते किं तर्हि संशयितेर्थे'। सर्वथा अज्ञात अथवा सर्वथा निर्णीत अर्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है केवल संशयित विषय में ही न्याय की प्रवृत्ति होती है। अतः 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः—त. सं.' 'संशय व्युदासस्तर्कः' तर्कः शङ्कावधिर्मतः—न्या. कु.' 'शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मेप्रमाणं शिव न्या. कु. आदि में सर्वत्र न्याय की प्रवृत्ति का कारण संशय को ही कहा गया है। न्यायसूत्र कार ने अनुमान परीक्षा का प्रकरण भी संशय से ही आरम्भ किया है—'साध्यत्वादवयविनि सन्देहः न्या. सू. २।१।२३।' इसी प्रकार शब्दानित्यवाद का परीक्षा प्रकरण—'विकारादेशोपदेशात् संशयः—न्या. सू. २।२।४०। बुद्ध्य नित्यता के परीक्षा प्रकरण—कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः न्या. सू. ३।२।१' बुद्धेः शरीरगुणव्यतिरेकप्रकरण 'द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः—न्या.सू. ३।२।४६' का आरम्भ 'संशय' से ही किया है। ठीक इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र की प्रवृत्ति भी 'संशय' से ही हुई है 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् गी० २।७।।' श्रीमद्भगवद्गीता के मध्य में भी संशय की प्रवृत्ति है—'एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।। गी. ६।३९।।' एवं श्रीमद्भगवद्गीता का अन्त भी संशय निवारण में ही हुआ है—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ? । स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव । गी० १८।७३॥'

अतः पदार्थधर्मसंग्रह कार वैशेषिक भाष्य कर्ता प्रशस्तपादाचार्य के सिद्धान्त—'समान-विधित्वात्' दोनों में समानविधित्व एतावता अपार्थकत्व है। इसीप्रकार न्याय शास्त्र एवं श्रीमद्भग-वद्गीता इन दोनों ही का प्रयोजन निगमन फल वा तात्पर्य निःश्रेयस (मोक्ष) में ही है - 'तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः—न्या. सू. १।१।१' एवं 'संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रयसकरावुभौ गी.५।२॥ अतः समान प्रयोजनत्वात् दोनों में शास्त्रैकता है। दोनों ही ज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान के नाश से मुक्ति मानते हैं—दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञोनानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः—न्या. सू१।१।२। एवं 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । .... गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूनकल्मषाः ॥ गी० ५।१६ १७।' अतः दोनों ही में समानसाध-नत्व है। इसी प्रकार न्याय शास्त्र प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण मानते हैं, जिसमें दो प्रकार का प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष मानते हैं और पुनः अलौकिक प्रत्यक्ष को तीन प्रकार का सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज प्रत्यक्ष मानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी लौकिक प्रत्यक्ष (तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् गी०१।२६) योगज प्रत्यक्ष (दृष्ट्वातु पाण्डवानीकं गी० १।२) ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष) उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।गी० १५।१०।), दिव्यप्रत्यक्ष (न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।गी० ११।८।) का निरूपण है। अनुमान प्रमाण का न्यायशास्त्रयों तो पांच अवयव मानते हैं प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय निगमनान्यवयवाः न्या० सू० १।१।३२।' और इसके पूर्व जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशय व्युदास ये पांच और अवयव माने जाते थे। परन्तु गौतम ने इन्हें केवल ज्ञानप्राप्ति में सहायक माना है न कि अनुमान का अङ्ग (अवयव)। इसीप्रकार गौतमोक्त पञ्चावयवों में भी केवल तीन ही अवयवों '(प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण' अथवा 'उदाहरण-उपनय निगमन') का प्रयोग ही आवश्यक माना जाने लगा क्योंकि अनुमान के लिये दो ही बातो की आवश्यकता होती है १ व्याप्ति और २ पक्षधर्मता। हेतु अथवा उपनय से पक्षधर्मता का ज्ञान होता है और उदाहरण से व्याप्ति का वात्स्यायन ने न्यायभाष्य 'आगमः प्रतिज्ञा। हेतुरनुमानम्, उदाहरण प्रत्यक्षम्। उपनयनमुपमानम्। सर्वेषामेकार्थ समवाय सामर्थ्य प्रदर्शनं निगमनमिति, सोऽय परमोन्याय इति।' लिखकर पाचो अवयवों चतुर्विध प्रमाण। (प्रत्यक्ष अनुमान-उपमान-शब्द) की व्यवस्था दिखलायी है। परन्तु स्वयं गौतम ने न्यायसूत्र में ही पांच अवयवों का प्रयोग

न कर दो या एक अवयव का भी प्रयोग किया है। स्वयं वात्स्यायन के उक्त वाक्य हेतुरनुमानम्, केवल हेतु ही अनुमान है। वैशेषिकसूत्रकार कणाद ने भी 'हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् वै०सू० ९।२।४।' हेतु को ही प्रमाण या अनुमान कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस हेतु वाक्यों से अनुमान प्रमाण का अनेकों स्थानों में निरूपण है। कहीं तो प्रत्यक्ष हेतु की व्यवस्थापना है 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते। गी०१३।३१।' और कहीं निगमन के लेश से अप्रत्यक्ष रूप से 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।२।१८।' इत्यादि।' इसी हेतु एवं निगमन से प्रतिज्ञा, उदाहरण, उपनयन प्रभृति अन्य अवयवों का ज्ञान स्वतः हो जाता है। न्यायशास्त्र शब्द प्रमाण को मानता है और इसे लौकिक वैदिक भेद से दो प्रकार का मानना है 'वाक्यं द्विविधम् वैदिकं लौकिकं च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेवप्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्रोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्। त०सं०।' गौतम ने भी 'आप्तोपदेशः शब्दः। सद्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् न्या०सू० १।१। ५-६', मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् न्या० सू० २।१।६९' लिखा है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी वेदशास्त्र को सर्वोपरि प्रमाण माना गया है 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्। तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वाशास्त्र विधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि। गी० १६।२३-२४। उसके पश्चात् आप्त पुरुष को प्रमाण माना गया है 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।गी.३।२१।।' अन्यद् को अप्रमाण माना है—'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ।।गी. १६।८।। इत्यादि। यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुमम्। अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्। गी. १८।२२।।' इस प्रकार शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में भी दोनों शास्त्रों में समान व्यपदेश है। अतः प्रमाण के विषय में न्यायशास्त्र और गीताशास्त्र के निरूपणों में समानता है। प्रमाण के पश्चात् प्रमेय पर विचार करने पर भी न्यायशास्त्र का प्रमेय गीताशास्त्र में गतार्थ होजाता है। न्याय दर्शन ने द्वादश प्रमेयों को गिनाया है। जिसमें आत्मा, शरीर, इन्द्रिय अर्थ, बुद्धि और मन—इन प्रथम छः प्रमेयों का निरूपण तत्त्वत्रयज्ञान तथा आत्मा का शरीर, इन्द्रिय अर्थ बुद्धि और मन से पार्थक्य निरूपण के लिए कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी—'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। ३।४२।।' में आत्मा का इनसे व्यतिरिक्त प्रतिपादित किया है। इस प्रकार न्यायदर्शन का शरीरात्मवाद का खण्डन (न्या.सू. ३।१।४–६) इन्द्रियात्मवाद का खण्डन (न्या.सू. ३।१।१२–१४) मनसात्मवाद का खण्डन (न्या.सू. ३।१।१६–१७) और

बुद्ध्यात्मवाद का खण्डन (न्या.सू. ३।२। १८-४१) का विषय उक्त भगवद्गीता श्लोक में है। पुनः—'देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥गी. २।१३। 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्य-स्वभारत।गी० २।१८। देही नित्यमबध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि। गी. १८-२०।' में आत्मा का शरीर से पार्थक्य सिद्ध कर शरीरात्मवाद का खण्डन किया गया है। जिस प्रकार न्याय दर्शन आत्मा के विषय में—"ज्ञानाधिकरण-मात्मा। स द्विविधः जीवात्मापरमात्मा च तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परत्मा एक एव। जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च। त. सं.।' श्रीमद्भगवद्गीता भी 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाधृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः गी.१५।१६-१७॥ न्यायशास्त्र के शेष छः प्रमेय 'प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग' उक्त आत्मा की मुक्ति (अपवर्गप्राप्ति) के क्रिया के विषय क्रम हैं जिनके सम्बन्ध में न्याय सूत्र के आरम्भ में ही लिखा गया है "दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः न्या. सू. १।१।२।" श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्रवृत्ति (गी. ४।२०,११।३१।३२।१४।१२,१३, २२। १५।४।१६।७।१०।८ १८।३०।४६) दोष (गी. २ ७।५।१९ १३।८।१५।१५, १८।३।१८) प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) (गी. १७।२८।२।२७, ४३।५।१४।४।५।१९, ६।४५, ८।१५' १६।१३।८।२१।१४।२०।१६।२०) फल (गी. २।४३।४७।४९।५१।४।१४।५।४।१२।१४।७।२३, १।२८।१२।११, १२।११।१२।१७।२१ २५ १८।२।६, ९।११।१२।२७,२३,३४,१४।१६,४।२०।८।२०) दुःख (गी. २।१४।१५।३६, १८,५६।६५।५।६।२२।६।२२।२३।३२। ८।१५।१०।४।१२।५।१३, १८।१३।६।८।१४।२०।२४। १५।५।१७।९।१८।८।६।७।१७।१४ १६।१३।२०।७।१-) अपवर्ग (गी.) का निरूपण है। इस प्रकार न्याय शास्त्र का सम्पूर्ण प्रमाण और प्रमेय प्रकरण श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत है। इनके साधक उपक्रम वा आधार रूप 'संशय' एवं उपसंहार रूप निर्णय तथा इनके आभ्यन्तर परिघटक प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव और तर्क का भी निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता में है। 'संशय' के विषय में उपर लिखा जाचुका है। निर्णय का लक्षण 'विमृश्य पक्ष प्रतिपक्षाभ्या-मर्थावधारणं निर्णयः न्या. सू. १।१।४१, निर्णयो निश्चयः स च प्रमाणम् त. सं. दी०। श्रीमद्भगवद्गीता में व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यव-सायिनाम्।२।४४। श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।२।५३। आदि में निश्चयात्मिका बुद्धि का निर्देश है एवं 'निश्चितं ब्रूहि तन्मे गी. २।७ में उपक्रम तथा आग्रह है तथा गीता २।१२-२० में 'न जायते म्रियते वा

कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' इस पक्ष के स्पर्श (विचार) के पश्चात् गी. २।२६-२८ में 'अथ चैनं नित्यं जातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि। इत्यादि इस प्रति पक्ष का भी विचार कर दोनों का निश्चय (निर्णय) किया गया है जो गौतमोक्त सूत्र लक्षण विमृश्य पक्ष प्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः का अक्षरसः क्रियात्मक रूप है। यह परस्पर दो विपरीत पक्ष प्रतिपक्ष रूप द्विविधा का सुन्दर समाधान रूप भी है। इस प्रकार न्याय शास्त्र का आरम्भ (प्रवृत्ति) संशय से होकर इसका समापन (इति) निर्णय में होता है जो श्री मद्भगवद्गीता में भलिभांति निरूपित है। अब इसके आवान्तर परिविटक सिद्धान्त को लें। प्रामाणिकतया स्वीकृत विषय का नाम सिद्धान्त है 'प्रमाणिकत्वेनाभ्युपगमाऽर्थः सिद्धान्तः त. सं. दी-। यह सर्वतन्त्र प्रतितन्त्र अधिकरण और अभ्युपगम भेद से चार प्रकार का होता है। सर्वतन्त्राविरुद्ध स्तन्त्रोऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्र सिद्धान्तः न्या.सू. १।१।२८' इसका दृष्टान्त श्रीमद्भगवद्गीता में 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते गी. ३।४० है सभी दर्शन काम का अधिष्ठान इन्द्रिय मन बुद्धि को मानते हैं। समानतन्त्र सिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्र सिद्धान्तः न्या. सू. १।१।२९। इसका दृष्टान्त श्रीमद्भगवद्गीता का 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः गी. २।१६' है इसे कुछ दर्शन मानते हैं और कुछ नास्तिक दर्शन नहीं मानते हैं। 'यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः न्या. सू. १।१।३०। इसका दृष्टान्त 'अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् गी. ६।४५' है। यहाँ आत्मा का अनेक जन्म मानने से उसकी शरीर से पार्थक्य और नित्यता सिद्ध हो जाती है। अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणं अभ्युपगमसिद्धान्तः न्या. सू. १।१।३१ का दृष्टान्त श्रीमद्भगवद्गीता का 'अथ चैनं नित्य जात नित्यं वा अन्यसे मृतम् गी- २।२६ है। इसमें थोडी देर के लिये विचार के लिये आत्मा को उत्पन्न शील और विनाशी मानलिया गया है। अतः न्यायशास्त्र का सम्पूर्ण सिद्धान्त प्रकरण श्रीमत्भगवद्गीता के अन्तर्गत निरूपित है। न्यायशास्त्र के अवयव प्रकरण का 'निगमन' का 'तस्मात्' शब्द के द्वारा गीता २।१८, २५।२७।३०।३७।५० ६।८।३।१५।१९।४१।४।४२।५। १९।४। १५।६।४६।८।७।२०।२७।११।३३।४४।१६।२१।२४।१७।२४।१८।६५।१।३७। में निरूपण है। हेतु का त्वात् पद के द्वारा गीता १३।३१ आदि में दृष्टान्त का 'यथा तथा' पद द्वारा गीता १३।३२-३३ आदि में निरूपण है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा और उपनय का भी अनेक स्थानों पर निरूपण है। प्रयोजन (यमर्थमाधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् न्या. सू. १।१।२४ तथा 'पदार्थ तत्त्वज्ञानस्य परमं प्रयोजनं मोक्षः त. सं. दी-) यह न्यायशास्त्र का प्रयोजन श्रीमद्भगवद्गीता का भी है श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः। सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्। गी० १८।७१। न्याय शास्त्र का मूल जिज्ञासा है दशावयवानेके नैयायिक

वाक्ये सञ्चक्षेत जिज्ञासा संशये शक्यप्राप्तिः प्रयोजन सशयव्युदास इति । तत्राप्रतीयमानेऽर्थेप्रत्य-यार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते ? तं तत्त्वतो ज्ञानं हास्यामि वोपा-दास्य उपेक्षिष्ये वेति ता एता हानोपानोपेक्षा बुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थस्तदर्थमयं जिज्ञासते । सा खल्वि-यमसाधनमर्थस्येति । वा.भा.।' जिस वस्तु का तत्त्वज्ञान नहीं है उसका तत्त्व ज्ञात करने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं ' ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा' । श्रीमद्भगवद्गीता का मूल भी जिज्ञासा ही है 'पृच्छामि त्वां धर्म सम्मूढ चेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम् ।२।७ व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे । तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽह-माप्नुयाम् ।३।२।। संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि । यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् । ५।१। किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ? । अधिभूतं च किं प्रोक्त-मधिदैवं किमुच्यते । 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन । प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।८।१-२। संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम । त्यागस्य च हृषिकेश पृथक्केशिनिषूदन ।१८।१।' सम्पूर्ण गीता में आदि मध्य और अन्त में जिज्ञासा जिज्ञासा ही है । इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता में जिज्ञासा की महत्ता का प्रतिपादन भी है 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।६।४४। चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।७।१६।।' अतः न्यायशास्त्र का पूर्ण निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता में होने से गीता न्यायशास्त्रमयी है ।

ॐ वैशेषिक शास्त्र ॐ

वैशेषिक शास्त्र का मूल है-'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः । तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । धर्म विशेष प्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् । वै. सू. १।१।१-४ ।' इसी चतुःसूत्री में सम्पूर्ण वैशेषिक दर्शन गर्भित है । न्यायशास्त्र के समान ही वैशेषिक शास्त्र का भी लक्ष्य वा प्रयोजन मोक्ष ही है तथा इसका साधन तत्त्वज्ञान ही है । जो पूर्णरूपेण श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित है-ऐसा न्यायशास्त्र के प्रकरण में ऊपर सिद्ध किया जा चुका है । जिन तत्त्वों को न्याय दर्शन प्रमाण प्रमेय आदि शब्दों में निरूपित किये हैं उन्हें ही वैशेशिक द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवाय शब्दों में । वैशेषिक के 'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालोदिगात्मा मन इति द्रव्याणि-वै.सू.१।१।५।' का निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता के 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा । अपरेय-मितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत ।७।४-५।' महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चेन्द्रिय गोचराः । इच्छा

द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः । एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।१३।५-६।' श्लोकों में है तथा वैशेषिक के गुणों का निरूपण भी रसोऽहमप्सु, शब्दः खे, गन्धः पृथिव्यां, तेजश्चास्मि विभावसौ, बुद्धिर्बुद्धि मतामास्मि–गी. ७।८-१०' आदि श्लोकों में है । आम्नाय प्रमाण का वैशेषिक शास्त्र का आग्रह श्रीमद्भगवद्गीता के ' वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्योवेदान्त-कृद्वेदविदेव चाहम् । १५।१५। ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृतः । ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्चविहिता पुरा ।१७।२३।' एवं गी. १६।२३—२४' आदि श्लोकों में है। वैशेषिक शास्त्र के—'कारणाऽभावात्कार्याभावः न तु कार्याभावात्काणाभावः वै.सू. १।२।१-२।' कारणं गुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः वै.सू. २।१।२४' का निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता के—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ।२।१६।' में है। वैशेषिक शास्त्र के—तद्दुष्टभोजने न विद्यते । दुष्टं हिंसायाम् । तस्य समभिव्याहारतोदोषः । तद्दुष्टे न विद्यते । वै.सू. ६।१।६—९) यदिष्टरूप रस गन्ध स्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च तच्छुचिः । अशुचीति शुचिप्रतिषेधः । अर्थान्तरञ्च । अयतस्य शुचि भोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावात् । वै. ६।२।५-८।' का निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता के—'यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।१७।१०।' आदि में है । वैशेषिक शास्त्र न्याय शास्त्र का शास्त्र है। अतः न्याय शास्त्र के समान ही सम्पूर्ण वैशेषिक शास्त्र का निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत है जो विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखी गयी है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता वैशेषिक शास्त्रमयी है ।

ॐ मीमांसा शास्त्र ॐ

'अथातो धर्म जिज्ञासा । चोदना लक्षणोऽर्थोधर्मः । मी. सू. १।१।१-२।' इन्हीं दो सूत्रों में मीमांसा शात्र गर्भित है । सम्पूर्ण मीमांसा शास्त्र का विषय धर्म है जो कर्मरूप है और श्रीमद्भगवद्गीता का श्रीगणेश ही धर्मक्षेत्रे कुरु क्षेत्रे गी, १।१' से हुआ है, इसी प्रकार इसका उपसंहार भी 'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः । ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्या-मिति मे मतिः ।।१८।७०।' श्लोक में हुआ है। सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता में धर्म का ही निरूपण है । वर्णधर्म, यज्ञकर्म आदि धर्मनिरूपण गीता में भरपूर है। 'जिज्ञासा' के सम्बन्ध में श्रीमद्भगवद्गीता में पूर्ण प्रतिपादन है ऐसा न्यायशास्त्र के प्रकरण में निरूपित किया जा चुका है। वेद प्रमाण का निरूपण भी गीता में है इसका भी निरूपण न्याय एवं वैशेषिक प्रकरण में किया जा चुका है । अतः मींमांसाशास्त्र भी श्रीमद्भगवद्गीता में गर्भित है और श्रीमद्भगद्गीता मीमांसा शास्त्र मयी है ।

॥ वेदान्तशास्त्र ॥

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्। ब्र, सू, १।१।१-४।' इन्हीं चार सूत्रों में वेदान्त शास्त्र गर्भित हैं।

वेदान्त शास्त्र का उद्गमबिन्दु 'जिज्ञासा' का निरूपण तो न्यायशास्त्र के प्रकरण में उपर किया ही जा चुका है। वेदान्त शास्त्रका मूल और मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' का पूर्ण निरूपण गीता में है। श्रीमद्भगवद्गीता वेदान्तशास्त्र ही है और यह 'वेदान्तो नाम उपनिषद्' का सार रूप (सर्वोपनिषदोगावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्) है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता वेदान्तशास्त्र मयी ही नहीं प्रत्युत साक्षात् वेदान्तशास्त्र ही है।

॥ योगशास्त्र ॥

'अथ योगानुशासनम्। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्। यो, सू. १।१--३।' इन्हीं तीन सूत्रों में योगशास्त्र गर्भित है और ये सभी तत्त्व श्रीमद्भगवद्गीता में पूर्ण हैं। 'यतोयतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।६।२६।' में चित्तवृत्ति के निरोध का निरूपण है। इसका साधन योगसूत्र में बतलाया गया है—अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः यो· सू. १।१२' और ठीक यही बात श्रीमद्भगवद्गीता में भी निरूपित है 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। गी-६।३५।' योगशास्त्र के उपरोक्त सूत्र-तदाद्रष्टुः स्वरूपे ऽवस्थानम्' का निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता के-'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा-गी-६।१८।' श्रीमद्भगवद् गीता योग शास्त्र मयी ही नहीं है प्रत्युत साक्षात् योगशास्त्र रूपा है। ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्यायों के अन्त में स्पष्ट अक्षरों में लिखा है 'ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे....।' श्रीमद्भगवद्गीता का अन्तिम श्लोक भी 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो का उद्घोष करता है। योग सूत्र के समाधिपाद के 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' आदि का निरूपण भी श्रीमद्भगद्गीता के 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि १०।२५।' 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम। गी, १८। ६१-६२।' अतः गीता योगशास्त्रमयी है।

॥ सांख्य शास्त्र ॥

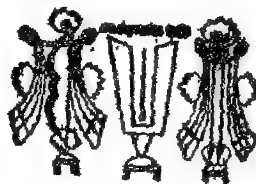
प्रकृति पुरुष का निरूपण एवं ज्ञान साधना ही सांख्यशास्त्र का मूल है। श्रीमद्भगवद्गीता का सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय 'सांख्ययोगो नाम अध्याय' से संज्ञित है। पुनः 'सांख्य

योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' के अनुसार सांख्य और योग में कोई भेद नहीं है। सांख्य तत्त्व विवेचक शास्त्र है और योग उसका साधक शास्त्र है। 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्। सां० का० २।' में व्यक्ताव्यक्तज्ञान से मोक्ष का उपदेश है। श्रीमद्भगवद्गीता में 'यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्। अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।१८।२४-२५ से उक्त अविशुद्धि क्षयातिशय युक्तः' दोषवाले कर्मों (यज्ञों) का राजस एवं तामस कर्मों के अन्तर्गत बतलाकर उस सांख्य मत का समर्थन करते हुये 'नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।१८।२३।' नित्य कर्म को अबाधित रक्खा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी व्यक्त अव्यक्त का निरूपण है 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। २।२५। अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना। २।२८।' अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके'८।१८' परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति। ८।२० अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमांगतिम्। य प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।८।२१। एवं सतत युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः' १२।१' ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्र गमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्। संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते। १२।३-५। मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। ९।४। अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परंभावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।७।२४।' अतः सांख्य प्रतिपादित व्यक्ताव्यक्त का सुन्दरतम निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता में होने से श्रीमद्भगवद्गीता सांख्यमयी है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता सर्व(षट्)शास्त्रमयी है सर्वज्ञान प्रयोजिका है।

श्रीराम जय राम जय जय राम

ॐ हरिः ओ३म् तत्सत् ॐ


卐 श्रीमद्भगवद्गीता का आनन्दभाष्य 卐

कुछ लोगों का कथन है कि श्रीरामानुजाचार्यजी एवं श्रीरामानन्दाचार्यजी दोनों का ही दार्शनिक वेदान्त सिद्धान्त एक ही विशिष्टाद्वैतवाद है अतः दोनों के भाष्यों में केवल नारायण और श्रीराम के परत्व को छोडकर कोई भेद नहीं है। श्रीरामानुजभाष्य के नारायण के स्थान पर श्रीराम को बैठाकर श्रीरामानन्दभाष्य गढ लिया गया है और श्रीरामानुजभाष्य की छाया ही श्रीरामानन्दभाष्य है ।

परन्तु उनलोगों की यह अपठित भ्रान्तवार्ता सर्वथा अनादरणीय है। जिस प्रकार श्रीकण्ठाचार्य (शैवभाष्य) के शैवविशिष्टाद्वैतवाद और श्रीपति (श्रीकरभाष्य) के 'वीरशैव विशिष्टाद्वैतवाद' में दोनों को एक ही वेदान्त सिद्धान्तवादी 'विशिष्टाद्वैतवादी' होने पर भी दोनों में परत्व स्वरूप के अतिरिक्त सिद्धान्त और व्यवहारों में भी पारस्परिक बहुत अन्तर और सर्वथा पार्थक्य है, तथा इन दोनों विशिष्टाद्वैतवादों का पुनः श्रीरामानुज (श्रीभाष्य) के विशिष्टाद्वैतवाद के साथ पारस्परिक पार्थक्य और भेद है, उसी प्रकार श्रीरामानुज (श्रीभाष्य) के विशिष्टाद्वैत एवं श्रीरामानन्द (आनन्दभाष्य) के विशिष्टाद्वैत में भी पारस्परिक भेद है जो दोनो भाष्यों के सूक्ष्म अध्ययन से स्पष्ट है । श्रीरामानन्दभाष्य में श्रीनारायण के स्थान में श्रीराम को बैठा नहीं दिया गया है, प्रत्युत श्रीरामपरत्व विषयक श्रुति वाक्यों के अधिकरण पर श्रीबोधायन प्रभृति पूर्वाचार्यों की पद्धति से श्रीराम के परत्व की स्थापना की गयी है। इस भाष्य में श्रीरामानुजभाष्य का न तो खण्डन किया गया है और न अनुकरण। यह भाष्य श्रीरामानुजभाष्य से सर्वथा स्वतन्त्र अति उत्कृष्ट एवं स्वमतानुकूल प्रमाणिक भाष्य है। दोनों आचार्यों में काफी अन्तर और वैमत्य भी है जिसका दर्शन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से होता है–

(१) श्रीमद्भगवद्गीता २।१० के श्रीरामानुजभाष्य- 'न त्वेवाहं जातु नासम (गी.२।१०)' इत्यारम्य 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः (१८।६६)' इत्येतदन्तम् उवाच इत्यर्थः।' से स्पष्ट है कि स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी श्रीमद्भगवद्गीता का आरम्भ वा उपक्रम वस्तुतः 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं (गी० २।११) भगवद्वाक्य से अथवा 'नत्वेवाहं जातुनासन्' (गी. २।१० से मानकर उपसंहार 'अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः (गी.१८।६६) मानते हैं और इसीलिये उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय के इसके पूर्व के श्लोको का स्पर्श नहीं किया है और भाष्य नहीं लिखा है। परन्तु इसके प्रतिकूल ज.गु. श्री रामानन्दाचार्यजी श्रीमद्भगवद्गीता का आरम्भ और उपक्रम 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे०' (गी. १।१। से मानकर इसका मध्य 'इदंशरीरं कौन्तेय क्षेत्र मित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ' इति तद्विदः' 'गी. १३।४।' एवं उपसंहार 'सर्वधर्मान् परित्यज्य (गी० १८।६६) मानते हैं और इसीलिए उन्होने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता (गी० १।१ से १८।७८ का विधिवत् भाष्य किया है । यह 'धर्मक्षेत्र' के उपक्रम और 'सर्वधर्मान्' उपसंहार वाक्य में अन्वय पूर्ण भी है।

अतः दोनों आचार्यों में श्रीमद्भगवद्गीता के विस्तार (आकार) और उपक्रम–उपसंहार विषयों में स्पष्ट वैमत्य है । दोनों की दो धारा और दो भाष्य सिद्धान्त है ।

(२) श्रीमद्भगवद्गीता में दार्शनिक मत के प्रतिपादन का आरम्भ 'न त्वेवाहं जातु नासम् गी २।१२' से होता है और ऐसा श्रीरामानुजाचार्यजी ने माना है । इस श्लोक के भाष्य में स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी ने अद्वैतवाद के मत के खण्डन एवं विशिष्टाद्वैत के मत की स्थापना के क्रम में 'अहं' 'त्वं' 'इमे' 'सर्वे' 'वयम्' पदके प्रयोगों से जीवों का सर्वेश्वर परमात्मा से तथा जीवों को परस्पर एक दूसरे जीवों से पारमार्थिक (यथार्थ) भेद एवं परमात्मा तथा जीवों की नित्यता 'नित्योनित्यानां-श्वे० ६।१३' से इन भेदों को नैसर्गिक (स्वाभाविक) सिद्ध किया गया है । पुनः 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्–मु० १।१।९, 'परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च श्वे० ६।८' और 'वेदाहं समतीतानि० गी.७।२६' से अद्वैतवाद के बाधितानुवृत्तिरूप भेद ज्ञान बन्धनकारक नहीं है के आक्षेप का निरास किया है । पुनः गुरु शिष्य परम्परा उपदेश की व्यर्थता दोष का आरोपण किया है । परन्तु इस श्लोक के भाष्य में इस प्रकरण में ज.गु. श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने अत्यन्त उत्कृष्ट और विशद रूप से २३० पंक्तियों की २७ कण्डिकाओं में अनेक विकल्पों की उद्भावनापूर्वक दर्जनों प्रश्नों के उत्थान से 'प्रश्न निरूपणाभ्याम्' अथवा 'प्रश्नोत्तराभ्याम्' शास्त्रीय पद्धति से प्रत्येक पहलुओं पर अनेकों तर्क वितर्क और विचार प्रस्तुत करते हुए अद्वैतवाद की अविद्या का खण्डन करते हुए जीवेश्वरवाद का खण्डन प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र प्रमाणों से खण्डन, दुःखात्मक जगत्सृष्टि की उपपत्ति मुक्तजीव का ब्रह्म से भिन्नत्व सिद्धि ईश्वरजीव भेद के समान सभी जीवों का परस्परभेद के प्रति लाये गये प्रत्यक्ष अनुमान, और आगम प्रमाणों का समाधानपूर्वक भेद सिद्धि, नित्य जीवों का मुक्त जीवों से भेद सिद्धि, आत्मभेद के अभाव में गुरु शिष्य व्यवस्था भङ्ग आदि के द्वारा स्वभाविक और नित्यभेद बड़े ही घटाटोप के साथ पाण्डित्यपूर्ण शास्त्रार्थशैली में सिद्ध किया गया है ! दोनों भाष्यों की तुलना करने से स्पष्ट विदित होता है कि इस श्लोक के भाष्य में श्रीरामानन्दभाष्यो का अष्टमांश श्रीरामानुजभाष्य आकार और प्राकार (विषय) दोनों रूपों में है । अविद्या का खण्डन और नित्यजीव भेदादि विषय श्रीरामानुज भाष्य में वहां है ही नहीं । दोनों भाष्यों को पढ़ने पर ही दोनों का भेद और श्रीरामानन्दभाष्य की उत्कृष्टता का ज्ञान होता है । इसके पढ़ने से स्पष्ट है कि श्रीरामानन्दभाष्य श्रीरामानुज भाष्य का स्पर्श भी नहीं करता है, उसकी छाया होने की बात तो दूर रहे । दोनों के अधिकरण वाक्य भी अलग परस्पर भिन्न हैं इत्यादि । इसी प्रकार सर्वत्र है, जो वहीं द्रष्टव्य है ।

(३) श्रीमद्भगवद्गीता २।३१ के श्रीरामानन्दभाष्य में कोई भी अप्रासङ्गिक अथवा वैष्णवमत विरोधी बात नहीं है । परन्तु इसके प्रतिकूल उक्त गीता श्लोक के श्रीरामानुजभाष्य में अप्रासङ्गिक और वैष्णवमत विरोधी बात वहां लिखी गयी है ।

ॐ श्रीरामानुजाचार्य जी के मत से श्रीरामानन्दाचार्यजी का मत भिन्न है ॐ

'रामानुजमताद्भिन्नं श्रीरामानन्दसन्मतम् । मन्त्रोपास्येष्टदेवस्य भेदादेवेति निश्चितम् ।।

(प्रबोधरत्नमाला श्लोक ११०)

अतः श्रीरामानुजभाष्य से श्रीरामानन्दभाष्य का अन्तर होना स्वाभाविक है ।

(१) दोनों आचार्यों में मूल श्रीमद्भगवद्गीता के आकार के सम्बन्ध में भी मतभेद है। श्रीरामानन्दाचार्यजी श्रीमद्‌भगवद्गीता के त्रयोदश अध्याय के आरम्भ श्लोक--'अर्जुन उवाच-- 'प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयञ्च केशव ? ।।१।।' को मानते हैं, परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी इस श्लोक को नहीं मानते ।

(२) दोनो आचार्यों में भाष्य शैली में भी अन्तर है। श्रीरामानन्दाचार्यजी 'आक्षेपञ्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं स्मृतं' के सिद्धान्तानुसार आक्षेप प्रतिपादक ननु (प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु--मे०) पद को उपस्थापित कर उसका समाधान करते हुये पचासों स्थान पर भाष्य लिखे हैं, परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी में इस सरणी का अभाव है।

(३) श्रीरामानन्दाचार्यजी सम्पूर्ण श्रीमद्‌भगवद्गीता के सभी श्लोको को महत्त्वपूर्ण मानकर आरम्भ से अन्त तक सभी श्लोकों का भाष्य लिखे हैं। परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी ऐसा नहीं मान कर प्रथम अध्याय का भाष्य तो लिखा ही नहीं है, केवल श्लोक १९, २५ और ४७ में टिप्पणि लिखी है। इसी प्रकार की स्थिति दूसरे अध्याय के ९ तक की है। श्लोक १० में लिखते हैं--आत्मपरम् आत्मयाथात्म्यतत्प्राप्त्युपायभूतकर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगगोचरम् 'नत्वेवाहं जातुनासम् (गी. २।१२) इत्यारभ्य 'अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः (गीता १८।६६) इत्येतदन्तम् उवाच इत्यर्थः ।' जिससे स्पष्ट है कि वे गीता का आरम्भ (उपक्रम) और अन्त (उपसंहार) गी. २।१२ से गी. १८।६६ पर्यन्त मानकर यही गीता का आकार मानते हैं और इसलिए इन्हीं का भाष्य लिखा है।

(४) श्रीरामानन्दाचार्यजी ने श्रीमद्भगवद्गीता में प्रयुक्त 'ऋषिकेश' 'भारत' प्रभृति नामो की भी प्रासङ्गिक व्याख्या की है। परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी ने व्याख्या नहीं की है ।

(५) श्रीरामानन्दाचार्यजी मोक्ष का साधन वा सर्वोत्कृष्ट साधन 'प्रपत्ति' मानते हैं जबकि श्रीरामानुजाचार्य स्ववर्णोचित कर्म सह भक्तियोग--

श्रीरामानन्दाचार्य--तत्प्राप्तये तस्यैव प्रपत्तिः समादरणीयेति निश्चितम् । इतः परमवशिष्टानां मुक्त्योपयिकानामर्थानाम्प्रपत्तिस्वरूपोपयुक्तानामपि निर्णय आवश्यक इति।१८।१।'

श्रीरामनुजाचार्य-मोक्षसाधनं च कर्मफलाभिसन्धिरहितं यज्ञादिकं, तदारम्भः च सत्त्वोद्रेकाद् भवति, सत्त्ववृद्धिः च सात्त्विकाहारसेवया इति उक्तम् । अनन्तरं मोक्षसाधनतया निर्दिष्टयोः त्याग-संन्यासयोः ऐक्यं त्यागस्य संन्यासस्य च रूपं भगवति सर्वेश्वरे च सर्वकर्मणां कर्तृत्वानुसन्धानम्' सत्त्वरजतमसां कार्यवर्णनेन सत्त्वगुणस्यावश्योपादेयत्वम् स्ववर्णोचितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनभूतानां परमपुरुषप्राप्तिनिर्वर्तनप्रकारः कृत्स्नस्य गीताशास्त्रस्य सारार्थो भक्तियोग इति एते प्रतिपाद्यन्ते । अध्याय १८ उपोद्घात ।'

इस प्रकार श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में श्री गीता शास्त्र का सारार्थ (तात्पर्य) शरणागति (प्रपत्ति) योग में है और श्रीरामानुजाचार्यजी के मत में स्ववर्णोचित भक्तियोग में ।

(६) सम्पूर्णगीता में पदों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी मत भेद है । करणं च पृथग्विधम्—गी. १८।१४' के 'करण पद की व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्य करण पद से केवल कर्मेन्द्रिय का ग्रहण करते हैं—'वाक्पाणिपादादिपञ्चकं समनस्कं कर्मेंद्रियम्' जबकि श्रीरामानन्दाचार्यजी करण पद से कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों का ग्रहण करते हैं 'विविधव्यापार प्रवीणं द्विविधमपि बाह्यान्तः करणम् ।' इसकी अर्थचिन्द्रका में लिखा है 'करणञ्च पृथग् विधं ज्ञानग्राहकमिन्द्रियपञ्चकं कर्मारम्भकमिन्द्रियपञ्चकमुभयात्मकं मन इत्येकादशेन्द्रियाणि ।'

(७) गीता २।११ के 'अशोच्यान्' पद से श्रीरामानन्दाचार्यजी 'अशोच्यान् शोकानर्हान् शूरसम्मान्यान् स्वधर्मानुष्ठानेन पुण्यलोकानिप्सून् भीष्मादीन् देहात्मविशिष्टान्' व्यक्तियों का ग्रहण करते हैं जबकि श्रीरामानुजाचार्यजी पिण्डादि क्रिया को 'अशोच्यान् अति अनुशोचसि पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया (गी॰ १।४१ इत्यादिकान्' ।

(८) गी. २।१२ के सम्बन्ध में दोनों भाष्यों के अन्तर को गीताका आनन्दभाष्य शीर्षक में लिख चुका हूं जो वहीं द्रष्टव्य है।

(९) गी. २।१३ में श्रीरामानन्दाचार्यजी ने जीवाणुत्व का प्रतिपादन किया है 'अत्र देहान्तरप्राप्तिमभिदधता भगवता देहिनोऽणुत्वं स्पष्टमेवोक्तं विभुत्वे देहाद्देहान्तरप्राप्तेरसंभवात् । एतेन जीवविभुत्ववादोऽन्तः करणावच्छिन्नजीववादश्च प्रत्युक्तो ।' जब कि श्रीरामानुज भाष्य में यह प्रतिपादन नहीं हैं ।

(१०) गी. २।१४ में 'तांस्तितिक्षस्व' का तात्पर्य श्रीरामानुजाचार्यजी के मत में युद्धादिशास्त्रीय कर्म समाप्ति पर्यन्त ही है 'तान् धैर्येण यावद्युद्धादिशास्त्रीय कर्मसमाप्तितितिक्षस्व' । परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में सर्वकालिक है ।

(११) गी० २।१५ में व्यथयन्ति का अर्थ श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में 'चित्त विकारमुत्पाद्यनैव क्षोभयन्ति' है और श्रीरामानुजाचार्यजी के मत में युद्धादिकर्म अनभिसंहितफलं कुर्वाणं तदन्तर्गताः शस्त्रपातादिमृदुक्रूरस्पर्शा न व्यथयन्ति' है ।

(१२) गी० २।१६ में 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' के भाष्य में श्रीरामानुजाचार्यजीने लिखा है 'अत्र तु सत्कार्यवादस्य असङ्गत्वात् न तत्परोऽयं श्लोकः ।' जबकि श्रीरामानन्दाचार्यजी के इस श्लोक के भाष्य में यह बात नहीं है प्रत्युत श्रीरामानन्दाचार्यजी ने छान्दोग्योपनिषद् के आनन्दभाष्य में बड़े विस्तार से गीता के इस श्लोक का सत्कार्यवाद के निरूपण में प्रयोग किया है (देखें छा० उ० ६।२।१ सदेव सोम्ये दमग्र आसीत् का आनन्दभाष्य) ।

(१३) गी० २।२० 'न जायते म्रियते वा कदाचित् । श्लोक के भाष्य में श्रीरामानन्दाचार्यजी ने लिखा है 'अनेन षड्विकारराहित्यमस्यात्मनः सिद्धं भवतीति फलितम् ।' परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी ने ऐसा नहीं लिखा है ।

(१४) गी. २।२१ के भाष्य में श्रीरामानन्दाचार्यजी ने लिखा है 'कस्यचिदप्यात्मनो हनने तस्य पुरुषस्य स्वतन्त्र कर्तृत्वं नास्तीत्यर्थः ।' परन्तु श्रीरामानुजाचार्य के भाष्य में यह तत्त्ववार्ता नहीं है ।

(१५) गीता के आनन्दभाष्य में प्रत्येक श्लोकों के भाष्य के पूर्व उसका सम्बन्धभाष्य दिया गया है । परन्तु श्रीरामानुज भाष्य में सम्बन्ध भाष्य नहीं दिया गया है । यह त्रुटि भाष्य को निरुद्देश्य इङ्गित करता है । सम्बन्ध भाष्य से ही उपस्थापित विषय का प्रयोजन ज्ञात होता है ।

(१६) गी. २।२७ के श्रीरामानन्दभाष्य में असत् कार्यवाद का बृहत् निरूपण कर उसका खण्डन किया गया है—अत्रासत्कार्यवादिनो वदन्ति नायं सत्कार्यवादः समीचीनः सतो द्रव्यस्योत्पत्तिविनाशयोरुपपादयितुमशक्यत्वात् । तथाहि—'घटादिरुत्पद्यत' इत्यादिप्रतीतिसिद्धाघटादिद्रव्यस्योत्पत्तिर्नाम तदधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्ध एव । स चोत्पद्यमानस्य घटादेः प्रागपि सत्वेऽङ्गीकृते तस्य तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणवृत्तित्वात् कुतः स्यादित्यसत एवोत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या । एवं 'नश्यति' 'नष्ट' इत्यादि प्रतीतिसिद्धः प्रतियोगीसत्ताविरोध्यभावविशेषात्मको विनाशोऽपि पश्चादसत एव घटादिद्रव्यस्य स्वीकर्तव्योऽन्यथा घटादिनाशान्तरं घटादिरस्ती' ति प्रत्ययप्रसङ्गः स्यात् । किञ्च कार्यस्य प्राक्सत्तायां कार्यकारणयोरनन्यत्व उभयोर्नामार्थसंख्याबुद्धिकालकारणाकारभेदानामनुपपन्नत्वं कारकव्यापारस्य नैष्फल्यञ्च भवेदिति ।

तन्न युक्तम् तदधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणावच्छिन्नाया कपालद्वयादिसंयोगात्मिकाया घटत्वावस्थाया एवोत्पत्तितया कपालद्वयादिविभागात्मिकाया घटत्वाद्यवस्थाविरोधिकपालत्वाद्यवस्थाया एव च विनाशतयाङ्गीकृतत्वेनोक्तदोषाप्रसङ्गात् । घटत्वादिविशिष्ट एव सत्ताया घटादिरस्ती'ति व्यवहारान्न घटादिनाशान्तरं तादृशव्यवहारापत्तिः । पुनः इसके सम्बन्ध में शङ्का कर उसका समाधान किया गया है—

'ननूत्पन्नस्य घटादेर्नाशस्य प्रत्यक्षतया 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु' रिति भगवदुक्तस्योपपत्तिमत्वेऽपि नष्टस्य घटादेः पुनरुत्पादस्यानवलोकनात् ध्रुवं जन्म मृतस्य चेति वचनंत्वनुपपन्नमेवेति चेन्न पूर्वावस्थस्य द्रव्यस्य विनाशरूपा पूर्वावस्थाविरोध्युत्तरावस्थोत्तरावस्थस्यैव तस्य द्रव्यस्योत्पत्तिर्न तु पूर्वावस्थस्यापि तस्य यथा घटावस्थस्य द्रव्यस्य नाशरूपा कपालत्वावस्था कपालावस्थस्यैव तस्य द्रव्यस्योत्पत्तिर्न तु घटावस्थस्यापि तस्य । तथा च सूपपन्नैव नष्टस्योत्पत्तिरिति । उत्तरावस्थायाः पूर्वावस्थाविरोधित्वात् कपालनाशे घटनाशस्यैव नष्टत्वेन चूर्णावस्थायां घटोन्मज्जनप्रसङ्गोऽपि न ।'

पुनः नष्टोत्पाद के ध्रुवत्व प्रतिपादन को अयुक्त होने की शङ्का प्रस्तुत कर उसका समाधान किया गया है—

ननु शोकानिमित्तत्वेन भगवता नष्टोत्पादस्य ध्रुवत्व प्रतिपादनमयुक्तमिति चेन्न, नष्टोत्पादध्रुवत्वप्रतिपादनस्य नाशध्रुवत्व प्रतिपादनात्मकत्वात् ।'

परन्तु श्रीरामानुजभाष्य में इन सबका पूर्ण अभाव है ।

(१७) गी. २।३१ के श्रीरामानुजभाष्य में 'अग्नीषोमीयादिषु च न हिंसा पशोः निहीनतरच्छागादिदेहपरित्यागपूर्वककल्याणदेहस्वर्गादिप्रापकत्वश्रुतेः संज्ञपनस्य अत: चिकित्सककर्म आतुरस्य इव अस्य रक्षणम् एव अग्नीषोमीयादिषु संज्ञपनम् ।' यह भ्रान्त और प्रकरण विरुद्ध अप्रासङ्गिक अंश उपलब्ध है । परन्तु श्रीरामानन्दभाष्य में यह वैष्णव द्वारा सर्वथा अनाचारणीय विवादास्पद बात नहीं है ।

(१८) गी, २।३९ के सांख्य पदकी व्याख्या में श्रीरामानन्दाचार्यजी ने लिखा है 'सम्यक् ख्यायते स्वपरस्वरूपमनया सा संख्या बुद्धिस्तयावगतं सांख्यं तस्मिन् सांख्ये स्वपरयाथात्म्यावबोधविषये' । और श्रीरामानुजाचार्यजी ने लिखा है—संख्या बुद्धिः बुद्ध्यावधारणीयम् आत्मतत्त्वं सांख्यम् ।

(१९) गी. २।४१ के 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' की व्याख्या श्रीरामानन्दाचार्यजी लिखते हैं 'व्यवसायात्मिका देहातिरिक्ताऽणुज्ञानस्वरूपोऽहं भगवतः श्रीरामस्यदासः । मम स्वामी जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपस्तदुदयावनलयलीलः परात्परतरः सर्वेश्वरो हेयप्रत्यनीकोऽनवधिकातिशयदयादिकल्याणगुणोदन्वान् निग्रहानभिज्ञानन्तकरुणावरुणसागरभूताया भगवत्या श्रीसीतायाः पतिर्ब्रह्मापरपर्यायो भगवान् श्रीरामोऽनेन स्वाराधनात्मकेन फलाभिसन्धिवर्जितेन कर्मणाऽवश्यं मे मुक्तिं विधास्यति संसारबन्धनादस्मादि'ति निश्चयो व्यवसायः । तादृशव्यवसायात्मिका बुद्धिः । इससे भिन्न श्रीरामानुजाचार्यजी व्यवसायात्मिका बुद्धिः की व्याख्या लिखते हैं—मुमुक्षुणा अनुष्ठेये कर्मणि बुद्धिः व्यवसायात्मिका बुद्धिः । व्यवसायो निश्चयः सा हि बुद्धि

आत्मयाथात्म्यनिश्चयपूर्विका । काम्यकर्मविषया तु बुद्धिः अव्यवसायात्मिका । तत्र हि कामाधिकारे देहाद् अतिरिक्तात्मास्तित्वमात्रम् अपेक्षितम् न आत्मस्वरूपयाथात्म्यनिश्चयः स्वरूपयाथात्म्यानिश्चये अपि स्वर्गादिफलार्थित्व तत्साधनानुष्ठानतत् फलानुभवानां संभवाद् अविरोधाच्च ।'

२०) गी. २।५९ में 'निराहार' की व्याख्या में श्रीरामानन्दाचार्यजीने निराहारस्यान्नाद्यनश्नतः ।' लिखा है जबकि इसके विपरीत श्रीरामानुचार्यजीने निराहार पद की व्याख्या में लिखा हैं—'इन्द्रियाणाम् आहारो विषयाः निराहारस्य विषयेभ्यः प्रत्याहृतन्द्रियस्य देहिनो विषयाः विनिवर्तमाना ।' जिसका खण्डन करते हुये आनन्दभाष्य चन्द्रिका में लिखा है—केचित्त्वाहारपदं समस्तेन्द्रियविषयमाश्रित्यसमस्तेन्द्रियविषयानाहरतो देहिनो विषया निवर्तन्त इत्यथमाहुस्तदपेशलम्। विषयानाहारणाद्विषयानिवृत्तिरिति त्वबालगोपालं सर्वोऽपि जानन्ति । किम्पुनर्भगयन्तरेणाभिधाने वैचित्र्यम् । तथा सति 'विषया विनिवर्तन्ते विषयत्यागत. क्वचित्' इत्येव ब्रूयात् तस्मादत्र निराहारपदघटकमाहारपदं पानाशनरूपजिह्वेन्द्रियाहारमात्र परम् । अत एवैकादशे रसनेन्द्रिये जित एव जितेन्द्रियत्वसिद्धिर्नेनरथेति स्पष्टमभिहितम् । तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियपुमान् । न जयेद्रसन यावज्जितं सर्वं जिते रसे' इति ।

(२१) इसी प्रकार सम्पूर्ण गीता के भाष्यों में श्रीरामानन्दाचार्य जी के आनन्दभाष्य और श्रीरामानुजाचार्यजी के गीताभाष्य में सर्वत्र अन्तर और विरोध भी है जो दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से मेष वृष के समान स्पष्ट है यदि प्रत्येक का दिग्दर्शन कराया जाय तो एक बृहत ग्रन्थ ही बन जायगा । अत: थोडे हि में जानिअहि सयाने । ताते मैं अति अल्प बखाने ॥ के सिद्धान्तानुसार मैंने यहाँ प्रारम्भ का ही कुछ भेद प्रस्तुत किया है । इसीसे स्थालीपुलाक न्यायेन समस्त ग्रन्थ का भेद समाझा जा सकता है । यदि किसी को सन्देह हो कि ग्रन्थारम्भ में ही भेद है अन्त में नहीं तो अन्त का भी दो दृष्टान्त प्रस्तुत करता हूं ।

(२२) गी० १८।६१ के हृद्देशे की व्याख्या में श्रीरामानुज भाष्य में लिखा है 'हृद्देशे सकलप्रवृत्तिनिवृत्तिमूलज्ञानोदये देशे' और श्रीरामानन्दभाष्य में लिखा है 'हृद्देशे सकलप्रवृत्तिनिवृत्तिकारणभूत ज्ञानावासस्थलहृदयप्रदेशे' । इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्यजी के मत में हृदय ज्ञान के उदय का स्थान है और श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में हृदय ज्ञान का आवास स्थान है । उदय अनित्य और शान्त (अस्तवाला) होता है जबकि आवास नित्य होता है । ज्ञान का उदय चार्वाक के सिद्धान्तानुसार अथवा न्याय के कादाचित्क सिद्धान्तानुसार भी हो सकता है परन्तु आवास तो प्रत्येक ज्ञान के सिद्धान्तानुसार ही होगा । अथवा न्याय के 'ज्ञानाधिकरणम् आत्मा' सिद्धान्तानुसार अधिकरण रूप में ही ।

(२३) गी० १८।६१ के 'सर्वभावेन' की व्याख्या श्रीरामानुजाचार्यजी ने सर्वभावेन सर्वात्मना लिखा है और श्रीरामानन्दाचार्यजी ने 'सर्वभावेन सर्वप्रकारेण वचसा मनसा कायेन च' लिखा है। अतः श्रीरामानुजाचार्यजी के मत में केवल मनसा भी हो सकता है जबकि श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में मनसा वचसा कर्मणा तीनों ही।

(२४) गी० १८।६६ सम्पूर्ण गीता के उपसंहाररूप इस श्लोक का श्रीरामानन्दभाष्य और श्रीरामानुजभाष्यों में महान् अन्तर है। यदि उन्हें यहाँ लिखा जाय तो कई पृष्ठ भर जायेंगे अतः दोनों को पढ़ने से दोनों का अर्थ भेद और तात्पर्य भेद स्पष्ट विदित होगा।

(२५) गीता के मध्य गी० ११।३४ के भाष्यों में दोनों में विरोध है। श्रीरामानन्दभाष्य में लिखा है 'द्रोणं ब्राह्मणत्वाद्धनुर्वेदाचार्यत्वाद् दिव्यास्त्रसम्पन्नत्वाच्च तज्जये सन्देहसम्भवात्तदुपादानम् एवं भीष्मजयद्रथकर्णेषु स्वाच्छन्द्यमरणपितृवरग्रहणेन्द्रदत्तशक्तिशालित्वेन सन्देहसम्भवात्तन्नामोपादानम्। तथाऽन्यान्नपि योधृवीरान् कृपशल्याश्वत्थामादीन् यस्त्वं दुर्जयान्मन्यसे तान् मयैव कालकालेन हस्तॉत्वं जहि। कथमेतान् हनिष्यामीति मा व्यथिष्ठा व्यथां मा कार्षीः सुखेन युध्यस्वानायासेनैव सपत्नान् रणे जेतासि' जबकि श्रीरामानुजाचार्यजी ने लिखा है 'द्रोणभीष्मकर्णादीन् कृतापराधतयामया एव हनने विनियुक्तान् त्वं जहि त्वं हन्याः एतान् च बन्धून् अन्यान् अपि भोग सक्तान् कथं हनिष्यामि ! इति मा व्यथिष्ठाः तान् उद्दिश्य धर्माधर्म भयेन बन्धुस्नेहेन कारुण्येन च मा व्यथां कृथाः। यतः ते कृतापराधाः मया एव हनने विनियुक्ताः अतो निर्विशङ्को युद्ध्यस्व रणे सपत्नान् जेतासि जेष्यसि न एनेषां वधे नृशंसतागन्धः अपि तु जय एव लभ्यते इत्यर्थः ॥'

श्रीमद्भगवद्गीता के श्रीरामानन्दभाष्य और श्रीरामानुज भाष्यों में भेद

(१) गी० १५।१५ के भाष्य में—

(१) 'अपोहनम्' पद की व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्यजी लिखते हैं 'अपोहनं च' अमोहनं ज्ञाननिवृत्तिः। अमोहनम् ऊहनं का 'ऊहनं ऊहः, ऊहोनाम इदं प्रमाणम् इत्थं प्रवर्तितुमर्हति इति प्रमाणप्रवृत्त्यर्हताविषयं सामग्र्यादिनिरूपणजन्यं प्रमाणानुग्राहकं ज्ञानम्, ऊहो नाम वितर्कः। परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी इसकी व्याख्या में लिखते हैं 'अपोहनं स्मृतिज्ञान प्रमोषः पर्यालोचनं वा च भवन्ति'' इन दोनों व्याख्याओं की तुलना से दोनों में निम्न लिखित भेद सिद्ध होते हैं

(क) श्रीरामानुजाचार्य अपोहन का अर्थ 'ज्ञाननिवृत्ति ज्ञानाभाव निवृत्ति गतिरोधः मानते हैं 'अपोहनं ज्ञाननिवृत्तिः' । परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी ऐसी व्याख्या नहीं मानते हैं क्योंकि इस अपोहन की उत्पत्ति परमेश्वर से कही गयी है । ईश्वर से ज्ञान की उत्पत्ति होती है 'ज्ञान की निवृत्ति' नहीं । भरत हिय सीय राम निवासू । तहाँ कि तिमिर जहं तरणि प्रकाशू ।' जहा राम तह काम नहीं जहां काम नहि राम । तुलसी कबहूं कि है सकहीं रवि रजनी एक ठाम । समानाधिकरण्य हि तेजस्तिमिरयोः कुतः' कहा गया है । 'पुनः यहां भी मत्तः स्मृतिज्ञान' कहा गया है । तब यहां उसका विरोधी ज्ञाननिवृति उससे कैसे होगी । ज्ञानकी निवृत्ति तो रजोगुण प्रवृति (माया) से उत्पन्न होती है मायायाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः गी ७।१५। अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः । अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः । काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्धेनमिहवैरिणम् ॥ धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च । यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् । आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च । इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते । एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनाम्' । गीता ३।३६-४० ।' काम (रजोगुण प्रकृति माया) से ही स्मृति विज्ञान एवं ज्ञान का नाश होता है 'ध्यायतो विषयान् पुंसःसङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभि जायते । क्रोधाद्भवति संमोहः सामोहात्स्मृति विभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति । गी. २।६२-६३ ।' यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है कि जब कोई मोहोपहत चौर्य, मद्यपान, व्यभिचार बेईमानी आदि अज्ञानकर्म करने के लिये चाहता है तब उसके हृदय में दो प्रकार की आवाज आती है प्रथम 'ऐसा करो', यह काम क्रोध लोभ आदि माया से आती है और द्वितीय 'ऐसा मत करो, यह ईश्वर की प्रेरणा से आती है । इस परिस्थिति वा द्विविधा की स्थिति से जो ईश्वर की आवाज को सुनता है वह अज्ञानकर्म नहीं करता है और जो माया की आवाज को सुनता है वह अज्ञान कर्म करता है । इस प्रकार ज्ञान की निवृत्ति मायाजन्य है ईश्वरजन्य नहीं है । अतः यहां अपोहनम् का अर्थ 'ज्ञाननिवृत्ति' मानना तत्त्व विरुद्ध और भ्रान्त है । श्रीरामानन्दाचार्यजी ने ऐसा अर्थ नहीं किया है ।

(ख) 'अपोहनम्' का दूसरा अर्थ श्रीरामानुजाचार्य ने लिखा है 'अपोहनं ऊहः । ऊहो नाम इदं प्रमाणं इत्थं प्रवर्तितुं अर्हति इति प्रमाणप्रवृत्त्यर्हता विषयं सामग्र्यादिनिरूपणजन्यं प्रमाणाग्राहकं ज्ञानम्, ऊहोनाम वितर्कः ।' अपोहनम्' शब्द की इस व्याख्या में इस शब्द में प्रयुक्त 'अप' उपसर्ग पर दृष्टिपात नहीं किया गया है । 'अप' उपसर्ग का अर्थ 'सम्' इत्येकी भावम्, त्रि' 'अप' इत्येतस्य प्रतिलोम्यम निरुक्त ।' 'अपस्यात् अपकृष्टार्थे वर्जनार्थे

वियोगयोः । विपर्य्यये च विकृतौ चौर्ये निर्देशहर्षयोः मे० अव्ययवर्ग ४६-४७ ।' एवं उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते । प्रहाऽऽहार संहार विहार परिहारवत्' कहागया है । अतः यह व्याख्या त्रुटिपूर्ण है । पुनः उन्होंने 'ऊहो नाम वितर्कः' भी लिखा है जो ऊह वितर्के ऊहति (भ्वा०) इति ऊहः । युक्तया अर्थ निर्णयो वितर्कः । 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जन' इति ।' का द्योतक है । परन्तु वितर्क पद स्वयं क्लिष्ट एवं गूढ है । इन्द्र पद की व्याख्य विजौडा से नहीं की जाती और सूर्य की टीका भानु नहीं होती 'किम् क्षेप वितर्कयोः निन्दायाश्च परिप्रश्ने मे०, 'यद्वत् प्रश्ने वितर्के च मे० उत् स्यात् प्रश्ने वितर्के च में, स्वित् प्रश्ने वितर्के च मे०, किमुत प्रश्न वितर्कयोः मे०, वितर्कस्तु पुमानूहे संशये च निगद्यते मे०, तर्कः कांक्षा वितर्कोह हेतु शास्त्रेषु कथ्यते मे० । संशयोत्तरमनिर्णीये ऊहो वितर्कः अ. प्रदीप ९' आदि से वितर्कपद क्लिष्ट सिद्ध है । इसमें तर्क पद के पूर्व 'वि' उपसर्ग है जो 'विग्रहे नियोगे च तथैव पादपूरणे । निश्चयेऽसहने हेतावव्याप्ति विनियोगयोः । ईषदर्थे परिभवे शुद्धावलम्बनेऽपि च विज्ञाने मे० अव्ययवर्ग ७५--७७ ।' 'सम् इत्येकीभावम् । वि 'अप' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् निरुक्त ।' पुनः गौतम ने ऊह का लक्षण लिखा है 'अविज्ञात-तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः न्या.सू. १।४' इस प्रकार कारण के प्रमाण से तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करना ऊह वा तर्क है । कारण (हेतु) की उपपत्ति तर्क (ऊह) है ! यह हेतु दो प्रकार का होता है (१) जहां व्याप्य की उपपत्ति से व्यापक का ज्ञान होता है जैसे 'धूम' व्याप्य के भाव से व्यापक अग्नि का ज्ञान होता है । पर्वतो वह्निमान् धूमात् । इसे अनुमान् कहते हैं और (२) जहां व्याप्य के अनुमान से व्यापक का ज्ञान होता है, जैसे यद्यत्राग्न्यभावः स्यात् तर्हि धूमाभावः स्यात् । यदि यहां अग्नि का अभाव होता तो धूम का भी अभाव होता । इस प्रकार व्याप्य धूम के अभाव से व्यापक अग्नि का ज्ञान होता है । इसे तर्क (ऊह) कहते है अनुमान और तर्क में अन्तर यही है कि अनुमान में व्याप्य के भाव से व्यापक का भाव ज्ञात होता है और तर्क में व्याप्य के अभाव से व्यापक का भाव ज्ञात होता । अतः तर्क भी अनुमान का ही प्रकार है और अनुमान ही है । अनुलोभ विधि को अनुमान कहते हैं और प्रतिलोभ विधि को तर्क । प्रकृत स्मृतिज्ञानमपोहनम् में सर्वव्यव-हारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम् सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्च । संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । तद्भिन्नज्ञान-मनुभवः । के साथ अपोहनम् शब्दपठित है । अतः श्रीरामानन्दाचार्यजी ने अपोहनं स्मृति-ज्ञानप्रमोषः पर्यालोचनं वा भवन्ति लिखा है जिसकी अर्थ चन्द्रिकाटीका में ज. गु. श्रीरघुवरा-चार्यजीने उभयोः स्मृत्यनुभवयोः प्रमोषो' लिखा है । मुषस्तेये मोषति (क्या०) इति मोषः प्र प्रकर्षरूपेण मोषति इति प्रमोषः । प्रमोषः प्रतिरोधः—अ.को. २।१०।२४-२५ । से विदित

है कि मोष (स्तेय) चौर्यमार्ग गुप्त वा प्रतिलोम विधि है जो तर्क के अप्रत्यक्ष प्रतिरोधक (प्रमाण बाधितार्थ प्रसङ्ग) का निरूपक है। अतः श्रीरामानन्दाचार्यजी का अपोहनं स्मृतिज्ञान प्रमोषः पर्यालोचनं वा भवन्ति' कथन सर्वथा उपन्न है। क्योंकि स्मृति और अनुभव का अनुलोम और प्रतिलोम दोनो विधियों से ज्ञान होने से यह पर्यालोचन (परि+आ+लोचृदर्शने लोचने (भ्वा०) परिस्यात् सर्वतोभावे वर्जने व्याविशेपयोः अ० (आसमन्ता भावेन समूच्चये।) इन्य-र्वागर्थे नि] भी है। यह निर्दोष व्याख्या का श्रीरामानुजाचार्यजी की व्याख्या में अभाव है। पुनः श्रीरामानुजाचार्यजी का 'ऊहोनाम-इदं प्रमाणं इत्थं प्रवर्तितुम् अर्हति इति' लक्षण भी शास्त्र सिद्ध लक्षण नहीं है। वस्तुतः यह तर्क (ऊह) का लक्षण है भी नहीं। पुन 'ऊहः प्रमाणानुग्राहकज्ञानम्' का कथन भी सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि तर्कभाषाकार ने इसे प्रमाणानुग्राहक ही नहीं प्रत्यक्ष प्रमाण रूप माना है 'अत्र कश्चिदाह तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति। तन्न। एककोटिनिश्चितविषयत्वात् तर्कस्य। त० भा०।

(२) सन्निविष्ट पद की व्याख्या में श्रीरामानन्दाचार्यजी ने लिखा है 'अन्तर्यामितया-प्रविष्टः, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्। बृ. ५।७।३। इति श्रुतेः। परन्तु श्रीरामानुजाचार्य जी ने लिखा है 'सर्वं मत्सङ्कल्पेन नियच्छन् अहम्। आत्मतया सन्निविष्टः। तथा आहुः श्रुतयः अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै.आ. ३,११) 'यः पृथिव्या तिष्ठन् (बृ, उ,) य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति' (बृ.उ. ३।७।२२), 'पद्मकोश प्रतीकाशं हृदयं चाप्यधो मुखम्।' (तै,ना, ११) अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म (छा.उ. ८।१।१) इत्याद्याः। स्मृतयः च 'शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो जगन्मयः।' (वि,पु. १।१७।२०) 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम। 'मनु १२–१ २२) 'यमोवैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः' 'मनु. ८।९.८' इत्याद्या।'

इन दोनों व्याख्याओं की तुलना करने पर दोनों आचार्यों में सैद्धान्तिक भेद ज्ञात होता है—

'क' श्रीरामानन्दाचार्यजी हेतूदाहरणाऽधिकमधिकम् न्या. सू. ५।२।१३ अधिकम्' हेत्वादिकथनमधिकम् 'अन्वितानुपयुक्तपुनरुक्तभिन्नस्य सिद्धप्रयोजनस्य पुनः कथनम्, हेतूदाहर-णाधिकमिति वा अधिकम् नृ. विवक्षितात् किञ्चिदधिकमधिकम्—त.भा.' के अनुसार आव-श्यकता से अधिक हेतु और उदाहरणादि देना दोषपूर्ण एवं निग्रहस्थान मानने वाले हैं। क्योंकि अधिक हेतु उदाहरणादि देना व्यर्थ है और अधिक विवाद खडा करनेवाला भ्रमोत्पादक भी होता है। अतः उन्होंने प्रमाणं परमं श्रुतिः। सिद्धान्तानुर एक ही श्रुति वचन 'अन्तः प्रविष्ट.

शास्ता जनानाम्' उपस्थापित किया है। परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी इस सिद्धान्त को मानने वाले नहीं हैं। अतः उन्होंने यहां बहुत से श्रुति तथा स्मृति वाक्य उपस्थापित किये हैं।

'ख' एक ही शब्द वा एक ही विषय को बारबार दुहराना पिष्टपेषण या चर्वित चर्वण के समान निष्प्रयोजन और निष्फल होता है इसको पुनरुक्त दोष या निग्रहस्थान 'शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम्-न्या.सू. ५।२।१४७ कहा गया है। रावण ने एक ही विषय को बारबार दुहराते हुये कहा था-'बांध्यो जलनिधि नीरनिधि, जलधि सिंधु वारीश। सत्य तोयनिधि कंपति, उदधि पयोधि नदीश। लं,दो. ५।' इसी प्रकार एक ही 'अन्त प्रविष्ट' विषय के लिये आठ वाक्य श्रीरामानुजाचार्यजी दुहराये हैं। श्रीरामानन्दाचार्यजी इस पुनरुक्त को दोष माननेवाले सिद्धान्तवादी हैं।'

'ग' श्रीरामानुजाचार्यजी संकल्प (संकल्प कर्म मानसम् अ, को.) के द्वारा आत्मामें प्रविष्ट होकर शासन करनेवाले मानते हैं 'सर्वं मत्सङ्कल्पेन नियच्छन् अहम् आत्मतया सन्निविष्टः।' परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी अन्तर्यामि तथा प्रविष्ट मानते हैं-'अन्तर्यामितया प्रविष्टः'।

'घ' श्रीरामानन्दाचार्यजी श्रुति का प्रमाणदेने पर स्मृति का प्रमाण देना अनावश्यक समझते हैं। परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी श्रुति प्रमाण के पश्चात् स्मृति प्रमाण देना आवश्यक समझते हैं।

३. वेदान्तकृत् की व्याख्या में श्रीरामानन्दाचार्यजी लिखते हैं-वेदस्यान्तो निश्चयो वेदान्तस्तं करोति वेदार्थनिश्चायकः। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाञ्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः।' परन्तु इसकी व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्यजी लिखते हैं-'वेदान्तकृत् वेदानां 'इन्द्रं यजेत' 'शत० ब्रा. ५।१।६। 'वरुणं यजेत' 'शत.ब्रा. २।३।३७।' इति एवमादीनाम् अन्तः फलं फले हि ते सर्वे वेदाः पर्यवस्यन्ति, अन्तकृत् फलकृत्, वेदोदितफलस्य प्रदाता च अहम् एव इत्यर्थः। तदुक्तं पूर्वमेव-'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति' ७।२१' इत्यारभ्य 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्। '७।२२' इति 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।' ९।२४' इति च।'

इन दोनो भाष्यों की तुलना करने पर दोनों में निम्नलिखित भेद सिद्ध होता है-

क. श्रीरामानन्दाचार्यजी वेदान्त का अर्थ वेदस्य अन्तो निश्चयो वेदान्त' करके वेदान्त का तात्पर्य वेद का अन्त 'अन्तभाग उपनिषद् वा वेद का निर्णय ब्रह्म एवं उसकी प्राप्ति मानते हैं। परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी वेदान्त कृत् का अर्थ वेदानां फलेहिते सर्वे वेदाः पर्यवस्यन्ति' अन्तकृत् फलकृत् करके वेदान्त का अर्थ लौकिक 'गीता ७।२१-२२ प्रोक्त' फल मानते हैं। श्रीरामानन्दाचार्यजी के अनुसार वेद का अन्त 'निर्णय तात्पर्य लक्ष्य या प्रयोजन' ब्रह्म और ब्रह्म की

प्राप्ति है तथा उस वेद के अर्थों का निर्णय करनेवाले गीतोपदेशक परमात्मा है। परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी के अनुसार वेद का अन्त लौकिक फल है और उसका प्रदाता गीताचार्य परमात्मा हैं। इस पर दोनों में सैद्धान्तिक महान् अन्तर है।

ख. श्रीरामानन्दाचार्यजी के अनुसार परमात्मा वेद का उपदेशक है कर्ता 'रचयिता' नहीं, वह वेदों के अर्थों का निर्णायक है एतत्रता वेदों का ज्ञाता भी है 'वेदविदेवचाऽहम्–अतो वेदविद् वेदवेत्ता चाहमेवास्मि।' परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी के अनुसार–'वेद विद् एव च अहम् वेदवित् चाहमेव, एवं मदभिधायिनं वेदम् अहमेव वेद' इत अन्यथा यो ब्रूते, न स वेदविद् इति अभिप्रायः' परमात्मा वेदों के अर्थों का निर्णायक नहीं, केवल ज्ञाता है क्योंकि वेद उसका अभिधायक है। वह वेद के फलों का कर्ता 'प्रदाता' है।

२ गीता १३।१२ 'श्रीरामानन्दाचार्यजी के मतमें' गीता १३।११ 'रामानुजमत में' के पाठ में दोनों आचार्यों के मत में भेद है–

'क' श्रीरामानन्दाचार्य 'तत्त्वज्ञानचिन्तनम्' पाठ मानते हैं और श्रीरामानुजाचार्य 'तत्त्व ज्ञानार्थदर्शनम्' पाठ मानते हैं।

'ग' दोनों के भाष्यों में अन्तर है तत्त्वज्ञानम्, तत्त्वज्ञान प्रयोजनं निःश्रेयसप्राप्तस्तत्कृते मुहुर्मुहुरालोचनम्–आनन्दभाष्यम् तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनतत्त्ववस्तुनोपज्ञानं तदर्थतत्प्रयोजनकं यच्चिन्तन तद्युक्तत्वमित्यर्थः। अर्थचन्द्रिका।' तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं तत्त्वज्ञानप्रयोजनं यत् तत्त्वं तन्निरतत्वम् इत्यर्थः–श्रीरामानुजभाष्यम्।

दोनों भाष्यों की तुलना से दोनों में निम्नलिखित भेद सिद्ध होता है।

श्रीरामानन्दाचार्यजी 'चिन्तनम्' पाठ मानते हैं जो चिति आध्यायने, आध्यायनम् उत्कण्ठापूर्वक स्मरणम्, स्मृप्रीति पालनयोः स्मृणोति, एवं ध्यै चिन्तामाम् ध्यायते' के अर्थों एवं भावों का प्रकाशक है। श्रीरामानुजाचार्य 'दर्शनम्' पाठ मानते हैं–जो दृशिर् प्रेक्षणे पश्यति' के अर्थ एवं भाव का प्रकाशक है। इस प्रकार श्रीरामानन्दाचार्याभिमत 'चिन्तनम्' पद अधिक देशव्यापी 'व्यापक' है और इसमें ध्यायतेध्यै 'चिन्तायाम्' तथा उत्कण्ठापूर्वक स्मरण चिन्तन सभी का ग्रहण है। परन्तु श्रीरामानुजाचार्याभिमत 'दर्शनम्' पद अल्पदेश व्यापी 'व्याप्य' है और इसमें केवल दर्शन का ही ग्रहण है। उत्कण्ठापूर्वक स्मरण चिन्तनादि का नहीं।

'ख' श्रीरामानुजाचार्यजी के भाष्य में प्रयुक्त 'यत् तत्वं' पद अनिश्चियवाचक और अस्पष्ट है जब कि श्रीरामानन्दाचार्यजी के भाष्य में इस स्थान में प्रयुक्त 'निःश्रेयस प्राप्तस्त त्कृते' शब्द निश्चय वाचक स्पष्ट अर्थ व्यक्त करता है।

ग. श्रीरामानुजभाष्य में तन्निरतत्वम् लिखा है जो केवल अनु. रक्ति (रतस्त्रिष्वनुरक्तेस्यात्-मे०) का ज्ञापक है, जब कि श्रीरामानन्दभाष्य का 'तत्कृते मुहुर्मुहुः लोचनम' मुहुर्मुहु (पुन पुनः) आ (समन्ताभावेन) लोचनम् (लोचृ दर्शने लोचने) का ज्ञापक है ।

२ गी. १६।२३ के शास्त्र विधि पद से श्रीरामानुजाचार्यजी केवल वेद का ही ग्रहण करते हैं 'शास्त्र' वेदाः विधि अनुशासनम् वेदाख्यं मदनुशासनम् परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी शास्त्रविधि पद से भगवदनुशासन रूप श्रुति और स्मृति का ग्रहण करते हैं—भगवदनुशासनरूप-श्रुतिस्मृतीनां वश्यताऽऽवश्यकी ।

३ इसके 'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्' की व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्यजी केवल फलाभाव मात्र मानते हैं- 'न स सिद्धिम् अवाप्नोति न काम् अपि आमुष्मिकीं सिद्धिम् अवाप्नोति । न सुखम् ऐहिकम् अपि किंचिद् अवाप्नोति । न परां गतिम् कुत परां गति प्राप्नोति इत्यर्थः । परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः । के सिद्धान्तानुसार केवल फलाभाव ही नहीं अपि तु अनिष्ट प्राप्ति भी मानते हैं 'एवं शास्त्राज्ञामुल्लंघ्य यः स्वाच्छन्देन वर्तते स सर्वेभ्यः पुरुषार्थेभ्यः पराङ्मुखो भूत्वा दुर्गतिमनुभवतीति भाव. । जो अन्यत्र के वचन 'विधि हीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति' के अनुरूप है ।

४. गी.१६।५४ के 'ज्ञात्वा शास्त्रं विधानोक्तम्' की व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्य शास्त्र विधान से अन्यूनातिरिक्त कार्य के आग्र ही हैं 'शास्त्र विधानोक्तं तत्व कर्म च ज्ञात्वा यथावद् अन्यूनातिरिक्त विज्ञाय कर्तुं त्वम् अर्हसि तद् एव उपादातुम् अर्हसि । परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी अधिकस्य अधिकं फलम् के सिद्धान्तानुसार अतिरिक्त के विरोधी नहीं हैं और उन्होंने ऐसी व्याख्या नहीं की है ।

५. इसकी व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्यजी ने व्यापक रूप से सभी शास्त्र विधानोक्त (वेदोक्त) कर्म का ग्रहण किया है। परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी ने-शास्त्रविधानोक्तं शास्त्रेण विहितं कार्यं भगवदाराधनात्मकं कर्म ज्ञात्वेहास्मिल्लोके कर्तुं विधातुमर्हसि लिखकर केवल भगवद-राधनात्मक कर्म का ही ग्रहण किया है जो धर्म के मीमांसा शास्त्रोक्त लक्षण, वेद प्रतिपाद्य प्रयोजनवदर्थो धर्म इति' के अनुकूल है । श्रीरामानुजाचार्य के उक्त कथन में केवल प्रथम लक्षण 'वेद प्रतिपाद्यत्व' ही घटित है द्वितीय लक्षण प्रयोजनवत्व और तृतीय लक्षण 'अर्थत्व' नहीं । जबकि श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में उक्त तीनों लक्षण घटित होते हैं । श्रीरामानुजभाष्यमें तृतीय लक्षण 'अर्थत्व' नहीं घटित होने से अनर्थभूते श्येनादि में व्याप्ति है—'श्येनेनाभि-चरन् यजेत' ।

६. गी. १८।१३ के 'सांख्ये कृतान्ते' के भाष्य में श्री रामानुजाचार्यजी ने लिखा है संख्याबुद्धिः यथावस्थिततत्त्वविषयतया वैदिक्या बुद्ध्या अनुसंहिते निर्णये सर्वकर्मणांसिद्धये उप-

बुद्धिः शरीरेन्द्रियप्राणजीवात्मोपकरणं परमात्मानम् एव कर्तारम् अवधार
ाचार्यजी लिखते है साख्ये सम्यक् ख्यायन्ते प्रकथ्यन्ते कृतोऽन्तो निर्णयो
स्तस्मिन् वेदान्तशास्त्रोपपादितसिद्धान्ते सर्वकर्मणां हेयोपादेयानां सर्वेषा
ं।' इस प्रकार दोनो में अन्तर है।

१८।१४ के 'करणं च पृथग्विधम्' की व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्यजी
च पृथग्विध वाक्पाणिपादादि पञ्चकं समनस्कं कर्मेन्द्रियम् पृथग्विध क
इस प्रकार वे यहाँ ज्ञानेन्द्रियों को करण पद वाच्य नहीं मानते हैं
में श्रीरामानन्दाचार्यजी ने लिखा है 'करणं च पृथग्विधं त्रिविध
बाह्यान्तः करण' इस प्रकार वे ज्ञानेन्द्रियों को भी करण पद वाच्य मान
ा टीकामें ज.गु. श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्यजी ने–लिखा है '
कमिन्द्रियपञ्चककर्मारंभकमिन्द्रियपञ्चकमुभयात्मकं मन एकादशेन्द्रियाणि
दने साधनभूतानि पृथग्विधान्यपि करणपदव्यपदेश्यानिकरणत्वेन सर्वेषाम
त्येकत्वव्यपदेश । कर्मोत्पत्ति हेतूपन्यासात् करणशब्दोऽत्र कर्मेन्द्रियमात्र
मालोचने ज्ञानेन्द्रियाणामपि कर्म हेतुत्वं स्पष्टमेव प्रतीयते । यथा तत्तत्क
मस्ति तथा तत्तत्कर्मणि चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियाणामप्यनिवार्यमस्ति प्रयो
यमाणं करणं क्रियामपि कर्म चक्षुषाऽदृष्ट्वैवान्धवदनुतिष्ठति । तथा श्रोत्रे
ये कर्मारंभते । न च चक्षुरादीनां परंपरया हेतुत्वादन्यथासिद्धत्वमितित्र
ादुभयेन्द्रिययोर्युगपत्प्रवृत्तेरनुभवगम्यत्वात् । चक्षुरादीनां प्रवृत्तिमन्तरेणकर्म
अ.च. ।' इस प्रकार दोनो भाष्यों के मत में अन्तर है ।





५ श्रीरामानन्दभाष्य और श्रीरामानुजभाष्य में सिद्धान्त भेद ५

१, श्रीमद्भगवद्गीता १६।१०के 'प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः' के भाष्य में श्रीरामानन्दाचार्यजी लिखते हैं- ' अशुचिर्मद्यमांसाद्यशनं व्रतं येषां तेऽशुचिव्रता वामाचारे क्षुद्रदेवताराधनादिककर्मसु चाशुचिभक्षणादि रूपस्य व्रतस्यावश्यकत्वेन ग्रहणं भवति। तथा प्रवर्त्तन्ते प्रवृत्तिं विदधते। ' एवं इसकी गीतार्थचन्द्रिका में लिखा है- 'अशुचिव्रता अशुचि मद्यमांसादीनामावश्यकतयोपयोगो यत्र तथाशुचि व्रतं कौलवामबीजाचारादिरूपं येषान्ते कौलवामबीजायनप्रभृतयस्ते तत्तत्कर्मस्वेव प्रवर्तन्ते। ' परन्तु इसके भाष्य में श्रीरामानुजाचार्यजी लिखते हैं- 'अशुचिव्रताः अशास्त्रविहितव्रतयुक्ता. प्रवर्तन्ते।' इससे स्पष्ट है कि श्रीरामानन्दाचार्यजी अशुचि पद से मद्यमांसादि का ग्रहण मानते हैं और उनके मत में मद्यमांस निषिद्ध है परन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी अशुचि पद से अशास्त्र विहितत्व मानते हैं उनके मत में मांस अशुचि नहीं है। गीता २।३१ के भाष्य में भी वे-' अग्नीषोमीयादिषु च न हिंसा पशोः निहीनतरच्छागादि देह परित्याग पूर्वक कल्याण देहस्वर्गादिप्रापकत्वश्रुतेः संज्ञपनस्य'। न वा उवेतन्म्रियसे न रिष्यसि देवा इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्रत्वा देवः सविता दधातु (यजुर्वेद ४।६। ९।४६) इति हि श्रुयते लिखते हैं परन्तु श्रीरामानन्दाचार्यजी वैसा नहीं मानते हैं। वे मांस को निषिद्ध मानते हैं। श्री रामानुजाचार्यजी का यह मत मीमांसाशास्त्र के धर्म के लक्षण—'यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। अनर्थफलकत्वादनर्थभूते श्येनादावतिव्याप्तिवारणायार्थ इति। के विपरीत है। धर्म के लिए केवल वेदप्रतिपाद्यत्व (शास्त्रविहितत्व) और प्रयोजनवदत्व ही आवश्यक नहीं हैं अपि तु अर्थवदत्व भी। मद्यमांसादि में अनर्थफलकत्व होने से अर्थवदत्व नहीं है। अतः श्रीरामानुजाचार्यजीका 'अशुचिव्रताः' का अर्थ 'अशास्त्रविहितव्रतयुक्ताः' अनर्थफलकत्व होने से उसमें अर्थवदत्व नहीं है और वह न केवल मांस का समर्थक अपि तु धर्म-लक्षण का प्रतिकूल भी है। न्यायशास्त्र की भाषा में श्रीरामानुजाचार्यजी के 'शास्त्रविहितत्व' मात्र लक्षण, हिंसादि में अति व्याप्ति होने से 'गोः शृङ्गित्वम्' के समान अति व्याप्ति है। मद्यमांसादि कभी भी शुचि नहीं है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र में लिखा है—'यदिष्ट रूप रस गन्ध स्पर्श प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च तच्छुचिः। अशुचीति शुचिप्रतिषेधः। अर्थान्तरञ्च। अयतस्य शुचि भोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावात्। विद्यते वार्थान्तरत्वाद् यमस्य। असति चाभावात्। वै. सू. ६।२।५-१० तददुष्ट भोजने न विद्यते। दुष्टं हिंसायाम्। तस्य समभिव्याहारतो दोष.। तददुष्टे न विद्यते। ६।१।६।९।' अतः मांसादि अशुचि है। शुचिरपूतीभावे। शुचिर्ग्रीष्माग्नि शृङ्गारेष्वाषाढे शुद्ध मन्त्रिणि। ज्येष्ठे च पुम्सि धवले शुद्धेऽनुपहते त्रिषु मे० 'पवित्र प्रयत पूत पूत तु बहुलीकृतम् पूत पवित्र मेध्य च अ

को. । ' यज्ञ में हिंसा की विधि तो है, परन्तु वह अशुचि (अपवित्र) यज्ञ में 'मेघनाद मख करइ अपावन । आहुति देइ रुधिर अरु भैसा मानस । 'अनुबन्ध क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् । मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते गीता १८।२५।'अतः श्रीरामानुजाचार्यजी का सिद्धान्त गलत है और श्रीरामानन्दाचार्यजी का सिद्धान्त ठीक है ।

यहाँ 'अशुचि' पद 'व्रत' का विशेषण रूप में प्रयुक्त है । व्रत का कोशार्थ है 'नियमोव्र-तमस्त्री तच्चोपवासादिपुण्यकर्म-अ.को.व्रत शब्द निरूक्त के सिद्धान्त अग्नि शब्द के विषय में 'त्रिभ्यः आख्यातेभ्योऽजायत इति शाकपूणिः । इतात् अक्ताद्दग्धाद्वा । नीनात् स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः । ' के समान 'व्रज संस्कारगत्योः' एवं' तनु श्रद्धोपकरणया अथवा 'तगु विस्तारे'–इन दो आख्यातो से बना है और इसका अर्थ है जो संस्कार एवं गति (क्रिया प्राप्ति रूपफल, ज्ञान और मोक्षरूप चरमफल) में श्रद्धा उत्पन्न करे अथवा जो उक्त संस्कार, क्रिया, फल, ज्ञान और मोक्ष का उपकरण वा साधन हो अथवा जो इन सस्कारादि का विस्तार (अभिवृद्धि) करे । इस अर्थ की पुष्टि साक्षात् वेदवचन से होती है व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् । दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धयासत्यमाप्यते ।।शु.य. १९ ।३०।' व्रत से दीक्षा संस्कार की प्राप्ति होती है और संस्कार से दक्षिणानिपुणता दक्षता की प्राप्ति होती है । इस दक्षता योग्यता से श्रद्धा की प्राप्ति होती है और श्रद्धा से सत्य परमात्मा या मोक्ष की प्राप्ति होती है ।' इस प्रकार से यह वेद वचन उक्त दो आख्यातो से बने व्रत शब्द के निर्वचन को प्रामाणिक सिद्ध करते हैं ।

'व्रत' शब्द का निर्वचन ज.गु.श्रीरामानन्दाचार्य महामहोपाध्याय पं. श्रीरघुवराचार्यजी ने गीतार्थचन्द्रिका में गीता ९।२५ 'यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रता. । भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।' की व्याख्या में लिखा है–'देवव्रता इन्द्रादि-त्यादिदेवाराधने व्रतं नियमो येषान्ते देवव्रताः । अर्थानुरोधाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । अथवा गमनार्थकस्य व्रजेः 'गोचरसंचारवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च पा.सू-३।१।१९। इति पाणिनीयेन घान्तोऽयंनिपात्यते पृषोदरादेराकृतिगणत्वाच्च जस्य तस्तथा च देवव्रताव्रजननिरूपिताधिकरणता श्रया येषान्ते देवव्रताः सात्विकाः पुरुषाः प्राधान्येन देवानेव भजन्ते ते देवभक्ता देवान् यान्ति ।' इससे भी व्रत शब्द व्रज संस्कारगत्योः धातुज सिद्ध है और वही अर्थ सिद्ध होता है । उक्त गीता ९।२५ में प्रथम चारण में दो बार प्रयुक्त व्रत पद द्वितीय चारण में प्रयुक्त 'इज्या' पद का ही वाचक हैं क्योंकि वहाँ एक ही विषय है और 'इज्या' का अर्थ अनुष्ठान है । परमात्मा को ही व्रत का रक्षक कहा गया है–'त्वमग्ने व्रतपा असि शु.य.४।१६।' अशुचिव्रता का अर्थ गीता के 'यजन्ते सात्विका देवान यक्षरक्षांसि राजसाः । प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये

यजन्ते तामसा जनाः ।१७।४। को भी साथ पढने से निर्गत होता है । यहाँ व्रत का अर्थ 'यजन' यजन्ते 'यज देव पूजा सङ्गति करणदानेषु' है, तथा अशुचिव्रत का अर्थ प्रेतभूतगणादिकों के यजन सामग्री मद्यमांसादि सिद्ध है। परमात्मा का व्रत व्रता ते अग्ने महतो महानि ऋ, ३।६।५' महान् से भी महान् सर्वोत्तम है। वह प्रेतादि व्रत से सर्वथा भिन्न और विपरीत है । उस व्रत के द्वारा ही स्थिर अवस्थित रह जाता है 'व्रतेन स्थो ध्रुव क्षेमा ऋ५।७२।२' परमात्मा शुचि व्रत आदि वाला है 'अग्निः शुचिव्रततम शुचिः विप्रः शुचिः कविः । शुचि रोचत आहुतः ऋ, ८।४४।२१। श्रीमद्भगवद्गीता १८।३ में 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनीषिणः' कर्म में दोषका प्रश्न उठाकर उसका निर्णय गीता १८।२५ के 'अनुबन्धं क्षयहिंसामनेपेक्ष्य च पौरुषम् । मोहादारम्यते कर्म यत्ततामसमुच्यते। किया गया है। उक्त गीता १८।३ में सांख्य दर्शन की कर्म विषयक अशुद्धि की आपत्ति का उद्घाटन है- 'एके मनीषिणः साख्याः दोषवद् हिंसादिदोषयुक्तत्वेन मोक्षमार्गप्रतिबन्धकत्वात् यागादिरूपं कर्म त्याज्यं मुमुक्षुभिरिति प्राहुः आनन्दभाष्य । 'दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धि क्षयातिशययुक्तः-सां.का, २ । पापमेव हिंसिधातुपदवाच्या यागीयापि हिंसेति तद्घटितज्योतिष्टोमादिकमविशुद्धमेव-सां.चं, ।' इसका निर्णय गी. १८।२५ में है कि सभी कर्म त्याज्य नहीं हैं केवल हिंसादिवाला कर्म ही अशुद्ध और त्याज्य है । बिना हिंसादि वाला नहीं—

इस प्रकार श्रीरामानन्दाचार्य जी का 'अशुचिव्रता' का उपरोक्त भाष्य सर्वथा निर्दुष्ट और साधु ही नहीं अपितु श्रीवैष्णव धर्म पोषक और प्रमाणोपपन्न तात्विक है और इनका इस विषय में श्रीरामानुजाचार्यजी से सिद्धान्त भेद है ।

(२)श्रीमद्भगवद्गीता १७।९ के 'कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्ण- रूक्ष विदाहिनः' के भाष्य में श्रीरामानन्दाचार्यजी लिखते हैं-'मध्ये श्रूयमाणस्यापि शब्दस्य प्रत्येकं योगस्तथा चातिकटुरसा निम्बाहिफेनादयोऽत्यम्लरसास्तिन्तिण्यादयोऽति लवणरसाः प्रसिद्धा एवात्युष्णा जिह्वौष्ठादिप्रज्वालका अतितीक्ष्णा मरीचादयोऽतिरूक्षा अणुकङ्कद्वायोऽतिनिदाहिन सर्षपादय' परन्तु इसके भाष्य में श्रीरामानुजाचार्यजी लिखते है-' कटुरसाः अम्लरसः लवणोत्कटाः अत्युष्णाः अतितीक्ष्णाः रूक्षाः विदाहिनः च इति कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्ण रूक्ष विदा- हिनः ।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्रीरामानुजाचार्यजी, कटु, अम्ल और लवणमात्र को असात्त्विक मानते हैं और श्री रामानन्दाचार्यजी केवल अति कटु, अति अम्ल और अति लवण को ही असात्त्विक मानते हैं, सामान्यकटु, सामान्य अम्ल और सामान्य लवण को नही, और इसी लिए 'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः' वाक्य के मध्य में पठित 'अति' पद का अन्वय उसके पूर्व पदों कटु, 'अम्ल' और 'लवण' पद के साथ भी मानते हैं और ऐसा ही मानना निर्दुष्ट योग्य

और उचित है। क्योंकि लवण मात्र को असात्त्विक मानने पर न तो लवण का साधुओं में प्रसिद्ध नाम 'राम रस' कहना योग्य होगा और न भगवान् को षट्रस भोजन भोग लगाना योग्य होगा और न वह साधुओं के लिये ग्राह्य होगा। 'लवण बिना बहु व्यञ्जन जैसे' के अनुसार बिना लवण का कोई भी व्यञ्जन योग्य नहीं है। यहां यह शंका नहीं की जा सकती कि 'अति' पद उपसर्ग है और इसका प्रयोग पद के पूर्व में ही होना चाहिए। इस नियम में 'अति' पदका प्रयोग तो केवल उष्ण, तीक्ष्ण रूक्ष और विदाहिन पदों के पूर्व है अतः केवल उन्हीं के साथ उसका अन्वय उचित है। कटु, अम्ल और लवण पदों के पश्चात् 'अति' उपसर्ग का प्रयोग होने से उसके साथ इसका अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि निरुक्त के अनुसार वेद में धातु के बाद में या व्यवधान देकर प्रयोग में आनेवाले भी 'उपसर्ग' एवं 'गति' कहलाते हैं। 'हरिभ्यां याह्योक आ। मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि।' दीपकालङ्कार में जिस प्रकार एक ही क्रिया या कारक किसी वाक्य के आदि मध्य या अन्त में प्रयुक्त होकर देहली दीपकन्याय (राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार। तुलसी भीतर बाहिरहु जो चाहसि उजियार।) से सभी के साथ अन्वित होकर अर्थ का प्रकाशन करता है 'गुरु शुश्रुषया विद्या मधुगोष्ठया मनोभवः। उदयेन शशाङ्कस्य पयोधिरभिवर्धते। इसी प्रकार 'यहां अति' पद वाक्य के मध्य में स्थित होते हुए सभी के साथ अन्वित होकर सभी का अर्थ प्रकाशन करता है। अतः श्रीरामानन्दाचार्यजी लिखते हैं—'मध्येश्रूयमाणस्याति शब्दस्य प्रत्येकं योगः।'

इस प्रकार श्रीरामानन्दाचार्यजी एवं श्रीरामानुजाचार्यजी के सिद्धान्तों में भेद है।

॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य ॥

मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष एकादशी गीताजयन्ती के दिन प्रातः कालिक नित्यकर्म पूजापाठ से निवृत्त होकर पं. बमभोली मिश्र दरवाजा पर आये तो देखते हैं कि पं. उक्कठ ठाकुर बिना स्नान किये चूडा फाँकते हुये सडक पर टहल रहे हैं। न उनके शिर पर तिलक है न कण्ठ में कण्ठी न कांधे पर जनेऊ सकल कर्म देखहिं विपरीता।' से उन्हें बडा आश्चर्य हुआ। इतने आचारवान् पं. उक्कठ ठाकुर को आज हो क्या गया है कि वे स्नानादि शौच कर्म सन्ध्यादि नित्यकर्म तिलक कण्ठी यज्ञोपवीत आदि का त्याग कर विधर्मियों के समान चूडा फाँकते सडक पर घूम रहे हैं! इस वृद्धावस्था में उनका शिर तो नहीं फिर गया है। ऐसा सोच ही रहे थे कि पं. उक्कठ ठाकुर उनके सम्मुख आगये। उन्होंने साहस करके पं. उक्कठ ठाकुर से पूछा—यह क्या! पं. उक्कठ ठाकुर ने तपके जवाब दिया—श्रीमद्भगवद्गीता

में लिखा है सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अतः मैने वर्णाश्रमादि सभी धर्मों का परित्याग कर दिया है। यह सुनकर पं. बमभोली मिश्र चकित हुये। उन्होंने उनसे पूछा क्या आपसे भिन्न किसी अन्य ने इस श्लोक को पढा नहीं था अथवा पढा नहीं है एवं आपने भी कभी इसे पढा नहीं था। पं. उक्कठ ठाकुर ने कहा कि पढा तो अनन्त लोगों ने है किन्तु इस पर विचार किसी किसी ने किया है और उन विचार करनेवालों में भी समझा बहुत कम ही लोगों ने ही है। मैंने भी इसे हजारों बार पढा होगा किन्तु विचार इस पर कलह ही किया है और 'सर्वधर्मान्' पद में हाथी के पाँव के समान सभी प्रकार के धर्म चले आते हैं। अतः 'सर्व धर्मान् परित्यज्य' में वर्णाश्रमादि सभी प्रकार के धर्मों का परित्याग उपदिष्ट है। पं. बमभोली मिश्र उतने पढे लिखे नहीं थे पञ्चाङ्ग देखकर उपरोहिती कर्म करते थे। अतः वे पं. उक्कठ ठाकुर जैसे पठित व्यक्ति का उत्तर करने में सक्षम नहीं थे। परन्तु यह बात उन्हें अर्थ का अनर्थ जैसा लगा। 'धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' कहने वाले भगवान् सदाचार धर्म का परित्याग कैसे कह सकते हैं। यह बात असम्भव लगता है। अतः उन्होंने उनसे कहा पण्डितजी विचार तो आपने किया है अवश्य परन्तु विचार करने और निर्णय (अर्थ निर्णय) करने में आप से भूल हुई है। भूल का नाम सुनते ही पण्डित उक्कठ ठाकुर का पारा चढ गया वे दात पीसते हुये बोले—मुझसे भूल! सर्वधर्मान् पद पूर्ण व्यापी पद है। इसमें अपवाद का स्थान नहीं है। सर्व धर्मान् का स्पष्ट और एक ही अर्थ हैं 'सभी धर्मों को इसमें एक भी धर्म को छूटने का अवकाश नहीं है।

इतने में वहाँ नेनन नाथ नैयायिकजी पहुंच गये। वे गीता जयन्ती पर प्रवचन करने विश्वविद्यालय जा रहे थे। रास्ते में यहाँ विवाद सुनकर रुक गये और उत्सर्गाः सापवादाः (नियम के भी अपवाद हुआ करते हैं) कहते हुये शास्त्रार्थ में प्रवेश कर गये। उन्होंने आसन जमाते हुए कहा—'अपवाद किसी भी नियम के क्षेत्र को सीमित कर सकता है (अपवादः उत्सर्गंव्यावर्तपितुमीश्वरः) और सामान्य नियम अपवादों से नियन्त्रित रहते हैं (अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः) तथा अपवाद के भी अपवाद होते हैं (अपवादः प्रतिप्रसवः)। अपवाद से ही नियम सिद्ध होता है उद्देश्य पद की व्यापकता में कोई अपवाद हो उसे पाश्चात्य निगमन तर्क शास्त्र में अपवाद वाक्य कहते हैं जैसे एक विद्यार्थी को छोडकर सभी उत्तीर्ण हो गये। यदि इस अपवाद वाक्य का अपवाद कोई निश्चित वस्तु हो तब ये वाक्य पूर्ण व्यापी वाक्य कहलाते है और यदि अपवाद अनिश्चित हैं तब ये वाक्य अंशव्यापी कहलाते हैं। जैसे सोना को छोडकर सभी धातु ठोस है पूर्ण व्यापी वाक्य और एक को छोडकर सभी धातु ठोस है अंश व्यापी वाक्य है। प्रकृत सर्वधर्मान् परित्यज्य' वाक्य का अपवाद 'मामेकं

शरण व्रज वहाँ उपस्थित है। शरणागति धर्म का वहीं वर्तमान रहने से सर्वधर्मान् परित्यज्य वाक्य पूर्णव्यापी वाक्य नहीं है। प्रत्युत अंश व्यापी वाक्य है। अतः सर्वधर्मान् पद में सभी धर्मों को नहीं घसीटा जा सकता प्रत्युत कुछ अभिलषित (इष्ट) धर्मों का ही ग्रहण किया जा सकता है। प्रकृत वाक्य केवल निषेधात्मक (परित्यज्य) ही नहीं है प्रत्युत विध्यात्मक शरण व्रज भी है। यही ये दोनों निषेध और विधि वाक्य परस्पर सापेक्ष है पूर्व कालिक क्रिया (समान कर्तृकयोः पूर्वकाले पा. ३।४।२१।') होने से और दोनों परस्पर (एक दूसरे पर आश्रित हैं। अतः सर्वधर्मान् को अति व्यापक लक्षण बनाकर अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त नहीं बनाया जा सकता और न उसे संकीर्ण कर अव्याप्त दोष ग्रस्त ही बनाया जा सकता है। प्रत्युत उसे अन्यूनानतिरिक्त वाचक अर्थ में ही ग्रहण कर अर्थ का निर्धारण किया जा सकता है। आप तिलक कण्ठी यज्ञोपवीत स्नानादि आचार का परित्याग कर पथ भ्रष्ट हो रहे हैं। आचार प्रथमो धर्मः। आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः। जीवन भर धर्ममार्गी रहे और आज आपकी बुद्धि क्यों मारी गयी !

पं· नेननन‍ाथ नैयायिक जी बोल ही रहे थे कि पं० लुत्पुत्ती झा झट बोल उठे 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् पं० नेननना‍थ नैयायिकजी ने कहा 'महाजनो येन गतस्ते पन्थाः' भी वहीं कहा गया है। पण्डित विनोदी मिश्र बीच में टपकते हुये बोले हाँ महाजन (उत्तमर्ण) बनियां के मार्ग का अनुसरण करना ठीक कहा है। जब तक वह दो चार हजार का सौदा नहीं कर लेता तब तक स्नानादि नहीं करता चाय के आचमन से ही कार्य करता है। अतः पं० उक्कठ ठाकुर का महाजनो येन गतस्ते पन्था ठीक ही है।

पं० विनोदी मिश्र की अनर्थ कारी व्याख्या पं० नेननन‍ाथ नैयायिकजी को अच्छी नहीं लगी उन्होंने अपने चश्मे के शीशे को पोछते हुये कहा आप पण्डित होकर क्यों मूर्खों के समान उपहास का पात्र बनते हैं। आप ही के समान बुद्धि हीन पण्डित ने श्मशान में चरते हुये गधे तथा वहां आते हुये ऊंट को देखकर सोचा 'राजद्वारे श्मशाने च यः तिष्ठति स बान्धवः' एवं 'धर्मस्य त्वरिता गतिः और उसने इष्टं धर्मेण योजयेत् का स्मरण करते हुये उस ऊंट की गर्दन में गधे को जोड दिया। उसका फल कहने की आवश्यकता नहीं है। अथवा आपही के समान धूर्त पण्डित ने 'पर द्रव्येषु लोष्टवत्' के अर्थ का अनर्थ करते हुये दूसरे के धन को हथिया लिया। आप ही के समान बुद्धि वालों के लिये कहा है 'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ गी० १८।३२।' पं० नेननन‍ाथ नैयायिकजी की स्पष्ट सचोट वार्ता सुनकर पं० लुत्पुत्ती झा की चुमुकी एवं पं० विनोदी मिश्र जी का विनोद भुला गया। उन्हें आज विदित हो गया की शास्त्रार्थ की रेल लाइन में

किञ्चिदपि विचलित होने से उलट जाना अनिवार्य है। थे तो वे भी धुरंधर पण्डित किन्तु अपने स्वभाव वश विषय के गाम्भीर्य को भूलाकर इसे हल्काफुल्का विषय मानकर मजाक को अपनाने को गलती कर चुके थे। अतः शास्त्रार्थ के प्रथम चरण में ही उपहास का पात्र बनना पड़ा। अब होश आया तो सम्हलते हुये पं० विनोदी मिश्र बोले 'काकाजी ! मैंने अभिधा वाक्य का प्रयोग नहीं किया था प्रत्युत व्यञ्जना वाक्य का प्रयोग किया था और आपने उसे अभिधार्थ में लिया। इसलिये आप महान् नैयायिक होते हुये भी मेरे साथ न्याय नहीं किया। पं० नेनन नाथ नैयायिक जी ने चश्मा अपनी आंखों पर चढाते हुये कहा- व्यञ्जना की प्रवृत्ति साहित्य शास्त्र में है न्याय शास्त्र में नहीं। न्यायशास्त्र में वह जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा में ही गतार्थ है। परन्तु यह चित्त विभ्रम कारक होने तथा शब्दजाल होने के कारण शास्त्रार्थ में उपयोगी नहीं है। न्यायशास्त्र के शास्त्रार्थ का प्रयोजन मनोरञ्जन पद लालित्य वा अलंकृत भाषा प्रयोग नहीं है, प्रत्युत तत्त्व ज्ञान है अतः इसमें व्यर्थ विशेषण और असमर्थ विशेषण का भी त्याग है। जिस प्रकार अलंकार वास्तविक शरीर को ढांक देता है उसी प्रकार अलंकृत भाषा तत्त्वज्ञान को ढांक देती है। इसीलिये साधु (सन्त) लोग अंखरी भाषा का प्रयोग करते हैं। अलंकृत भाषा का प्रयोग न्याय शास्त्र में वाक्छल माना जाता है अतः धर्म सभा वा तत्त्वनिर्णय सभा में व्यञ्जना का प्रयोग दोष है। नैयायिक जी अभी पं० विनोदीमिश्र को आडे हाथ लेते किन्तु उनके 'काका' पद का प्रयोग ने उनके क्रोध को वात्सल्य में परिणत कर दिया। राजनीति में भी भाई भतीजावाद चलता ही है।

पं. लुटपुत्ती झा सम्हलते हुये बोले--'धर्म'पद अस्पष्ट है—धृञ् धारणे (भ्वा०) धरतीति धर्मः।' इस धात्वर्थ से तो धारण करनेवाला असंख्य विषय वा वस्तु है। तब धर्म किसे कहेंगे ? अतः धर्मशब्द अस्पष्ट है। जिस प्रकार 'गम गतौ गच्छति' धातु में 'गमेर्डोः' डोस् प्रत्यय लगाने से जो शब्द बनता है और उसका अर्थ—'गौः स्वर्गे च बलीवर्दे रश्मौ च कुलिशे पुमान्। स्त्री सौरभेयी दृग्बाणदिग्वाग्भूष्वप्सु भूम्नि च।मे०।२१।१। होता है, उसी प्रकार धर्म शब्द का अर्थ भी 'धर्मोऽस्त्री पुण्य आचारे स्वभावोपमयोः क्रतौ। अहिंसोपनिषन्न्याये ना धनुर्यमसोमपे।मे० १०९।१६। धर्माः पुण्ययम न्यायस्वभावाचारसोमपाः।अ.को ३।३।१०९।' अनेकों हैं। यदि कहा जाय कि 'सर्वेषु धात्वर्थनिर्देशस्त्वाधुनिकः। पाणिनिर्हि धातुपाठे धातून् कांश्चिदर्थसहितान् कांश्चिदर्थरहितान् पठतीति। अनेकार्था अपि धातवो भवन्तीति।' अतः 'अभिधानकोषतः पदार्थनिश्चयः—काव्य०सू. १।२।५' के अनुसार अभिधान और कोश से पदार्थ का निर्णय करना चाहिये, तो कोश में उपरोक्त अनेक अर्थ कहे गये हैं। पं. विनोदी मिश्र अपनी परिस्थिति सम्हालते हुए बोले इसीलिये शक्ति ग्रह के लिये कहा गया है

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च । वाक्यस्यशेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।' पुनः और भी कहा गया है 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः । सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।' अतः इन साधनों से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है । पुनः उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्तिः ।' इन षट् लिङ्गों से अर्थ का निर्धारण कहा गया है । हमें शास्त्रों के अर्थ करने के विषय में शब्द के अनुरूप अर्थ करना चाहिए न कि किसी आग्रहित अर्थ के लिये शब्द की खींचातानी करना चाहिए । क्योंकि कहा है 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ।' फलितार्थ यह हुआ कि उपक्रम उपसंहार और प्रकरण आदि के अनुसार ही अर्थ का निर्धारण करना उचित है ।

पं. लुत्पुत्ती झा एवं पं. विनोदीमिश्र की सुधरी हुई वार्ता सुनकर पं. नेननाथ नैयायिकजी बड़े प्रसन्न हुये । इतने में शास्त्रार्थ की गन्ध पाकर पं. नेमनमिश्र मीमांसकजी और पं ठीढ़रठाकुर व्याकरणाचार्य भी वहाँ पहुंच गये ।

आते ही पं ठीढ़रठाकुर ने कहा जिस प्रकार 'प्रयोजन शब्दफलवाची और करणवाची दोनों होता है (प्रयोजनम पा० ५।१।१०९। प्रयोजनं फलं कारणं च प्रयुज्यते प्रवृत्त्या निष्पाद्यते इति कर्मणि ल्युटि प्रयोजनशब्दः फलवाची । प्रयुज्यते प्रवर्तते पुरुषोऽनेनेति करणे ल्युटि प्रयोजनशब्दः प्रवर्तकवाचीत्यर्थः) । उसी प्रकार धर्मशब्द भी फलवाची और करणवाची दोनों होता है । यहां सर्वधर्मान् परित्यज्य' में प्रयुक्त धर्मशब्द फलवाची है करणवाची नहीं है । अतः यहाँ धर्मफल का त्याग अभीष्ट है, धर्मकरण का नहीं ।

पं नेमनमिश्र मीमांसकजी ने टिप्पणि करते हुये कहा—'लाघव क्रिया हि वैयाकरणाः ।' अतः आपने बिना प्रकरण पर विचार किये शीघ्रता में संक्षिप्त उत्तर दे दिया । आप सूत्र प्रिय हैं । अतः संक्षेप में उत्तर देना आपको प्रिय है । परन्तु पूर्ण अर्थ के लिये प्रथम प्रकरण को उपस्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है । प्रकृत श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता के निगमन रूप अन्तिम अध्याय का चरमतत्त्वरूप अन्तिम श्लोक है । जो इस प्रकार है 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।१८।६६।' इस श्लोक पर विचार करने से विदित होता है कि इसका प्रयोजन पापों से मुक्ति (सर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामि) है जो पूर्वोक्त फलवाची प्रयोजन है और उस प्रयोजन का कारण सर्वधर्मों का त्यागपूर्वक परमेश्वर का शरण (सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं) और इसका व्यापार है, परित्यागपूर्वक ग्रहण करना परित्यज (व्रज) । इस प्रकार 'करण-व्यापार-फल' रूप कार्यसाधक प्रणाली

का इसमें उपदेश हैं। धर्मशब्द का अर्थ विभिन्नशास्त्रों में विभिन्न प्रकार से कहा गया है, जिसमें साख्य शास्त्र में कहा गया है–'धर्मेणगमनमूर्ध्वं गगनमधस्तादुभवत्यधर्मेण । ज्ञानेनाचापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ।सां.कां. ४४।' यहां धर्मेण स्वर्गादि प्राप्ति और ज्ञानेन (आत्मसाक्षात्कारेण) अपवर्ग प्राप्ति कहा गया है । अतः इस मत में धर्म का तात्पर्य स्वर्गादि प्राप्ति साधन होने से स्वर्गादिलोक प्राप्ति के साधन का त्याग है । जिसे श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी–'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः । कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् । क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति । भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।२।४२-४४।' कहा गया है। अतः धर्म का तात्पर्य सांख्यमत में कामना भोग की प्राप्ति है एवं उसी के त्याग को धर्मत्याग कहा गया है। योग मत में धर्म शब्द से अविद्या, वासना, चित्त और चित्त की वृत्तियों का ग्रहण है । धर्मों में कालभेद होता है (यो.सू. ४।८)। शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपातीधर्मी(यो. सू. ३।१४) । अतः इस मत में धर्मत्याग का तात्पर्य अविद्या, वासनादि का त्याग है । वैशेषिकमत में 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिस्स धर्मः । वै.सू. १।१।२।' धर्म विशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयससिद्धिः । वै.सू. १।१।४।' अभ्युदय और निःश्रेयस का साधनधर्म है और इसमें धर्मविशेष निश्रेयस का साधन है । अतः इस मत में धर्मत्याग का तात्पर्य अभ्युदय (लौकिक उत्कर्ष) को प्राप्त कराने वाले साधनरूप सामान्य साधारण धर्म का त्याग है न कि निःश्रेयस प्राप्त कराने वाले धर्म विशेष का । इसीको कठोपनिषद् 'श्रेयश्च प्रेयश्चमनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ।१।२।२।' आदि में कहा गया है। न्याय मत में भी 'प्रतीघातो भौतिक धर्मः' न्या.सू. ३।१।४१। से भौतिक धर्म का आध्यात्मिकधर्म से भेद बतलाया गया है। आत्मा की प्रवृत्ति और वह रागद्वेष मोह के कारण होता है (न्या.सू. ४।१।१३), उसी प्रवृति के अनुबन्धन के कारण अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती है (ऋणक्लेशप्रवृत्त्यानुबन्धादपवर्गाऽभावः-न्यासू ४।१।५९। और समाधि विशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान तथा अपवर्ग की प्राप्ति होती है (न्या.सू. ४।२।३८) अतः–न्यायमत में प्रवृत्ति का त्याग धर्मत्याग का तात्पर्य है। मीमांसा के मत में वेद की विधि ही धर्म है–'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः मी.सू. १।१।२।' वेद का विधान दो कार्यों के लिये है-अभ्युदय वा कामना की प्राप्ति के लिये और सम्यक् ध्यानादि द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए । अतः इस भेद में ज्ञानसूक्त भी है और कर्मसूत्र भी । अतः मीमांसामत में धर्मत्याग का तात्पर्य लौकिक कामना सिद्ध करने के साधनों का त्याग है।

वेदान्त सूत्र में मीमांसासूत्रकार जैमिनि का मत लिखा गया है 'धर्मजैमिनिरतएव' वे सू. ३।२।४०।' अर्थात् धर्म ही कर्म के फलका प्रदाता है। कर्म क्षणिक होता है। अत: कर्मजन्य सस्कार को धर्म वा अदृष्ट कहागया है जो फल का साधक है। अत: यहां धर्म के त्याग का तात्पर्य कर्म के फल का त्याग है। वेद के मत के अनुसार यज्ञ से धर्म उत्पन्न होता है जो नाक (वैकुण्ठ) का साधक है—'यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। तेह नाकं महिमान: सचंत यत्र पूर्वे साध्या: संति देवा:। ऋ.१० ९०।१६—शु.य. ३१।१६ अथर्व ७।५।१।', विष्णु सभी धर्मों को धारण करने वाला है 'त्रिणिपदा विचक्रमे। विष्णुर्गोपा अदाभ्य:। अतो धर्माणि धारयन्। ऋ. १।२२।१८ शु.य. ३४।४३ अथर्व० ७।२६।५ साम १६७० ।' अत: इस मत में धर्मत्याग का तात्पर्य विष्णु को धर्मों का समर्पण है। क्योंकि त्याग शब्द का तात्पर्य 'त्यजहानौ। हानिरुत्सर्ग: पुंसि सामान्ये न्याये च त्यागदानयो. मे २४।२१।' एवं 'त्यागो विरापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने। विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्। प्रादेशनं निर्वपणमपवर्जनं मंहति:। अ.को. २।७।२९-३०।' है और इसीलिये भगवान् ने गीता में इस तत्त्व को कहा है 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम। गीता ७।२७।' और यज्ञादि में दानादि करके सर्वत्र पढा जाता है 'इदं न मम।' अत: धर्म वा कर्मफल को ईश्वर को अर्पित करदेना अथवा ईश्वर के निमित्त ही कर्म करना 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति य:। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा। गीता ५।१०।' इत्यादि।' अत: सर्वधर्मान् 'परित्यज्य' का तात्पर्य ईश्वर के निमित्त सभी धर्म करना, ईश्वर को सभी धर्मों को दान करदेना या समर्पित करदेना है।

धर्म त्याग के विषय में गीता के इस अठारहवें अध्याय के आरम्भ में ही नियत धर्म के त्याग का निषेध (नियतस्य तु संन्यास: कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामस: परिकीर्तित:।) यज्ञ दान तप कर्म के त्याग का निषेध (यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।) केवल कर्म फल और आसक्ति का त्याग कहा गया है। 'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम')। अत: सर्वधर्मान परित्यज्य' का तात्पर्य एतद्व्यतिरिक्त काम्यकर्म और धर्म (कर्मफल) का परित्याग है न कि वर्णाश्रम आदि स्वाभाविक नियत धर्म का। सच तो यह है की गीता उपनिषदों का सार है 'सर्वोपनिषदोगावो दोग्धा गोपालनन्दन:। पार्थोवत्ससुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत।' और उपनिषदों में प्रथम उपनिषद् ईशावास्योपनिषद् जो शुक्लयजुर्वेद का अन्तिम अध्याय होने से साक्षात् वेद संहिता है और वेद का अन्त (अन्तिम अध्याय) होने से वेदान्त (अन्तो निर्णय: निश्चय:) है। इस ईशावास्योपनिषद् में जो श्रीमद्भगवद्गीता का उप-

जीव्य वा अधिकरण है, में कहा गया है 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।२।', अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः । अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया । इतिशुश्रुमधीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे । विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । ९-११।' इसके आनन्दभाष्य में लिखा है 'यः यथावद् गुरुपदेशलब्धविद्यः विद्यां ब्रह्मोपासनात्मिकां अविद्याञ्च ब्रह्मोपासनाङ्गभूतां वर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तककर्मरूपां सह अङ्गाङ्गिभावेन अनुष्ठानयोग्यमुभयं ज्ञानकर्मरूपं तत् मोक्षसाधनं वेद जानाति तादृशमोक्षसाधनं ज्ञाता अविद्यया विद्याङ्गभूतेन कर्मणा मृत्युं विद्या विरोधिपुण्यपापरूपं प्रचीनं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया परमात्मोपासनेन अमृतं मोक्षमश्नुते लभते ।' अतः सर्वधर्मान् परित्यज्य का तात्पर्य केवल काम्य कर्मों के त्याग में है वर्णाश्रम नित्य नैमित्तिक कर्मों के त्याग में नहीं प्रत्युत इनके फलों की आसक्ति के त्याग में है। धर्म किसी कर्म का नाम नहीं है प्रत्युत कर्म से उत्पन्न कर्मफलजनक संस्काररूप अदृष्ट का नाम धर्म है। धर्म कर्म जन्य है। अतः सर्वधर्मान् परित्यज्य का तात्पर्य सर्व कर्म परित्याग नहीं है। प्रत्युत सर्वकर्म फल परित्याग है। शास्त्रों में ऐसा ही उपदेश है 'ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे । श्रीमद्भागवत ९।४।६५।' एवं परित्यज्याखिलान् कामान् भक्त्यैवात्मेश्वरं हरिम् । प्रपद्यते दास्यरतिर्येदेषा सा तु सात्त्विकी ।' इन श्लोकों से शरणागति ग्रहण में सर्वधर्मान् परित्यज्य का तात्पर्य 'दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परं परित्यज्य' एवं 'परित्यज्य अखिलान् कामान्' ही है न कि वर्णाश्रम धर्म। वस्तुतः उपक्रम-उपसंहार से निर्णय करने के प्रकरण में श्रीमद्भगवद्गीता के आरम्भ में उपक्रम रूप में अर्जुन ने तीन विप्रतिपत्ति उपस्थापित किया था १ पाप, पातक दोष, (गी १।३६।३८।३९), २ कुल धर्म, जाति धर्म नाश गी. १।४०।४३।४४। और तीन पूजार्ह के साथ युद्ध में हिचक (गी २।७)। यहाँ गीता के अन्त में उपसंहार रूप में उक्त तीनों विप्रतिपत्तियों को समाधान करने के लिए 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पद का प्रयोग किया है, जिसका उपक्रमानुसार तात्पर्य क्रमशः है १ पाप पातक दोष के नाशक प्रायश्चित धर्म का त्याग, २. कुल धर्म और जाति धर्म के नष्ट होने के मोह धर्म का त्याग (मीरा ने कहा-लोकलाज कुल की मर्यादा या में एक न राखूंगी। श्रीगिरधर आगे नाचूंगी।) और ३ धर्म संमूढ चित्त (गी. २।७) का त्याग। यही सर्वधर्मान् परित्यज्य' से इन तीनों प्रकार के धर्मों का त्याग का तात्पर्य है। गीता आनन्दभाष्य में ज.गु. श्रीरामानन्दाचार्यजी ने यहां 'सर्वधर्मान्' पद से इसी पापनिवारक प्रायश्चित्तरूप (पापानां प्रायश्चित्तात्मकाः कृच्छ्रचान्द्रायणादयो धर्माः समुदीरिताः। ते हि सर्वेत्युक्त्या विविधा बहुवचनेनानन्ताश्च बोध्याः।) धर्म के

कहा है जो उपक्रम 'पापमेवाश्रयेदस्मान्—गी· १।३६,' कुलक्षय कृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्-गी. १।३८' के अनुरूप उपसंहार रूप होने से सर्वथा युक्त और उचित है।

पं. मेमनमिश्र मीमांसकजी की उपक्रम--उपसंहार व्याख्या सुनकर सभी 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' के तात्पर्य से अवगत हुये और इससे पूर्ण सहमति प्रकट की। परन्तु पं नेनननाथ नैयायिकजी इससे पूर्ण सहमत होते हुये भी इसे अपूर्ण कहा और आगे कहने लगे इस श्लोक में केवल 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' वाक्य खण्ड ही नहीं है प्रत्युत 'मामेकं शरण ब्रज' वाक्य खण्ड भी है। वस्तुतः दोनों वाक्य खण्ड मिलकर ही पूर्ण वाक्य बनते हैं और पूर्ण अर्थ को कहते हैं। वक्ता का तात्पर्य है कि अन्य बहुविध धर्मों का परित्याग कर एक मेरे धर्म का आश्रय ग्रहण करो। 'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ गी. ९।२५।' से यह भाव स्पष्ट है कि भगवान् को अन्य देवधर्म, पितृधर्म, भूतधर्म अभीष्ट नहीं है केवल ईश्वर धर्म अभीष्ट है। यहाँ 'सर्वधर्मान्, पद से 'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या' का भाव है और'मामेकं शरणं ब्रज' से यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम्' का भाव है। ईश्वर स्वयं धर्म रूप हैं-'रामो विग्रहवान् धर्म, रामो धर्मस्य विग्रहः।' अत· ईश्वर के शरण ग्रहण का तात्पर्य धर्म का शरण ग्रहण करना है। इसीलिए बौद्धधर्म भी 'धर्मं शरणं गच्छामि' कहता है। चूंकि वह ईश्वर नहीं मानता और धर्म को ही ईश्वर मानता है। गीता के 'मामेकं शरणं ब्रज' का अर्थ 'एकं धर्मं शरणं ब्रज' हुआ।

पं.मेमननाथ नैयायिकजी का प्रवचन समाप्त होते ही पं. उक्कठ ठाकुर का भ्रम मिट गया। वे झटपट चूडा फेंककर स्नान पूजा करने लगे। पुनः यज्ञोपवीतादि धारण कर लिये।

पं. लुप्पुत्तीझा ने कहा—आज हम लोगों की गीता जयन्ती में विश्वविद्यालय जाना था और निर्धारित समय यहीं व्यतीत हो गया।

पं. नेनननाथ नैयायिकजी ने कहा—हमें कहीं भी श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन करना था। वह कार्य पूर्ण हो गया।

पं. विनोदीमिश्र ने कहा—विश्वविद्यालय में प्रवचन करने पर मिष्टान्न भोजन मिलता और विदाई मुद्रा अलग से। यहां तो दोनों में से एक भी नहीं।

पं. मेननमिश्र मीमांसकजी ने कहा—हम ब्राह्मण ज्ञानोपदेश के लिए प्रवचन करते हैं। मिष्टान्न भक्षण वा मुद्रा अर्जन के लिये नहीं। हमारे प्रवचन से पं. उक्कठठाकुर जैसे धर्मपथ विचलित ब्राह्मण सन्मार्गपर आगये। यह हमारे प्रवचन की सबसे बडी सफलता है। यह

मिष्टान्न से भी मधुर और मुद्रा से भी मूल्यवान् वस्तु की प्राप्ति है । विद्या अर्जन का उद्देश्य ज्ञानोपदेश है अर्थ संग्रह नहीं है ।

पं. हरपुत्तीझा ने कहा—आपने तो ऊपर कुलधर्म और जाति धर्म को त्यागकर ईश्वर शरण में जाने की बात कही है । पुनः 'हम ब्राह्मण' क्यों कह रहे हैं ?

पं. मेमनमिश्र मीमांसकजी ने कहा—हम कुलधर्म, जाति धर्म त्यागने की बात कहे हैं, वर्ण धर्म त्यागने की नहीं । वर्ण धर्म भिन्न विषय है—अध्यापनं अध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥मनु०॥ शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम्' ॥गीता॥ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥मनु॥ शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम् ॥गीता॥' इत्यादिचारोंवर्णों के कर्म त्याज्य नहीं है । जातियां तो अनन्त बन गयी हैं इनका ही त्याग है ।

ॐ ज.गु. श्री रामानन्दाचार्यजी के सिद्धान्त ॐ

'साध ससिद्धौ (स्वादि) साध्नोति ।" सिद्धः अन्तः निर्णयान्तत्वात् निरूपणस्य निर्णय इह अन्तः शब्देन उच्यते अन्तः फलम् येन स सिद्धान्तः, सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः वा. भा. अस्त्यय मित्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः भा.वा. १।१।१, 'इदमित्थम्भूतञ्चेत्यभ्यनुज्ञायमानोर्थजातं सिद्ध सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः संस्थितिरित्थम्भावव्यवस्था धर्मनियमः ॥वा.भा०१।१।२६॥" प्रमाणतोऽभ्युपगम्यमानः सामान्यविशेषवानर्थः सिद्धान्तः । तन्त्र्यतेऽनेन पदार्थस्थितिरिति तन्त्रं प्रमाणमुच्यते, अधिकरणमाश्रयः तन्त्रमधिकरणं यस्य स तन्त्राधिकरणः प्रमाणमूल इत्यर्थः । अभ्युपगमः स्वीकारः तस्य संस्थितिरित्थम्भाव व्यवस्था धर्मनियमः । इदमिति सामान्य निर्देशः, इत्थमिति विशेषः । एवं च तन्त्राधिकरणाभ्युपगम संस्थितिः प्रमाणमूलाभ्युपगम व्यवस्था सिद्धान्त इत्युक्तं प्रमाणमूलाभ्युपगमविषयीकृतः सामान्य विशेषवानर्थः सिद्धान्त इति समान्य लक्षणमुक्तं भवति ॥ न्यायमञ्जरी १।१।२६॥" प्रामाणिकत्वेनाभ्युपमतोऽर्थः सिद्धान्तः—त. सं० दी—त० भा० ॥, '-प्रामाणिकोऽयमितिकृत्वाऽभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः ॥ लक्षण माला आदि लक्षणों से प्रमाणिकतया स्वीकृत विषय का नाम सिद्धान्त है । 'सिद्धः निष्पन्नो भवति येन स सिद्धान्तः १—जिसके द्वारा किसी विषय की सिद्धि हो वह सिद्धान्त है, यह लक्षण सर्वतन्त्र सिद्धान्त (सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रोऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्र सिद्धान्त.) और अधिकरण सिद्धान्त (यत्सिद्धावन्य प्रकरण सिद्धिः सोऽधिकरण सिद्धान्तः में अनुगत है । सिद्धान्त वचनतः दो प्रकार का (१) सर्वतन्त्र, २ परतन्त्र और अर्थतः दो प्रकार १ अधिकरण, २ अभ्युपगम) इस तरह चार प्रकार का होता है ।

किसी सिद्धान्त को स्वीकृत कर उसके विरुद्ध मत का आश्रय लेना अपसिद्धान्त' कहलाता है (सिद्धान्तमभ्युपेत्याऽनियमोत्कथा प्रसङ्गोऽपसिद्धान्त) ।

'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणात्' 'इन्द्रियात् विषय ग्रहणम्' इत्यादि सर्वतन्त्र सिद्धान्त हैं । इसी प्रकार 'मोक्षः परम पुरुषार्थः' भी सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । यहाँ कहा जा सकता है कि चार्वाक प्रभृति अनात्मवादी तन्त्र 'मोक्ष' को नहीं मानते हैं । अतः 'मोक्षे इच्छा' सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है । परन्तु अनुकूल वेदनीयं सुखम् की इच्छा जिस प्रकार आत्मवादी और अनात्मवादी सभी की होती है उसी प्रकार 'प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्' से त्राण पाने की इच्छा सभी की होती है । वल्कि (प्रत्युत) सुख के अभावावस्था (तटस्थ वा उदासीन अवस्था सुख दुःख रहित स्थिति) की कांक्षा तो वैशेषिकों एवं नैयायिकों अथवा किसी की भी होती है और हो भी सकती है, परन्तु दुःख से निवृत्ति का अभाव अर्थात् दुःख की कांक्षा किसी को भी नहीं होती । दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति का ही नाम मुक्ति वा मोक्ष है । चार्वाक भी दुःख नहीं चाहते वे भी सुखकी कामना के साथ ही दुःखों से त्राण की भी इच्छा अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखते ही हैं । उनकी भी यह मान्यता है कि देह को ही सुख दुःख का अनुभव होता है । और वे कहते हैं देहोच्छेदो मोक्षः । अतः मोक्ष की इच्छा उनकी भी है । इस प्रकार मुक्ति का सिद्धान्त सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । मुक्ति ही सबों का परमपुरुषार्थ वा चरम प्रयोजन है । इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों के विषय में सभी दर्शनों में मत भेद है और मोक्ष का साधन प्रतितन्त्र सिद्धान्त है ।

ज॰गु॰ श्रीरामानन्दाचार्यजी का मोक्ष के स्वरूप एवं साधन सम्बन्ध में अपना विशेष सिद्धान्त हैं । मोक्ष माननेवाले न्याय वैशेषिक प्रभृति सभी दर्शन मोक्ष के लिए तत्वज्ञान को आवश्यक मानते हैं । वेदान्त दर्शन भी तत्त्वज्ञान को मोक्ष के लिए अनिवार्य साधन मानता है और सभी प्रकार के वेदान्तों में तत्त्वज्ञान का निरूपण किया है । सभी वेदान्ती तत्त्व के प्रकरण में 'तत्त्वत्रय' को मानते हैं जो अचित्-चित् ब्रह्म प्रकार से तीन हैं । परन्तु इनकी सत्ता और स्वरूप के विषय में सबों में मतभेद है । केवलाद्वैतवादी शाङ्कर वेदान्त मत में केवल ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता (नित्य सत्ता) है शेष दो चित् अचित् की केवल व्यवहारिक और प्रातिभासिक सत्ता है अर्थात्--इनकी सत्ता नहीं है । ये स्वप्न, मृगजल अथवा प्रतिविम्ब की भांति चिद्भ्रम मात्र (मिथ्या) है । शुद्धाद्वैतवादी वल्लभ वेदान्त के अनुसार चित् अचित् तत्त्व भ्रम नहीं हैं प्रत्युत ये ब्रह्म के स्वर्ण और आभूषण के समान अविकृत परिणाम हैं । शुद्ध ब्रह्म ही चित् एवं अचित् में परिणत होता है तथा पुनः शुद्धब्रह्म में परिणत हो जाता है । अतः चित् और अचित् मिथ्या नहीं प्रत्युत यथार्थ है और शुद्ध ब्रह्म का अवस्था विशेष है । द्वैत वादी मध्व

वेदान्त के अनुसार ये तीनों तत्त्व यथार्थ परस्पर भिन्न और नित्य तो हैं ही, इसके अतिरिक्त इनमें आन्तरिक नित्य भेद हैं जो पाँच प्रकार के हैं–१. ब्रह्म और जीव में भेद (पार्थक्य), २. ब्रह्म और अचित् में भेद, ३. जीव (चित्) और अचित् में भेद, ४. चित् (जीव) और चित् में भेद और ५. अचित् और अचित् में भेद। ये सभी भेद स्वतन्त्र (परस्पर आश्रय रहित) हैं। विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामनुज और श्रीरामानन्दवेदान्त में इन पञ्चविध भेदों (प्रकारों) के अतिरिक्त एक षष्ठ भेद ६. ब्रह्म और ब्रह्म में भेद १ पर, २ व्यूह, ३ विभव, ४ अन्तर्यामी और ५ अर्चावतार—ये पञ्चभेद मानेजाते हैं। जीव और जीव में भेद तो न्याय और वैशेषिक दर्शन भी 'जीवो प्रति शरीरं भिन्न' सिद्धान्त से कहते हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैतवादी जीव और जीव में इस भेद के अतिरिक्त १ बद्ध, २ मुक्त ३ नित्यमुक्त भेद भी मानते हैं, जिनमें बद्ध और मुक्त का भेद सामयिक है तथा मुक्त और नित्य मुक्त का भेद शाश्वत है। उपरोक्त द्वैतवादी पञ्चविध भेदों तथा विशिष्टाद्वैतवादी भेदों में अन्तर यह है कि अद्वैतवादी मत में इनमें स्वातन्त्र्य और पार्थक्य है परन्तु विशिष्टाद्वैतवादी मत में इनमें परस्पर भेद है स्वातन्त्र्य और पार्थक्य नहीं। सभी एक ब्रह्मसत्ता में व्याप्य रूप से समवायरूप से अन्वित है–[मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मभूतभावनः। यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।गी.९।४-६। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।गी.७।७।' यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोता प्रजा इमा.। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्। वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्। अथर्व० १०।८।३७-३८।] ब्रह्म का इनके साथ व्यापक-व्याप्य भाव या शरीरीशरीर भाव सम्बन्ध अपार्थक्य होने से पृथक् सिद्ध सम्बन्ध होने से सबों में अद्वैत है परन्तु यह अद्वैत विशेष्य विशेषण भाव से है। अतः इसे विशिष्टद्वैत सिद्धान्त कहते हैं। अब एक शंका यह रह जाती है कि यह उपपत्ति तो ब्रह्म-चित् और ब्रह्म अचित् भेदों के अद्वैत के विषय की हुई परन्तु यहाँ पर-व्यूह-विभव-अन्तर्यामी-अर्चावतार का ब्रह्म का भेद (द्वैत) बतलाया गया है, तब यहाँ अद्वैत कैसे? इसका उत्तर यह है कि 'दीपात् दीप वत्' एक ही प्रकाश का अन्य दीपों में भी अभिव्यक्ति के समान एक ही पर ब्रह्म की सभी अभिव्यक्ति होने से एकत्व या अद्वैत अक्षुण्ण है। पुनः एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह समाधान तो पर व्यूह विभवादि का हुआ। परन्तु विशिष्टाद्वैतवाद में नित्यलोक माना गया है। जहाँ नित्य परब्रह्म निवास करते हैं। श्रीरामानुजमत में यह नित्यधाम महावैकुण्ठ है और वहाँ नित्य चतुर्भुज नारायण पर ब्रह्म विराजमान हैं।

श्रीरामानन्द मत में यह नित्यधाम श्रीसाकेत है और वहाँ द्विभुज श्रीराम परब्रह्म विराजमान हैं। इसी प्रकार अन्य मत में यह नित्यधाम गोलोक है, जहां द्विभुज श्रीकृष्ण पर ब्रह्म विराजमान हैं। तब तीन नित्य लोकों में परस्पर भिन्न तीन नित्य सत्ता परब्रह्म स्वरूप होने से इनमें द्वैत है। फिर अद्वैत कैसे? इस प्रश्न का उत्तर अति सरल है। यह शंका लौकिक विषयों में ही हो सकती है। सर्वशक्तिमान् परब्रह्म के विषय में नहीं। यह सर्वकाल तीनों लोको में तीन नित्य रूपों में रह सकता है। देवता के विषय में निरुक्त कहते हैं—'आत्मजन्मान:। आत्मैवैषां रथो भवति। आत्माश्व:। आत्मायुधम्। आत्मेषव:। आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य।७।१।' अर्थात् देवता स्वयं सिद्ध हैं और अपनी इच्छानुसार ये अनेक रूपों के बन जाते हैं। अवतार श्री रामजी के सम्बन्ध में श्रीरामचरितमानस में लिखा है—'अमित रूप प्रकटे तेहि काला। यथा योग मिले सबहि कृपाला।' अत: एक ही परब्रह्म अपने तीन रूपो से नित्य धामों में विराजमान होने से तीनों के अद्वैत में कोई बाधा नहीं है। वेदान्त सूत्र ने कहा है 'तत्तु समन्वयात्—वे.सू. १।१।४।' अत: इसी अधिकरण सिद्धान्तानुसार इस विषय के शास्त्र वचनों में समन्वय स्थापित होता है।

इस प्रकार संक्षेप में ज.गु. श्रीरामानन्दाचार्यजी के तत्त्व विषयक सिद्धान्त का दिग्दर्शन किया गया।

मुक्ति का द्वितीय साधन मन्त्रजप है। वेदने इसे पञ्चम (व्यापक) उपाय कहा है—'मन्त्र जाप मम दृढ विश्वासा। पञ्चम भक्ति सो वेद प्रकाशा।' यह सभी तापों से (आधि-भौतिक—आधिदैविक और आध्यात्मिक) से रक्षा करने वाला है—'राम नाम जपतां कुतो भयम्, सर्वतापशमैकभेषजम्। पश्य तात मम गात्र सन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।' राम नाम नर केसरी, कनक कशिपु कलिकाल। जापक जन प्रहलाद जिमि, पालहिं दलि सुरशाल।' श्रीरामानन्दाचार्यजी के सिद्धान्त में जप्य श्रीराममन्त्र है जो मूलमन्त्र षडक्षर तारक मन्त्र भेद से प्रधानतया तीन प्रकार के हैं तथा शरणागति मन्त्र एवं गायत्री (रामगायत्री) मन्त्र भी जप्य हैं। जप तीन प्रकार का होता है—वाचिक, उपांसु और मानस। इनके तथा 'श्वासां श्वासा रामरट' के अभ्यास से अजपा जप की सिद्धि होती है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्—यो.सू.' के अनुसार जप में उसके साथ मन्त्र के अर्थ की भावना करना भी अनिवार्य है। इस सिद्धान्त में अर्थभावना के साथ ही मन्त्रार्थानुसन्धान भी आवश्यक है।

मुक्ति का तृतीय साधन ध्यान है। इस सिद्धान्त में 'ध्येय के अवच्छिन्न चिन्तन को ध्यान कहा गया है जो 'ध्यै चिन्तायाम्' धातुपाठ के अनुरूप है। ध्यान के तीन परिघटक है—१ ध्यान (ध्यान क्रिया का परिच्छेद), २ ध्येय और ३ ध्याता। अद्वैत मत में जीव

मिथ्या है और ध्येय निर्गुण निराकार ब्रह्म है। अतः उनके मत में ध्येय कोई वस्तु नहीं है। ब्रह्म नाम भी औपाधिक है। अतः नाम स्मरण का भी अवकाश नहीं है। ध्याता जीव भी औपाधिक मिथ्या है। अतः उनके यहाँ ध्यान मिथ्या व्यापार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यथार्थवादी वेदान्त विशिष्टाद्वैत में ध्येय ब्रह्म श्रीराम नित्य सगुण साकार हैं। अतः उनके स्वरूप का ध्यान सिद्धान्त सिद्ध और उपपन्न है। श्रीराम के सम्पूर्ण स्वरूप (सपरिकर, सायुध, साभूषणादि) का ध्यान सामान्यरूप से आवश्यक है और विशेषरूप से उनके चरण कमलों का जिसके सम्बन्ध में वेद कहते हैं–'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। ऋ. १।२२।२०।' 'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः। ऋ. १।१५४।५।' और रामचरितमानस में तो भरतजी के सम्बन्ध में 'रामचरण पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।' गृद्धराज के सम्बन्ध में–'आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरण जिन्ह रेखा।' निषादराज के सम्बन्ध में 'सुमिर राम पद पंकज पनही।' आदि लिखा है। यह ध्यान तीन प्रकार से निष्पन्न होता है– १ ध्याता के स्वस्मृति के साथ (ध्याता अपने स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर रहित दिव्य शरीर का स्वरूपानुसन्धान कर दिव्य लोक (साकेत) स्थित श्रीरामजी की पूजा, अर्चना, आरती, पंखा (व्यंजन), इत्र (गन्ध) पान (ताम्बूल), फल, पुष्प आदि अर्पण सेवा करते हुए अपने को अनुभव करता है) २ (ध्याता के अपने स्वरूप विस्मृति (ध्यान काल में ध्याता अपने को भूल जाता है और उसके सम्मुख मात्र ध्येय ही रहता है) तथा ३ तन्मयात्मक (प्राण भये कान्ह मय, कान्ह भये प्राण मय, हिय में न जान पडे प्राण है कि कान्ह है।' अपने को राममय और राम को अपने मय परस्पर अन्वित) तीनों ही पात्रानुसार स्वीकृत हैं। अन्य दृष्टिकोण से भी ध्यान तीन प्रकार के कहे गये हैं–१ मै तुझे देखू न देखू तू मुझे देखा करो, २ तू मुझे देखो न देखो मैं तुझे देखा करुं और ३ तू मुझे देखा करो और मै तुझे देखा करुं। ध्यान का साधन गीता में–'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्। गी. ६।२६।' कहा गया है। स्कन्द पुराण में कहा गया है 'ध्यानेन सर्वमाप्नोति ध्यानेनाप्नोति शुद्धताम्। ध्यानेन परमं ब्रह्म मूर्तौ योगस्तु ध्यानजः।' मुण्डकोपनिषद् कहते हैं 'तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।मु.३।१।८।

मुक्ति का चतुर्थादि अन्य साधनों के सम्बन्ध में दो प्रकार का साधन बतलाया गया है और १ पञ्चसंस्कार पुरस्सर अर्चनादि बाह्य साधन और २ भक्ति, प्रपत्ति (शरणागति) प्रभृति आन्तरिक साधन।

बाह्य साधनों में प्रथम पञ्चसंस्कार (तप्तेन मूले भुजयोः समङ्कनं शरेण चापेन तथोर्ध्व पुण्ड्रकम्। श्रुतिश्रुत नाम च मन्त्र मालिका संस्कारभेदाः परमार्थ हेतवः) है द्वितीय साधन

एकादशी इत्यादि व्रतानुष्ठान, तृतीय साधन तीर्थवास ('अशेषे तीर्थेषु वसेत् श्रीवै.ग. भा, १०.७) यहाँ तीर्थवास का तात्पर्य केवल तीर्थ स्थान में रहना नहीं है। यदि शरीर तीर्थ में और मन अन्य स्थानों में है तो वह शरीर से तीर्थ में रहता हुआ भी वस्तुतः तीर्थ में नहीं है, तीर्थ से बाहर है। इसके विपरीत यदि शरीर अन्यत्र है और मन तीर्थों का दर्शन कर रहा है तो वह वस्तुतः तीर्थ में नहीं रहता हुआ भी तीर्थ में ही निवास कर रहा है। यदि शरीर और मन दोनों ही तीर्थ में हों तो और भी उत्तम है। तीर्थवास का तात्पर्य सत्सगति का लाभ भगवत्कथा कीर्तन का श्रवण भगवद्विग्रह दर्शन तीर्थ जल स्नान, तीर्थ महात्म्यानुभव आदि है। यदि ये सब नहीं हुआ तो तीर्थ में रहकर भी तीर्थ में नहीं रहना है और यदि यह सब हुआ तो तीर्थ में नहीं रहकर भी तीर्थ में रहना है। क्योंकि तीर्थ वही है जहाँ ये सब हों। ऐसे तीर्थ के विषय में प्रयाग का निरूपण करते हुये रामचरित मानस में कहा गया है 'मुद मङ्गलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू। राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा। विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रविनंदनि बरनी। हरिहर कथा बिराजति वेणी। सुनत सकल मुद मङ्गल देनी। वटु विश्वास अचल निज धरमा। तीरथ राज समाज सुकरमा। सबहि सुलभ सबदिन सब देशा। सेवत सादर शमन कलेशा। अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रकट प्रभाऊ। सुनि समुझहि जन जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग। लहहिं चारिफल अछत तन, साधु समाज प्रयाग। इत्यादि' इसके विपरीत भक्ति मात्र रहित तीर्थ-स्थान में रहने पर भी कोई फल नहीं है। 'गङ्गादि तीर्थेषु वसन्ति मत्स्या देवालये पक्षि-गणाश्चरन्ति। भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते तीर्थाच्च देवायनाच्च मुख्यात। स्क०पु०।' तीर्थ स्थान में पुण्य करने से पुण्य की वृद्धि होती है और पाप करने से पाप बढ़ता है—'कानन बहुत बढे पुनि जिमि तीरथ कर पाप। क्योंकि तीर्थ पुण्य और पाप दोनों ही के लिये उर्वरा भूमि है पुनः तीर्थ का किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है 'अन्य क्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति। तीर्थ क्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति। स्क० रेवा० ८।६९.—७०।' अत जिनके एकादश इन्द्रिय संयमित हो वही तीर्थ में वास करें अन्यथा क्लेश भागी होंगे—'येनैकादश संख्यानि यन्त्रितानीन्द्रियाणि वै। स तीर्थ फलमाप्नोति नरोऽन्यः क्लेशभाग् भवेत्।' अतः तीर्थ वास का तात्पर्य शुद्धाचरण पूर्वक मनसे सतत तीर्थ धाम में वास की भावना है। शरीर से भी तीर्थ में वास हो तो और उत्तम है।

चतुर्थ साधन अर्चना (षोडशोपचार पूजन) स्तुति आदि है। आन्तरिक साधन भक्ति और प्रपत्ति है। परमात्मा की सेवा का नाम भक्ति है। भक्ति श्रवणादि नवधा है। अन्तिम साधन प्रपत्ति (शरणागति) है। अर्चना की अन्तिम विधि नमस्कार और नवधा भक्ति की

अन्तिम विधि आत्मार्पण प्रपत्ति ही है। नमस्कार के सम्बन्ध में वेद कहते हैं कि—नमस्कार सबसे बड़ी वस्तु है। नमस्कार ही स्वर्ग और पृथिवी को धारण करता है। देवता लोग नमस्कार के वशीभूत हैं। नमस्कार द्वारा पापों का प्रायश्चित होता है—'नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुतद्याम्। नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृत चिदेनो नमसा विवासे। ऋ. ६।५१।८।' मनु कहते हैं—अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धते आयुर्विद्या यशोबलम्। २।१२१।' श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। ४।३४।' अन्यत्र 'अञ्जलिशिरः संयोगादिव्यापारः नमस्कारः' इष्ट है। परन्तु इस सिद्धान्त में 'उरः शिरोदृष्टिमनोवचः पद-द्वयप्रराजत्करयुग्मजानुभिः। अङ्गैः क्षितौ तं प्रणमेदथाष्टभिः दीर्घे तथैतैः कृतधीश्च दण्डवत्। बाहू च पादौ च प्रसार्य साञ्जलिः स्तवैः स्तुवन् यश्च नमेत्प्रभुत्तमम् शतैःक्रतूना तु सुदुर्लभां गतिं स चाप्नुयाद् रामपरायणो जनः। श्रीवै.म.भा. ५।१७।१८।' साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणिपात—अभिप्रेत है।

सभी धर्मों में उत्तम धर्म अहिंसा (अहिंसा परमो धर्मः—वेद) है। आचार्यजी कहते हैं दानं तपस्तीर्थं निषेवणं जपो न चास्त्यहिंसा सदृशं सुपुण्यकम्। हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः सुधर्मनिष्ठो दृढ धर्म वृद्धये। श्रयन्ति धर्मास्तु तया पृथक् स्थितान्, सुवक्रगाः सिन्धुमिवापि निम्नगाः। काष्ठस्थ वह्नेरिव घातको हरेश्चराचरस्थस्य च जन्तु हिंसकः। जलस्थलोत्पन्न शरीरीहिंसया विवर्जयेन्मासमुदारधीः सदा। दयापरोऽधोगति हेतु रुपयाऽचिराय लभ्यं भवभीतिवृत्तये।' श्रीवै.म.भा. ५।२-४।' अहिंसा के विषय में महाभारत के सिद्धान्त वाक्य हैं 'श्रूयतां सर्वधर्मस्य श्रुत्वा चैवाव धार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है सर्वभूत स्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमो मतः। ६।३१-३२।' राक्षस लोग आसुरी (तामस) होने के कारण अपने यज्ञ में हिंसा करते हैं। मेघनाद मख करइ अपावन, आहुति देइ रुधिर अरु भैंसा' अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते। गी. १८।२५।' अहिंसा के कारण ही जप यज्ञ को सभी धर्मों में परम धर्म कहा गया है—'जपस्तु सर्व धर्मेभ्य परमो धर्म उच्यते। अहिंसया च भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते महाभारत।' मनुस्मृति में यद्यपि हिंसा परक अनेक श्लोक घुसाये गये हैं तथापि इनके ये प्राचीन श्लोक स्पष्ट रूप से हिंसा और मांसभक्षण का निषेध करते हैं 'यावन्ति पशु रोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्। पशुघ्नः वृथा प्राप्नोति प्रेत्यजन्मनि जन्मनि। योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया। स जीवंश्च-मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते। यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति। स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्त-

मश्नुते । यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च । तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन। नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् । समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् । न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् । स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते । अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रय विक्रयी । संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः । वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् । फलमूला-शनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः । न तत्फलमवाप्नोति यन्मांस परिवर्जनात् । मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः । यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः । इत्यादि ।' वैशेषिक सूत्र में भी 'तद् दुष्टभोजने न विद्यते । दुष्टं हिंसानामो तस्य समभिव्याहारतो दोषः । तदऽदुष्टे न विद्यते ॥६।१।६-९॥' हिंसा और मांस का निषेध है । कुछ भ्रांत लोग यज्ञ मे हिंसा को निर्दुष्ट बतलाते हैं । उन्हें श्रीमद्भागवत के प्राचीन बर्हि को नारद का उपदेश 'भोः भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्यं त्वयाध्वरे । संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः । एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव । सम्परेतमयः कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥४।२५।७-८॥' ऋषि वचन-- 'यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भिपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति ॥५।२६।१३॥ ये त्विह वै दाम्भिकादम्भ यज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिल्लोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति ॥५।२६। २५॥ ये त्विह वै पुरुषाः पुरुष मेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो नृ पशून् खादन्ति तांश्च ते पशव इव निहता यमसदने यातयंतो रक्षोगणाः सौनिका इव स्वधितिनाव दायासृक् पिबन्ति नृत्यन्ति च गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः ॥५।२६।३१।' चमस वचन 'ये त्वनेवं विदोऽसंतः स्तब्धाः सदभिमानिनः । पशून् द्रुह्यति विस्रब्धाः प्रेत्य खादंति ते च तान् ॥११।५।१४॥ तथा महाभारत के शांति पर्व ३६६।१० के नारायणीयोपाख्यान के राजा उपरिचर का आख्यान पढकर अपना भ्रम मिटा लेना चाहिए । राजा ने वैदिक विधि से अश्वमेघयज्ञ किया और उसमें पशु का बहिष्कार किया । महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में लिखा है—'ततो दीनान्पशून्दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपो धनाः । ऊचुःशक्रं समागम्य नायं यज्ञ विधिः शुभः । अपरिज्ञानमेतत्ते महान्तं धर्ममिच्छतः । न हि यज्ञे पशुगणा विधि दृष्टा. पुरंदर ! । धर्मोपिघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो । नायं धर्मे कृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते ॥९१।१२-१४ ।' वस्तुतः अहिंसाधर्म ही वैष्णव धर्म है (वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीड पराई जाने रे) ज.गु. श्रीरामानंदाचार्यजी

का मूल सिद्धान्त अहिंसा का सिद्धान्त है। इसी अधिकरण सिद्धांत के आधार शिला पर अन्य सभी सिद्धांत आधारित हैं। पूज्य महात्मागांधीजी ने इन्हीं के उक्त सिद्धांतों में से श्रीरामनाम मन्त्र जप सत्य एवं अहिंसा के त्रिविध मूल सिद्धान्तों को अपनाकर उनका क्रियात्मक रूप दिया था।

दर्शनकेशरी वैदेहीकान्तशरणजी

॥ परब्रह्मपरमात्मने श्रीरामाय नमः ॥

ॐ गीता-आनन्दभाष्य-तत्त्वदीप ॐ

श्रीमुरलीधर पाण्डेय

निर्देशक—शांकरवेदान्त कोशयोजना सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी-२

वेदान्त प्रस्थानत्रयी पर आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के लिखे गीता के आनन्दभाष्य की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हो रही है। हिन्दी व्याख्याकार हैं पश्चिमाम्नायजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्यजी महाराज,जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ श्रीकोशलेन्द्रमठ, पालडी अहमदाबाद और प्रकाशक हैं ज.गु. श्रीरामानन्दाचार्यपीठ श्रीशेषमठ-शींगडा सौराष्ट्र का धर्मार्थ विभाग। श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के लिए इन दोनों आचार्यपीठों से बहुत ही उपयुक्त कार्य हो रहे हैं। आज भारत में सर्वाधिक साधुसंख्या जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी द्वारा सम्बन्धित श्रीवैष्णव सन्तों की है। पठान शासन काल तथा मुगल शासन काल में इन श्रीवैष्णव संप्रदाय के साधुओं के द्वारा जो वैदिकधर्म सेवा सनातन धर्म सेवा सनातनवर्णाश्रमधर्मरक्षा तथा जो साधुसेवा हुई वह किसी से छिपी नहीं है। इतिहास तो साक्षी है ही आज प्रत्यक्ष प्रमाण भी साक्षी है कि इस महान् कठिन कराल कलि काल में भी बंगाल उडीसा आसाम से लेकर पश्चिमोत्तर द्वारिका दिल्ली जम्मू तथा काश्मीर से लेकर केरल तिरवांकुर आन्ध्र तिरुपति मद्रास आदि पर्वतीय एवं समुद्रतटीय नगरों एवं ग्रामों में श्रीरामजी का मन्दिर श्रीआञ्जनेयजी का मन्दिर श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के साधु की देखरेख में चल रहे हैं। यह सत्य है कि समय के प्रभाव से ये साधुमठ ठीक से बचे नहीं है। पहले जैसी धर्मरक्षा और साहित्य तथा साधुसेवा नहीं हो पारही है। पर इस घोर विपरीत काल में भी ये अपनी स्थिति बना रखे हैं यही बडे महत्त्व की बात है। इन्हीं कालके थपेडे खाने वालों में आचार्यपीठ श्रीशेषमठ तथा आचार्यपीठ श्री कोशलेन्द्रमठ भी हैं। जिस मठ के हाथों में निग्रह अनुग्रह कारावास तथा जमीन्दारी देने के अधिकार थे वही मठ आज अपने सीमित आय पर सीमित शक्ति पर सनातनधर्म सेवा में अपने को न्योछावर कर रहा है। ये मठ सम्प्रदाय के अन्य मठों की भाँति साधुसेवा तथा अन्य सेवा तो कर ही रहे हैं। पर

इनकी यह विशेषता है कि साधुसेवा एवं अन्य सेवा के साथ ज्ञानसेवा करना यह लिखना अतिशयोक्ति नहीं होगी, और होती हो तो विनयपूर्वक यह लिखना चाहूंगा कि श्रीरामानन्दाचार्यजी की ज्ञानराशि का प्रचार प्रसार जितने उत्साह के साथ ये दोनो आचार्यपीठ तथा इनके विद्वान् अधीश्वरो के द्वारा हो रहा है मेरे अनुभव से ऐसा और दूसरे मटों के द्वारा सांतांश में भी होता हुआ नहीं दीख रहा है।

इसी ज्ञानसेवा की शृंखला में गीता का आनन्दभाष्य तथा उसकी हिन्दी व्याख्या का प्रकाशन हो रहा है। इस तत्त्वदीप को हिन्दी अनुवाद न कहकर हिन्दी व्याख्या इस लिए लिखा जारहा है कि अनुवाद परिमित शब्दो में मूल को जैसा का तैसा यथावत् अवतरित कर देना होता है। एक हरी शीशी के इत्र को पीली शीशी में डाल देना है। संभव है इस क्रिया में एकाध बुंद कम भी होता हो। पर व्याख्या में ऐसी बात नहीं है। अर्थात् मूल में यदि कोई तथ्य स्पष्ट नहीं हो रहा है तो अपनी विशिष्ट आख्या व्याख्या के द्वारा उसे स्पष्ट निर्मल कर देना होता है। स्वामीजीने यही किया है।

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए दो तीन स्थल उद्धृत किये जा रहे हैं। जिससे विज्ञजनो की दृष्टि इस पर आकृष्ट हो सके जैसे हिन्दी व्याख्या सहित गीता अध्याय ४।२५ पृष्ठ ३३ में आनन्दभाष्य कहता है-न त्वनित्यं स्वर्गादिकम् इत्यादि। उसकी हिन्दी व्याख्या कहती है-यथोक्त रूप से कर्म को ब्रह्म स्वरूपता के अनुसन्धान के अन्तर में वही कर्म ज्ञानाकारता को धारण करके ब्रह्म प्राप्ति स्वरूपमोक्ष को देता है। यहाँ ज्ञानाकार शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है जो मूल में नही है। अनेक दर्शनों का तत्त्व उस ज्ञानाकार शब्द में भरा पडा है। इसी प्रकार गीता ४।३२ पृ० ३८४ में हिन्दी व्याख्या में लिख रहे हैं वेद के मुख मे प्रथम काण्ड कर्मकाण्ड में 'इसे त्वा' इत्यादि प्रकरण में व्यक्त है। मूल में वहां किंचित् स्पर्श है। पर हिन्दी व्याख्यामें वहा अत्युत्तम विचार किया है। जो जिस जिज्ञासुजनो के लिए महान् उपकारक है। इसी प्रकार गी. ४।३७ पृ.३९८ की हिन्दी व्याख्या में अवश्यमेव भोक्तव्य कर्म पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार गी, ४।३३ पृ. ३८४ में 'ज्ञानांशमादाय' आनन्दभाष्य में इस उद्धरण को लेकर—'अर्थात् यदि करनेवाला पुरुष' इत्यादि वाक्यो के द्वारा ज्ञानयज्ञ का विषय बहुत ही अच्छे प्रकार से स्पष्ट किया गया है।

यह हिन्दी व्याख्या कार्य महान् समारंभपूर्वक कियागया है। महान समारंभ कार्य में कहीं कुछ शिथिलता का आना स्वाभाविक है। अतः कहीं कहीं कुछ शब्दसंकोच एवं अर्थ संकोच भी होगये है। जैसे गी. ५।१। पृ. ४०९-४१० की हिन्दी व्याख्या थोडे और

विस्तार की अपेक्षा रखती है । इसी प्रकार गी. ४।३७ पृ. ३९८-३९९ में 'भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' की आनन्द भाष्य-हिन्दी व्याख्या कुछ और विस्तार की अपेक्षा करती है ।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य प्रणीत गीतानन्दभाष्य की स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीत तत्त्वदीप हिन्दी व्याख्या सुधीजनो के लिये बहुत उपकारक होगी । सम्प्रदाय के विद्वानों के लिये एतादृश कार्य करने के लिए प्रेरणाप्रद भी होगी। इसके लिए श्रीकोशलेन्द्रमठ के दोनों अधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यजी श्रीयोगिराज महाराज तथा जगद्गुरु श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी बहुत बहुत साधुवाद एवं धन्यवाद के पात्र हैं । ❀

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमोनमः

❀ आनन्दभाष्यम् ❀

ले० जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी रामेश्वरनन्दाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ, अहमदाबाद—३८००७]

अनादि वैदिक विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रथम व्याख्याता भगवान् बोधायन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी जो श्रीसम्प्रदाय के नववें आचार्य हैं के वृत्ति ग्रन्थ में प्रतिपादित सत् सिद्धान्त–विशिष्टाद्वैत मत का भाष्य ग्रन्थ द्वारा विशिष्ट प्रचारक एवं प्रसारक प्रस्थानत्रयानन्द भाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीका समय १३५६–१५३२ है जो भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के लिये विशिष्ट संकटापन्न काल था । जिसकी झांकी श्रीरामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास, देशिक परिचर्या, श्रीसम्प्रदायदिग्दर्शन, आचार्य परिचर्या महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्य का स्मृतिग्रन्थ, श्रीरामनन्द सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय एवं जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य तथा पताका प्रभृति ग्रन्थों में झांकी जासकती है ।

जगदाचार्यश्रीने भारतीय सद्धर्म के स्वरूप को स्थायित्व प्रदान करने के लिए प्रस्थानत्रयी–ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों एवं गीता में प्रसन्न-प्रसाद गंभीर भाष्यों की रचना की 'तद्गुणसारत्वात्तुतद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' ब्र. सूत्र. २।३।३० इस शास्त्र के निर्देशानुसार 'आनन्दभाष्य' नाम रखा । इस नामाभिधानानुसार ही 'आनन्दो ब्रह्म व्यजानत्' 'आनन्दाद्ध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति' इत्यादि श्रुतियां संगत होती हैं । अतः भगवान भाष्यकारजी ने अपने व्याख्यानों का नाम आनन्दभाष्य के रूप में प्रसिद्ध कर सर्व साधकजनों को परमपद पथिक बनने के लिये सुगममार्ग का प्रदर्शन 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' द्वारा किये जो आनंदभाष्यों का सारतत्त्व है । जिसमें मानव मात्र के लिये श्रीरामप्रपत्ति स्वीकार कर परम पद श्रीसाकेताधीशजी का कैंकर्य प्राप्त करने की आज्ञा प्रदान की गई है—

'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा शक्ता अशक्ता पदयोर्जगत्प्रभोः । अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो न चापि कालो न च शुद्धतापि वै' श्रीवै.म.भा. ४।५० भास्कर के पूर्ण रहस्यों को जानने के लिये मेरी प्रभा एवं किरण टीका का स्वाध्याय करें ।

भगवान् बादरायण व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्रों के संख्या एवं अधिकरण के विषयमें भी भाष्यकार आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। श्रीशंकराचार्यजी के मत में सूत्रसंख्या ५५५ एवं अधिकरण संख्या १९१ है। श्रीरामानुजाचार्यजी के मत में सूत्र संख्या ५४५ तथा अधिकरण संख्या १६० है। श्री माध्वमत में सूत्र संख्या ५६४ और अधिकरण संख्य २२३ है। श्रीनिम्बार्क मत में सूत्र संख्या ५४९ तथा अधिकरण संख्या १६१। श्रीवल्लभ मत में सूत्र संख्या ५५४ और अधिकरण संख्या १७१ है। पर श्रीबोधायनीयवृत्ति के अनुयायी जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के सर्वशास्त्र सामञ्जस्य मतानुसार सूत्रसंख्या ५५१ है जैसा कि अध्याय १—३२+३३+४३+२९=१३७। अध्याय २—३६+४५+५३+२१=१५५। अध्याय ३—२७+४१+६४+५१=१८३। अध्याय-४—१९+२०+१५+२२=७६। तथैव अधिकरण संख्या १६० है जैसाकि अ. १-११+७+१२+८=३८। अ० २—१०+८+९+९=३६। अ० ३—६+८+२५+१५=५४। अ० ४—११+१०+५+६=३२।

ब्रह्मसूत्रों में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। उन पादों में वर्णित अति सूक्ष्म विषय इस प्रकार है-१-१ पाद में अस्पष्टतर जीवों के स्वरूप का विचार है। २ पाद में पुनः अस्पष्ट जीवों के विषय में चर्चा है। ३ पाद में स्पष्ट जीवादि के स्वरूप चर्चा है। ४ पाद में स्पष्टतर जीव आदि के विषय में चर्चा है। २-१ पाद में सांख्यादि स्मृति विरोध एवं न्यायशास्त्र विरोध का परिहार। २-पाद में सांख्यादि अनुकूल तर्कों का वेदवेदान्तानुसारिभिः तर्कों द्वारा निराकरण है। ३-पाद में वियदादिकों का कार्यत्व का समर्थन है। ४-पाद में इन्द्रियादिकों का कार्यत्व निरूपण है। ३-१ पाद में ब्रह्म की उपासना विषयक इच्छा निरूपण के लिए जागर आदि अवस्थाश्रय जीव के दोषों का निरूपण है। २-पाद में परम पुरुष-परब्रह्म श्रीरामजी का उभयलिंगत्व का निरूपण है। ३-पाद में ब्रह्म के उपासनात्मक भेदों का निरूपण है। ४-पाद में उपासना का वर्णाश्रमधर्म के साथ सामञ्जस्य का प्रतिपादन है। ४-१ पाद में श्रीरामोपासना के फल प्रतिपादनके लिये उपासना के फल निरूपण पूर्वक ब्रह्मोपासनाका प्रकार एवं विद्या के माहात्म्य का भी विवेचन किया गया है। २ पाद में श्रीरामोपासकों का परधाम श्रीसाकेत में जाने का प्रकार का निरूपण है। ३ पाद में अर्चिरादि मार्ग का सांगोपांग वर्णनकर अर्चिरादि मार्गसे ही श्रीरामोपासकों का श्रीरामधाम प्राप्ति का वर्णन है। ४ पाद में अर्चिरादि मार्ग से श्री साकेत-ब्रह्मलोक गये मुक्तजीवों का श्रीराम सायुज्य प्राप्ति रूप मोक्ष का प्रतिपादन है।

तो भगवान् भाष्यकारजी के मत का स्वरूप को संक्षेप में यों समझा जा सकता है-जगद्गुरुजी ने श्रीरामशरणागति-प्रपत्ति एवं अनन्याभक्ति को मोक्ष सायुज्य मुक्ति का कारण माना है। कर्म को भक्ति का अंग माना है। पर ब्रह्म श्रीरामजी को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण माना है। जीवों का परस्पर भेद एवं नानात्व स्वीकार है। एवं जीवों का स्वरूपतः अणुत्व कर्तृत्व, भोक्तृत्व ज्ञातृत्व और नित्यत्व माना है। तथा जीवों का ब्रह्मसे भेद माना है। विद्या में उपकारिका वर्णाश्रम व्यवस्था स्वीकार किया है। विवर्तवाद मायावाद प्रतिबिम्बवादों का असकृत प्रत्याख्यान किया है। नारद पंचरात्र शास्त्र का सम्पूर्णतया प्रमाण माना है। निर्विशेष ब्रह्मवाद का श्रुतिस्मृति प्रामाण्य पुरस्सर अनेकवार अनेक स्थलों पर निराकरण कर सर्वशास्त्र सम्मत सविशेष वाद का घटाटोप के साथ प्रतिपादन किया है। जगन्मिथ्यात्व एवं भावरूप अनिर्वचनीय अविद्या का सर्वशास्त्रानुकूलतया खण्डन किया है तथा सत्ख्यातिवाद को स्वीकार किया है।

ॐ आनन्दभाष्य का मत ॐ

भाष्यकार श्रीने विशिष्टाद्वैत मत को ही ब्रह्ममीमांसाशास्त्र का अभिमत माना है 'एवञ्चाखिल-श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्चविशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्यविषयो न तु केवलाद्वैतम्' आनन्दभाष्य १-१-१ । यानी विशिष्टाद्वैत मत ही श्रुति स्मृति इतिहास एवं पुराण से समञ्जस होता है तथा युक्ति युक्त भी यह सिद्धान्त है, केवलाद्वैत नहीं। विशिष्टाद्वैत शब्दका अर्थ इस प्रकार से होता है-विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे विशिष्टयोरद्वैतं विष्टाद्वैतम् । प्रथम विशिष्ट शब्द से सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म यानी कारण ब्रह्म का ग्रहण होता है । एवं द्वितीय विशिष्ट शब्द से स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म यानी कार्य ब्रह्म का ग्रहण होता है अतः विशिष्टाद्वैत का अर्थ हुआ। कार्य ब्रह्म एवं कारण ब्रह्म की एकता यानी कार्य एवं कारण दोनों में एकता इस तत्त्व को आचार्य श्री ने 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' ब्र.सू० २।१।१४। के भाष्य में अच्छी प्रकार से समझायी है । इस विषय का विस्तृत विवेचन श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के ३९ वें आचार्य महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्यजी ने 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त' एवं 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तसार' में किया है तथैव श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के ४० वें आचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यजी ने 'तत्त्वत्रयसिद्धि' में तथा मैंने 'तत्त्वदीप' में किया है अतः विशेषार्थी वहीं देखें विस्तारभय से अन्य उदाहरण नहीं दे रहे हैं ।

ॐ आनन्द भाष्य में ब्रह्म पद वाच्य श्रीरामजी हैं ॐ

'ब्रह्म शब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्तनिखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममाह सामान्यवाचकानां पदानां विशेषे पर्यवसानात्' आनन्दभाष्य १।१-१ यानी सामान्य वाचक पदों का विशेष अर्थ में समाप्ति होने से इस ब्रह्म मीमांसा सूत्र में ब्रह्म शब्द महापुरुष एवं उत्तमपुरुष आदि पद से वाच्य समस्त दोषों से रहित निरवधिक तथा अतिशय से रहित असंख्य कल्याण गुणों के आश्रय भगवान् श्रीरामजी को ही कहता है अर्थात् इस शरीरक मीमांसा शास्त्र के विषय में ब्रह्म शब्द उक्त विशेषण विशिष्ट सर्वेश्वर श्रीरामजीका ही वाचक है । क्योंकि व्यापकत्व के योग से ब्रह्म शब्द सामान्य वाचक पद है और श्रीरामजी विशेष अर्थ हैं । इस प्रकार भाष्यकारजी ने ब्रह्म शब्द वाच्य सर्वेश्वर श्रीरामजी का प्रतिपादन किया है।

तथैव एवञ्च सर्वज्ञसर्वशक्तिमज्जगत्कारणनिर्गुणसगुणादिपदवाच्यं श्रीरामतत्त्वं तदेव जगत्कारणं ब्रह्मेत्युच्यतेऽनेन सूत्रेण' आ.भा. १।१।२। यानी इस प्रकार सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत्कारण निर्गुण एवं सगुण आदि पदों का वाच्य श्रीरामतत्त्व है, वही जगत्कारण ब्रह्म है, 'जन्माद्यस्ययतः' सूत्र द्वारा कहा गया है । इसी प्रकार आगे १।१।४। प्रभृति अनेक सूत्रों द्वारा श्रीरामतत्त्व का ही विवेचन किया गया है, विशेषार्थी वहीं देखें ।

ॐ आनन्दभाष्य एवं सगुणनिर्गुण ब्रह्म ॐ

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने ब्रह्म को निर्गुण तथा सगुण दोनों ही माना है । आचार्यजी ने निर्गुण शब्द का—'सत्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृतागुणाः । स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु' वि. पुराण 'योऽसौनिर्गुणः प्रोक्त शास्त्रेषु जगदीश्वरः । प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते' प० पुराण । यानि जिसमें सत्वादिक प्रकृति के गुण नहीं हैं एवं सर्व शुद्ध पदार्थों से शुद्ध वह आदि पुरुष हैं। जो जगदीश्वर शास्त्रों में निर्गुण रूप से कहा गया है वह त्याग करने योग्य प्रकृति के सत्वादि गुणों से हीन कहा गया है। इत्यादि शास्त्र सम्मत 'निर्गता निकृष्टाः सत्त्वादयः

प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्' आ. भा १।१।२। अर्थात् निर्गत हैं निकृष्ट सत्वादि प्राकृतिक गुण जिससे वह निर्गुण है. इस प्रकार गूढ रहस्यमय अर्थों का प्रतिपादन कर श्रुति का समन्वय पूर्वक एक ही ब्रह्म तत्व को निर्गुण एवं सगुण माना है। यदि निर्गुण तथा सगुण को एक ही नहीं मानते तो 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' एवं 'निर्गुणं निष्क्रियम्' आदि श्रुतियों का सामञ्जस्य नहीं हो पाता अतः 'दिव्यगुणसत्वेन च सगुणत्वमित्युभयमेकस्य ब्रह्मणोनिर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम्' आ.भा. १।१।२ लिखा है। उसी तत्व को स्फुट करते हुए आगे लिखते हैं 'किञ्च श्रीरामस्य जगत्कारणत्ववादिन्यः काश्चन श्रुतयः स्फुटकारणस्वरूपस्य तस्य साकारत्वं सगुणत्वमक्षरब्रह्मणो जगत्कारणत्ववादिन्यश्च काश्च-नकाश्चनश्रुतयस्तस्याऽस्यनिराकारत्वंनिर्गुणत्वञ्चाहुरित्युभयत्राविरोधार्थं स यथार्थस्तात्त्विकोऽङ्गीकर्तव्यः। अन्यथापरस्परविरोधेव्याहतत्वादप्रामाण्यप्रसक्तिःस्यात्' एवं श्रीरामादिविशेषपदवाच्यस्यदिव्यगुणवत्त्वेन च सगुणत्वनिर्गुणत्वज्ञापनादिति न क्वापि ब्रह्मणो गुणशून्यत्वंनिर्विशेषत्वञ्चेति मन्तव्यम्' आ० भा० १।१।२ इत्यादिरूप से समस्त वेदान्त दर्शन को सगुण रूप श्रीरामजी का प्रतिपादक रूपतया निरूपण किया है।

卐 आनन्दभाष्य के अनुसार सद्य मुक्ति नहीं 卐

'तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारोविद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया' ४।२।१६ के प्रसंग में भाष्यकारजी लिखते हैं—विद्यासामर्थ्य से यानी परमात्मोपासन रूप विद्या सामर्थ्य से एवं परमात्मा के शेषत्व के अनुसन्धान से साधक जीवात्मा ईश्वर से अनुगृहीत होता है। इसी विषय का निर्देश पहले जन्माद्यधिकरण में भी किया गया है कि सगुण ब्रह्म श्रीरामजी के निरवच्छिन्न ध्यान एवं अभ्यास वाले साधक एक सौ एकवीं सुषुम्ना नाडी द्वारा शरीर से निकल कर अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्म लोक—श्रीसाकेत लोक को प्राप्त हुये। अनन्य भक्त की मुक्ति प्रतिपादित की गई है। विद्यासामर्थ्यात् यहां पर विद्यापद से जिसकी मरण से पूर्व में आवृत्ति की गई है उसी ब्रह्म का निदिध्यासन रूप परमात्मा श्रीराम चिन्तन पदवाच्य विद्या का ग्रहण है, यही सूत्रकार श्री व्यासजी का मार्ग है। अतः जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के मत में सद्यमुक्ति नहीं है अर्चिरादि मार्गसे क्रममुक्ति ही है। पुनः आपने लिखा है 'एतेन ज्ञानिनः सद्योमुक्तेरभावोऽपि व्यक्तो भवति' यानि इससे ज्ञानी को सद्यमुक्ति का अभाव है अर्थात् सद्योमुक्ति नहीं होती है। पुनः आगे 'अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोक गमनत्वज्ञापनात् सद्यो न मुक्ति ब्रह्मविदामपि तु देवयानक्रमेणैवेतिसिद्धान्तः' लिख कर प्रकृत प्रसंग को पुष्ट किया गया है अतः अर्चिरादि मार्गसे क्रम मुक्तिशास्त्र संमत है सद्य मुक्ति नहीं यह भाष्यकार का सिद्धान्त है।

'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' प्रभृति श्रुति का आश्रय लेकर सद्य मुक्ति का जो समर्थन किया जाता है उसका निराकरण 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' प्रभृति माध्यन्दिनीय श्रुति के द्वारा निराकरण कर निगमन रूप से 'इति न केनापि प्रमाणेन सद्योमुक्तिः सिद्ध्यतीति मनीषिभिर्विभावनीयम्' आ.भा. १।१।२ यानी किसी भी प्रमाण से सद्योमुक्ति सिद्ध नहीं हो सकता है यह बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये। यह अति संक्षेप से बताया गया है, विशेष भाष्य एवं टीका ग्रन्थों से अवगम करलें।

आनन्दभाष्य की टीका

जगदाचार्य प्रसादित आनन्द भाष्य की अनेक टीकाएं व टिप्पणि
गुरु श्रीटीलाचार्यजी (१५१५–१६४२) ने सुरद्रुम नामकी टीका लिखी
चार्यजी (१७८५–१८९८) ने सुरद्रुममञ्जरी नामकी टीका लिखा है।
श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुबराचार्यजी (१९४३–२००७) ने भाष्यपदानुग
लिखी है। अभिनववाचस्पति पण्डित सम्राट् स्वामी वैष्णवाचार्यजी
वैष्णवालंकार नाम की टीका लिखी है जो प्रथमाध्याय प्रथमपाद तक
है। जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामप्रपन्नाचार्यजी (१९४४–२०४६)
मय भाष्य तत्त्वप्रकाशकटीका लिखी है एवं मैंने भी भाष्य प्रकाश टी
के साथ में आनन्दभाष्यमुद्रणालय में मुद्रित हो रहा है।

उपनिषदों के आनन्दभाष्यों में द्वाराचार्य जगद्गुरु श्रीयोगानन्दाच
टीका लिखी थी जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। मैंने सभी उपनिषदों
टीका लिखी है वह शीघ्र ही समाज की सेवा में उपस्थित हो जायगी
में मेरी रहस्य एवं तत्त्वपूर्ण तत्त्वदीप टीका जगद्गुरु श्रीरामानन्दाच
उपनिषद् एवं गीताभाष्य के विषय में विस्तारभय तथा समयाभाव के
कर सके सति अवसर पुनःपर्यवेक्षण किया जायगा। ॐ शान्तिः शान्ति



